ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-१०

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा ३३२ से ३८९ तथा कलश २०४ से २३२)
प्रवचन क्रमांक ३९७ से ४४०

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान–वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है – ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर–कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा – 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? – उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 – इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष–वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये – ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है! भारत का महारत्न है!! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है!
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ! अब स्वीकार! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है – ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी ड़ेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस

प्रकार उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-10, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथा 332 से 389 तक, और इनमें समागत कलश 204 से 232 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 397 से 440 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दश: लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्तत: समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक
ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई
एवं
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।

श्री सद्‌गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्‌घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से

मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में

कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
३९७	३०-०५-१९८०	गाथा-३३२ से ३४४, कलश-२०४	००२
३९८	३१-०५-१९८०	गाथा-३३२ से ३४४	०३१
३९९	०१-०६-१९८०	गाथा-३३२ से ३४४	०४९
४००	०२-०६-१९८०	गाथा-३३२ से ३४४, कलश-२०५	०६४
४०१	०३-०६-१९८०	कलश-२०५-२०६	०८२
४०२	०४-०६-१९८०	गाथा-३४५ से ३४८, कलश-२०६-२०७	०९९
४०३	०५-०६-१९८०	गाथा-३४५ से ३४८, कलश-२०८	११९
४०४	०७-०६-१९८०	कलश-२०८ से २१०	१३६
४०५	०८-०६-१९८०	गाथा-३४९ से ३५५	१५७
४०६	०९-०६-१९८०	कलश-२११-२१२	१७३
४०७	१०-०६-१९८०	कलश-२१२-२१३	१९०
४०८	११-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५, कलश-२१४	२०७
४०९	१३-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	२३९
४१०	१४-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	२५२
४११	१५-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	२६५
४१२	१६-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	२८०
४१३	१८-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	२९४
४१४	१९-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५	३०५
४१५	२०-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५, कलश-२१५	३१९
४१६	२१-०६-१९८०	गाथा-३५६ से ३६५, कलश-२१५	३३३
४१७	२२-०६-१९८०	कलश-२१५	३४८

४१८	२३-०६-१९८०	कलश-२१६-२१७	३६३
४१९	२४-०६-१९८०	गाथा-३६६ से ३७१, कलश-२१७	३८०
४२०	२५-०६-१९८०	गाथा-३६६ से ३७१, कलश-२१८	४००
४२१	२६-०६-१९८०	गाथा-३७२, कलश-२१९	४१६
४२२	२७-०६-१९८०	गाथा-३७२	४३५
४२३	२९-०६-१९८०	गाथा-३७२	४५१
४२४	३०-०६-१९८०	गाथा-३७२, कलश-२२०-२२१	४६७
४२५	०१-०७-१९८०	गाथा-३७३ से ३८२	४९०
४२६	०६-०७-१९८०	गाथा-३७३ से ३८२	५०७
४२७	०७-०७-१९८०	गाथा-३७३ से ३८२, कलश-२२२	५२१
४२८	०८-०७-१९८०	कलश-२२२, २२३	५३५
४२९	०९-०७-१९८०	गाथा-३८३ से ३८६, कलश-२२३	५५०
४३०	१०-०७-१९८०	गाथा-३८३ से ३८६, कलश-२२४	५६७
४३१	११-०७-१९८०	गाथा-३८७ से ३८९, कलश-२२४-२२५	५८३
४३२	१३-०७-१९८०	कलश-२२५-२२६	६०५
४३३	१४-०७-१९८०	कलश-२२५ से २२८	६२१
४३४	१५-०७-१९८०	कलश-२२८ से २३०	६४०
४३५	१६-०७-१९८०	कर्म प्रकृति १ से ३५	६६८
४३६	१७-०७-१९८०	कर्म प्रकृति ३६ से १०८	६८१
४३७	१८-०७-१९८०	कर्म प्रकृति १०८ से १४८	६९५
४३८	२०-०७-१९८०	भावना	७०९
४३९	२१-०७-१९८०	भावना	७२२
४४०	२२-०७-१९८०	कलश-२३१, २३२	७३६

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - १०)

—९—

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

कलश–२०४

अब आगे की गाथाओं में, जो भावकर्म का कर्ता भी कर्म को ही मानते हैं, उन्हें समझाने के लिए स्याद्वाद के अनुसार वस्तुस्थिति कहेंगे; पहले उसका सूचक काव्य कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां,
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषा–मुद्धत–मोह–मुद्रित–धियां बोधस्य सन्शुद्धये,
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ।।२०४।।

श्लोकार्थ : [कैश्चित् हतकैः] कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्तवादी) [कर्म एव कर्तृ प्रवितर्क्य] कर्म को ही कर्ता विचार कर [आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा] आत्मा के कर्तृत्व

को उड़ाकर, '[एष: आत्मा कथञ्चित् कर्ता] यह आत्मा कथंचित् कर्ता है' [इति अचलिता श्रुति: कोपिता] ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (निर्बाध जिनवाणी की विराधना करते हैं); [उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये] जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गयी है, ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिए (निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) [वस्तुस्थिति: स्तूयते] वस्तुस्थिति कही जाती है-[स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया] जिस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।)

भावार्थ : कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्तत: कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं और आत्मा को अकर्ता ही कहते हैं; वे आत्मा के घातक हैं। उन पर जिनवाणी का कोप है, क्योंकि स्याद्वाद से वस्तुस्थिति को निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है। आत्मा को अकर्ता ही कहनेवाले एकान्तवादियों को बुद्धि उत्कट मिथ्यात्व से ढक गई है; उनके मिथ्यात्व को दूर करने के लिए आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओं में कहते हैं।।२०४।।

प्रवचन नं. ३९७, कलश - २०४, गाथा-३३२ से ३४४ शुक्रवार, ज्येष्ठ कृण १
दिनांक - ३०-०५-१९८०

समयसार, २०४ कलश

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकै: क्षिप्त्वात्मन: कर्तृतां,
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुति: कोपिता।
तेषा-मुद्धत-मोह-मुद्रित-धियां बोधस्य सन्शुद्धये,
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थिति: स्तूयते ।।२०४।।

कोई आत्मा के घातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्म को ही कर्ता विचारकर... कि यह कर्म ही करता है। आत्मा नहीं। आहाहा! यह एकान्त मिथ्या है। अज्ञान है, तब तक कर्ता स्वयं है। जब तक इसे आत्मा चैतन्य शुद्ध दृष्टि में आया नहीं, तब तक तो यह पर्याय राग और यह लक्ष्य में है और, इसलिए वह राग का कर्ता है और अज्ञानी कहता है कि राग

का कर्ता कर्म है। उसकी यह बात एकान्त है। है? **कोई आत्मा के घातक... 'हतकैः'** आहाहा!

सर्वथा एकान्त माननेवाले **कर्म को ही कर्ता विचारकर आत्मा के कर्तृत्व को...** उड़ते हैं। आत्मा कर्ता, विकार का आत्मा कर्ता है, कर्म जरा भी कर्ता नहीं। जब तक उसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर रहती है, तब तक वह विकार का कर्ता है। समझ में आया? आत्मा में पर्याय के ऊपर जब तक दृष्टि है और अनादि की वह दृष्टि है, इसलिए राग और द्वेष का कर्ता वह आत्मा है; कर्म के कारण राग-द्वेष है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर, यह आत्मा कथंचित् कर्ता है... कथंचित् अर्थात्? जब तक इसे स्वभाव का भान नहीं है, तब तक पर्यायबुद्धि में वर्तमान राग और पुण्य-पाप की बुद्धि में रुका हुआ होने से उनका यह कर्ता है। कथंचित् कर्ता है, स्वभाव का भान होने पर कर्ता नहीं है, ऐसा। आहाहा! जब तक पर्यायबुद्धि—राग और द्वेषबुद्धि है तथा उनकी सत्ता का जहाँ स्वीकार है, उनकी सत्ता का स्वीकार होने से त्रिकाली स्वभाव की सत्ता का स्वीकार नहीं है। आहाहा! त्रिकाली ज्ञायकस्वरूप भगवान की सत्ता का स्वीकार नहीं है, तब तक पुण्य और पाप विकारी भाव का स्वीकार है, इसलिए वह कर्ता है। आहाहा! अब यह कहे, नहीं। यह चर्चा वहाँ चली थी न? कर्म के बिना होवे तो वह स्वभाव हो जाए। वहाँ ऐसा प्रश्न हुआ था। आहाहा! बड़ी चर्चा हुई थी। हिम्मतभाई थे या नहीं? रामजीभाई थे। गणेशप्रसाद वर्णी के साथ (चर्चा हुई थी)। कर्म के कारण विकार होता है। मैंने कहा, कर्म जरा भी नहीं। एक किंचित् एक प्रतिशत भी कर्म के कारण नहीं। पंचास्तिकाय की ६२ गाथा (आधार में) दी थी।

विकार षट्कारकरूप से स्वयं स्वतन्त्र बुद्धि पर्याय पर होने से उस पर्याय में षट्कारकरूप से विकार जीव करता है। आहाहा! समझ में आया? यहाँ कथंचित् क्यों लिया? ऐसा कहता हूँ। कथंचित् करता है, ऐसा लिया न? इसलिए वहाँ तक, जिसे स्वसत्ता के स्वभाव का भान नहीं, उसे पर्यायबुद्धि में राग और द्वेष, काम-क्रोध के भाव आवें, उनका कर्ता कर्म है, ऐसा वह मानता है। परन्तु मैं कर्ता हूँ, मेरी पर्याय में मेरी भूल है, ऐसा वह नहीं मानता।

मुमुक्षु : कर्म मिले तो इसलिए विकार होता, सिद्ध भगवान को...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्म न हो, विकार पर्याय में स्वतन्त्र (होता है), कर्म के कारण नहीं। ६२ गाथा में तो कर्म के कारक बिना ऐसा शब्द है। संस्कृत में पंचास्तिकाय की ६२ गाथा है। कर्म के कारक बिना द्रव्य स्वतन्त्र है। कोई द्रव्य-गुण-पर्याय किसी के कारण है, ऐसा तीन काल में नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय का कर्ता है। अब उस पर्याय के कर्ता में, जीव में जब तक पर्यायबुद्धि है, तब तक राग और द्वेष का कर्ता है, कर्म नहीं। और जब वह पर्यायबुद्धि छूटकर स्वभावबुद्धि होती है, तब उसका ज्ञाता है; कर्ता नहीं। वस्तु की मर्यादा, वस्तु की स्थिति इस प्रकार से है। परन्तु कहाँ निवृत्ति नहीं मिलती इसलिए जो ऊपर कहा, उसे हाँ (करके) दुकान व्यापार और धन्धे में चढ़ जाता है। आहाहा!

क्यों करता है, क्यों करता नहीं? इसका न्याय क्या है? किसलिए उसे कर्ता कहना? विकार के भाव को जीव का कर्ता किसलिए कहना? (क्योंकि) उसकी बुद्धि अभी वहाँ पड़ी है। समझ में आया? उसकी स्वसत्ता की अभी खबर नहीं। प्रभु! महाचैतन्य सत्ता आनन्दकन्द है, उसकी इसे खबर नहीं। इसलिए जिसकी खबर नहीं, उसकी यह खबर है। पर्याय और राग-द्वेष और पुण्य-पाप की खबर है। जिसकी खबर है, उसका यह कर्ता है। आहाहा! समझ में आया? कथंचित् कर्ता है, अर्थात् कि जब तक इसकी बुद्धि राग के ऊपर है, पर्याय के ऊपर है, तब तक कर्ता है। आहाहा!

'इति अचलिता श्रुतिः कोपिता' ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुति को... भगवान की वाणी। भगवान की वाणी ऐसा कहती है कि आत्मा अज्ञानभाव से पर्यायबुद्धिवाला, राग और द्वेष, विकार का कर्ता होता है। ऐसी श्रुति—भगवान की वाणी है। उसका कोप इसके ऊपर है। न करनेवाले (के ऊपर) वीतराग की वाणी का कोप है, अर्थात् उससे विरुद्ध है। आहाहा! **ऐसा कहनेवाली अचलित श्रुति को कोपित करते हैं (निर्बाध जिनवाणी की विराधना करते हैं);...** आहाहा! जिनवाणी राग और द्वेष, पुण्य-पाप का विषय आदि भाव विकार, उसके ऊपर जो इसकी दृष्टि है, वह दृष्टि है, इसलिए उसका कर्ता है—ऐसा जिनश्रुत की वाणी कहती है। आहाहा! है?

कर्ता नहीं, ऐसा जो माननेवाले, वे जिनवाणी की विराधना करते हैं। आहाहा! **'उद्धत-मोह-मुद्रित-धियां तेषाम् बोधस्य संशुद्धये' जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गयी है...** आहाहा! अपनी सत्ता का खबर नहीं और क्षणिक सत्ता में विकार हो, वह मेरा, कर्ता मैं नहीं, वह कर्म कर्ता है, उसे मोह के कारण से मिथ्यात्व के (कारण से) बुद्धि मुद्रित गयी है। आहाहा!

जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गयी है... समझ में आया? अपनी सत्ता आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु परमात्मस्वरूप अपना है। उस सत्ता की खबर नहीं, तब तक पर्याय की सत्ता का स्वीकार है और उसमें ही राग-द्वेष तथा पुण्य-पाप होते हैं और इसलिए उनका कर्ता परिणमता है, वह कर्ता स्वयं है। वह विकार कर्म कराता है, ऐसा माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! भारी कठिन काम। जैन में तो यह चलता है, कर्म के कारण सुखी-दु:खी। आहाहा! व्याख्यान शुरु करने से पहले स्तुति नहीं करते? स्थानकवासी में पहले स्तुति करते हैं। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक, कर्म ने डाला आड़ा अंक।' ऐसा उसमें बोलते हैं। आहाहा! 'कर्म ने डाला आड़ा अंक।' ऐसा कि यह सब कर्म ने किया है। जीव को मार डाला। आहाहा! स्तुति में बोलते हैं। पहले थोड़ी स्तुति बोलते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य करे, यह तीन काल में नहीं है। यहाँ पर्यायबुद्धिवाला (जीव) लेना है। जो पर्यायबुद्धिवाला है, वह विकार का कर्ता नहीं और विकार का कर्ता कर्म है, उसकी बुद्धि मुद्रित हो गयी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! **जिनकी बुद्धि तीव्र मोह से मुद्रित हो गयी है, ऐसे उन आत्मघातकों के...** वे आत्मा का घात करनेवाले हैं। पर्याय में विकार मैं नहीं करता, पर करता है, वह घातक है, पर्याय का घातक है। पर्याय ही उसे है, ऐसा मानकर। तो द्रव्य तो कहाँ माना है? पर्याय की सत्ता का स्वीकार ही नहीं। पर की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से विकार जीव करता है। आहाहा! इसकी जिसे खबर नहीं, वे आत्मा के घातक हैं।

ऐसे उन आत्मघातकों के ज्ञान की संशुद्धि के लिए... उसके ज्ञान की शुद्धि के लिये। आहाहा! **'वस्तुस्थितिः स्तूयते'** वस्तु की मर्यादा को बतायेंगे। आहाहा! **(निम्नलिखित गाथाओं द्वारा) वस्तुस्थिति कही जाती है...** वस्तु की जो मर्यादा—हद है, उसे कहने में वीतराग की वाणी कहने में आती है। आहाहा!

'स्याद्वाद-प्रतिबन्ध-लब्ध-विजया' जिस वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है... आहाहा! **(अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।)** स्याद्वाद अर्थात् कथंचित्। पर्यायबुद्धि है, तब तक वह कर्ता है और द्रव्यबुद्धि होने पर कर्ता नहीं, ऐसी जो स्याद्वाद वीतराग की वाणी, उसका अज्ञानी के ऊपर कोप है। आहाहा! पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। सब द्रव्य, द्रव्य की पर्याय अपनी-अपनी करते हैं, उसमें कुछ (पर की सहायता) है नहीं। उसकी पर्याय में बुद्धि है, वर्तमान में बुद्धि है, त्रिकाली भगवान ज्ञायक की सत्ता लक्ष्य में, दृष्टि में, आचरण में आयी नहीं; इसलिए उसका लक्ष्य, दृष्टि और आचरण विकार का है। आहाहा! वह विकार का आचरण, श्रद्धा अपनी आत्मा की है, ऐसा न माने, वे आत्मा के घातक हैं। वह पर्याय का ही स्वीकार करता नहीं, तब तो आत्मा तो कहाँ (जाना) है। आहाहा! क्योंकि वह पर्याय कर्म कराता है, इसलिए फिर पर्याय को अन्तर में देखने का समय नहीं रहता। आहाहा! कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण राग होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : सिद्ध भगवान को कर्म नहीं, इसलिए तो दशा पूरी हो गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...भगवान था कहाँ? स्वयं ही भगवान है। वे भगवान हो गये, वे किसी के कर्ता नहीं हैं और यह भगवान हो गया, वह भी कर्ता अपनी दृष्टि से राग का भी कर्ता नहीं है, परन्तु पर्यायबुद्धि में वह कर्ता है। अनादि का जो है न? अनादि की इसने आत्मसत्ता तो देखी नहीं। आत्मसत्ता, उसका स्वरूप, उसके सामर्थ्य को तो देखा नहीं; इसलिए पर्याय में राग-द्वेष का कर्ता यह स्वयं होता है, ऐसा वीतराग की वाणी का पुकार है। कर्म के कारण नहीं। इसलिए वहाँ यह प्रश्न चला था कि कर्म के कारण नहीं होवे तो स्वभाव हो जाए। विकार इसका स्वभाव ही है, कहा। पर्याय स्वभाव है, द्रव्य स्वभाव नहीं। परन्तु यह नहीं जँचता, यह बात चलती ही नहीं थी। यह बात हिन्दुस्तान में नहीं थी। स्थानकवासी, मन्दिरमार्गी में तो था ही नहीं, यह दिगम्बर में भी नहीं था। आहाहा! निमित्त के कारण भी किसी समय तो होता है, ऐसा कहते थे। और कर्म के बिना यदि विकार होवे तो विकार स्वभाव हो जाए। दो तथा क्रमसर, क्रमसर, क्रमसर होता है, क्रमबद्ध—एक के बाद एक, एक के बाद एक होता है, इसका नाम क्रमबद्ध। एक के बाद यही होता है, यही होगा, ऐसा नहीं। तीसरे बोल का बड़ा विवाद था। फिर उन्होंने छपा दिया, सब छापते हैं।

जितने सोनगढ़ के शास्त्र सिद्धान्त हैं, वे संसार में डुबायेंगे—ऐसा वर्णीजी कह गये हैं। इसलिए सब लोग छापते हैं। सोनगढ़ के शास्त्र हैं, वे सब संसार में डुबो देंगे। बात तो उन्हें न बैठे, तब क्या हो? अपने से विरुद्ध लगे तो ऐसा ही कहे न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस आत्मा में दो प्रकार हैं। एक द्रव्यस्वभाव कायम शाश्वत् और एक पलटता स्वभाव पर्याय। वह भी स्वभाव है परन्तु जब तक पलटते स्वभाव पर दृष्टि है, तब तक तो वह राग-द्वेष के परिणाम का कर्ता आत्मा है। आहाहा! पर कर्म के कारण (नहीं होते)। कर्म निमित्त भले हो, परन्तु निमित्त अर्थात्? निमित्त अर्थात् ही कि पर का कर्ता नहीं, इसका नाम निमित्त है। पर में जिसका प्रवेश नहीं, पर को छूता नहीं, पर को करता नहीं, तब उसे निमित्त कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात।

वस्तुस्थिति ने स्याद्वाद के प्रतिबन्ध से विजय प्राप्त की है (अर्थात् जो वस्तुस्थिति स्याद्वादरूप नियम से निर्बाधतया सिद्ध होती है।) आहाहा! अज्ञानी अज्ञानरूप से जिसका जिसे स्वीकार है, उसे चैतन्यस्वभाव का स्वीकार नहीं, इसलिए वह विकार का कर्ता है। ऐसा निर्बाधरूप से स्याद्वाद की शैली से सत्य है। कोई कहे कि विकार का कर्ता नहीं आत्मा अज्ञानभाव से। पर्यायबुद्धिवाला भी कर्ता नहीं, तो कर्म के कारण विकार होता है। शास्त्र में भी बहुत जगह यह आता है। यह तो स्वभाव की दृष्टि होती है, वहाँ वापस, जैसे कर्म उसमें नहीं है, उसी प्रकार उसका कार्य विकार पर्यायबुद्धि का, वह भी उसमें नहीं है। ऐसा मानकर विकार के षट्कर्म के कार्य (कर्म के हैं), ऐसा भी है। परन्तु उसमें यह अपेक्षा है। जैसे कर्म आत्मा में नहीं है, वैसे कर्म का परिणाम अन्दर जो जीव की पर्याय हो, वह भी वस्तु के स्वभाव में नहीं है। इससे वस्तु की दृष्टि से देखे तो वह विकार कर्म का है, आत्मा का नहीं। आहाहा! ऐसी वाणी। घड़ीक में यह और घड़ीक में यह। निश्चित क्या करना?

मुमुक्षु : घड़ीक में जीव और घड़ीक में पुद्गल। दो प्रकार के भेदज्ञान हैं न, पहले प्रकार के भेदज्ञान में ऐसा कहा जाता है, दूसरे प्रकार में...

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान—यहाँ तो यह कहेंगे, यहाँ तो यह कहेंगे कि जब तक भेदज्ञान नहीं है, तब तक कर्ता है, इतना है। भेदज्ञान होने पर कर्ता नहीं, इतना। इसलिए

पर्याय और पर से भेदज्ञान की बात यहाँ नहीं ली है। यहाँ तो पर्याय के राग से भिन्न आत्मा का भेदज्ञान जब तक नहीं, तब तक वह कर्ता है। भाई! स्याद्वाद कहने में भी यह है कि जब तक उसकी पर्याय में पर्यायबुद्धि है, जिसने अन्तर भगवान है, उसे तो देखा नहीं, जाना नहीं, दृष्टि में आता नहीं और दृष्टि काम करती है पर्याय पर, राग और पुण्य और पाप के ऊपर, अब जहाँ काम करती है, उसका कार्य न माने (तो वह) मूढ़ है, कहते हैं। आहाहा!

ऐसे न्याय की बात (समझने) पूरे दिन निवृत्ति नहीं मिलती। एक घण्टे आवे और... णमो अरिहन्ताणं, सामायिक करो और प्रौषध करो। एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, तत्सूत्री... करणेण... कायोत्सर्ग करो। हो गया कायोत्सर्ग। आहाहा! अरे! भाई! अभी इसकी पर्याय कैसी स्वतन्त्र है, इसकी पर्याय अर्थात् चलती दशा, वह भी विकार में करने में कैसी स्वतन्त्र है, इसकी भी अभी खबर नहीं। उसे पर्यायरहित पूरा द्रव्य त्रिकाली चिदानन्द प्रभु, वह तो विकार का कर्ता तीन काल में है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अभिप्राय ऐसा होना चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिप्राय में अन्तर है न पूरा। पर्याय है, उस पर्यायरहित द्रव्य तो कभी नहीं है। कभी तीन काल में पर्याय बिना का द्रव्य नहीं है। तब अब या दृष्टि हो पर्याय के ऊपर और या दृष्टि हो द्रव्य के ऊपर। आहाहा! तो जिसकी दृष्टि पर्याय—वर्तमान अवस्था के ऊपर है, वह यदि विकार का कर्ता, कर्म के सिर पर डाले और (कर्ता) है स्वयं तो वह महामिथ्यात्व है। भेदज्ञान होने के बाद राग और पुण्य से प्रभु भिन्न है। चैतन्यस्वरूपी आनन्दस्वरूप... आहाहा! उसका जहाँ भान हो, तब पर्यायबुद्धि में विकार हो, उसका वह कर्ता नहीं है, तब उसका वह जाननेवाला है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ – कोई एकान्तवादी सर्वथा एकान्ततः कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं... देखो! सर्वथा। एकान्त से कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं। आहाहा! **और आत्मा को अकर्ता ही कहते हैं;...** सर्वथा कहते कथंचित् कर्म कर्ता है, ऐसा है? ऐसा नहीं है। वह कर्ता कथंचित् अज्ञानभाव से विकार का कर्ता है। आहाहा! वह कर्म को ही कर्ता मानता है, आत्मा को अकर्ता कहता है, उसमें आत्मा का घातक है। उसकी पर्याय को राग की

पर्याय को स्वीकार नहीं किया तो उस राग का धारक जो आत्मा, उसका ही उसे स्वीकार नहीं है। आहाहा! अज्ञानरूप से भी स्वीकार नहीं है। राग और पुण्य-पाप के भाव का कर्ता कर्म को माने, उसे तो अज्ञानरूप से भी पूर्ण सत्ता जो चैतन्य द्रव्य है, (उसका स्वीकार नहीं है)। यह पर्याय ही मेरी नहीं है, पर की (है तो फिर) वस्तु ही कहाँ रही? एक अंश भी पर का मानता है, उसमें पूरा अंशी आत्मा है, उसकी दृष्टि में तो कहाँ से आवे? आहाहा!

वे आत्मा के घातक हैं। पर्याय में अर्थात् अवस्था में—चलती दशा को ही स्वीकार करनेवाले, चलती दशा में रहनेवाले ऐसे उस चलती दशा में होते विकार को नहीं माननेवाले, वे घातक हैं। वह आत्मा की पर्याय नहीं है, ऐसा मानते हैं। वह पर्याय नहीं तो दूसरी पर्याय नहीं तो अनन्त पर्याय नहीं तो द्रव्य भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य तो मानते हैं। द्रव्य शुद्ध है, अकर्ता है, ऐसा तो मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह माना। कर्ता है, कर्ता है, ऐसा करके पर्याय की स्वतन्त्रता मानी नहीं, स्वतन्त्रता मानी नहीं। कर्म के कारण जहाँ होता है, वह तो परद्रव्य के कारण होता है, ऐसा कहा। आहाहा! ऐसा कहाँ आया? परद्रव्य के कारण उसमें सत्ता मानी। अपनी पर्याय की सत्ता का स्वीकार करे तो यह तो बराबर कहते हैं। अज्ञानभाव से पर्याय का स्वीकार करे, यह तो बराबर है। आहाहा! यह गूढ़ बात है, हों!

एक समय की पर्याय में जब यह भगवान दृष्टि में आया नहीं, इसलिए पर्याय में शान्ति और आनन्द तो नहीं है। वस्तु दृष्टि में आयी नहीं, इसलिए पर्याय में आनन्द और शान्ति नहीं है। तब दृष्टि बिना इसकी पर्याय तो है, इसकी अवस्था—पलटती दशा तो है, तो पलटती दशा अपनी है, ऐसा न माने और वह दशा राग-द्वेष आदि कर्म से होती है, ऐसा माने, वह तो इसकी पर्याय को नहीं माना। आहाहा! वह आत्मा का घातक है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : नोकर्म...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कर्म ही कर्ता है, कर्म हटे तो समाप्त ऐसा। कर्म कर्ता है। आहाहा! यह कहाँ यह बात चलती नहीं थी। सर्वत्र कर्म होवे तो ही कर्म, 'अप्पा कत्ता है

विक्ता है दोहाणि ये सोहाणी।' उत्तराध्ययन में बीसवें अध्ययन में आता है। आत्मा कर्ता और आत्मा भोक्ता है। सब विकार का कर्ता, भोक्ता और सब एक, दूसरा कुछ नहीं। आहाहा! **उन पर... वे आत्मा के घातक हैं। उन पर जिनवाणी का कोप है,...** आहाहा! **क्योंकि स्याद्वाद से (अपेक्षा कथन से) वस्तुस्थिति को निर्बाधतया सिद्ध करनेवाली जिनवाणी तो आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है।** देखा? आहाहा!

पर्यायबुद्धिवाले को पर्याय का कर्ता कहते हैं, यह बात यथार्थ है। आहाहा! वस्तु है न? पर्यायबुद्धिवाले को पर्याय में कर्ता कहते हैं, वह यथार्थ है अर्थात् कथंचित् यथार्थ है, त्रिकाल की अपेक्षा से यह बात मिथ्या है। आहाहा! त्रिकाली भगवान आत्मा, वह दृष्टि में आया, उसे फिर विकार का कर्ता नहीं है। क्योंकि वहाँ तो ज्ञान और आनन्द के स्वभाव का जोर बढ़ गया है। शक्ति का जोर बढ़ गया है, उस जोर के समक्ष इस पामरता का कुछ नहीं चलता। आहा! एक गुण की पर्याय या दो गुण की, दो-चार गुण की विकार पर्याय (हो), यहाँ अनन्त गुण, अनन्त गुण का धनी जहाँ हुआ तो अमुक गुण की उल्टी पर्याय का वह स्वामी नहीं है। आहाहा! अर्थात् स्याद्वाद कथन है। पर्यायबुद्धिवाला कर्ता है और द्रव्य बुद्धिवाला नहीं। पर्यायबुद्धिवाला कर्ता न माने तो पर्याय को ही नहीं मानता, वह आत्मा का घातक है। आहाहा!

आत्मा को अकर्ता ही कहनेवाले एकान्तवादियों को बुद्धि उत्कट मिथ्यात्व से ढक गई है;... आहाहा! देखा? बुद्धि मुद्रित हो गयी है। आहाहा! **उनके मिथ्यात्व को दूर करने के लिए आचार्यदेव स्याद्वादानुसार जैसी वस्तुस्थिति है वह, निम्नलिखित गाथाओं में कहते हैं।**

गाथा - ३३२-३४४

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।।३३२।।
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव।।३३३।।
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि।।३३४।।
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्व-जीवा अकारगा होंति आवण्णा।।३३५।।
पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय-परंपरागदा एरिसी दु सुदी।।३३६।।
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं।।३३७।।
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघाद-णामेत्ति।।३३८।।
तम्हा ण को वि जीवो वघादओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं।।३३९।।
एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे।।३४०।।
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छ-सहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स।।३४१।।
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे।।३४२।।

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं ।।३४३।।
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सय-मप्पणो कुणदि ।।३४४।।

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ।।३३२।।
कर्मभिः सुखी क्रियते दुःखी क्रियते तथैव कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ।।३३३।।
कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावद्यत्किञ्चित् ।।३३४।।
यस्मात्कर्म करोति कर्म ददाति हरतीति यत्किञ्चित्।
तस्मात्तु सर्व-जीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ।।३३५।।
पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्य-परम्परागते-दृशी तु श्रुतिः ।।३३६।।
तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितम् ।।३३७।।
यस्माद्धन्ति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघात-नामेति ।।३३८।।
तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हन्तीति भणितम् ।।।३३९।।
एवं साङ्ख्योपदेशं ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ।।३४०।।
अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्या-स्वभावः तवैतज्जानतः ।।३४१।।
आत्मा नित्योऽसङ्ख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ।।३४२।।

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम्।।३४३।।
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम्।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वय-मात्मनः करोति।।३४४।।

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव ज्ञानिनं करोति, ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव स्वापयति, निद्राख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव जागरयति, निद्राख्यकर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः।

कर्मैव सुखयति, सद्वेद्याख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव दुःखयति, असद्वेद्या-ख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति, मिथ्यात्वकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवासंयतं करोति, चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। कर्मैवोर्ध्वा-धस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति, आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः।

अपरमपि यद्यावत्किञ्चिच्छुभाशुभं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्त-रागाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः।

यत एवं समस्तमपि स्वतन्त्रं कर्म करोति, कर्म ददाति, कर्म हरति च, ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकान्तेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः।

किञ्चह्रश्रुतिरप्येनमर्थमाह; पुम्वेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमाम्समभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्म-कर्तृत्वप्रतिषेधात्, तथा यत्परं हन्ति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्।

एवमीदृशं साङ्ख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति; तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्तेः जीव कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुम्।

यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति, आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति, ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च।

तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं, कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थिता-सङ्ख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कन्धस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं, प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्।

न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसङ्ग्रहस्य प्रदेश-सङ्कोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसङ्कोचनविकाशनयोरपि शुष्कार्द्रचर्म-वत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्।

यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठन्श्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यन्तविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति, भवन्ति च मिथ्यात्वादिभावाः, ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्मात्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहन्त्येव।

ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादि-भावानां ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञान-रूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमन्तव्यं; तावद्यावत्तदादि-ज्ञेयज्ञानभेदविज्ञान-पूर्णत्वादात्मान-मेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वा-त्साक्षादकर्तृत्वं स्यात्॥३३२-३४४॥

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थ की गाथाएँ अब कहते हैं:-

कर्महि करें अज्ञानि त्यों ही ज्ञानि भी कर्महिं करें।
कर्महि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जाग्रत करें॥३३२॥
अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीव को करें।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें॥३३३॥
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्महि करे॥३३४॥
करता करम, देता करम, हरता करम-सब कुछ करे।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है॥३३५॥
'पुंकर्म इच्छे नारि को स्त्रीकर्म इच्छे पुरुष को'।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है॥३३६॥

इस रीत 'कर्महि कर्म को इच्छै'-कहा है शास्त्र में।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेश में।।३३७।।
अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वोह प्रकृत्ति है।
- इस अर्थ में परघात नामक कर्म का निर्देश है।।३३८।।
इसी रीत 'कर्महि कर्म को हरता' कहा है शास्त्र में।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेश में।।३३९।।
यों सांख्य का उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे।
उस मत से सब प्रकृति करे जीव तो अकारक सर्व है!।।३४०।।
अथवा तु माने 'आतमा मेरा स्वआत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे।।३४१।।
जीव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समय में।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके।।३४२।।
विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्य को कैसे करे।।३४३।।
माने तुँ 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमा को नहिं करे।।३४४।।

गाथार्थ : ''[कर्मभिः तु] कर्म [अज्ञानी क्रियते] (जीव को) अज्ञानी करते हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः ज्ञानी] कर्म (जीव को) ज्ञानी करते हैं, [कर्मभिः स्वाप्यते] कर्म सुलाते हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः जागर्यते] कर्म जगाते हैं, [कर्मभिः सुखी क्रियते] कर्म सुखी करते हैं [तथा एव] उसी तरह [कर्मभिः दुःखी क्रियते] कर्म दुःखी करते हैं, [कर्मभि च मिथ्यात्वं नीयते] कर्म मिथ्यात्व को प्राप्त कराते हैं [च एव] और [असंयमं नीयते] कर्म असंयम को प्राप्त कराते हैं, [कर्मभिः] कर्म [ऊर्ध्वं अधः च अपि तिर्यग्लोकं च] ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक में [भ्राम्यते] भ्रमण करते हैं, [यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं] जो कुछ भी जितना शुभ और अशुभ है, वह सब [कर्मभिः च एव क्रियते] कर्म ही करते हैं। [यस्मात्] इसलिए [कर्म करोति] कर्म करता है, [कर्म ददाति] कर्म देता है, [हरति] कर्म हर लेता है- [इति यत्किंचित्] इस प्रकार जो कुछ भी करता है, वह कर्म ही करता है, [तस्मात् तु] इसलिए [सर्वजीवाः] सभी जीव [अकारकाः आपन्नाः भवंति] अकारक (अकर्ता) सिद्ध होते हैं।

और, [पुरुषः] पुरुषवेदकर्म [स्त्र्यभिलाषी] स्त्री का अभिलाषी है [च] और [स्त्रीकर्म] स्त्रीवेदकर्म [पुरुषम् अभिलषति] पुरुष की अभिलाषा करता है- [एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशीषु श्रुतिः] ऐसी यह आचार्य की परम्परा से आयी हुई श्रुति है; [तस्मात्] इसलिए [अस्माकम् उपदेशे तु] हमारे उपदेश में तो [कः अपि जीवः] कोई भी जीव [अब्रह्मचारी न] अब्रह्मचारी नहीं है, [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म अभिलषति] कर्म की अभिलाषा करता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है।

और, [यस्मात् परं हंति] जो पर को मारता है [च] और [परेण हन्यते] जो पर के द्वारा मारा जाता है [सा प्रकृतिः] वह प्रकृति है- [एतेन अर्थेन किल] इस अर्थ में [परघातनाम इति भण्यते] परघात नामकर्म कहा जाता है, [तस्मात्] इसलिए [अस्माकम् उपदेशे] हमारे उपदेश में [कः अपि जीवः] कोई भी जीव [उपघातकः न अस्ति] उपघात (मारनेवाला) नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म च एव हि] कर्म ही [कर्म हंति] कर्म को मारता है [इति भणितम्] ऐसा कहा है।''

(आचार्यदेव कहते हैं कि-) [एवं तु] इस प्रकार [ईदृशं सांख्योपदेशं] ऐसा सांख्यमत का उपदेश [ये श्रमणाः] जो श्रमण (जैन मुनि) [प्ररूपयंति] प्ररूपित करते हैं, [तेषां] उनके मत में [प्रकृतिः करोति] प्रकृति ही करती है [आत्मानः च सर्वे] और आत्मा तो सब [अकारकाः] अकारक है ऐसा सिद्ध होता है।

[अथवा] अथवा (कर्तृत्व का पक्ष सिद्ध करने के लिए) [मन्यसे] यदि तुम यह मानते हो कि '[मम आत्मा] मेरा आत्मा [आत्मनः] अपने [आत्मानम्] (द्रव्यरूप) आत्मा को [करोति] करता है,'[एतत् जानतः तव] तो ऐसा जाननेवाले का-तुम्हारा [एषः मिथ्या-स्वभावः] यह मिथ्यात्वभाव है; [यद्] क्योंकि-[समये] सिद्धान्त में [आत्मा] आत्मा को [नित्यः] नित्य, [असंख्येयप्रदेशः] असंख्यात-प्रदेशी [दर्शितः तु] बताया गया है, [ततः] उससे [सः] वह [हीनः अधिकः च] हीन या अधिक [कर्तुं न अपि शक्यते] नहीं किया जा सकता; [विस्तरतः] और विस्तार से भी [जीवस्य जीवरूपं] जीव का जीवरूप [खलु] निश्चय से [लोकमात्रं जानीहि] लोकमात्र जानो; [ततः] उससे [किं सः हीनः अधिकः वा] क्या वह हीन अथवा अधिक होता है? [द्रव्यम् कथं करोति] तब फिर (आत्मा) द्रव्य को (अर्थात् द्रव्यरूप आत्मा को) कैसे करता है?

[अथ] अथवा यदि '[ज्ञायकः भावः तु] ज्ञायक भाव तो [ज्ञानस्वभावेन तिष्ठति]

ज्ञानस्वभाव से स्थित रहता है' [इति मतम्] ऐसा माना जाये, [तस्मात् अपि] तो इससे भी [आत्मा स्वयं] आत्मा स्वयं [आत्मनः आत्मानं तु] अपने आत्मा को [न करोति] नहीं करता, यह सिद्ध होगा।

(इस प्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए विवक्षा को बदलकर जो पक्ष कहा है, वह घटित नहीं होता।)

(इस प्रकार, यदि कर्म का कर्ता कर्म ही माना जाए तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसलिए आत्मा को अज्ञान-अवस्था में कथञ्चित् अपने अज्ञानभावरूप कर्म का कर्ता मानना चाहिए, जिससे स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।)

टीका : (यहाँ पूर्व पक्ष इस प्रकार है:) ''कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना उसकी (अज्ञान की) अनुपपत्ति है; कर्म ही (आत्मा को) ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही जगाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है, क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है, वह सब कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय के बिना उनकी अनुपपत्ति है। इस प्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है, कर्म ही हर लेता है, इसलिए हम यह निश्चय करते हैं कि-सभी जीव सदा एकांत से अकर्ता ही हैं। और श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म स्त्री की अभिलाषा करता है और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है, तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है, वह परघात कर्म है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व

होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है, और इस प्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बलाती है।''

(आचार्यदेव कहते हैं कि-) इस प्रकार ऐसे सांख्यमत को, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले कुछ *श्रमणाभास प्ररूपित करते हैं; उनकी, एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से, समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है, इसलिए 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है, उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है (अर्थात् भगवान की वाणी की विराधना होती है)। और, 'कर्म आत्मा के अज्ञानादि सर्व भावों को-जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें-करता है, और आत्मा तो आत्मा को ही एक को द्रव्यरूप को करता है, इसलिए जीव कर्ता है; इस प्रकार श्रुति का कोप नहीं होता'-ऐसा जो अभिप्राय है, वह मिथ्या ही है। (इसी को समझाते हैं-) जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है, असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है। उसमें प्रथम, नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि कृतकत्व के और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है। (आत्मा नित्य है, इसलिए वह कृतक अर्थात् किसी के द्वारा किया गया नहीं हो सकता।) और अविस्थत असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का व्याघात हो जाएगा। (स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिए उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं; परन्तु आत्मा निश्चित असंख्य-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है, इसलिए वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।) और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से परिमित जिसका निश्चित् निजविस्तार-संग्रह है (अर्थात् जिसका लोक जितना निश्चित् माप है), उसके (आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता, क्योंकि प्रदेशों के संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भाँति, निश्चित निज विस्तार के कारण उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इस प्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।) और, 'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इस प्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो

* श्रमणाभास=मुनि के गुण नहीं होने पर भी अपने को मुनि कहलानेवाले।

होते हैं; इसलिए उनका कर्ता कर्म ही है। इस प्रकार प्ररूपित किया जाता है'-ऐसी जो वासना (अभिप्राय झुकाव) प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयतापूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।

इसलिए, ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है), वह भी तब तक कि जब तक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात भेदविज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ (-ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।

भावार्थ : कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद-वाणी को भलीभाँति न समझकर सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं कि-'आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है; अज्ञान, ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दु:ख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण-इन सबको, तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभभाव हैं, उन सबको कर्म ही करता है; जीव तो अकर्ता है।' और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि-'वेद के उदय से स्त्री-पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है।' इस प्रकार, जैसे सांख्यमतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं उसी प्रकार, अपनी बुद्धि के दोष से इन मुनियों की भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई। इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है, अत: सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है। जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर यह कहें कि-'भावकर्म का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का (अर्थात् अपने को) कर्ता आत्मा है, इस प्रकार हम आत्मा को कथञ्चित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी का कोप नहीं होता;' तो उनका

यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं, उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं; इसलिए आत्मा तो अकर्ता ही रहा! तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया। इसलिए आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को यथार्थ मानना है। आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इस प्रकार है-

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है; परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप जानता है, इसलिए इस प्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है; और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है, तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।

गाथा - ३३२ से ३४४ पर प्रवचन

'आत्मा सर्वथा अकर्ता नहीं है, कथंचित् कर्ता भी है' इस अर्थ की गाथाएँ अब कहते हैं:- तेरह गाथायें हैं, तेरह!

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जदि णाणी तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं सुवाविज्जदि जग्गाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।।३३२।।
कम्मेहिं सुहाविज्जदि दुक्खाविज्जदि तहेव कम्मेहिं।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जदि णिज्जदि असंजमं चेव।।३३३।।
कम्मेहिं भमाडिज्जदि उड्ढमहो चावि तिरियलोयं च।
कम्मेहिं चेव किज्जदि सुहासुहं जेत्तियं किंचि।।३३४।।
जम्हा कम्मं कुव्वदि कम्मं देदि हरदि त्ति जं किंचि।
तम्हा उ सव्व-जीवा अकारगा होंति आवण्णा।।३३५।।

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसदि।
एसा आयरिय-परंपरागदा एरिसी दु सुदी॥३३६॥
तम्हा ण को वि जीवो अबंभचारी दु अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसदि इदि भणिदं॥३३७॥
जम्हा घादेदि परं परेण घादिज्जदे य सा पयडी।
एदेणत्थेण किर भण्णदि परघाद-णामेत्ति॥३३८॥
तम्हा ण को वि जीवो वघादओ अत्थि अम्ह उवदेसे।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घादेदि इदि भणिदं॥३३९॥
एवं संखुवएसं जे उ परूवेंति एरिसं समणा।
तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पा य अकारगा सव्वे॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि।
एसो मिच्छ-सहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स॥३४१॥
अप्पा णिच्चोऽसंखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्हि।
ण वि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहिओ य कादुं जे॥३४२॥
जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं॥३४३॥
अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सय-मप्पणो कुणदि॥३४४॥

यह विद्यानन्दजी कहते हैं न? असंख्य प्रदेश का, अखण्ड का। इसका विरोध बहुत चला है, इनमें ही विरोध चला है। उन लोगों में ही। तथापि बाहर में हो.. हा... चलती है। कल विरोध का आया है, पत्र में आया है। असंख्य प्रदेशी है, उसे कभी अप्रदेशी नहीं कहा जाता, एक प्रदेशी कहा ही नहीं जाता। यह वस्तु जैनदर्शन से उल्टी है। लोगों को कहाँ (पड़ी है)? बाहर का त्याग देखे, नग्न देखे, वस्त्र न देखे... बस! हो... हा..! हो...हा...!

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमेत्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ य कहं कुणदि दव्वं॥३४३॥

अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अच्छदे त्ति मदं।
तम्हा ण वि अप्पा अप्पयं तु सय-मप्पणो कुणदि।।३४४।।

आहाहा! तेरह गाथायें डाली हैं।

मुमुक्षु : हरिगीत पण्डितजी बोलें तो आपको आराम रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोलो भाई! हरिगीत।

कर्महि करें अज्ञानि त्यों ही ज्ञानि भी कर्महिं करें।
कर्महि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जाग्रत करें।।३३२।।
अरु कर्म ही करते सुखी, कर्महि दुखी जीव को करें।
कर्महि करे मिथ्यात्वि त्योंहि, असंयमी कर्महि करें।।३३३।।
कर्महि भ्रमावे ऊर्ध्व लोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषैं।
अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्महि करे।।३३४।।
करता करम, देता करम, हरता करम-सब कुछ करे।
इस हेतु से यह है सुनिश्चित जीव अकारक सर्व है।।३३५।।
'पुंकर्म इच्छे नारि को स्त्रीकर्म इच्छे पुरुष को'।
ऐसी श्रुती आचार्यदेव परंपरा अवतीर्ण है।।३३६।।
इस रीत 'कर्महि कर्म को इच्छै'-कहा है शास्त्र में।
अब्रह्मचारी यों नहीं को जीव हम उपदेश में।।३३७।।
अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वोह प्रकृत्ति है।
- इस अर्थ में परघात नामक कर्म का निर्देश है।।३३८।।
इसी रीत 'कर्महि कर्म को हरता' कहा है शास्त्र में।
इससे न को भी जीव है हिंसक जु हम उपदेश में।।३३९।।
यों सांख्य का उपदेश ऐसा जो श्रमण वर्णन करे।
उस मत से सब प्रकृति करे जीव तो अकारक सर्व है!।।३४०।।
अथवा तु माने 'आतमा मेरा स्वआत्मा को करे'।
तो ये जो तुझ मंतव्य भी मिथ्या स्वभाव हि तुझ अरे।।३४१।।
जीव नित्य है त्यों, है असंख्यप्रदेशि दर्शित समय में।
उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके।।३४२।।

विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
क्या उससे हीन रु अधिक बनता द्रव्य को कैसे करे।।३४३।।
माने तुँ 'ज्ञायकभाव तो ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
तो यों भि यह आत्मा स्वयं निज आतमा को नहिं करे।।३४४।।

अन्तिम। **(इस प्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए विवक्षा को बदलकर जो पक्ष कहा है, वह घटित नहीं होता।)** कर्तापना क्या सिद्ध करे? कि आत्मा, आत्मा का कर्ता। लो! भाई! कर्ता सिद्ध किया। परन्तु वह तो असंख्य प्रदेशी वस्तु है, अनादि-अनन्त है। तुम कर्ता कहते हो तो हम भी कर्ता मानते हैं। किसे? कि आत्मा को। किसे? आत्मा आत्मा को करे। परन्तु आत्मा को क्या करे? आत्मा तो असंख्य प्रदेशी त्रिकाल है। यह कहते हैं।

(इस प्रकार कर्तृत्व को सिद्ध करने के लिए विवक्षा को बदलकर... कथन को बदलकर **जो पक्ष कहा है, वह घटित नहीं होता।)** तूने पक्ष किया है, वह घटित नहीं होता। **(इस प्रकार, यदि कर्म का कर्ता कर्म ही माना जाए तो स्याद्वाद के साथ विरोध आता है; इसलिए आत्मा को अज्ञान-अवस्था में कथञ्चित् अपने अज्ञानभावरूप कर्म का कर्ता मानना चाहिए, जिससे स्याद्वाद के साथ विरोध नहीं आता।)** अब टीका।

टीका – (यहाँ पूर्व पक्ष इस प्रकार है:)... यहाँ पूर्व का पक्ष है अभी। **'कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है,...** ज्ञानावरणीय कर्म के कारण ज्ञान में हीन दशा होती है। ज्ञानावरणीय कर्म नहीं? गोम्मटसार में। इस ज्ञान को आवरण करता है न वह? ऐसा अज्ञानी कहता है, हों! अज्ञानी का पक्ष शास्त्र के नाम से लेकर बात करते हैं। **'कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना...** देखा? सब ऐसा ही कहे, ज्ञानावरणीय कर्म कहा है न? ज्ञान को आवरण करनेवाला कर्म है न? यह तो निमित्त से कथन है। वस्तु तो त्रिकाल निरावरण है। वस्तु है, वह तो त्रिकाल निरावरण है। एक समय की पर्याय में विकार का सम्बन्ध है, उतना पर्याय में आवरण कहने में आता है। आहाहा!

'कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के

बिना उसकी (अज्ञान की) अनुपपत्ति है;... ज्ञानावरणीय का उदय न हो और अज्ञान होगा ? ऐसा कहते हैं। इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म के कारण अज्ञान होता है। सब खोटी बात है। यह तो बड़ी (चर्चा) चली थी, (संवत्) १९७६ के वर्ष। दामोदर सेठ कहे, कर्म से होता है। कहा, तीन काल में नहीं होता। होना चाहिए। लो! चौबीस ही तीर्थंकर होते हैं, चक्रवर्ती बारह ही होते हैं, वासुदेव इतने ही होते हैं। यह क्यों निश्चय नहीं ? इसलिए कर्म भी निश्चय है। इसलिए कर्म के कारण विकार होता है। यह सब है, वह तो निश्चय होनेवाले हैं, ऐसा कहा है। इससे कर्म से विकार होता है, यह इसके कारण बैठे, ऐसा नहीं है। विकार तो स्वयं करे, तब कर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! ज्ञानावरणीय नाम पड़ा है ? गोम्मटसार में पाठ है ज्ञानावरणीय। ज्ञान को आवरण करनेवाला ज्ञानावरणीय। तुम कहते हो कि नहीं। परन्तु सुन तो सही। यह तो निमित्त के कथन हैं।

ज्ञानावरण नामक कर्म के उदय के बिना उसकी (अज्ञान की) अनुपपत्ति है; कर्म ही (आत्मा को) ज्ञानी करता है,... यह ज्ञानावरणीय कर्म है, तब आत्मा ज्ञानी हो। ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो, तब ज्ञानी हो—ऐसा अज्ञानी कहता है, हों! ऐसा नहीं है। यह प्रश्न किया था (संवत्) १९८१ में। हंसराज, हंसराजभाई गुजर गये न? अमेरलीवाले। कैसे कहलाते हैं वे ? 'कामाणी... रामजीभाई कामाणी।' करोड़पति। तब आये हुए थे, गढडा आये हुए थे। (वे कहें,) कर्म का क्षयोपशम होवे तो ही आत्मा को यह होता है। कहा—यह बात खोटी है। १९८१ में गढडा चातुर्मास (था)। दर्शन को आये हुए थे, व्याख्यान में बोले। कर्म के कारण यह उघाड़ होता है और कर्म के कारण यह आवरण आता है।

मुमुक्षु : वे काशी जाकर पढ़कर आये थे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़कर आये थे (परन्तु) बुद्धि ऐसी नहीं थी, बुद्धि ऐसी नहीं थी। ऐसे निवृत्त और सेठ मनुष्य। पैसा बहुत, करोड़ों रुपये हो गये थे। उस समय थोड़े थे, दस लाख। १९८६ में हमारा चातुर्मास था, तब दस लाख थे, बाद में करोड़ों हो गये। सात-आठ करोड़ हो गये। इससे क्या हो गया ? धूल में।

यहाँ कहते हैं कि यदि ज्ञानावरणीय हटे तो ज्ञान का उघाड़ हो, इसलिए ज्ञान का

कारण भी कर्म है। आता है या नहीं? शास्त्रों में आता है, ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम, ज्ञानावरणीय का उदय। **कर्म ही (आत्मा को) ज्ञानी करता है,...** कर्म हटे, तब ज्ञान हो, ऐसा। **क्योंकि ज्ञानावरण नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है;...** यह शब्द ही था। ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होवे तो जीव में ज्ञान होता है। कहा, ऐसा नहीं है। जीव स्वयं क्षयोपशम करे, तब कर्म का क्षयोपशम उसके कारण से होता है। आहाहा!

कर्म ही सुलाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है;... निद्रा कर्म का उदय आवे तो निद्रा होती है। कहा, यह बात मिथ्या है। स्वयं को प्रमाद की परिणति आवे, तब इस निद्रा कर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! परन्तु कौन इतनी निवृत्ति हो यह सब निर्णय करने की? एक तो धन्धे के कारण फुरसत न हो, स्त्री-पुत्र (के कारण निवृत्ति न हो), धर्म सुनने जाए तो घण्टे भर सुने जो ऊपर कहे वह, हों!

मुमुक्षु : कुगुरु लूट लेता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लूट लेता है घण्टा भर। श्रीमद् ने कहा न? श्रीमद् ने कहा, एक तो समय मिलता नहीं। घण्टा भर मिले (और) सुनने जाए (तो) कुगुरु लूट ले। उल्टी बात करके और मनवाकर लूट ले - ऐसा पाठ है। श्रीमद् में आता है। उसे कुछ खबर नहीं होती। जी हाँ, जी हाँ करे। कुछ कहते होंगे पाट पर बैठकर, इसलिए सत्य होगा न! परन्तु गप्प मारते हैं और उल्टा करते हैं, उसकी इसे खबर नहीं है।

यहाँ ऐसा कहते हैं, वे ऐसा कहते, ज्ञानावरणीय का उघाड़ हो तो यहाँ क्षयोपशम होता है। कहा, ऐसा नहीं है। अपने में ज्ञान की पर्याय का उघाड़ हो, तब उस कर्म में उघाड़ उसके कारण से होता है। आहाहा! गजब बात आयी। आहाहा!

कर्म ही जगाता है,... निद्रा कर्म पूरा हो, इसलिए जगे—ऐसा अज्ञानी कहता है। **क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है;...** परन्तु यह तो क्षयोपशम... प्रत्येक द्रव्य की, प्रत्येक समय में पर्याय स्वयं से होती है। वह षट्कारक से परिणति से होती है। निमित्त की भी जिसे अपेक्षा नहीं। यह सिद्धान्त सिद्ध किये बिना, इसकी पर्याय की भी स्वतन्त्रता सिद्ध नहीं होती। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य की पर्याय—अवस्था एक समय की षट्कारक से होती है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान,

अधिकरण। पर से नहीं और द्रव्य-गुण से भी नहीं। आहाहा! ६२वीं गाथा पंचास्तिकाय। बनियों को समय कम (मिलता है), व्यापारी धन्धे में गहरा उलझ गया है। लड़कों को बड़ा करके वापस दुकान में लगा देना। ऐसे बैल जैसे करना हो। व्यापार के धन्धे में साथ जोड़ दे। अब उसमें सुनने को निवृत्त कहाँ हो? आहाहा! परन्तु अब सुननेवाले हुए हैं।

मुमुक्षु : वाशिम (महाराष्ट्र में) शिक्षण चलता है, वहाँ हजारों लोग आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महाराष्ट्र में बाबूभाई और सब गये हैं। उत्साह बहुत है।

कर्म ही जगाता है, क्योंकि निद्रा नामक कर्म के क्षयोपशम के बिना उसकी अनुपपत्ति है;... ऐसा अज्ञानी कहता है। **कर्म ही सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है;...** देखा? सातावेदनीय का उदय आवे, तब अनुकूल सामग्री आवे, तब सुखी हो। परन्तु सुख तो कल्पना करता है। ये संयोग आये, वह साता का निमित्त अवश्य, परन्तु इनमें मुझे ठीक है, यह तो कल्पना करता है। यह कल्पना साता कहाँ कराती है? आहाहा! अनुकूल सामग्री में कल्पना करता है कि मैं सुखी हूँ। यह तो कल्पना है। ऐसी वस्तु कहाँ है? आहाहा!

क्योंकि सातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही दुःखी करता है, क्योंकि असातावेदनीय नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है;... आहाहा! असाता का उदय न हो तो दुःख नहीं होता। परन्तु दुःख की पर्याय का काल उसका है, उसके कारण से है और तब उसे असातावेदनीय का निमित्त कहा जाता है। निमित्त अर्थात् कुछ नहीं, उसमें कर्ता में कुछ नहीं, ऐसा। दूसरी चीज़ की अवस्था की सत्ता का स्वीकार। पर में वह कुछ करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो सामनेवाले का पक्ष आया।

कर्म ही मिथ्यादृष्टि करता है,... ठीक! मोह का-कर्म का मिथ्यात्व का उदय आवे, तब मिथ्यादृष्टि करता है। झूठ बात है। स्वयं मिथ्यादृष्टि होता है, तब मिथ्यात्वकर्म को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! उपादान और निमित्त का बड़ा झगड़ा। **क्योंकि मिथ्यात्वकर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है; कर्म ही असंयमी करता है,...** लो! असंयमी—राग और द्वेष, विषय और वासना, भोग यह सब असंयमपना कर्म के कारण

से है, ऐसा अज्ञानी कहता है। **क्योंकि चारित्रमोह नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है;...** आहाहा! वह स्वयं के कारण से वह पर्याय उस समय में होनी है, वह होनी है। निमित्त के कारण नहीं, द्रव्य-गुण के कारण नहीं। आहाहा! विषय -वासना या राग-द्वेष के परिणाम जीव के उस समय के स्वतन्त्र कर्ता होकर पर्याय करती है। उसे कर्म नहीं करता और कर्म नहीं कराता।

कर्म ही ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यग्लोक में भ्रमण कराता है,... आनुपूर्वी है न? आनुपूर्वी नामकर्म। **क्योंकि आनुपूर्वी नामक कर्म के उदय के बिना उसकी अनुपपत्ति है;...** अज्ञानी भी शास्त्र पढ़ा है, तब तर्क करता है। आनुपूर्वी नामकर्म के उदय के कारण जाता है। श्रेणिक राजा नरक में क्यों गये? वे तो समकिती थे, क्षायिक समकिती। तीर्थंकरगोत्र बाँधा हुआ। यह कर्म बाँधा हुआ है, इसके कारण वहाँ गये हैं। ऐसा तर्क करता है। मिथ्या बात है। वे तो अपनी पर्याय की योग्यता से वहाँ गति होती है। कर्म तो साथ में निमित्तरूप से है। कर्म, कर्म के कारण से जाता है, आत्मा, आत्मा के कारण से साथ में आता है। आहाहा!

दूसरा भी जो कुछ जितना शुभ-अशुभ है... ठीक! यह शुभ और अशुभ **वह सब कर्म ही करता है,...** शुभभाव भी कर्म मन्द पड़े, इसलिए होते हैं। अशुभभाव भी कर्म की तीव्रता के कारण होते हैं। आहाहा! **क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त राग नामक कर्म के उदय के बिना उनकी अनुपपत्ति है।** देखा? शुभराग के उदय के बिना शुभभाव नहीं होते। अशुभराग के उदय के बिना अशुभराग नहीं होता, ऐसा अज्ञानी का तर्क है, मिथ्या (तर्क है)। आहाहा! **इस प्रकार सब कुछ स्वतंत्रतया कर्म ही करता है, कर्म ही देता है,...** यह सब पैस-बैसा आवे, वह कौन पैसा देता है? कर्म देता है। आहाहा! **कर्म ही हर लेता है,...** कर्म का ऐसा उदय आवे कि सब समाप्त हो जाए। पैसा-बैसा कुछ रहे नहीं, भिखारी हो जाए। वह कर्म के कारण होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। ऐसा है नहीं।

इसलिए हम यह निश्चय करते हैं कि-सभी जीव सदा... सर्व जीव और सदा **एकान्त से अकर्ता ही हैं।** ऐसा अज्ञानी ने तर्क किया है। आत्मा कर्ता नहीं, पर कराता है। कर्म के कारण भटके, कर्म के कारण इसका भटकना, कर्म के कारण विकार, कर्म के

कारण ज्ञानावरणीय का उघाड़... आहाहा! **और श्रुति (भगवान की वाणी, शास्त्र) भी इसी अर्थ को कहती है;...** और शास्त्र का आधार देता है। **इसी अर्थ को कहती है; क्योंकि, (वह श्रुति) 'पुरुषवेद नामक कर्म...** पुरुषवेद नामक कर्म शास्त्र में आवे तो **स्त्री की अभिलाषा करता है...** पुरुष कर्म का उदय हो, वह स्त्री की अभिलाषा करे।

और स्त्रीवेद नामक कर्म पुरुष की अभिलाषा करता है' इस वाक्य से कर्म को ही कर्म की अभिलाषा के कर्तृत्व के समर्थन द्वारा जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है,... अब्रह्म उसे—जीव को है ही नहीं। वह तो सब कर्म के कारण है। आत्मा अब्रह्मचारी है, विषय का भोगनेवाला है, ऐसा नहीं है—ऐसा कहता है। आहाहा! शास्त्र का आधार दिया। निमित्त से जहाँ कथन हो, उसमें चिपक जाता है। आहाहा! **जीव को अब्रह्मचर्य के कर्तृत्व का निषेध करती है,...** यह शास्त्र की उल्टी दृष्टिवाला स्त्री और पुरुष का आधार देकर आत्मा के कर्तापने का निषेध करता है। पुरुषवेद के कारण स्त्री की अभिलाषा होती है, स्त्री को पुरुष के वेद के कारण होती है। इसलिए कर्म ही यह सब कर्ता है। ऐसा अज्ञानी कहता है, हों! मिथ्या तर्क करता है। आहाहा!

तथा 'जो पर को हनता है और जो पर के द्वारा हना जाता है, वह परघात कर्म है'... नामकर्म, परघात नाम का एक कर्म है कि पर का घात करे। आहाहा! शास्त्र में से निकालता है न! **इस वाक्य से कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के...** लो! परघात नाम की प्रकृति है, वह निमित्त होती है। उसके बदले (कहे), परघात प्रकृति के कारण पर का घात होता है। यह बात मिथ्या है। परघात की प्रकृति के कारण से पर का घात और हिंसा हो, यह मिथ्या बात है। **कर्म को ही कर्म के घात का कर्तृत्व होने के समर्थन द्वारा जीव के घात के कर्तृत्व का निषेध करती है,...** लो! यह सब बात जीव राग का कर्ता है, इसका निषेध करती है। पूरा कर्तापने का निषेध करता है। कर्ता है ही नहीं। **और इस प्रकार (अब्रह्मचर्य के तथा घात के कर्तृत्व के निषेध द्वारा) जीव का सर्वथा ही अकर्तृत्व बतलाती है।'** आहाहा! आचार्य को भी कितनी गाथाएँ बनानी पड़ीं!

(आचार्यदेव कहते हैं कि–) इस प्रकार ऐसे सांख्यमत को, अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से... यह तो सांख्य का मत है, जैन का मत नहीं। सांख्य का मत जैनमत में

चलावे, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! **अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के अपराध से सूत्र के अर्थ को न जाननेवाले...** आहाहा! उल्टे अर्थ करे, सूत्र के विपरीत अर्थ करे। (वह ऐसा कहे), यह रहा। ज्ञानावरणीय ज्ञान को रोकता है, दर्शनावरणीय दर्शन को रोकता है, मोहनीय मिथ्यात्व करता है, अन्तरायकर्म विघ्न करता है। पाठ नहीं ? दान, लाभ, अन्तरायकर्म। परन्तु वह सब निमित्त के कथन हैं। किसी द्रव्य की पर्याय किसी द्रव्य की पर्याय को करे, घात करे, उत्पन्न करे (—ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा!

कुछ श्रमणाभास... मुनि के गुण नहीं होने पर भी अपने को मुनि कहलानेवाले **प्ररूपित करते हैं;...** ऐसी प्ररूपणा करते हैं। कर्म के कारण होता है—ऐसी प्ररूपणा करते हैं। **उनकी, एकान्त से प्रकृति के कर्तृत्व की मान्यता से, समस्त जीवों के एकान्त से अकर्तृत्व आ जाता है, इसलिए 'जीव कर्ता है' ऐसी जो श्रुति है, उसका कोप दूर करना अशक्य हो जाता है... सर्व भावों को–जो कि पर्यायरूप हैं उन्हें–करता है, और आत्मा तो आत्मा को ही एक को...** सब पर्यायें जितनी हैं, उतनी तो कर्म ही करता है। आत्मा (क्या करे) ? आत्मा, आत्मा को करे। ठीक! आत्मा तो आत्मा को ही द्रव्यरूप से करे। द्रव्यरूप से किस प्रकार करे ? द्रव्य तो है वह है। करना है कहाँ उसमें ? करना है, वह तो पर्याय में होता है, पलटने में। पर्याय बिना का द्रव्य कभी तीन काल में नहीं होता। आहाहा! **पर्यायरूप हैं उन्हें–करता है, और आत्मा तो आत्मा को ही एक को द्रव्यरूप को करता है...** आहाहा! उसे कथंचित् सिद्ध करना है न! आत्मा अपनी पर्याय को राग-द्वेष को करे नहीं परन्तु आत्मा आत्मा को करे। लो! यह स्याद्वाद हुआ।

इसलिए जीव कर्ता है; इस प्रकार श्रुति का कोप नहीं होता... ऐसा सामनेवाला कहता है, हों! **ऐसा जो अभिप्राय है, वह मिथ्या ही है। (इसी को समझाते हैं–) जीव तो द्रव्यरूप से नित्य है,...** नित्य है, उसे क्या बनाना ? **असंख्यात-प्रदेशी है...** देखो! इसमें आया ? जैन के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं नहीं है। असंख्यप्रदेशी अनादि, उसमें एक प्रदेश भी घटता नहीं, बढ़ता नहीं। आहाहा! **असंख्यात-प्रदेशी है और लोक परिमाण है।** उसके प्रदेश हैं। जितना लोक है, उतनी संख्या प्रमाण उनकी संख्या है।

उसमें प्रथम, नित्य का कार्यत्व नहीं बन सकता,... अब तू कहे कि आत्मा को

करे। तो आत्मा तो नित्य है और असंख्यप्रदेशी है, अतः नित्य को कर्तापना नहीं बन सकता। नित्य कहना और फिर कर्ता कहना ? आहाहा ! **क्योंकि कृतकत्व के और नित्यत्व के एकत्व का विरोध है।** करना और नित्य, यह दो तो विरोध है। करने में तो पर्याय आयी, बदलना आया और (द्रव्य) तो नित्य है। आहाहा !

(आत्मा नित्य है इसलिए वह कृतक अर्थात् किसी के द्वारा किया गया नहीं हो सकता।) और अवस्थित... अब तू कदाचित् ऐसा कहे कि असंख्य प्रदेश हैं, उनमें से कम-ज्यादा करे। तो **अवस्थित असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता,...** पुद्गल में जैसे परमाणु जाए और आये, ऐसे असंख्य प्रदेश में कितने ही प्रदेश जाएँ और आयें, ऐसा नहीं होता। असंख्य प्रदेश हैं वे हैं, वह अनादि अनन्त है। अतः द्रव्य से नित्य है, उसका कर्ता नहीं होता। असंख्यप्रदेशी एकरूप रहे, उसका कर्ता नहीं होता। अब तेरा कर्ता कहाँ रहा ? आहाहा ! विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३९८, गाथा - ३३२ से ३४४ शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण २
दिनाङ्क - ३१-०५-१९८०

यहाँ तक आया है। अधिकार क्या चलता है ? कि आत्मा विकार का कर्ता नहीं, ऐसा अज्ञानी मानता है। तब कहते हैं, कर्ता नहीं, तब कर्तापना सिद्धान्त में है न ? जैसे शास्त्र में कर्तापना तो कहा है। तब वह कहता है, कर्ता आत्मा का होता है। आत्मा द्रव्य है न, द्रव्य, उसका कर्ता होता है। द्रव्य का कर्ता नहीं हो सकता। जो वस्तु नित्य है, उसे करना, इन दो का विरोध है। तुझे विकार करने का कर्तापना स्थापित करना है तो ऐसा कि आत्मा आत्मा को करता है तो कर्तापना स्थापित होता है। समझ में आया ? तो (उसके सामने) कहते हैं, आत्मा आत्मा का क्या करे ? आत्मा तो नित्य है।

नित्य को करना और नित्य (रहना), इन दोनों का विरोध है। कायम रहना और करना, (इसमें) करना, यह तो नया हुआ। उस नित्य में करनापना होता नहीं। तब कहता है, असंख्य प्रदेश हैं, उनमें कुछ फेरफार करे। असंख्य प्रदेश तो जितने हैं, उतने ही हैं; कहीं स्कन्ध की भाँति—पुद्गल स्कन्ध की भाँति पुद्गल परमाणु थोड़े जाएँ और थोड़े आयें, ऐसा इसमें नहीं है। असंख्यप्रदेशी अखण्ड है। इसलिए आत्मा किसी प्रकार से आत्मा का—द्रव्य का कर्ता नहीं है, प्रदेश का कर्ता नहीं है परन्तु विकार का कर्ता है, वह कर्तापना स्थापित करने के लिये यह द्रव्य का कर्ता सिद्ध किया परन्तु यह कुछ बैठता नहीं है। यह यहाँ आया, लो!

और अविस्थत असंख्य-प्रदेशवाले एक (आत्मा) को पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण द्वारा... नीचे से चौथी लाईन। **भी कार्यत्व नहीं बन सकता,...** उसमें असंख्य प्रदेश में थोड़े प्रदेश जायें और थोड़े प्रदेश निकलें, ऐसा इसमें नहीं बनता। इसलिए असंख्य प्रदेश में भी कार्यपना नहीं बनता। न्याय समझ में आता है ? यह सब लॉजिक से बात करते हैं। चौथी लाईन है। **पुद्गलस्कन्ध की भाँति, प्रदेशों के प्रक्षेपण-आकर्षण...** डालना और घटाना, इसके द्वारा कार्यपना नहीं बन सकता। पुद्गल स्कन्ध में तो परमाणु जायें और परमाणु निकलें। आत्मा के असंख्य प्रदेश में कितने ही प्रदेश जायें

और प्रदेश निकलें, ऐसा नहीं है। इसलिए द्रव्य से भी कर्ता नहीं है, क्षेत्र से भी कर्ता नहीं है। असंख्य प्रदेश ऐसा अनादि है।

क्योंकि प्रदेशों का प्रक्षेपण तथा आकर्षण हो तो उसके एकत्व का व्याघात हो जाएगा। क्या कहते हैं? असंख्य प्रदेशी आत्मा में प्रदेश में आना-जाना होवे तो एकपने का व्याघात होता है। असंख्य प्रदेशी एकरूप वस्तु है। समझ में आया? **(स्कन्ध अनेक परमाणुओं का बना हुआ है, इसलिए उसमें से परमाणु निकल जाते हैं तथा उसमें आते भी हैं;...** स्कन्ध... स्कन्ध में, पुद्गल में। **परन्तु आत्मा निश्चित असंख्य-प्रदेशवाला एक ही द्रव्य है...** वे परमाणु तो बहुत द्रव्य हैं तो बहुतों में कितने ही आवें और कितने ही जाएँ, एक द्रव्य में क्या जाए और आवे? वस्तु तो नित्य है, असंख्य प्रदेशी परन्तु नित्य है।

एक ही द्रव्य है इसलिए वह अपने प्रदेशों को निकाल नहीं सकता तथा अधिक प्रदेशों को ले नहीं सकता।)... दूसरे के प्रदेश ले नहीं सकता और अपने प्रदेश कम नहीं कर सकता। कौन? आत्मा। देवीलालजी! पकड़ में आता है कुछ? आत्मा किसी अपेक्षा से भी विकार का कर्ता नहीं है, ऐसा सांख्यमति आदि मानते हैं और सांख्यमत आदि से जैन के साधु भी कितने ही ऐसा मानते हैं कि कर्म के कारण विकार होता है, आत्मा के कारण नहीं। तो कहते हैं कि यदि विकार वह न करे तो कर्तापना तो सिद्ध किया है। आत्मा आत्मा का कर्ता है, तो यह (कहते हैं) कि आत्मा आत्मा का कर्ता है परन्तु आत्मा का आत्मा कर्ता किस प्रकार बने? नित्य वस्तु में कर्तापना किस प्रकार होगा? तब कहते हैं, उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेशी है, एक रहा नहीं न। द्रव्य तो भले एक रहा परन्तु प्रदेश तो असंख्य हैं न? तो असंख्य प्रदेश में थोड़े आवें और जावें। इस प्रकार भी कार्य बनता है। तब कहते हैं, वह एकरूप त्रिकाल है। तेरी यह बात मिथ्या है। असंख्य प्रदेशी एकरूप द्रव्य है। उसमें कोई प्रदेश आये-जाये, ऐसा है नहीं। आहाहा!

अब तीसरी बात। **और सकल लोकरूपी घर के विस्तार से...** जैसा लोक है, उतने प्रमाण में विस्तार के आत्मा के प्रदेश हैं। आत्मा के असंख्य प्रदेश पूरा लोक है, उसके प्रमाण में हैं। जिसका निश्चित विस्तार संग्रह लोक जितना, उसका निश्चित माप है। **उसके (आत्मा के) प्रदेशों के...** तब तीसरी बात ली कि प्रदेशों में संकोच-विकास होता है न?

तो इस प्रकार से कर्तापना आया या नहीं? (तो कहते हैं) उसमें भी कर्तापना नहीं है। आहा! संकोच-विकास होता है तो उसकी शक्ति में उसी और उसी में होता है। उसमें कोई प्रदेश घटे और प्रदेश बढ़े, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! लोक प्रमाण केवली समुद्घात करे तो भी प्रदेश तो जितने हैं उतने हैं और अंगुल के असंख्य भाग में निगोद के जीव एक शरीर में अनन्त रहें तो भी प्रदेश तो जितने हैं, उतने हैं। आहाहा!

द्रव्य अर्थात् वस्तु और क्षेत्र दोनों में तो कोई अन्तर नहीं है। अब भाव में तू इनकार करता है कि भाव का कर्ता नहीं। कर्तापना स्याद्वाद में आया, उसे तू लगायेगा किस प्रकार? द्रव्य और क्षेत्र का कर्तापना (तूने कहा, उसका इनकार किया)। तब अब संकोच-विकास होता है, उसमें कर्तापना होगा, ऐसी तीसरी बात कहता है।

और **(जिसका लोक जितना निश्चित् माप है) उसके (आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता,...** प्रदेश संकोच-विकास होता है। लोक प्रमाण हों और निगोद में जाए परन्तु इससे उसके प्रदेश कम-ज्यादा नहीं होते। आत्मा के प्रदेश तो जो असंख्य हैं, उतने ही रहते हैं। इसलिए संकोच विकास से भी आत्मा का कर्तापने का कार्य सिद्ध नहीं होता। ऐसी बातें बनियों को (समझना)। निवृत्ति (नहीं) मिलती। न्याय समझ में आता है?

अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि जो यह विकार होता है, वह आत्मा नहीं करता, वह कर्म करता है, ऐसा अज्ञानी कहता है। तब ज्ञानी उसे जवाब देता है कि जब वह विकार कर्ता नहीं तो कर्ता कहा तो है। आत्मा को कर्ता कहा तो है। तब वह कहता है कि कर्ता है। किसका? कि अपने द्रव्य का। स्वयं वस्तु है, उसका कर्ता है। परन्तु वस्तु होवे, उसका कर्ता हो ही नहीं सकता। वह तो नित्य वस्तु है। तब कहता है, वह कर्ता न हो तो उसके असंख्य प्रदेश का (कर्ता है)। वह तो एक द्रव्य है, परन्तु प्रदेश असंख्य है न, इसलिए असंख्य में कार्यपना आता है। थोड़े प्रदेश बाहर निकलें, थोड़े जायें तो फेरफार होता है। तो कहते हैं, ऐसा भी तीन काल में नहीं होता। असंख्य प्रदेशी अखण्ड एक वस्तु है। आहाहा! इसलिए उसमें भी कर्तापना नहीं बनता।

तीसरी बात। यह असंख्य प्रदेशी संकोच-विकास होता है। बालकरूप हो तो उतने

में प्रदेश रहते हैं, बड़ा होवे तो चौड़े होते हैं। (यह) संकुचित और चौड़े होते हैं, उसमें कहीं प्रदेश बढ़ते हैं और घटते, ऐसा नहीं है। प्रदेश तो जितने हैं, उतने ही हैं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है।

यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर ने आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का जो स्वरूप वर्णन किया है, उसकी बात है। यह द्रव्य, क्षेत्र में तो बदले नहीं, काल में तो तीनों काल में स्वयं ही है। अब भाव में अन्तर करे। यदि भाव में अन्तर न हो तो यह संसार किसका? विकार करे आदि (किसका)? तब वह सामनेवाला कहता है कि नहीं। विकार आत्मा नहीं करता। तुमने कर्ता भले कहा हो। तो द्रव्य करे, क्षेत्र में करे या संकोच-विकास में कार्य हो। तब कहते हैं, भाई! संकोच-विकास में तो असंख्य प्रदेश एक ही रहते हैं। आहाहा! चाहे तो लोक प्रमाण केवलज्ञानी परमात्मा असंख्य प्रदेशी समुद्घात करे और चाहे तो निगोद के इतने भाग में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव और एक-एक जीव के असंख्य प्रदेश अखण्ड हैं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। बनियों को धन्धे के पाप के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। ऐसा निर्णय कहाँ करना?

मुमुक्षु : सुनने बनिये ही आते हैं, दूसरा कोई नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : हिन्दी में लो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ गुजराती है, एक व्यक्ति के लिये हिन्दी नहीं। यहाँ समझ में आया? आहाहा!

संकोच-विकास के कारण भी कार्यपना नहीं हो सकता। आत्मा के प्रदेश असंख्य हैं, उनका संकोच-विकास होता है। निगोद में जाए तो संकोच हो जाए और समुद्घात करे तो विकास हो, परन्तु प्रदेश में घट-बढ़ नहीं होती। इसलिए उसका संकोच-विकास की अपेक्षा से भी कर्तापना नहीं है। द्रव्य अपेक्षा से कर्तापना नहीं, क्षेत्र अपेक्षा से कर्तापना नहीं, संकोच-विकास की अपेक्षा से कर्तापना नहीं। आहाहा!

उसके (आत्मा के) प्रदेशों के संकोच-विकास द्वारा भी कार्यत्व नहीं बन सकता,... इसमें न्याय समझ में आता है? आत्मा में विकार होता है, पुण्य और पाप, दया और दया,

व्रत और भक्ति, वह विकार है, तो अज्ञानी कहता है कि वह विकार आत्मा नहीं करता, विकार कर्म करता है। आचार्य उसका उत्तर देते हैं कि यदि विकार कर्म करे तो आत्मा को कर्ता कहा है, कर्ता तो कहा है, उसे किस प्रकार तू सिद्ध करेगा? तो वह कहता है कि द्रव्य का कर्ता है। परन्तु द्रव्य का कर्ता होता नहीं। नित्य वस्तु और नित्य को करना, दोनों नहीं हो सकते। तो उसके क्षेत्र के असंख्यपने (में कर्ता होता है)। उसमें तो तुमने एकपना लिया, द्रव्य (लिया) और क्षेत्र में असंख्य प्रदेश हैं तो उसमें कम-ज्यादा हों। (तो कहते हैं) उसमें भी कम-ज्यादा नहीं होते। लोकप्रमाण हैं, उस प्रमाण रहनेवाले हैं। तीसरी बात कि संकोच-विकास होता है न? बालक हो तब आत्मा के प्रदेश बालक प्रमाण, शरीर प्रमाण होते हैं। बड़ा हो तो उसके प्रमाण में (होते हैं), तो संकोच-विकास होता है, उसकी अपेक्षा से उसमें कर्तापना आता है या नहीं? कि, नहीं। उसमें ऐसा भी नहीं आता। संकोच-विकास में कहीं प्रदेश कम-ज्यादा नहीं होते। आहाहा! समझ में आया?

संकोच-विस्तार होने पर भी, सूखे-गीले चमड़े की भाँति,... चमड़ा है न? चमड़ा सूखा हो या गीला हो **निश्चित निज विस्तार के कारण...** है। जितनी चमड़ा है उतना है। भले गीला हो या सूखा हो। आहाहा! **उसे (आत्मा को) हीनाधिक नहीं किया जा सकता।** आहाहा! **चमड़े की भाँति, निश्चित निज विस्तार के कारण...** असंख्य प्रदेश का आत्मा, असंख्य प्रदेशी भगवान ने कहा, उसमें घट-बढ़ नहीं होती। उसमें **हीनाधिक नहीं किया जा सकता। (इस प्रकार आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।)** विकास का करना तूने तेरा नहीं माना और दूसरे का माना, तब तुझे कर्तापना तो सिद्ध करना है, अतः द्रव्य का कर्तापना (तू कहता है)। तो द्रव्य का कर्तापना तो सिद्ध होगा नहीं, द्रव्य तो है वह है। कर्तापना तो नहीं होगा और कुछ नया करना हो, उसमें कर्तापना होता है। यह तो नित्य आत्मा है। असंख्य प्रदेशी नित्य है, संकोच-विकास भी नित्य है। आहाहा!

(आत्मा के द्रव्यरूप आत्मा का कर्तृत्व नहीं बन सकता।) इसीलिए (तुझे) यदि विकार का कर्ता आत्मा को नहीं मानना और आत्मा को कर्तापना मानना है, यह नहीं बन सकता। शाश्वत् चीज़ है, उसे कर्तापना नहीं हो सकता। बदलती दशा को कर्तापना होता है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप यह बदलती दशा है। इसे करता है। आहाहा! वह कहे, इसे करता

नहीं। तब किसे (करता है) ? द्रव्य को करता है। परन्तु द्रव्य का करना होता नहीं, असंख्य प्रदेशी क्षेत्र का करना होता नहीं और संकोच-विकास का (करना) होता नहीं। आहाहा! जरा अन्यमति के साथ चर्चा की बात हुई है। आहाहा!

और, 'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से... वस्तुस्वभाव जो है सत्ता, सत्ता है, उसका अभाव कभी नहीं होता। वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना, सर्वथा मिटना (अशक्य है)। पलटे, वस्तु कायम रहकर पलटे, परन्तु वस्तु का अभाव हो जाए, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! **'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है...** जाननेवाला भगवान आत्मा... आहाहा! यह तो जड़ है, वाणी जड़ है, जाननेवाला जो आत्मा तो भिन्न कायम जाननेवाला रहता है, वह तो ज्ञायकभाव से कायम है। आहाहा! यह सब बदल जाता है, शरीर नाश हो जाता है, वाणी बन्द हो जाती है, आत्मा तो अन्दर ज्ञायकभाव है। यहाँ से जाकर अन्य भव में जाए। उसका कहीं नाश नहीं होता। आहाहा!

ज्ञायक भाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता है और इस प्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से,... क्या कहा? कि तू ऐसा कहता है कि ज्ञायकभाव है, वह कर्ता है। ज्ञायकभाव में कर्तापना होता ही नहीं, ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभाव सदा है। जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... सदा है, उसमें कर्तापना नहीं हो सकता। उसने चौथा बोल डाला, ऐसा कि ज्ञायकपना करे। आहाहा! ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से ही सदा स्थित रहता हुआ, ऐसा जवाब दिया।

'वस्तुस्वभाव का सर्वथा मिटना अशक्य होने से... आहाहा! ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से तो सदा स्थित है। **और इस प्रकार स्थित रहता हुआ, ज्ञायकत्व और कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से,...** जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... भगवान अन्दर सदा ही रहता है और उसे कर्ता होना, यह भी विरुद्ध है। ज्ञायकपना कायम रहे और कर्तापना सिद्ध करना, यह विरुद्ध है। आहाहा! सूक्ष्म अधिकार है।

और **मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं;...** और तू कहे कि विकार तो यहाँ होता ही नहीं। ज्ञायकभाव तो ज्ञायकभावरूप रहता है और विकार होता है तो तू कहता है कि विकार कर्म

कराता है। ज्ञायकभाव विकार स्वयं पर्याय में करता है, पलटती पर्याय में करता है, कायम रहने में वह कुछ नहीं कर सकता। आहाहा!

कर्तृत्व के अत्यन्त विरुद्धता होने से,... किसे ? ज्ञायकपने को जाननेवाला, कायम रहनेवाला और उसे कर्तापना, यह अत्यन्त विरुद्ध है। कायम रहनेवाला और उसे कर्तापना कहना, यह विरुद्ध है। समझ में आया ? आहाहा ! इससे **विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता;...** और **मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं;...** आचार्य जवाब देते हैं कि ज्ञायकभाव है, वह तो कायम रहता है, वह स्वयं तो कहीं बदलता नहीं और तो भी मिथ्यात्वादि भाव तो दशा में होते हैं, तथापि तू अकर्ता कहता हो तो यह होता है, उसका क्या ? आहाहा!

विरुद्धता होने से, मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं होता; और मिथ्यात्वादि भाव तो होते हैं;.... राग-द्वेष तो अज्ञानी करता है और तू कहता है कि ज्ञायकभाव करता नहीं। आहाहा ! **इसलिए उनका कर्ता कर्म ही है। इस प्रकार प्ररूपित किया जाता है'...** अज्ञानी ऐसा कहता है कि कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण भटकता है और कर्म के कारण दु:ख होता है। आत्मा को कुछ नहीं है, आत्मा तो अकर्ता है। यह अत्यन्त झूठ है। आत्मा स्वयं ही पर्याय में राग-द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व को करता है और पर्याय में टाल सकता है। आहाहा!

इस प्रकार प्ररूपित किया जाता है'-ऐसी जो वासना (अभिप्राय झुकाव) प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयता पूर्वक घात करती है... आत्मा, आत्मा को करता है तथा और विकार भी करता नहीं, यह दोनों विरुद्ध हो गया। **(क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)।** चार बोल लिये। (१) द्रव्य है, वह नित्य है; इसलिए कर्ता नहीं। (२) क्षेत्र असंख्य प्रदेश हैं, वे एकरूप हैं, इसलिए कर्ता नहीं। (३) उनका संकोच-विकास होता है, तथापि वह के वह (प्रदेश) हैं; इसलिए कर्ता नहीं और (४) भाव में ज्ञायकभाव है, वह ज्ञायकभाव स्वयं कर्ता नहीं। त्रिकाली ज्ञायकभाव कर्ता नहीं। आहाहा! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चार लिये। कठिन बात है। है न ?

'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयता पूर्वक घात करती है (क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से...)। सदा ही उसे जाननेवाला मानने से राग का कर्तापना आ नहीं सकता। अर्थात् सदा यदि जाननेवाला माने तो भी कर्तापना सिद्ध नहीं होता। द्रव्य सिद्ध होता नहीं, क्षेत्र सिद्ध होता नहीं, काल सिद्ध होता नहीं और भाव भी सिद्ध नहीं होता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। अब दया पालो और व्रत करो, ऐसी बात (होवे तो) समझ में तो आवे। क्या समझ में आवे? धूल। पर की दया आत्मा तीन काल में पाल नहीं सकता न! भाव करे, वह हिंसा, दया पालने का भाव करे, वह अपनी हिंसा है। राग है न, इसलिए अज्ञान भाव से राग का कर्ता आत्मा है—ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। बिल्कुल अकर्ता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ईश्वर ही सब करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रभु को... प्रभु को... प्रभु को यहाँ इनकार करते हैं। वह कर्ता ही नहीं। यह कर्म, कर्म करता है, ऐसा कहते हैं। यह ईश्वर कर्तावाले ऐसा कहते हैं। परन्तु यहाँ अभी कर्म करता है ऐसा। कर्म के कारण (होता है)। जैन में भी ऐसा है और बहुत बिना समझे कि आत्मा में जो कुछ दोष आता है, वह कर्म के कारण आता है। एकदम झूठ बात है। आत्मा में दोष होता है, वह दोष अपने अपराध से स्वयं करता है। कर्म तो निमित्तमात्र है, कर्म से विकार नहीं होता। आहाहा! अब ऐसे लॉजिक को-न्याय को (समझने के लिये) निवृत्त कब हो? इस प्रकार से सिद्ध करना... चार बोल से सिद्ध किया। आहाहा!

आत्मा विकार का कर्ता है, ऐसा सिद्ध करना है। अज्ञानी कहता है कि विकार का कर्ता कर्म है, आत्मा नहीं। इसके लिये यहाँ तर्क दिया कि वह किस प्रकार से कर्ता है? तो कहे, आत्मा तो नित्य है, नित्य को करता नहीं। असंख्य प्रदेशी शाश्वत् है, उसे करे नहीं, संकोच-विकास भी स्वयं... संकोच-विकास, चमड़े का दृष्टान्त दिया न? सूखा-गीला चमड़ा हुआ, भले सूखा और गीला चमड़ा तो उतना का उतना रहता है। गीला हो तो उतना और सूखा होवे तो उतना है। इसलिए सूखे-गीले चमड़े की भाँति भी आत्मा में संकोच-विकास से कम-अधिक नहीं होता। आहाहा! ऐसी बातें! तब फिर उसने कहा कि भाई!

ज्ञायकभाव करता होगा। ज्ञायकभाव तो एकरूप रहता है। ज्ञायकभाव में करना नहीं होता, करना तो पर्याय में होता है और पर्याय को तो मानता नहीं।

प्रगट की जाती है, वह भी 'आत्मा आत्मा को करता है' इस (पूर्वोक्त) मान्यता का अतिशयता पूर्वक घात करती है... उसकी श्रद्धा मिथ्या है। विकार... विकार... विकार को करे, कर्म से विकार होता है, आत्मा से नहीं—यह अत्यन्त आत्मा का बड़ा अपराध है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, उसे आत्मा की कुछ खबर नहीं।

(क्योंकि सदा ज्ञायक मानने से आत्मा अकर्ता ही सिद्ध हुआ)। सदा ज्ञायक मानने से पर्याय में राग होता है, उसका अकर्ता सिद्ध हुआ। आहाहा! समझ में आया? ज्ञायक है, जानेनवाला है। चैतन्य प्रकाश, चैतन्य प्रकाश का पूर-नूर है, वह तो शाश्वत् चीज़ है, उसे क्या करना हो? वह तो करने का होवे तो पर्याय में-बदलने में होता है। और तू कहता है कि ज्ञायकभाव करे, ज्ञायकभाव करे। परन्तु ज्ञायकभाव करे किस प्रकार? पर्याय में तू कर्तापना मानता नहीं और ज्ञायकभाव कर सकता नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसी जैन की बातें होंगी ऐसी? जैन परमेश्वर... आहाहा! जैन में भी बड़े घोटाले उठे हैं। नाम दिया है न? सांख्य की भाँति हमारे साधु भी विकार का कर्ता कर्म को माने, वे भी सांख्यमति जैसे अज्ञानी हैं। यह आ गया है। आहाहा!

इसलिए, ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना... क्या कहते हैं? देखो! ज्ञायक जाननहार भगवान आत्मा है। वह तो जाननहार... जाननहार... जाननहार... जाननहार... जाननहार... वह जाननहार सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है। विशेष अपेक्षा में अन्तर है। सामान्यरूप से तो त्रिकाल एकरूप है।

कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,... आहाहा! क्या कहते हैं? **ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से**

उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,... दोष हो, उसका जानना हो, उसके समय में। **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य...** राग और दया, दान, काम, क्रोध, वह पर है और मैं ज्ञान हूँ, ऐसे दो के बीच के भेदज्ञान से शून्य है। इसलिए वास्तव में तो जो कुछ राग-द्वेष होते हैं, वे ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य ही हैं, ज्ञान उन्हें जाननेवाला है। उसकी यह मर्यादा, उसे न रखकर... आहाहा! पर को आत्मारूप से जानता होने से उसे ज्ञायकभाव को वह तो सामान्यरूप से तो ज्ञायक ही है, परन्तु विशेषरूप से राग और द्वेष के उत्पन्न काल में उनका ज्ञान करना चाहिए, यहाँ ज्ञान करना चाहिए, उस ज्ञान का अभाव होने से उन राग-द्वेष को अपना मानकर करता है। कहो, कान्तिभाई! कभी यह तो सुना नहीं (होगा)। आहाहा! क्या कहा?

पहले इन चार बोल की तो बात की है। अब ज्ञायकभाव, ज्ञायकभाव जो है, वह एकरूप है, वह तो कर्ता हो नहीं सकता। एकरूप रहनेवाला ज्ञायकद्रव्य, द्रव्य ध्रुव... ध्रुव वह ध्रुव, वह सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञान अवस्थित होने से, सामान्य अपेक्षा से तो ध्रुव रहने से। **कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** वास्तव में तो... आहाहा! आत्मा में जो मिथ्यात्व और राग होता है, उसका ज्ञान होता है, ऐसा उसका स्वभाव है परन्तु उनके ज्ञान के समय में ज्ञान न करते हुए, यह मेरा कार्य है, ऐसे कर्ता होता है। आहाहा! समझ में आया?

फिर से, भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूप जाननहार त्रिकाल जाननहार है। वह सामान्य अपेक्षा से त्रिकाल जाननहार (है, उसे) तो कुछ करना होता नहीं। वह तो अवस्थित होने से, **ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी,...** यह होने पर भी **कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** वास्तव में तो राग जो होता है, वह ज्ञायक स्वयं है, इसलिए राग के ज्ञान के समय वास्तव में तो राग का ज्ञान होना चाहिए, राग का ज्ञान होना चाहिए। इस राग के ज्ञान के समय ज्ञान न करते हुए। **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ...** राग होता है, वह मैं हूँ - ऐसा अज्ञानी मानता है। राग से भिन्न भगवान अन्दर पृथक् है, उसकी अज्ञानी को खबर नहीं है। आहाहा!

यह ज्ञायकभाव **पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** ज्ञान, वास्तव में तो रागादि होते हैं, उनका यह ज्ञान है, उनका यह ज्ञान करता है। इसका स्वभाव ज्ञायक है, इसलिए ज्ञान है और ज्ञान होने से राग के काल में राग को जाने, ऐसा उसका स्वरूप है, परन्तु ऐसा न मानकर राग होता है, वह अज्ञान से 'मुझमें होता है', ऐसा वह अज्ञानी मानता है। आहाहा! वह मानता है, यह बराबर है। वह कर्ता अज्ञानरूप से बराबर है। आहाहा! विशेष अपेक्षा से, अकेले ज्ञायक सामान्य अपेक्षा से तो कर्तापना नहीं आता परन्तु ज्ञायकभाव में पर्याय की अपेक्षा से, विशेष अपेक्षा से, बदलने की अपेक्षा से **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** आहाहा! उस ज्ञान परिणाम को अज्ञानरूप करता हुआ, रागरूप करता हुआ... राग मैं हूँ, द्वेष मैं हूँ, पुण्य मैं हूँ, दया के भाव वह मैं हूँ। आहाहा! जगत को सत्य समझाने के लिये आचार्यों ने टीका की है। आहाहा!

पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से... भूल है। सामान्य तो सामान्य है। **विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** आत्मा के ज्ञानपरिणाम (होने चाहिए)। वास्तव में तो राग होता है, उसे जानने के परिणाम होने चाहिए। आहाहा! क्योंकि ज्ञान उसका स्वरूप है, ऐसा ऊपर आ गया न? **सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित...** है। ऊपर पहली लाईन आ गयी। **ज्ञायक भाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है।** ऐसा आ गया है, न्याय आ गया है। ऐसा होने पर भी **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** मिथ्याश्रद्धा और राग-द्वेष का ज्ञान करे। क्योंकि इसका ज्ञान स्वभाव है, ज्ञायक का ज्ञान स्वभाव है। इसलिए राग के समय, द्वेष के समय राग-द्वेष के ज्ञान का वह समय है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसा मार्ग।

मुमुक्षु : मिथ्यात्व के काल में तो मिथ्यात्व से रहित आत्मा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञायकभाव है, वह तो ध्रुव है। अब उसकी पर्याय में विशेष अपेक्षा से वास्तव में तो राग होता है, उसे जानना, ज्ञान का समय जानना ऐसा है, परन्तु ऐसा न होने से भेदज्ञान नहीं है, इसलिए राग, वह मैं हूँ—ऐसा मानता है। आहाहा! आचार्यों ने

भी कितना काम किया है! देखो न! आत्मारूप से जाने। क्या कहा? **पर को आत्मा के रूप में...** यहाँ अन्तर (पड़ता है)।

फिर से, **ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित...** वापस उसमें लेना है। ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है तो उसमें से तो ज्ञान होना चाहिए, ऐसा कहते हैं। ऐसे **कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** देखा? यह मिथ्याश्रद्धा, राग-द्वेष का यहाँ ज्ञान होना चाहिए, तो ज्ञान का इसका समय है, इसके ज्ञान का इसका समय है। क्योंकि ज्ञान ज्ञायक में अवस्थित है। आहाहा! ज्ञान है, वह ज्ञायक में अवस्थित है, कायम है; इसलिए मिथ्यात्व और राग होने के समय में उनका ज्ञान होना चाहिए। ज्ञान के समय (ज्ञान होना चाहिए)। आहाहा!

अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से,... आहाहा! और राग है, वह भिन्न है तथा ज्ञान, ज्ञायक का ज्ञान है, वह भिन्न है, ऐसा जिसे—अज्ञानी को ज्ञान नहीं है। आहाहा! **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ...** राग को आत्मा रूप से जानता हुआ। वास्तव में तो राग का ज्ञान करने का समय है, उसके बदले राग मैं हूँ, ऐसा वह मानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से,... बात क्या कही? कि, **कर्म से उत्पन्न होते हुए, मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** वह तो उसे जानने का काल है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष को जानने का काल है, परन्तु जानने के काल के समय भेदज्ञान की शून्यता के कारण राग है, वह मैं हूँ—ऐसा मानता है। आहाहा! कहो, गुणवन्तभाई! ऐसा सब कलकत्ता में कहीं मिले, ऐसा नहीं है। सर्वत्र भटकाव है। आहाहा!

भगवान! अन्दर चैतन्यमूर्ति ज्ञायक ध्रुवभाव, वह ज्ञानस्वभाव में स्थित है, ज्ञानस्वभाव में स्थित है। और उसे कर्म के निमित्त से होते मिथ्यात्व और राग-द्वेष और विषयवासना के काल में उसका ज्ञान का समय है। उसके ज्ञान का समय है परन्तु उसके ज्ञान का समय न जानकर पर को अपना मानकर भेदज्ञान नहीं करता। आहाहा! अनजाने लोगों को बहुत बोल कठिन पड़ें ऐसे हैं। वीतरागमार्ग ऐसा है, भाई!

अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से... है तो भगवान ज्ञायकभाव,

ज्ञानभाव से भरपूर ज्ञान से अवस्थित है। ज्ञायकभाव आत्मा ज्ञान से ही अवस्थित है। इसीलिए वह तो ज्ञान करने के ही योग्य है। रागादि आवें, पुण्य आदि आवें, चाहे जो आवें, उसे ज्ञान करने की ताकत है परन्तु अनादि से भेदज्ञान नहीं होने से, ज्ञेय और ज्ञान की एकता मानने से, उनका ज्ञान नहीं करके राग और पुण्य-परिणाम, वे मेरे हैं—ऐसा अज्ञानी कर्म का कर्ता होता है। अज्ञानी विकार का कर्ता होता है। है?

(ज्ञायक भाव) विशेष अपेक्षा से... देखा? पहले सामान्य अपेक्षा से कहा था न? सामान्य अपेक्षा से। सामान्य अपेक्षा से तो आत्मा ज्ञायक है, तो ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञायक है, वह सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वरूप ही है। अब विशेष अपेक्षा से जब पर्याय में कर्म के निमित्त से राग-द्वेष, मिथ्यात्व हो (उस समय) वास्तव में तो वह आत्मा अवस्थित-ज्ञान समय में अवस्थित है। इसलिए वह ज्ञान का समय है, उसे जानने का समय है। आहाहा! परन्तु ऐसा न मानकर भेदज्ञान के अभाव के कारण... आहाहा!

विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है... देखा? ज्ञान परिणाम होना चाहिए। राग और द्वेष हों, उनका ज्ञान होना चाहिए। भेदज्ञान की वस्तुस्थिति ऐसी है। क्योंकि ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से स्थित है तो वह तो प्रसंग, किसी भी प्रसंग में ज्ञान करे, वह उसका स्वरूप है। आहाहा! किसी भी प्रसंग में वह तो ज्ञान करे, ऐसी उसकी जाति है परन्तु ऐसा न मानकर ज्ञेय और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं होने से पर को आत्मारूप से जानता हुआ, उसका ज्ञान—जानना, उसे छोड़कर राग और दया, दान मेरे भाव हैं। वे परज्ञेयरूप से हैं और आत्मा उनका जाननेवाला ज्ञान परिणाम से है। ज्ञान परिणाम से ज्ञेय, राग का जाननेवाला है—ऐसा न मानकर, भेदविज्ञान के अभाव के कारण, उस राग को ही अपना स्वरूप मानता है। राग को जाननेवाला ज्ञान का परिणाम वह मेरा स्वरूप है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा! कठिन बात है, भाई! आचार्य ने तो यह प्रसंग जो आया हो, वह बात चले न? जो प्रसंग चलता हो, उसकी बात चले न? आहाहा!

ऐसा... पर को आत्मारूप से जानता हुआ ऐसा **(ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से...** अर्थात् ज्ञायकभाव तो सामान्य तो सामान्य ही है परन्तु उसकी विशेष अपेक्षा से राग होता है, द्वेष होता है, दया, दान के परिणाम होते हैं, उनके ज्ञान के समय। आहाहा! वास्तव में

तो उन्हें जानने का समय है, परन्तु ऐसा न मानकर **विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है**... विशेष अपेक्षा से राग को जानना, यह अपेक्षा न करके राग को अपना ज्ञानरूप है, ऐसा मानता हुआ राग का कर्ता होता है। आहाहा! यह जरा कठिन है।

पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से... पर्याय में **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है**... आहाहा! वास्तव में तो ज्ञायकभाव ज्ञान से अवस्थित है, इसलिए वह राग के समय उसका ज्ञान करने के लिये शक्तिवान है, परन्तु भिन्न ज्ञान के अभाव के कारण, भेदज्ञान के अभाव के कारण ज्ञानपरिणाम को अज्ञानरूप करता हुआ। उस समय ज्ञान परिणाम होना चाहिए, उसके बदले अज्ञानरूप रागरूप करता हुआ। आहाहा! कितने न्याय रखे हैं इसमें!

विशेष अपेक्षा से अर्थात् ज्ञायकभाव तो सामान्य त्रिकाल है, परन्तु उसका जो सामान्य ज्ञानस्वभाव है, उसका स्वरूप तो ऐसा ही है कि राग-द्वेष हों, उस समय उन्हें जाने ऐसी उनकी स्थिति है। परन्तु ऐसा न जानकर विशेषरूप से **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है**... स्वयं जानने के परिणाम नहीं करता और वह रागरूप, अज्ञानरूप मैं हूँ (ऐसा मानता है)। राग अज्ञान है। आहाहा! ज्ञान परिणाम को राग, दया-दान के परिणामरूप करता हुआ... आहाहा! अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन, **(-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना**... आहाहा! इस प्रकार से कर्ता सम्मत करना। कहो, दामोदरभाई! सुना है? सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा अन्दर कौन है? यह देह तो मिट्टी-धूल है। अन्दर राग-द्वेष होते हैं, उन्हें भी आत्मा जानने की पर्यायवाला है। त्रिकाली तो सामान्य है, परन्तु उसका विशेष, विशेष पर्याय स्वरूप वह राग-द्वेष होते हैं उन्हें, जानने के परिणामवाला है, परन्तु उसे काल में वह जानने के परिणाम न करके मैं राग हूँ, ऐसा करके (अज्ञानरूप परिणमन करता है।) आहाहा! समझ में आया?

(-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है)... आहाहा! वास्तव में तो ज्ञायकभाव ज्ञानभाव से स्थित होने से राग, द्वेष और विकार के काल में उनका ज्ञान करने का इसका स्वभाव है, तथापि अनादि से भेदज्ञान के अभाव के कारण उनका ज्ञान

करना, उसे छोड़कर यह राग है, वह मैं हूँ, पुण्य-पाप के परिणाम वह मैं हूँ—ऐसा अज्ञानरूप से, ज्ञान परिणाम को अज्ञानरूप से करता है। आहाहा! ऐसी बात धन्धे के कारण कभी सुनी न हो। आहाहा!

अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है... क्या कहा यह? राग और द्वेष अज्ञान है, उसमें ज्ञान नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह अज्ञान है। यहाँ उनका ज्ञान होना चाहिए, वास्तव में तो इसका ज्ञान का परिणमन होना चाहिए। ऐसा न करके उस अज्ञान को ज्ञान परिणमनरूप से मानकर। आहाहा! है? **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** उस ज्ञान परिणाम को अज्ञान अर्थात् रागरूप करता होने से राग को जानने का कर्ता नहीं होने से। राग को जानने के काल में... आहाहा! जानना नहीं करता, वह दया, दान के परिणाम मेरे हैं, ऐसे ज्ञान परिणाम को अज्ञान परिणाम से करता है। आहाहा! समझ में आया? है न अन्दर लेख तो है। गूढ़ार्थ है, बहुत सरस बात है। आहाहा! और यह खूबी तो क्या कही? कि ज्ञायकभाव है, वह ज्ञानभाव से स्थित है। इसलिए उसमें से परिणमन होवे वह तो ज्ञान का ही होता है। उस राग के समय भी ज्ञान का ही परिणमन होता है। ऐसा न होकर ज्ञान के परिणमन को राग का परिणमन कर डालता है। आहाहा! समझ में आया?

समझे बिना करो सामायिक और करो प्रौषध और करो प्रतिक्रमण और करो यात्रा। सब धूलधाणी और वा-पानी है। उसमें आत्मा के जन्म-मरण मिटने के लिये जब तक मिथ्यात्व का नाश न करे, तब तक एक भी भव घटता नहीं। आहाहा! यह यहाँ बात है। आहाहा!

विशिष्टता तो यह ली है कि द्रव्य जो वस्तु है, वह नित्य है, इसलिए कर्ता नहीं हो सकता। असंख्य प्रदेशी वस्तु एकरूप अखण्ड है। उसमें भी कर्ता होता नहीं। संकोच-विकास होता है, वह भी भले (हो), तथापि कम-ज्यादा नहीं होता। आहाहा! और ज्ञायक के भाव में ज्ञान भरा है। उसे राग आवे, तब ज्ञान के परिणमन का भाव आना चाहिए, उसके बदले अज्ञान के कारण ज्ञान के परिणमन को रागरूप ही मानता है। राग और द्वेषरूप तथा कषायरूप मानता है, वह मिथ्यादृष्टि राग का कर्ता होता है। आहाहा! ऐसी बातें। धर्म का ऐसा कैसा उपदेश? जैन परमेश्वर ने (कहा होगा?) दया पालो, व्रत करो, यात्रा करो,

भक्ति करो (यह धर्म)। सुन न अब। दया पालन की, और भक्ति अनन्त बार की। वह तो राग-शुभराग है। वह कहीं धर्म नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं, राग ज्ञायकभाव में स्थित नहीं है। ज्ञायकभाव भगवान में ज्ञान स्थित है, इसलिए उसका ज्ञान होना चाहिए। आहाहा! द्रव्य जो ज्ञायक है, उसमें ज्ञान अवस्थित, उसका गुण है, उसकी अवस्था ज्ञान की होनी चाहिए, परन्तु भान के अभाव के कारण दया का, भक्ति का या लिखने का राग आया, वह राग आया उसे जानना, वह इसका स्वरूप है; राग को करना, इसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! इसके ज्ञान के परिणाम के समय ज्ञान परिणाम को अज्ञानरूप करता हुआ। यहाँ विशेष क्या कहना है? मिथ्यात्व आदि भावों के ज्ञान के समय। भाई! मिथ्यात्व आदि के ज्ञान के समय ऐसे ज्ञान नहीं करता परन्तु ज्ञान को भूलकर ज्ञान को रागरूप और द्वेषरूप करता है, अज्ञानरूप करता है। आहाहा! कुछ कठिन पड़ा आज जरा।

(–अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना... तू इनकार करता है कि आत्मा कर्ता नहीं है, परन्तु इस प्रकार से कर्तापना सिद्ध होता है। क्योंकि ज्ञायकभाव में तो ज्ञान भरा है, ज्ञान अवस्थित है; अत: उसमें से कहीं राग नहीं झरता। आहाहा! राग और विकल्प तो कर्म के निमित्त से विकार होते हैं। विकार के काल में ज्ञान समय है, वैसे उसका ज्ञान करना, ऐसा इसे काल है परन्तु वह काल न करके ज्ञान को रागरूप बनाते हुए वह राग और द्वेष और कषाय मैं हूँ, (ऐसा) बनाकर अज्ञानरूप से कर्ता होता है। कहो, समझ में आया इसमें? बहुत बोल आये, भाई! आहाहा!

विशिष्टता तो क्या है? कि **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** यह है। दूसरी लाईन है न? भाई! दूसरी। नीचे है। **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** उन्हें जानने का स्वभाव है। आहाहा! **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से,...** यह ज्ञान के समय—भावों के ज्ञान के समय भिन्न करने का अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान को एक माना है, इसलिए भेदज्ञान से शून्य होने के कारण पर को आत्मारूप से जानता हुआ। उस ज्ञान में राग को अपना जानता हुआ... **वह (ज्ञायकभाव) विशेष अपेक्षा से...**

पर्याय से। **अज्ञानरूप...** राग-द्वेष, पुण्य-पापरूप **ज्ञानपरिणाम को करता है...** आहाहा! वास्तव में तो वहाँ ज्ञान परिणाम चाहिए। आहाहा! समझ में आया? बहिनों-लड़कियों को यह कुछ सूक्ष्म पड़ता होगा। समझ में आया या नहीं यह? आहाहा!

यहाँ अज्ञानी विकार का कर्ता नहीं, कर्म कर्ता है—ऐसा माननेवाले को समझाते हैं कि तू कहता है यह बात किसी प्रकार बैठे, ऐसी नहीं है। न्याय से किसी प्रकार बैठे, ऐसी नहीं है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा जाननहार ज्ञायक है, उसमें ज्ञान स्थित है, ज्ञान अवस्थित है। वह ज्ञान अवस्थित है, इसलिए जो-जो प्रसंग बने, उस-उस प्रसंग का ज्ञान करने की उस समय में ताकत है और उसी प्रकार से उसका स्वभाव है, परन्तु ऐसा न करके भेदज्ञान की शून्यता के कारण, राग और ज्ञान के परिणाम दो की शून्यता के कारण उस ज्ञान को रागरूप मानकर राग का और पुण्य का कर्ता मैं हूँ, ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसा उपदेश किस प्रकार का? आहाहा! आचार्यों ने भी जंगल में रहकर दिगम्बर मुनियों ने काम किया है। आहाहा! कितना उपकार किया है! आहाहा! एक-एक को ऐसे न्याय से समझाते हैं, एक बात भी जाने नहीं देते। आहाहा!

यहाँ क्या आया? **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** वास्तव में तो राग-द्वेष होते हैं, उनका ज्ञान होना चाहिए। क्योंकि ज्ञायक का ज्ञान स्वभाव है, ऐसा न करके... आहाहा! वह अज्ञान अर्थात् राग-द्वेष के ज्ञान परिणाम को कर्ता, राग-द्वेष के ज्ञान परिणाम को कर्ता, ज्ञान परिणाम में राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसा करता हुआ।

मुमुक्षु : निःसन्धि है, उसकी सन्धि करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस सन्धि की अभी बात नहीं है। परन्तु अभी तो यहाँ ज्ञान परिणाम की अपनी पर्याय है, उस परिणमन का काम जानने का करे, बस! इतनी बात है। राग के समय भी जानने का काम करे, परन्तु उसे भेदज्ञान के अभाव के कारण जानने का काम नहीं करके, राग-द्वेष, दया-दान परिणाम भक्ति के (परिणाम) उठे, वे मेरे हैं, इस प्रकार अज्ञानी उनका कर्ता होता है। भारी काम, भाई! भारी टीका, गजब टीका है, हों!

उसमें ज्ञान समय में और **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** आहाहा! क्या कहा? वास्तव में जब पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति कोई भी विकल्प उठा, उस

समय तो ज्ञान का समय है, उसे जानने का स्वकाल है। आहाहा! उसे जाननेवाला हूँ, इतना ही बस इसे होना चाहिए। परन्तु अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञायक की भिन्नता (नहीं की)। राग, वह ज्ञेय है और आत्मा ज्ञायक है। राग दया, दान का भाव भी ज्ञेय है और आत्मा ज्ञान है। इन दोनों की भिन्नता नहीं जानकर, ज्ञान परिणाम को अज्ञानरूप करता हुआ। आहाहा! यह दया के परिणाम मैंने किये... आहाहा! यह अज्ञान है। **(–अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) इसलिए, उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना...** इस प्रकार आत्मा विकार का कर्ता है। यह रीति कही, तदनुसार, ऐसा सम्मत करना। बिल्कुल विकार का कर्ता नहीं, ऐसा मानने में बड़ी भूल पड़ेगी। आहाहा! आ गया न?

(अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है) वह भी तब तक की जब तक भेदविज्ञान के... ज्ञान का परिणमन और राग भिन्न है, (ऐसा) जब तक न ज्ञात हो, वहाँ से **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात भेदविज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ...** ज्ञानरूप ही परिणाम से परिणमता हुआ। **(ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।** विशेष कहा जाएगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९९, गाथा - ३३२ से ३४४ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३
दिनाङ्क - ०१-०६-१९८०

समयसार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार (गाथा ३३२ से ३४४) भावार्थ है न? उसके ऊपर (टीका) फिर से थोड़ा लेते हैं। **इसलिए...** है भावार्थ के ऊपर? आया भाई को? **इसलिए...** अर्थात् **ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से...** यह प्रभु जो आत्मा जो ज्ञायक - स्वभावभाव है, वह सामान्य अपेक्षा से, इसकी विशेष अपेक्षा न कहें तो, **सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी,...** वह ज्ञायकभाव ज्ञानभाव से अवस्थित है। भगवान आत्मा ज्ञायकभाव ज्ञानभाव से टिक रहा है, अवस्थित है।

कर्म से उत्पन्न होते हुए,... कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** आहाहा! क्या कहा? इसकी त्रिकाली चीज़ भगवान ज्ञायकस्वरूप है और उसमें ज्ञानस्वभाव अवस्थित है। अब जब अन्दर कर्म के निमित्त से मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम आते हैं, तब उन्हें जाननेयोग्य आत्मा है। वास्तव में तो उस ज्ञान को आत्मारूप से जानता हुआ, यह बाद में लेंगे। **भावों के ज्ञान के समय,...** सूक्ष्म बात है। वास्तव में तो आत्मा में रागादि आते हैं, उन्हें आत्मा जाननेवाला, जाननेवाला है। राग का ज्ञान करनेवाला है। राग को अपना माननेवाला ज्ञायक नहीं। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव आते हैं, परन्तु उन भावों के ज्ञान के समय, उन भावों का यहाँ ज्ञान करना है। वे भाव मेरे मानना, ऐसा है नहीं। आहाहा!

ज्ञान के समय,... ये पुण्य और पाप, दया, दान, काम, क्रोधादि भाव के समय, ज्ञान के समय (अर्थात्) उनका ज्ञान करना, ऐसा वह काल है। आहाहा! क्रमबद्ध में ऐसा आया। क्रमबद्ध में भी ऐसा आया। क्योंकि क्रमबद्धवाले की दृष्टि ज्ञायक के ऊपर है। क्रमबद्ध की दृष्टि ज्ञायक के ऊपर है तो ज्ञायकभाव ज्ञान से अवस्थित है। ज्ञान से अवस्थित होने से क्रमबद्धवाले की भी दृष्टि ज्ञायक के ऊपर होने से राग को जानने का समय है। राग आता है, उसे जानने का समय है, करने का समय नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तुम्हारा हिन्दी लेते हैं। आहाहा!

तीन सिद्धान्त, तीन नियम। एक तो ज्ञायकभाव कायम है और उसमें ज्ञानस्वभाव

अवस्थित है, वह भी कायम है। स्वभाव बताया, ज्ञायकभाव परन्तु उसका मूलस्वभाव ज्ञान से अवस्थित है। अब ऐसा होने पर भी कर्म के उदय के निमित्त से अपने में जब राग और द्वेष और मिथ्यात्वादि होते हैं... यहाँ तो मिथ्यात्व भी लिया है... आहाहा! **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय,...** आहाहा! वास्तव में तो मिथ्या विपरीत मान्यता और राग-द्वेष का ज्ञान करने का काल है, जानने का काल है। क्योंकि ज्ञायक आत्मा ज्ञानस्वभाव से है, इसलिए उसे जानने योग्य है। आहाहा! समझ में आया? भूपतभाई! यह सूक्ष्म बात है। कल दोपहर में थे? बहुत सरस बात है।

ज्ञायकभाव... जाननेवाला भाव आत्मा **सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी,...** सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित ही है। आहाहा! परन्तु **कर्म से उत्पन्न होते हुए,...** निमित्त से उत्पन्न हुए हैं, यहाँ कर्म से उत्पन्न होते, ऐसा शब्द है। विकार अपना स्वभाव नहीं है, इस अपेक्षा से ऐसा शब्द लिया है। **कर्म से उत्पन्न होते हुए,...** मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता। राग, वह धर्म है; राग मेरी चीज़ है—ऐसे मिथ्यात्वभाव के समय, मिथ्यात्वभाव के समय उसका ज्ञान करने का स्वभाव है। आत्मा तो (उसके) ज्ञानसमय—उसका ज्ञान करने का समय है। उसे अपना मानने का समय नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

अनादि काल से... परन्तु ज्ञान का समय मिथ्यात्व और राग-द्वेष का ज्ञान होना, ऐसा स्वभाव होने से, ऐसा होने पर भी अनादि काल से **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य...** यह राग, मिथ्यात्वादि ज्ञेय है। आत्मा जाननेवाला है और मिथ्यात्व, राग-द्वेष ज्ञेय—ज्ञात होने योग्य है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। **अनादि काल से...** यहाँ तो **मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय...** इतनी बात की। उनका ज्ञान होने का समय है। विशेषरूप होना, रागरूप होना, ऐसा समय नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्य सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ ने जो ज्ञायकभाव देखा, वह ज्ञायकभाव सामान्य अपेक्षा से—विशेष भेद न करें तो ज्ञानस्वरूप ही अवस्थित है। वह ज्ञातादृष्टा ज्ञानस्वरूपी स्वभाव है। आहाहा! परन्तु ऐसा ज्ञानस्वभाव समय होने पर भी कर्म के निमित्त के लक्ष्य से जो मिथ्यात्व, राग-द्वेष होते हैं, उनके ज्ञान का समय है।

उनका यहाँ ज्ञान करना, ऐसा समय है। आहाहा! उस ज्ञान के समय **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य...** यह राग, ज्ञेय और आत्मा—ज्ञान, ऐसी दो के बीच भेदज्ञान की शून्यता है। अनादि काल से दो की भिन्नता की शून्यता है। इस कारण ज्ञानसमय होने पर भी, मिथ्यात्व और राग-द्वेष उत्पन्न हुए, उनका ज्ञान करने का यहाँ समय है (परन्तु) ज्ञेय और ज्ञान का भेदज्ञान नहीं होने से। आहाहा! है?

भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ... मिथ्यात्व और राग के समय ज्ञान करने का, ज्ञाता होने का स्वभाव है, वस्तु तो ऐसी है परन्तु अनादि से ज्ञेय अर्थात् रागादि और ज्ञान (अर्थात्) आत्मा, दोनों की भिन्नता का भान नहीं होने से **आत्मा के रूप में जानता हुआ...** उस विकार को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह अज्ञानी है। आहाहा! ऐसी बात अब। लोगों को सूक्ष्म पड़ती है। वह दया पालो, व्रत करो (सरल था)। हिन्दी भाई आये हैं, भाई! इसलिए हिन्दी में प्रवचन करते हैं। हिन्दी भाई है। चौदह वर्ष से स्थानकवासी हैं, परन्तु चौदह वर्ष से आत्मधर्म पढ़ते हैं। बेचारे प्रेम से आये हैं, इसलिए यहाँ हिन्दी में पढ़ते हैं। समझ में आया?

प्रभु! आत्मा तो ज्ञायकभाव ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है। (यह) द्रव्य लिया और इसके ज्ञानस्वभाव से अवस्थित, गुण से अवस्थित है। आहाहा! ऐसा होने से कर्म उत्पन्न होने के काल में, उस समय में, उसी समय में। मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता... आहाहा! यह राग प्रगट है, उसे (-राग को) नहीं मानना और अपना आत्मा ज्ञान है, ऐसा मानना, तब भी बुद्धि तो राग के ऊपर है। बुद्धि, पर्यायबुद्धि, वह राग के ऊपर है। राग के ऊपर बुद्धि होने से उसका ज्ञान करने का समय होने पर भी ज्ञेय-ज्ञायक की भिन्नता का भान नहीं होने से उन रागादि को अपना मानता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बहुत गजब बात! संक्षिप्त शब्दों में बहुत भरा है। आहाहा!

अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से... वास्तव में तो मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दया, दान के भाव हुए, वे वास्तव में तो उनका ज्ञान करना और ज्ञेयरूप से भिन्न रखना। उनका ज्ञान करना और उन्हें भिन्न रखना, ऐसा होने पर भी। आहाहा! है? **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से,...** राग पर है और मैं उसका जाननेवाला हूँ, ऐसा भेदविज्ञान से शून्य है, भिन्न जानने से शून्य है।

पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ... यह मिथ्यात्व और राग-द्वेष, वह पर है, उन्हें अपने मानता हुआ। आहाहा! **वह (ज्ञायकभाव)...** आहाहा! जो ज्ञायक सामान्य भाव ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है, वह ज्ञायकभाव **विशेष अपेक्षा से...** अब उसकी विशेष दशा—पर्यायदृष्टि, पर्याय अपेक्षा से। सामान्य जो ज्ञायक, वह तो द्रव्यस्वरूप है और द्रव्यदृष्टि का विषय है। अब यहाँ राग हुआ, वह पर्याय है तो पर्याय की अपेक्षा से... आहाहा! **विशेष अपेक्षा से...** अर्थात् पर्याय अपेक्षा से **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** आहाहा! अज्ञानी अनादि से अज्ञानरूप ज्ञान को करता है। वास्तव में तो ज्ञान करने का उसका स्वभाव है परन्तु अनादि से भेदज्ञान नहीं होने से। आहाहा! **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम...** वास्तव में तो उसके जाननहार ज्ञानपरिणाम है। परन्तु उस ज्ञानपरिणाम को अज्ञानरूप करता हुआ। आहाहा! **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है...** आहा! सूक्ष्म है, भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! आहाहा! वीतराग की एक-एक व्याख्या... सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ... आहाहा! उनका कथन अलौकिक है। समझने की दरकार किये बिना समझ में नहीं आता। ओहो! अनन्त काल से समझा नहीं। चौरासी के अवतार कर-करके मर गया है।

अरे रे! तुझे ज्ञान के समय काल में, तू ज्ञानस्वरूपी प्रभु है तो वास्तव में तो ज्ञान करने का अवसर (समय) है, उसके बदले तू राग तथा भेदज्ञान के अभाव में राग और द्वेष, दया, दान के परिणाम हुए, उन्हें अपना मानता है। आहाहा! वे राग-द्वेष अज्ञानरूप हैं। पुण्य और पाप, राग और द्वेष, दया और दान, काम और क्रोध, वह अज्ञानरूप है। उन अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है। वे मानो कि मेरे ज्ञान के परिणाम हैं, मेरे परिणाम हैं, यह करता हुआ। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है... अर्थात् क्या कहा? वास्तव में तो जो मिथ्यात्व और राग आया, उसका ज्ञान करने का समय है। उसका ज्ञान करने का समय है। क्योंकि आत्मा ज्ञायक है और परचीज़ तो ज्ञेयद्रव्य है, पर है; अतः पर का ज्ञान करने का समय है। ऐसे भेदज्ञान का तो अभाव है, तो पर का ज्ञान करने का अभाव होने से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को कर्ता होने से। अपने ज्ञान परिणाम हैं, उन्हें रागरूप करता हुआ। रागरूप, द्वेषरूप, मिथ्यात्वरूप, भ्रान्तिरूप करता हुआ। देवीलालजी! आज थोड़ी

सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग, बापू! सूक्ष्म है, भाई! यह कोई साधारण बात नहीं है। आहाहा! अन्तर की दृष्टि बदलना और उसके लक्षण पूरे बदलना, यह कोई अलौकिक चीज़ है। आहाहा! हीरालालजी! भाई नहीं आये, शशीभाई नहीं (आये)? आहाहा!

कहते हैं, प्रभु! तू कहाँ भूलता है? प्रभु! तू ज्ञायकभाव है न! और ज्ञायकभाव में तू प्रभु! ज्ञान है न! उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मिथ्यात्व आदि है ही नहीं। ज्ञायकभाव में तो वे हैं नहीं, तो ज्ञायकभाव ज्ञान है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष जब होते हैं, तब उनका ज्ञान करने के योग्य तू है। परन्तु पर और स्व का भेद नहीं है, इसलिए ज्ञान को अपना नहीं मानकर राग, द्वेष, मिथ्यात्व जो हुए, उन्हें अपना मानता है। आहाहा! फिर से पढ़कर ठीक किया, विशेष (स्पष्टीकरण आया)। यह तो अलौकिक बातें हैं। चाहे जितनी बार पढ़े। भगवान के हृदय हैं, बापू! आहाहा! मुनियों ने तो करुणा करके जगत को दिया है।

मुमुक्षु : अमृत दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अमृत दिया है। बापू! आहाहा! दुनिया को दरकार नहीं और अभिमान, अहंकार के कारण अन्दर सूझ नहीं पड़ती। आहाहा!

प्रभु! तू ज्ञायक है न, कहते हैं। तो प्रभु! तू ज्ञायक है तो तुझमें तो ज्ञान अवस्थित है न! ज्ञान रहा है न! प्रभु! तुझमें ज्ञान रहा है, उस समय में विकार होता है तो उस विकार का ज्ञान करने का समय है। विकार का ज्ञान करने का समय है। ऐसा नहीं करके ज्ञान को अज्ञानरूप करता हुआ। आहाहा! अज्ञानरूप ज्ञान को करता हुआ। आहाहा! **अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (-अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन...)** देखो! अर्थात? आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प हो, चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, यह विकल्प हो, परन्तु है वह विकार, राग। वह विकार वास्तव में तो प्रभु ज्ञायक के ज्ञान का ज्ञेय है, परज्ञेय है। यह भगवान ज्ञायक, उसका (जो) ज्ञान है, उसका वे रागादि परज्ञेय है। स्वज्ञेय तो स्वयं है। आहाहा! वे परज्ञेय हैं, ऐसा नहीं मानकर अपने ज्ञानस्वरूप से परिणमन नहीं करता हुआ, ज्ञान परिणाम को अज्ञान में परिणमाता है कि मैं राग हूँ, दया हूँ, दया, दान हूँ। वह विकार है, उस विकार में परिणमन करता है। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी बात है, भाई!

मुमुक्षु : जानने का दोष नहीं, कर्तापने का दोष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि कहा न ? अनादि (से) भिन्नता का भान नहीं है। अनादि काल से निगोद से लेकर... आहाहा! राग और विकार और मिथ्यात्व, वह मेरी चीज़ नहीं है—ऐसा अनादि से भान नहीं है, इस कारण से उस राग के कारण से... आहाहा! ऐसे ज्ञान करना चाहिए, उसके बदले ज्ञान परिणमन को अज्ञानरूप करता हुआ, राग और द्वेषरूप करता हुआ (परिणमता है)। आहाहा! ऐसी बात है। आज रविवार है। रविन्द्र नहीं आया ? रविन्द्र, नहीं आया ? समझ में आया ? आहाहा! संक्षिप्त में कितना कहा है ? आहाहा!

प्रभु! तू कौन है ? और तुझमें क्या है ? तू ज्ञायक है तो तुझमें क्या है ? तुझमें तो ज्ञान है, और यह रागादि मिथ्यात्व के समय में तू तो ज्ञान है, अत: उनका ज्ञान करना, वह तेरा स्वभाव है। आहाहा! ऐसा नहीं करके अज्ञानरूप ज्ञान का परिणमन करता हुआ अर्थात् अपना ज्ञान का परिणमन रागरूप करता हुआ। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी अज्ञान है, राग है। वह अपना स्वरूप नहीं है। आहाहा! (बात तो) न्याय से है, परन्तु अब जगत को दरकार नहीं। इसलिए ऐसा कहता है कि सोनगढ़वाले तो बहुत निश्चय... निश्चय... निश्चय... निश्चय... करते हैं। अरे! भगवान! निश्चय अर्थात् सत्य; व्यवहार अर्थात् असत्य और उपचार। यह तो सत्य बात है। आहाहा!

अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करता है (–अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन...) आत्मा के ज्ञान का परिणमन अज्ञानरूप हुआ। वह राग और मिथ्यात्व और द्वेष और दया-दान मेरे, यह अज्ञानरूप हुआ। आहाहा! उसका कर्ता है। इसलिए **उसके कर्तृत्व को स्वीकार करना (अर्थात् ऐसा स्वीकार करना कि वह कथंचित् कर्ता है)...** देखो! कथंचित् कर्ता है, ऐसा स्वीकारना। बिल्कुल कर्ता नहीं है, ऐसा नहीं है। आत्मा राग, दया-दान का बिल्कुल कर्ता नहीं है, ऐसा नहीं है। उन्हें जानने के काल में अपने को भिन्न नहीं जानकर पर को और स्व को एक मानकर अज्ञानरूप परिणमन करता है, इसलिए राग का कर्ता मानना। राग का कर्ता आत्मा बिल्कुल नहीं है, ऐसा नहीं मानना। आहाहा! धर्मी को-ज्ञानी को भी राग आता है, परन्तु उस राग को परज्ञेयरूप से अपने ज्ञानस्वभाव में ज्ञान परिणाम में जानता है। अज्ञानी उस परिणाम को अपने मानता है, उसे खबर ही नहीं है। अन्ध है,

अन्ध है। आहाहा! बात ऐसी है, भगवान! सूक्ष्म बात है। भाषा तो सादी है परन्तु वस्तु जरा सूक्ष्म है। आहाहा!

कर्तृत्व को स्वीकार करना... कथंचित आत्मा को जब तक अज्ञानभाव है और ज्ञान को अज्ञानरूप परिणमाता है, तब तक कर्तापना स्वीकार करना। आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है। **वह भी तब तक कि जब तक...** वह भी वहाँ तक स्वीकार करना कि जब तक ज्ञानस्वरूपी प्रभु राग को भिन्न न जाने और राग को अपना जाने, तब तक राग का कर्ता मानना। आहाहा! ऐसा धर्म। ऐसा धर्म नया कहाँ से निकाला? आहाहा! **वह भी तब तक कि जब तक भेदविज्ञान के प्रारम्भ से...** जब वह राग और मिथ्यात्व का भेद होकर ज्ञान हुआ, तब से **ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से...** मिथ्यात्व और राग वे तो ज्ञेय हुए। आत्मा जाननेवाला है। वह अपने को जाने और रागादि, दया, दान, व्रत को भी जाने, अपने माने नहीं, तब ज्ञानी-धर्मी कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया?

भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात भेदविज्ञान सहित) होने के कारण... पूर्ण का अर्थ किया। कोई ऐसा मान ले कि भेदज्ञान का पूर्ण अर्थात् केवलज्ञान। इसलिए अर्थ किया। भेदविज्ञान से पूर्ण अर्थात् भेदविज्ञानसहित, ऐसा। ऐसा अर्थ है। पूर्ण भेदविज्ञान तो केवल(ज्ञान) हो तब तक। वहाँ तो फिर रागादि कुछ है नहीं। आहाहा! **भेदविज्ञान से पूर्ण (अर्थात भेदविज्ञान सहित) होने के कारण आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ...** तब तो आत्मा को आत्मारूप जानता हुआ। अज्ञान में आत्मा को राग और दया दान के विकल्प का कर्ता जानता था और अज्ञान करता था। अब भेदज्ञान हुआ कि रागादि मेरी चीज़ नहीं है, मैं तो ज्ञायक हूँ और मेरा स्वभाव तो ज्ञान है। ऐसा भेदज्ञान होने पर **आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायकभाव),...** यह ज्ञायकभाव जो सामान्य अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव से अवस्थित है, वह **विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से...** आहाहा! सामान्यरूप ज्ञान तो त्रिकाल है परन्तु उसकी पर्याय में विशेषरूप सामान्य त्रिकाली चीज़ और वर्तमान ज्ञान की पर्याय वह विशेषरूप है, वह विशेषरूप से भी **ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ...** ज्ञानरूप अर्थात् ज्ञातादृष्टापना **ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ...** ज्ञातादृष्टारूप परिणमन करता हुआ। आहाहा!

इतनी लाईन में कितना डाला है! यह कहीं कथा-वार्ता नहीं है। यह तो तीन लोक

के नाथ वीतराग... आहा! प्रभु की वाणी है, बापू! सन्तों ने प्रभु की वाणी प्रसिद्ध की है। आहाहा! प्रभु सीमन्धर भगवान तो विराजते हैं। मुनि वहाँ गये थे। ओहोहो! वहाँ से आकर शास्त्र बनाये। टीकाकार भी कोई ऐसे निकले कि जैसा उनका हृदय था, वैसी टीका हुई। आहाहा!

आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव), विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ही ज्ञानपरिणाम से परिणमित होता हुआ... धर्मी होता है, तब राग आता है, (उसका) राग का जाननेवाला रहता है। राग को अपना नहीं मानता। राग का ज्ञान करता है तो ज्ञानरूप परिणमन करता है। आत्मा को ज्ञानरूप परिणमाता हुआ, **(–ज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसरूप ही परिणमित होता हुआ), मात्र ज्ञातृत्व के कारण...** यह राग आया, परन्तु मैं इससे भिन्न (रहता हुआ), उसका और अपना जाननेवाला हूँ। अपना स्वरूप और रागादि दया, दान, मिथ्यात्व आदि का मैं जाननेवाला हूँ। आहाहा! ऐसे **मात्र ज्ञातृत्व के कारण साक्षात् अकर्ता हो।** लो! साक्षात् अकर्ता क्यों कहा? कि द्रव्य तो अकर्ता है ही, परन्तु पर्याय में साक्षात् अकर्ता है। आहाहा! समझ में आया? इतनी लाईन हुई। आठ लाईनें हैं, आठ। आठ लाईनों में आठ कर्म के नाश की बात है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर, जिनकी सभा में इन्द्र वाणी सुनने के लिये पिल्ले की तरह बैठता है, ऐसे...! नरम... नरम... नरम। आहाहा! एकावतारी इन्द्र अभी भगवान के पास जाते हैं। भगवान विराजते हैं। शान्त... मानो कुछ जानते नहीं, इस प्रकार सुनते हैं। ऐसी वाणी परमात्मा की है, वह यह वाणी है। आहाहा! लो, यह पैराग्राफ कल थोड़ा तो चला था। थोड़ा नहीं चला था, उसे पूरा किया।

भावार्थ : कितने ही जैन मुनि भी... जैन साधु नाम धराकर **भी स्याद्वाद–वाणी को भलीभाँति न समझकर...** कथंचित् अपेक्षा कहना है। कथंचित् कर्ता है और कथंचित् अकर्ता है। अज्ञानभाव से कर्ता है और ज्ञानभाव से ज्ञाता है। ऐसी वीतराग की वाणी है। क्या कहा यह? कथंचित् कहा न स्याद्वाद? स्याद्वाद अर्थात् कथंचित् जब अज्ञानभाव से परिणमता है तो कर्ता है और जब ज्ञानभाव से परिणमता है, तब अकर्ता है। कर्ता और अकर्ता—दोनों इससे लागू पड़ते हैं। ज्ञानी को भी एक न्याय से लागू पड़ते हैं। परिणमन

है न? परिणमन (अर्थात्) कर्ता इतना। परन्तु जाननेवाला है। आहाहा! जितना राग आता है, उसका जाननेवाला है। कर्तापने का परिणमन मेरा है, ऐसा जानता है। जड़ के कारण राग है, ऐसा नहीं मानता। आहाहा!

कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वाद... अर्थात् अपेक्षा। स्यात् अर्थात् अपेक्षा से कहना, ऐसी **वाणी को भलीभाँति न समझकर सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं...** आहाहा! एकान्त अर्थात् आत्मा कर्ता है ही नहीं। ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा कर्ता होगा? ऐसा अज्ञानी एकान्त मानता है। आहाहा! **और विवक्षा को बदलकर...** कथन को पलटकर। आहाहा! जो कहने का आशय है, उस कथन को पलटकर वह **कहते हैं कि–आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है,...** पुण्य और पाप, दया और दान विकारी परिणाम का आत्मा अकर्ता है। ऐसा जैनमुनि अभी बहुत से मानते हैं। आत्मा राग का कर्ता और आत्मा राग का भोक्ता। 'अप्पा कत्ता, विकत्ता' आत्मा कर्ता है और आत्मा भोक्ता है, बस! एकान्त मानता है। आहाहा!

जब तक ज्ञान न हो, तब तक परिणमन में राग है, इस अपेक्षा से कथंचित् कर्ता भी जानना और जब भेदज्ञान से राग से भिन्न पड़ा, तब तो उसे जाननेवाला रहा। आहाहा! तथापि उसे भी थोड़ा परिणमन है, उतना कर्ता है, ऐसा ज्ञान में है। करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है परन्तु है (ऐसा जानता है)।

आत्मा तो भावकर्म... अर्थात् पुण्य-पाप। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, यह भावकर्म, उनका **अकर्ता ही है,...** ऐसा अज्ञानी विवक्षा पलटकर कहता है। **कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है;...** आहाहा! वह तो कर्म के कारण विकार होता है। आहाहा! कर्म जड़ परपदार्थ से अपने में विकार होता है, ऐसा है ही नहीं। अपने में विकार अपने से होता है और अविकार होता है, वह भी अपने से; पर से कुछ नहीं होता। **यह कहते हैं कि–'आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है, कर्मप्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है;...** मुझे विकार होता है, वह तो कर्म के कारण विकार होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा! उसका भी कहाँ विचार किया हो? सब अन्ध-अन्ध खाता चलता है। आहाहा!

जब तक राग का परिणमन है, तब तक कथंचित कर्ता मानना। **अज्ञान , ज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख,...** आहाहा! **मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण – इन सबको, तथा जो कुछ भी शुभ–अशुभभाव हैं, उन सबको कर्म ही करता है;...** ऐसा मानता है। इन सबको कर्म ही कर्ता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। (किसे) ? मिथ्यात्व को, असंयम को, चार गति में भ्रमणते... परघात को, आया न ? **तथा जो कुछ भी शुभ–अशुभभाव हैं,...** कुछ भी शुभ और अशुभभाव होते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, इन सबको कर्म ही करता है – ऐसा अज्ञानी मानता है। अज्ञानी इस प्रकार मानता है। कोई भी गति, जाति, परिभ्रमण राग–द्वेष मिथ्यात्व (होता है उसमें) आत्मा तो भगवान शुद्ध है, कर्म के कारण यह सब होता है, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

जीव तो अकर्ता है। ऐसा अज्ञानी मानता है। अज्ञानी मानता है कि आत्मा तो अकर्ता ही है। अकर्ता ही है, (ऐसा) एकान्त (मानता है)। कथंचित् रागादि परिणमन करता है, वह (अज्ञानी) मानता नहीं। आहाहा! यह चर्चा तो हमारे बहुत समय पहले से चलती है। कर्म के कारण विकार होता है, दामोदर सेठ थे न ? दामनगर। उस दिन उनके पास दस लाख रुपये थे। उस दिन, ६० वर्ष पहले की बात है। ६६ वर्ष दीक्षा को हुए। ६० वर्ष पहले उनके साथ चर्चा थी। गाँव के सेठ और पैसेवाले। वे कहें कि कर्म का तुम इनकार करते हो तो कर्म के ४९ प्रतिशत रखो और पुरुषार्थ के ५१ प्रतिशत रखो। मैंने कहा, विकार करने में सौ में सौ प्रतिशत पुरुषार्थ जीव का है, कर्म का एक भी प्रतिशत नहीं। आहाहा! बड़ी चर्चा चलती थी। फिर बोले नहीं लम्बा, कहा इसलिए। समझे बिना क्या थोथा... आहाहा!

यह तो कर्म का कर्तापना मानते न हो तो तुम कर्म के जोर में ४९ प्रतिशत रखो और आत्मा के विकार करने में ५१ प्रतिशत। ५१ प्रतिशत अर्थात् आत्मा की विशेषता हुई न ? कहा, यह ५० के ५० प्रतिशत हैं। १०० के १०० प्रतिशत जीव विकार स्वयं से करता है, कर्म कर्म में रहते हैं। यह तो (संवत्) १९७६ के वर्ष की बात है। आहाहा! अनादि से अज्ञानी की मान्यता है। दामोदर सेठ तो कर्म... कर्म ही करता, बस! कर्म के कारण, कर्म के कारण–कर्म के कारण सब होता है। कहा, बिल्कुल झूठ बात है। यहाँ यह मान्यता नहीं है। आहाहा!

और वे मुनि... वस्तु का स्वरूप तो ऐसा है कि जब तक भेदज्ञान नहीं, तब तक आत्मा विकार का कर्ता है, ऐसी वस्तु की स्थिति है, ऐसी मर्यादा है। **और वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि–'वेद के उदय से स्त्री–पुरुष का विकार होता है...** आता है न शास्त्र में? कि वेद के उदय से स्त्री–पुरुष का (विकार होता है)। पुरुषवेद के उदय के कारण स्त्री को चाहता है, स्त्रीवेद के उदय से पुरुष को चाहता है, ऐसा शास्त्र में कहा है। सामनेवाला ऐसा तर्क करता है। शास्त्र में ऐसा कहा है न? शास्त्र का आधार देता है। स्त्री के विषय में यह पुरुष को चाहे, पुरुष की इच्छा स्त्री को चाहे। ऐसा पाठ शास्त्र में है। आहाहा!

'वेदक के उदय से स्त्री–पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है।' और आठ कर्म में नामकर्म है, उसमें एक उपघात और परघात नाम की दो प्रकृतियाँ हैं। उपघात, वह पर से स्वयं घात हो तथा परघात (अर्थात्) पर को घात करे, वह प्रकृति के कारण से है, ऐसा अज्ञानी कहता है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि बिल्कुल पर का घात नहीं कर सकता, पर की दया नहीं पाल सकता। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। समयसार की तीसरी गाथा। एक द्रव्य, अपने धर्म जो गुण और पर्याय है, उन्हें स्पर्श करता है परन्तु पर को कभी स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा, तीसरी। तीसरी गाथा है न?

इसलिए धर्म–अधर्म–आकाश–काल–पुद्गल–जीवद्रव्यस्वरूप लोक में सर्वत्र जो कुछ जितने जितने पदार्थ हैं, वे सभी निश्चय से (वास्तव में) एकत्व–निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता को पाते हैं, क्योंकि अन्य प्रकार से उसमें सर्वसंकर आदि दोष आ जायेंगे। वे सब पदार्थ अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को (समूह को) चुम्बन करते हैं–स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक दूसरे को स्पर्श नहीं करते,... आहाहा! समझ में आया? है? प्रत्येक पदार्थ अपने में जो धर्म है, गुण और पर्याय जो धर्म है, गुण और पर्याय जो शक्ति है, उसे स्पर्श करता है, परन्तु पर को स्पर्श नहीं करता। एक अँगुली है, वह कागज को स्पर्श नहीं करती... आहाहा! और यह अपने आप ऊँचा हुआ है। इसकी ऊँचे होने की पर्याय का उत्पाद का काल है। अँगुली से ऐसा ऊँचा हुआ नहीं। अर र..! कौन स्वीकार करे यह? वीतराग मार्ग...

तीसरी गाथा। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और पर्याय... गुण अर्थात् कायम रहनेवाली शक्ति; पर्याय अर्थात् बदलती अवस्था, यह प्रत्येक पदार्थ अपनी बदलती अवस्था और शक्ति को स्पर्श करता है, चूमता है, छूता है परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को कभी छूता नहीं। आहाहा! गजब बात! इस शरीर का अवयव दूसरे के शरीर के अवयव को कभी छूता नहीं। आहाहा! भोग के काल में ऐसा मानता है कि मेरे इस अवयव से इस अवयव को ऐसा करता हूँ। प्रभु इनकार करते हैं कि पुरुष का अवयव स्त्री के अवयव को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! ऐसी बात!

कितने ही जैन मुनि अपने को राग और द्वेष और मिथ्यात्व के कर्ता मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। वे मुनि शास्त्र के भी ऐसे ही अर्थ करते हैं। शास्त्र में आता है, स्त्रीवेद का उदय पुरुष को चाहे, पुरुषवेद का उदय स्त्री को चाहे, ऐसा पाठ शास्त्र में आता है तो बतलाते हैं। उस वेद के उदय से स्त्री-पुरुष का विकार होता है तथा उपघात तथा परघात... उपघात प्रकृति है कि पर से अपने में घात हो। परघात पर को घात करे। प्रकृति निकाली है शास्त्र में से। **उदय से परस्पर घात होता है।** उपघात में अपना घात होता है और परघात में पर का घात होता है, ऐसी नामकर्म की प्रकृति है। ऐसा सामनेवाला अज्ञानी कहता है।

इस प्रकार, जैसे सांख्य मतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं... अज्ञानी! **और पुरुष को अकर्ता मानते हैं उसी प्रकार, अपनी बुद्धि के दोष से इन मुनियों की भी ऐसी ही ऐकान्तिक मान्यता हुई।** जैन मुनि होकर कर्म से विकार होता है, ऐसा माने तो वह सांख्य जैसी मान्यता हुई। जैसे अन्यमति राग का कर्ता कर्म मानता है, वैसे जैन में रहकर माने कि कर्म का कर्ता होता है। आहाहा! भारी गड़बड़। ठेठ (संवत्) १९७६ से यह चर्चा चलती है। वर्णीजी के पास गये थे, तब भी यह चर्चा चली। दिगम्बर (कहलाये), कर्म से विकार होता है। बिल्कुल कर्म से विकार न होता हो तो स्वभाव हो जाए। कहा, वह पर्याय का स्वभाव विकार करने का है। आहाहा! यह तो (संवत्) १९१३ के वर्ष। २६ वर्ष हुए। आहाहा! निमित्त से उसमें कुछ होता है। मैंने कहा, बिल्कुल नहीं होता निमित्त से।

मुमुक्षु : हमेशा न करे परन्तु किसी समय करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, किसी समय करे, ऐसा कहते थे। तीन काल में किसी समय नहीं। यह कहीं गुप्त नहीं है, यह तो ढ़िंढ़ोरा पीटकर बात बाहर रखी है। भगवान की वाणी कहती है कि तीन काल-तीन लोक में प्रत्येक द्रव्य में विकार होता है, वह पर से होता है- यह तीन काल में नहीं है। विकार का होना और विकार टलना, यह अपने पुरुषार्थ का कार्य है, पर के कारण से (होता) है - ऐसा नहीं है।

जैन के मुनि की भी एकान्तिक मान्यता है। अर्थात् जैन के मुनि, जैन के श्रावक, जैन के गृहस्थ कोई भी। **इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है,...** वीतराग की वाणी तो अपेक्षा से कहनेवाली है। विकार होता है, वह भी स्वयं से होता है, तथापि किसी समय ऐसा कहे कि कर्म से हुआ। कर्म से हुआ ऐसा कहा, वह तो निमित्त का ज्ञान कराया परन्तु कर्म से हुआ नहीं। ज्ञानावरणीय नाम आया न? ज्ञानावरणीय ज्ञान को आवृत्त करता है, यह शब्द आया। इसका अर्थ ऐसा नहीं है। ज्ञानावरणीय जड़ है, आत्मा चैतन्य है। चैतन्य जड़ को स्पर्श नहीं करता। कर्म को स्पर्श नहीं करता और अपनी ज्ञान की पर्याय अपने से हीन होती है, कर्म से नहीं। आहाहा! ऐसा सब समझने को कहाँ निवृत्ति मिले? ज्ञान की हीन दशा हुई, वह स्वयं से हुई, कर्म से नहीं और ज्ञान का विकास होता है, वह स्वयं से होता है, पर से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : अपनी पर्याय को भी न करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं। अपनी पर्याय का कर्ता पर तीन काल में नहीं है। आहाहा!

जिनवाणी तो स्याद्वादरूप है, अत: सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर... जैन के साधु नाम धराकर कर्म के कारण कर्ता माने, **उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है।** आहाहा! जिनवाणी का विराधक है। वह जिनवाणी की विराधना करता है। मुनि समझता नहीं कि विकार स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। बहुत से ऐसा कहते हैं, जैन में तो बस! कर्म। अन्य में ईश्वरकर्ता चैतन्य और इनमें—जैन में कर्म कर्ता—जड़। यह सब सीखे शब्द के शब्द। **जिनवाणी का कोप अवश्य होता है।** जैन नाम धराकर कर्म से अपने में विकार होता है, ऐसा माननेवाले को जिनवाणी का अपराध है। जिनवाणी के

कोप का अर्थ जिनवाणी का अपराध करते हैं। आहाहा! वे जिनवाणी का अपराध करते हैं। जिनवाणी ऐसी है नहीं। आहाहा! **सर्वथा एकान्त को माननेवाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है।**

जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर... उसे ऐसा कि जिनवाणी में कर्ता कहा है तो अब अपने कर्ता लेना तो अवश्य। परन्तु किस प्रकार लेना? कथन बदलो, विवक्षा बदलकर। जो भाषा थी, वह भाषा बदलकर दूसरी की। क्या की? **विवक्षा को बदलकर यह कहें कि-'भावकर्म का कर्ता कर्म है और अपने आत्मा का (अर्थात् अपने को) कर्ता आत्मा है,...** आहाहा! ठीक! विकारी परिणाम का कर्ता कर्म है और आत्मा का कर्ता आत्मा है। आत्मा का कर्ता आत्मा है। आत्मा तो त्रिकाली वस्तु है, उसमें कर्ता कहाँ आया? आहाहा! समझ में आया? जिनवाणी में ऐसा कहा है, कथन बदलकर (ऐसा कहता है) हम भी कर्ता मानते हैं। नहीं मानते, ऐसा नहीं है। किसे (कर्ता मानते हो) ? जितना विकार होता है, वह कर्म से होता है और आत्मा है, वह अपने से कर्ता है, आत्मा आत्मा को कर्ता है। आहाहा! **इस प्रकार हम आत्मा को कथञ्चित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी का कोप नहीं होता;' तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है।** आहाहा! उसका यह कथन भी झूठा है।

आत्मा द्रव्य से नित्य है,... वस्तु तो नित्य है, नित्य में कर्तृत्व कहाँ आया? कर्तृत्व और नित्य, दोनों विरुद्ध है। न हो, उसे करे। हो, उसे करना क्या? आत्मा नित्य त्रिकाली अनादि-अनन्त भगवान अन्दर है। आत्मा आत्मा का कर्ता, ऐसा नहीं हो सकता। समझे? **अपने आत्मा का (अर्थात् अपने को) कर्ता आत्मा है, इस प्रकार हम आत्मा को कथञ्चित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी का कोप नहीं होता;' तो उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है,...** उसमें आत्मा क्या करे? आहाहा! **लोकपरिमाण है,...** आत्मा द्रव्य जो वस्तु है, उसका क्षेत्र असंख्य प्रदेश है और चौड़ा हो तो संख्या कितनी हो? कि पूरे लोक में जो आकाश के प्रदेश हैं, उतने आत्मा के प्रदेश हैं। एक आत्मा के प्रदेश, पूरे लोक में जो आकाश है, उतने उसके असंख्य प्रदेश हैं। आहाहा! जैसे सोने में कड़ी होती है, वैसे भगवान आत्मा में असंख्य प्रदेश होते हैं। यह बात जिन

वीतरागी के अतिरिक्त कहीं नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त असंख्यात प्रदेशी जीव कहीं किसी स्थान में नहीं है। इसलिए वह विद्यानन्द बदल डालते हैं न! सबको विश्व धर्म बताना है और यह असंख्यात प्रदेशी करे तो जैन अलग पड़ जाते हैं। आहाहा! उसका अर्थ अलग कर डालते हैं कि अपदेश अखण्ड। ऐसा नहीं है। देखो! यहाँ कहा न?

उनका यह कथन भी मिथ्या ही है। कथंचित् आत्मा आत्मा का कर्ता है और विकार का कर्ता कर्म है, (ऐसा कहते हैं तो) उनका कथन ही मिथ्या है। विशेष आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४००, गाथा - ३३२ से ३४४, श्लोक-२०५ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ४
दिनाङ्क - ०२-०६-१९८०

समयसार, यहाँ बीच में आया है। **आत्मा द्रव्य से नित्य है,...** यहाँ आया है। पैरेग्राफ में बीच में है। सांख्यमति क्या कहता है? कि आत्मा अकर्ता है, ऐसा तुम यदि जैनवाणी कहते हैं तो राग का अकर्ता है परन्तु द्रव्य का कर्ता है। तब आचार्य ने उसका जवाब दिया कि द्रव्य तो नित्य है। नित्य में कर्तृत्व नहीं हो सकता। नित्य और कर्तापना दो का विरोध है। दूसरा (मुद्दा) असंख्य प्रदेश का कहा कि आत्मा तो असंख्य प्रदेशी है। उसमें से कम-ज्यादा प्रदेश किये जा सकते हैं, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है तो फिर कर्तापना कहाँ आया? आत्मा के द्रव्य और क्षेत्र में कर्तापना आया नहीं। समझ में आया? यदि आत्मा कर्म का कर्ता है, विकार का कर्ता है, परन्तु कर्म से नहीं। आहाहा!

ये प्रश्न चला था। यहाँ पालीताना नहीं? किसके साथ? पालीताना में श्वेताम्बर साधु थे न? खेड़ावाले जेठालाल। आहाहा! रामविजय थे? जेठाभाई खेडा के, वे गुजर गये। यहाँ बहुत चर्चा हुई थी। प्रतापविजय उनके शिष्य हैं। प्रतापविजय हैं, वे सबको मिले हैं, देखा है। यहाँ की बात सुनते हुए उन्हें यह बात जँची कि आत्मा में जो विकार होता है, वह स्वयं से होता है, कर्म से नहीं। कर्म परद्रव्य है, विकार स्वयं की पर्याय में स्वयं के कारण से होता है। यह चर्चा उन्हें जँची थी। उन्होंने श्वेताम्बर साधु से पचास प्रश्न किये। पश्चात् रामविजय के पास गये, तो रामविजय ने ऐसा कहा कि हम चर्चा करेंगे परन्तु पहले यह मान्य है कि कर्म से विकार होता है। यह मान्य है? तो वह कहे, हमें यह मान्य नहीं।

यहाँ यह कहते हैं, कर्म से विकार नहीं होता। कर्म परपदार्थ है, आत्मा भिन्न पदार्थ है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करता, कभी स्पर्श नहीं करता। यह आत्मा अन्दर है, वह इस शरीर को स्पर्श नहीं करता और शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार कर्म परद्रव्य है तो अपने आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आत्मा में विकार होता है, वह अपनी पर्याय से स्वतन्त्ररूप से कर्ताबुद्धि से अज्ञानरूप से कर्ता होता है। वह कर्तापना तू उड़ा देता है कि कर्ता है ही नहीं, द्रव्य और क्षेत्र का कर्ता है। आत्मा द्रव्य है और क्षेत्र है, उसका कर्ता है। तो वह द्रव्य, क्षेत्र का कर्ता होता नहीं। द्रव्य और क्षेत्र तो नित्य है। नित्य में कर्तापना

कहाँ से आया? नित्य और कर्तृत्व दोनों विरुद्ध हैं। कर्तृत्व तो पर्याय में होता है। परिणमन होता है, उसमें कर्तृत्व होता है। यह बात चलती है, देखो!

आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है, लोकपरिमाण है,... उसके असंख्य प्रदेश का प्रमाण लोकप्रमाण है। पूरे लोक (प्रमाण है)। **इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है;...** द्रव्य में और क्षेत्र में तो कुछ नवीन करने का नहीं और तू कर्ता तो मानता नहीं। **और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं, उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं;...** भावकर्म का कर्ता जैनमुनि नाम धराकर भी कर्म से होता है, ऐसा कहते हैं। यह तो प्रश्न है, सबका प्रश्न है। श्वेताम्बर साधु आदि, स्थानकवासी (सभी ऐसा ही कहते हैं कि), कर्म से विकार... कर्म से विकार... कर्म से विकार (होता है)। यह बात अत्यन्त झूठ है, अत्यन्त असत्य है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में कुछ होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी छूता नहीं। वह स्पर्श करता है, यह मान्यता मिथ्याभ्रम है। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते और कर्म विकार करावे, ऐसा नहीं होता। यह कहते हैं।

कुछ नवीन करना नहीं है; और जो भावकर्मरूप पर्यायें हैं, उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं;... भगवान ने कर्ता कहा था, वह द्रव्य, क्षेत्र का कर्ता कहे तो द्रव्य, क्षेत्र तो नित्य है। भावकर्म का कर्ता कहे तो उस भावकर्म का कर्ता वह कर्म को कहते हैं, तो कर्ता रहा कहाँ? भावकर्म—दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह सब भावकर्म है, पुण्य-शुभभाव या अशुभ। शुभ या अशुभभाव का कर्ता यदि कर्म को कहो तो कर्तापना आत्मा में तो आया नहीं, तो तेरी श्रद्धा मिथ्यात्व है। आहाहा! **मुनि कर्म को ही कहते हैं;...** यह प्रश्न बहुतों के साथ हो गया है। वर्णीजी के साथ प्रश्न था। (संवत्) १९१३ के वर्ष। दिगम्बर में गणेशप्रसाद वर्णी बड़े कहलाते हैं। वैष्णव थे, उसमें से दिगम्बर हुए। बहुत पढ़ा हुआ। उनके साथ चर्चा हुई। उन्होंने कहा कि किसी समय निमित्त से होता है। कहा, बिल्कुल झूठ है। किसी समय निमित्त से आत्मा में विकार होता है, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : निमित्त से किसलिए नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त परचीज़ है। परचीज़ और अपनी चीज़ में अत्यन्त अभाव है। एक चीज़ के अस्तित्व में दूसरी चीज़ का अभाव है। इस अँगुली में इस अँगुली

का अभाव है। यदि अभाव है तो अभाव को क्या करे? इसका इसमें अभाव है, इसका इसमें अभाव है। जिसमें अभाव है, वह भाव क्या करे? यह बात झूठ, अत्यन्त मिथ्यात्व है। विकार कर्म से होता है, यह मान्यता एकदम मिथ्यादृष्टि की है, जैन की नहीं। आहाहा! यह प्रश्न तो कहा था न? (संवत्) १९७६ के वर्ष से चला है। १९७६... ७६। बहुत वर्ष हुए। ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये को हुए। १९७६ की चर्चा। दामोदर सेठ थे। दस लाख (थे)। उस समय में दस लाख रुपये अर्थात्? ६० वर्ष पहले। दामनगर... दामनगर। महाराज! आप आत्मा का पुरुषार्थ... पुरुषार्थ बहुत करते हो कि विकार स्वयं से होता है, तो इतना रखो कि ५१ प्रतिशत आत्मा के पुरुषार्थ के और ४९ प्रतिशत कर्म के। तो इतना आत्मा का पुरुषार्थ हुआ। कहा, एक भी प्रतिशत नहीं। सौ में सौ प्रतिशत आत्मा अपने से विकार करता है और कर्म सौ में सौ प्रतिशत आत्मा में कुछ नहीं करता। यह तो (संवत्) १९७६ की बात है। आहाहा! परन्तु वह नहीं माने। जरा अभिमानी था।

मुमुक्षु : भगवतीसूत्र में से निकाला था न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मैंने कहा था कि देखो! भगवती में तीसरे शतक में है। तब १९७६ में पढ़ा था। भगवती तो १९७१ में पढ़ा था। १९७१ में भगवतीसूत्र पूरा पढ़ा था परन्तु १९७८ में उसकी चर्चा यह हुई कि देखो! यह विकार आत्मा में होता है, वह कर्म से होता है। विकार अकेला नहीं होता। दो होकर विकार होता है। कहा, दो होकर विकार तीन काल में नहीं होता। अकेला आत्मा अपनी पर्याय में अपने अपराध से विकार करता है। दूसरा द्रव्य कर्ता बिल्कुल किंचित् एक प्रतिशत भी नहीं है और विकार किये बिना संसार रहता नहीं। आत्मा यदि विकार न करे तो यह संसार किसका? संसार—संसरण इति संसार। संसार कोई जड़ का नहीं है। संसार की पर्याय तो आत्मा की पर्याय है। संसार आत्मा की पर्याय है। संसार कोई स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा, स्त्री, पुत्र संसार नहीं है। समझ में आया? संसार तो अपनी पर्याय में विकृत अवस्था होती है, वह संसार है। उस विकृत अवस्था का अभाव करना वह मोक्ष है। तो यह कहे, विकृत अवस्था आत्मा नहीं करता, ऐसा कहता है। तो कहते हैं, तेरी मिथ्याश्रद्धा है।

मुमुक्षु : रागादि भावकर्म का कर्ता अवश्य?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता आत्मा है।

मुमुक्षु : रागादि भावकर्म ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उनकी बात है न। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, सब।

मुमुक्षु : उनका कर्ता नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में कर्ता है। यह बात चलती है न! पर्याय में कर्ता है, जब तक अज्ञानी है तब तक। जब तक अज्ञानी है, आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं है, तब तक विकार का कर्ता पर्याय में अज्ञान से आत्मा है। पर बिल्कुल नहीं।

मुमुक्षु : ज्ञान तो ज्ञानादि का कर्ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानस्वरूप का अन्दर भान हुआ तो फिर राग का कर्ता नहीं। ज्ञान का कर्ता है। आहाहा!

भावकर्मरूप पर्यायें हैं, उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं; इसलिए आत्मा तो अकर्ता ही रहा! भगवान की वाणी तो कर्ता कहती है। तेरे ऊपर उस वाणी का कोप आया। है इसमें ? **तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया। इसलिए आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही...** विवक्षा अर्थात् कथन। कथंचित् कर्ता है, कथंचित् कर्ता नहीं। यह स्याद्वाद है। पर्याय दृष्टि से अज्ञानभाव से कर्ता है, द्रव्यदृष्टि—द्रव्यस्वभाव से कर्ता नहीं है। यह दो प्रकार से स्याद्वाद है। बिल्कुल अकर्ता माने तो मिथ्यात्व है और सदा ही कर्ता माने, ज्ञान में भी कर्ता माने, स्वरूप का भान होने के बाद भी कर्ता माने तो भी छूट है, तो भी एक बात है, आत्मअनुभव हुआ कि मैं आनन्द हूँ, तो उस समय वास्तव में तो ज्ञान का, आनन्द का कर्ता है परन्तु जो राग आता है, उस परिणमन की अपेक्षा कर्ता कहा जाता है।

सैंतालीस नय चले हैं। प्रवचनसार, ४७ नय में चला है कि सम्यग्दृष्टि भी, धर्मी को भी जितना अपने में कर्ता-भोक्ता का अपराध होता है, वह अपना है, अपने से है। कर्म से नहीं तथा ज्ञानी हुआ, इसलिए बिल्कुल कर्ता नहीं - ऐसा भी नहीं। ज्ञानी हुआ तो ज्ञान का कर्ता है। निर्बलता से जितना राग हुआ, उसका कर्ता है—ऐसा ज्ञान जानता है। सैंतालीस

नय में कर्ता-भोक्ता आता है। यह बात तो बहुत हो गयी है। लोग कहीं-कहीं भूल में अटकते हैं। मूल चीज़ पकड़ में नहीं आती।

यह कहते हैं, स्याद्वाद को यथार्थ जानना। **आत्मा के कर्तृत्व-अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद-प्ररूपण इस प्रकार है-** अब देखो! **आत्मा सामान्य अपेक्षा से...** आहाहा! द्रव्य की अपेक्षा से, आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से तो **ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है;...** वह तो ज्ञानस्वभाव में स्थित है। **परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय,...** आहाहा! क्या कहते हैं? कि जब मिथ्यात्व और राग-द्वेष को अपना मानता है, उस समय वास्तव में तो वह वस्तु जाननेयोग्य है। क्योंकि अपना स्वभाव जानने का है। यह आया न? **भावों को जानते समय,...** यह शब्द बहुत गूढ़ है। **मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय...** वास्तव में तो ज्ञानी को भी राग आता है, तो उसका कर्ता है - ऐसा जानता है। मेरी चीज़ है, ऐसा नहीं, परन्तु मुझमें ऐसा परिणमन है—ऐसा धर्मी भी मानता है। आहाहा! ज्ञानी भी एकदम अकर्ता नहीं है। वह स्वभाव और दृष्टि की अपेक्षा से कर्ता नहीं है, परन्तु पर्यायदृष्टि से जितना राग-द्वेष का परिणमन होता है, उतना कर्ता-भोक्ता ज्ञानी आत्मा भी होता है। क्योंकि जब तक राग का वेदन है, दसवें गुणस्थान तक लोभ का उदय है, दसवें गुणस्थान में लोभ के छह कर्म बँधते हैं, तो लोभ के वेदन बिना छह कर्म बँधेंगे? वेदन में है, दसवें (गुणस्थान) में लोभ वेदन में है। इतनी मति मलिन है तो छह कर्म बँधते हैं। ऐसा अपनी पर्याय में वेदन में राग-द्वेष होते हैं परन्तु ज्ञानी को राग-द्वेष का कर्ता परिणमन की अपेक्षा से कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात। परन्तु वह कर्तापना ठीक है, ऐसी बुद्धि नहीं है। समझ में आया? यह ४७ नय में चल गया है। यहाँ तो बहुत बार चला है। यह समयसार तो १९वीं बार चलता है। १८ बार तो प्रत्येक अक्षर का अर्थ हो गया है।

यहाँ कहते हैं, **आत्मा सामान्य अपेक्षा से...** अकेली द्रव्यदृष्टि से **तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है;...** अपना स्वरूप ज्ञान है, ज्ञाता है, दृष्टा है, उसमें स्थित है। **परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय,...** यहाँ यह आया। आहाहा! विपरीत मान्यता—राग से धर्म होता है, पुण्य-शुभभाव करते-करते, व्यवहार करते (करते) धर्म होता है, ऐसी जो मिथ्यादृष्टि, आहाहा! उस मिथ्यात्वभाव को जानते समय। वास्तव में तो उस समय उसे जानने का है, वह मेरा है ऐसा मानना (नहीं) परन्तु जानना इस प्रकार से जानना। तो भी ऐसा नहीं मानते,

जानते समय जानकर ज्ञाता नहीं रहता हुआ **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण,...** यह रागादि तो ज्ञेय है। भगवान ज्ञाता है। आत्मा की वह ज्ञेय वस्तु नहीं। परन्तु ज्ञान में जब ज्ञान होता है, तब परिणमन होता है, इस अपेक्षा से कर्ता कहने में आता है। बाकी विकार अपना स्वभाव नहीं है। अपने द्रव्य-गुण में तीन काल में विकार नहीं है।

आत्मा के अनन्त गुण हैं। आत्मा में अनन्त गुण हैं। तीन काल के समय। एक सेकेण्ड में असंख्य समय जाते हैं। एक सेकेण्ड में असंख्य समय, ऐसे तीन काल। उन तीन काल की अपेक्षा अनन्तगुणे गुण एक आत्मा में है। तीन काल के समय की अपेक्षा एक आत्मा में अनन्तगुणे गुण हैं। आहाहा! उन अनन्त गुण में कोई गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं है। गुण विकार करे, ऐसा नहीं होता। मात्र पर्याय में विकार होता है। आहाहा! वे सब गुण तो निर्मल हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! द्रव्य और गुण तो निर्मलानन्द अनादि-अनन्त हैं। तथा द्रव्य और गुण तो त्रिकाली निरावरण है। मात्र पर्याय में जब तक स्व का भान नहीं, तब तक पर्यायबुद्धि में राग-द्वेष का कर्ता हो जाता है। ज्ञाता होकर कर्ता होता है, ऐसा नहीं। ज्ञाता भी हो और कर्ता भी हो, ऐसा एक समय में नहीं होता। ज्ञानी को होता है। जानता भी है और राग का परिणमन है, अभी मैं अपूर्ण हूँ, यह मेरा परिणमन है, इसलिए मैं कर्ता हूँ, बस! इतना। इतना जानता है। आहाहा!

परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय,... क्या कहते हैं? भगवान आत्मा अनादि से ज्ञानस्वभाव स्वरूप है। उसका सामान्यस्वरूप तो ज्ञानस्वरूप ही है। चैतन्य नूर, चैतन्य का पूर। आत्मा चैतन्य के नूर का पूर है। वह तो ज्ञान का ही पूर है। आहाहा! यह मिथ्यात्व जब होता है, राग, दया, दान का विकल्प आया, उससे धर्म होता है, भगवान की भक्ति करने से धर्म होता है—यह (मान्यता) मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के समय, और इसके अतिरिक्त दया, दान का राग आता है और द्वेष आता है उस समय। उसे **जानते समय,...** यह तो जानने का समय है। आहाहा! भगवान आत्मा में ज्ञानस्वभाव है तो जब मिथ्यात्व और राग-द्वेष होते हैं तो उनका जानने का समय, काल है। परन्तु **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण,...** परन्तु राग और ज्ञायकस्वरूप भेद / पृथक् हैं, ऐसे ज्ञान का अभाव है। आहाहा! है?

ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण,... दया दान के विकल्प उठते, भक्ति के विकल्प उठते हैं, वह वास्तव में तो ज्ञान का ज्ञेय है। अपना ज्ञेय नहीं, परज्ञेय है। ज्ञान का ज्ञेय सही, परन्तु परज्ञेयरूप से है। ऐसा नहीं मानकर या अकेला कर्ता माने, या अकेला अकर्ता माने तो वह भी मिथ्यात्व है। समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप जानता है,... क्या कहते हैं? आत्मा ज्ञानस्वरूपी भगवान है, चैतन्यमूर्ति सामान्यरूप से तो वह ज्ञानस्वरूप ही है। परन्तु विशेषरूप से जब मिथ्यात्व और राग-द्वेष होते हैं, उन्हें जानने के समय, उन्हें जानने के समय अपने को नहीं जानकर उन मिथ्यात्व और राग-द्वेष को अपना जानकर कर्ता होता है। आहाहा! ऐसी बात है। वास्तव में तो जानने का समय है। क्योंकि अपना स्वभाव तो ज्ञान है। मिथ्यात्व हुआ... आहाहा! मैं पर का कर सकता हूँ, मैं हाथ हिला सकता हूँ, मैं भाषा बोल सकता हूँ, यह सब मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : रोटी खा सकता हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटी के टुकड़े कर सकता हूँ, यह मिथ्यात्व है। मैं परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ। तीन काल में मिथ्यात्व है। एक तिनका—तिनका... तिनके के दो टुकड़े कर सकता हूँ, मिथ्यात्व है। क्योंकि परद्रव्य की पर्याय को स्पर्श नहीं करता। परद्रव्य की पर्याय को आत्मा स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता तो करे क्या? वह तो उसके कारण से होती है, अपने कारण से नहीं होती। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा अपना भी करे और पर का भी करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर का बिल्कुल कर्ता नहीं। पर को जानता है, यह भी व्यवहार है। क्या कहा? फिर से, आत्मा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है तो पर को जानता है—ऐसा कहना भी व्यवहार है। वास्तव में पर को जानता है, यह व्यवहार है। उस परसम्बन्धी जो अपना अपने में ज्ञान हुआ, उसे जानता है। बहुत सूक्ष्म बात, बापू! आहा! क्या कहा?

जब पर का ज्ञान होता है तो वह पर के कारण नहीं होता। यह पुस्तक है तो इससे यहाँ ज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार यह वाणी निकलती है और श्रोता को ज्ञान होता

है, वह वाणी से नहीं। गजब बात है, प्रभु! उसकी पर्याय ज्ञान होने का समय था, इसलिए श्रोता को उस समय ज्ञान होता है। वाणी तो निमित्त है, वाणी से ज्ञान नहीं होता। परद्रव्य से परद्रव्य में कुछ नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : भगवान की वाणी से कुछ नहीं होता?

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान की वाणी से हो, वह है, ऐसा ज्ञान करे। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। 'प्रभु का मारग है शूरों का', यह कायर का काम नहीं। आहाहा! एक रजकण को भी आत्मा हिला सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है।

मुमुक्षु : एक को नहीं परन्तु ज्यादा को हिलावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कहता था, प्रेमविजय वहाँ पालीताना में था न? यहाँ से दो व्यक्तियों ने प्रश्न किया था। वह कहे, परमाणु को नहीं हिलाता परन्तु इसे हिला सकता है। प्रेमविजय था न। आहाहा! पालीताना। बहुत वर्ष पहले अपने कनुभाई और सुमनभाई दोनों गये थे। इस शरीर को हिलाता है और कर्म से विकार होता है। दोनों (बातें) मिथ्या-झूठ।

आत्मा अँगुली नहीं हिला सकता क्योंकि उसकी क्रमबद्धपर्याय में जब होनी हो, तब होती है। आत्मा अपनी पर्याय को छोड़कर पर की पर्याय को नहीं करता क्योंकि उसकी क्रमसर पर्याय होनेवाली है, वह होती है। आहाहा! उस पर्याय को अपनी करना, वह मिथ्यात्वभाव है और मिथ्यात्वभाव के समय आत्मा को ज्ञान करने का समय है तो उसका ज्ञान करे, ऐसा समय है। परन्तु ऐसा नहीं मानकर, वह मिथ्यात्व मैं हूँ—ऐसा मानकर मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वभाव को करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अभी से बहुत अलग प्रकार की बात है। वर्तमान को तो सब जानते हैं, खबर है न, बहुत वर्ष से।

यहाँ ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए। उसके अतिरिक्त मैं तो दुकान में भी पढ़ता था। १८-१९ वर्ष की उम्र से। (संवत्) १९६५ के वर्ष से। १९६५ से श्वेताम्बर के शास्त्र पढ़ता था। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग, अध्यात्मकल्पद्रुम एक आता है। श्वेताम्बर में अध्यात्मकल्पद्रुम पुस्तक है। वह सब पढ़ी है। यह १९६५-६६ के वर्ष। दीक्षा लेने से पहले की बात है। तब तो निवृत्ति थी, पिताजी की घर की दुकान थी, इसलिए निवृत्ति थी। उसमें भी बहुत घोटाला। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ज्ञान का समय है। क्या कहते हैं ? राग आया और माना कि मेरा राग है, ऐसे मिथ्यात्व को जानने का समय है। अपने में जानने का वह समय है। जानने का समय है, ऐसा नहीं मानकर... आहाहा! **अनादि काल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण,...** मैं ज्ञायक हूँ। राग से, विकल्प से लेकर तीन लोक का नाथ भी मेरा परज्ञेय है। उस परज्ञेय से मुझमें कुछ लाभ नहीं होता। परज्ञेय का लक्ष्य करने से मुझमें नुकसान होता है। भगवान के ऊपर लक्ष्य करने से भी राग होता है, नुकसान होता है। अर र र! अपना स्वआश्रय छोड़कर जितना पर का आश्रय करता है, तो राग और दोष बन्धन होता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, जब वह मिथ्यात्व होता है, तब उसके ज्ञान का समय है। उसे जानना। परन्तु जानने का नहीं करके, मिथ्यात्व और राग-द्वेष मेरे हैं, ऐसा जाननेवाला नहीं रहकर कर्ता होता है। अज्ञानी कर्ता होता है। जाननेवाला नहीं रहकर अज्ञानी कर्ता होता है। आहाहा! **भेदविज्ञान के अभाव के कारण, ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप जानता है,...** आहाहा! अज्ञानी को अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप की खबर नहीं है, अन्दर पाताल में परमात्मा है, एक समय की पर्याय के पाताल में नीचे परमात्मा ध्रुव है, उसकी खबर नहीं है, उसका ज्ञान नहीं है; इसलिए **विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है;...** विशेषरूप से अर्थात् पर्याय से। पर्यायदृष्टि से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करने से। ज्ञान परिणाम होना चाहिए। रागादि, मिथ्यात्व आया, उसका ज्ञान करना चाहिए। उसका ज्ञान नहीं करके ज्ञान परिणमन को अज्ञानरूप करता हुआ। ज्ञान परिणमन को अज्ञानरूप करता हुआ। अपने ज्ञानरूप परिणमन को विकाररूप करता हुआ। आहाहा! है ?

अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है;... क्या कहा ? अपना स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसकी दृष्टि का अभाव है और आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, तो राग और मिथ्यात्व के भाव में उसका जानने का काल है, परन्तु जानने का काल होने पर भी अज्ञान को ज्ञेय और ज्ञान की भिन्नता का अभाव है, इसलिए राग और मिथ्यात्व ज्ञेय है, उसे अपना मानता है। मैं ज्ञायक भिन्न हूँ, मेरा आनन्द स्वाद भिन्न है। राग के काल में भी... आहाहा! मेरे आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद भिन्न है, ऐसा ज्ञानी जानता है, अज्ञानी जानता नहीं।

आहाहा! आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है, भाई! थोड़ी सूक्ष्म है परन्तु वस्तु ऐसी है। आहाहा!

यहाँ तो बहुत वर्षों से सम्प्रदाय के सामने झंझट चलती है। जो हो वह कहते हैं—कर्म से विकार होता है, कर्म से विकार होता है। तेरी बात बिल्कुल झूठी है। कर्म परद्रव्य है और आत्मा परद्रव्य है। कर्म को आत्मा स्पर्श नहीं करता और कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। स्पर्श नहीं करते और विकार होता है? आहाहा! कठिन बात है।

जब भेदविज्ञान होने से... जब इस राग से मैं भिन्न हूँ, मेरा चैतन्यस्वभाव—शक्ति—सामर्थ्य है। मैं सर्वांग ज्ञान और आनन्द से भरपूर हूँ। आहाहा! मैं सर्वांग अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान से भरपूर हूँ। आहाहा! ऐसा **भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है...** आत्मा को ही आत्मारूप से जानता है, रागरूप से नहीं जानता। आहाहा! बहुत कठिन मार्ग! अपूर्व मार्ग है, प्रभु! तेरी प्रभुता का पार नहीं है। प्रभु! तू प्रभु है। अन्दर परमेश्वर है, प्रभु है। परमेश्वरपना है तो परमेश्वरपना प्रगट होता है। परमेश्वरपना कहाँ से प्रगट हुआ? कहीं बाहर से आता है? केवली केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द चतुष्टय प्रगट किये तो कहाँ से आये? बाहर से कोई चीज़ आती है? अन्दर में स्थित हैं। अन्दर में शक्ति पड़ी है, उसमें से व्यक्तता होती है। आहाहा! ऐसा वह प्रभु है। सब आत्मा भगवान है। आहाहा! द्रव्यदृष्टि से सब भगवान है। पर्यायदृष्टि में अन्तर है। आहाहा!

यह तो कहा नहीं? धर्मध्यान के बोल आते हैं न? अवग्रह, ईर्या, अवाय, धारणा इसमें अवाय आता है। धर्मध्यान में तो अवायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय (आज्ञाविचय आता है)। द्रव्यसंग्रह में अवायविचय का ऐसा अर्थ किया है। द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ है। मैं तो आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ और मैं तो अल्पकाल में आठ कर्म से रहित होनेवाला हूँ। कर्म-फर्म मुझमें रहेंगे नहीं। मैं आठ कर्म से रहित होऊँगा। आहाहा! परन्तु प्रभु! सब भगवान (आत्मा) आठ कर्म से रहित होओ, ऐसी मेरी भावना है। आहाहा! संस्थानविचय, अवायविचय, विपाकविचय (आज्ञाविचय) है न चार बोल? उसमें अवायविचय का (बोल) द्रव्यसंग्रह में है। मैं तो अल्पकाल में आठ कर्म से रहित होनेवाला ही हूँ परन्तु यह सब भगवान आठ कर्मरहित होओ। आहाहा! भगवान हो जाओ।

हमें कोई विरोधी नहीं लगता, कोई द्वेषी नहीं लगता, कोई अल्प नहीं लगता। अल्प नहीं लगता। अन्दर द्रव्य का पूर्ण स्वरूप है, पर्याय में अन्तर है, वस्तु में अन्तर नहीं। जिसे वस्तु की दृष्टि हुई और पर्यायबुद्धि, रागबुद्धि गयी, वह पर को भी पर्यायबुद्धि से नहीं देखकर द्रव्यबुद्धि से परमात्मा देखता है। आहाहा! समझ में आया? बात तो दूसरी है, बापू! भगवान की दिव्यध्वनि है। तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी विराजते हैं। आहाहा! वहाँ की यह वाणी है। परन्तु उतारना, समझना (इसमें) बहुत पुरुषार्थ अपेक्षित है, अनन्त पुरुषार्थ चाहिए। आहाहा!

भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है... लो! जब राग और पुण्य से भिन्न आत्मा जाना, तब ज्ञान ही कर्ता है। बस, फिर राग का कर्ता नहीं होता। **आत्मा के रूप में जानता है...** आत्मा को आत्मारूप से जानता है; आत्मा को रागरूप से नहीं जानता। आहाहा! अज्ञान में आत्मा को राग, दया, दान, व्रतादि के परिणामरूप से जानता है। मैंने दया पालन की, मैंने व्रत पालन किये, यह सब राग है। अज्ञान में राग को अपना मानता है। ज्ञान होने पर... है? **आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है...** जब ज्ञान हुआ, तब तो आत्मा को आत्मारूप से जानता है। रागरूप, पुण्यरूप, दया, दान, व्रतादिरूप धर्मी नहीं मानता, धर्मी नहीं जानता। जाने, वह धर्मी नहीं। आहाहा! वह अलग प्रकार का है, जज! तुम्हारे जज में वहाँ न्याय नहीं है। सरकार ने न्याय किये, वह तुम्हारे वहाँ कराना। यहाँ तो वीतराग तीन लोक के नाथ सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं। आहाहा! वह है, उनकी यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। आहाहा! वहाँ इस जीव की उपस्थिति थी। भाई! क्या कहें? कहाँ आ पड़े? बापू! समय के मारे यहाँ आ पड़े हैं। वस्तु कोई दूसरी है।

मुमुक्षु : हमारे लिये आये हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! ऐसी चीज़ कहना और लोगों को जँचे, न जँचे और विरोध करे। प्रभु! करो विरोध, परन्तु वस्तु तो ऐसी है, प्रभु! आहाहा! विरोध करनेवाले अपना विरोध करते हैं, किसी का विरोध नहीं करते। बस! आहाहा! ऐसा एकान्त... एकान्त... हो जाता है? आत्मा कुछ नहीं करता? पूरे दिन हम करते हैं न, धन्धा करते हैं— व्यापार करते हैं। धूल भी नहीं करता, सुन न!

मुमुक्षु : केवली भगवान भाषा को ग्रहण करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह आता है। रामविजय ने कहा। यहाँ से दो व्यक्ति (गये थे)। बहुत वर्ष हो गये। सुमनभाई और (कनुभाई) दोनों वहाँ गये थे। वह कहे, केवली भाषा को ग्रहण करते हैं और फिर भाषा बोलते हैं। किसे ग्रहण करे? प्रभु! भाषा जड़। आत्मा ग्रहण करे, वह कहाँ जड़ का स्वामी है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! तेरे घर की बात है।

नाथ! तू बड़ा प्रभु है। तेरी प्रभुता की बात चलती है। उस प्रभुता में आत्मा आत्मा को जाने। पामरता में राग को अपना जाने। आहाहा! अज्ञान में राग को अपने में जाने, वह पामरपना है। ज्ञान में ज्ञान अपने को जाने, वह प्रभुपना है। अपने आत्मा को प्रभु परमेश्वर जानता है। आहाहा! समयसार ७२ गाथा में तीन बार आया है कि पुण्य और पाप अशुचि मैल है। ७२ (गाथा) में आया है। भगवान निर्मलानन्द है, ऐसा टीका में पाठ है। भगवान निर्मलानन्द है। आहाहा! आचार्यों ने भगवानरूप से सम्बोधन किया। श्रोता को भगवान कहा। आहाहा! ७२ गाथा में है। बहुत बार बात हो गयी है।

पुण्य और पाप दोनों अशुचि-मलिन हैं। भगवान आत्मा निर्मलानन्द है, ऐसा अमृतचन्द्राचार्य ने लिया। आहाहा! पुण्य और पाप अचेतन, जड़ है। क्योंकि दया, दान, व्रत के परिणाम, वे अपने को जानते नहीं, उनमें—जड़ में चैतन्य का अंश नहीं। आहाहा! उन पुण्यपरिणाम को भी अजीव और जड़ कहा, तब भगवान उनसे भिन्न चैतन्यमूर्ति कहा। आहाहा! दूसरा बोल। वहाँ ७२ गाथा में भी तीन बार भगवान कहा है। तीसरा (बोल)—पुण्य और पाप दुःखरूप है और भगवान आनन्दरूप है। आहाहा! आनन्दरूप और दुःखरूप दोनों चीज़ भिन्न है। भगवान आनन्दरूप है। देखना है? ७२ गाथा में है।

जले जम्बालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वाअशुचय: खल्वास्रवा: संस्कृत है, संस्कृत। **भगवानात्मा..** आहाहा! **तु नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलम्भकत्वादत्यन्तं शुचिरेव।** आहाहा! भगवानरूप से बुलाया है। जाग रे जाग, नाथ! आहाहा! ऐसे तीन प्रकार हैं। **जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावा: खल्वास्रवा:** आस्रव जड़ स्वभाव है क्योंकि राग-द्वेष अपने को जानते नहीं, ज्ञान को जानते नहीं, पर से जानने में आते हैं। पर से जानने

में आते हैं तो वह चीज़ जड़ है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम जड़-अचेतन हैं। उनमें चैतन्य का अंश नहीं। **भगवानात्मा** फिर से आया। **नित्यमेव विज्ञानघनस्वभात्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव एव।** आहाहा! वह तो चेतक स्वभाव है। भगवान का जानना स्वभाव है। आहाहा!

तीसरा, **आकुलत्वोपादकत्वाद्दु:खस्य कारणानि खल्वास्रवा:** आस्रव—पुण्य और पाप तो दु:ख के कारण आस्रव हैं। नये कर्म आते हैं, दु:ख का कारण है। **भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणात्वाद्दु:खस्याकारणमेव।** भगवान किसी का कारण नहीं और भगवान किसी का कार्य नहीं। आहाहा! है? टीका में है। **भगवान आत्मा तो सदा निराकुलता स्वभाव के कारण, किसी का कार्य तथा किसी का कारण नहीं होने से दु:ख का अकारण ही है...** आहाहा! किसी का कार्य आत्मा नहीं है और किसी का कारण आत्मा नहीं है। आहाहा! अपनी निर्मल पर्याय उत्पन्न हो, उसमें किसी राग की मन्दता या देव-गुरु निमित्त है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अपना पूर्ण स्वरूप प्रगट हो, उसमें कोई दूसरी चीज कारण हो या संहनन, व्रजनाराचसंहनन और मनुष्यभव है तो केवल(ज्ञान) हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! बात-बात में अन्तर है, प्रभु! आहाहा! यह बात अन्तर में बैठना, अपूर्व बात है। कहा न? भगवान कहा न? तीन बार भगवान कहा।

भगवान आत्मा तो आनन्दरूप और दु:ख का अकारण है तथा अकार्य है। राग कारण और आत्मा की निर्मल पर्याय कार्य, ऐसा भी नहीं है तथा निर्मलपर्याय कारण और राग कार्य, ऐसा भी नहीं है। क्या कहा? फिर से, राग जो दया, दान का होता है, वह दु:ख है। उस दु:ख का आत्मा, पर्याय कारण नहीं और उस पर्याय का वह (आत्मा) कार्य नहीं। आहाहा! राग का जो भाव दु:खरूप है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, वह दु:ख का कारण प्रभु आत्मा की पर्याय नहीं और आत्मा की निर्मल पर्याय उसका कारण नहीं। आहाहा! ऐसी बात है, प्रभु!

अपने यहाँ चलता अधिकार। **विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है।** भगवान आत्मा तो साक्षात् अकर्ता है। आहाहा! इसका कलश है। २०५।

कलश - २०५

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं साङ्ख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धत-बोधधाम-नियतं प्रत्यक्ष-मेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्तृभाव-मचलं ज्ञातार-मेकं परम्।।२०५।।

श्लोकार्थ : [अमी आर्हताः अपि] यह आर्हत् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी [पुरुषं] आत्मा को, [सांख्याः इव] सांख्यमतियों की भाँति, [अकर्तारम् मा स्पृशन्तु] (सर्वथा) अकर्ता मत मानो; [भेद-अवबोधात् अधः] भेदज्ञान होने से पूर्व [तं किल] उसे [सदा] निरन्तर [कर्तारम् कलयन्तु] कर्ता मानो, [तु] ओर [ऊर्ध्वम्] भेदविज्ञान होने के बाद [उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्] उद्धत *ज्ञानधाम (ज्ञानमन्दिर, ज्ञानप्रकाश) में निश्चित् इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को [च्युत-कर्तृभावम् अचलं एकं परम् ज्ञातारम्] कर्तृत्व रहित, अचल, एक परम ज्ञाता ही [पश्यन्तु] देखो।

भावार्थ : सांख्यमतावलम्बी पुरुष को सर्वथा एकान्त से अकर्ता, शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष को संसार के अभाव का प्रसंग आता है; और यदि प्रकृति को संसार माना जाए तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, उसे सुखदुःखादि का संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा? ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसलिए सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं; और यदि जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि-सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें; जब तक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो, तब तक तो उसे रागादि का-अपने चेतनरूप भावकर्मों का-कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो। इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व-ये दोनों भाव विवक्षावश सिद्ध

* ज्ञानधाम=ज्ञानमन्दिर; ज्ञानप्रकाश।

होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार-मोक्ष आदि की सिद्धि होती है; और सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय-व्यवहार का लोप होता है।।२०५।।

कलश - २०५ पर प्रवचन

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं साङ्ख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धत-बोधधाम-नियतं प्रत्यक्ष-मेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्तृभाव-मचलं ज्ञातार-मेकं परम्।।२०५।।

यह आर्हत् मत के अनुयायी... जो कोई अरिहन्त भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर को जो मानते हैं, उनके जो अनुयायी हैं, वे **आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति,...** सांख्यमति कहते हैं कि कर्म के कारण विकार है, आत्मा के कारण विकार नहीं। आहाहा! कर्म के कारण विकार होता है, विकार कर्म कराता है—ऐसी सांख्यमत की मान्यता है। अभी तो सम्प्रदाय में पहले से यही चलता है। स्थानकवासी में (संवत्) १९७१ में पहला बोल निकाला था। १९७१ में भगवती (सूत्र) पढ़ा था। भगवती में तीसरा अध्याय है। वहाँ स्पष्ट पाठ है, संशय आत्मा स्वयं अपने से करता है। संशय पाठ है। भाई! बात तब १९७१ में बात निकाली थी, व्याख्यान दिया था। १९७१, कितने वर्ष हुए? ६५ हुए? ६५ वर्ष हुए। तब कहा था, विकार स्वयं से होता है। कर्म से विकार बिल्कुल नहीं होता। दूसरे हमारे गुरु थे, वे तो सुनते थे परन्तु दामोदर सेठ अभिमानी था, उसने विरोध किया, ऐसा तुम्हें किसने कहा? हमारे गुरु ने कहा नहीं, शास्त्र में ऐसा नहीं और तुमने ऐसा कहाँ से निकाला? कहा, इस शास्त्र में है। आहाहा! तुम्हें अर्थ करना नहीं आता।

मिथ्यात्व स्वयं स्वतः करता है, ऐसा पाठ है। संशय शब्द है। भगवतीसूत्र का तीसरा अध्याय है। १९७१ में वह पूरा पढ़ा था। चार महीने अपवास करके, चार महीने एकान्तर अपवास करके (पढ़ा था)। एक दिन एक बार खाना और दूसरे दिन कुछ नहीं। एक ही बार। एक दिन एक बार और दूसरे दिन कुछ नहीं। तीसरे दिन एक बार, ऐसे चार

महीने १९७१ में। शास्त्र पढ़ते थे। १९७१ के वर्ष उसमें यह प्रश्न उठा था कि राग का करनेवाला कौन है? राग का कर्ता आत्मा है। वह तो शुद्ध है न? शुद्ध तो द्रव्य और गुण शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है। पर्याय अशुद्ध न हो तो यह संसार क्या है? संसार कहीं जड़ है? संसार जड़ में है? स्त्री, पुत्र, परिवार और धन्धा, वह संसार है? संसार आत्मा की विकारी पर्याय है। आहाहा! समझ में आया? स्त्री, पुत्र, छोड़े इसलिए त्यागी हो गया, ऐसा नहीं है। विकार का त्याग करे तो त्यागी हो। आहाहा! पुण्य और पाप की पर्याय स्वयं से होती है और अपने पुरुषार्थ से मिटती है।

यह तो १९७१ में प्रश्न चातुर्मास में उठा था। १९७० में दीक्षा, १९७१ में यह प्रश्न उठा, बड़ा प्रश्न। दामोदर सेठ विरुद्ध में पड़े। वे कहे, यह तो हमारे गुरु ने कहा नहीं, हमने कभी सुना नहीं और तुमने ऐसा कहाँ से निकाला? देखो न! न्याय निकालो न! आत्मा द्रव्य है या नहीं? स्वतन्त्र है या नहीं? द्रव्य स्वतन्त्र पर्याय का कर्ता है। कर्ता स्वतन्त्र होता है। विकार का कर्ता यदि कहो तो स्वतन्त्र होता है। अपनी पर्याय में अपने से स्वतन्त्र कर्ता होता है। पर के कारण से नहीं। (किन्तु वे) नहीं माने।

मुमुक्षु : कर्ता का अर्थ व्याकरण में भी ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा ही है, व्याकरण में आता है। कर्ता का अर्थ, स्वतन्त्र करे वह कर्ता। पर की अपेक्षा नहीं, इसका नाम कर्ता। आत्मा विकार स्वयं से स्वयं की भूल से स्वयं के अपराध से दोष करता है। कर्म से नहीं, संयोग से नहीं कि ऐसा संयोग मिला, इसलिए मुझे दोष करना पड़ा। सब झूठ है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **यह आर्हत् मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भाँति,...** सांख्यमति की तरह जैनमुनि भी मानते हैं, ऐसा आ गया। **(सर्वथा) अकर्ता मत मानो;...** सर्वथा अकर्ता न मानो। पर्याय में अज्ञानभाव से जब तक अज्ञान है, स्वरूप का भान नहीं, तब तक अज्ञानभाव से द्रव्य-गुण का ज्ञान नहीं तो पर्याय का ज्ञान है। पर्याय में राग है तो राग का कर्ता अज्ञानी होता है। द्रव्य-गुण का ज्ञान तो है नहीं। द्रव्य-गुण तो शुद्ध है। त्रिकाली आनन्दकन्द है। आहाहा! शुद्ध को जानता नहीं तो अशुद्ध आत्मा में जो पर्याय होती है, उसका कर्ता होता है। आहाहा!

भेदज्ञान होने से पूर्व... राग से भिन्न आत्मा का अनुभव हुआ। मैं तो आनन्दकन्द सच्चिदानन्द हूँ। ओहोहो! अनन्त-अनन्त गुण का ढ़ेर, अनन्त गुण में एक गुण भी कम नहीं और उन अनन्त गुण में कोई गुण पर को करे, ऐसा गुण नहीं। तथा अनन्त गुण में एक गुण विकार करे, ऐसा कोई गुण नहीं। आहाहा! अनन्त गुण जो आत्मा में है, उसमें कोई गुण शरीर को हिलावे, पर की दया पाले, (ऐसा) तीन काल में नहीं। पर की दया तो परद्रव्य है। उसकी दया आत्मा नहीं पाल सकता, परन्तु पर की दया का भाव आया, वह भी हिंसा है। राग है, शुभ है। शुभराग से आत्मा की हिंसा होती है। शुभभाव आता है, परन्तु है दुःख, हिंसा। आहाहा! गजब बात है। चिल्लाहट मचाये।

स्थानकवासी में तो अकेला दया से धर्म... धर्म। 'दया वह सुख की वेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये दया के...' ऐई! देवीलालजी! वह स्वदया। पर की दया नहीं। पर की दया तो पाल नहीं सकता। प्रभु! पर का आयुष्य हो, तब तक वह जीता है। क्या तू आयुष्य दे सकता है कि जिला सके? आयुष्य का दान दे सकता है? उसको तेरा आयुष्य दे सकता है? आहाहा! और तुझे कोई मार सकता है? क्या दूसरा कोई तुझे आयुष्य देता है? या आयुष्य घटा देता है? पर के कारण मैं जीता हूँ, तो क्या करने तुझे आयुष्य दिया कि जीता हूँ? तेरा आयुष्य है, वहाँ तक रहेगा। यह भी आयुष्य के कारण से नहीं। आयुष्य कर्म भिन्न जड़ है। आत्मा भिन्न चैतन्य है। अपनी रहने की योग्यता है, तब तक रहेगा। जब समय पूरा होगा, तब छूट जाएगा, एकदम देह छूट जाएगी। आहाहा! कहते हैं, यह बात अज्ञानी नहीं मानता।

(सर्वथा) अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो,... आहाहा! आनन्दस्वरूप प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का जब तक अनुभव न हो, तब तक राग और विकार का तू कर्ता है, ऐसा मानो। सांख्यमत की भाँति अकर्ता न मानो। जैन में ऐसा नहीं है। जैन कोई पक्ष और पन्थ नहीं है, जैन कोई वाड़ा और पक्ष और पन्थ नहीं है। वस्तु का स्वरूप है। यह कहा था न? 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन।' 'घट-घट अन्तर जिन बसै, घट-घट अन्तर जैन। मत मदिरा के पान सौ, मतवाला समझे न।' आहाहा! 'घट-घट अन्तर जिन बसै,' जिनस्वरूपी आत्मा है। वीतरागता उत्पन्न होती है तो कहाँ से? वीतरागता अन्दर भरी है। उसमें से / जिन में से जिन होता है। जिनस्वरूप

आत्मा है, उसमें से जिनकेवली होता है। आहाहा! अभी जगत में भारी गड़बड़ है। आहाहा! अनजाने तो चिल्लाहट मचा जायें ऐसा है। कुछ करे नहीं ? यह पूरे दिन करते हैं न ? करते नहीं ? लो! दया का भाव भी हिंसा ? बापू! दया का भाव राग है। राग, वह आत्मा की हिंसा है। भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! आहाहा! पुरुषार्थसिद्धिउपाय में है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय में पाठ लिया है। अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार ने स्वयं लिखा है।

(सर्वथा) अकर्ता मत मानो; भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो,... राग और पुण्य-पाप के भाव से आत्मा भिन्न पड़ा, फिर न मानो परन्तु जब तक राग-द्वेष आदि एकता में है, तब तक मानो। आहाहा! **भेदविज्ञान होने के बाद...** विकल्प से, राग से, वह पुण्य परिणाम—शुभभाव से भी भेदज्ञान हुआ, पर से भिन्न हुआ तो '**उद्धत-बोध-धाम-नियतं स्वयं प्रत्यक्षम् एनम्**' आहाहा! **उद्धत ज्ञानधाम...** ज्ञानमन्दिर आत्मा है। है नीचे ? ज्ञानप्रकाश, ज्ञानमन्दिर। प्रभु! चैतन्य का पूर है, नूर है। चैतन्य नूर का पूर अन्दर अरूपी है। उसमें अनन्त-अनन्त गुण हैं। आहाहा!

भेदविज्ञान होने के बाद उद्धत ज्ञानधाम... ज्ञानमन्दिर, ज्ञानप्रकाश में निश्चित। **इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को...** है न ? पश्चात् तो स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को। आहाहा! राग और पुण्य से भिन्न पड़ने पर आत्मा प्रत्यक्ष होता है, परोक्ष नहीं रहता। उसमें प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है, (इसलिए) प्रत्यक्ष होता है। तो कहते हैं, **इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को कर्तृत्व रहित,...** पश्चात् कर्तृत्वरहित जानो। **एक परम ज्ञाता ही देखो।** वापस उसका ऐसा देखकर कोई एकान्त मान ले कि समकिती को राग है ही नहीं और राग का वेदन है ही नहीं, ऐसा नहीं है। यहाँ तो दृष्टि प्रधान कथन में राग का कर्ता नहीं, ऐसा बताना है। बाकी जितना राग समकिती को होता है, दसवें गुणस्थान में छह कर्म बँधते हैं, उतना लोभ भी है। दसवें गुणस्थान में लोभ का वेदन है। वेदन बिना बन्ध किस प्रकार होगा ? समकिती को राग आता है, इतना जानता है कि यह मेरा दोष है। मेरा परिणमन है, परन्तु उसका स्वामी नहीं होता। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०१, श्लोक-२०५-२०६ मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ५
दिनाङ्क - ०३-०६-१९८०

२०५ कलश है, यह हो गया है, इसका भावार्थ। २०५ कलश का भावार्थ। कल कलश चल गया है। **सांख्यमतावलम्बी पुरुष को...** सांख्य के मत के पुरुष हैं, वे **सर्वथा एकान्त से अकर्ता,...** सांख्य मतवाले आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानते हैं। **शुद्ध उदासीन...** रागादि विकार पर्याय से आत्मा उदास है, ऐसा वे मानते हैं। पर्याय में विकार होता है, उसे वे कर्म का मानते हैं। अभी तो जैन में भी ऐसा ही मानते हैं। अब आयेगा। जैन में भी कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण विकार होता है, वे सब सांख्यमति हैं। यहाँ **शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानता है...** आत्मा को शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र मानते हैं। आत्मा पर्याय में विकार करता है, ऐसा वे नहीं मानते।

मुमुक्षु : वे लोग पर्याय में मानते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय माने तो भी वे कहते हैं, कर्ता नहीं है। राग का कर्ता वे तो मानते नहीं। कर्ता उदास मानते हैं। आया न? **शुद्ध उदासीन चैतन्यमात्र...** अकेला चैतन्यमात्र उदास है। उसमें पर्याय विकार और विकार का टालना और विकार का होना ऐसा उसमें है नहीं—ऐसा मानते हैं।

ऐसा मानने से पुरुष को... अर्थात् आत्मा को **संसार के अभाव का प्रसंग आता है;...** आत्मा को संसार के अभाव का प्रसंग आता है। क्योंकि विकार नहीं तो संसार किसका? जड़ को संसार होता है? 'संसरण इति संसार'। स्वरूप में से हटकर, संसरण करके राग, विकार, मिथ्यात्वभाव करे, वह संसार है। यदि वह संसार न हो तो मिथ्यात्व किसका? संसार किसका? ऐसा कहते हैं। **पुरुष को संसार के अभाव का प्रसंग आता है; और यदि प्रकृति को संसार माना जाए...** जड़ को संसार माना जाए; जड़कर्म करे, वह संसार है। **तो वह भी घटित नहीं होता,...** जड़कर्म करे और संसार हो, जड़ को संसार होता नहीं। जड़ को संसार होता नहीं। **क्योंकि प्रकृति तो जड़ है,...** कर्म और कर्म की प्रकृति तो जड़ है। जड़ संसार का विकार किस प्रकार करे?

और यदि प्रकृति को संसार माना जाए तो वह भी घटित नहीं होता, क्योंकि प्रकृति

तो जड़ है, उसे सुखदु:खादि का संवेदन नहीं है,... प्रकृति को सुख-दु:ख का वेदन तो है नहीं। यदि राग-द्वेष होवे तो सुख-दु:ख का वेदन भी हो। आत्मा में तो अज्ञानभाव से राग-द्वेष है। ज्ञानभाव से भी अल्प होते हैं तो उतना सुख-दु:ख भी होता है। जड़ को तो सुख-दु:ख नहीं होता। आहाहा! **संवेदन नहीं है,...** जड़ को **सुखदु:खादि का संवेदन नहीं है, तो उसे संसार कैसा?** जिसे वेदन नहीं, उसे संसार कैसा? आहाहा! सेठिया ऐसा कहते थे न? कहीं न कहीं लोग अटक गये। सेठिया ऐसा कहते थे, ज्ञानी होने के बाद दु:ख का वेदन नहीं होता। दीपचन्दजी ऐसा कहते थे। यह सोगानी का पढ़ने के पश्चात् मस्तिष्क घूम गया। नहीं तो ठीक आते-जाते थे। परन्तु सोगानी का पढ़ा, तब से (ऐसा हो गया कि), यह और कौन निकला मुझसे अधिक? ऐसा। इसलिए जो कोई दु:ख भोगता है, वह तो तीव्र कषायवाला है। ज्ञानी को दु:ख नहीं होता।

यहाँ तो कहते हैं कि ज्ञानी को भी दु:ख होता है। जब तक वीतरागभाव न हो, तब तक आत्मज्ञान भी होता है और साथ में राग का दु:ख भी होता है, दोनों होते हैं। आहाहा! मिथ्यादृष्टि को जब आत्मा की खबर नहीं, उसे तो मात्र विकार का वेदन है। मात्र कर्ता का वेदन है। केवली को राग का किंचित् वेदन नहीं। अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण वेदन है। साधक को आत्मा की शान्ति का भी थोड़ा वेदन है, थोड़ा राग का भी वेदन है। राग (का) वेदन न हो, तब तो केवलज्ञान हो जाए। न्याय समझ में आता है? आहाहा! जैन नाम धरानेवालों में भी गड़बड़... गड़बड़ रह जाती है। आहाहा! यह आगे कहेंगे।

ऐसे अनेक दोष एकान्त मान्यता में आते हैं। सर्वथा एकान्त वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। इसलिए सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं;... सांख्यमतिवाले तो मिथ्यादृष्टि है। **और यदि जैन भी ऐसा मानें...** आहाहा! कोई जैन ऐसा माने कि विकार कर्म से होता है, कोई जैन ऐसा माने कि ज्ञानी को बिल्कुल विकार है ही नहीं और वेदन नहीं, तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! केवली को अकेला आत्मा के आनन्द का वेदन है। मिथ्यादृष्टि को अकेले दु:ख का वेदन है। साधक को सुख और दु:ख दोनों का (वेदन है)। आत्मा के सुख का भी थोड़ा वेदन है, थोड़ा राग है, उतना दु:ख का भी वेदन है। दु:ख का वेदन है तो मिथ्यादृष्टि है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बड़ी चर्चा दीपचन्दजी के साथ हुई, वे लोग यहाँ आये नहीं थे। वहाँ फिर गये थे। आहाहा! और यह श्वेताम्बर लोग तो कर्म से ही विकार होता है, कर्म

से विकार होता है, (ऐसा मानते हैं)। जेठाभाई ने यह चर्चा की। रामविजय (के साथ)। अपन चर्चा करते हैं। चर्चा बराबर करते हैं परन्तु तुम्हें पहले यह मान्य है? रामविजय ने कहा—कर्म से विकार होता है, यह मान्य है? तो चर्चा करें। यह कहे, यह हमको मान्य नहीं। अरे.. अरे.. अरे..!

जैन में भी कर्म से विकार होता है, (ऐसा मानते हैं)। कर्म परद्रव्य, विकार परद्रव्य। विकार तो आत्मा की विपरीत अवस्था है। जड़कर्म से वह अवस्था होती है? आहाहा! आत्मा की मिथ्यात्व और राग-द्वेष और वेद आदि विकृत पर्याय है। ऐसी पर्याय जड़ में किस प्रकार हो? और जड़ से किस प्रकार हो? जड़ में नहीं और जड़ से नहीं। आहाहा! यह कहते हैं।

सांख्यमति की भाँति **जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।** आहाहा! जैन ऐसा माने कि आत्मा में विकार होता है, वह कर्म से होता है। विकासचन्दजी ने वहाँ प्रश्न किया था कि सिद्ध को कर्म नहीं तो विकार नहीं, इसलिए यहाँ नीचे कर्म है तो विकार है। यह प्रश्न किया था। चारों ओर घोटाला। जैन में जन्मे परन्तु खबर नहीं होती। विचार नहीं होता। वे कहें, सिद्ध को कर्म नहीं तो विकार नहीं। इसलिए यहाँ विकार है, इसलिए कर्म है। कर्म के कारण विकार है। जैन भी ऐसा मानते हैं। साधु नाम धराकर! आहाहा!

मुमुक्षु : हमारी भावना विकार करने की नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, विकार करने की नहीं तो भावना बिना विकार होता है? भाव न हो तो होता है? अपने आप विकार होता है? जड़कर्म विकार कराता है। जड़ को तो खबर भी नहीं। वह तो एक जगत की चीज़ है। विकार तो अपनी पर्याय में उल्टी अवस्था (होती है), वह विकार है। उस विकार का करनेवाला अज्ञानी सर्वथा करनेवाला है और ज्ञानी को थोड़ा परिणमन है तो उस अपेक्षा से करनेवाला है। आहाहा! जैन में भी ऐसा है। अब इसकी खबर नहीं वाड़ावालों को। ऐसी दरकार भी किसे है? जहाँ वे तो जन्मे, जिस सम्प्रदाय में जन्मे, वह जयनारायण! यह कहते हैं वह ठीक। एक घण्टे सुनना। एक घण्टा अज्ञानी लूट लेता है। वापस पूरे तेईस घण्टे पाप में जाते हैं। अरे रे! ऐसा मनुष्यभव चला जाता है। जैन में भी ऐसी बड़ी गड़बड़ है। आहाहा!

दामोदर सेठ के साथ चर्चा हुई, तब भी (उन्होंने) ऐसा कहा कि महाराज! बहुत

पुरुषार्थ से कहते हो कि विकार पुरुषार्थ से स्वयं से होता है, कर्म से नहीं तो उसके आत्मा के पुरुषार्थ के ५१ प्रतिशत रखो और विकार होने में ४९ प्रतिशत कर्म के रखो। मैंने कहा— एक भी प्रतिशत कर्म का नहीं। यह तो (संवत्) १९७६ के वर्ष की (बात है)। पहले से यह तो गड़बड़ उठी है। आहाहा! मनोहरलालजी ने भी वहाँ प्रश्न किया था। गुजर गये, बेचारे को मार डाला। पुस्तकें बनाते और पैसे उगाहते थे। दो-तीन-पाँच लाख होंगे। उन्हें छोड़कर जाना था तो किसी ने गले में फाँसी दी। जीभ निकल गयी। गले में फाँसी दी। आहाहा! उन्होंने भी पूछा था कि यह राग होता है, वह पुद्गल है - ऐसा कैसे कहा? आहाहा! कहा, राग पुद्गल है—ऐसा कैसे कहा? अपनी निर्मल पर्याय स्वभाव से होती है, ऐसा गिनकर विकार कर्म का है, निकाल डालना है, इस अपेक्षा से पुद्गल का कहा। निकाल डालना है, छोड़ देना है, इसलिए उसे कर्म का है - ऐसा कहा। परन्तु कर्म से हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

शास्त्र में ऐसे शब्द आते हैं। सम्यग्दृष्टि को आस्रव और बन्ध नहीं है। लो! ऐसा आता है। समकित हुआ, इसलिए आस्रव और बन्ध नहीं होता। एक ओर कहते हैं कि दसवें गुणस्थान तक आस्रव और बन्ध है। किस अपेक्षा से? यह तो दृष्टि के जोर की अपेक्षा से ऐसा कहा। परन्तु पर्याय में तो ज्ञानी को भी राग-द्वेष विकार होता है तो जैन माने कि विकार अपने से नहीं, कर्म से माने तो वह सांख्यमति है, जैन नहीं। परन्तु यह कितनों ने निर्णय भी नहीं किया होता है। मानते हैं या नहीं मानते? क्या मानते हैं? ऊपर-ऊपर से पड़े हों, उन्होंने माना ही नहीं। हम मानते हैं या नहीं मानते, इसकी भी खबर नहीं होती। वाड़ा में पड़े, हो गया, जयनारायण! आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि कोई भी बात युक्ति से, न्याय से सिद्ध हुए बिना मानना, यह मान्यता सत्य नहीं है। न्याय से, युक्ति से जो बात सिद्ध हो, उसे मानना।

यहाँ कहते हैं कि **जैन भी ऐसा मानें तो वे भी मिथ्यादृष्टि हैं।** आहाहा! परन्तु कितने ही जैन को तो खबर भी नहीं होती, जैन में पड़े हों उन्हें। सांख्य और ऐसा कहते हैं कि विकार कर्म से होता नहीं यह कर्म से होता है, यह कौन विचारता है? सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। जिन्दगी मिथ्यात्व में चली जाती है। यह तो सब मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

इसलिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि–आहाहा! **सांख्यमतियों की भाँति जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें;...** सर्वथा न मानो। अज्ञान है तब तक कर्ता है। आनन्द का अनुभव हुआ तो इस अपेक्षा से अकर्ता भी है। अकर्ता भी है, कर्ता भी है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि तो कर्ता ही है। सम्यग्दृष्टि—धर्मी कर्ता-अकर्ता दोनों है। आहाहा! जितना आत्मा के आश्रय से परिणमन हुआ, उसका ज्ञातादृष्टा कर्ता है। जितना कमजोरी से राग आता है, उसका कर्ता आत्मा है। वह कहीं कर्म कराता है, ऐसा नहीं है। **जैन आत्मा को सर्वथा अकर्ता न मानें; जब तक स्व-पर का भेदविज्ञान न हो...** स्व-पर का भेदज्ञान जब तक न हो, **तब तक तो उसे रागादि का...** राग-द्वेष, मिथ्यात्व। **अपने चेतनरूप भावकर्मों का...** देखो! यह अपने चेतन का भावकर्म है। आहाहा! उसका भावरूपी कार्य है। चेतन का भावरूपी कार्य है। कर्म अर्थात् कार्य। वह जड़ का कार्य नहीं। **अपने चेतनरूप भावकर्मों का–कर्ता मानो,...**

और भेदविज्ञान होने के बाद... राग से भिन्न द्रव्यदृष्टि हुई, उसके कारण से द्रव्यस्वभाव तो शुद्ध पवित्र आनन्दकन्द है। इस दृष्टि की प्रधानता से धर्म हुआ, तब से **शुद्ध विज्ञानघन,...** शुद्ध विज्ञानघन हुआ। **समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित,...** तब सब कर्ता से रहित है। यह भी अपेक्षा से है। धर्मी सर्वथा कर्ता से रहित है नहीं। उसे जब तक राग है, वीतराग नहीं, तब तक राग का कर्ता परिणमनरूप से है। यह प्रवचनसार (में) नय अधिकार (में) कर्ता-भोक्ता का अर्थ (किया है)। ज्ञानी को कर्ता-भोक्ता (कहा है)। अरे! मुनि को कर्ता-भोक्ता (कहा है)। आहाहा! समझ में आया?

तब तक तो उसे रागादि का–अपने चेतनरूप भावकर्मों का–कर्ता मानो, और भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन,... भगवान आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है। **समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित,...** है। समस्त कर्तृत्वभाव से रहित है। यह अपेक्षा है। यह अपने आया था। शुभाशुभ करनेयोग्य है, यह आया था न कहीं? शुभाशुभ करो। नियमसार में आया था। शुभाशुभ करना। शुभाशुभ करनेयोग्य है। (अर्थात् कि) पर्याय में होते हैं, ऐसा। धर्मी को भी पर्याय में शुभाशुभभाव होते हैं, ऐसा।

यहाँ कहते हैं कि धर्म जहाँ हुआ, अपना आत्मा राग से भिन्न पूर्णानन्द का नाथ, जिसने राग का स्पर्श नहीं किया, ऐसी चीज़ की दृष्टि—सम्यग्दर्शन हुआ, सम्यक् अर्थात्

जैसी चीज़ है, वैसा दर्शन हुआ, उसे एक अपेक्षा से विकार का कर्ता नहीं कहा जाता। ज्ञाता-दृष्टा एक अपेक्षा है। सब अपेक्षा से नहीं। आहाहा!

शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो। जाननेवाला-देखनेवाला आत्मा है, दूसरी कोई चीज़ है नहीं। समकिती जीव—सम्यग्दर्शन होता है, चौथे गुणस्थान में आत्मा का अनुभव (हुआ), तब से आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। एक विकल्प का भी कर्ता नहीं। आहाहा! यह दृष्टि के जोर की बात है। पर्याय की अपेक्षा लें तो जितने विकल्प उठते हैं, उतना परिणमन है। जितने विकल्प उठते हैं, उतना परिणमन है। यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा से कहा है कि उसे बिल्कुल विकार नहीं है। **एक ज्ञाता ही मानो।** भगवान आत्मा जाननेवाला-देखनेवाला अकेला चैतन्यस्वरूप है। राग और दया-दान के विकल्प से भिन्न है, ऐसा सम्यग्दृष्टि होने पर जानो। राग मेरा है, ऐसा न मानो। आहाहा! राग करनेयोग्य है, ऐसा न मानो। आहाहा! तो परचीज़ करनेयोग्य है, ऐसा तो है ही नहीं।

कल यह बात हुई थी न? प्रेमविजय के साथ बात हुई थी। परमाणु का न कर सके, शरीर का कर सकता है। स्कन्ध का (कर सकता है)। अधिक परमाणु हों, उनका अपन कर सकते हैं। देखो! ऐसा कर सकते हैं। एक परमाणु का नहीं कर सकते। अरे रे! भगवान! ऐसी कौन जाने कैसे यह जैन की पूरी लाईन टूट गयी। सब मानने लगे, हम धर्मी हैं, जैन हैं, जैन हैं। जैन की गन्ध की खबर नहीं होती कि क्या जैन कहते हैं? बहुत...

स्वयं बात बाहर निकाली कि कर्म का कर्ता आत्मा नहीं और विकार का कर्ता कर्म नहीं। (तो कहे), नहीं, ऐसी बात किसने की है? हमारे गुरु ने कही नहीं। गुरु सुनते थे, गुरु सुनते थे। विरोध नहीं करे। भद्रिक थे। सुनते थे। पाठ देकर बात करता था। भगवती का तीसरा शतक, यह पाठ (रहा)। संशय का करनेवाला जीव है। संशय अर्थात् मिथ्यात्व, उसका करनेवाला कर्म नहीं। यह देखो! भगवती का तीसरा शतक। यह तो (संवत्) १९७१ के वर्ष की (बात है)। आहाहा! भगवतीसूत्र पढ़ता था। तब - १९७१। चार महीने एक बार खाना, दूसरे दिन उपवास, तीसरे दिन एक बार। (ऐसे) चार महीने।

श्रोता : उपधान कहलाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपधान कुछ वे लोग मानते नहीं। वर्षा कम, तब वहाँ वर्षा कम

थी। फिर पहले से उपवास लगाये तो पूरा चातुर्मास (किये)। एक दिन आहार, एक बार खाना, दूसरे दिन उपवास, तीसरे दिन एक बार (ऐसे) चारों महीने। परन्तु तब उम्र पच्चीस वर्ष की। आहाहा!

भेदविज्ञान होने के बाद शुद्ध विज्ञानघन, समस्त कर्तृत्व के भाव से रहित, एक ज्ञाता ही मानो; इस प्रकार एक ही आत्मा में कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व-ये दोनों भाव... देखो! एक ही आत्मा में कर्ता और अकर्ता दोनों (घटित) होते हैं। अज्ञान अवस्था में कर्ता है, ज्ञान अवस्था में कर्ता नहीं, यह बात यहाँ लेते हैं। **दोनों भाव विवक्षा...** कहने की अपेक्षा। विवक्षावश अर्थात् यह किस अपेक्षा से कहना है, यह कहने की अपेक्षा से। **विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है;...** स्यात्—कथंचित् कर्ता, कथंचित् कर्ता नहीं, ऐसा मत तो वीतराग का है। जैन के अतिरिक्त ऐसा मत किसी का नहीं है। आहाहा! वाँचनकार भी कितनों ने निर्णय किये बिना... मनोहरलाल वर्णी ने प्रश्न किया था? कि इस राग को पुद्गल कैसे कहा? शास्त्र में राग को पुद्गल कहा है। कहा, वह जैसे पुद्गल भिन्न है, वैसे यह भिन्न हो (जाता है) और अकेला आनन्द रहेगा, इस अपेक्षा से कर्म का वह कार्य है, ऐसा कहकर निकाल डाला। जयपुर में प्रश्न (हुआ था)। पढ़े हुए थे, वाँचन बहुत था परन्तु अन्दर कुछ अन्तर था।

ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है;... कैसा स्याद्वाद? अज्ञानभाव से कर्ता है और ज्ञानभाव से कर्ता नहीं, ज्ञाता है—ऐसा मत स्याद्वाद जैन का है। आहाहा! पहले तो विचार भी कहाँ किया हो? जयनारायण! णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं करे और सामायिक करके बैठे। धूल में भी नहीं। एक भी तत्त्व की खबर नहीं होती, श्रद्धा की खबर नहीं होती। वह तो मिथ्यात्व है। अनादिकाल से यह दशा तो है। वह की वह दशा यहाँ जैन के वाड़ा में रखी। परन्तु जैन परमेश्वर क्या कहते हैं और उनका क्या कथन है, उसका विचार करने का तो अवसर नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जैन क्या है, यह चलता ही नहीं, सम्प्रदाय प्रमाण सब किया करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब सम्प्रदाय प्रमाण करे। कुल में उपजे और जिसका वास-परिचय रहा, वह मान्यता (की)। क्या सत्य है? क्या असत्य है, यह विचार करने का (अवसर नहीं)। आहाहा! बड़े बैरिस्टर भी उसमें पड़े हैं न। आहाहा!

ऐसे स्याद्वाद मत जैनों का है;... कैसा ? कि जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं, तब तक आत्मा अज्ञानभाव से विकार का कर्ता है और जब विकार से आत्मा भिन्न है, ऐसा धर्म हुआ, अनुभव हुआ, तब उसका कर्ता नहीं है। ऐसा कर्ता-अकर्ता दोनों लागू पड़ते हैं। तीसरी अपेक्षा है परन्तु वह अभी यहाँ नहीं है। तीसरी यह कि ज्ञानी को ज्ञान भी है और राग का कर्ता भी है, परन्तु वह ज्ञानदृष्टि से। यह द्रव्यदृष्टि से बात है। ज्ञानदृष्टि से तो जितना राग का अंश होता है, उसका कर्ता आत्मा ही है। पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? आहाहा ! धर्मी जीव को भी ज्ञाता-दृष्टा आत्मा का भाव होने पर भी जितने अंश में राग और द्वेष आदि होते हैं, उनका कर्ता आत्मा है। आहाहा !

मुमुक्षु : अपना दोष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोष अपना है, पर्याय अपनी है, अपनी सत्ता में है, अपने अस्तित्व में यह दोष है, कहीं कर्म के अस्तित्व में है ? आहाहा ! परन्तु इतना सब विचार करने का समय कहाँ मिले ? दामजीभाई ! धन्धा करना या लड़के सम्हालना ? सिखलाना, विद्यालय भेजना, स्लेट देना, पुस्तक देना। मास्टर ठीकठाक कहकर समझावे, लड़के को पढ़ाना चाहिए या नहीं ? आहाहा !

यह भी एक बार हमारे अन्त-अन्त में विद्यालय में हुआ था। विद्यालय में एक गणित का विषय आया। उस गणित के विषय में मेरा ध्यान बहुत नहीं। वैसे कहलाता था सामने, पहले नम्बर में, सबमें पहला नम्बर। छठी कक्षा, सातवीं कक्षा, पाँचवीं कक्षा... सबमें पहला नम्बर। उसमें गणित में ख्याल बहुत नहीं। उसमें एक व्यक्ति ने चुगली की कि महाराज ! यह तो जैनशाला में जाता है, इसलिए वहाँ ध्यान है, इसलिए इसमें ध्यान नहीं रखते। गणित का क्यों नहीं आता ? होशियार व्यक्ति है न ! कहा, भाई ! जैनशाला तो पहली है। इस जैनशाला के लिये फिर कक्षा छोड़ दी। मास्टर ऐसे अलग पड़े और ऐसा कहे तो हमें पढ़ना नहीं। हमें जैनशाला का पढ़ना है। जैनशाला का पढ़ने जाते समय मिले तो यह है। वास्तविक चीज़ तो वह है। तब हुआ था, हों ! मास्टर के साथ। आहाहा ! लोगों को प्रेम (था)। ञ्चया चीज़ है ? राग क्या चीज़ है ? द्वेष क्या चीज़ है ? आहाहा !

यहाँ तो परमात्मा के प्रति प्रेम करे तो वह राग है। आहाहा ! तीन लोक के नाथ

अरिहन्तदेव परमेश्वर यह फरमाते हैं कि हमारे प्रति तेरा लक्ष्य जाएगा तो तुझे राग होगा, धर्म नहीं। धर्म तो तेरे स्वद्रव्य का आश्रय होगा तो धर्म होगा। स्वआश्रय, स्व क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं तो आश्रय कहाँ से लेगा? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **विवक्षावश सिद्ध होते हैं। ऐसा स्याद्वाद मत जैनों का है; और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है,...** जैन ऐसा कहते हैं, इसलिए कहीं घर का कहते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! वस्तु का स्वभाव भी ऐसा है। आहा! चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड अपने को भूले तो विकार करे और अपने को जाने तो विकार छोड़े। यह तो वस्तु ही ऐसी है। जैन परमेश्वर कहते हैं, इसलिए मानना—ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! कहा? देखा? **और वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है,...** कल्पना नहीं। कल्पना से यह बात नहीं चली, वस्तु का स्वभाव है। आहाहा!

ऐसा (स्याद्वादानुसार) मानने से पुरुष को संसार–मोक्ष आदि की सिद्धि होती है;... संसार भटकने की, दोष की सिद्धि भी कथंचित् अज्ञानभाव से करे तो सिद्धि होती है, ज्ञानभाव से न करे तो मुक्ति होती है, ऐसे सिद्धि होती है। स्याद्वाद से सिद्धि होती है। **पुरुष को संसार–मोक्ष आदि की सिद्धि होती है;...** क्या (कहा)? संसार अर्थात् आत्मा में विकार है, वह संसार है, वह स्वयं कर्ता है तो वहाँ सिद्ध (साबित) होता है और अपने पुरुषार्थ से विकार से रहित होना और अकेला मोक्ष, निर्मल पर्याय प्रगट करना, वह मोक्ष है, तो इस प्रकार संसार और मोक्ष है। आहाहा! कितना याद रखना? और कितना फेरफार? वाड़ा में जन्मे... स्थानकवासी में तो स्थानकवासी, श्वेताम्बर में तो श्वेताम्बर, दिगम्बर में तो दिगम्बर, तेरापन्थी में तो तेरापन्थी (माने)। चौथा एक पन्थ है न? स्थानकवासी, तेरापन्थी, तुलसी। अभी जैन में चार बड़े सम्प्रदाय हैं। जहाँ-जहाँ जन्मे, उसे मानकर पड़े सो पड़े, जिन्दगी निकाल डालते हैं। आहाहा! तेरापन्थी है न, कहा है न! आहाहा! तुलसी की और अलग जाति है। उसने तो सब कर्तृत्व, कर्तृत्व ही लगाया है। उसके एक गुरु भिक्षु थे। करना, ऐसा करना, ऐसा करना, वैसा करना। लौकिक लाईन हो गयी। आहाहा!

सर्वथा एकान्त मानने से सर्व निश्चय–व्यवहार का लोप होता है। एकान्त मानने

से विकार अपने में होता है, कर्म तो व्यवहार निमित्त है। इसमें एकान्त से कर्म से विकार माने तो निश्चय का लोप होता है और अकेला व्यवहार सिद्ध होता है। समझ में आया? अपने में विकार होता है, वह विकार कर्म से होता है, ऐसा माने तो निश्चय का लोप होता है। पर्याय अपनी है न? अपनी पर्याय है, वह निश्चय है। पर्याय बिना का द्रव्य तो कभी होता नहीं। उसे यहाँ पर्याय निश्चय कहना है। आहाहा! और पर्याय में निमित्त है, उसे व्यवहार कहते हैं। आहाहा! **व्यवहार का लोप होता है।** आहाहा! यह अधिकार यहाँ (पूरा) हुआ।

कलश - २०६

आगे की गाथाओं में, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धमतियों की सर्वथा एकान्त मान्यता में दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार जिस प्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है उस प्रकार कहेंगे। उन गाथाओं का सूचक काव्य प्रथम कहते हैं–

(मालिनी)

क्षणिक-मिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं,
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः,
स्वय-मय-मभिषिञ्चश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

श्लोकार्थ : [इह] इस जगत में [एकः] कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) [इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा] इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके [निज-मनसि] अपने में [कर्तृ-भोक्त्रोः विभेदं विधत्ते] कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं (-कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं); [तस्य विमोहं] उनके मोह

को (अज्ञान को) [अयम् चित्-चमत्कार: एव स्वयम्] यह चैतन्य चमत्कार ही स्वयं [नित्य-अमृत-ओघै:] नित्यतारूप अमृत के ओघ (-समूह) के द्वारा [अभिषिञ्चत्] अभिसिञ्चन करता हुआ, [अपहरति] दूर करता है।

भावार्थ : क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं, अर्थात् वे यह मानते हैं कि-प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे क्षण में नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि-हम उसे क्या समझायें? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा-कि जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है। प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इस प्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि-'जो प्रथम क्षण में था वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो, और समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि-'हे बौद्ध! तू यह तो तर्क (-दलील) करता है, उस सम्पूर्ण तर्क को करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं? और तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है, ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं, ऐसा मानकर तर्क करता है? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्क को तो कोई आत्मा सुनता नहीं है; तब फिर तर्क करने का क्या प्रयोजन है*? यों अनेक प्रकार से विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा को क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञान को भ्रम कह देना, वह यथार्थ नहीं है। इसलिए यह समझना चाहिए कि-आत्मा को एकान्तत: नित्य या एकान्तत: अनित्य मानना वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं, वही सत्यार्थ है'।।२०६।।

* यदि यह कहा जाए कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ता जाता है' तो यह भी यथार्थ नहीं है; यदि आत्मा नष्ट हो जाए तो आधार के बिना संस्कार कैसे रह सकता है? और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाए, तो भी उस आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में प्रविष्ट हो जाऐं, ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।

कलश - २०६ पर प्रवचन

आगे की गाथाओं में, 'कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है' ऐसा माननेवाले क्षणिकवादी बौद्धमतियों की सर्वथा एकान्त मान्यता में दूषण बतायेंगे और स्याद्वादानुसार जिस प्रकार वस्तुस्वरूप अर्थात् कर्ताभोक्तापन है, उस प्रकार कहेंगे। उन गाथाओं का सूचक काव्य प्रथम कहते हैं– काव्य है, २०६।

क्षणिक-मिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं,
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम्।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः,
स्वय-मय-मभिषिञ्चश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

आहाहा! इसका अर्थ—श्लोकार्थ। **इस जगत में कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) इस आत्मतत्त्व को क्षणिक...** मानता है। क्या कहते हैं? बौद्धमत है, बड़ा बौद्धमत है। करोड़ों मनुष्य उसमें हैं। वे आत्मा को क्षणिक मानते हैं। क्षणिक—एक समय आत्मा रहे, दूसरे समय वह नाश हो जाए। वे बौद्धमति तो हैं परन्तु जैन में भी अकेली पर्याय को मानते हैं और द्रव्य को नहीं मानते, वे भी बौद्धमति हैं। क्या कहा? बौद्धमति पर्याय को—अवस्था को ही मानते हैं। पर्याय बदलती है, द्रव्य है, उसे नहीं मानते। पूरा द्रव्य है और ऊपर यह पर्याय पलटती है, उस अकेली पर्याय को मानते हैं, द्रव्य को नहीं। इसी प्रकार जैन में भी ऐसा माननेवाले हैं। जिसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर है, राग और द्वेष, दया और दान, वे सब पर्यायबुद्धि-बौद्धमति हैं। क्षणिक को माननेवाले हैं परन्तु उस राग से रहित त्रिकाल ध्रुव आनन्दकन्द प्रभु है, उसे नहीं मानते। वे क्षणिक बौद्धमति हैं। आहाहा! कहा था एक बार, हों! जैसा बौद्ध मानते हैं, वैसा ही यह मानते हैं तो ये भी बौद्धमति ही हैं। एक ग्रन्थ में आता है। आहाहा!

इस जगत में कोई एक तो (अर्थात् क्षणिकवादी बौद्धमती) इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके... पूरा एक मत है। परन्तु बहुत सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो जिसकी दृष्टि अभी द्रव्यदृष्टि नहीं हुई, त्रिकाली ज्ञायकभाव अनादि-अनन्त सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय

और दृष्टि नहीं हुई, उनकी अनादि से पर्याय में लीनता है और राग में लीनता है तो वह क्षणिक (माननेवाला) ही है। वह बौद्धमति की जाति का है। क्या कहा, समझ में आया? बौद्धमति है, वह पर्याय को ही मानता है; द्रव्य को नहीं, त्रिकाली को नहीं मानता। क्योंकि पर्याय बदल जाती है, उतना एक-एक समय का आत्मा है। दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा। उसमें जैन भी; जैन क्या, पूरी दुनिया वर्तमान पर्याय को मानती है और राग को मानती है, परन्तु पर्याय के पीछे भगवान द्रव्य त्रिकाल आनन्द का नाथ है, नित्यानन्द प्रभु है, उसकी तो दृष्टि करते नहीं और वर्तमान एक समय की पर्याय में रमते हैं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, ऐसा किया और ऐसा किया और यह सब तो पर्याय की बात है। उसे बौद्धमति कहा है। शास्त्र में है। जैन में भी उन्हें बौद्धमति कहा है। क्षणिकवादी माननेवाले सब बौद्धमति हैं।

भगवान अन्दर द्रव्यस्वभाव चैतन्यमूर्ति भगवान का अनुभव नहीं, वेदन नहीं और अकेले राग का वेदन है, द्वेष का वेदन है। राग-द्वेष की दृष्टि तो पर के ऊपर जाती है तो वह सब क्षणिकवादी हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्यायमूढ़ा हि परसमया, कहा है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्यायमूढ़ वह तो शब्द है, वह तो द्रव्य को नहीं मानता। यह तो बहुत बार कहा गया है। प्रवचनसार।

यहाँ तो यह कहना है कि बौद्ध की बात कहते हैं परन्तु बौद्ध की क्षणिक (मान्यता की भाँति) सब आत्मायें अनादि से पर्यायबुद्धि है। पूरी दुनिया के जीवों को पर्यायबुद्धि है। द्रव्यबुद्धि तो अन्दर (है नहीं) क्योंकि पर्याय के पीछे अन्दर द्रव्य अनन्त आनन्द से भरा है, अनन्त ज्ञान से भरपूर है, इसकी खबर नहीं। ऊपर से अकेली पर्याय की बातें करे, बस! वे सब बौद्ध—क्षणिकवादी हैं, वे जैन नहीं। जैन में जन्मे हों तो भी जैन नहीं। आहाहा!

कोई एक तो इस आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके अपने में कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं... अर्थात्? इस आत्मा की पर्याय जो करे; आत्मा तो माने नहीं, पर्याय को माने; इसलिए जो पर्याय करे, वह पर्याय नहीं भोगती। अर्थात् कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा, ऐसा अज्ञानी मानता है। एक पर्याय करे, उसे दूसरी पर्याय भोगती नहीं है, इसलिए

भोक्ता नहीं। इसलिए कर्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा। परन्तु आत्मा ? आत्मा पर्याय में करे, वह आत्मा पर्याय में भोगे। कर्तृत्व-भोक्तृत्व पर्याय में होता है या कर्तृत्व-भोक्तृत्व द्रव्य में होता है ? तथापि वह पर्याय द्रव्यरहित हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा ! पर्याय तो द्रव्य के ऊपर तैरती है। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई !

आत्मतत्त्व को क्षणिक कल्पित करके अपने में कर्ता और भोक्ता का भेद करते हैं... 'गोरण गाडा भरे' ऐसा कितने ही नहीं कहते ? यह बहुत पाप करते हो, परन्तु मरकर कहाँ जाओगे ? तब ऐसा जवाब दे, 'गोरण गाढा भरे' उस काल में क्या होगा, यह अपने को क्या काम है ? अभी मजा कर लो न ! मरने का, मरने का मजा। आहाहा ! अरे रे ! चैतन्य जीवन अन्दर आत्मा त्रिकाल, वही वस्तु है।

नियमसार में शुद्ध (भाव) अधिकार, ३८ गाथा में तो यह कहा कि त्रिकाली जो शुद्ध है, वही आत्मा है। पर्याय को वहाँ (गिना नहीं है)। पर्याय तो मानती है। परन्तु मानती है इसे (ध्रुव को)। आहाहा। त्रिकाली द्रव्य जो वस्तु है, वही शुद्ध आत्मा है और वही निश्चय आत्मा है, ऐसा वहाँ कहा है। निश्चय आत्मा तो वही है। अब इसकी तो खबर भी नहीं होती। आहाहा ! जैन में जन्मे तो भी पर्याय और राग और द्वेष, उसमें कहीं फला और मिला और उसी और उसी में रुका। वह तो पर्यायबुद्धि है। आहाहा ! बौद्धमति है।

(-कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, ऐसा मानते हैं);... क्या कहते हैं ? यह पर्याय अन्य है और इस पर्याय को मानता है। एक समय की पर्याय करे, उस समय की भोगे नहीं, ऐसा वह मानता है। वास्तव में तो कर्ता-भोक्ता एक समय में साथ में है। एक समय में जो राग करता है, उसका वेदन भी वहाँ ही है। निश्चय से तो ऐसा है। आहाहा ! परन्तु इस आत्मा को त्रिकाल न मानकर, एक पर्याय को कर्ता माने और दूसरी पर्याय को भोक्ता माने। वह पर्याय कर्ता, वही पर्याय भोगे, ऐसा नहीं। अर्थात् कर्ता भिन्न-भोक्ता भिन्न। आहाहा ! आत्मा ने वह पर्याय की और आत्मा ने भोगी, ऐसा नहीं मानता। आहाहा ! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई ! अभी पहले जैनधर्म समझना ही कठिन है। बात ही मिलती नहीं। अभी तो बहुत बात यह करो, यह करो, यह करो। करो और करो और मरो। कर्ता होकर मर जाता है। आहाहा !

यह आत्मा पर्याय में जो कर्ता है, वह आत्मा अलग और उस पर्याय को दूसरी

पर्याय भोगती है, वह आत्मा अलग, ऐसा क्षणिकवादी मानता है। ऐसा नहीं है। आहाहा!... झवेरचन्दभाई हैं, वे वहाँ पढ़ते हैं। होशियार व्यक्ति, आस्तिक और मस्तिष्कवाला। उनका ही सगा भाई अत्यन्त नास्तिक। यह देह जाने के बाद क्या होगा, यह और क्या? एक व्यक्ति आया था। लोगों ने कहा, यह व्यक्ति अत्यन्त (नास्तिक)। है करोड़पति। छह-सात भाई सब करोड़पति, उनमें झवेरचन्दभाई हैं, वे विशिष्ट वाँचनकार, चर्चा करनेवाले, रस लेनेवाले हैं। वह तो एक बार आया था, बैठा था। मैंने कहा, कौन है? कुछ मुँह में उत्साह... दम दिखता नहीं। सुनने में कुछ उत्साह... दम दिखता नहीं। उत्साह या ख्याल या ध्यान रखना, (यह कुछ नहीं)। इसलिए मैंने कहा, यह कौन है? पीछे से कहा, यह झवेरचन्द का भाई है, नास्तिक, एकदम नास्तिक है। कुछ मानना नहीं। नहीं परलोक, नहीं यह लोक, कुछ है ही नहीं। अभी खाओ, पीओ और मजा करो, बस! आहाहा! करोड़ोंपति है। उसका छोटा भाई ऐसा आस्तिक। झवेरचन्द स्वयं वाँचनकार। बहुत अच्छे प्रश्न पूछता। बहुत नरम व्यक्ति, नरम व्यक्ति। झवेरचन्द... झवेरचन्द है। वह पहले आया था, राजकोट भी आया था। झवेरचन्द राजकोट आया था। राजकोट आया था। यहाँ आया था? यह खबर नहीं। राजकोट आया था। दोनों सगे भाई, एक पूरा नास्तिक और एक पूरा आस्तिक। आत्मा की जाति अलग, उसे क्षया? भिन्न-भिन्न हैं। वैसे इकट्ठे हैं, वैसे अभिप्राय भिन्न हैं। आहाहा!

अरे! जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है। यह है... यह है... यह जानता कौन है? प्रभु! जिसके अस्तित्व में-सत्ता में यह ज्ञात होता है, उसकी ही मुख्यता है। यह है। वह तो उसमें है। उसके कारण यह नहीं और इसके कारण वह नहीं। वह चीज़ इसमें ज्ञात होती है, इस ज्ञानसत्ता में ज्ञात होती है। ज्ञान का अस्तित्व जो चैतन्यमूर्ति प्रभु, उसके अस्तित्व में यह है, वह ज्ञात होता है। इसलिए वह अस्तित्व यहाँ नहीं है, उसके अस्तित्व सम्बन्धी का ज्ञान और अपने अस्तित्व का ज्ञान, वह अपना अपने में है। आहाहा! लोग कहाँ जाए?

यह पुस्तक दिखती नहीं। पुस्तक की अस्ति ज्ञान के अस्तित्व में दिखती है। पुस्तक तो जड़ है। आहाहा! वह तो जड़ है। अपने जो चेतन की अस्ति है... आहाहा! श्रीमद् में कहा है न 'कभी कल्पना दृढ़ करे, न न नास्ति विचार, ए ज सूझवे एम के खरो

छे निर्धार'।'मैं नहीं हूँ', बस! यह 'मैं नहीं हूँ', यह किसमें निर्णय किया? मैं हूँ, यह जड़ में निर्णय होगा? मैं नहीं, यही 'है', ऐसा निर्णय हुआ। मैं अनादि नहीं, यही अन्दर से कहता है कि अनादि है। आहाहा! अरे रे! लोगों को कहाँ जाना? इसके बिना जाने कौन? अपनी अस्ति के बिना-वह चीज़ है, उसे जाने कौन? जिसकी—चैतन्य की अस्ति में ज्ञात होता है, वह वस्तु नहीं अथवा वह क्षणिक है... आहाहा! तो पहले के ज्ञानवाला ज्ञान वर्तमान ज्ञान के साथ जोड़ता है कि मैंने पहले यह देखा था, वह आज ऐसा है। पहले का ज्ञान और इस ज्ञान का जुड़ान, वह तो ध्रुव हो गया। पर्याय क्षणिक नहीं रही। आहाहा!

पहले के ज्ञान में जो जाना हुआ, उसी ज्ञानसहित जाना कि इस गाँव में मैं आया था। इस गाँव में मैं दस वर्ष पहले आया था। इस ज्ञान को वर्तमान ज्ञान के साथ जुड़ान हुआ तो ज्ञान तो अन्दर नित्य रहा। आहाहा! परन्तु ऐसे विचार कौन करे? होना होगा, वह होगा। क्या होना होगा वह होगा? चौरासी के अवतार में भटक मरेगा, बापू!

कल नहीं सुना? मुम्बई का। क्या उसका नाम? नौतमभाई। उनकी दुकान है लाखोंपति व्यक्ति है। कोई जैन माल लेने आया होगा। जैन बैठा था। ऊपर से ताम्र के पत्र गिरे। मर गया। अपने मन्दिर के साथ में है। मुम्बई में मन्दिर के साथ दुकान है। नौतमभाई नहीं? आहाहा! बड़े भाई चन्द्रकान्त। मकान है। कल बात सुनी थी। कोई बेचारा जैन माल लेने आया। ऐसे बैठा, वहाँ ताँबे के पत्र गूंथे हुए थे, वे सिर पर पड़े। मर गया। उसके लड़के का कुछ पैर टूट गया। नौतम के लड़के को। कब क्या हो? यह जड़ की अवस्था है। जड़ को और चैतन्य को क्या सम्बन्ध है? आहाहा! जड़ तो क्षणिक है, वह पलटा मार जाता है। आत्मा नित्य है, वह वहाँ से निकलकर अन्यत्र जाता है। आहाहा!

क्रियाकाण्ड के आडम्बरवालों को यह सब कठिन लगता है। यह करना और यह करना और यह करना। परन्तु तू चीज़ कौन है? उसमें क्या पलटा मारता है? पलटा हो, वह पर्याय है और वस्तु जो कायम रहती है, वह ध्रुव नित्य है। दोनों होकर आत्मा है। अकेली पर्याय को अनादि से मानता है। तेरी नजर अन्दर में नहीं जाती। जो नित्य वस्तु है, ध्रुव है, शाश्वत है, उसके ऊपर नजर नहीं जाती और वर्तमान अवस्था पलटती, पलटती, पलटती जो क्रिया, उस अवस्था के ऊपर तेरी नजर घूमती है। आहाहा! वह पलटती

किसके ऊपर पलटती है ? वह पलटती किसके ऊपर है ? उस ध्रुव की इसे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, कर्ता-भोक्ता का भेद मानता है। इस भव में जो करें, वह दूसरे भव में भोगा जाए, उसमें आत्मा वह का वह नहीं। पर्याय भोगती है। आत्मा शाश्वत् नहीं रहता, ऐसा मानता है। आहाहा! **उनके मोह को (अज्ञान को) यह चैतन्य चमत्कार ही स्वयं...** ऐसा माननेवाले को चैतन्य चमत्कार कि जाननेवाला मैं हूँ, मैंने कल जाना था, वही मैं आज पर को जानता हूँ। तो कल मैंने जाना था, वही मैं पर को जानता हूँ, तो यह तो नित्य हो गया। कल और आज वस्तु नित्य हो गयी। आहाहा! उसके मोह को चैतन्यचमत्कार ही नाश करेगा।

स्वयं नित्यतारूप अमृत के ओघ (-समूह) के द्वारा... कल मैंने इस व्यक्ति को देखा था वह मैं आज फिर से देखता हूँ तो उसका यह जो ज्ञान कल का था, वह आज ज्ञान है, तो वह ज्ञान तो कायम रहा, क्षणिक नहीं रहा। अमृत का समूह चैतन्य चमत्कार द्वारा **अभिसिञ्चन करता हुआ, दूर करता है।** अज्ञान को दूर करता है। लो! विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०२, श्लोक-२०६-२०७, गाथा ३४५-३४८ बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण ६
दिनाङ्क - ०४-०६-१९८०

समयसार, २०६ (श्लोक का) भावार्थ। **क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं,...** कल कहा था, वास्तव में तो पर्यायबुद्धि है, वे सब क्षणिकवादी हैं। (एक) समय की पर्याय को ही मानते हैं और उसके ऊपर ही उनकी अनादि से पूरी लीनता है। पर्याय के पीछे अन्दर द्रव्य है, उसकी दृष्टि नहीं, वे सब बौद्ध / क्षणिकवादी हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **क्षणिकवादी कर्ता-भोक्ता में भेद मानते हैं, अर्थात् प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे क्षण में नहीं है।** बौद्ध की मान्यता है न? **आचार्यदेव कहते हैं कि-हम उसे क्या समझायें? यह चैतन्य ही उसका अज्ञान दूर कर देगा...** आहाहा! शाश्वत् चीज़ है, वह उसे लक्ष्य में आयेगी तो उसकी भूल निकल जाएगी। **कि जो (चैतन्य) अनुभवगोचर नित्य है।** कल जो जानने में आया था, वह ज्ञान में आज जानने में आया तो यह तो नित्य ज्ञान है।

प्रथम क्षण में जो आत्मा था वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ';... आहाहा! ऐसे बौद्ध और क्षणिकवाद कहे हैं परन्तु वास्तव में तो अनादि से पर्यायबुद्धिवाले क्षणिक बौद्धमति ही हैं। पर्याय के ऊपर ही नजर है और पर्याय से आगे चलने पर राग, दया, दान, और विकल्प के ऊपर नजर है, तो वे क्षणिक को ही माननेवाले हैं। नित्य त्रिकाल ध्रुवद्रव्य है, वह उनकी दृष्टि में नहीं आता। आहाहा! इसलिए जैन सम्प्रदाय में भी पर्याय को ही माननेवाले हैं, भाषा भले ऐसी कहे कि द्रव्य है, वह तो धारणा में है। अन्तर में यथार्थ द्रव्य का भान और प्रतीति नहीं हुई तो वे क्षणिक को ही मानते हैं। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है।

द्रव्य जो वस्तु है, ज्ञायकस्वभाव नित्य है, उसका जहाँ ज्ञान नहीं हुआ, भान नहीं हुआ, तो वे क्षणिक को—क्षणिक पर्याय को ही मानते हैं। धारणा में ऐसा ले लेते हैं कि पर्याय क्षणिक है, द्रव्य नित्य है परन्तु अन्दर भरोसे में नहीं आता। नित्य का विश्वास अनुभव के बिना नहीं आता। आहाहा!

मुमुक्षु : गृहीत मिथ्यात्व छूट गया न?

पूज्य गुरुदेवश्री : गृहीत मिथ्यात्व है, वही मिथ्यात्व है। क्षणिक पर्याय को ही मानता है और अन्तर भगवान ध्रुव को नहीं जानता (तो वह मिथ्यादृष्टि है)। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया, वह भी पर्याय को ही मानता था। शास्त्र पढ़ता था, उसमें उसे आया था। शास्त्र पढ़ने से ग्यारह अंग में आया था कि आत्मा नित्य है और अनित्य दोनों है। ऐसी धारणा की थी परन्तु अनुभव नहीं किया था। ख्याल में नहीं आया था कि यह नित्य है। ज्ञान में यह नित्य है, ऐसा ख्याल में आये बिना नित्य की प्रतीति कैसे हो? आहाहा!

जिस चीज़ का विश्वास, प्रतीति करनी है, वह चीज़ ज्ञान में ज्ञेयरूप से भासित न हो तो ऐसी प्रतीति कैसे करेगा? तो किसकी प्रतीति करना? वह तो ऊपर-ऊपर से भाषा करता है, वह कहीं वास्तविक नहीं है। आहाहा! इसलिए क्षणिकवादी बौद्ध की भाँति दृष्टि जब तक पर्याय के ऊपर है और द्रव्य की दृष्टि नहीं करता तो वह पर्यायबुद्धिवाला क्षणिकवादी में ही आता है। सब बौद्धमति है। आहाहा!

मुमुक्षु : बौद्धमति को भगवान के वचन पर श्रद्धा नहीं, हमें तो श्रद्धा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा है, वह तो धारणा में श्रद्धा है। धारणा में है कि यह ध्रुव है और यह क्षणिक है। यह नित्य है, ऐसा दृष्टि में-ज्ञान में ज्ञेयरूप से आया नहीं, इसके बिना यह नित्य है, ऐसा कैसे माना? कायम रहता है, ऐसा माना, परन्तु वह चीज़ कायम रहती है, उसके अनुभव बिना ज्ञान और आनन्द धारा दृष्टि में आये बिना, वेदन में आये बिना अन्दर उस चीज़ की प्रतीति कहाँ आयी? ग्यारह अंग भी पढ़ा, नौ पूर्व भी पढ़ा तो नौ पूर्व में यह बात नहीं आयी है? तथापि वहाँ रह सके नहीं। वह अस्थिरता में रहा, बस! नित्य में आया नहीं। अंग-पूर्व में आत्मा नित्य है, ध्रुव है, नित्यानित्य है, वह सब तो आया था, कहता भी था। आहाहा! निश्चय से अन्तर में आत्मा नित्य है, कायम है-ऐसा अन्तर ज्ञान में ज्ञेयरूप से आया नहीं तो जानने में आया नहीं। आहाहा! पुरुषार्थ कराते हैं, अकेली धारणा करके तो वह तो ग्यारह अंग में आ गया है। ग्यारह अंग में नहीं आया था? नित्यानित्य को नहीं धारा था? आहाहा! परन्तु नित्य का अनुभव करना चाहिए, वह नहीं किया। आहाहा!

यह कहते हैं कि **प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वही द्वितीय क्षण में कहता है कि**

'मैं जो पहले था वही हूँ'; इस प्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान... स्मरणपूर्वक, भानपूर्वक। प्रत्यभिज्ञान—प्रत्यभि अर्थात् यह जो कल था, वह आज है। जो मैं कल जाननेवाला था, वही मैं हूँ। ऐसा प्रत्यभिज्ञान त्रिकाली। **प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि–'जो प्रथम क्षण में था, वही मैं दूसरे क्षण में हूँ'...** जो प्रथम क्षण में था, वही मैं दूसरे क्षण में हूँ। **ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या...** है। बौद्धमति ऐसा कहते हैं। पहले क्षण में मैं था, वही मैं दूसरे क्षण में रहता हूँ, यह तो अविद्या, अज्ञान है—ऐसा बौद्ध कहते हैं। आहाहा!

था तो राजकुमार, त्यागी हुआ था, जंगल में रहता था परन्तु उसे फिर यह स्थिति खड़ी हो गयी। अन्दर नित्यानन्द प्रभु है, उसकी खबर नहीं। आहाहा! वस्तु तो वह है। क्योंकि जानने का कार्य जानने की पर्याय से नहीं करना है। जानने का कार्य द्रव्य से करना है, द्रव्य का कार्य करना है। समझ में आया? जानने का कार्य तो द्रव्य का करना है। जानने का कार्य जानने के कार्यरूप नहीं करना है। (पर्याय में पर्याय को जानने का कार्य नहीं करना है)। यह जानने का कार्य तो द्रव्य का करना है कि यह द्रव्य है, यह वस्तु है। ऐसा प्रयत्न तो कभी किया नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

प्रथम क्षण में जो आत्मा था, वही द्वितीय क्षण में कहता है कि 'मैं जो पहले था वही हूँ'; इस प्रकार का स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान आत्मा की नित्यता बतलाता है। यहाँ बौद्धमती कहता है कि–'जो प्रथम क्षण में था वही मैं दूसरे क्षण में हूँ' ऐसा मानना वह तो अनादिकालीन अविद्या... है। अनादिकालीन अविद्या से भ्रम है। आहाहा!

मुमुक्षु : आप ऐसा कहते हो कि बौद्ध को भ्रम है, बौद्ध आपको भ्रम कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दोनों परस्पर कहते हैं। आहाहा!

मूल चीज़ तो कायम रहनेवाली चीज़, वह चीज़ है। पर्याय तो एक समय की पलटती अवस्था है। पर्याय न मानो तो एकदम सांख्यमति हो जाए और द्रव्य को न माने तो बौद्धमति हो जाता है। आहाहा! द्रव्य और पर्याय दोनों का पर्याय से अनुभव करके, पर्याय में द्रव्य का अनुभव करके दोनों को माना, तब यथार्थ कहा जाता है। आहाहा! कितना पुरुषार्थ अपेक्षित है। अनन्त पुरुषार्थ! पर्याय को बदलना, अनन्त काल से परसन्मुख

का लक्ष्य है, अनादि काल की पर्याय का झुकाव, ढलान पर के ऊपर है, उसे एक क्षण में अन्तर में लाना, इसमें अनन्त पुरुषार्थ है। तब इसे नित्य और अनित्य दोनों का भान हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : संक्षिप्त में आत्मा का अनुभव करे तब...

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें नित्य और अनित्य को माना कहलाये। आहाहा! ऐसे तो नित्य की धारणा भले करे परन्तु फिर धारणा में भी यह लाना चाहिए। उसका अनुभव करे, तब नित्य को यथार्थ मानना चाहिए। पहले से धारणा में ऐसा लाना चाहिए। आहाहा!

मुमुक्षु : निर्णय का फल न आवे, तब तक निर्णय बराबर है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। अनुभव के बिना यथार्थ निर्णय नहीं होता। बात ऐसी है। सूक्ष्म बात है।

भगवान पूर्ण आनन्द द्रव्य, वह पर्याय में / एक समय की अवस्था में नहीं आता और एक समय की अवस्था के अतिरिक्त उसे दूसरा नहीं दिखता... आहाहा! तो यही पर्यायबुद्धि, क्षणिकबुद्धि, बौद्धबुद्धि हुआ। आहाहा! कहीं लिखा है, हों! आयेगा।

बौद्धमति कहता है कि **भ्रम है; यह भ्रम दूर हो तो तत्त्व सिद्ध हो,...** यह पहले क्षण में आत्मा है, वह दूसरे क्षण में आत्मा रहता है—ऐसा भ्रम है, वह भ्रम नाश हो, तब तत्त्व का ज्ञान होता है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! **समस्त क्लेश मिटे। उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि–** अब उसका उत्तर दिया जाता है।

'हे बौद्ध! तू यह जो तर्क (–दलील) करता है... तर्क—दलील करता है, यह आत्मा है, यह है, वह है, ऐसा तू तर्क—दलील करता है तो **सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है, ऐसा मानकर तू तर्क करता है...** पूरी दलील सम्पूर्ण मेरी बात सुननेवाला सुनता है, ऐसा मानकर तू सुनाता है? तेरा तर्क तो एक क्षणमात्र का है। वह तो एक क्षण में रहनेवाला रहा, दूसरे क्षण में तो रहा नहीं, तो तू किसे समझाता है? समझानेवाला वह का वह नहीं रहा तो तेरा सुनाने का अर्थ क्या? आहाहा! **एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा हैं?** तर्क करनेवाला एक ही आत्मा है या अनेक आत्मा है?

तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है... आचार्य जवाब देते हैं कि यदि एक

ही आत्मा है, अनेक आत्मा नहीं, अनेक है, एक ही है। पर्याय अपेक्षा से एक है, द्रव्य अपेक्षा से त्रिकाल है। **और तेरे सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है, ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं...** तेरी वार्ता एक (आत्मा) तो पूरा सुनता नहीं। पूरा सुने बिना उसे यथार्थ बोध नहीं होता। आहाहा! तू दूसरे को समझाता है, इस बात में ही यह आया कि वह नित्य है। नित्य है तो मेरी बात सुनता है। आहाहा! **सम्पूर्ण तर्क को एक ही आत्मा सुनता है, ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मा बदल जाते हैं, ऐसा मानकर तर्क करता है?** तू दूसरे को सुनाने को एक ही आत्मा के लिये सुनाता है या अनेक आत्मा के लिये सुनाता है? सुनाता है तो एक ही आत्मा एक क्षण में तो दूसरा हो जाता है, तो सुनने की बात तो आत्मा में आयी नहीं। पूरी सुनने की बात आत्मा बदल जाता है, उसमें तो आयी नहीं। आहाहा!

सम्पूर्ण तर्क एक ही आत्मा सुनता है, ऐसा मानकर तू तर्क करता है या सम्पूर्ण तर्क पूर्ण होने तक अनेक आत्मायें पलट जाते हैं, ऐसा मानकर तर्क करता है? यदि अनेक आत्मा बदल जाते हों तो तेरे सम्पूर्ण तर्क को तो कोई आत्मा सुनता नहीं है;... आत्मा बदल जाता है तो तेरी पूरी बात तो कोई सुनता नहीं। आहाहा! **तब फिर तर्क करने का क्या प्रयोजन है?** नीचे (फुटनोट में) है। **यदि यह कहा जाए कि 'आत्मा तो नष्ट हो जाता है किन्तु वह संस्कार छोड़ता जाता है'...** वे लोग ऐसा कहते हैं। पहला आत्मा नाश पाता है परन्तु दूसरे आत्मा में वह संस्कार छोड़ जाता है। संस्कार छोड़ जाता है तो दूसरे को संस्कार क्या? संस्कार भी नाशवान है। आत्मा नाश होने से संस्कार भी साथ ही क्षणिक नाशवान होते हैं। संस्कार भी क्षणिक है। क्षणिक दूसरे में आये कहाँ से? आहाहा!

आत्मा नष्ट हो जाए तो आधार के बिना संस्कार कैसे रह सकता है? आत्मा नाश को प्राप्त हो तो संस्कार का आधार कौन? किसके आधार से तूने संस्कार रखे और दूसरे को संस्कार दिये? इसका कोई आधार है या नहीं? आहाहा! **और यदि कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाए, तो भी उस आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में प्रविष्ट हो जाएें, ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।** तू नाशवान मानता है। एक आत्मा दूसरे को संस्कार दे। नित्य को तो तू मानता नहीं तो यह तो नित्य हो गया। संस्कार पहले थे, वही संस्कार दूसरे

में गये तो नित्य हो गया। आहाहा! **कदाचित् एक आत्मा संस्कार छोड़ता जाए, तो भी उस आत्मा के संस्कार दूसरे आत्मा में प्रविष्ट हो जाऐं, ऐसा नियम न्यायसंगत नहीं है।** तेरे हिसाब से। वह संस्कार छोड़ गया, यही नित्य है। पहले था, वह संस्कार छोड़ गया, वही नित्य है। आहाहा!

यों अनेक प्रकार से विचार करने पर तुझे ज्ञात होगा कि आत्मा को क्षणिक मानकर प्रत्यभिज्ञान को भ्रम... प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह है, वह कल था; कल था, वही यह है— ऐसे **प्रत्यभिज्ञान को भ्रम कह देना वह यथार्थ नहीं है।** आहाहा! कल जो गाँव देखा था, वह यह गाँव है। क्षणिक होवे तो यह सन्धि किसने की? क्षणिक होवे तो यह सन्धि की किसने? कि कल मैंने देखा था, वह यह है।

इसलिए यह समझना चाहिए कि–आत्मा को एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना, वह दोनों भ्रम हैं,... सांख्यमति एकान्त नित्य मानता है। यह पहले आ गया। बौद्ध एकान्त (क्षणिक मानता है)। सांख्य एकान्त कैसे मानता है? विकार देखता है न? तो विकार तो कर्म से होता है। वस्तु तो नित्य त्रिकाली है, ऐसा मानता है। वस्तु है, वह त्रिकाल है और जो कर्म का विकार दिखता है, वह कर्म से होता है, आत्मा में नहीं। ऐसा सांख्यमति मानता है। उसने नित्य माना और अनित्य नहीं माना। इसने (बौद्धमति ने) अनित्य माना और नित्य नहीं माना। संस्कार छोड़ जाता है, उसमें भी तूने अनित्य ही माना। आत्मा नाश को प्राप्त हो गया तो संस्कार किसने दिये? किसने दिये? वह तो मर गया। आहाहा! ऐसे सब विचार में कहाँ पड़ना? तर्क से, न्याय से वस्तु सिद्ध हुए बिना मानना, वह तो ऊपर से मानना है। यह मान्यता तो बदल जाएगी। दूसरा कोई अभिप्राय कहेगा तो तेरा अभिप्राय बदल जाएगा। उसे न्याय और नीति से बात अन्दर बैठी हो तो दूसरा अभिप्राय दे तो नहीं बैठेगा। मुझे तो यह सत्य है, दूसरी बात सत्य नहीं। आहाहा!

इसलिए यह समझना चाहिए कि–आत्मा को एकान्ततः नित्य या एकान्ततः अनित्य मानना, वह दोनों भ्रम हैं, वस्तुस्वरूप नहीं; हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं,... आहाहा! कहते हैं और ऐसा है। हम जैन जो कहते हैं कि नित्यानित्य है, ऐसी वस्तु नित्यानित्य है। बदलती है और टिकती है। टिकती है, वह नित्य है और बदलती है,

वह अनित्य है। दोनों उसका स्वरूप है। आहाहा! बदलती न हो तो निर्णय किसमें करना? और टिकती न हो तो उसकी पर्याय का आधार कौन? पर्याय तो एक समय की है, उसका आधार कौन? आहाहा! पहले सांख्यवाद की बात की। हमारे जैन लोग भी कर्म से विकार मानते हैं, वे सांख्यमतवाले हैं। वे नित्य आत्मा को मानकर विकार कर्म से मानते हैं। वे सांख्य मतवाले हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि एक समय की पर्याय को माने और प्रत्यभिज्ञान (अर्थात्) यह आत्मा है, वह वही है, भूतकाल में मैं था, वही मैं हूँ—ऐसा माने बिना नित्य की श्रद्धा नहीं होती। आहाहा! बनियों को व्यापार के कारण ऐसा निर्णय करने का समय मिले? उसे ही मिले। बनियों को जैनधर्म हाथ आया। इतने तो वे भाग्यशाली हैं। जैनपना मिला, परन्तु क्या चीज़ है, यह निर्णय न करे तो हो गया, थोथा। चार गति का परिभ्रमण सिर पर रहेगा। आहा! ढोर, पशु और पक्षी, पक्षी... आहाहा! चींटी, कौआ और कुत्ते के अवतार। नित्य आत्मा का अनुभव नहीं करे, तब तक अनित्य को माननेवाला भले अन्दर धारणा में माने... आहाहा! परन्तु अन्दर नित्य के अनुभव बिना उसका परिभ्रमण नहीं मिटेगा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह साधारण बात नहीं की है।

क्षणिक नहीं परन्तु नित्य है, यह निर्णय तूने किया? किसमें निर्णय किया? पर्याय में। किसके लक्ष्य से? पर्याय में यदि त्रिकाली लक्ष्य में आया नहीं तो निर्णय किस प्रकार हुआ? आहाहा! वर्तमान बदलती पर्याय में कायम रहनेवाला लक्ष्य में नहीं आया तो इसने नित्य कहाँ माना? आहाहा! इसलिए आ गया था न? वस्तु नित्य है, परन्तु उसे नित्य की प्रतीति नहीं, वह बाह्य वस्तु को स्थिर करना चाहता है। वह अनित्य है, उसे शाश्वत रखना चाहता है। मैं शाश्वत रहनेवाला हूँ। आहाहा! मैं शाश्वत रहनेवाला हूँ—ऐसी दृष्टि नहीं तो फिर वस्तु को कायम कायम रखने का भाव है। शरीर को, वाणी को, मन को और बाह्य चीज़ों को। आहाहा! इतना सब विचार करने का समय कब मिले? वीतराग का मार्ग ऐसा है। वह अन्यत्र कहीं नहीं है, किसी पन्थ में नहीं है। इसमें सब दृष्टान्त दिये हैं। कबीर के और उनके सबके दिये हैं। था कब कबीर में? ...ऐसे दूसरे बहुत नाम दिये हैं।

मुमुक्षु : आत्मा को असंख्यप्रदेशी मानता कौन है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन है ? असंख्यप्रदेशी वीतराग के अतिरिक्त कहीं है ही नहीं। वह भी सर्वज्ञ वीतराग दिगम्बर के अतिरिक्त असंख्यप्रदेशी अखण्ड अन्यत्र है नहीं। श्वेताम्बर ने असंख्यप्रदेशी कहा है, परन्तु उसमें भूल है। असंख्यप्रदेशी सिद्ध नहीं होता। परन्तु यह निर्णय किसे करना है ? असंख्यप्रदेशी कहा है, परन्तु ३४३ राजू है, उसमें उनकी भूल है। उन्होंने स्वीकार किया है। ३४३ राजू का प्रमाण अपनी दृष्टि से कम होता है। उसका प्रमाण है, उससे कम होता है। कम होता है तो कम प्रदेश हो गये। अत: आत्मा में इतने प्रदेश कम हो गये। सब आत्मा के प्रदेश कम हो गये। सूक्ष्म बात है, भाई ! आहाहा !

मार्ग सूक्ष्म है, बापू! अनादि काल से पर का अभ्यास है। एक सेकेण्ड भी स्वसन्मुख का अभ्यास नहीं। इसका यह किया और यह छोड़ा और यह लिया और यह दिया, यह खाया, यह पुत्र मेरे, यह पुत्र का विवाह किया। अब हम निवृत्त रहेंगे। लड़के काम करेंगे, इसलिए अपने को निवृत्ति मिलेगी। तुझे निवृत्ति किसकी मिलेगी ? किसकी निवृत्ति ? अन्दर में विकार से निवृत्ति मिले बिना निवृत्ति कहाँ से आयी ? आहाहा ! उसकी तो खबर नहीं। लड़के तैयार हो गये हैं, अपने को निवृत्ति मिली, अब खा-पीकर लहर करेंगे। आहाहा ! परन्तु निवृत्ति प्राप्त करके अन्तर में निवृत्ति करनी है या बाहर से ? बाहर से निवृत्ति तो तीनों काल है। बाह्य चीज़ का तुझमें अभाव है, निवृत्ति है ही। आहाहा ! बाह्य चीज़ तो अन्तर में नहीं तो उससे तू निवृत्त ही है। तू किससे निवृत्त हुआ ? आहाहा ! निवृत्त है, उससे निवृत्त हुआ ? पर का अभाव है। आत्मा में पर का अभाव है। आत्मा में कर्म, शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब, अनन्त पदार्थ का अभाव है। तो अभाव है, उसमें से तुझे भाव करना है ? अभाव है, उसका अभाव करना है ? आहाहा ! मैंने छोड़ा, यह छोड़ूँ। वे तो छूटे ही पड़े हैं। परवस्तु तो तुझमें है ही नहीं और उस चीज़ में तू नहीं, तो उससे छूटना और छोड़ना, यह कहाँ से आया ? आहाहा ! समझ में आया ? कठिन बातें हैं, भाई ! सम्प्रदाय ने बाहर से मनवा दिया है। धर्म हो गया। सामायिक की, प्रौषध किये और प्रतिक्रमण किये। शुभभाव का भी कहाँ ठिकाना है ?

यहाँ **हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुस्वरूप कहते हैं, वही सत्यार्थ है'।** आहाहा ! बदलती पर्याय भी है और पर्याय में निर्णय करनेयोग्य द्रव्य भी है। पर्याय में पर्याय

का निर्णय नहीं करना, पर्याय तो है ही। पर्याय तो है ही, उसका क्या करना करना? पर्याय द्वारा द्रव्य का निर्णय करना। पर्याय कहती है कि मैं यह हूँ। मैं नित्यानन्द प्रभु हूँ, मैं ध्रुव हूँ—ऐसा निर्णय पर्याय में करना। यह ३२० गाथा में कहा है। ३२० गाथा में। पर्याय ऐसा मानती है कि मैं तो त्रिकाल ध्रुव हूँ। आहाहा! मैं तो यह हूँ। त्रिकाल निरावरण अखण्ड एक अविनश्वर। आहाहा! शुद्ध पारिणामिकभाव परमभावलक्षण, वह निज परमात्मद्रव्य मैं हूँ। वह निज परमात्मद्रव्य मैं—ऐसा पर्याय मानती है।

मुमुक्षु : द्रव्य और पर्याय दोनों सिद्ध हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों हो गये। पर्याय ऐसा मानती है कि मैं यह हूँ। पर्याय भी रही और वस्तु भी रही। वह मानता है कि मैं पर्याय हूँ, अत: पर्याय पर दृष्टि रही। पर्याय मैं, चलती अवस्था है, वह मैं हूँ, तो वर्तमान दृष्टि वहाँ रही। इसकी दृष्टि नहीं करके, वहाँ करता है। आहाहा! अरे रे! कौन निर्णय करे? लोगों को बाह्य क्रियाकाण्डवालों को यह ऐसा लगता है कि ऐसी बातें? भाई! इस बात में माल है। वास्तविक तत्त्व जो त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु अनन्त गुण का धाम, अनन्त गुण का गोदाम आत्मा है, अनन्त शक्ति का सागर है, अनन्त स्वभाव का स्वरूप, समुद्र है। आहाहा! उस चीज़ को पर्याय जब सन्मुख होकर निर्णय करे और आत्मा के आनन्द का वेदन आवे, तब उसने नित्य और अनित्य दोनों माने हैं। आहाहा!

कलश - २०७

पुन: क्षणिकवाद का युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ और आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

वृत्त्यन्शभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्य: करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ।।२०७।।

श्लोकार्थ : [वृत्ति–अंश–भेदत:] वृत्त्यंशों के अर्थात् पर्याय के भेद के कारण [अत्यन्तं वृत्तिमत्–नाश–कल्पनात्] 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना के द्वारा [अन्य: करोति] 'अन्य करता है और [अन्य: भुंक्ते] अन्य भोगता है' [इति एकान्त: मा चकास्तु] ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो।

भावार्थ : द्रव्य की पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं, इसलिए बौद्ध यह मानते हैं कि 'द्रव्य ही सर्वथा नष्ट होता है।' ऐसी एकान्त मान्यता मिथ्या है। यदि पर्यायवान पदार्थ का ही नाश हो जाए तो पर्याय किसके आश्रय से होगी? इस प्रकार दोनों के नाश का प्रसंग आने से शून्य का प्रसंग आता है।।२०७।।

कलश - २०७ पर प्रवचन

पुन: क्षणिकवाद का युक्ति द्वारा निषेध करता हुआ और आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं– दो लाईन है न?

वृत्त्यन्शभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्य: करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ।।२०७।।

वृत्त्यंशों के अर्थात् पर्याय के भेद के कारण... आत्मा में अवस्था पलटती है, इस कारण से '**वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है**'... पर्याय को ही मानने से आत्मा तो नाश हो जाता है। आहाहा! नाश हो जाता है, इसका अर्थ (यह कि) इसकी दृष्टि में नाश पाता है। वस्तु नाश नहीं पाती। आहाहा! **पर्याय के भेद के कारण 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य**

सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना के द्वारा 'अन्य करता है और अन्य भोगता है' ऐसा एकान्त प्रकाशित मत करो। जिस समय विकार का कर्ता है, उसका दु:ख अन्य आत्मा भोगता है, ऐसा न करो। अन्य पर्याय भोगती है, यह ठीक है। जो पर्याय करती है, वह भी वास्तव में तो उसी समय भोगती है, परन्तु इस पर्याय के विरुद्ध हो और उसका संयोग प्रतिकूल हो, उस समय दूसरी पर्याय भोगती है। जो पर्याय करती है, वह पर्याय भोगती नहीं परन्तु आत्मा की अपेक्षा से तो जिस आत्मा ने किया, वही आत्मा भोगनेवाला है। आहाहा! यह सब न्याय के विषय हैं। परन्तु लक्ष्य में ले तब न! ऐसी की ऐसी जिन्दगी निकाल डालता है। आहाहा! यह कहा न? देखो!

पर्याय के भेद के कारण 'वृत्तिमान् अर्थात् द्रव्य सर्वथा नष्ट हो जाता है' ऐसी कल्पना के द्वारा 'अन्य करता है और अन्य भोगता है'... ऐसा कि एक समय की पर्याय करती है तो दूसरे समय में दूसरा आत्मा उसे भोगता है। यह बात तो तेरी मिथ्या है। आहाहा! पर्याय दूसरी है, यह दूसरी बात है, परन्तु आत्मा तो जिस आत्मा ने पर्याय में विकार किया, वही आत्मा विकार को भोगता है परन्तु यह तो (कहते हैं) आत्मा बदल गया। जिस समय में आत्मा ने विकार किया, उसी समय में आत्मा वहाँ रहा। बाद में भोगने के काल में वह आत्मा रहा नहीं। वह तो पर्याय रही नहीं, आत्मा तो वह का वही है। आहाहा! पर्याय अर्थात् बदलती अवस्था नहीं रही, परन्तु वस्तु तो वह की वह है। आहाहा! परन्तु ऐसा समय मिलना, निवृत्ति का समय कहाँ? आहाहा! बौद्ध ऐसा कहते हैं और अपन क्या मानते हैं? इसका अन्तर (जानना) चाहिए न अन्तर। यह गाथा से कहते हैं। बोलो, गाथा बोलो।

गाथा - ३४५-३४८

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।

कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकान्तः।।३४५।।
कैश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकान्तः।।३४६।।
यश्चैव करोति स चैव य वेदयते यस्य एष सिद्धान्तः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टि-रनार्हतः।।३४७।।
अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते यस्य एष सिद्धान्तः।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टि-रनार्हतः।।३४८।।

यतो हि प्रतिसमयं सम्भवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलित-चैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते, य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकान्तः।

एवमनेकान्तेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वन्शेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकान्ते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते, अन्यः

करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः, क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यन्शानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टङ्कोत्कीर्णस्यैवान्तःप्रतिभासमानत्वात् ।।३४५-३४८ ।।

अब निम्नलिखित गाथाओं में अनेकान्त को प्रगट करके क्षणिकवाद का स्पष्टतया निषेध करते हैं–

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
इससे करै है वो हि या को अन्य–नहिं एकान्त है।।३४५।।

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदै वो हि या को अन्य–नहिं एकान्त है।।३४६।।

जीव जो करै वह भोगता नहिं–जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंत के मत का नहीं वो जीव मिथ्यादृष्टि है।।३४७।।

जीव अन्य करता, अन्य वेदे–जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंत के मत का नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है।।३४८।।

गाथार्थ : [यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायों से [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायों से [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिए [सः वा करोति] '(जो भोगता है) वही करता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही करता है' [न एकान्तः] ऐसा एकान्त नहीं है (स्याद्वाद है)।

[यस्मात्] क्योंकि [जीवः] जीव [कैश्चित् पर्यायैः तु] कितनी ही पर्यायों से [विनश्यति] नष्ट होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी ही पर्यायों से [न एव] नष्ट नहीं होता, [तस्मात्] इसलिए [सः वा वेदयते] '(जो करता है) वही भोगता है' [अन्यः वा] अथवा 'दूसरा ही भोगता है' [न एकान्तः] ऐसा एकान्त नहीं है (स्याद्वाद है)।

'[यः च एव करोति] जो करता है [सः च एव न वेदयते] वही नहीं भोगता' [एषः यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि, [अनार्हतः] अनार्हत (अरहन्त के मत को न माननेवाला) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

'[अन्यः करोति] दूसरा करता है [अन्यः परिभुक्ते] और दूसरा भोगता है' [एष यस्य सिद्धान्तः] ऐसा जिसका सिद्धान्त है, [सः जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि,

[अनार्हतः] अनार्हत (-अजैन) [ज्ञातव्यः] जानना चाहिए।

टीका : जीव, प्रति समय संभवते (होनेवाले) अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने से, कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है- इस प्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है; इसलिए 'जो करता है, वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है' 'जो भोगता है, वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है'-ऐसा एकान्त नहीं है। इस प्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, उसी को परमार्थ सत्त्व है, इसलिए वही वस्तु है' इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में रहकर जो यह देखता-मानता है कि 'जो करता है, वही नहीं भोगता, दूसरा करता है और दूसरा भोगता है,' उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही देखना-मानना चाहिए; क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है, वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है; इसलिए स्याद्वाद से ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है। जीव भी वस्तु होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। इसलिए, पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो कार्य को करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय; जैसे मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय ने भोगा। यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाए तो, जो करता है, वही भोगता है; जैसे कि-मनुष्यपर्याय में जिस जीवद्रव्य ने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्य ने देवादि पर्याय में स्वयं किये गये कर्म के फल को भोगा।

इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकांतरूप सिद्ध होने पर भी, जो जीव शुद्धनय को समझे बिना शुद्धनय के लोभ से वस्तु के एक अंश को (वर्तमान काल में वर्तती पर्याय को) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है, वही नहीं भोगता-अन्य भोगता है, और जो भोगता है, वही नहीं करता-अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है, अरहन्त के मत का नहीं है; क्योंकि, पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है कि 'जो मैं बालक अवस्था में था, वही मैं तरुण अवस्था में था और वही मैं वृद्ध अवस्था में हूँ।' इस

प्रकार जो कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है-स्वसंवेदन में आता है और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है, उसे जो नहीं मानता वह मिथ्यादृष्टि है-ऐसा समझना चाहिए।

गाथा - ३४५ से ३४८ पर प्रवचन

केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४५।।
केहिंचि दु पज्जएहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो।।३४६।।
जो चेव कुणदि सो चिय ण वेदए जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४७।।
अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो।।३४८।।

पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
इससे करै है वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है।।३४५।।
पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
यों जीव वेदै वो हि या को अन्य-नहिं एकान्त है।।३४६।।
जीव जो करै वह भोगता नहिं-जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंत के मत का नहीं वो जीव मिथ्यादृष्टि है।।३४७।।
जीव अन्य करता, अन्य वेदे-जिसका यह सिद्धान्त है।
अर्हंत के मत का नहीं, वो जीव मिथ्यादृष्टि है।।३४८।।

इस गाथा में अन्तर है। पहले अरहन्त के मत का नहीं है, वह जीव... ऐसा आया। इसमें तुम मिथ्यादृष्टि अरहन्त के मत के नहीं, बदल डाला? बदल डाला लगता है। पहले में भी अन्तर आया। पर्याय किसी से, यह भाषा बदली है। यहाँ कुछ है। यह हिन्दी है, ठीक। परन्तु यह है न? 'अरहन्त का मत का नहीं, सो जीव मिथ्यादृष्टि है' ऐसा लिखा है, मिथ्यादृष्टि है, वह अरहन्त के मत का नहीं है। भले हिन्दी है, परन्तु भाषा बदल डाली।

टीका :- **जीव, प्रति समय सम्भवते...** प्रति समय सम्भवते। जीव में प्रत्येक समय में सम्भवते। भाषा देखो! आहाहा! **जीव, प्रति समय सम्भवते...** प्रति समय होनेवाली है, वह पर्याय होती है। क्रमबद्ध आया। आहाहा! क्रमबद्ध तो पहले आ गया परन्तु यहाँ निश्चित किया है, देखो! **जीव, प्रति समय सम्भवते (होनेवाले)...** जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। आहाहा! **जीव, प्रति समय सम्भवते (होनेवाले) अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा...** जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह अगुरुलघु द्वारा वही पर्याय होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यहाँ क्रमबद्ध सिद्ध कर किया। जिस समय में जो होनेवाली है, उसी समय होगी। आहाहा! है या नहीं इसमें यह ?

प्रति समय सम्भवते... जिस समय में जो होनेवाली थी, वह हुई। आगे-पीछे नहीं, कोई फेरफार नहीं कर सकता। सिद्धान्त यहाँ आया। क्रमबद्ध का सिद्धान्त पहले आया है। उसे यहाँ निश्चित किया है। **जीव, प्रति समय सम्भवते...** अर्थात् प्रत्येक समय में, प्रत्येक काल में **सम्भवते...** अर्थात् होनेवाले। जो पर्याय होनेवाली है, वह **अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से...** वह अगुरुलघुगुण द्वारा क्षणिक होने से **अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने से,...** एक यह बात की। पहले अनित्य कहा, कि अनित्य क्यों है ? कि प्रत्येक समय में जो सम्भवित पर्याय होनेवाली है, वह होती है। अगुरुलघुगुण द्वारा (होती है); इसलिए वह अनित्य है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसे अनित्य अनित्य मान लिया, (ऐसा नहीं)।

प्रत्येक समय में सम्भवित। उस समय में सम्भव योग्य है, वह पर्याय होती है। आगे-पीछे पर्याय नहीं होती। आहाहा! अगुरुलघुगुण द्वारा पलटती है परन्तु जिस समय प्रति समय सम्भव है, उस समय में परिणाम द्वारा क्षणिक होने से। इस अपेक्षा से क्षणिक है। आहाहा! क्या सिद्धान्त! अनन्त पदार्थ भगवान ने जो अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्तिकाय, एक अधर्मास्तिकाय, काल-असंख्य कालाणु देखे, उनकी प्रत्येक समय में सम्भवति। आहाहा! उस-उस काल में उसे उत्पन्न होने का सम्भवित पर्याय अगुरुलघुगुण द्वारा परिणाम उत्पन्न होता है। आहाहा! दूसरा प्राणी ऐसा कहे कि यह परिणाम मैं उत्पन्न करता हूँ, तो वह पदार्थ प्रतिसमय अपने सम्भवित परिणाम

द्वारा तो परिणमता है, बदलता है। दूसरा कहे कि मैं उसे बदलाऊँ। बदलता है, उसे बदलाना है? नहीं बदले उसे बदलाना है? वह तो परचीज़ है। आहाहा! न्याय समझ में आता है? जो पलटता है, उसे पलटाना? यह कहाँ से आया? शरीर, वाणी, मन समय-समय में, प्रतिसमय समय-समय में सम्भवती पर्याय होती है। वह तुझसे होती है, ऐसा कहाँ से आया? आहाहा!

अगुरुलघुगुण द्वारा **अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा...** आहाहा! एक द्रव्य की पर्याय उस समय में, उस समय में उस काल में होनेवाली है, वह होती है। यह अगुरुलघु द्वारा परिणाम सम्भवते, उस समय में सम्भवनेयोग्य हैं, वे होते हैं। आहाहा! अब इसमें किसका करना? दलील-बलील करना या नहीं? इस जज को वहाँ दलील करना पड़ती है या नहीं? रामजीभाई वहाँ दलील करते थे। आहाहा! ऐसी कठिन बातें। कहते हैं कि दलील की परमाणु की पर्याय उस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा होती है। आहाहा! तो तुझे उसमें क्या करना है? यह कठिन पड़े।

जैन की यह दो बातें (कठिन पड़े)। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य की जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। यह दो (बातें) बैठना... आहाहा! समझ में आया? और जैनदर्शन का यह मूल है। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है... आहाहा! शरीर की, वाणी की, मन की, आत्मा की, अरे..! दाल, भात, रोटी आदि की जिस समय में जो पर्याय सम्भवति और जो सम्भवित होनेवाली है, वह अगुरुलघु गुण के परिणाम द्वारा... आहाहा! **क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने से,...** यह दूसरी बात। पर्याय तो वहाँ रखी। अब **अचलित चैतन्य के अन्वयरूप...** भगवान आत्मा अचलित वह का वह है। जो पहले है, वही यहाँ है। है... है... है... अनन्त काल से है। अचलित-चलित नहीं, ऐसे **चैतन्य के अन्वयरूप...** अन्वय अर्थात् सम्बन्धरूप **गुण द्वारा...** उसमें सम्भवित कहा था, यहाँ अन्वयरूप कहा। सम्बन्ध। चैतन्य के सम्बन्धरूप गुण द्वारा नित्य होने से। इस अपेक्षा से नित्य है और यह आत्मा इस समय में उत्पन्न होनेवाली पर्याय से अनित्य है। आहाहा! ऐसा निर्णय करने जाए, तब तो उसे समय चाहिए। इसकी अपेक्षा करने लगो न बाहर से धर्म। धूल में भी कहीं धर्म नहीं। आहाहा!

प्रभु आत्मा अपने समय में जो सम्भवित पर्याय होनेवाली है, वह होगी। उसमें एक भाव नाम का गुण है। आहाहा! पीछे ४७ शक्तियाँ हैं। उसमें ४७ शक्ति में एक भाव नाम की शक्ति है, तो प्रतिसमय भावगुण द्वारा जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी ही। आहाहा!

मुमुक्षु : सम्भवति होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्भवति, सम्भव ही है। यही सम्भव है। ऐसा कहा न? **प्रति समय सम्भवते...** यही सम्भव है, यही सम्भावना है, वही उत्पन्न होने के योग्य है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म कातली निकालना। व्रजलालभाई! आये हैं या नहीं? यह तुम्हारे कुटुम्बी हैं न? आहाहा! ऐसा आत्मा। यहाँ एक आत्मा की बात नहीं, हों! छहों द्रव्यों की बात है।

परमाणु में भी जिस समय सम्भवति उस पर्याय के योग्य वह पर्याय अगुरुलघुगुण का परिणाम है। अगुरुलघुगुण का वह परिणाम है। वह सम्भवति पर्याय उस समय में होगी। आहाहा! यह अँगुली की यह पर्याय होती है, उस समय में उससे होती है। आत्मा से नहीं। यह ऐसे हुई, वह उसके सम्भव—योग्यता से ऐसी पर्याय हुई है, आत्मा से नहीं। आहाहा! बहुत बदलना पड़े।

अध्यात्म की बात करे परन्तु अध्यात्म में यह दो मूल बात यदि न हो तो मिलान नहीं खाता। क्योंकि अध्यात्म... अध्यात्म (करे), परन्तु जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, ऐसा निर्णय न हो तो उसका लक्ष्य द्रव्य के ऊपर नहीं जाएगा। वह तो होनेवाली है, वह होती है, हमें क्या करना? अन्दर दृष्टि करनी है। वह भी है, वह सम्भवयोग्य। वह सम्भवति पर्याय है, परन्तु वहाँ आगे लक्ष्य बदलता है। पर के ऊपर से लक्ष्य छोड़कर अपने में लक्ष्य आ जाता है। आहाहा! उस समय में बात की थी। इस शब्द के समय, समयसार पढ़ते थे तब। यहाँ 'प्रतिसमय सम्भवते' शब्द है। प्रत्येक समय में जिसे योग्य है, वह पर्याय होती है, आगे-पीछे नहीं। आहाहा!

अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा... यह चैतन्य जो चैतन्य कायम रहनेवाला, अन्वय रहनेवाला, अन्वय अर्थात् वह... वह... वह... वह... वह... वह... वह... उसमें वह... वह... वह... नहीं। वह हुई वह,

वह हुई वह, वह बस। और यह तो वह... वह... वह... वह... वह... द्रव्य तो वह... वह... वह... वह... वह... आहाहा! **अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा...** अन्वय अर्थात् एकरूप, किसी का सम्बन्ध नहीं, वह... वह... वह... **नित्य होने से,...** इस कारण से प्रत्येक द्रव्य नित्य भी है और प्रत्येक समय में सम्भवति पर्याय उत्पन्न होती है, इस अपेक्षा से अनित्य भी है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य कायम टिककर बदलतता है तो द्रव्य-अनित्य होगा ही न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो यह नित्य है। आहाहा! अनादि... अनादि... अनादि... वह... वह... वह... वह... वह... वह... वह... यह क्षणिक पर्याय तो वह... वह... सम्भवति उस उस समय में है। दूसरे समय में सम्भवति दूसरे समय में (होती है)। वह... वह... वह नहीं। वह वह... लम्बाया नहीं। दूसरे समय में मिलती नहीं। आहाहा! आहाहा! ऐसे कायदे तुम्हारे आते नहीं होंगे। तलाटी! तुम्हारे सरकार के कायदे रखे हों। नौकरी उनकी हो, वकालात हो, वही रखे न वहाँ। यह वीतराग का न्याय कहाँ! आहाहा!

दो बातें हुईं कि प्रत्येक समय में सम्भवते अगुरुलघुगुण के परिणाम। ऐसा कहा न? **अगुरुलघुगुण के परिणाम...** ऐसा कहा न? प्रति समय सम्भवते परन्तु **अगुरुलघुगुण के परिणाम...** आहाहा! इसके द्वारा क्षणिक होने से, आत्मा या प्रत्येक द्रव्य। आहाहा! देखो न, परसों हुआ न? चद्दर गिरे तो मर गया, लो! अपने मन्दिर के पास दुकान है। मन्दिर है न? कहाँ का कहलाता है? सीमन्धर भगवान का। सीमन्धर भगवान का मन्दिर है न? मुम्बादेवी। उसके पास उनकी दुकान है। इस ओर दुकान है, हम गये थे। वहाँ वह बैठा होगा लेने बेचारा। स्थिति पूरी हो गयी। स्थिति का वह समय। आहाहा! ताँबे के चद्दर सिर पर गिरे, मर गया, मर गया। यह अकस्मात् नहीं है। उसके समय में वह पर्याय होने के योग्य है। अगुरुलघुगुण के परिणाम (होने के) वे परिणाम हैं। आहाहा! उन चद्दर से भी वास्तव में तो हुआ नहीं। वास्तव में तो चद्दरों ने उसके शरीर को स्पर्श ही नहीं किया। बहुत कठिन पड़े, बापू! आहाहा! जैन की यह दो बात।—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है। आगे-पीछे इन्द्र या जिनेन्द्र भी नहीं कर सकते। आहाहा!

कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है... यह सहचर। पर्याय जो अवस्था है, वह नाश (पाती है) और कितनी ही पर्याय से विनाशीक नहीं। सहचर। गुण... गुण..। गुण जो है, वह कायम रहते हैं। उसे पर्याय शब्द प्रयोग किया है। द्रव्य का जो कायम रहनेवाला गुण है, वह कायम रहनेवाला है, उसे यहाँ पर्याय शब्द से भेद से प्रयोग किया है। **पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है–इस प्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है;...** लो! इस प्रकार से दो स्वभाववाला जीवद्रव्य है। पलटती पर्यायवाला और कायम रहनेवाला। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०३, गाथा ३४५-३४८, श्लोक-२०८ गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण ७
दिनाङ्क - ०५-०६-१९८०

प्रत्येक आत्मा प्रत्येक समय में **सम्भवते...** जो पर्याय होनेवाली है, उसे **अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा...** प्रत्येक समय में उत्पन्न होनेवाली पर्याय, वह अगुरुलघुगुण द्वारा या परिणाम द्वारा या अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा **क्षणिक होने से और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य होने से,...** आत्मा परिणाम से अनित्य है और अचलित चैतन्य के अन्वयरूप गुण द्वारा नित्य है। कभी चलित न हो, ऐसा नित्य प्रभु कायम रहनेवाला है। इस अपेक्षा से आत्मा नित्य है।

कितनी ही पर्यायों से विनाश को प्राप्त होता है और कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है... यह पर्याय अर्थात् सहभावी गुण। कितनी ही पर्याय है, उनका नाश होता है परन्तु गुण का नाश नहीं होता। यह पर्याय शब्द से यहाँ गुण लेना। सहभावी जो गुण है न? **कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है...** वस्तु के साथ सहचर ज्ञान, दर्शन आदि जीव के गुण और परमाणु के रंग, गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुणों को यहाँ पर्याय कहा है। क्योंकि वह गुणभेद है न? उस पर्याय को तो पर्याय कहा परन्तु गुण के भेद की अपेक्षा से पर्याय कहा। आहाहा! स्वभाविक पर्याय है न? **कितनी ही पर्यायों से विनाश को नहीं प्राप्त होता है...**

इस प्रकार दो स्वभाववाला जीवस्वभाव है;... इस प्रकार के स्वभाववाला जीव है। **इसलिए 'जो करता है, वही भोगता है' अथवा 'दूसरा ही भोगता है' 'जो भोगता है, वही करता है' अथवा 'दूसरा ही करता है'–ऐसा एकान्त नहीं है।** पर्याय अपेक्षा से जो करे, वह भोगता नहीं परन्तु द्रव्य अपेक्षा से जो करे, वह भोगता है। समझ में आया? जो जीव है, वह वर्तमान जो पर्याय है, वह पर्याय विकार या दुःख करे तो उसका अनुभव उस पर्याय के समय नहीं। है तो पर्याय के समय ही उसका अनुभव, तथापि उसके फलरूप से दूसरी पर्याय में भोगना है। उस पर्याय का अन्य भोगवटा है। द्रव्यरूप से जिस द्रव्य ने की है, वही द्रव्य पर्याय को भोगता है। समझ में आया? जिस द्रव्य ने पर्याय की, वह द्रव्य भविष्य की

पर्याय भोगता है। कहीं जीवद्रव्य दूसरा नहीं हो जाता। पर्याय दूसरी होती है, द्रव्य दूसरा नहीं होता। आहाहा!

इस प्रकार अनेकान्त होने पर भी,... अब आचार्य सिद्ध करते हैं। इस प्रकार से द्रव्य में अनेकान्तपना सिद्ध होने पर भी। पर्याय से करे और दूसरी पर्याय से भोगे। इस पर्याय से जीवद्रव्य करे और जीवद्रव्य दूसरी पर्याय से भोगता है, ऐसा अनेकान्त है। और क्या कहा? जो द्रव्य है, वह वर्तमान पर्याय से करे, वह दूसरी पर्याय से भोगता है परन्तु द्रव्यरूप से तो जिस द्रव्य ने पर्याय की, वह द्रव्य दूसरी पर्याय को भोगता है। पर्यायरूप से भिन्न-भिन्न कर्ता-भोक्ता (और) द्रव्यरूप वही कर्ता और वही भोक्ता है। आहाहा! **इस प्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, उसी को परमार्थ सत्त्व है,...** अज्ञानी, जिस समय में पर्याय उत्पन्न होती है, वही वस्तु है, वही सत्त्व है, ऐसा मानता है। पर्याय है, द्रव्य कहाँ देखा है? वह पर्याय है, वही सत्त्व है—ऐसा वस्तु को मानता है। इसलिए वही वस्तु है। जो पर्याय उत्पन्न हुई, वही चीज़ (वस्तु) है, ऐसा अज्ञानी मानता है।

इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके... इस प्रकार से वस्तु की एक समय की पर्याय (एक) अंश है, उस अंश में पूरे द्रव्य का अनुभव करके वस्तु के अंश में, अंश अर्थात् पर्याय, **वस्तुत्व का अध्यास...** उसमें पूरी चीज़ ही वह है। पर्याय है, वही पूरी चीज़ है। पर्याय से बदलती चीज़ है, वस्तु से वह की वह रहती है, ऐसा नहीं मानता। इस ओर में बौद्धमत बड़ा मत है। बौद्धमत के भरे हुए बड़े देश के देश भरे हैं।

मुमुक्षु : उनके मन्दिर को सोने की दीवार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, हो। उस पोप को पाँच करोड़ की मोटर है। पोप नहीं उनका? सब सुना है न। कब सुना यह? कि अपने भाई पूनमचन्द मुम्बई हैं न? पाँच-छह करोड़ हैं। चन्दुभाई के भाई, उनके पास पाँच-छह करोड़ रुपये हैं। यह चन्दुभाई पीछे बैठे हैं। पीछे बैठे ये। इनके भाई हैं। दादा के पुत्र। छह करोड़ रुपये हैं। उनका एक लड़का बाहर विदेश में रहता है। वहाँ से बीस लाख की मोटर लाया। बीस लाख की। और मुझे मुम्बई से भावनगर आना था, इसलिए गाँव में से उसमें बैठाकर प्लेन पर लाये थे। तब खबर पड़ी। कहा, यह कितने की मोटर? तब कहे, बीस लाख। एक मोटर के बीस लाख। तब और दूसरा कहे, दूसरा क्या तुम्हारे? न्यालचन्द इनका दूसरा बड़ा भाई है। यह छोटा है।

इसके पास चार-पाँच करोड़ हैं। स्वीट्जरलैण्ड है। वह और कहे, हमारे स्वीट्जरलैण्ड में पचास लाख की मोटर है। पचास लाख की। तब और तीसरे ने ऐसा कहा कि पाँच करोड़ की मोटर पोप के पास है। हमने तो पहले-पहले सुना। बीस लाख की मोटर में भी पहले-पहले बैठे। मुम्बई से ऐसे (एयरपोर्ट) आना था। आहाहा! यह सब चीज़ें तो क्षणिक हैं, नाशवान है। क्षण में बदल जाती है। आहाहा! परमाणुरूप से कायम रहे, पर्याय बदल जाए। आहाहा!

देखो ने! वह व्यक्ति अभी मर गया। आहाहा! बेचारा माल लेने आया था, जैन (था)। मुम्बई अपने मन्दिर के साथ ही उसकी दुकान है। नौतमभाई। उसे सब व्यापार लोहे का है। ताँबे के पत्र होंगे। कोई लेने आया होगा, उसके ऊपर पत्र गिरे। वहीं का वहीं मर गया, वहीं का वहीं मर गया। यह अवस्था होनेवाली हो, वह होती है, उसमें फेरफार कौन करे? उसके लड़के का पैर टूटा है। अब यह और क्या हुआ? कितना ही कैसा... आहाहा! घर के व्यापार के, घर के माल से मरण और ऐसा हो। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, उस पर्याय को रोके कौन? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **इस प्रकार अनेकान्त होने पर भी, 'जो (पर्याय) उस समय होती है, उसी को परमार्थ सत्त्व...** मानता है। द्रव्य में जिस समय में पर्याय उत्पन्न होती है, उसे ही द्रव्य मानता है। आहाहा! इसलिए **वही वस्तु है' इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके शुद्धनय के लोभ से...** क्या कहते हैं? कि एक समय की पर्याय है, उसे यदि त्रिकाली लागू करे तो उपाधि आ जाती है। शुद्धनय उसे कहते हैं, ऐसा मानता है कि शुद्धनय अर्थात् वर्तमान एक को ही मानना। उसे तीन काल लागू पड़े, वह उपाधि है, यह शुद्धनय। यह शुद्धनय अपने कहते हैं, वह नहीं। उसका माना हुआ (शुद्धनय)। अपने जो शुद्धनय कहते हैं, वह तो द्रव्यस्वभाव की दृष्टि करे वह। द्रव्यदृष्टि करे, वह शुद्धनय।

वह शुद्धनय (ऐसा मानता है कि) एक समय की पर्याय कायम रखे तो उपाधि है, ऐसा करके एक समय की पर्याय को वस्तु मानता है। समझ में आया? एक समय की पर्याय में भूत, भविष्य, तीन काल उसमें रहेंगे, यह तो उपाधि आयी। इसलिए शुद्धनय से एक समय की पर्याय है, वही वस्तु है—ऐसा अज्ञानी मानता है। बौद्ध तो खुल्ली रीति से मानते हैं और दूसरों को खबर नहीं और क्षणिक को मानते हैं, वह बौद्ध ही है। जो क्षणिक

दिखता है, उसे मानते हैं परन्तु उसका परिणाम क्या आयेगा और कहाँ जाएगा ? यह कुछ मानता नहीं। वह क्षणिक को माननेवाला है। आहाहा!

वस्तु के अंश में वस्तुत्व का अध्यास करके शुद्धनय के लोभ से... शुद्धनय अर्थात् ? एक ही है, दो नहीं। एक समय की पर्याय में दो नहीं। भूतकाल—गत काल, भविष्य (और वर्तमान), ऐसे तीन काल लागू पड़ें, वह तो उपाधि है। वर्तमान बस एक ही है। ऐसे **शुद्धनय के लोभ से...** हों! शुद्धनय यथार्थ नहीं। **ऋजुसूत्रनय के एकान्त में...** ऋजुसूत्रनय अर्थात् एक पर्याय को माने, वह ऋजुसूत्रनय। यह तो सिद्धान्त है। द्रव्य की एक समय की पर्याय को ऋजुसूत्र स्वीकार करता है कि एक समय की पर्याय को ऋजुसूत्र कहते हैं। परन्तु उसे एकान्त ऋजुसूत्रनय के एकान्त से ग्रहण करके **जो यह देखता–मानता है कि 'जो करता है, वही नहीं भोगता,...** जिस पर्याय में हुआ, वह पर्याय भोगती नहीं, इसलिए द्रव्य नहीं, पर्याय ही है, बस! आहाहा!

यह तो बौद्ध की बात करते हैं। वास्तव में तो पूरी दुनिया ही क्षणिक माननेवाली है। त्रिकाली भगवान अन्दर (भिन्न है, उसे नहीं मानता)। ज्ञानी को भी राग आता है। ज्ञानी हो, क्षायिक समकित हो, राग हो, विषय हो, तथापि दृष्टि में उसका त्याग है। दृष्टि में उसका आदर नहीं, तो वह ज्ञानी त्रिकाली चीज़ को स्वीकार करता है और पर्याय है, उसे जानने में लेता है। और यह अज्ञानी तो वह तो पर्याय है, उसे ही वस्तु मानता है। एक समय की पर्याय है, वही वस्तु है। क्योंकि उस पर्याय में भूत-भविष्य लागू पड़ेंगे तो उपाधि होगी, (ऐसा मानता है)। आहाहा! ऐसा है।

शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में रहकर जो यह देखता–मानता है कि 'जो करता है वही नहीं भोगता,... वर्तमान पर्याय जो पाप-पुण्य करती है, वह पर्याय भविष्य में नहीं भोगती। भविष्य में दूसरी पर्याय (भोगती है)। बात सत्य है, दूसरी पर्याय (भोगती है)। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! एक गाथा में वहाँ आया नहीं है ? समयसार १०२ (गाथा)। जिस समय में करता है, उसी समय में वेदता है। आहाहा! जिस समय राग आया, उस समय में राग का वेदन दुःख उसी समय में है। परन्तु संयोग की अपेक्षा से बात लें तो नरक का आयुष्य बाँधा, नरक के परिणाम किये तो नरक की गति के संयोग मिलेंगे, उसका उसे दुःख (होगा)। वास्तव में वह संयोग का दुःख नहीं है। संयोग तो परचीज़

है। परचीज़ को तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता, परन्तु उसका लक्ष्य अकेले पर के ऊपर जाता है। संयोग के ऊपर लक्ष्य जाता है, उसे रौद्रध्यान, आर्तध्यान का दु:ख होता है। आहाहा! समझ में आया? संयोग का दु:ख नहीं। यहाँ बिच्छु काटे, उसका दु:ख नहीं। बिच्छु तो स्पर्शा भी नहीं करता। उस संयोग में, यह मेरा है और मुझे होता है, ऐसा भाव करता है, उस भाव के दु:ख का वेदन है। शरीर का वेदन नहीं, बिच्छु का वेदन नहीं, शरीर का वेदन नहीं। सबको भाव का वेदन है। आहाहा!

यह भी ऐसा मानता है कि जो भाव करे, वह भाव भोगता नहीं, दूसरा भोगता है। **उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही देखना–...** आचार्य महाराज कहते हैं कि जो ऐसी मान्यता करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! (ऐसा) **मानना चाहिए;...** आत्मा है, वह टंकोत्कीर्ण नित्य शाश्वत् रहनेवाली चीज़ है। पर्याय भले बदले, विचार बदले, परन्तु वस्तुरूप से तो कायम नित्य है। वह टंकोत्कीर्ण अर्थात् शाश्वत् **(नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।** समय-समय की पर्याय होने पर भी पर्याय से अन्तर में देखे तो नित्य ध्रुव प्रतिभासित होता है। पर्याय में नित्य का भान होता है। आहाहा! कि यह जो आत्मा पहले था, वही यह है। न्याय से तो बात है, परन्तु भाई! सूक्ष्म बात है। मूल बात को अनादि से पकड़ा नहीं है। अनादि से ऐसा का ऐसा अवतार आया और उसमें अवतार में जो संयोग मिले, उसमें रच-पच गया। देह पूरी हो गयी और जाए वापस नरक और निगोद। आहाहा! अरे रे! अवतार कर-करके उसकी जिन्दगी, पूरा अवतार गया। अवतार करके पूरा अवतार गया अनन्त काल का। आहाहा! यह अवताररहित होने की दृष्टि है, वह नहीं की।

यह जो शुद्धनय कहते हैं, वह तो एक ही समय की पर्याय को, ऋजुसूत्रनय अर्थात् जो एक ही समय की पर्याय को जो मानता है, उसे नय की अपेक्षा से शुद्धनय कहा है। भगवान जो शुद्धनय कहते हैं, वह तो त्रिकाली ज्ञायकभाव भूतार्थ को विषय करता है, वह शुद्धनय है। आहाहा! कहो, ऐसा अब बनियों को लोहे के व्यापार में समय कहाँ मिलता है? आहाहा!

कहते हैं कि, भगवान आत्मा जिस समय पर्याय में करता है, उस समय भोगता है और बाद के समय में भी भोगता है, ऐसी बात है। परन्तु आत्मा तो नित्य है। जो पर्याय आत्मा ने की, वही दूसरी पर्याय में वही आत्मा था। आत्मा दूसरा नहीं है। आत्मा तो

त्रिकाली नित्य है। उसमें चाहे जितनी पर्याय—अवस्था पलटे, अवस्था पलटे, दशा पलटे, विचार पलटे परन्तु वस्तु तो नित्य त्रिकाल रहती है। आहाहा! संसार भी आत्मा की पर्याय में—अवस्था में, मोक्षमार्ग भी आत्मा की अवस्था में, मोक्ष भी आत्मा की अवस्था में (होता है)। आहाहा! नरकगति भी आत्मा की पर्याय में, देवगति भी आत्मा की पर्याय में, मनुष्यगति भी आत्मा की पर्याय में है। आहाहा! वस्तु तो नित्य त्रिकाल है। आहाहा!

उस जीव को मिथ्यादृष्टि ही देखना-मानना चाहिए; क्योंकि, वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी,... पर्याय अर्थात् अवस्था का क्षणिकपना, नाशपना, एक समय की स्थितिमात्र है। आहाहा! नियमसार की ३८वीं गाथा में तो यहाँ तक कहा है कि जितनी पर्यायें हैं, वे सब नाशवान हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन भी नाशवान है। आहाहा! अविनाशी ध्रुव आत्मा, वह कायम रहनेवाला है और केवलज्ञान पर्याय हो, परन्तु पहले समय में जो केवलज्ञान है, वह दूसरे समय में केवलज्ञान वह नहीं है। वैसा, उस प्रकार का है, परन्तु वह नहीं। आहाहा! ऐसा केवलज्ञान भी वहाँ तो नाशवान कहा। सातों तत्त्वों को नाशवान कहा। नियमसार। एक प्रभु नित्य त्रिकाल है। ध्रुव जो त्रिकाल है, वह निश्चय आत्मा है। पर्याय, वह व्यवहार आत्मा है। परन्तु पर्याय है। व्यवहार है, पर्याय भले व्यवहार (कही) परन्तु व्यवहार है। व्यवहार नहीं, ऐसा नहीं है। आश्रय करनेयोग्य नहीं है। समझ में आया? आहाहा! **क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान) जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है, वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।** उसे तो वह मानता नहीं।

भावार्थ :- वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है;... द्रव्य अर्थात् कायम रहनेवाली चीज़ और पर्याय अर्थात् पलटता भाव, पलटती अवस्था। विचार एकरूप नहीं रहते। विचार बदलते हैं न? वह पर्याय है। और उसमें जो कायम रहनेवाला; जैसे मोती के हार में रहनेवाला डोरा हो, वैसे यह आत्मा नित्य तो अन्दर ध्रुव डोरा है। आहाहा! कायम नित्य रहनेवाला है। चाहे जितनी पर्याय हो, परन्तु वह तो पर्याय का स्वभाव बदलने का है। आत्मा का स्वभाव बदलने का नहीं है, नित्य ध्रुव है। पर्याय की अपेक्षा से बदलने का स्वभाव है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है;... द्रव्य अर्थात् वस्तु, पर्याय अर्थात् अवस्था; **इसलिए स्याद्वाद से ऐसा अनेकान्त सिद्ध होता है...** कथंचित् अपेक्षा से वस्तु के अनेकान्त स्वभाव का कथन किया जाए तो **अनेकान्त सिद्ध होता है कि पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है।** आहाहा! द्रव्य जो वस्तु है, वह तो त्रिकाल है। विचार बदले, पर्याय भले बदले परन्तु वस्तु तो त्रिकाल है। **पर्याय-अपेक्षा से तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य-अपेक्षा से नित्य है। जीव भी वस्तु होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। इसलिए, पर्यायदृष्टि से देखा जाए तो कार्य को करती है एक पर्याय, और भोगती है दूसरी पर्याय;...** दृष्टान्त देते हैं। एक पर्याय करे, वह पर्याय नहीं भोगती और दूसरी पर्याय भोगती है। किस प्रकार?

मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभकर्म किये... मनुष्यभव में शुभ-अशुभभाव किये। आहाहा! **और उनका फल देवादिपर्याय ने भोगा।** शुभ का फल देव में, अशुभ का फल नरक और तिर्यंच में तथा शुभ का फल यह पैसावाला बनिया और सेठिया (हुए)। जो भाव मनुष्यपने में किये, वह पुण्य-पाप का भाव भविष्य में, पाप होवे तो नरकगति मिलेगी, शुभ होवे तो स्वर्गगति मिलेगी। यह उसका फल है। **मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभ कर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय...** देव में जाए, नरक में जाए, ढोर में—पशु में जाए। मनुष्य हो और पशु के भाव करे। माया, कपट, कुटिल, कषायभाव वह करे, माँस न खाये तो वह मरकर पशु होता है। आहाहा! बहुत से जीव तो पशु होनेवाले हैं। पशु की संख्या बड़ी है। नरक में भी बहुत जाते हैं। सातवें नरक में से एक समय में हजारों नारकी वहाँ से निकलकर, नरक में से निकलकर (देवलोक में नहीं जाते)। यहाँ मनुष्य है, उसमें से देवलोक में जाते हैं और नारकी है, वह एक समय में हजारों (जीव) निकलकर मनुष्य में आते हैं और मनुष्य भी एक समय में हजारों देव में जाते हैं। एक समय में। परन्तु एक समय में साथ में निकलते नहीं। क्योंकि आयुष्य में फेरफार होता है, इसलिए क्रम-क्रम से वहाँ से निकलते हैं। आयुष्य के प्रमाण में वहाँ से देवलोक में से कोई मनुष्य होता है, देवलोक में से कोई तिर्यंच होता है। नारकी में से कोई तिर्यंच होता है, नारकी में से कोई मनुष्य होता है। आहाहा! यह सब अभ्यास... यह तो साधारण लड़कों का अभ्यास है। छोटी उम्र में लड़के यह अभ्यास करे। यह कहीं ऐसी बहुत ऊँची बात नहीं है। परन्तु यह भी कहाँ दरकार पड़ी है? आहाहा!

मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभकर्म... पुण्य और पापभाव करे। आहाहा! और उसका फल पुण्य का देवादि में, पाप का नरकादि में भोगे। आहाहा! ब्रह्मदत्त ने यहाँ बड़े पाप किये। चक्रवर्ती छह खण्ड का स्वामी, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवे करोड़ सैनिक और रत्न के पलंग पर सोता था। वह मरते हुए यह... ऐसा होकर मरकर सातवें नरक में गया। तैंतीस सागर की स्थिति में अभी है। तैंतीस सागर अर्थात् एक सागर में दस क्रोड़ा क्रोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम के असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष। तलाटी! यह कभी सुना है? नहीं? फुरसत नहीं न।

तैंतीस सागर की स्थिति में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती है। अनन्त जा आये हैं परन्तु ब्रह्मदत्त तो अभी हुआ है। चक्रवर्ती छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें हजार स्त्रियाँ। आहाहा! अड़तालीस हजार नगर, बहत्तर हजार पाटण, उनका स्वामी मरकर, भाई! अन्त में हाय... हाय.. कुरुमति... कुरुमति... उसकी एक प्रिय स्त्री थी। छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं, उनमें एक प्रिय स्त्री होती है। जिसकी एक हजार देव सेवा करते हैं। उस रानी की एक हजार देव सेवा करते हैं। यह (चक्रवर्ती) अन्त में मरते हुए कुरुमति, ऐसा करके मरकर नीचे सातवें नरक में गया। अभी तो ८५ हजार वर्ष हुए हैं। असंख्य अरब वर्ष का एक पल्योपम में असंख्यवाँ भाग। ऐसे-ऐसे दस क्रोड़ा क्रोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम। ऐसे तैंतीस सागरोपम की स्थिति सातवें नरक में है। वहाँ प्रत्येक जीव अनन्त बार उपजा है। आहाहा! समझ में आया? वहाँ अनन्त बार उपजा है। ओहोहो!

वहाँ के एक क्षण के दु:ख करोड़ों भव में और करोड़ों जीभ से नहीं कहे जा सकते। यह रत्नकरण्ड श्रावकाचार में है। आहाहा! इतनी वहाँ नीचे सातवें नरक में शीत की वेदना है कि जिसमें एक लाख मण का लोहे का गोला, वह लुहार के जवान लड़के ने उसे टीप-टीपकर मजबूत किया हो, वह गोला यदि सातवें नरक में डाले तो पिघल कर पानी हो जाए। शीत की इतनी वेदना कि शीत के कारण लोहे का पानी हो जाए। लाख मण का गोला उसका। आहाहा! तब दु:ख कितना होगा? प्रभु! लाख मण का गोला, उस जवान लुहार ने छह महीने तक टीप-टीपकर मजबूत कठोर-कठोर किया हो। उसे वहाँ रखे तो दो घड़ी में पानी हो जाए। आहाहा! क्या वह नहीं कहते? पानी हो जाए न? पारा... पारा। पारा है न? पारा, उस पारा का ऐसा पानी हो जाए। ऐसे वहाँ के शरीर में ऐसे दु:ख हैं, बापू!

आहाहा! लाख मण का लोहे का गोला क्षण में पानी हो जाए। शीत की वेदना के कारण, हिम के कारण।

जैसे यहाँ हिम गिरती है, तब देखा है? रींगण के वृक्ष होते हैं, वे एकदम सूख जाते हैं। रींगण के। नहीं तो रींगण गर्म है। परन्तु जब हिम गिरती है, तब वे सूख जाते हैं, पहले वे सूख जाते हैं। अभी है, यह सब देखा है। यह सब तो बहुत देखा है। मार्ग में विहार में निकले हो न? सम्प्रदाय में २१ वर्ष तो विहार किया है न! छ-छ कोस का विहार किया है। पाँच-सात हजार कोस का विहार हुआ है। रास्ते में ऐसे रींगण के वृक्ष आवें। (किसी को पूछें) कि यह कैसे सूख गये? (तो कहे), कल हिम गिरा था। हिम गिरा तो सूख गये। रींगण सूख जाता है। नहीं तो स्वयं गर्म होता है, परन्तु वह सूख जाता है। आहाहा! इस हिम की अपेक्षा अनन्तगुणा हिम सातवें नरक में है, प्रभु! आहाहा! यहाँ रींगण के वृक्ष सूख जाएँ, वहाँ लोहे का गोला पानी हो जाए। आहाहा!

भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान की यह वाणी है। भगवान ने तो जगत को बहुत कहा है। आहाहा! भाई! तुझे अब दु:ख नहीं लगता? इस भव का भय प्रभु! तुझे नहीं लगता? तूने ऐसे भव किये। अब ऐसा मनुष्यपना तुझे मिला, उसमें भव से रहित होने का कुछ कर न! नहीं तो यह भव करके अनन्त काल से मर गया है। आहाहा! परन्तु यह विचार भी कहाँ है? पूरे दिन समय भी कहाँ है? पूरे दिन यह कमाना और भोगना। खाना और स्त्री, पुत्र सम्हालना और धन्धा तथा छह-सात घण्टे सो जाना, हो गया, लो! जिन्दगी निकाल डाली। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, मनुष्य में जो कुछ भाव किये, वह कोई मनुष्य मरकर मनुष्य भी होता है, कोई मनुष्य मरकर नारकी होता है, कोई मनुष्य मरकर ढ़ोर होता है, कोई मनुष्य मरकर देव होता है। यह आया न इसमें? **मनुष्यपर्याय ने शुभाशुभकर्म किये और उनका फल देवादिपर्याय ने...** देव आदि अर्थात् चार, चार गतियाँ। देवादि अर्थात् चार गतियाँ। पाप के परिणाम किये हों तो नरक में जाए, मध्यम तिर्यंच के परिणाम किये हों तो पशु में जाए। आहाहा! व्यन्तर आदि में जाए, वैमानिक में जाए, कोई मनुष्य भी हो। मनुष्य मरकर कोई सरल परिणाम हो तो मनुष्य भी हो। इसलिए यहाँ देवादि चार पर्याय ली है न? **मनुष्यपर्याय से शुभाशुभ कर्म किये...** पुण्य और पाप किये **और उनका फल देवादिपर्याय ने...** अर्थात्

देव, मनुष्य, तिर्यंच—ढोर, नरक में जाए। भाव यहाँ किये और जाए वहाँ। आहाहा! नित्य है न? पर्याय दूसरी है परन्तु आत्मा तो वह का वह है न! आहाहा!

दो भाईयों की एक बात आती है। छोटा भाई रोगिष्ट था, पश्चात् बड़े भाई उसकी दवा लाये। कुछ लम्बा काल चला, इसलिए बड़ा भाई अण्डा लाया। उसे कहा नहीं कि यह अण्डा है। इसलिए उसे खबर नहीं कि यह पाप है। इसलिए वह स्वयं बीमार था, वह नरक में परमाधामी हुआ और जो लाकर देता था, वह नारकी हुआ, नारकी। फिर नारकी को वह मारता है, तब वह कहता है कि परन्तु मैंने यह तेरे लिये किया था। परन्तु मैंने तुझसे कहाँ कहा था? मैंने तुझे कहा था? अण्डा लावे, यह लाता है, मुझे तूने कहा? तूने पाप किये, तू भोग। आहाहा!

मुमुक्षु : स्त्री के लिये करते हैं, वह हमें भोगना पड़ेगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके लिये कहाँ है? स्वयं कषाय की है, उसकी बात है। स्वयं कषाय की, उसका पाप है। स्त्री करे, उसका स्त्री जाने। आहाहा! स्त्री पाप करे तो नरक में जाए। यह तो मनुष्य है न? पुण्य आदि करे तो स्वर्ग में जाए, साधारण पाप करे तो ढोर-पशु में जाए। आहाहा! चार गति चौरासी लाख (योनि) पड़ी है। ढाई द्वीप में मनुष्य है। ४५ लाख योजन में मनुष्य है, पश्चात् मनुष्य नहीं है। ४५ लाख योजन के विस्तार में मनुष्य है, पश्चात् मनुष्य नहीं है। पश्चात् असंख्य-असंख्य द्वीप-समुद्र है। असंख्य योजन के द्वीप-समुद्र है। वे असंख्यात हैं। उनमें अकेले तिर्यंच हैं। अकेले तिर्यंच; मनुष्य वहाँ नहीं है। मनुष्य वहाँ नहीं जा सकते। आहाहा! ऐसी बात है।

एक बार इसे विचार में तो उतर जाए। अरे! प्रभु! कर तो सही काम। आहाहा! देह तो छूट जाएगी। कब छूटेगी, इसका नियम नहीं है, इसका भरोसा नहीं है। गिरेगी, इसका भरोसा नहीं है। भरोसा इसका (आत्मा का) कर न! आहाहा! नित्यानन्द प्रभु, सच्चिदानन्द ध्रुव चीज़ अन्दर है, उसका भरोसा और उसकी दृष्टि कर तो जन्म-मरण का अन्त आ जाएगा। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं।

मनुष्यादि में शुभाशुभकर्म किये। दोनों किये न? शुभ और अशुभ दोनों किये न मनुष्य में? उसके फलरूप से देवादि। अर्थात् देव और नारकी आदि पर्याय भोगता है।

यदि द्रव्यदृष्टि से देखा जाए... यदि वस्तु से देखें तो जो यहाँ कर्ता यहाँ था, वही वहाँ भोगता है। पर्याय से देखें तो जिस पर्याय ने किया है, वह पर्याय यहाँ रह गयी और दूसरी पर्याय वहाँ (भोगती है)। परन्तु द्रव्यदृष्टि से—वस्तुदृष्टि से देखें तो जो पर्याय जिस द्रव्य ने की है, वही द्रव्य दूसरे भव में भोगता है। आहाहा!

उसके सिर पर ताम्र के (पत्र) गिरे और मर गया तो कैसा होता होगा? लोहे का माल लेने आया था। उसमें कौन जाने कहाँ से ताम्र के (पत्र पड़े)। उसे चद्दर का बड़ा व्यापार है। एकदम ऐसे खिसककर सिर पर गिरे। आहाहा! अकस्मात ऐसा कहा जाता है। अकस्मात है नहीं, उस समय में वह होनेवाला ही था। आहाहा! उसे कोई रोक सके कि अरे रे! ऐसा किया होता तो ऐसा होता और वैसा किया होता तो वैसा होता, यह गप्प है। आहाहा! जिस समय में जो... यह तो ऊपर कहा न?

प्रति समय सम्भवते (होनेवाले) अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा... पहली लाईन में है। आहाहा! जिस समय में जो पर्याय होनी है... आहाहा! वह **अगुरुलघुगुण के परिणाम द्वारा क्षणिक होने से...** वह परिणाम अपेक्षा से क्षणिक है और अचलित रहने की अपेक्षा से नित्य है। वस्तु अचलित वह का वह आत्मा है। नरक में था, वह यह है। यह चींटी, कौवे में गया है, वह मनुष्य था और चींटी, कौवे में गया है। आहाहा! भव का भय लगना चाहिए, बात यह है। आहाहा!

वृत्त्यंशों (पर्यायों) का क्षणिकत्व होने पर भी, वृत्तिमान (पर्यायमान)... पर्यायवान द्रव्य / पदार्थ **जो चैतन्यचमत्कार (आत्मा) है, वह तो टंकोत्कीर्ण (नित्य) ही अन्तरंग में प्रतिभासित होता है।** भगवान तो नित्य है, शुद्ध है, ध्रुव है, वह पर्याय में प्रतिभासित होता है। पर्याय पर्याय को देखे तो प्रतिभास नहीं होता। पर्याय पर्याय को देखे तो प्रतिभास नहीं होता। अनादि काल से पर्याय पर्याय को देखती है। अवस्था बदलती है, उसके ऊपर अनादि की अज्ञानी की लीनता है। आहाहा! परन्तु वह पर्याय बदलकर पर्याय का लक्ष्य अन्दर द्रव्य के ऊपर करे, ध्रुव... ध्रुव, जिसके ऊपर (पर्याय) तैरती है, वह कौन है? आहाहा! पर्याय ऊपर तैरती है, वस्तु है वह अन्दर ध्रुव है। यह कहते हैं कि ध्रुव प्रतिभासित होता है। आहाहा! आया न?

मनुष्यपर्याय में जिस जीवद्रव्य ने शुभाशुभ कर्म किये, उसी जीवद्रव्य ने देवादि पर्याय में स्वयं किये गये कर्म के फल को भोगा। आहाहा! यहाँ माँस और शराब खाया (पिया) वह मरकर नरक में जाए, वहाँ फल भोगे। यह द्रव्य तो वह का वह है, पर्याय बदली है। आहाहा! चोरी करे, उसका फल फिर राज में दण्ड मिलता है। उस जीव को मिलता है या दूसरे जीव को? भले जिस पर्याय में चोरी की, वह पर्याय नहीं रही, वह पर्याय बदल गयी। इस अपेक्षा से दूसरी पर्याय ने भोगा। परन्तु द्रव्य अपेक्षा से तो जिस द्रव्य ने की थी, वह द्रव्य वहाँ का वहीं है। आहाहा!

एक बार राजकोट में गये थे न? भाई! सब जेलरों ने कहा कि हमें महाराज के दर्शन करना है। अभी कहीं था न? कहाँ? उन लोगों ने सुना था कि महाराज आये हैं। यहाँ हमें जेल में दर्शन देने आवें। वहाँ तो इनकार किया, कहा, अब शरीर काम नहीं करता परन्तु राजकोट में जेल में गये थे। वहाँ जेल में भी पहले इस ओर के दरवाजे बन्द करे। सब एकत्रित हुए। लूटेरे-बुटेरे सब बड़े कैसे डाकू सब इकट्ठे हुए। दस मिनिट सब उन्हें सुनाया। सुनते थे, सब सुनते थे। वे भी ऐसे पाप किये हुए परन्तु सरकार ने वहाँ छूट दी। बड़े पापियों को महीने, दो महीने, चार महीने घर जाना हो तो जाए परन्तु वापस यहाँ आकर रहे। राजकोट में है। बेचारे सब सुनें। कुछ रखा था। नहीं? उनकी ओर से। हार.. हार रखा था। सब डाकू, बहुत कैदी थे। दूसरी जेल में भी कहीं गये थे। यह राजकोट नहीं। दैगम्बल, सागर के पास, वहाँ गये थे। यह तो राजकोट गये थे, तब जेल में गये थे। वहाँ जेल में ऊपर लिखा था, अज्ञान, वह दु:ख है। इसलिए कैदियों को कहा-भाई! इस अज्ञानरूप से पाप किये, उसका फल है, भाई! राजकोट जेल में गये थे। और वह कैसा कहा? दैगम्बल, सागर के पास, वहाँ गये थे। वहाँ मुमुक्षु हैं। उन्हें खबर पड़ी कि महाराज यहाँ आये हैं। पश्चात् अन्दर गये थे। अभी कोई कहने आया था, महाराज! आपके दर्शन जेल में करना है। कहलाया था। आहाहा! परन्तु उनने बेचारों ने पाप किये हों और यहाँ भोगना पड़े। आहाहा! तो द्रव्यरूप से तो वह का वह है। जिसने किया है, वही भोगता है। पर्यायरूप से दूसरी पर्याय है। जिस पर्याय ने किया, वह पर्याय तो गयी, दूसरी पर्याय भोगती है। दूसरी पर्याय भोगती है; इसलिए कहीं द्रव्य दूसरा (हो) जाता है? आहाहा!

इस प्रकार वस्तु का स्वरूप अनेकांतरूप सिद्ध होने पर भी,... अन्तिम पैराग्राफ। **जो जीव शुद्धनय को समझे बिना...** शुद्धनय को। शुद्धनय को—इसका अर्थ त्रिकाली अभेद—गुण-गुणी का भेद भी जिसका विषय नहीं, ऐसा शुद्धनय अर्थात् ज्ञान, शुद्ध ज्ञान का विषय त्रिकाली भगवान आत्मा है। उसमें भेद नहीं, अभेद विषय है। सम्यग्दर्शन होने पर उस अभेद की दृष्टि करता है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, **जीव शुद्धनय को समझे बिना...** शास्त्र ने शुद्धनय कहा है परन्तु उसे किस प्रकार समझना, यह समझे बिना **शुद्धनय के लोभ से...** ऐसा कि एक में दूसरा जोड़ना, वह उपाधि हो जाती है। उसके लोभ से **वस्तु के एक अंश को (वर्तमान काल में वर्तती पर्याय को) ही वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय...** ऋजु अर्थात् सीधा। वर्तमान पर्याय है, उसे मानना वह ऋजु। ऋजु—सरल, सीधी। आड़ी-टेढ़ी, भूत-भविष्य को मानना, इसका नाम ऋजुसूत्र नहीं है। आहाहा! **विषय का एकान्त पकड़कर...** इस ऋजुसूत्रनय का विषय एक समय की पर्याय है। सात नय है। इतना सब कहाँ (समझे) ? नैगम, संग्रह, व्यवहार आदि। समभिरूढ़, शब्द, एवंभूत, ऋजुसूत्र। (ऐसे) सात नय हैं।

नय अर्थात् ज्ञान का अंश। उसके द्वारा देखने की पद्धति। उसमें ऋजुसूत्रनय की देखने की पद्धति एक समय की पर्याय है। एक समय की पर्याय को ही माने, जाने, बस! आहाहा! वह **ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है, वही नहीं भोगता...** ऐसा मानता है। जो करता है, वह नहीं भोगता। वह दूसरी पर्याय है न ? पर्याय बदली न ? आहाहा! **अन्य भोगता है, और जो भोगता है, वही नहीं करता...** क्योंकि भोगने की पर्याय भिन्न है और करने की पर्याय भिन्न हो गयी। ऐसा मानने से **विषय का एकान्त पकड़कर यह मानता है कि 'जो करता है, वही नहीं भोगता-अन्य भोगता है, और जो भोगता है, वही नहीं करता-अन्य करता है,' वह जीव मिथ्यादृष्टि है,...** उसकी दृष्टि झूठी है, झूठी है। झूठन को सेवन करता है। आहाहा! मिथ्या। जैसा वस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार से जिसकी मान्यता नहीं, वह झूठे भाव को सेवन करता है और उसके कारण चार गति में भटककर मरेगा। आहाहा! सब ऐसा कठिन। वह तो कैसा सरल था—सामायिक करे, प्रौषध करे, एक कान से सुनने जाए, धर्म हो जाए, लो! धूल भी धर्म नहीं होता। जिन्दगी चली जाएगी, बापू! आहाहा!

अरहन्त के मत का नहीं है;... जो एक समय की पर्याय है, वह की वह पर्याय दूसरे समय में, बाद के समय में दूसरी पर्याय भोगे तो पर्याय भोगे, उसे ही वह पर्याय माने। परन्तु उसमें द्रव्य जो त्रिकाल इकट्ठा है, उसे न माने, वह मिथ्यादृष्टि है। वह अरहन्त के मत का नहीं है। जिनवरदेव त्रिलोकनाथ अरिहन्त के मत का वह नहीं है। **क्योंकि, पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है;...** पर्यायों का क्षणिकपना होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्य चमत्कार तो अनुभवगोचर है। कायम जो है। कल था, वह आज है; आज है, वह कल रहेगा। आहाहा! उसे खबर नहीं साठ-सत्तर वर्ष गये, इसे खबर नहीं, साठ वर्ष पहले यह था। साठ वर्ष पहले इस जगह यह था, पढ़ता था। यह सब कौन (जानता है) ? आत्मा नित्य है, तब याद आता है या क्षणिक होवे तो याद आवे ? आहाहा!

पर्यायों का क्षणिकत्व होने पर भी, द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभवगोचर नित्य है; प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है... प्रत्यभि अर्थात् यह है, वह था। ऐसा होने से **जो मैं बालक अवस्था में था...** आहाहा! **वही मैं तरुण अवस्था में था...** पहले जो मैं था, वही मैं हूँ। आहाहा! **और वही मैं वृद्ध अवस्था में हूँ।'** आहाहा! **इस प्रकार जो कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है...** कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है। आहाहा! यह आत्मा नित्यानित्य है। एकान्त नित्य भी नहीं, एकान्त अनित्य भी नहीं। उस नित्यानित्य को यथार्थ माने। आहाहा! **कथंचित् नित्यरूप से अनुभवगोचर है-स्वसंवेदन में आता है...** आहाहा! आत्मा ज्ञान से यह ज्ञान... यह ज्ञान... यह ज्ञान, यह ज्ञान में वेदन आता है। आहाहा! **और जिसे जिनवाणी भी ऐसा ही कहती है,...** वस्तु ऐसी है और जिनवाणी ऐसा कहती है। आहाहा! **उसे जो नहीं मानता, वह मिथ्यादृष्टि है-ऐसा समझना चाहिए।** आहाहा! अब श्लोक आया। श्लोक है न ?

कलश - २०८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

आत्मानं परिशुद्ध-मीप्सुभि-रतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः,
कालोपाधिबला-दशुद्धि-मधिकां तत्रापि मत्वा परैः।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य प्रथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हार-वदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ।।२०८।।

श्लोकार्थ : [आत्मानं परिशुद्धमईप्सुभिः परैः अन्धकः] आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धों ने-[पृथुकैः] बालिशजनों ने (बौद्धों ने)- [काल-उपाधि-बलात् अपि तत्र अधिकाम् अशुद्धिम् मत्वा] काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर [अतिव्याप्तिं प्रपद्य] अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर, [शुद्ध-ऋजुसूत्रे रतैः] शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होते हुए [चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य] चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके, [अहो एषः आत्मा व्युज्झितः] इस आत्मा को छोड़ दिया; [निः सूत्र-मुक्ता-ईक्षिभिः हारवत्] जैसे हार के सूत्र (डोरे) को न देखकर मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।

भावार्थ : आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक बौद्धों ने विचार किया कि 'यदि आत्मा को नित्य माना जाए तो नित्य में काल की अपेक्षा होती है, इसलिए उपाधि लग जाएगी; इस प्रकार काल की उपाधि लगने से आत्मा को बहुत बड़ी अशुद्धि आ जाएगी और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।' इस दोष के भय से उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र (क्षणिक ही) आत्मा को माना और उसे (आत्मा को) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना। इस प्रकार आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप-द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्याय में आत्मा की कल्पना हुई; किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।

मोतियों के हार में, डोरे में अनेक मोती पिराये होते हैं; जो मनुष्य उस हार नामक वस्तु को मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता-मात्र मोतियों को ही देखता है, वह पृथक्-पृथक्

मोतियों को ही ग्रहण करता है, हार को छोड़ देता है; अर्थात् उसे हार की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते और समय समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते-मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्मा को छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।।२०८।।

श्लोक - २०८ पर प्रवचन

आत्मानं परिशुद्ध-मीप्सुभि-रतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकै:,
कालोपाधिबला-दशुद्धि-मधिकां तत्रापि मत्वा परै:।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य प्रथुकै: शुद्धर्जुसूत्रे रतै-
रात्मा व्युज्झित एष हार-वदहो नि:सूत्रमुक्तेक्षिभि: ।।२०८।।

आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धों ने-बालिशजनों ने (बौद्धों ने)-काल की उपाधि के कारण... आहाहा! अभी है और बाद में भी रहेगा, परन्तु यह क्या उपाधि? वर्तमान बस एक ही बराबर है। 'गोरण गाडा भरे' फिर अपने (कहावत) चलती है। बाद का क्या? 'गोरण गाडा भरे' अभी करो न। आहाहा! एक वर्तमान ही माननेवाले बौद्ध लोगों की भाँति... आहाहा! **'आत्मानं परिशुद्धम्' आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध चाहनेवाले अन्य किन्हीं अन्धों ने-'पृथुकै:' बालिशजनों ने (बौद्धों ने) 'काल-उपाधि' काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर...** क्या कहा? कि आत्मा है परन्तु तीन काल है, वह उपाधि है। आहाहा! उसे तीन काल लगाना, उसमें एकरूप नहीं रहा। एकरूप नहीं रहा। उसकी यह मान्यता है। एकरूप है वह शुद्ध, दो रूप (होवे, इसलिए) बिगड़े। बिगड़े दो। ऐसा उसने माना है। आहाहा!

काल की उपाधि के कारण भी आत्मा में अधिक अशुद्धि मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर,... आहाहा! **शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होते हुए...** वर्तमान पर्याय को ही माननेवाले। ऋजुसूत्र अर्थात् वर्तमान पर्याय। **चैतन्य को क्षणिक कल्पित करके,...** चैतन्य

को तो क्षणिक माना। '**अहो एषः आत्मा व्युज्झितः**' उसने आत्मा को छोड़ दिया। पर्याय को माननेवाले ने त्रिकाली आत्मा को छोड़ दिया। आहाहा! बहुत से ऐसा मानते हैं कि अभी होनेवाला हो, वह होता है, भविष्य का क्या काम है? अभी करो न, भविष्य का होना होगा, वह होगा। वे सब बौद्ध ही हैं।

जैसे हार के सूत्र (डोरे) को न देखकर... डोरे बिना मोती देखे, उसे हार नहीं दिखता। आहाहा! इसी प्रकार नित्य देखे बिना आत्मा का नित्यपना नहीं ज्ञात होता। **मात्र मोतियों को ही देखनेवाले हार को छोड़ देते हैं।** अकेले मोती को देखे परन्तु हार ऐसे सूत से पूरा भरा हुआ है, सूत का डोरा अन्दर सलंग है। उसी प्रकार एक-एक पर्याय भिन्न है परन्तु सभी पर्यायों में डोरा नित्य तो सलंग आत्मा है। प्रत्येक पर्याय में अनादि-अनन्त में आत्मा तो नित्य है। उस नित्य को वे नहीं मानते और छोड़ते नहीं, वे अज्ञानी अन्ध हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०४, श्लोक-२०८ से २१० शनिवार, ज्येष्ठ कृष्ण ९
दिनाङ्क - ०७-०६-१९८०

समयसार, २०८ कलश का **भावार्थ – आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक...** बौद्ध। **आत्मा को सम्पूर्णतया शुद्ध मानने के इच्छुक...** सब प्रकार से शुद्ध (मानने के इच्छुक)। है तो शुद्ध त्रिकाल। परन्तु उसे ऐसा लगता है कि तीन काल लगाना, वह उपाधि है। आहाहा! वह तो इसका स्वरूप है, त्रिकाली नित्य है। **बौद्धों ने विचार किया कि 'यदि आत्मा को नित्य माना जाए तो नित्य में काल की अपेक्षा होती है...** त्रिकाल आता है न? त्रिकाल। काल की अपेक्षा। काल की अपेक्षा आवे, इसलिए अशुद्ध है। इसलिए नित्य नहीं, और क्षणिक है। आहाहा!

इसलिए उपाधि लग जाएगी;... नित्य कहने से उसे त्रिकाल की उपाधि लगेगी। **इस प्रकार काल की उपाधि लगने से आत्मा को बहुत बड़ी अशुद्धि आ जाएगी...** ऐसा मानते हैं। अभी बड़ा पन्थ है। चीन में अकेला बौद्ध पन्थ ही है। **और इससे अतिव्याप्ति दोष लगेगा।** ऐसा कहते हैं। जो है वस्तु, उसे काल-त्रिकाल यदि लागू करो तो अतिव्याप्ति हो जाएगी। अपनी अपेक्षा दूसरा काल लागू करे, त्रिकाल अर्थात् अतिव्याप्ति दोष आयेगा। **इस दोष के भय से उन्होंने शुद्ध ऋजुसूत्रनय का विषय...** वास्तव में तो जो एक समय की पर्याय है, वह शुद्ध ऋजुसूत्र-सीधा देखे, ऐसे ऋजुसूत्रनय का विषय है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजु। चौथा नय है।

उसका **विषय जो वर्तमान समय है, उतना मात्र... वर्तमान समय है, उतना मात्र (क्षणिक ही) आत्मा को माना और उसे (आत्मा को) नित्यानित्यस्वरूप नहीं माना।** नित्य है और पर्याय पलटती है, ऐसा उसने नहीं माना। **इस प्रकार आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप-द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई;...** नित्य-अनित्य है और उसे अनित्य—क्षणिक ही मानना, उसे वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती। **सर्वथा क्षणिक मानने से उन्हें नित्यानित्यस्वरूप-द्रव्यपर्यायस्वरूप सत्यार्थ आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई; मात्र क्षणिक पर्याय में आत्मा की कल्पना हुई;...** वर्तमान एक क्षणिक

पर्याय है, उतना मैं हूँ। पश्चात् और दूसरा है और नित्य है, वह कौन? आहाहा! **किन्तु वह आत्मा सत्यार्थ नहीं है।** वह मानता है, वह आत्मा सच्चा नहीं है।

मोतियों के हार में, डोरे में अनेक मोती पिराये होते हैं;... मोती के हार में मोती पिरोये हुए हों। **जो मनुष्य उस हार नामक वस्तु को मोतियों तथा डोरे सहित नहीं देखता...** मोती और डोरा, ऐसे दो नहीं देखता, **मात्र मोतियों को ही देखता है,...** अकेले एक ही मोती, एक... एक... एक (देखता है)। आहाहा! **वह पृथक्-पृथक् मोतियों को ही ग्रहण करता है, हार को छोड़ देता है;...** आहाहा! **अर्थात् उसे हार की प्राप्ति नहीं होती।** एक-एक मोती को ग्रहण करनेवाले को पूरा हार हाथ नहीं आता।

उसी प्रकार **इसी प्रकार जो जीव आत्मा के एक चैतन्यभाव को ग्रहण नहीं करते...** चैतन्य भाव त्रिकाल को ग्रहण नहीं करते, उसे नहीं मानते **और समय समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समयमात्र...** वर्तमान समयमात्र पर्याय, वही आत्मा है। भूत और भविष्य दो लगाओगे तो उपाधि लगेगी। आहाहा! ऐसा मत है। बड़ा मत है। चीन की ओर (चलता है)। **और समय समय पर वर्तनापरिणामरूप उपयोग की प्रवृत्ति को देखकर आत्मा को अनित्य कल्पित करके, ऋजुसूत्रनय का विषय जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है, उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते...** आहा! ऐसा कितनों ने तो विचार भी नहीं किया होगा। द्रव्य क्या और फिर पर्याय क्या? आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य अर्थात् पैसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा? वह कहता था न। द्रव्य अर्थात् पैसा, पैसे का क्या काम है? पैसा वह अनन्त द्रव्य है। पैसा एक द्रव्य नहीं, वे अनन्त परमाणु हैं। वह प्रत्येक परमाणु द्रव्य है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा की बात चलती है।

जो वर्तमान-समयमात्र क्षणिकत्व है, उतना मात्र ही आत्मा को मानते हैं (अर्थात् जो जीव आत्मा को द्रव्यपर्यायस्वरूप नहीं मानते-मात्र क्षणिक पर्यायरूप ही मानते हैं), वे आत्मा को छोड़ देते हैं;... हार को देखनेवाले अकेले मोती को ही देखते हैं परन्तु हार

को पूरा नहीं देखते। वैसे ही एक ही पर्याय वर्तमान है, उसे देखते हैं परन्तु उसमें आत्मा का सलंग नित्यपना है, उसे नहीं देखते। आहाहा! यह तो बौद्ध की बात की, हों! बाकी तो बड़ा भाग पर्याय को माने, वह वर्तमान दिखाई दे वह अवस्था। त्रिकाली ध्रुव है, वह तो दिखता नहीं। आहाहा! वह तो अदृश्य है। इससे वर्तमान पर्याय को मानकर सब चलता है। भले बोले ऐसा कोई कहे तो नित्य आत्मा है। परन्तु नित्य क्या है? नित्य कैसे है? इसकी खबर नहीं। **वे आत्मा को छोड़ देते हैं; अर्थात् उन्हें आत्मा की प्राप्ति नहीं होती।** २०८ (श्लोक पूरा) हुआ। २०९।

कलश - २०९

अब इस काव्य में आत्मानुभव करने को कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेय-मभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ।।२०९।।

श्लोकार्थ : [कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु वा अभेदः अपि] कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो, [वा कर्ता च वेदयिता मा भवतु] अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों; [वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम्] वस्तु का ही अनुभव करो। [निपुणैः सूत्रे इच इह आत्मनि प्रोता चित्-चिन्तामणि-मालिका क्वचित् भेत्तुं न शक्या] जैसे चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गयी मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती, उसी प्रकार आत्मा में पिरोयी गयी चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से भेदी नहीं जा सकती; [इयम् एका] ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही, [नः अभितः अपि चकास्तु एव] हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो)।

भावार्थ : आत्मा वस्तु होने से द्रव्यपर्यायात्मक है। इसलिए उसमें चैतन्य के परिणमनस्वरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है और चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है; इस प्रकार भेद-अभेद हो अथवा चिन्मात्र अनुभवन में भेद-अभेद क्यों करना चाहिए? (आत्मा को) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिए, वस्तुमात्र का अनुभव करना चाहिए। जैसे मणियों की माला में मणियों की और डोरे की विवक्षा से भेद-अभेद है परन्तु मालामात्र के ग्रहण करने पर भेदाभेद-विकल्प नहीं है, इसी प्रकार आत्मा में पर्यायों की और द्रव्य की विवक्षा से भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि - ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान हो।।२०९।।

श्लोक - २०९ पर प्रवचन

कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा,
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम्।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिच्चिन्तामणिमालिकेय-मभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ।।२०९।।

क्या कहते हैं ? **'कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु वा अभेदः अपि' कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो**... कि जिस समय करता है, वह पर्याय भोगती नहीं। और जो यह द्रव्य है, वह करता है, द्रव्य भोगता है। ऐसा कर्ता और भोक्ता का भले हो। इस प्रकार हो। जो पर्याय करती है, वह पर्याय भोगती नहीं परन्तु द्रव्यरूप से जिस द्रव्य की पर्याय है, जो द्रव्य कर्ता है, वह द्रव्य भोगता है। इसलिए **कर्ता का और भोक्ता का युक्ति के वश से भेद हो या अभेद हो,**... आहाहा! जो कर्ता है, वही भोक्ता है, ऐसा मानो। **'वा कर्ता च वेदयिता मा भवतु' अथवा कर्ता और भोक्ता दोनों न हों;**... आहाहा! पर्याय है, वह करती है, दूसरी पर्याय भोगती है; इसलिए कर्ता-भोक्ता यह न हो।

'वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम्' अब सब चिन्ता छोड़ दे न। **वस्तु का ही अनुभव करो।** आहाहा! कर्ता हो, वह भी ठीक है, भोक्ता दूसरा है, वह भी ठीक है, वह का वह कर्ता और

वह का वह भोक्ता द्रव्य से, यह भी ठीक है। कर्ता हो या न हो, परन्तु वस्तु जो है, उसका अनुभव करो। आहाहा! **वस्तु का ही अनुभव करो।** सच्चिदानन्द आत्मा ज्ञान -स्वरूपी प्रभु आनन्दमूर्ति आत्मा में त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। जैसे उसमें अतीन्द्रिय ज्ञान त्रिकाल पड़ा है, उसी प्रकार उसमें वीर्य—पुरुषार्थ त्रिकाली अनन्त पड़ा है। ऐसे आत्मा को अनुभव करो। आहाहा! तब उसे धर्म होता है।

वस्तु का ही अनुभव करो। वस्तु हुई और अनुभव करना अर्थात् पर्याय हुई। दोनों आ गये। त्रिकाली वस्तु भी है और उसका अनुभव होना, वह पर्याय है। इसलिए दोनों आ गये। पर्याय आयी और वस्तु भी आयी। आहाहा! **जैसे चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गयी मणियों की माला...** मणि की माला में डोरा पिरोया हुआ। आहाहा! **मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती,...** डोरे में पिरोई हुई मणियाँ, उस मणि को यदि पृथक् एक को तोड़ने जाए तो पूरा हार टूट जाता है। उसे पूरा हार हाथ नहीं लगता। उसी प्रकार आत्मा में एक पर्याय पकड़ने जाए तो उसकी दृष्टि में त्रिकाली द्रव्य का नाश होता है। आहाहा!

माला भेदी नहीं जा सकती, उसी प्रकार आत्मा में पिरोयी गयी चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला... आहाहा! समय-समय की पर्याय में भी चैतन्य चिन्तामणि रत्न, वह तो पिरोया हुआ नित्य है। है? आहाहा! **पिरोयी गयी चैतन्यरूप चिन्तामणि...** वह चिन्तामणि है। चैतन्य नित्य चिन्तामणि उसकी प्रत्येक पर्याय में व्याप्त होता है। आहाहा! ऐसा विचार कब करे? ऊपर-ऊपर से जिन्दगी चलती है। यह तो वस्तु और उसकी पर्याय, उस पर्याय में चिन्तामणि रत्न प्रभु नित्य पिरोया हुआ है। साथ-साथ ही है। पर्याय गयी, इसलिए स्वयं कहीं पूरा गया—ऐसा नहीं है। आहाहा!

चतुर पुरुषों के द्वारा डोरे में पिरोयी गयी मणियों की माला भेदी नहीं जा सकती,... चतुर पुरुषों ने डोरा में पिरोयी हुई, हों! आहाहा! ऐसे चतुर पुरुषों ने समय-समय की पर्याय में चैतन्य चिन्तामणि पिरोया हुआ जो ध्रुव है... आहाहा! (उसे) कभी छोड़ता नहीं। **ऐसी यह आत्मारूपी माला एक ही,...** आहाहा! आचार्य महाराज कहते हैं, हमें तो **आत्मारूपी माला एक ही, हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो...** पर्याय है भले, त्रिकाली हमारा आत्मा भगवान सच्चिदानन्दस्वरूप, वह हमें प्रकाशमान हो। आहाहा! कर्ता हो पर्याय से, भोक्ता

दूसरा हो, वह का वह आत्मा कर्ता हो और भोक्ता हो, जैसा है वैसा है। हमें तो वह आत्मा है, वह हाथ आओ, बस! आहाहा!

आत्मारूपी माला एक ही, हमें सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो... आहाहा! देखा? शास्त्र का ज्ञान हो या अमुक हो, वह भी नहीं कहा। आहाहा! हमें तो चिन्तामणि भगवान आत्मा नित्य वस्तु जो है, वह हमें प्राप्त हो, बस! वह प्राप्त हो, उसमें पर्याय आ गयी। आहाहा! **सम्पूर्णतया प्रकाशमान हो (अर्थात् नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर...)** पर्याय से वह अनित्य है, वस्तु से वह नित्य है – ऐसे राग के विकल्प के भेद को छोड़कर, विकल्प को छोड़ दे। वस्तु तो है वह है। आहाहा!

(हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो)। करने का यह है। बारम्बार भगवान नित्यानन्द प्रभु, (का) निर्विकल्प अनुभव करना, वह एक ही चीज़ है। आहाहा! दूसरा चाहे जितना जानपना हो या न भी हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। चिदानन्द भगवान नित्यानन्द प्रभु... आहाहा! हमें वह प्राप्त हो। प्रवचनसार में तो कहा है न? हमें वह प्राप्त हो। विशेष ज्ञान से अलम्। आहाहा! है न? विशेष ज्ञान बहुत करना, उसमें रुकना बस है अब। हमें तो आत्मा त्रिकाली आनन्द का नाथ, उसका अनुभव एक ही रहो, हो। दूसरा कुछ नहीं चाहिए। आहाहा! जानपना अधिक करके जगत को बताना है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : जगत कहाँ निवृत्त है देखने को।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ऐसा कि लोग पहिचाने तो मान दे, गिनती में गिना जाए। आहाहा! यह तो संसार है, यह तो दूसरे प्रकार का संसार है।

यहाँ कहते हैं, हमें कुछ नहीं चाहिए। हमें कर्ता-भोक्ता यह हो और कर्ता-भोक्ता न हो, चाहे जो (भेद) उसे लागू पड़ता हो, परन्तु हमें तो चैतन्य चिन्तामणि माला ध्रुव है, वह एक ही अनुभव में हो, बस! आहाहा! अनुभव में हो, वह पर्याय आयी। चिन्तामणि त्रिकाली, यह नित्य आया। त्रिकाली आत्मा है, उसका अनुभव हो, उसमें पर्याय आयी। अर्थात् पर्याय और द्रव्य दोनों आ गये। आहाहा! **(नित्यत्व, अनित्यत्व आदि के विकल्प छूटकर हमें आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हो)।** आहाहा! है तो सही, अनुभव तो मुनि आचार्य है न! यह २०९ कलश का अर्थ हुआ।

भावार्थ : आत्मा वस्तु होने से... आत्मा वस्तु होने से—आत्मा अस्तित्ववाली चीज़ होने से। आहाहा! आत्मा अस्तित्व—है, अस्तिरूप होने से द्रव्यपर्यायस्वरूप है। वस्तु होने से, उसकी अस्ति होने से, मौजूदगी होने से वह द्रव्यपर्यायस्वरूप है। द्रव्य अर्थात् नित्य त्रिकाल और वर्तमान पर्याय, यह दो होकर ही वह वस्तु है। आहाहा! अभी तो यह ज्ञान कराना है न? दृष्टि का विषय है, वह तो अभेद है, वहाँ तो द्रव्य-पर्याय दो नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय तो सम्यग्दर्शन की पर्याय भी नहीं है; उसका विषय तो ध्रुव है। आहाहा! उसमें भी दोनों आ गये। क्योंकि विषय करनेवाला और विषय। विषय करनेवाली पर्याय और विषय ध्रुव। आहाहा!

आचार्य महाराज (कहते हैं) **वस्तु होने से द्रव्यपर्यायात्मक है। इसलिए उसमें चैतन्य के परिणमनस्वरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से...** उसका परिणमन होता है, पर्याय विचार बदलते हैं, इसकी **अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है...** जो पर्याय करे, वह पर्याय भोगती नहीं, अभी यह सिद्ध करना है। निश्चय से तो कर्ता-भोक्ता उस समय में ही है परन्तु यह एक समय की पर्याय में जब प्रतिकूल संयोग आवे, तब उसे दूसरी पर्याय भोगती है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। १०२ गाथा में (ऐसा कहा है), जिस समय में कर्ता, उस समय में भोक्ता वेदक। राग का कर्ता हो, उस समय दुःख का वेदन साथ है। आहाहा! राग, उस विकल्प का कर्ता जिस समय में है, उस समय ही दुःख का अनुभव है। क्योंकि राग, विकल्प स्वयं दुःखरूप है। आहाहा! उसका वेदन, कर्ता के साथ वेदन साथ में है, परन्तु यहाँ जरा कर्ता और भोक्ता पृथक् है, पर्यायदृष्टि जैसा है। जो पर्याय करे, वह भोगे नहीं, दूसरी पर्याय (भोगती है), ऐसा इस अपेक्षा से। वह अपेक्षा मिथ्या है, ऐसा नहीं। अभी यह अपेक्षा है। आहाहा!

इसलिए उसमें चैतन्य के परिणमनस्वरूप... चैतन्य की पर्याय—अवस्थारूप, बदलती दशारूप। **भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है...** क्योंकि पर्याय—अवस्था जो करती है, उसकी दूसरी पर्याय भोगती है। इतना भेद है। आहाहा! **और चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है;...** चिन—ज्ञानमात्र, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान, ज्ञान का गोला, ज्ञान का रसकन्द, ज्ञान का अकेला ज्ञानस्वरूप ही प्रभु तो है। आहाहा! वह तो ज्ञान

चिन्मात्रस्वरूप ही है, ज्ञानमात्र (है)। उसकी अपेक्षा से देखो तो नित्य है। आहाहा! **चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है;...** उसमें—द्रव्य में भेद कैसा? पर्याय की अपेक्षा से भेद है। आहाहा! बात सादी है परन्तु द्रव्य और पर्याय को सिद्ध करने की पद्धति है। कोई ऊपर-ऊपर से माने तो दूसरा कोई और दूसरा मनवावे तो तुरन्त बदल जाएगा। परन्तु अन्तर समझकर जो लॉजिक-न्याय से समझकर मानेगा, वह दूसरे के कुतर्क से नहीं बदलेगा। पूरी दुनिया बदलेगी तो नहीं बदलेगा। यह तो ऐसा का ऐसा ऊपर-ऊपर से माना हो तो दूसरा और दूसरा कुछ कहेगा तो न्याय बदल जाएगा। यह तो कहे, हम हमारे अनुभव से मानते हैं। आहाहा!

चैतन्य के परिणमनस्वरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है और चिन्मात्र द्रव्य की अपेक्षा से भेद नहीं है; इस प्रकार भेद-अभेद हो... उसमें हम कहीं इनकार नहीं करते। आहाहा! वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। **अथवा चिन्मात्र अनुभवन में भेद-अभेद क्यों करना चाहिए?** पर्याय की अपेक्षा से भेद कहना। परन्तु एकरूप चिद्घन नित्यानन्द वह... वह... वह... वह... वह... वह स्वभाव कायम रहनेवाला, उसे भेद किस प्रकार कहना? आहाहा! भेद तो पर्याय में, नयी-नयी अवस्था होती है, उसमें भेद कहना, परन्तु जो एकरूप त्रिकाली ध्रुव नित्य कहो, ध्रुव कहो, सामान्य कहो। आहाहा! उसे भेद-अभेद किसलिए कहना? अथवा भेद-अभेद किसलिए विकल्प उठाना? वह तो त्रिकाल एकरूप चैतन्यमूर्ति है। आहाहा!

है बात सादी परन्तु यह मूल बात, मूल बात को सिद्ध करते हैं। आहा! लोगों को यह विचार भी कब आये हों कि यह पर्याय अनित्य है और द्रव्य नित्य है। नित्य है, उसका अनुभव हो, वह पर्याय कहलाती है। आहाहा! ऊपर-ऊपर से माने, वह कहीं मानना नहीं कहलाता। युक्ति से, लॉजिक से उसकी जो स्थिति है, वस्तु की जो मर्यादा है, वह मर्यादा ख्याल में आवे, उस प्रकार से माने तो वह बराबर माना कहलाये। परन्तु वस्तु की मर्यादा है, वह उसे ख्याल में नहीं आती और ऊपर-ऊपर से माने, वह मान्यता सत्य नहीं है। आहाहा! बहुभाग तो ऊपर-ऊपर ही पड़ा है। आहाहा! क्या हो?

(आत्मा को) कर्ता-भोक्ता ही न कहना चाहिए,... नित्य वस्तु है, उसे कर्ता-भोक्ता

नहीं कहना। वह तो पर्याय बदलती है, उसे कर्ता-भोक्ता कहा जाता है परन्तु त्रिकाली रहनेवाला भगवान है, उसमें बदलाव नहीं है। त्रिकाली ध्रुव है वस्तु आत्मा नित्यानन्द प्रभु, उसमें पलटना-बदलना नहीं है। इसलिए उसे भेद किस प्रकार कहना? पलटना नहीं, उसे भेद कैसे कहना? पलटे, उसे भेद कहलाये। आहाहा! कहो! आचार्यों ने इस एक बात को सिद्ध करने के लिये कितनी बात लिखी है!

वस्तुमात्र का अनुभव करना चाहिए। वस्तु चिदानन्द आनन्द का कन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण की राशि—पिण्ड प्रभु का अनुभव करना। भेद-अभेद के विकल्प छोड़ देना। आहाहा! बारम्बार करनेयोग्य यह है, जानपना करे तो भी यह है और आचरण करे सब बाहर के व्रत आदि तो भी करनेयोग्य तो यह है। उस व्रत आचरण में कुछ है नहीं। आहाहा! व्रत, तप और उस आचरण में तो राग है।

जैसे मणियों की माला में मणियों की और डोरे की विवक्षा (कथन) से भेद-अभेद है... माला में डोरा को देखे तो वह नित्य है और माला का एक-एक मोती देखे तो भिन्न-भिन्न है। आहाहा! माला का डोरा देखे तो एकरूप नित्य है, माला का एक-एक मणका (मोती) देखे तो भिन्न-भिन्न है। इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहाहा! **परन्तु मालामात्र के ग्रहण करने पर भेदाभेद-विकल्प नहीं है,...** मालामात्र ग्रहण करने से उसमें भेदाभेद नहीं है, निर्विकल्प।

इसी प्रकार आत्मा में पर्यायों की और द्रव्य की विवक्षा से भेद-अभेद है... आहाहा! आत्मा में पर्याय की अपेक्षा से भेद है। भिन्न-भिन्न पर्याय होती है, विचार बदले हैं, वह पर्याय है और त्रिकाली रहनेवाला, वह नित्य है। अत: नित्य और अनित्य दोनों भले हों। है। **परन्तु आत्मवस्तुमात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है।** भेद-अभेद का विकल्प नहीं है। आहाहा! वस्तु है। नित्य भी है और अनित्य भी है, अभेद भी है और भेद भी है परन्तु भेद-अभेद का विकल्प नहीं करना। आहाहा! अनुभव करने में विकल्प नहीं होता। विकल्प है, वह तो राग है। भेद-अभेद वस्तु भले हो परन्तु अनुभव करने में विकल्प की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह धर्म ऐसा।

आत्मा में पर्याय की अपेक्षा से भेद है, द्रव्य की विवक्षा से अभेद है। **परन्तु**

आत्मवस्तुमात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। आचार्यदेव कहते हैं कि – ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान हो। हमें कुछ नहीं चाहिए। आहाहा! भेदाभेद के विकल्प नहीं चाहिए न, आहाहा! भेद के ऊपर भी हमारी दृष्टि नहीं चाहिए न, ऐसा कहते हैं। भेद है। वह दृष्टि अभेद के ऊपर करे, उस अभेद का अनुभव हो। आहाहा! भेद जो पर्याय है, वह त्रिकाल का अनुभव करे, उसमें विकल्प नहीं है। अत: हमें तो एक ही अनुभव चाहिए, ऐसा कहते हैं। त्रिकाली द्रव्य का एक अनुभव अर्थात् पर्याय में वह चाहिए, बाकी हमारे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। आहाहा!

पुण्य और पाप के भेद बहुत आते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के, ये सब विकल्प और राग हैं, हमें इनके साथ काम नहीं है। हमें तो यह द्रव्य और पर्याय के भेद में विकल्प उठे, उसका हमें काम नहीं है। आहाहा! वस्तु द्रव्य है और उसकी अवस्था पलटती है। आत्मा नित्यानित्य है, ऐसे विकल्प की, भेद की भी अपेक्षा हमें नहीं है। आहाहा! हमें तो नित्य भगवान जो सच्चिदानन्द निर्मलानन्द है, उसका अनुभव हो। अनुभव पर्याय है। आहाहा! यह दूसरे का भला कब करना? मनुष्य होकर होशियार हो, मनुष्य दूसरे का कुछ भला करे या नहीं? मदद करे न? कुछ नहीं? प्लेन में टोपी पहनते और सब करते थे न! प्लेन में थे। कितना वेतन? १५०० का मासिक वेतन था। प्लेन-प्लेन में नौकर थे। हम बैठते, तब बैठाने आते थे। नौकर थे, छोड़ दिया। १५०० का मासिक वेतन। आहाहा! धूल में कुछ नहीं। ब्रह्मचारी है। विवाह नहीं किया। आहाहा!

यहाँ तो अन्तिम योगफल एक ही लिया। नित्य और अनित्य दोपना होने पर भी पर्याय से अनित्य है-भेद है, द्रव्य से अभेद है। भले हो, हमें तो अन्तर के अभेद का अनुभव हो। वस्तु है त्रिकाली भगवान, उसका अनुभव हो, यही सर्वस्व है। इस अनुभव में से केवलज्ञान आयेगा। आहाहा!

पर्यायों की और द्रव्य की विवक्षा से भेद-अभेद है परन्तु आत्मवस्तुमात्र का अनुभव करने पर विकल्प नहीं है। अनुभव करते हुए विकल्प कहाँ है? आनन्द का अनुभव जहाँ हो, वहाँ तो विकल्प नहीं। क्या अनुभव करता हूँ, वह कहाँ है? ऐसा भेद भी कहाँ है? **आचार्यदेव कहते हैं कि – ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान**

हो। एक ही बात ली है। आहाहा! नहीं हमें बाहर प्रसिद्ध होना, नहीं हमें बाहर लिखकर पुस्तक बनाना, नहीं हमें दुनिया में शिष्य बनाना, हमारी परम्परा चलाना, कुछ नहीं करना। आहाहा! यहाँ तो दूसरा तो नहीं परन्तु नित्य-अनित्य के विकल्प छोड़कर, नित्य का एक अनुभव हो, बस! एक ही चाहिए। आहाहा! बारह अंग का सार यह है। आहाहा! हमारे इतने शिष्य हों, इतनी पदवी हो, आचार्य की और उपाध्याय की पदवी बड़ी, वह हमारे कुछ नहीं चाहिए। पदवी नहीं चाहिए, यह भी नहीं चाहिए। आहाहा! हमें कोई पहिचाने तो हम बड़ों में गिने जाएँ, यह कुछ नहीं चाहिए। आहाहा! एक भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु का अनुभव, उसे अनुसरकर, उसे अनुसरकर भोगना, अनुभव करना, एक ही बात। आहाहा! जिसमें आनन्द आवे, उसमें अतीन्द्रिय आवे। आहाहा!

यह अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। अमृतचन्द्राचार्य अर्थात्? तीर्थंकर का काम किया है कुन्दकुन्दाचार्य ने, और उनके गणधर का काम किया है अमृतचन्द्राचार्य ने। ऐसे ये पुरुष हैं। आहाहा! वे ऐसा कहते हैं। हमारे शिष्य और परिवार और यह और वह और अमुक कुछ नहीं चाहिए। आहाहा! हमारे एक नित्य आत्मा, उसका अनुभव पर्याय में, उसे अनुसरकर अनुभव हो। द्रव्य वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल सर्वांग आनन्द से भरपूर अनाकुल ज्ञान निर्मल से भरपूर, उसका अनुभव रहो। आहाहा! दूसरा कुछ नहीं चाहिए। ऐसा कहते हैं। ऐसा कहकर शिष्य को भी यह कहते हैं कि तू भी सब छोड़ दे और अनुभव कर। एक ही बात। आहाहा! स्वयं ऐसा कहते हैं न? स्वयं कहते हैं तो किसलिए कहते हैं? आहाहा! शिष्य को भी ऐसा कहते हैं, तू भी दूसरी जंजाल छोड़ दे। आहाहा! भेद-अभेद के विकल्प भी छोड़ दे। भले भेद-अभेद है। पर्याय, वह भेद है; द्रव्य, वह अभेद है, परन्तु उस विकल्प को छोड़ दे। आहाहा! और जो वस्तु है, वहाँ पहुँच जा। आहाहा! यह करना है। **ऐसा निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमें प्रकाशमान हो।** आहाहा!

कलश - २१०

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

(रथोद्धता)

व्यावहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते
कर्तृ कर्म च सदैक–मिष्यते।।२१०।।

श्लोकार्थ : [केवलं व्यावहारिकदृशा एव कर्तृ च कर्म विभिन्नम् इष्यते] केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; [निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते] यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाए, [कर्तृ च कर्म सदा एकम् इष्यते] तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है।

भावार्थ : मात्र व्यवहार–दृष्टि से ही भिन्न द्रव्यों में कर्तृत्व–कर्मत्व माना जाता है; निश्चय–दृष्टि से तो एक ही द्रव्य में कर्तृत्व–कर्मत्व घटित होता है।।२१०।।

कलश - २१० पर प्रवचन

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

व्यावहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते
कर्तृ कर्म च सदैक–मिष्यते।।२१०।।

आहाहा! **'केवलं व्यावहारिकदृशा एव कर्तृ च कर्म विभिन्नम् इष्यते' केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं;...** आहाहा! यहाँ तो यह सिद्ध करेंगे। कारीगर करता है काम? कि, नहीं। आहाहा! शिल्पी लेंगे, शिल्पी। शिल्पी जो यह कारीगर है, वह कारीगरी से बनाते हैं, यह बात बराबर है? कि, नहीं। कारीगर तो राग

करता है। वह क्रिया तो जड़ की जड़ के कारण होती है। आहाहा! यह लोहे की कारीगरी, सोने की कारीगरी, चाँदी के हार और... होते हैं न? आहाहा! वह सब कारीगरियाँ उनके समय में कारीगार के काल में, कारीगरी की पर्याय जो है, वह होती है। कारीगर उसका कर्ता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कारीगर राग का कर्ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग करता है, वह राग का कर्ता, यह मिथ्यात्व है। आहाहा!

केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही कर्ता और कर्म भिन्न माने जाते हैं; यदि निश्चय से वस्तु का विचार किया जाए, तो कर्ता और कर्म सदा एक माना जाता है। यह कर्ता यह चीज़ और कार्य वह चीज़। कर्ता सोनी और कार्य गहना, ऐसा है ही नहीं। सोनी गहना कर नहीं सकता, कुम्हार घड़ा बना नहीं सकता, स्त्री रोटी बना नहीं सकती। आहाहा! वकील दलील दे नहीं सकते। लो! दलील कौन दे? खोजकर दे? खोजकर दे कि इस केस में यह अमुक विलायत में इस प्रकार फैसला दिया है। इसलिए यह केस बहुत कठिन है। वहाँ यह फैसला भी ऐसा था। वह दलील दे। वह दलील जड़ की पर्याय जड़ से होती है। आहाहा! आत्मा वह दलील कर नहीं सकता। आहाहा!

यह यहाँ दृष्टान्त दिया है। आहाहा! कर्ता और कर्म—कार्य। कार्य का कर्ता और कर्ता का कार्य, वह एक ही होता है। कर्ता भिन्न और कार्य भिन्न का करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! यह रोटी आत्मा बना सके? आहाहा! कि, नहीं। वह तो उसकी पर्याय उस समय में होनेवाली थी, उसके कारण से हुई है। आहाहा! इतने अधिक जाना। भाषा जड़ की पर्याय है, उस पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! यह पुस्तक बनाना, वह जड़ की पर्याय है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। आहाहा! कठिन काम, भाई!

मुमुक्षु : पूरा संसार फेंक देने जैसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा संसार ही झूठा है। सब गप्प ही मारते हैं। आहाहा! हमने यह किया और हमने यह किया और हमने यह किया। कर्ता परवस्तु है या नहीं? वस्तु है, तो उसकी बदलती पर्याय होती है या नहीं? कोई भी जगत की चीज़ निकम्मी है? निकम्मी अर्थात? उसका काम अर्थात् पर्याय और पर्याय के काम बिना की वह है कि जिससे उसकी पर्याय का काम तू करे? आहाहा! क्या कहा यह?

मुमुक्षु : लड़कों को अनुभव तो देना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : देना पड़े, होशियार पिता हो और व्यापार (करने में) अपना अनुभव दे तो काम चले। खोटी-खोटी गप्प। कहो, हिम्मतभाई! स्वयं को लोहे के व्यापार का (अनुभव) लड़के को देना पड़े या नहीं? भाई! हमने जो यह व्यापार ऐसा किया था, ऐसा लाये थे, ऐसा लाये थे।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का कहाँ था? लड़का कहाँ और बाप भी कहाँ है। दोनों मिथ्या बातें हुई। किसी का आत्मा यह लड़का और किसी का आत्मा वह बाप? कहाँ से हो गये बाप-बेटा? आहाहा! गजब बात है। उसका आत्मा भी कहीं अलग भटकता-भटकता आता है, तेरा आत्मा भटकता अन्यत्र (जाता है)। दोनों को कहीं सम्बन्ध नहीं है, उसमें बेटा-बाप कहाँ से हो गये? आहाहा!

मुमुक्षु : संसार तोड़ डालने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो संसार है ही नहीं। स्वरूप में संसार है ही नहीं, होवे तो नाश होवे न? आहाहा! लॉजिक अलग प्रकार का है, भाई! परमात्मा चैतन्यमूर्ति है, उसमें संसार है ही नहीं। इस पर्याय में संसार है, इस द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने पर उस संसार का नाश होता है। वह नाश होता है, इसका अर्थ (यह कि) उत्पत्ति नहीं होती, उसे नाश होता है, ऐसा कहा जाता है। चैतन्यमूर्ति भगवान के सन्मुख देखने पर जो विकार उत्पन्न होता था, वह नहीं होता, उसे नाश करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! बहुत अन्तर। दुनिया के साथ तो (मिलान खाये ऐसा नहीं है)। दुनिया के चतुर सब इकट्ठे हुए हों, उसमें यह बात। कैसी बात क्या करते हैं यह? दुनिया पागल है। आहाहा! पूरे दिन अभिमान। यह उसे पागल कहते हैं। यह पागल उसे मानता है।

परमात्मप्रकाश में है, कि जब तत्त्व की सूक्ष्म बात आवे, तब सुननेवाले उसे पागल मानते हैं, यह पागल जैसी बातें करते हैं। और वह स्वयं कहनेवाला है, वह समाज को पागल मानता है, कुछ समझ नहीं सकते, पागल हैं। परमात्मप्रकाश में है। आहाहा! यह लकड़ी ऊँची होती है, वह अँगुली के कारण नहीं, आत्मा के कारण नहीं, आत्मा की इच्छा

के कारण नहीं, अँगुली के कारण नहीं। आहाहा! कहाँ जँचे? इसमें वहाँ अधिकरण—आधार नाम की शक्ति है, इसलिए अपनी शक्ति से वहाँ रहा हुआ है। इस अँगुली के कारण रहा है, ऐसा भी नहीं है। ऐसी वस्तुस्थिति है।

मुमुक्षु : पागल जैसा नहीं लगता?

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल जैसा है न! दुनिया पागल है, इसलिए समझती नहीं। एक ओर ऐसा कहना कि अनन्त पदार्थ हैं और दूसरी ओर ऐसा कहना कि एक पदार्थ दूसरे का करे। तब तो दूसरे पदार्थ ने क्या किया? दूसरा पदार्थ है, वह उसकी पर्याय को किये बिना रहा? निकम्मा रहा? प्रत्येक पदार्थ का प्रत्येक समय में उसका काम अर्थात् पर्याय—काम हुआ करता है। अब उसकी पर्याय उसमें हुई, उसका काम यह दूसरा कहे कि, मुझसे हुआ। पागल है। आहाहा! पाँच-पाँच हजार के, दस-दस हजार के वेतन खाते हों तो पागल? सिर घूम गये होते हैं। ऐसा करते हैं, ऐसा करते हैं... ऐसा केस जिता दिया और... ऐसी सलाह दी।

मुमुक्षु : पूरी दुनिया पागल सिद्ध हुई।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा फेरफार बहुत है, भाई! वीतराग तीन लोक के नाथ, उन्होंने अनन्त द्रव्य कहे हैं। तो अनन्त कब अनन्तरूप से रहें? कि एक-दूसरे को मदद नहीं करे और सहायक नहीं हों, तब वे रहें। अनन्त-अनन्तरूप से अनन्त आत्मा रहें, अनन्त परमाणु... आहाहा! अनन्तरूप से पृथक् कब रहें? कि एक-दूसरे में कर्ता-कर्मपना न हो, तब पृथक्रूप से अनन्त रहें। लॉजिक-न्याय समझेंगे या नहीं? आहाहा! समझ में आता है या नहीं? अनन्त हैं, वे अनन्तरूप से कब रहें? कि एक-दूसरे का काम करे तो उसका काम—उसकी पर्याय तो नहीं की।

मुमुक्षु : संस्था का काम करना तो पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर कौन सकता है? कहो! परन्तु संसार अर्थात् क्या? यह स्त्री-पुत्र है। यह आत्मा भिन्न है और यह शरीर भी भिन्न है। यह तत्त्व है, उस तत्त्व को पर्याय समय-समय नहीं होती? पर्याय और द्रव्य सिद्ध होकर वह वस्तु है तो उसकी पर्याय उससे होती है और तू पर्याय को करे? पर्याय अर्थात् कार्य। आहाहा! ऐसा है। पर्याय अर्थात् ही काम। आहाहा!

मुमुक्षु : काम तो उपादान में होता है परन्तु निमित्त की उपस्थिति चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होता है, उसके कारण से, परन्तु उसकी राह देखकर यहाँ उपादान में काम हो—ऐसा नहीं है। इस उपादान में अपने समय में जो काम होनेवाला हो, वह होता है। निमित्त हो, परन्तु निमित्त की राह देखनी पड़े, निमित्त आया; इसलिए कार्य हो—ऐसा नहीं है। भारी कठिन बातें। आहाहा! दुनिया के चतुर हों, उन्हें तो सब बदलना पड़े तो कठिन पड़ता है। आहाहा! एक तिनके के दो टुकड़े करने की ताकत आत्मा में नहीं है। ताकत नहीं, इसका अर्थ (यह कि) कर नहीं सकता, कर सकता नहीं। तिनके के दो टुकड़े होना, वह परमाणुओं में, उस समय में भिन्न पड़ने की पर्याय थी, वे भिन्न पड़े हैं। यह कहे कि मैंने तिनके के दो टुकड़े किये, यह बात अत्यन्त मिथ्या है। आहाहा! यहाँ तो यह कहेंगे।

मुमुक्षु : इसमें तो हमारे जज साहेब को कठिनाई पड़ेगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब जज को कठिनाई पड़े। (ऐसा कहते हैं)। मार्ग ऐसा है, भगवान! आहाहा!

एक ओर ऐसा मानना कि अनेक पदार्थ हैं और फिर एक ओर ऐसा मानना कि उस पदार्थ को मैं कर सकता हूँ। तब वह पदार्थ है, तो है, वह कार्यरहित होगा? कार्य अर्थात् पर्याय। जो पदार्थ है, उसकी पर्यायरहित पदार्थ कोई होता है? तो वह कार्य तो वहाँ होता है। उसके बदले यह कहता है कि मैं यह कार्य करूँ। तो उस कार्य का तू भी कर्ता और वह भी कर्ता? अज्ञान है। आहाहा! भ्रमणा है, भ्रमणा।

भावार्थ :– मात्र व्यवहार–दृष्टि से ही भिन्न द्रव्यों में कर्तृत्व–कर्मत्व माना जाता है;... बोलनेमात्र, कहनेमात्र। आहाहा! यह महिलाएँ पानी के बर्तन भरकर आवे, यह कहते हैं कि बर्तन सिर के ऊपर रहते हैं, यह बात भी खोटी है।

मुमुक्षु : पगरखा (जूतियाँ) पैर में रहते होंगे या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पगरखा रहे या न रहे, वह पगरखा की शक्ति के ऊपर है। आहाहा! पगरखा पहन सकता है, यह कार्य भी आत्मा का नहीं है। आहाहा! वीतराग तीन लोक के नाथ की ऐसी आवाज है। अनन्त तीर्थंकरों और अनन्त केवली परमात्माओं की

यह दिव्यध्वनि है। आहाहा! प्रभु! कर्ता और कर्म, दोनों भिन्न नहीं होते। आहाहा! जो कर्ता होता है, वह उसका कार्य उसकी पर्याय में होता है। वह कर्ता दूसरे की पर्याय का कार्य करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

मात्र व्यवहार-दृष्टि से... भाषा बोलने में आती है। समझे न? **भिन्न द्रव्यों में कर्तृत्व-कर्मत्व माना जाता है;...** बोला जाता है कि, कुम्हार ने घड़ा बनाया, इन बहिनों ने वड़ी बनायी, बहिनों ने यह सेव बनाये, पापड़ बनाये, यह दाल, भात, सब्जी, रोटियाँ बनायीं। (ऐसा) व्यवहार से बोला जाता है। आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : बोलना कुछ और मानना कुछ।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्योंकि यह कथन शैली जगत की अन्ध जैसी है। कथन शैली और श्रद्धा शैली पूरी अलग है। दोनों जाति अलग है। कथन में तो कहे, श्रीमद् तो ऐसा कहते थे - यह अमारो कोट लाओ, ऐसा कहते थे। अ-मारो अर्थात् मेरा नहीं। ऐसा बोलते थे। यह टोपी लाओ, अमारी टोपी लाओ। बोले। अमारी अर्थात् अ-मारी—मेरी नहीं, ऐसी टोपी। ऐसा बोलते। आहाहा!

एक ही द्रव्य में कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है। एक ही पदार्थ में यह द्रव्य कर्ता। यह द्रव्य कर्ता (कहना), वह भी व्यवहार है। उसकी पर्याय कर्ता और पर्याय कर्म है। वह की वह पर्याय कर्ता और वह की वह पर्याय उसका कार्य और उसकी पर्याय के आधार से वह पर्याय हुई है। ऐसी वस्तु है। आहाहा! इसलिए यहाँ कहा कि, **द्रव्य में कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है। एक ही द्रव्य में कर्तृत्व-कर्मत्व घटित होता है।** एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करे... आहाहा! वकील इन मुवक्किलों को जिताते नहीं? रामजीभाई ने बहुतों को जिताया था। उस समय में बड़े वकील थे। गप्प ही गप्प है। विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ३४९ से ३५५

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३४९।।
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३५०।।
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि।।३५१।।
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि।।३५२।।
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि।।३५३।।
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से।।३५४।।
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति।।३४९।।
यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति।।३५०।।
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति।।३५१।।
यथा शिल्पी तु कर्मफलं भुङ्क्ते न च स तु तन्मयो भवति।
तथा जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति।।३५२।।

एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ।।३५३।।
यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ।।३५४।।
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ।।३५५।।

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुण्डलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, हस्तकुट्ट-कादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति, हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्य-परिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुण्डलादिकर्मफलं भुङ्क्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः।

तथात्मापि पुण्यपापादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति, कायवाङ्मनोभिः पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मकैः करणैः करोति, कायवाङ्मनान्सि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति, सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुङ्क्ते च, नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति; ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः।

यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षण-मात्मपरिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुङ्क्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः।

तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टारूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति, दुःखलक्षणमात्म-परिणामात्मकं चेष्टारूपकर्मफलं भुङ्क्ते च, एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति; ततः परिणाम-परिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ।।३४९-३५५।।

अब, इस कथन को दृष्टान्त द्वारा गाथा में कहते हैं-

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्म को आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने।।३४९।।

ज्यों शिल्पि करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।।३५०।।

ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने।।३५१।।

शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।।३५२।।

–इस भाँति मत व्यवहार का संक्षेप से वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणामविषयक जो हि है।।३५३।।

शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पी अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है।।३५४।।

चेष्टित हुआ शिल्पी निरन्तर दुखित जैसे होय है।
अरु दुख से शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने।।३५५।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी (स्वर्णकार–सोनी आदि कलाकार) [कर्म] कुण्डल आदि कर्म (कार्य) [करोति] करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (–उस–मय, कुण्डलादिमय) नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [जीवः अपि च] जीव भी [कर्म] पुण्यपापादि पुद्गल कर्म [करोति] करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गलकर्ममय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों (साधनों) के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय (हथौड़ा आदि करणमय) नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव [करणैः] (मन–वचन–कायरूप) करणों के द्वारा [करोति] (कर्म) करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (मन–वचन–कायरूप करणमय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः तु] शिल्पी [करणानि] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न भवति] तन्मय नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव [करणानि तु] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (करणमय) नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] कुण्डल आदि कर्म के फल को (खान–पानादि को) [भुंक्ते] भोगता है [सः तु] परन्तु वह [तन्मयः न च भवति] तन्मय (खान–पानादिमय) नहीं होता, [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव [कर्मफलं] पुण्यपापादि पुद्गलकर्म के फल को (पुद्गलपरिणामरूप सुख–दुःखादि को) [भुंक्ते] भोगता है [न च तन्मयः भवति] परन्तु तन्मय (पुद्गल–परिणामरूप सुख–दुःखादिमय) नहीं होता।

[एवं तु] इस प्रकार तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहार का मत [समासेन] संक्षेप से [वक्तव्यं] कहने योग्य है। [निश्चयस्य वचनं] (अब) निश्चय का वचन [शृणु] सुनो [यत्] जो कि [परिणामकृतं तु भवति] परिणाम विषयक है।

[यथा] जैसे [शिल्पिक: तु] शिल्पी [चेष्टां करोति] चेष्टारूप कर्म (अपने परिणामरूप कर्म) को करता है [तथा च] और [तस्या: अनन्य: भवति] उससे अनन्य है, [तथा] उसी प्रकार [जीव: अपि च] जीव भी [कर्म करोति] (अपने परिणामरूप) कर्म को करता है [च] और [तस्मात् अनन्य: भवति] उससे अनन्य है। [यथा] जैसे [चेष्टां कुर्वाण:] चेष्टारूप कर्म करता हुआ [शिल्पिक: तु] शिल्पी [नित्यदु:खित: भवति] नित्य दु:खी होता है [तस्मात् च] और उससे (दु:ख से) [अनन्य: स्यात्] अनन्य है, [तथा] उसी प्रकार [चेष्टमान:] चेष्टा करता हुआ (अपने परिणामरूप कर्म को करता हुआ) [जीव:] जीव [दु:खी] दु:ख होता है (और दु:ख से अनन्य है)।

टीका : जैसे-शिल्पी (स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य परिणामात्मक कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और कुण्डल आदि कर्म का जो ग्रामादि परद्रव्य परिणामात्मक फल उसको भोगता है, किन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म, करण आदि से) अन्य होने से तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता; इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्र से ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्व का और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है; इसी प्रकार आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक (पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है और पुण्यपापादि कर्म के सुख-दु:खादि पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक फल को भोगता है, परन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से तन्मय नहीं होता; इसलिए निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है।

और जैसे-वही शिल्पी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्म को करता है तथा दु:खस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्म के स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है, और एक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म और कर्मफल से) अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय

और कर्मफलमय) है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन का और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है; उसी प्रकार-आत्मा भी, करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (रागादिपरिणामरूप और प्रदेशों के व्यापाररूप) ऐसा जो आत्म परिणामात्मक कर्म, उसको करता है तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्म के आत्मपरिणामात्मक फल, उसको भोगता है, और एकद्रव्यत्व के कारण उनसे अनन्य होने से तन्मय है; इसलिए परिणाम-परिणामीभाव से वहीं कर्ता-कर्मपन का और भोक्ता-भोग्यपन का निश्चय है।

प्रवचन नं. ४०५, गाथा-३४९ से ३५५ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०
दिनाङ्क - ०८-०६-१९८०

समयसार, ३४९ गाथा।

जह सिप्पिओ दु कम्मं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो वि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३४९।।
जह सिप्पिओ दु करणेहिं कुव्वदि ण य सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणेहिं कुव्वदि ण य तम्मओ होदि।।३५०।।
जह सिप्पिओ दु करणाणि गिण्हदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो करणाणि दु गिण्हदि ण य तम्मओ होदि।।३५१।।
जह सिप्पि दु कम्मफलं भुंजदि ण सो दु तम्मओ होदि।
तह जीवो कम्मफलं भुंजदि ण य तम्मओ होदि।।३५२।।
एवं ववहारस्स दु वत्तव्वं दरिसणं समासेण।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं होदि।।३५३।।
जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो से।
तह जीवो वि य कम्मं कुवदि हवदि य अणण्णो से।।३५४।।
जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्चदुक्खिओ होदि।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो।।३५५।।

(नीचे हरिगीत।)

ज्यों शिल्पि कर्म करे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों कर्म को आत्मा करे पर वो नहीं तन्मय बने।।३४९।।
ज्यों शिल्पि करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों से करे पर वो नहीं तन्मय बने।।३५०।।
ज्यों शिल्पि करण ग्रहे परन्तु वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करणों को ग्रहे पर वो नहीं तन्मय बने।।३५१।।
शिल्पी करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।
त्यों जीव करमफल भोगता, पर वो नहीं तन्मय बने।।३५२।।
–इस भाँति मत व्यवहार का संक्षेप से वक्तव्य है।
सुन लो वचन परमार्थ का, परिणामविषयक जो हि है।।३५३।।
शिल्पी करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पी अनन्य है।
त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है।।३५४।।
चेष्टित हुआ शिल्पी निरन्तर दुखित जैसे होय है।
अरु दुख से शिल्पि अनन्य, त्यों जीव चेष्टमान दुखी बने।।३५५।।

टीका :– जैसे–शिल्पी... अर्थात् कारीगर सोनी, कुम्हार, कारीगार सब कारीगर। वे **(स्वर्णकार आदि) कुण्डल आदि जो परद्रव्य परिणामात्मक (–परद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म करता है,...** यहाँ लोग विवाद करते हैं। देखो! यहाँ करता है कहा न? यह तो व्यवहारनय का वचन है। यहाँ यह आत्मा करता है, पाठ में ऐसा कहा परन्तु वह व्यवहार से कथन में ऐसा आता है। निमित्त का ज्ञान, निमित्त का ज्ञान कराने को, निमित्त–नैमित्तिक का ज्ञान कराने को (ऐसा आता है)। **(–परद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों...** साधन **के द्वारा करता है,...** वह व्यवहारनय से। **हथौड़ा आदि परद्रव्य परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है...** हथौड़े को ग्रहण करे, करण को ग्रहण करे। आहाहा! यह लिखनेवाला शीशपेन को—कलम को ग्रहण करे।

और कुण्डल आदि कर्म का जो ग्रामादि परद्रव्य परिणामात्मक... और कुण्डल आदि बनाये, उसका फल आवे **परद्रव्य परिणामात्मक फल उसको भोगता है,...** आहाहा!

किन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण... भले कहते हैं तद्नुसार व्यवहार कथन किया कि शिल्पी कर्म करता है, हथौड़ा ग्रहण करता है और उसका ग्रहण करता है। आहाहा! ऐसा व्यवहार से कहने में आया। नैमित्तिक-निमित्त के सम्बन्ध से (कहने में आया)। आहाहा! **किन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण...** द्रव्य तो अनेक-भिन्न हैं। आहाहा! वह सोनी हथौड़े को स्पर्शा ही नहीं है। आहाहा! हथौड़ा द्वारा उसने काम किया ही नहीं है। उसने अपने परिणाम किये 'मैं यह करता हूँ' यह। बाकी परिणाम के अतिरिक्त औजारों को ग्रहण करे, कलम को ग्रहण करे, शीशपेन को ग्रहण करे और लिखे, यह क्रिया आत्मा की है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

अनेक द्रव्यत्व के कारण... हथौड़े को ग्रहण करे या कारीगर, कारीगर की क्रिया करे, वह दूसरी चीज़ है, सोनी दूसरी चीज़ है। कुम्हार घड़े को करे, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। बाकी कुम्हार घड़े को स्पर्श भी नहीं करता और घड़ा घड़े के कारण से होता है। ऐसा कठिन पड़ता है। तीन, तीन बोल लिये न? एक तो परद्रव्य कर्म, उसे करे। हथौड़े को करणरूप से ग्रहे, और हथौड़े को ग्रहण करे। करणों के द्वारा करे, ग्रहण करे। यह तीनों व्यवहार से कथन है, यह सत्य बात ऐसी नहीं है। आहाहा! सोनी, कुम्हार, स्त्री आदि रोटी को बनावे, रोटी करे, यह व्यवहारनय के कथन हैं। बाकी अन्य द्रव्य उस अन्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, इसलिए अन्य द्रव्य अन्दर उसका कुछ नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो महिलायें कलह करें ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर सकता ही नहीं न। अपने परिणाम में ऐसा होता है कि मैं यह करूँ। यह परिणाम करे, मिथ्या परिणाम। परन्तु वह पर का कर सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! हथौड़ा ग्रहे या ग्रहण करे और रोटी तथा बेलन हाथ में ले और पाट नीचे बिछावे उसमें आटे की लोई (के ऊपर) बेलन घुमावे, वह आत्मा नहीं करता। क्यों? **अनेक द्रव्यत्वक कारण... किन्तु अनेक द्रव्यत्वक कारण...** आहाहा! कुम्हार का द्रव्य भिन्न, उसके शरीर का भिन्न, हथौड़े का भिन्न, सोनी की स्वर्ण की क्रिया जो होती है, वह भिन्न, नीचे ऐरण है, वह भिन्न, ऊपर हथौड़ा पड़े, वह हथौड़ा भिन्न। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी क्रिया में कर्ता है। दूसरे द्रव्य की क्रिया का कर्ता तीन काल में नहीं है। आहाहा!

इस प्रकार व्यवहार कहते हैं, कहा, बोला। वे इसमें से निकालते हैं, देखो! करता है। परन्तु करता है तो तन्मय होगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करे तो तन्मय—एक हो जाए, तन्मय—एकरूप हो जाए। आहाहा! अनन्त आत्माएँ और अनन्त परमाणु एक भी तत्त्व दूसरे तत्त्व का करे तो वे दो तत्त्व (भिन्नरूप से) नहीं रहते। भिन्न हैं। और ऐसे अनन्त हैं, वे अनन्त नहीं रहें। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। यहाँ तो पूरे दिन मण्डली के अधिपति हों, मण्डल में हमने ऐसा किया, व्यवस्था ऐसी की। दुनिया की व्यवस्थित व्यवस्था, व्यवस्था हो रही है। उसे अज्ञानी कहता है मैं व्यवस्था करूँ, व्यवस्थित व्यवस्था करूँ, यह मिथ्या अभिप्राय है। आहाहा! भारी काम, दुनिया के जड़ और चैतन्य, उनकी जो व्यवस्था है, वह व्यवस्थित हो रही है। व्यवस्थित हो रही है, उसे व्यवस्था करनेवाला ऐसा कहता है कि मुझसे यह होती है, वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा!

अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म,...) इतना कारीगर से उसका कार्य जो हो वह भिन्न है, उसका करण जो हथौड़ा लिया, वह भिन्न है, ग्रहण किया, वह भिन्न है। **अन्य होने से तन्मय (कर्मकरणादिमय) नहीं होता;...** उस पर के कार्य में, वह सोनी तन्मय नहीं होता। तन्मय अर्थात् उसरूप नहीं होता। उसरूप हुए बिना उसके परिणाम को करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! क्या कहा? कि प्रत्येक पदार्थ पर परिणाम को करे, कब कहलाये? कि पर परिणामरूप स्वयं होवे तो पर का करे। परन्तु पर परिणामरूप तो होता नहीं। आहाहा!

इस पृष्ठ का एक अक्षर भी है, कहते हैं कि अक्षर है, वह कर्म है / कार्य है। उसे दूसरा जीव कहे कि मैंने यह किया और मैंने कलम द्वारा किया। आहाहा! और कलम से भी स्याही में डुबोकर भलीभाँति अच्छे (प्रकार से) किया। ग्रहण किया। स्याही कलम में ग्रहण की ये तीनों झूठ है। क्यों झूठे हैं? कि अनेक द्रव्यपने के कारण। अन्य-अन्य द्रव्य हैं, वे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करते, ऐसी वस्तु की मर्यादा अनादि की है। आहाहा! पूरे दिन कर्ता... कर्ता... कर्ता... उसे नहीं करता। कर्ता नहीं; मानता है। कर्ता मिथ्यादृष्टि, झूठी दृष्टिवाला परद्रव्य के कार्य पररूप नहीं होता, पर के परिणामरूप नहीं होता, तथापि पर के परिणाम को करता हूँ, यह मिथ्यादृष्टि सेवन करता है। आहाहा! बहुत कठिन।

दुकान में लोहे का सरिया फिरा नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। दुकान में घोड़ा करता है न लकड़ी का? माल रखे न माल उसमें? कहते हैं, आत्मा नहीं कर सकता—ऐसा कहते हैं। यह करता है, ऐसा कहना वह तो व्यवहारनय का कथन है। बाकी उसके परिणामरूप से करनेवाला होता नहीं। जो कार्य कहता है कि मैंने किया, उस कार्य के परिणामरूप वह नहीं होता। इसलिए वह कार्य उसका नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें। दुनिया को धर्म के नाम से बेचारे (की) जिन्दगी पूरी हो जाती है। तत्त्व पूरा पड़ा रहता है। आहाहा! कहते हैं कि सोनी या कुम्हार घड़े को नहीं करता। घड़ारूपी कर्म / कार्य, वह कुम्हार का नहीं है। क्यों? कि अनेक द्रव्यपने के कारण। कुम्हार अन्य और घड़ा अन्य है। अनेक द्रव्यपने के कारण। घड़े के परिणामरूप से कुम्हार नहीं होता, इसलिए उसके परिणाम को वह नहीं करता। आहाहा! ऐसा कठिन।

मुमुक्षु : कुम्हार का दृष्टान्त अच्छा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुम्हार का। इसे खबर पड़े। यों ही यह महिलाएँ क्या रोटी और रोट बनाती हैं और या वड़ी और पापड़। यह बात बिल्कुल झूठी है। यदि अनेक द्रव्य हैं, ऐसा माने तो अनेक द्रव्य का अस्तित्व स्वयं स्वयं के कारण से है। यदि अनेक द्रव्य माने और अनेक द्रव्य को पर के कारण कुछ होता है, ऐसा माने तो अनेक द्रव्यपने का अस्तित्व नहीं रहता। आहाहा! यह कितने ही जैन में जन्मे हों, तो भी कभी सुना भी न हो। आहाहा!

ऐसे पुड़ियाँ बनावे आत्मा? कि नहीं। तो उसमें—तवे में चारों ओर घी डाले ऐसे-ऐसे। तावडी नहीं होती, लोहे का तवा होता है। यह कुछ कर सकता नहीं। क्योंकि अनेक द्रव्यपने के कारण। आहाहा! सिद्धान्त तो देखो! अनन्त द्रव्य के कारण, अनन्त भिन्न-भिन्न के कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम को करे तो दूसरे द्रव्य के परिणाम बिना का वह द्रव्य हो जाए। तो वह द्रव्य परिणामरहित कभी होता नहीं। सब द्रव्य प्रत्येक समय में अपनी पर्यायरूप से परिणाम से सहित होते हैं। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक समय में अपनी पर्यायरूपी परिणाम सहित होते हैं। आहाहा! उसके बदले उस प्रत्येक द्रव्य के परिणाम की पर्याय मैं करता हूँ, ऐसा यह कथन भले हो, परन्तु कर सकता है, कुम्हार घड़ा कर

सकता है, स्त्री रोटी बना सकती है... आहाहा! या भरत भर सकता है या यह तोरण कर सकता है, मोती के तोरण बनाता है (ऐसा है नहीं)। आहाहा! यह तो पंगु हो गया।

मुमुक्षु : पर के लिये तो पंगु ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के लिये पंगु त्रिकाल। आहाहा! यह हाथ हिलता है, वह क्रिया है, परिणाम है, वह कार्य है। उस कार्य को वे परमाणु करते हैं। यदि आत्मा उस कार्य को करे तो अनेक द्रव्यरूप से भिन्न-भिन्न रहे नहीं और भिन्न द्रव्य उसके साथ तन्मय हो जाए। इसके परिणाम को आत्मा करे तो आत्मा उसके साथ तन्मय—एकमेक हो जाए, पर के साथ एकमेक हो जाए। आहाहा! वीतराग मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। लोगों ने स्थूल कर डालकर बदल डाला, पूरा मार्ग बदल डाला। आहाहा!

किन्तु अनेक द्रव्यत्वक कारण उनसे (कर्म, करण आदि से) अन्य होने से... आहाहा! जो कार्य होता है, जो हथौड़ा आदि ग्रहण होता है, वह सब उससे अन्य होने से तन्मय कर्म, करण आदिमय नहीं होता। उसके परिणाम घड़े में, सोनी के गहने में तन्मय परिणाम नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन काम। **इसलिए निमित्तनैमित्तिक भावमात्र से ही...** मात्र बोला जाता है। उस चीज़ के परिणाम होने के काल में होते हैं पर के, तब दूसरी चीज़ होती है, उसे निमित्तरूप से कहा जाता है, निमित्तमात्र कहा जाता है परन्तु निमित्त से उसमें होता है—ऐसा नहीं है। इसलिए शब्द प्रयोग किया है। **निमित्तनैमित्तिक भावमात्र...** आहाहा! है ? घड़े को कुम्हार बनावे, यह निमित्त से बोला जाता है। यह तो निमित्तमात्र कथन है। बाकी घड़ा तो मिट्टी से होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : कुम्हार की अनुपस्थिति में होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुपस्थिति, अनुपस्थिति ही है। यह द्रव्य जो है, उसकी एक अपेक्षा से तो अनुपस्थिति है, भले दूर न हो। आहाहा! ऐसा कब सुना हो ? यह मनुष्यपना मिला। आहाहा! सत्य बात वीतराग त्रिलोकनाथ केवली परमेश्वर की सत्य बात सुनने को मिलती नहीं, वह कब निर्णय करे ? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, इस प्रकार से **निमित्तनैमित्तिक भावमात्र से ही वहाँ कर्तृ-कर्मत्व का और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है;...** करता है और घड़े द्वारा पानी को भोगता है

और रोटी को भोगता है। आहाहा! यह सवेरे दूध पीते हैं और चाय पीते हैं, उठकर सीधे। आहाहा! कहते हैं, यह बात अत्यन्त झूठ है। क्योंकि चाय और दूध के परिणाम, चाय और दूध के कारण होते हैं। साथ में रहा हुआ दूसरा है, वह तो अन्य द्रव्य है। यदि अन्य द्रव्य उसमें इकट्ठा हो तो अन्य द्रव्य में-पर में तन्मय हो जाए। पर में उसके परिणाम एकमेक हो जाए। अपनी उपस्थिति रहे नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। यह सब अभी तो काम चलता है न ? गाँधी के वक्त में तो ऐसा करो और ऐसा करो। मर गये, कुछ शहीद हो गये। शहीद हो गये। करने के लिये कर-करके। आहाहा! ईशु ख्रिस्त भी देश की वह करते-करते विरुद्ध पड़े उसके लोग, फाँसी पर चढ़ाया, फाँसी पर चढ़ाया। लकड़ी में यहाँ कील लगायी, यहाँ कील लगायी। तथापि अन्त में (कहा), थोड़ा गाय का माँस दो। आहाहा! ऐसी स्थिति में गाय का माँस माँगा। तत्त्व की खबर नहीं होती। बड़ा ईशु ख्रिस्त अभी बड़ा धर्म चलता है। उसने कहा न ? पोप के पास पाँच करोड़ की तो मोटर है। आहाहा! यह उसके गुरु। अरे रे! क्या हो ? जीव की अनन्त संख्या, उसमें से अल्प जीव मुक्ति पा सकते हैं। बाकी तो अनन्त जीव भटका ही करते हैं। आहाहा! निगोद में इस एकेन्द्रिय में, द्वीन्द्रिय में, त्रिन्द्रिय में अनादि से भटका करते हैं। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणाम को करे तो उस परिणाम में उस द्रव्य को तन्मय / एकमेक हो जाना (पड़े), उस परिणाममय हो। कुम्हार घड़े के परिणाम में तन्मय होवे तो कुम्हार उस घड़े के परिणाम में गया। आहाहा! ऐसी बात है। वे तो करो, करो और करो, यह करो और यह करो और यह करो। यहाँ कहते हैं, करो वह मरो। पर का करो, वह मरो। मरने का है अन्दर। तुम्हारी चैतन्य की सत्ता दूसरे द्रव्य की सत्ता को स्पर्श नहीं करती और तू ऐसे पर का काम कर, कर—ऐसा कहते हैं, वे तो मरने के, चैतन्य की ज्योति को मार डालने के भाव हैं। आहाहा! जाननेवाला है, उसे जाननेवाले में न रखकर जाननेवाले को पर के परिणाम करने में जोड़ देना, वह कर नहीं सकता परन्तु मान्यता में जोड़ना, यह मिथ्याभ्रान्ति हो जाती है। आहाहा!

यह **कर्तृ-कर्मत्व का**... सोना कर्ता और कुण्डल कार्य तथा उसका फल उसे आता है, कोई राजा के लिये, रानी के लिये कुण्डल आदि बनाये हों तो गाँव भी दे, राजा गाँव भी

दे। वह उसका भोग करे—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! **इसी प्रकार आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक...** आहाहा! **(पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है,...** ऐसा कहना, वह निमित्त से कथन है। क्या कहा यह? आत्मा जड़कर्म के पुण्य-पाप को करता है, आत्मा कर्म बाँधता है, पुण्य और पापरूपी कर्म जीव बाँधता है, ऐसा कहना। आहाहा! वह **(पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है,...** ऐसा कहना, वह निमित्त है। निमित्त से कथन है, कर नहीं सकता। आहाहा!

पुद्गल द्रव्य के जो कर्म बँधते हैं, उन्हें कर नहीं सकता। आहाहा! वह परिणाम करे। 'मैं करूँ, मैं करूँ यह अज्ञान है' ऐसा अज्ञान करे परन्तु पर के परिणामरूपी कार्य को नहीं करता। क्योंकि परद्रव्य उसके परिणामरहित कभी नहीं होता और नहीं होता, इसलिए उसके परिणाम दूसरा करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। लॉजिक से तो बात है परन्तु अब... आहाहा! पूरे दिन यह होशियार काम करता है न?

हमारे आणन्दजी था, वह होशियार कहलाता था, लो! मुम्बई तीन-चार दिन में हमेशा माल लेने जाए। पाँच-सात, दस हजार का माल लावे। तीन-चार दिन में हमेशा (जाए)। बड़ा व्यापार था। उसे मरते हुए पैर (बेकार) हो गये। हिल-चल सकता नहीं। कुर्सी पर बैठाकर लावे। मरते हुए बोल गया। अरे! मुझे किसी ने कहा नहीं। मुझे कुछ किया नहीं, कहा नहीं (कि) तू निवृत्त हो। मैं इसी और इसी में रुक गया, मेरा कुछ किया नहीं। चला जा। चला जा। आहाहा! ऐसे दुनिया पर के काम के लिये इज्जत मिले, व्यवस्था करे; इसलिए बाहर में होशियार कहलाये, बड़ा कहलाये। आहाहा! रामजीभाई इनके समय में बड़े वकील कहलाते थे। यह मंगलभाई कहते हैं, वढवाण में मंगलभाई वकील हैं।

मुमुक्षु : अहमदाबाद?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे कहते थे। रामजीभाई तो उनके समय में बड़े वकील। बड़े जज को पानी भराते। अरे रे! प्रभु! बात क्या करना?

मुमुक्षु : दिन में तारे दिखाते।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे कहते थे। वे 'उदाणी' कहते थे। मणीलाल उदाणी, राजकोट। टोपा पहनता ऐसे लोहे का? मर गया। वह ऐसा कहता था कि महाराज! यह

तुम्हारा रामजीभाई तो जज को पानी भरावे। जज को पानी भरावे, दिन के तारे दिखावे— ऐसा कहता था। दिन में तारे बतावे। वह वकील था—मणीभाई उदाणी। गुजर गया। भारी काम, भाई!

प्रत्येक द्रव्य अर्थात् तत्त्व प्रत्येक समय में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से परिणमकर रहा है। उसमें दूसरे द्रव्य का किसी अंश में अधिकार नहीं है और अधिकार माने, वह मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। पाप बाँधेगा, बड़ा पाप बाँधेगा। आहाहा! **आत्मा भी पुण्यपापादि जो पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक...** पुद्गल, के, हों! जड़ जड़कर्म। जड़कर्म आत्मा बाँधे तो जड़कर्म दूसरी चीज़ है, आत्मा अन्य चीज़ है। पुण्य-पाप के परिणाम। परिणाम वह कौन? जड़कर्म के, हों! आत्मा के नहीं। **पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक (पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप) कर्म को करता है,...** आत्मा पुण्य-पाप के जड़कर्म को करे।

काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों... मन-वचन और काया पुद्गलमय है, उसे आत्मा ग्रहण करे, उनके द्वारा काम करे। मन-वचन और काया द्वारा आत्मा काम करे, यह एकदम झूठ है। आहाहा! **पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों के द्वारा करता है, काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है...** आत्मा मन को ग्रहण करे, वाणी को ग्रहण करे, शरीर को ग्रहण करे—ऐसा जो कथन है, वह तो व्यवहार का है, बाकी ग्रहण कर नहीं सकता। आहाहा!

आत्मा भाषा को बोल नहीं सकता, आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता। क्योंकि भाषा की परमाणु की जाति अलग है, भगवान आत्मा अलग है। यदि भाषा के परिणाम को आत्मा करे तो उसे अन्य परिणामरूप होना पड़े। अन्य के परिणामरूप होने पर जीव (का) चैतन्यपना रहे नहीं। आहाहा! ऐसा तो सुना नहीं। अभी तो गप्प ही गप्प चलती है। बहुत वर्ष से जानते हैं। आहाहा!

काय-वचन-मनरूप पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक करणों को ग्रहण करता है... यह व्यवहार। **और पुण्यपापादि कर्म के सुख-दुःखादि पुद्गलद्रव्य-परिणामात्मक फल को भोगता है,...** यह व्यवहार। जो जड़ के कर्म किये, यह कहते हैं कि वह व्यवहार। इसने किये नहीं। उनका फल बाहर में प्रतिकूल-अनुकूल आवे, उसे यह भोगे, यह व्यवहार। यह पर को भोग नहीं सकता। आहाहा! यह दाल और रोटी खा नहीं सकता, ऐसा

कहते हैं। तब क्या भूखे रहना? यह पैर हिला नहीं सकता। क्योंकि जड़ है। जड़ की क्रिया आत्मा कभी तीन काल में कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : अडवाणी डॉक्टर आये थे, उनके पैर दस वर्ष की उम्र में नहीं चलते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आये थे न। अडवाणी का पैर, वह बड़ा टाटा में डॉक्टर है। टाटा, मुम्बई में। गये थे न, वहाँ उस अस्पताल में गये थे। एक लड़का था बेचारा बहुत प्रेमी। बारह महीने का विवाहित, विजय गुना का था। बहुत प्रेमी और बहुत रसवाला। परन्तु यह किडनी का दर्द हो गया। उसे दर्शन करने थे, इसलिए मैं वहाँ गया था। परन्तु फिर उसकी माँ ने किडनी दी, मर गया। लड़का ऐसा होशियार, प्रेमी था, छोटी उम्र। बारह महीने का विवाहित। आहाहा! कौन किसका करे? पर को जानना, यह भी एक व्यवहार कथन है। आहाहा! तो पर को करना, इस बात में तो अज्ञान है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि और मूढ़पना है।

मुमुक्षु : आप तो पूरे जगत को मिथ्यादृष्टि सिद्ध करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा जगत मिथ्यात्व से भरा है। मिथ्या श्रद्धा से पूरा जगत भरा है और उसके कारण भटकनेवाले हैं। यहाँ से मरकर वापस ढोर में जानेवाले, कोई नरक में जानेवाले। आहाहा! किसी ने जरा पुण्य-बुण्य किया हो तो फिर स्वर्ग में जानेवाले हैं। परन्तु सब भटकनेवाले हैं। भले देव में जाकर ढ़ोर में जाए और ढोर में जाकर नरक में जाए। ऐसा अनन्त बार किया है। आहाहा! कहते हैं, एक यह बाल है, उसे यह अँगुली स्पर्श नहीं करती। यह बात तोड़ना होवे न? तो अँगुली बाल को स्पर्श नहीं करती, अँगुली ने बात तोड़ा, यह व्यवहार का कथन है। आहाहा! यह साधु लोंच करते हैं न? लोंच... लोंच करते हैं। आहाहा! भेड़ भी बारह महीने में बाल कटाती है। भेड़... भेड़। परन्तु वह बाल काटने की क्रिया भी दूसरा आत्मा नहीं करता। अरे रे! आहाहा!

मुमुक्षु : छह-छह महीने में उसके बाल काटते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : काटते हैं न, खबर है। वह मुँडावे-लोंच करते हैं, वे सब समान हैं। आत्मा की खबर नहीं होती कि आत्मा क्या चीज़ है। उसकी खबर बिना सब समान जाति के हैं। आहाहा! कठिन लगे, भाई! परन्तु है हित की बात, भाई! बापू! तुझे दु:ख न

हो। उल्टी मान्यता से, प्रभु! तू दुःखी होगा और कोई दुःखी हो, यह किसी को ऐसा ठीक लगेगा? आहाहा!

भगवानस्वरूप है प्रभु! एक रजकण और राग को कर नहीं सकता, तू ऐसी चीज़ ज्ञाता-दृष्टा है। आहाहा! ऐसी चीज़ को तू नहीं जानकर, जो तुझमें नहीं है, उसका तू मालिक होकर बैठा है। आहाहा! पुत्र मेरा, स्त्री मेरी, मकान मेरा। आहाहा! मुम्बई में नहीं? सोने की बैठने की वह... बड़े कारीगर, बड़े अधिकारी आवे वहाँ एकत्रित हों। एक बार देखने गये थे। आहाहा! अरे! कहा, इसे यहाँ से छूटना... आहाहा! बड़ा मकान, बैठने की ऐसी कुर्सियाँ, ऐसी कुर्सियाँ ऐसे चक-चक (हो), सोने के हत्थे। उसमें बैठकर परदेशी आवे, उनका आदर करे। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि तीन काल में एक जीव दूसरे द्रव्य का आदर नहीं कर सकता। आहाह! यह माने कि यह सुख-दुःख मैंने भोगे।

परन्तु अनेक द्रव्यत्व के कारण... आहाहा! जैसे उस दृष्टान्त में सोनी का अनेक द्रव्यपना था, उसी प्रकार यहाँ आत्मा में पुण्य-पाप के परिणाम करे, परन्तु पुण्य-पाप बन्धन करे, पुण्य-पाप के कर्म के रजकण आत्मा बाँधे, (यह मान्यता) एकदम मिथ्यात्व है। आहाहा! भारी काम। **अनेक द्रव्यत्व के कारण...** अर्थात् क्या कहते हैं? आत्मा और कर्म दोनों भिन्न चीज़ है। अनेक द्रव्यपने के कारण। अब कर्म जो हों पुण्य-पाप के बँधे, उन्हें तू क्या करे? तू तो भिन्न अरूपी है, वे तो रूपी हैं। कर्मबन्धन जो ज्ञानावरणीय (आदि) आठ हैं, वे तो रूपी हैं। तू रूपी के परिणाम को करने जाए तो मान्यता में रूपी हो जाएगा। होता तो कहाँ है? आहाहा! यह तो पानी उतर जाए ऐसा है। दुनिया के अभिमान (किये)। जहाँ हो, वहाँ मैंने ऐसा किया और ऐसा किया और ऐसा किया। दुकानें ऐसे चलायी और... आहाहा! लड़कों को पाल-पोसकर बड़ा किया।

मुमुक्षु : लड़के को अमेरिका भेजा।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...अमेरिका, सुमन को भेजा था। पहले पाप करके, वकालत में पाप किया, पश्चात् वे पैसे दिये लड़के को-सुमन को अमेरिका में पढ़ने के लिये। रामजीभाई! आहाहा! वह वहाँ रहा, ये यहाँ रहे। तुम यहाँ रोटियाँ घड़कर खाते हो। वे वहाँ रहे। लड़का के ठिकाने रहा और ये यहाँ रहे। आहाहा! पूरा संसार ऐसा है। दुनिया तो

पागल कहे ऐसा है, भाई! दुनिया पागल, वह ऐसी बात को पागल, पागलपन कहे। यह कर सकते हैं न! एक बार चीमनचक्कू यहाँ आया था। चीमनचक्कू नहीं लींमड़ीवाला?

मुमुक्षु : रोज केस चलाते हैं और आप कहते हो कि नहीं करता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ चला नहीं सकता, धूल में भी वह। भाषा जड़ की है, यह होंठ जड़ के हैं। उनकी पर्याय होना, वह आत्मा के आश्रय से नहीं होती। यदि आत्मा के आश्रय से उसके परिणाम हों तो आत्मा को उस परिणाम में प्रविष्ट होना चाहिए। तो वह जड़ के परिणाम हो जाएँ। ऐसा कभी तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें तो बाबा होना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। कब परचीज़ इसके पास रही है? अकेला चैतन्यमूर्ति अरूपी है। उसके पास कर्म हैं, वे जड़ के हैं, वे इसके नहीं। शरीर जड़ का है, वाणी जड़ की है, इसके पास नहीं। यह तो बाबा ही है यह तो। परद्रव्य से निवृत्तस्वरूप ही है। आहाहा! परन्तु परद्रव्य की प्रवृत्ति करने में होशियारी प्रयोग करता है। होशियारी के परिणाम, हों! पर का कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : वकालात में जो चाहते वे करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं की वकालात। भाषा बोली जाए नहीं वहाँ... प्रभु! भाषा तो जड़ है, प्रभु आत्मा तो अरूपी है, वह (भाषा) तो रूपी जड़ है। भाषावर्गणा में से यह वाणी उठती है, आत्मा में से वाणी नहीं उठती। आहाहा! एक बार तो भाई! जीते जी मर जाना पड़ेगा। पर के लिये मेरा कुछ अधिकार नहीं और पर मुझे कुछ भी नुकसान या लाभ दे, यह कुछ नहीं। मैं किसी को लाभ दूँ या नुकसान दूँ, ऐसा भी नहीं है, उसी प्रकार उस चीज़ से मुझे लाभ-नुकसान हो, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से... जड़कर्म जो बाँधता है, उनसे प्रभु आत्मा अन्य है। आहाहा! और जड़कर्म का फल यह दाल, भात, रोटी और मक्खन मिले तथा पैसे मिलें, वह जड़ है। उसका फल जड़ है, जड़ कौन भोगे? जड़ करे कौन और जड़

को भोगे कौन? जो पूर्व में जड़कर्म बाँधे थे, वे जड़ उनसे बँधे थे, आत्मा से नहीं और उसके फलरूप से आवे, वे पर स्वतन्त्र है। आहाहा! यह किस प्रकार की बात? सब होशियार... होशियार संसार के बड़े कहलाये। वकील तो किसी को जिता दे, डॉक्टर किसी को निरोग कर दे। आहाहा! अरे... अरे..! सब गप्प है, कहते हैं।

मुमुक्षु : गप्प में भी होशियारी चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियारी ही है न मिथ्यात्व की, होशियारी मिथ्यात्व की है। ऐसी बात है। दुनिया से अलग प्रकार है। पूरी दुनिया को जानते हैं न! भगवान ने दुनिया जानकर यह लिखा है। तीन काल और तीन लोक का ज्ञान भगवान को है। उसमें से यह वाणी मुनि को आयी है। वे मुनि यह वाणी दुनिया को कहते हैं। आहाहा!

वस्तु कर्म को करे और कर्म के फल को भोगे, (ऐसा नहीं है)। **अनेक द्रव्यत्व के कारण उनसे अन्य होने से...** कर्म से जीव अन्य है और कर्म के फल से जीव अन्य है। **तन्मय नहीं होता;...** इसलिए वह जड़ कर्म में तन्मय नहीं होता और उसके फलरूप में पैसे आदि में तन्मय नहीं होता; तन्मय अर्थात् एकमेक नहीं होता। उसके अपने परिणाम पर के परिणामरूप नहीं होते। आहाहा!

इसलिए निमित्त-नैमित्तिकभावमात्र से ही... मात्र निमित्त-नैमित्तिकमात्रभाव। यह होता है, तब अन्य चीज़ निमित्तरूप से खड़ी है, इतने मात्र से **वहाँ कर्तृत्व-कर्मत्व और भोक्ता-भोग्यत्व का व्यवहार है।** आहाहा! बोलने का यह कथन का व्यवहार है, कहते हैं। वस्तुस्थिति तो ऐसी है नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ करे... आहाहा! यह सब कथनमात्र से व्यवहार से बोला जाता है। आहाहा! ऐसे भैंस हो, घर में गाय हो तो ऐसा बोला जाता है, यह मेरी भैंस है, मेरी गाय है। गाय-भैंस इसकी हो गयी? यह तो दुनिया को कहने के व्यवहार के कथन हैं। आहाहा! तेरी होवे तो तुझसे भिन्न कैसे रहे? और भिन्न रहे, वह तुझसे भिन्न रहे, वह तेरी कैसे हो? आहाहा! यह भारी, भाई!

मुमुक्षु : एक देश में रहे और एक परदेश में रहे तो भाईपना मिट जाएगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : था कब? मुम्बई में सुमनभाई रहते हैं और यहाँ रामजीभाई रहते हैं। पिता-पुत्र, यह दोनों को सम्बन्ध कैसा है? लेना-देना (कुछ)? यहाँ आवे, तब जरा

पैर दवाबे ऐसे-ऐसे, वहाँ हो जाए मानो ऐसा पुत्र-पिता। आठ हजार का वेतन है। आते हैं, सुनते हैं। किसका पुत्र और किसका पिता? बापू! गजब बातें है, भाई!

मुनि तो कहते हैं, हम कहते हैं यह बात तुम्हें नहीं रुचे, तुम हमें पागल मानोगे। क्योंकि तुम पागलपना सेवन करते हो। आहाहा! तुम पागलपने को सेवन करते हो, इसलिए हमारी बात तुम्हें पागल जैसी लगेगी। बाकी सत्य तो तीन काल में बदले, ऐसा नहीं है। आहाहा!

और जैसे–वही शिल्पी, (अर्थात् कारीगर) करने का इच्छुक होता हुआ, चेष्टारूप (अर्थात् कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप)... निमित्त से बात है। **जो स्वपरिणामात्मक कर्म को करता है...** अपने परिणाम को करता है। वह कारीगर अपने परिणाम को करता है। मैं यह करता हूँ, यह मैं करता हूँ—ऐसे परिणाम को करता है, पर को नहीं कर सकता। आहाहा! है? **(कुण्डलादि करने के अपने परिणामरूप और हस्तादि के व्यापाररूप) जो स्वपरिणामात्मक कर्म...** राग और द्वेष के परिणाम करे परन्तु इससे कर्मबन्धन करे और कर्मबन्धन के फल को भोगे, ऐसा आत्मा को और उसे सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

गरीब व्यक्ति आवे, उसके घर में कुछ न हो, एक झोंपड़ी (हो)। पूर्व पाप के कारण। वह पाप उसका नहीं और यह फल आया, वह उसका नहीं। झोंपड़ी-बोंपड़ी में रहे और खाने को न मिले। आहाहा! वह यह चीज़ उसकी नहीं। आहाहा! उसका आत्मा भगवान चैतन्यस्वरूप के परिणाम में स्वयं उसे माने। तो परिणाम को करे और परिणाम को भोगे। आहाहा!

कहते हैं कि यह कारीगर प्रत्येक कुम्हार, सोनी इत्यादि स्वपरिणाम के कर्म को करे। अपने परिणामरूपी कर्म अर्थात् कार्य। राग के कर्म को पुण्यभाव, पापभाव को करे, पुण्य-पाप के परिणाम को करे। **तथा दुःखस्वरूप ऐसा जो चेष्टारूप कर्म के स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है,...** आहाहा! यह चेष्टा करते हैं परिणाम की, वह दुःखरूप है। आहाहा! राग और द्वेष की चेष्टा करता है, वह कर्ता होता है और उसका परिणाम है, और उसे भोगता है। आहाहा! वह भी निश्चय से उसके परिणाम को भोगता है। यहाँ तो यह लेना है न?

निश्चय से राग-द्वेष को करता है, निश्चय से राग-द्वेष के परिणाम को भोगता है। कर्म को करता नहीं और कर्म के फल को भोगता नहीं। आहाहा! ऐसी बात अब कान में पड़े नहीं। वह कब सत्य को भिन्न करे? व्यवहार से भी अभी... यह तो 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ा का भार जो श्वान खीचे।' गाड़ा के नीचे कुत्ता हो और गाड़ा चलता हो। ठुंठ छूता हो, ठूँठ। (इसलिए कुत्ते को ऐसा लगता है कि) मेरे कारण यह गाडा चलता है। यह ऐसी चीज़ है। जगत के काम वहाँ पैड़ी पर बैठा हो (तो) मानो मुझसे यह सब होता है। वह श्वान जैसा है। श्वान ही है न। वह तो अज्ञानी है। आहाहा!

स्वपरिणामात्मक फल को भोगता है,... क्या कहा? जीव स्वयं अपने परिणाम करूँ..., करूँ, इसके परिणाम को करे और अपने परिणाम को भोगे। परन्तु पर को करे और पर को भोगे—ऐसा तीन काल में नहीं बनता। **और एक द्रव्यत्व के कारण...** यहाँ देखा? इन शुभाशुभ परिणाम को एकद्रव्यपने के कारण कहा। शुभ-अशुभ परिणाम करे, परन्तु कर्म बाँधे और कर्म के फल को भोगे, ऐसा नहीं है। **एक द्रव्यत्व के कारण...** भाषा देखो! जो शुभ-अशुभ परिणाम करता है, वे एकद्रव्यपने के अपने परिणाम हैं। आहाहा! एक जगह ऐसा कहना कि, पुण्य-पाप, वह कर्म का है; आत्मा का नहीं। यह धर्मदृष्टि—स्वभावदृष्टि को समझाने के लिये (कहते हैं)। यह तो वस्तुस्थिति कैसी मर्यादा है, वह बताते हैं। आहाहा!

एक द्रव्यत्व के कारण... कौन एक द्रव्यपने के कारण? पुण्य-पाप के बन्धन हों, उनका जो परिणाम है न अपने? वे परिणाम तो एक द्रव्य के तेरे हैं, तेरे हैं—उसके हैं। वे परिणाम परद्रव्य के नहीं हैं। आहाहा! **एक द्रव्यत्व के कारण उनसे (कर्म और कर्मफल से) अनन्य होने से...** कर्म पुण्य-पाप भाव और उनका फल दुःख, उसके साथ आत्मा अनन्य है। आहाहा! पर से अन्य है, पर से अन्य है परन्तु अपने परिणाम से अनन्य है। आहाहा! ऐसी बात है। तीर्थंकरदेव केवली परमात्मा ने यह कहा है। जगत की विपरीत दृष्टि बदलने को, दृष्टि के विपरीत परिणाम को बदलने के लिये (यह कहा है)। आहाहा!

(कर्म और कर्मफल से) अनन्य होने से तन्मय (कर्ममय और कर्मफलमय) है;... इन पुण्य-पाप से यह तन्मय है, भाव हों! और उनके फल से भी तन्मय है। **इसलिए**

परिणाम–परिणामीभाव से वहीं कर्ता–कर्मपन का और भोक्ता–भोग्यपन का निश्चय है;... लो! यह परिणाम जो करे, मैं करूँ—ऐसा कोई परिणाम, उसका कर्ता और भोक्ता होता है। यह कर्ता–कर्म और भोक्ता–भोग्यपने का निश्चय है। यह निश्चय है। आहाहा! पर को करे, यह निमित्त से कथन व्यवहार के कथन हैं। आहाहा! अपने पुण्य–पाप के परिणाम और उनका फल जो दु:ख, वह उस अपने परिणाम को स्वयं एक द्रव्यपने के कारण स्वयं करता है, इसलिए वह निश्चय है। पर को करने की बात आवे, वह सब व्यवहार के कथन हैं। विशेष आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २११

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(नर्दटक)

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः,
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया,
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ।।२११।।

श्लोकार्थ : [ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म] वास्तव में परिणाम ही निश्चय से कर्म है, और [सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति] परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं (क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता); [इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति] और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, [च वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न] तथा वस्तु की एकरूप (कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है); [ततः तद् एव कर्तृ भवतु] इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है (-यह निश्चयसिद्धान्त है)।।२११।।

प्रवचन नं. ४०६, कलश-२११ से २१२ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११
दिनांक - ०९-०६-१९८०

समयसार, २११ कलश, कलश है।

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः,
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया,
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ।।२११।।

क्या कहते हैं? '**ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म**' वास्तव में परिणाम

ही निश्चय से कर्म है,... यह क्या कहा ? प्रत्येक द्रव्य के जो परिणाम, जिस समय में होते हैं, वह परिणाम ही उसका कर्म; कर्म अर्थात् कार्य है। आहाहा ! यह हाथ हिलता है, वह परिणाम है, परिणाम। वह परिणाम, वह कर्म अर्थात् कार्य है। वह कार्य परमाणु का कार्य है, आत्मा का नहीं। आहाहा ! **वास्तव में परिणाम ही...** प्रत्येक वस्तु के परिणाम है, पर्याय है, अवस्था है, वही उसका कार्य है। वह दूसरे का कार्य करने जाए, यह नहीं हो सकता। वह अपना यह परिणाम कार्य स्वयं का है परन्तु दूसरे का कार्य करने जाए, (यह बन नहीं सकता)। आहाहा ! कठिन काम है।

यह व्यापार-धन्धा, उसे तीन काल में आत्मा नहीं करता। उसे जो परिणाम होते हैं, वह परिणाम उसका कार्य है, परिणाम उसका कर्म है, परिणाम उसका कर्तव्य है। दूसरी चीज़ को कर सके, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा ! यहाँ तो जीव परजीव की दया पाल सके—ऐसा नहीं है, कहते हैं। क्योंकि दया के जो परिणाम हैं, वे जीव के परिणाम उसका कर्म अर्थात् कार्य है। वह कार्य पर का कर नहीं सकता। आहाहा ! दया के भाव आये, वह राग है। राग, वह आत्मा का अज्ञान में कर्म अर्थात् कार्य है परन्तु वह कार्य पर की दया पालने में काम करे, वह भाव पर की दया पाल सके, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा !

श्रोता : दया, वह धर्म है – ऐसा क्यों कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सा दया-धर्म ? यह तो इस आत्मा की दया। आत्मा को रागरहित, विकल्परहित अखण्डानन्द की श्रद्धा और प्रतीति (करना), वह अहिंसा है, वह दया है। आहाहा ! बहुत अन्तर। कहीं बनिये को निर्णय करने की निवृत्ति नहीं मिलती। धन्धा आदि पाप में पूरे दिन पड़े हों।

श्रोता : बनिये ही निवृत्त होकर आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे की बात है न। आहाहा !

परिणाम वास्तव में वही कार्य है, भाषा देखो ! आत्मा के परिणाम या इस परमाणु के परिणाम, यह अँगुली परमाणु है, इस अंगुली के जो यह परिणाम हैं, वह वास्तव में निश्चय से अंगुली-परमाणु का कार्य है; वह आत्मा का कार्य नहीं है, वह आत्मा का कर्म नहीं है,

वह आत्मा के परिणाम से हुआ नहीं है। अँगुली हिलती है, वह आत्मा के परिणाम से नहीं हिलती। आहाहा!

वास्तव में प्रत्येक वस्तु की उस समय की जो पर्याय है, वही उसका कर्म अर्थात् कार्य है। आहाहा! एक द्रव्य का कार्य अपनी पर्याय, वह उसका कार्य है परन्तु वह द्रव्य दूसरे का कार्य कर सके, दूसरे परमाणु का या दूसरे आत्मा का... आहाहा! यह नहीं हो सकता, नहीं होता। मिथ्यादृष्टि मूढ़ मानता है, इसलिए वह मिथ्यात्व का सेवन करता है। दया पालनेवाला मैंने दया पालन की, उसका कार्य मैंने किया, यह मिथ्यादृष्टि मानता है। उसे जैनधर्म क्या है, इसकी खबर नहीं है। आहाहा! यह तो केवली सर्वज्ञ परमेश्वर का कथन है। भाषा कैसी की है, देखा?

वास्तव में '**ननु परिणामः एव किल विनिश्चयतः कर्म**' **वही निश्चय से कर्म है,...** आहाहा! आत्मा कर्म बाँधे, यह बात मिथ्या है। आत्मा कर्म बाँधे, यह बात झूठी है। आत्मा के जो विकारी परिणाम ही है, वह उसका कर्म और कार्य है। उसकी स्थिति की हद वहाँ तक है। वे परिणाम हुए, वहाँ तक उसकी मर्यादा है। पश्चात् कर्म बाँधे और कर्म का फल आत्मा भोगे, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात! सम्प्रदाय में पड़े हैं, उन्होंने सुना नहीं। यह क्रिया करो, दया पालन करो और यह करो। मर जानेवाले हैं, चार गति में भटकने, चौरासी के अवतार। आहाहा! यहाँ उसके माने परन्तु पर का कार्य करता हूँ, इसका फल (कठोर है)। यह एक आत्मा दूसरे आत्मा का कुछ भी कार्य करे, यह तीन काल में नहीं होता तथा एक आत्मा के परिणाम, दूसरे परमाणु के परिणाम को करे, इस भाषा की पर्याय को आत्मा करे, (यह) तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

वास्तव में परिणाम ही... जिस द्रव्य के जो परिणाम-पर्याय-अवस्था है, वही निश्चय से उसका कार्य है। उस कार्य को उल्लंघकर दूसरे का कार्य करने जाए, कर नहीं सकता और मिथ्यात्व का सेवन करता है। आहाहा! भारी कठिन काम। दुकान के धन्धे में पेढ़ी पर बैठकर यह किया और यह किया, यह किया और यह किया। कहते हैं कि यह इसके अपने परिणाम का कर्म करे, परन्तु दूसरा कार्य ग्राहक को सम्हाले और माल दे, यह तीन काल में नहीं बनता। भारी कठिन काम। यह तो जैनधर्म की इकाई है। केवलज्ञानी

परमात्मा का पहले नम्बर का एकड़ा यह है कि जितने अनन्त द्रव्य हैं, उनमें वह द्रव्य अपने परिणाम को करता है, अवस्था को करता है, हालत को करता है। दूसरे द्रव्य की अवस्था को, दूसरे के कार्य को अथवा दूसरे के परिणाम को एक द्रव्य तीन काल में नहीं कर सकता। आहाहा! कठिन काम, भाई! यह टोपी जो ओढ़ता है, वह कार्य आत्मा का नहीं है।

श्रोता : किसका—सिर का है कार्य?

पूज्य गुरुदेवश्री : सिर का नहीं, टोपी के परमाणुओं का है। टोपी के परमाणु का कार्य ऐसे (रहने का है)। चश्मा, वह कहीं आत्मा का कार्य नहीं है। यह परमाणु है, उसका कार्य यह चश्मा यहाँ रहना, वह है। आत्मा करे, वह परिणाम करे; परन्तु परिणाम के कारण वह चश्मा का कार्य करे, टोपी ओढ़ने का कार्य करे, कोट पहनने का कार्य करे, दियासलाई सुलगाने का काम करे, बीड़ी हाथ में पकड़ने का काम करे, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आहाहा! गजब बात है। ऐसा वीतराग का मार्ग जैन के सम्प्रदाय में जन्मे, उन्होंने सुना न हो। पचास-पचास, साठ-साठ वर्ष अकेले पाप में निकाले। आहाहा!

और 'सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति' परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है,... परिणाम जो अवस्था होती है, वह परिणामी, उसका द्रव्य जो है, उसके आश्रय से पर्याय होती है। आहाहा! यह कागज ऐसा ऊँचा होता है, वह आत्मा से नहीं तथा इस अँगुली से नहीं। अँगुली से ऐसे ऊँचा नहीं होता। क्योंकि अँगुली के परिणाम अलग और इसके परिणाम-पर्याय, पर्याय अलग। अँगुली की पर्याय अलग, यह पर्याय अलग। अँगुली की पर्याय, पर्याय का काम करे परन्तु वह पर्याय इसका काम करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! भारी कठिन।

श्रोता : आत्मा ने भाव किया और कागज ऊँचा हुआ, दोनों का समय एक कैसे है?

पूज्य गुरुदेवश्री : समय एक ही है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का समय एक है न, परिणाम में... प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का समय एक ही है। वर्तमान परिणाम हों, वह वर्तमान, बस! वर्तमान प्रत्येक के वर्तमान परिणाम हैं तो वर्तमान जीव ने परिणाम किये,

इससे वर्तमान दूसरे जड़ के परिणाम होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा कैसे बने?— कि वर्तमान अनन्त द्रव्य हैं। अनन्त द्रव्य वर्तमान के समय के परिणाम रहित नहीं होता और वह पर्याय है, उसे दूसरा द्रव्य करता है, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। वह जैनदर्शन का शत्रु है। आहाहा! कठिन काम है।

श्रोता : अनुरूप और अनुकूल इन दोनों का मेल किसने किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : मेल कुछ नहीं है। यह निमित्त होता है, उसे अनुकूल कहा जाता है और यहाँ पर्याय होती है, उसे अनुरूप कहा जाता है। अनुकूल उसे कुछ करे, (यह) तीन काल में नहीं है। तथा अनुरूप, अनुकूल को लावे, यह तीन काल में नहीं है। समयसार में आता है—अनुकूल-अनुरूप। जो निमित्त है, वह अनुकूल कहलाता है और जिस द्रव्य के परिणाम हैं, वे अनुरूप कहलाते हैं। वह अनुकूल परिणाम अनुरूप के कारण हुए नहीं हैं तथा अनुरूप के परिणाम, अनुकूल है, इसलिए उसके कारण आये हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : आपकी पाठशाला ही अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वीतराग का शासन अलग है, वीतराग का मार्ग अलग है। अभी तो फेरफार, पूरा फेरफार, सब फेरफार है। श्रद्धा एकदम विपरीत, मिथ्यात्व की श्रद्धा और उसे धर्म मानते हैं। आहाहा!

कहते हैं, **परिणाम अपने आश्रयभूत...** पर्याय होती है, पर्याय है, पर्याय कर्म है, पर्याय कार्य है परन्तु वह कार्य अपने-अपने द्रव्य के आश्रय से है। वह परिणाम, वह कर्म, वह कार्य, वह कर्तव्य, उस-उस द्रव्य के (आश्रित है), उसके परिणाम का जो द्रव्य है, उसके आश्रय से है। वह परिणाम दूसरे द्रव्य के आश्रय से होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

पैर उठाना, वह आत्मा का कार्य नहीं है। पैर को ऐसे उठाना और ऐसे रखना... वह पैर जमीन को छूता नहीं। पैर जमीन को छूता नहीं, जमीन पैर को छूती नहीं। क्योंकि पैर के परिणाम हैं, वे उसके आश्रय से—परमाणु के आश्रय से हुए हैं और इसके परिणाम हैं, वे इसके परमाणु के आश्रय से हुए है। यह चलने के परिणाम हुए, वह यह नीचे जमीन है,

इसलिए पैर के चलने का परिणाम (कार्य) हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कहा न? परिणाम अर्थात् पर्याय। प्रत्येक परमाणु और आत्मा की अनन्त है। अनन्त द्रव्य-आत्मा, अनन्त परमाणु। उनकी समय-समय की पर्याय स्वतन्त्र है। उस पर्याय का आश्रय वह द्रव्य है। वह पर्याय-परिणाम वह कर्तव्य और कार्य का आश्रय द्रव्य है। उस कार्य का आश्रय दूसरे द्रव्य के कारण से कार्य होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! पागल ही कहे, ऐसा है न! पूरा अभिमान उतर जाए। आहाहा!

मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ, आहाहा! यह खाने की क्रिया के परिणाम, वह परमाणु के परिणाम है। यह आत्मा उसके परिणाम करे, खाने के परिणाम जड़ के परमाणु हैं, आत्मा वह खाने के परिणाम करे, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह दाढ़ जो हिलती है और होंठ जो हिलते हैं, वह परिणाम उसके-जड़ के हैं। वे परिणाम उस परिणामी के आश्रय से है - परमाणु के आश्रय से है। वे परिणाम आत्मा के आश्रय से नहीं है। आहाहा!

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामी का ही होता है,... परिणामी का 'ही' होता है। एकान्त है। कथंचित् पर से और कथंचित् स्व से, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह **परिणामी का ही होता है, अन्य का नहीं...** क्या? परिणाम जो हुए परमाणु के या आत्मा के, वे आत्मा के आश्रय से हुए हैं, वे अन्य के आश्रय से नहीं और वे परिणाम आत्मा के हैं, वे परिणाम परमाणु के नहीं और परमाणु के जो परिणाम हुए, वह पर्याय परमाणु के आश्रय के हैं, वह अन्य के आश्रय से परमाणु की पर्याय नहीं है। आहाहा! यहाँ तो मैं पर की दया पालन करूँ, वह मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं है, उसे जैन की श्रद्धा की खबर नहीं है। क्योंकि वह परद्रव्य है और यह स्वद्रव्य है। स्वद्रव्य अपने परिणाम को करे। उसकी दया पालने के परिणाम उससे होते हैं, उसके बदले मुझसे होते हैं, (ऐसा मानता है, वह) जैनधर्म का विरोधी है, वह केवलज्ञानी परमात्मा का विरोधी है। आहाहा! कठिन काम है। अभी तो ऊपर बैठे हों, (उसमें) जी हाँ, जी हाँ किया हो। और पूरा बड़ा अन्तर है। आहाहा! 'दया वह सुख के वेलड़ी, दया वह सुख की खान'। यहाँ इनकार करते हैं। पर की दया, वह पर के परिणाम हैं। पर के परिणाम दूसरे परिणाम के आश्रय से नहीं होते। उसके द्रव्य के

आश्रय से परिणाम होते हैं। वह परिणाम ही उस परद्रव्य का कार्य और कर्तव्य और काम है। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य कामरहित नहीं होता। काम अर्थात् पर्याय का कार्य। कार्यरहित नहीं होता। तो दूसरा द्रव्य उसका कार्य किस प्रकार करे? वह कार्यरहित तो कोई द्रव्य है नहीं। आहाहा! जीव राग के परिणाम करे, परन्तु कर्मबन्धन के परिणाम आत्मा नहीं करता। आत्मा कर्म बाँध नहीं सकता तथा आत्मा कर्म छोड़ नहीं सकता, आत्मा कर्म नाश नहीं कर सकता। आहाहा! कठिन बात है। क्योंकि परमाणु के परिणाम हैं। वह अकर्मरूप परिणमना, वह परमाणु के परिणाम हैं। आत्मा कर्म का नाश करे या आत्मा कर्म को बाँधे, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। वे परमाणु अपने आप वहाँ कर्मरूप परिणमते हैं। वह कर्मरूपी परमाणु का कार्य करनेवाला वह परमाणु है और वह कर्म छूटकर अकर्मरूप होता है, वह कार्य कर्म का है। उस कर्म का ही अकर्मरूप परिणमना हुआ, वह कर्म का कार्य है। अकर्मरूप होना, वह कार्य जीव का है—ऐसा नहीं है। इसमें क्या करना? आहाहा! अभी तो सब यह चला है। यह करो और यह करो। प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, सामायिक करो... करो, करो और करो। मरो। करो और मरो। मर जानेवाले हैं। पर के परिणाम को मैं करता हूँ, इसमें आत्मा का मरण है। आहाहा!

जीवितज्योति जागृत जाननहार परिणाम है, वह जाननहार परिणाम पर का कार्य करे, ऐसा कहना, वह जाननहार परिणाम का नाश करता है और जाननहार परिणाम का नाश करता है; इसलिए जाननहार परिणाम का आधार जो द्रव्य है, उसका भी वह नाश करता है। आहाहा! ऐसी बातें सुनना कठिन पड़ती है। कभी की नहीं। वीतरागमार्ग जैन परमेश्वर सर्वज्ञ ने तीन काल, तीन लोक देखे। उनकी वाणी कोई अलग होती है। आहाहा! वह वाणी श्वेताम्बर में नहीं। स्थानकवासी और श्वेताम्बर में वह वाणी है ही नहीं। क्योंकि वे शास्त्र कल्पित बनाये। स्थानकवासी, मन्दिरवासी ने (किये हुए) शास्त्र भगवान के किये हुए नहीं हैं, साधु के किये हुए नहीं है, समकिती के किये हुए नहीं; मिथ्यात्वी के किये हुए हैं। आहाहा! अरर! ऐसी बातें। मिथ्यात्वी में भी गृहीत मिथ्यात्वी के किये हुए हैं। अगृहीत मिथ्यात्वी के नहीं। आहाहा! ऐई! मार्ग तो ऐसा है, बापू!

यह परिणाम अर्थात् पर्याय अपने आश्रयभूत परिणामी अर्थात् द्रव्य का ही होता है, अन्य का नहीं। (**क्योंकि परिणाम अपने-अपने द्रव्य के आश्रित हैं,...**) परमाणु में या आत्मा में समय-समय में जो पर्याय होती है, वह पर्याय अपने द्रव्य के आश्रय से होती है, पर के आश्रय से बिल्कुल नहीं। इसी प्रकार परमाणु में जो होता है, यह चलना, बोलना, चलना, वह परमाणु की पर्याय है; आत्मा से नहीं। आहाहा! आत्मा बोलता नहीं, आत्मा हिलता नहीं। यह हिलने की और बोलने की पर्याय का कर्ता परमाणु है। आहाहा! दामोदरभाई! ऐसा कहाँ था? दामनगर (में) था? सर्वत्र घोटाला है। साधु भी (ऐसा कहे) यह करो, यह करो और यह करो। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय तीन काल में नहीं कर सकता। क्योंकि कोई पर्यायरहित द्रव्य है नहीं। पर्याय अर्थात् कार्य, पर्याय अर्थात् कार्य। कार्यरहित कोई द्रव्य है नहीं कि जिससे उसका कार्य दूसरा द्रव्य करे। आहाहा!

श्रोता : बीमार पड़े, तब क्या करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बीमार पड़े? द्रव्य में रोग आवे परमाणु, वह उसकी—परमाणु की पर्याय है। वह पर्याय किसी दूसरे के कारण हुई है, खाने में अन्तर हुआ, इसलिए उसमें-शरीर में रोग हुआ, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा! वास्तव में तो दवा से कुछ रोग मिटता है, बात भी सत्य नहीं है। आहाहा! क्योंकि दवा के परमाणु के परिणाम, वह परमाणु ने किये हुए हैं और रोग मिटने का हो, वह परिणाम रोग के परमाणु हैं, उसने मिटने के परिणाम किये, उसने वह परिणाम किये। आहाहा!

(अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता)... आहाहा! अन्य परमाणु और आत्मा उसकी जो वर्तमान पर्याय अर्थात् परिणाम। परिणाम कहो, पर्याय कहो, कर्म कहो, कार्य कहो, अवस्था कहो... आहाहा! उसे दूसरा द्रव्य कभी कुछ कर नहीं सकता। शरीर का अवयव है, वह दूसरे शरीर को स्पर्श नहीं करता। इस शरीर के अवयव हैं, वे दूसरे के शरीर को स्पर्श ही नहीं करते। भिन्न-भिन्न दोनों द्रव्य हैं। आहाहा! इस आत्मा का द्रव्य और दूसरे के द्रव्य, यह शरीर के द्रव्य और दूसरे के द्रव्य जड़ के बीच तो अत्यन्त अभाव है। आहाहा! बात-बात में अन्तर है। यह अधिकार ऐसा आया है।

'इह कर्म कर्तृशून्यम् न भवति' और कर्म कर्ता के बिना नहीं होता,... ऐसा कहा

कि परिणाम कोई दूसरे के दूसरा नहीं करता परन्तु तब परिणाम कर्ता के बिना होते हैं ? किसी द्रव्य के परिणाम दूसरा द्रव्य नहीं करता, यह तो बराबर है परन्तु वे परिणाम कर्ता के बिना होते हैं ? वह कर्ता कौन है उसका ? आहाहा ! है ? **कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, तथा वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं होती...** तथा परमाणु और आत्मा एकरूप नहीं रहते। क्षण-क्षण में पर्याय बदलती है। ध्रुवपना रखकर क्षण-क्षण में अवस्था बदलती है। आहाहा ! है ? वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं है। तेरी उपस्थिति में ऐसा पलटता लगे, इसलिए मैं हूँ, इसलिए यह होता है—ऐसा नहीं। क्यों ? वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं है। वस्तु कायम एकरूप नहीं रहती। वस्तु हमेशा बदलती है। बदले बिना नहीं रहती; इसलिए उसे तू बदलावे, तेरी स्थिति में व्यवस्था हो, होशियार होकर दुकान की व्यवस्था मैं करूँ... मूढ़ है। प्रवीणभाई ! यह लोहे को बेचने के लिये... आहाहा ! गजब काम, भाई ! वीतरागमार्ग केवली परमात्मा ने कहा हुआ (अलौकिक है)।

प्रत्येक द्रव्य के परिणाम वे कर्ता के बिना नहीं हो सकते। तब तुमने तो कहा कि परिणाम पर के दूसरा करता नहीं। तब अब कर्ता के बिना तो परिणाम होते नहीं, तो कर्ता कौन ? आहाहा ! **कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, तथा वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं होती...** तथा एकरूप परमाणु या आत्मा रहते नहीं। वह तो उनका बदलने का स्वभाव है, वह बदला करता है, पर के कारण नहीं। आहाहा ! एक ही गाथा... आहाहा !

कर्म कर्ता के बिना नहीं होता,... तब तुमने ऐसा कहा कि कोई द्रव्य की कोई पर्याय कोई द्रव्य करता नहीं। तब मैं कहता हूँ कि कर्ता के बिना तो पर्याय होती नहीं, कर्ता के बिना पर्याय होती नहीं। तथा वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं है। वस्तु एकरूप नहीं रहती, बदलती तो है। तो वह बदलती है, उसका कर्ता कौन ? आहाहा ! **(कूटस्थ) स्थिति नहीं होती (क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से...)** वस्तु-द्रव्य कायम रहती है और पर्याय में क्षण... क्षण... क्षण में समय... समय में बदले, ऐसा उसका स्वभाव है। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु का द्रव्यरूप से कायम रहना और पर्यायरूप से पलटना, वह तो उसका स्वभाव है। आहाहा !

(द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है);... तो प्रत्येक द्रव्य

की पर्याय उसकी है, ऐसा न माने तो अकेला द्रव्य जो है, वह तो नित्य है, यह एकान्त है। आहाहा! क्या कहा? दूसरे के द्रव्य के परिणाम को दूसरा कोई द्रव्य कर ही नहीं सकता। तब अब वह परिणाम कर्ता के बिना तो हुए नहीं। तो वह कर्ता कौन? आहाहा! कि कर्ता उसका द्रव्य। क्योंकि **(वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से...)** प्रत्येक वस्तु द्रव्य अर्थात् कायम रहे और पर्याय अर्थात् बदले, वह तो वस्तु का स्वभाव है। उसे कोई दूसरा बदलावे, यह तीन काल में नहीं होता। ईश्वर कर्ता जैसा होता है। अन्यमति ईश्वर कर्ता माने और जैन पर की क्रिया का कर्ता माने, दोनों एक प्रकार के मिथ्यादृष्टि हैं। दोनों एक जाति के चार गति में भटकनेवाले हैं। आहाहा! ईश्वर कर्ता माने जगत का और यह स्वयं पर के परिणाम / पर्याय होती है, उसका कर्ता माने। आहाहा! दुकान की धन्धे की पर्याय मैं करता हूँ, मैं पैसा कमाता हूँ, मैं पैसा प्रयोग करता हूँ, यह सब कर्ता मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, वह जैन नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम।

(वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है);... क्या कहा यह? कि परिणाम कर्ता है, तो कर्ता बिना नहीं होता। तब कर्ता कौन? तब कहते हैं, वस्तु की एकरूप स्थिति नहीं है। इसलिए वह वस्तु स्वयं कर्ता है। वस्तु एकरूप नहीं रहती, बदलती है; इसलिए वह वस्तु कर्ता है। परद्रव्य कर्ता नहीं। आहाहा! श्लोक बहुत ऊँचा है। आहाहा! तथा वस्तु की एकरूप मर्यादा नहीं है। **(क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है);...** सर्वथा नित्य ही रहे, ऐसा कहो तो पर्याय बदलती है, यह बात मिथ्या पड़ती है। तो उस पर्यायवाला द्रव्य है, वह झूठा होता है। आहाहा!

इस अँगुली के परमाणु हैं और यह उसकी पर्याय है। पर्याय बिना का परमाणु नहीं है। उस कर्ता के बिना पर्याय नहीं है। आत्मा उसे कर नहीं सकता, परन्तु उसके परमाणु कर्ता बिना पर्याय हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात। पूरी जिन्दगी अहंकार में व्यतीत की। यह मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया! पर के कार्य मैंने किये, यह जिन्दगी अहंपने व्यतीत की, मिथ्यात्वपने, अजैनपने, (व्यतीत की)। उसके परिणाम... आहाहा! चार गति में भटकने के आयेंगे। नरक और निगोद। आहाहा!

मैं पैसा ले नहीं सकता, पैसा दे नहीं सकता, पैसा रख नहीं सकता। आहाहा! क्या

कहा ? मैं पैसा रख नहीं सकता। वह तो जड़ पर है। पर की पर्याय तो उससे होती है। तू क्या उसे रखे ? इसी तरह पैसा प्रयोग नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो परवस्तु है, उसके परिणाम बदलते हैं तो वह प्रयोग होते हैं। आहाहा ! तथा पर्याय को रख नहीं सकता, पैसे को दे नहीं सकता, ले नहीं सकता। आहाहा ! 'टोलिया' ऐसा सुना था ? बाप-दादा ने वहाँ भी सुना नहीं था। फिर बहिन को लगनी होकर, उसके कारण यह पीछे-पीछे (चले) आये। आहाहा ! ऐसी बात।

हमारे एक हीराजी महाराज थे केवल गिनाते। हिन्दुस्तान का हीरा। श्रद्धा एकदम भ्रष्ट। सब पर का कर सकते हैं और पर का कर सकते हैं और दया पालन कर सकते हैं। आहाहा ! यह बात ही नहीं थी। बेचारे बहुत सज्जन थे परन्तु यह बात कान में नहीं पड़ी थी, उनके पास आयी नहीं थी। इसलिए हम यह सब कर सकते हैं, यह सबकी दया पाल सकते हैं और सबको मदद कर सकते हैं। व्याख्यान देकर दूसरे को सुधार सकते हैं। आहाहा ! व्याख्यान की भाषा की जड़ की पर्याय आत्मा कर नहीं सकता और उससे दूसरा सुधरे, वह उसकी पर्याय का इस भाषा से तीन काल में नहीं होता। भाषा की पर्याय से पर में सुधरने की पर्याय होती है, ऐसा नहीं होता। आहाहा ! सम्प्रदाय में सुना था कभी ? कहीं है नहीं। स्थानकवासी और श्वेताम्बर में कहीं सत्य बात है नहीं। सर्वत्र गप्प ही गप्प है। भगवान तीन लोक के नाथ तीर्थंकर की यह तो वाणी है। सर्वज्ञ भगवान परमेश्वर। आहाहा !

मुमुक्षु : वे भी ऐसा कहते हैं कि हमारी वाणी तीर्थंकर की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो कहे न। उसके बिना माने किस प्रकार ? बनायी है कल्पित। श्वेताम्बर शास्त्र मिथ्यादृष्टि ने बनाये हैं। ३२, ४५, ८४ मिथ्यादृष्टि ने बनाये और भगवान का नाम दिया, इसलिए लोग बेचारे उसमें मर गये। आहाहा ! ३२ सूत्र और ४५, सर्वज्ञ भगवान के कहे हुए नहीं हैं। मिथ्यादृष्टि के किये हुए हैं, उस अज्ञानी के बनाये हुए हैं। लम्बा काल हुआ, (इसलिए) लोगों को खबर नहीं है। आहाहा ! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर के पास कुन्दकुन्दाचार्य गये, वहाँ आठ दिन रहे। वहाँ से आकर यह सब बनाया है, तो केवली शासन में बात है। आहाहा ! तेरापंथी भी ऐसा कहते हैं कि दूसरों को बचाना,

वह पाप है, क्योंकि वह पाप करेगा इसलिए। परन्तु बचा सकता ही नहीं। तेरापंथी है न? वे ऐसा मानते हैं। दूसरे को बचाना, वह पाप है। क्योंकि वह वापस पाप करेगा। वह यहाँ बात नहीं है। वह करे या न करे, परन्तु दूसरे को बचा सकता ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

(यहाँ कहते हैं) वस्तु एकरूप नहीं रहती, बदलती है। बदलती है, इसलिए दूसरा उसमें कौन करे? स्वयं बदलती है उसमें। आहाहा! **(क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप होने से सर्वथा नित्यत्व बाधासहित है);...** वस्तु बदलती नहीं और नित्य ही है, ऐसा कहो तो विरोध आता है। पर्याय बदलती है, दिखती है। प्रत्येक परमाणु, आत्मा में पर्याय बदलती है, द्रव्य तो ध्रुव है। आहाहा!

'ततः तद् एव कर्तृ भवत' इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म की कर्ता है... आहाहा! एक श्लोक में तो गजब किया है। **इसलिए वस्तु स्वयं ही....** परमाणु और आत्मा **अपने परिणामरूप...** कार्य। कर्म अर्थात् कार्य। अपने ही परिणामरूपी कार्य का कर्ता है। **(-यह निश्चयसिद्धान्त है)**। यह त्रिकाली, भगवान से सिद्ध हुई वस्तु है, ऐसा कहते हैं। निश्चय सिद्धान्त यह है। आहाहा! एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। दाढ़ रोटी को स्पर्श नहीं करती। रोटी के टुकड़े होते हैं, वे दाढ़ के कारण नहीं, क्योंकि प्रत्येक परमाणु भिन्न है। प्रत्येक परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र भिन्न होती है। आहाहा!

इसलिए वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्म (अर्थात् कार्य) की कर्ता है (-यह निश्चयसिद्धान्त है)। आहाहा! एक तिनके के दो टुकड़े होना, वह आत्मा से नहीं होते। क्योंकि वे जड़ के परिणाम उस काल में उसके परिणाम का कर्ता वह परमाणु है। भिन्न पड़े, भेद हुआ, टुकड़े हुए, वह परमाणु का कार्य है। दूसरा आत्मा कहे कि यह मेरा कार्य है (तो वह) मिथ्यात्व है, मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो एक ओर बैठ जाना, तो ऐसा हो इसमें। परन्तु एक ओर ही बैठा है। व्यर्थ का अभिमान करता है। प्रत्येक द्रव्य से भिन्न अकेला बैठा है। आहाहा! वह परद्रव्य के परिणाम करूँ, यह तो तेरी मान्यता, कल्पना खड़ी की है। बाकी परद्रव्य से भिन्न बैठा ही है। परद्रव्य में तेरा अभाव और उसके द्रव्य में तेरा अभाव है। इस प्रकार द्रव्य रहे हुए हैं। आहाहा! मान्यता में बड़ा अन्तर है। मान्यता उल्टी जड़ की मान्यता। आहाहा!

मैंने पुस्तक बनायी। आहाहा! दूसरे पुस्तक पढ़े तो उन्हें ज्ञान होगा। अरर! भाई! है? पुस्तक बना रखना तो दूसरे को ज्ञान होगा, एकदम मिथ्यात्व है। एक तो पुस्तक के परमाणु की पर्याय आत्मा से नहीं हुई और उस पुस्तक से सामनेवाले को ज्ञान नहीं होता। क्योंकि वह पर्याय बिना का द्रव्य नहीं है, इसलिए वह पर्याय उसके स्वयं से होती है, उसके बदले (माने कि) पुस्तक से होती है। आहाहा! गजब बात है। मार्ग ऐसा है, बापू! पूरी दुनिया चाहे जो माने। वीतराग केवलज्ञानी परमात्मा तीन लोक का नाथ विराजमान है, उसकी यह वाणी है। आहाहा! भगवान परमेष्ठी सीमन्धर भगवान विराजते हैं। वहाँ से आयी हुई यह वाणी है। तीन लोक के नाथ साक्षात् हाजरा-हुजूर प्रभु! आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य गये थे और यह लाये। आहाहा! उसे अनुसरण कर सन्तों ने टीका की है। एक (श्लोक) हुआ। २११ (श्लोक हुआ) पौन घण्टे हुआ।

कलश - २१२

अब, आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं–

(पृथ्वी)

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुट-दनन्त-शक्तिः स्वयं,
तथाप्यपर-वस्तुनो विशति नान्य-वस्त्वन्तरम्।
स्वभाव-नियतं यतः सकल-मेव वस्त्विष्यते,
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितःक्लिश्यते॥२१२॥

श्लोकार्थ : [स्वयं स्फुटत्-अनन्त-शक्तिः] जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु [बहिः यद्यपि लुठति] अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है, [तथापि अन्य-वस्तु अपरवस्तुनः अन्तरम् न विशति] तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती, [यतः सकलम् एव वस्तु स्वभाव-नियतम् इष्यते] क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं, ऐसा माना जाता है। (आचार्यदेव कहते हैं कि) [इह] ऐसा होने

पर भी [मोहित:] मोहित जीव, [स्वभाव-चलन-आकुल:] अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ, [किम् क्लिश्यते] क्यों क्लेश पाता है?

भावार्थ : वस्तुस्वभाव तो नियम से ऐसा है कि किसी वस्तु में कोई वस्तु नहीं मिलती। ऐसा होने पर भी, यह मोही प्राणी, 'परज्ञेयों के साथ अपने को पारमार्थिक सम्बन्ध है' ऐसा मानकर, क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है।।२१२।।

कलश - २१२ पर प्रवचन

अब, आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं- २१२

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुट-दनन्त-शक्ति: स्वयं,
तथाप्यपर-वस्तुनो विशति नान्य-वस्त्वन्तरम्।
स्वभाव-नियतं यत: सकल-मेव वस्त्विष्यते,
स्वभावचलनाकुल: किमिह मोहित:क्लिश्यते।।२१२।।

आहाहा! **जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु...** आहाहा! परमाणु में भी अनन्त शक्ति है। जड़ में, हों! यह अँगुली अनन्त परमाणु का पिण्ड है, यह तो अनन्त परमाणु का पिण्ड है। उसमें एक परमाणु में अनन्त शक्ति है, एक परमाणु में अनन्त गुण हैं। जितने गुण आत्मा में हैं, तीन काल के समय से अनन्त गुणे, उतने ही गुण एक परमाणु में हैं। आहाहा! परमाणु जड़ है, इसलिए गुण नहीं है, ऐसा नहीं है। उसमें अनन्त गुण है। आहाहा! यह कहते हैं।

जिसको स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु... 'बहि: यद्यपि लुठति' आहाहा! बाहर भले खड़ी रहे। प्रत्येक द्रव्य के परिणाम स्वतन्त्र होते हैं, वहाँ दूसरी चीज़ भले खड़ी रहे निमित्त, परन्तु उसका कर नहीं सकता। पर का कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! वे माँगने नहीं आते? शंकर के। ऐसे-ऐसे करे... शंकर के बाबा नहीं आते। वे हाथ में रखें टोपी, लकड़ी। बाहर लकड़ी, अन्दर (टोपी) इसलिए ऐसे, ऐसे-ऐसे ऊपर बाहर करे वहाँ अन्दर में लोलक हिले। यहाँ कहते हैं कि वह लोलक अन्दर हिले, वह इस लकड़ी के कारण नहीं। आहाहा! भारी काम, भाई!

स्वयं अनन्त शक्ति प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु... अर्थात् प्रत्येक, हों! छहों द्रव्य। भगवान ने छह द्रव्य कहे, वे छहों द्रव्य। अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश—(ऐसे) छह द्रव्य। अनन्त। प्रत्येक वस्तु अनन्त शक्तिवान प्रकाशमान है, ऐसी वस्तु **'बहिः यद्यपि लुठति' अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है...** आहाहा! भले कहते हैं कि यह अँगुली ऊपर ऐसे-ऐसे घूमती है परन्तु यह लकड़ी इसे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ऐसी बात जैन परमेश्वर के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। दूसरे सुने तो पागल कहे। अभी तो जैन में नहीं है। अभी जैन के सब बनिये कर्ताबुद्धि में पड़े हैं। आहाहा! हम करते हैं और हम करते हैं, हम कर सकते हैं। व्यवहार से तो कर सकते हैं न? निश्चय से नहीं। आहाहा! व्यवहार से या निश्चय से पर के परिणाम तीन काल में कोई नहीं कर सकता। क्योंकि परिणमन बिना का द्रव्य नहीं होता। बदलती अवस्था बिना का द्रव्य नहीं होता। और बदलता देखकर मेरी हाजिरी में यह बदला, इसलिए मुझसे बदला, (ऐसा मानता है), वह तेरा मिथ्यात्वभाव है। आहाहा!

अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है, तथापि अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती,... आहाहा! यहाँ भले स्पर्शे परन्तु अँगुली अन्दर प्रवेश नहीं करती। कर्म बँधें परन्तु उसमें आत्मा प्रवेश नहीं करता। आहाहा! आत्मा के राग परिणाम हों, उसमें कर्म के रजकण प्रवेश नहीं करते। आहाहा! ऐसी बातें! जो कर्म बँधते हैं, वे आत्मा के परिणाम से नहीं, उसकी स्वतन्त्र पर्याय के कारण कर्म बँधते हैं। यहाँ विकार होता है, वह कर्म के कारण नहीं। पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता, इसलिए विकार भी द्रव्य की पर्याय है। आहाहा! इसमें कितना याद रखना? **अन्य वस्तु के बाहर यद्यपि लोटती है,...** एक वस्तु से बाहर भले फिरे, टिके, बदले परन्तु **अन्य वस्तु अन्य वस्तु के भीतर प्रवेश नहीं करती,...** एक वस्तु में दूसरी वस्तु प्रवेश नहीं करती। अरे..रे..! आहाहा! यह रोटी होने में बेलन रोटी को स्पर्श नहीं करता। बेलन। लोई होती है और फिर चौड़ी होती है न? वह बेलन आटा को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

श्रोता : किसने किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आटे ने किया। आटे के परमाणु उस प्रकार से पर्याय उस

समय में परिणमने का उसका काल था। उस पर्याय का आश्रय उसके परमाणु हैं। उस पर्याय का आश्रय वह नहीं है, क्या कहलाता है ? बेलन। वह आश्रय नहीं है। आहाहा!

क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं... आहाहा! **ऐसा माना जाता है।** देखा ? प्रत्येक रजकण और प्रत्येक आत्मा। इस हाथ में अधिक रजकण इकट्ठे होने पर भी एक-एक रजकण भिन्न है। एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श भी नहीं करता। अपने-अपने परिणाम से प्रत्येक परमाणु अपने में रहा हुआ है। उसके परिणाम को दूसरे परमाणु करे और दूसरे का यह करे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! अब यह तो बाबा हो जाए। परन्तु बाबा हो तो भी कुछ नहीं कर सकता। मान्यता बदलनी है।

चक्रवर्ती राजा राज्य में पड़ा हो, तो भी समकिती होता है। भरत चक्रवर्ती, छियानवें हजार स्त्रियों में (होने) पर भी एक रजकण का भी मैं कर्ता हूँ, ऐसा वे नहीं मानते थे। आहाहा! छियानवें करोड़ गाँव, परन्तु किसी एक गाँव का मैं स्वामी हूँ, ऐसा नहीं मानते थे। आहाहा!

श्रोता : दिखता है ऐसा कि एक कर्ता के दो काम और दो कर्ता का एक काम।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक कर्ता का एक काम, दो कर्ता के दो भिन्न-भिन्न काम। एक कर्ता का एक काम, दो कर्ता के दो काम। दो कर्ता भिन्न-भिन्न के दो भिन्न-भिन्न काम। आहाहा! ऐसा तो सुनने को कभी मिले। अधिकार आया हो तो पढ़ा जाए न ? अधिकार सामने आया हो, (तब स्पष्टीकरण होता है)। आहाह!

क्योंकि समस्त वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में निश्चित हैं, ऐसा माना जाता है। आहाहा! प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक समय में अपने-अपने स्वभाव में है। प्रत्येक समय में अपने स्वभाव में है। चाहे तो जीव विकार करे तो भी वह अपने स्वभाव में है। आहाहा! विकार करे तो भी वह उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। किसी के कारण कोई विकार, कर्म के कारण विकार (होता है), ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

(आचार्यदेव कहते हैं कि—) ऐसा होने पर भी... अरे! वस्तु की स्थिति तो ऐसी है। वस्तु की मर्यादा तो तीनों काल भगवान ने-परमेश्वर ने तो ऐसी कही है, तो भी लोग मोह में क्यों उलझे हैं ? अनन्त केवलियों ने यह कहा है, आचार्यदेव कहते हैं। आहाहा!

अरे.. ! **ऐसा होने पर भी मोहित जीव, अपने स्वभाव से चलित होकर आकुल होता हुआ, क्यों क्लेश पाता है ?** इसका कर दिया-मैंने अच्छा कर दिया, मैं बुरा कर दिया। क्या किया तूने ? कुछ किया नहीं, तेरे परिणाम तूने किये हैं। इस प्रकार... आहाहा ! अज्ञानी अपने क्लेश को पाता है, दूसरा कुछ नहीं होता। पर का कर्ता मानना, वहाँ क्लेश खड़ा होता है, मिथ्यात्व (खड़ा होता है), तथापि वह पर का नहीं कर सकता। आहाहा !

श्लोक तो बहुत ऊँचे आये हैं। आहाहा ! अनन्त द्रव्य का अनन्त कार्य है। भगवान ने देखे हुए अनन्त पदार्थ हैं, उन अनन्त के एक-एक समय में अनन्त कार्य प्रत्येक के अपने-अपने हैं। उसमें उस कार्य बिना का वह द्रव्य नहीं है कि जिससे दूसरा द्रव्य उसका कार्य करे। आहाहा ! भगवान परमात्मा केवली ने अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु, अनन्त द्रव्य देखे। उन अनन्त द्रव्यों में किसी द्रव्य का द्रव्य दूसरे का कार्य करे तो अनन्तपना भिन्न नहीं रहता। आहाहा ! एक द्रव्य दूसरे का कार्य करे तो द्रव्य भिन्न अनन्त नहीं रहते। अनन्त में एक-दूसरे का करे, दूसरा तीसरे का करे, तीसरा चौथे का करे तो शून्य लगे। इसलिए यह बात है नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४०७, श्लोक २१२ से २१३　　मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण १३
दिनाङ्क - १०-०६-१९८०

सम्बन्ध है, इसलिए उसे पर का भी कर सकता हूँ, ऐसी मोह की मान्यता अज्ञानी को है। आहाहा! **'परज्ञेयों के साथ अपने को पारमार्थिक सम्बन्ध है' ऐसा मानकर, क्लेश पाता है,...** आहाहा! किसी वस्तु को मैं रखूँ, इतने काल इस वस्तु को प्रयोग करूँ, पश्चात् इसे छोड़ दूँगा, यह घर इतने समय मैं प्रयोग करूँ, वस्त्र इतने वर्ष प्रयोग करूँ, फिर गहने इतने वर्ष प्रयोग करूँ, पश्चात् उसे छोड़ूँगा। यह अज्ञानी की ममता है, मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! ममता तो चारित्र दोष है, परन्तु यह तो मेरा, मैं कर सकता हूँ, इसलिए मिथ्यात्वदोष है। मिथ्यात्व की श्रद्धा—विपरीत मान्यता है।

यह मोही प्राणी, 'परज्ञेयों के साथ अपने को... एक जानने-देखने जितना सम्बन्ध है, वह भी व्यवहार। आत्मा को और पर को जानने-देखने जैसा सम्बन्ध है। आत्मा जाननेवाला और दूसरी चीज़ ज्ञात हो। इसके अतिरिक्त कुछ अधिक सम्बन्ध नहीं है। वह भी ज्ञात हो, यह भी व्यवहार। पर ज्ञात होता है और यह जाननेवाला, यह भी व्यवहार। निश्चय से तो स्वयं अपने को ही जानता है। क्योंकि वह चीज़ कहीं यहाँ आती नहीं। यहाँ आया हुआ जो ज्ञान उसे जाने। यहाँ हुआ जो ज्ञान, उस सम्बन्धी का या अपने सम्बन्धी के हुए ज्ञान को जाने। वह आत्मा कहीं पररूप हुआ नहीं कि जिससे उसे जाने। आहाहा!

उसका कुछ कर तो नहीं सकता परन्तु जान सकने में, पर को जानना, वह व्यवहार कथन है। क्योंकि पर में अपना अस्तित्व नहीं जाता और उसका—ज्ञेय का अस्तित्व ज्ञानरूप नहीं आता। ज्ञेय कहीं ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता। मात्र जानने-देखने के व्यवहार सम्बन्ध में भ्रमणा उत्पन्न करके पर मेरे हैं और पर का मैं कर सकता हूँ, यह मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! यह मोह अज्ञान है।

परज्ञेयों के साथ **अपने को पारमार्थिक सम्बन्ध है ऐसा मानकर, क्लेश पाता है,...** मैं इसका कर सकता हूँ, बीमार मनुष्य की सेवा कर सकता हूँ, जगत को कठिन (पड़े)। आहाहा! बीमार की सेवा कर सकता हूँ, कोई कुत्ते को और बिल्ली को मारता हो तो मैं उसे

बचा सकता हूँ। आहाहा! यह मान्यता अत्यन्त मिथ्यात्व है। परिणाम हों परन्तु उस परिणाम में ऐसा माने कि मैंने इसे किय और कराया तो वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! यह काम बहुत कठिन।

अभी तो करूँ, करूँ और करूँ, यह करूँ और यह करूँ। सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। यह इसके माने हुए। थे कहाँ? समकित बिना (होते नहीं)। इसके माने हुए यह करो, करो, वह मिथ्यात्व का सेवन करता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टिपने को सेवन करता हुआ पर का कर नहीं सकता, तथापि मुफ्त में मानता है। मोह का अर्थ ही मुफ्त है, निष्फल। आहाहा! निष्फल मानता है, व्यर्थ। जिसके परिणाम में तेरे परिणाम या दूसरे परिणाम में कुछ हो, यह बनता नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम है।

क्लेश पाता है, यह महा अज्ञान है। देखा? आहाहा! यह इसकी सेवा की, मैंने इसकी व्यवस्था की और इसका काम बिगड़ता था, उसमें मेरी मौजूदगी के कारण वह व्यवस्थित काम चढ़ गया, काम में काम बराबर व्यवस्थित हुआ। ऐसी मान्यता मिथ्यात्व और अज्ञान है। आहाहा! जैनदर्शन वस्तुदर्शन है। जैनदर्शन कोई पन्थ-पक्ष नहीं। पन्थ नहीं, पक्ष नहीं, वाडा नहीं। वस्तु का जो स्वरूप है, वैसा जाना, वैसा कहा है।

एक परमाणु आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तब ऐसा कहना कि कर्म के कारण विकार होता है, यह एकदम मिथ्यात्व है। कर्म परद्रव्य है, आत्मा स्वद्रव्य है। कर्म को जो आत्मा स्पर्श नहीं करता तो भी कर्म विकार करे, कर्म का उदय आवे; इसलिए मुझे विकार करना पड़े, (यह) भ्रमणा मिथ्यात्व की है। आहाहा! जैन में तो यह कर्म की ही बातें करते हैं। यह कर्म के कारण हुआ, कर्म के कारण हुआ।

निश्चय से तो पुण्य के कारण पैसे आते हैं, यह व्यवहार की बातें हैं। क्योंकि पुण्य के परमाणु भिन्न हैं, पैसे के परमाणु भिन्न हैं। इन पुण्य के परमाणु के कारण पैसे के परमाणु आवे, यह बात सत्य नहीं है। आहाहा! प्रत्येक परमाणु और प्रदेश अपने-अपने समय में नियम से पर्याय से स्वयंसिद्ध है। उसे दूसरा कोई पर्याय करे अथवा दूसरे की करे, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! यह भावार्थ हुआ।

कलश - २१३

पुनः आगे की गाथाओं का सूचक दूसरा काव्य कहते हैं–

(रथोद्धता)

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥

श्लोकार्थ : [इह च] इस लोक में [येन एकम् वस्तु अन्यवस्तुनः न] एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, [तेन खलु वस्तु तत् वस्तु] इसलिए वास्तव में वस्तु वस्तु ही है– [अयम् निश्चयः] यह निश्चय है। [कः अपरः] ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु [अपरस्य बहिः लुठन् अपि हि] अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी [किं करोति] उसका क्या कर सकती है?

भावार्थ : वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदला सकती। यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। इस प्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती, वहाँ एक वस्तु ने अन्य का क्या किया। कुछ नहीं। चेतन–वस्तु के साथ पुद्‌गल एक–क्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं, तथापि वे चेतन को जड़ बनाकर अपनेरूप में परिणमित नहीं कर सके; तब फिर पुद्‌गल ने चेतन का क्या किया? कुछ भी नहीं।

इससे यह समझना चाहिए कि – व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी परद्रव्य ज्ञायक का कुछ भी नहीं कर सकते और ज्ञायक परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता॥२१३॥

कलश - २१३ पर प्रवचन

पुनः आगे की गाथाओं का सूचक दूसरा काव्य कहते हैं– २१३।

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत्।

निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः
किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ।।२१३।।

आहाहा! **इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है,...** कोई भी एक वस्तु, दूसरे की नहीं है। स्त्री-पुत्र इसके नहीं हैं।

मुमुक्षु : रुपये कमा रहे हैं, वे हमारे नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये कमाते नहीं और इसके नहीं। कमाता भी नहीं। वह तो परमाणु उनके स्वयं के कारण से यहाँ आये हैं। इसलिए यह कमाया है, यह मान्यता भ्रमणा है और पैसे मेरे हैं, यह (मान्यता) मिथ्यात्व है। कठिन काम है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज हो और सम्यग्दृष्टि हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : हो, तथापि कोई एक चीज़ को अपनी नहीं मानता। भरत चक्रवर्ती छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें हजार गाँव थे। कोई चीज़ मेरी है, ऐसा अन्तर में नहीं मानते। मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। राग होता है, वह भी मैं नहीं। मेरी चीज़ राग से भिन्न अन्दर है तो परचीज़ के प्रदेश तो अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! निश्चय से तो राग की पर्याय भी जीव की नहीं है परन्तु राग को जाने, ऐसी जो ज्ञान की पर्याय वह भी जीव की, द्रव्य की नहीं है। पर्याय, पर्याय की है; पर्याय, द्रव्य की नहीं है। आहाहा! क्या हो ? कठिन सर्वत्र पहुँचना, पूरे दिन करना... करना... करना... आहाहा!

मुमुक्षु : सब करना... करना करते हैं, आप नहीं करना... नहीं करना... नहीं करना कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं करना, यह नहीं; कर सकता नहीं। नहीं करना, यह नहीं। नहीं करना, इसमें कुछ कर सके तो नहीं करना, ऐसा हुआ। यह कर सकता ही नहीं। एक आत्मा एक परमाणु को, इस हाथ को हिला नहीं सकता। आत्मा इस भाषा को, इस होंठ को हिला नहीं सकता। आहाहा! वस्तु की यह स्थिति है। ऊपर कहा था न ? वस्तु स्वभाव का नियम यह है। आहाहा! परन्तु अभी तो बाहर का पड़ा है। सर्वत्र प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति में सब धर्म मना लिया गया है। उसमें मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे अनन्त संसार बढ़ता है, इसकी खबर नहीं है। आहाहा! पर की दया पालो, बस। हमारे गुरु ऐसा

कहते थे, 'अहिंसा समयन्चेव' पर नहीं मारना, यह सिद्धान्त का पूरा सार है, ऐसा कहते थे। कैसे थे! सज्जन व्यक्ति।

मुमुक्षु : पर को मारने का भाव न करना, यह तो बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मारने का भाव करना नहीं, परन्तु उसे मार नहीं सकता। मार नहीं सकता परन्तु जिला नहीं सकता। आहाहा! एक जीव दूसरे जीव को जिला नहीं सकता। आहाहा! यह सेठिया होते हैं और मिल में हजारों लोग काम करे, तब ऐसा कहे, मानते हैं, (कि) हमारे कारण यह सब निभते हैं, हजारों लोग निभते हैं। आहाहा!

पोपटभाई के थे न? उनका साला। गोवा (में), दो अरब रुपये। दो अरब और बीस करोड़। ढाई अरब रुपये। फिर इन्होंने एक बार इनके बहनोई को कहा पोपटभाई लींबड़ीवाले। पोपटभाई हैं न? पाणसणावाले। लींबड़ी रहते हैं। उन्होंने कहा,अब तुमको इतना पैसा है और यह सब किसलिए करते हो? तक कहता है कि क्या मैं मेरे लिये करता हूँ? हजारों लोग निभते हैं, इसलिए करता हूँ। ऐसा पावर फट जाए (अभिमान चढ़ जाए)। आहाहा! हजारों लोग निभते हैं। बड़ी आमदनी थी। ढाई अरब रुपये। कितने लाख पैदा करते महीने में। आहाहा! अब यह तो अभी बहुत हो गये। अब तो कम करो, उनके बहनोई पोपटभाई कहे। उसका जवाब ऐसा दिया, लो! क्या मैं मेरे लिये यह करता हूँ? लोगों के निभाव के लिये करता हूँ। ऐसा अभिमान। अब वह कहाँ जाए? आहाहा! यहाँ कुछ रहे और उसकी गति कुछ हो। आहाहा! कौन देखे? कौन खोज करे? आहाहा! ऐसे अभिमान तिर्यंच की गति जैसे हैं। तिर्यंच में जाए, पशु में जाए। आहाहा! माँस और शराब न खाते (पीते) हों, तब तो नरक में न जाए। बाकी ऐसे अभिमान के पाप सेवन करते हों (कि) हम करते हैं और यह हमारे से होता है, वह सब मरकर निगोद में जानेवाले हैं। एकाध भव तिर्यंच का करे और फिर निगोद जानेवाले हैं। आहाहा!

भगवान ने कहा न! वस्त्र का एक तिल के तुष जितना, छिलके जितना परिग्रह रखे तो वह मरकर निगोद जाता है, ऐसा कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने भगवान का कहा हुआ कहा। आहाहा! भले उस समय कदाचित् उस भव में न जाए, परन्तु अन्त में निगोद जानेवाला है। वहाँ अनन्त काल पड़े रहनेवाला है। आहाहा! मान्यता विपरीत। आचरण में भले कोई शुभभाव हो परन्तु मिथ्यात्व के समक्ष गिनती क्या? महा मिथ्यात्व का पाप,

अनन्त पाप, निगोद में ले जाए—ऐसा पाप। आहाहा! उस पाप की तो खबर नहीं होती और यह शुभ काम किया, यह दया पालन की, यह व्रत लिये, ब्रह्मचर्य पालन किया... ऐसे शुभभाव का अभिमान। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है,...** २१३। नहीं, तब अब अस्ति किस प्रकार हो? एक वस्तु दूसरी की नहीं है, नहीं है, वह दूसरे का करे किस प्रकार? आहाहा! यह अँगुली इस अँगुली की नहीं है तो यह अँगुली इसका क्या करे? और यह इसका क्या करे? आहाहा! गजब बात है। वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, भाई!

मुमुक्षु : ऐसा माने बिना वीतरागता होगी ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं होगी। ऐसी मान्यता बिना महा मिथ्यात्व है। बिल्कुल मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान, वह पर को जाने, यह भी व्यवहार है। पर को करे तो नहीं और पर का तो करे नहीं, पर से ले नहीं, परन्तु पर को जाने, यह भी एक व्यवहार से कहने में आता है। आहाहा! इतनी श्रेणी पहुँचे बिना इसके जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। मानेगा चाहे जो, मरकर जाएगा कहीं का कहीं। आहाहा! वापस अनन्त काल में मनुष्यपना मिलना मुश्किल पड़ेगा, निगोद में जाएगा वहाँ। आहाहा! **इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है,...** यह शरीर आत्मा का नहीं, वाणी आत्मा की नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : लड़का तो है न आत्मा का?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई लड़का-बड़का था कब? लड़के का आत्मा अलग, उसका शरीर अलग। उसका आत्मा अलग। यह लड़का मेरा है, यह माननेवाले ही मिथ्यादृष्टि मूढ़ हैं। जो चीज़ पर है, पर में अपना अत्यन्त अभाव है। वह तो यहाँ कहा। इस लोक में अन्य वस्तु की अन्य वस्तु नहीं है। पुत्र उसके पिता का नहीं है, पिता का वह पुत्र नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : लड़का वंश रखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वंश रखता है भटकने का। आहाहा! लड़के वंश रखते हैं। साठ वर्ष में लड़का हो, तब तक हुआ न हो तो कहे, ओहोहो! लड़का हुआ, भाई! आहाहा! पैसा है, इस जाति को जिमाओ, हर्ष-हर्ष करो, हर्ष। आहाहा! दुनिया अनादि से (ऐसे ही

चलती है)। मिथ्यात्व के भाव असंख्य प्रकार के हैं। उसमें यह मिथ्यात्व सेवन करके अनेक प्रकार के मिथ्यात्व भाव हैं, (उन्हें) सेवन करके उनका फल निगोद है। बीच में कोई शुभभाव हो और एकाध देवादि हो, व्यन्तर, भूत आदि (हो) परन्तु मरकर फिर तिर्यंच होकर निगोद में अनन्त काल रहनेवाले हैं। आहाहा! और आत्मा के भानवाले... आहाहा! एकाध भव स्वर्ग का करके मोक्ष जानेवाले हैं।

इस लोक में एक वस्तु अन्य वस्तु की नहीं है, इसलिए वास्तव में वस्तु वस्तु ही है... वस्तु है, वह वस्तु ही है अर्थात्? जो वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय से है, वह वस्तु ही है। उसकी पर्याय दूसरा कोई करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! वस्तु है, वह द्रव्यपर्यायस्वरूप है और द्रव्यपर्यायस्वरूप है, उसमें उसकी पर्याय दूसरा द्रव्य करे, (यह माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। वह जैन ही नहीं है, जैन को नहीं मानता। आहाहा! कठिन काम है।

इसलिए वास्तव में वस्तु वस्तु ही है... आहाहा! अर्थात् क्या? कि जो चीज़ है, वह चीज़ ही है। उस चीज़ को दूसरे की कोई आवश्यकता नहीं है। उस चीज़ के बदलने में, पलटने में दूसरी चीज़ की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह होंठ हिलते हैं, उसके पलटने में आत्मा की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आहाहा! आत्मा से यह काम होता ही नहीं। क्यों? वस्तु है, वह वस्तु है। वस्तु है, वह वस्तु है अर्थात्? द्रव्य, गुण और पर्याय तीन सहित है। पर्यायसहित वस्तु है। अर्थात् कार्यसहित तो वस्तु है तो दूसरा उसका कहाँ कार्य नहीं, (कि) वह कार्य करे? कार्यरहित चीज़ कहाँ है कि दूसरा उसका कार्य करे। आहाहा! कठिन है, भाई! भाषा में आना और मान्यता बदलना (अलग वस्तु है)।

मुमुक्षु : होशियार व्यक्ति को बहुत कठिन लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार मनुष्य किसे कहना? आहाहा! चैतन्यस्वरूप का अनुभव करे, वह होशियार है। बाकी सब थोथे हैं। आहाहा! बहुत काम करते हों और मानते हों, उसे कठिन लगे। हम यह करते हैं... हम यह करते हैं... हम यह करते हैं... आहाहा! कठिन काम है।

वस्तु है, वह अन्य वस्तु की नहीं और इसलिए वास्तव में वस्तु है, वह वस्तु ही है। उस वस्तु की पर्यायसहित जो है, पर्यायसहित द्रव्य है, उस-उस क्षण स्वयं अपने से है, दूसरे के कारण वस्तु की पर्याय है, ऐसा है नहीं। आहाहा! बाहर से ऐसा दिखता है, लो!

यह अभी मुम्बई हुआ न? ताँबे के चद्दर गिरे, एक व्यक्ति मर गया। अपना जैन नौतमभाई की दुकान में माल लेने गया होगा, स्थानकवासी जैन था। चद्दर सिर पर गिरे तो मर गया। अब उसे वे स्पर्शे भी नहीं। परन्तु उनकी स्थिति उस समय वह होने की है। ताँबे के चद्दर उसके शरीर को स्पर्शे भी नहीं। अब यह कौन माने? उसके सिर के रजकणों की अवस्था उस प्रकार से होने का काल था, इसलिए स्वयं हुए हैं। वे चद्दर गिरे, इसलिए मर गया—ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा काम है।

इसलिए वास्तव में वस्तु है... वास्तव में परमाणु और एक-एक आत्मा... आहाहा! **वस्तु वस्तु ही है 'अयम् निश्चयः' यह निश्चय है।** यह निश्चय अर्थात् वास्तविक है। एक वस्तु की वस्तुपने की स्थिति वस्तु के कारण है। उसमें दूसरी वस्तु उसकी कोई पर्याय बदले, उसकी अवस्था बदल दे, ऐसी वस्तु है नहीं। आहाहा! पानी में मक्खी गिरी हो और मक्खी को ऐसे बचावे, वह क्रिया इसकी है नहीं। मानता है (मैंने बचाई)। वह शरीर अलग है, यह अलग है। वह क्रिया उस काल में उस प्रकार की जड़ की होनेवाली थी, हाथ की और उसकी; और यह मानता है कि मैंने उसे बचाया और मैंने हाथ में लिया तो बचा लिया। आहाहा! जगत से बहुत उल्टा, भाई! तेरापन्थी जैसा नहीं, हों! तेरापन्थी तो ऐसा कहते हैं कि असन्त को पोषण करने से पाप होगा, इसलिए असन्ती को देना, वह पाप है। यहाँ ऐसा नहीं है। वह वस्तु ही दे नहीं सकता और दूसरा वह वस्तु ले नहीं सकता। आहाहा! पर को बचा नहीं सकता। बचाने जाए तो पाप लगेगा, ऐसा वे कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि यह बचा सकता ही नहीं, बचा सकता हूँ—ऐसा मानता है, वह पाप है। आहाहा! ऐसा बड़ा अन्तर है।

वस्तु वस्तु ही है, वस्तु ही है, यह निश्चय है। वह निश्चय है। **'कः अपरः' ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु 'अपरस्य बहिः लुठन् अपि हि' अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी...** भले कहते हैं कि यह ऐसे बाहर वस्तु आवे और लोटे, घूमे। बिच्छू भी इस चमड़ी को स्पर्श नहीं करता। बिच्छू बाहर घूमता है इतना। आहाहा! इसके शरीर को स्पर्श नहीं करता, बिच्छू शरीर को स्पर्श नहीं कर सकता। सर्प... आहाहा! वह शरीर को काट नहीं सकता। आहाहा! एक वस्तु की मर्यादा जिस समय में वह वस्तु वस्तुरूप से द्रव्य, गुण और पर्यायरूप से जिस समय में है, वह वस्तु है। उसे दूसरा कोई पर्याय बदल सके, यह बात

तीन काल में सत्य नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन लगे, हों! दामोदरभाई! कभी सुना न हो उसे (कठिन लगे)। आहाहा!

ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु, अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई... यह क्या कहते हैं? इस वस्तु के साथ भले हो, बाहर लोटती हो, फिरती हो परन्तु अन्य वस्तु को कुछ करती नहीं। आहाहा! यह हाथ, आत्मा हाथ के साथ लोटता है अर्थात् है परन्तु यह आत्मा अन्दर है, इसलिए हाथ फिरता है, ऐसी बात नहीं है।

मुमुक्षु : सुई और डोरा से वस्त्र सांधा जा सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही मिथ्या है। वस्त्र अलग चीज़ है, डोरा अलग चीज़ है। डोरा के परमाणु अलग, वस्त्र के अलग। एक परमाणु दूसरे परमाणु के बाहर लोटता है, फिरता है परन्तु अन्दर में प्रवेश करके कुछ काम कर सके... आहाहा! ऐसा नहीं है। बहुत कठिन काम। वीतराग का मार्ग ऐसा है।

वीतराग सर्वज्ञदेव जिनेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे, उनका यह हुकम आया, यह दिव्यध्वनि आयी है। आहाहा! एक वस्तु के बाहर भले ऐसे नजदीक में लोटे परन्तु वह दूसरी चीज़ को कुछ कर सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर और अग्नि भले ऐसे लोटे-फिरे परन्तु शरीर को अग्नि छूती नहीं। गजब बात है! पानी गर्म हो, उस अग्नि को पानी स्पर्शा नहीं, पानी अग्नि को स्पर्श नहीं। अग्नि के परमाणु अलग और पानी के परमाणु अलग। इसलिए अग्नि से पानी गर्म हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वस्तु वस्तुरूप से है। यह जब पानी गर्म हुआ, तब पानी वस्तुरूप से, अपनी उष्ण पर्यायसहितपने से है। आहाहा! उसे दूसरा क्या करे?

यह तो कैसा जैनदर्शन है? कितने अन्यमति न माने, उन्हें तो मुश्किल पड़े। जैनदर्शन ऐसा होगा कहीं? किसी का कुछ कर सके नहीं, हो गया, दया पाल सके नहीं, भूखा हो, उसे रोटी दे सके नहीं, प्यासे को पानी दे सके नहीं। आहाहा! गिरता हो, उसे बचा सके नहीं। गाड़ी के नीचे कुचलता हो, उसे गाड़ी फिर जाए तो धक्का मारकर कर सकता नहीं। यह बात कैसी?

भाई! त्रिकाल परम सत् है। वस्तु की वर्तमान पर्यायसहित वस्तु वस्तुरूप से है,

जिससे उस पर्याय को दूसरा द्रव्य करे, यह अवकाश ही नहीं है। वस्तु जो अनन्त है, वह अनन्त वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी पर्याय के कार्यसहित ही विराजती है। उसे दूसरी वस्तु छूती नहीं तो दूसरी वस्तु उसे करे कैसे? आहाहा! यहाँ यह बात आयी है और तीसरी गाथा में तो आयी है न? तीसरी गाथा, समयसार। प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु अपने गुण और पर्याय को स्पर्श करता है, परन्तु अन्य द्रव्य को कभी स्पर्श ही नहीं करता। यह हाथ आत्मा को स्पर्शा नहीं, आत्मा हाथ को स्पर्शा नहीं। यह अँगुली इस अँगुली को छूती नहीं और यह अँगुली इसे छूती नहीं। आहाहा! तीसरी गाथा में तो बहुत स्पष्ट (कहा है)। एक द्रव्य में जितने अपने गुण और पर्याय है, उस प्रकार से वह स्वयं वस्तु है। दूसरी चीज़ को वह चीज़ स्पर्श नहीं करती, चूमती नहीं, छूती नहीं। आहाहा! यह तीसरी गाथा है, समयसार।

यहाँ इस प्रकार से कहा, एक वस्तु की दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। क्यों? कि वस्तु वस्तुरूप से है। है, इसका अर्थ—द्रव्य-गुणरूप से तो है, परन्तु उसके स्वकाल की पर्यायरूप से भी है। अब प्रत्येक वस्तु स्वयं पर्यायसहित ही है तो दूसरी पर्याय को दूसरा करे, यह तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

मुम्बई का व्यापार तो झपाटा चलता हो। आहाहा! यहाँ कहा न? वहाँ अफ्रीका में दुकान में पच्चीस-पच्चीस लाख का कपड़ा ऐसा, ऐसे और ऐसे तीनों ओर घोड़ा पच्चीस लाख का। करोड़पति। साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। एक नैरोबी में साढ़े चार सौ करोड़पति और पन्द्रह तो अरबपति। यह तो उनका बहुत आग्रह था, जाकर आये, २६ दिन रहे। जिसके मकान में रहे थे, वह मकान पन्द्रह लाख का। कपड़े का बड़ा धन्धा। देखो तो साधारण मनुष्य, कुछ बुद्धि (बहुत नहीं)। जहाँ जो अवस्था होनेवाली है, वह होती है, उसे दूसरा रोक नहीं सकता तथा दूसरा कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : आप पधारे न, तब तो सब हुआ। बहुत सब कहते हैं, समाचार-पत्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह अवस्था उस काल में होनेवाली थी। उन लोगों ने साठ लाख रुपये इकट्ठे किये हैं। दिगम्बर मन्दिर बनाने के लिये। मैं था (तब) पंच कल्याणक हो गये। अभी मंजिल करना बाकी है। जब शिलान्यास किया, तब पन्द्रह लाख

इकट्ठे किये, यह मैं गया तब पैंतालीस लाख किये। पैंतालीस लाख और पन्द्रह (इस प्रकार) साठ लाख इकट्ठे किये। परन्तु वह पैसा जहाँ आनेवाला है, वहाँ आनेवाला है। खर्च होनेवाला है, वह खर्च होनेवाला है, किसी के कारण से आये-जाये, यह बात नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : लोग ऐसा कहते हैं, महाराज पैर रखे उसका बेड़ा पार।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बातें करते हैं। आहाहा! किसके कारण से कौन? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कारण से रहता है? द्रव्य तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय भी दूसरे द्रव्य के कारण रहती है? कोई भी द्रव्य उसके द्रव्य, गुण तो ध्रुव हैं परन्तु उसकी वर्तमान पर्याय अध्रुव और अनित्य है। उस पर्यायसहित द्रव्य है, तो उस पर्याय को करे कौन? भले अनित्य है, पलटती है, परन्तु पलटती अवस्था उस वस्तु की है। दूसरे के कारण से ऐसे पलटता दिखे, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम।

यह तो भगवान की वाणी है। तीर्थंकरदेव, सीमन्धरस्वामी भगवान के पास से आयी हुई यह वाणी है। आहाहा! साक्षात् भगवान—परमात्मा पुकार करते हैं, प्रभु! तू कौन है? तू द्रव्य, गुण और पर्याय है। तू द्रव्य, गुण और पर्याय है तो तेरी पर्याय में दूसरा कहाँ से आवे? आहाहा! और दूसरी चीज़ें वह द्रव्य, गुण और पर्याय है। वह पर्यायरहित चीज़ है? वस्तु ही स्वयं द्रव्य, गुण, पर्यायसहित है। उसे तू क्या करेगा? दूसरा द्रव्य दूसरे द्रव्य को। आहाहा! हाथ को स्पर्श नहीं कर सकता, पैर को स्पर्श नहीं कर सकता, चलते पैर नीचे जमीन को छू नहीं सकते। अर.. र..र..! ऐसी बात? चलते यह पैर जो जमीन को छूते हैं, (वे) जमीन को नहीं छूते। क्योंकि पैर के परमाणु में नीचे के परमाणु का अभाव है। क्योंकि वस्तु वस्तुरूप से है। पैर अपनी वस्तुरूप से द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से है, वह निश्चय से है। यह द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से है। आहाहा! ऐसा तो कितने वर्षों से बाहर निकलने का होगा। बाकी तो सब चलता है। आहाहा!

ऐसा होने से कोई अन्य वस्तु, अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई... लोटती अर्थात्? एक वस्तु दूसरी वस्तु के नजदीक आने पर भी उससे कुछ उसमें-पर में हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह हाथ है, उसमें देखो! यह लगा इसलिए लो! यह इसके कारण हुआ नहीं। ये परमाणु स्वयं द्रव्य, गुण और पर्यायवाली चीज़ है। इसलिए यह पर्यायवाली चीज़ है,

उसे दूसरी पर्याय दूसरा करे—ऐसा नहीं होता। आहाहा! **अन्य वस्तु के बाहर लोटती हुई भी उसका क्या कर सकती है?** आहाहा!

अन्य को बेचारे को कुछ खबर नहीं होती। उसे तो ऐसा (लगता है) कि यह क्या है यह? ऐसा कहाँ से निकाला? ऐसा अभी तक तो कुछ नहीं था। भाई! अनादि का है। यह पुस्तक दो हजार वर्ष पहले की है। हजार वर्ष पहले की टीका है। इसकी पुस्तक जैसे भाव अनादि के हैं। अनादि के अनन्त केवली, अनन्त तीर्थंकर ऐसा कह गये हैं, कह रहे हैं। कह गये हैं और कह रहे हैं। आहाहा! बात जँचना कठिन पड़े। पूरे दिन इसका करते हैं और यह करते हैं। आहाहा!

भावार्थ – वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदला सकती। देखा? पर्याय है न? प्रत्येक वस्तु को प्रत्येक क्षण में पर्याय—अवस्था है। उस अवस्था का अस्तित्व है, इसलिए दूसरा उसका अस्तित्व करे, ऐसा नहीं हो सकता। आहाहा! यह चलता है, उसमें इसकी इस पर्याय का अस्तित्व है। इस पर्याय के अस्तित्व को जीव कर सके, तीन काल में नहीं है। आहाहा! **वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि एक वस्तु अन्य वस्तु को नहीं बदला सकती।** बाहर लोटे, खड़ी रहे। आहाहा! वह भी अपने द्रव्य, गुण और पर्यायसहित। तथा जिसके पास खड़ी है, वह भी द्रव्य, गुण, पर्यायसहित है। आहाहा! द्रव्य, गुण, पर्यायसहित किस समय नहीं है? इस तीन काल में किस समय द्रव्य, गुण, पर्यायरहित वस्तु है? कहो, यह तो सिद्धान्त है।

तीन काल में अनन्त द्रव्य जो हैं, उसमें किस समय द्रव्य, गुण और पर्यायरहित है? द्रव्य, गुण तो ध्रुव है, परन्तु पर्याय बिना का कौन-सा द्रव्य है? उसकी पलटती अवस्था बिना का कौन द्रव्य है, कि जो दूसरा उसे पलटावे? आहाहा! पागल जैसा लगे। अन्यमति जैसा हो उसे (ऐसा लगे) यह जैन कैसा? ऐसा जैनधर्म कैसा है? भाई! वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! परन्तु ऐसी वस्तु न हो तो कायम टिकता तत्त्व न हो तो वह तत्त्व नहीं और पलटता न हो तो कार्य कुछ नहीं। आहाहा! कोई भी चीज़ है, वह कायम न हो तो नित्य नहीं है, तो वह द्रव्य—वस्तु रहे नहीं और वह पलटती न हो तो कार्य हो नहीं। समय-समय में पलटती स्वयं से पलट रही है। दूसरे के कारण पलटती है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

छुरी द्वारा, चाकू द्वारा शीशपेन ऐसा होता है ? कि, नहीं। यह चाकू उसे छूता भी नहीं। आहाहा! चाकू ने उसे छुआ नहीं। यह सब्जी बनाते हैं न सवेरे ? तुरिया की। यह छुरी या चाकू उसे स्पर्शा नहीं और टुकड़े होते हैं। आहाहा! क्यों ? कि जो टुकड़े होते हैं, वह द्रव्य, गुण, पर्यायवाली वस्तु है। वह द्रव्य, गुण, पर्याय (है तो) उस समय में पर्याय उसमें है या नहीं ? तो उसमें पर्याय है, उसमें छुरी की पर्याय में उसमें क्या किया ? छुरी की पर्याय भी छुरी की पर्यायसहित है तो उस पर्याय ने पर की पर्याय में क्या किया ? आहाहा!

यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। आहाहा! एक वस्तु दूसरी वस्तु को पलटावे, तब तो उस वस्तु की पर्याय ही नहीं रहे। पर्याय न रहे तो वह वस्तु ही न रहे। दूसरा उसे पर्याय करावे और उसकी पर्याय उसे न हो, तो पर्यायरहित वस्तु नहीं हो सकती। पर्याय अर्थात् अवस्था; अवस्था अर्थात् कार्य; कार्य अर्थात् कर्म; कर्म अर्थात् पर्याय का कर्तव्य। आहाहा! है ?

यदि ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे। आहाहा! अर्थात् ? कि कोई भी चीज़ उसकी वर्तमान पर्यायरहित हो तो वह वस्तु ही नहीं रहती। और पर्यायवाली है तो दूसरी चीज़ उसे स्पर्श नहीं करती तो पर्याय उसकी पर्याय बदल सके या दूसरे का काम कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

यह तो उपदेश ऐसा (दे कि) एकेन्द्रिय की दया पालो और यह करो और वह करो। बस! मेघकुमार ने दया पालन की... मेघकुमार हाथी के भव में और आहार-पानी दिये और परित संसार किया। ऐसी बातें करे, उन सुननेवालों को बेचारों को कुछ खबर नहीं होती। आहाहा! मिथ्यात्व का पोषण है। मिथ्यात्व का अनन्त का संसार का (पोषण है)।

मिथ्यात्व को ही मुख्य अनन्त संसार कहा है। अव्रत, प्रमाद, कषाय तो गौण संसार है। आहाहा! क्योंकि जहाँ एक तत्त्व की विपरीत मान्यता हुई, ऐसी अनन्त तत्त्व की मिथ्या (मान्यता) हुई, यह अनन्त मिथ्यात्व हुआ। एक तत्त्व को पलटकर मैं पलटाऊँ तो उसे तीन काल के पदार्थों को पलटा सकता हूँ, ऐसी मान्यता हुई। उस मिथ्यात्व में अनन्त पाप है, अनन्त। आहाहा! उसकी कोई गिनती नहीं और यह दया पालो, व्रत करो, और यह करो और वह करो, अपवास करो, वर्षीतप करो। आहाहा!

वस्तु वस्तु को छूती ही नहीं। वस्तु स्वयं अपने द्रव्य, गुण, पर्यायरहित रहती ही नहीं। कोई भी चीज़ अपने द्रव्य, गुण, पर्याय बिना रहती नहीं तो दूसरा द्रव्य उसे क्या करे? और दूसरा द्रव्य भी अपने द्रव्य, गुण, पर्याय बिना नहीं तो दूसरे का क्या करे वह? आहाहा! **ऐसा न हो तो वस्तु का वस्तुत्व ही न रहे।** आहाहा! वस्तु है द्रव्य, गुण, पर्यायसहित है। वह पर्याय स्वयं से न हो और पर उसकी पर्याय करे तो वह वस्तु वस्तु नहीं रहती। आहाहा! वस्तु का ही अभाव मानता है। एक का अभाव, ऐसे अनन्त का अभाव।

इस प्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती... एक वस्तु दूसरे को बदला नहीं सकती। आहाहा! छुरी घिसोड़ा के टुकड़े नहीं कर सकती, पलटा नहीं सकती। आहाहा! **इस प्रकार जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती...** बदला नहीं सकती और एक वस्तु पर्यायरहित नहीं होती। कोई चीज़ उस क्षण में पर्यायरहित नहीं होती तो दूसरा उसे परिणमा सके, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! **एक वस्तु ने अन्य का क्या किया?** जब परिणमा नहीं सकता, एक द्रव्य दूसरे को बदला नहीं सकता, पर्याय को बदला नहीं सकता और पर्यायरहित वह द्रव्य नहीं तो दूसरे ने उसमें किया क्या? आहाहा! यदि दूसरे ने उसमें किया तो वह पर्यायरहित द्रव्य रहा? आहाहा! बहुत कठिन बात है। वीतराग मार्ग परमेश्वर का मार्ग लोगों ने अन्यमत जैसा कर डाला है। जैनमत नहीं परन्तु अन्यमत जैसा जैनमत कर डाला है। आहाहा!

जहाँ एक वस्तु अन्य को परिणमित नहीं कर सकती, वहाँ एक वस्तु ने अन्य का क्या किया? एक चीज़ दूसरी को पलटा नहीं सकती और दूसरी चीज़ पलटने की अवस्थारहित होती नहीं तो दूसरे द्रव्य ने उसे क्या किया? आहाहा! न्याय और लॉजिक से पकड़े तो समझ में आये, बापू! आहाहा!

एक वस्तु ने अन्य का क्या किया? कुछ नहीं किया। आहाहा! क्योंकि वह परिणमित चीज़ है उस समय; और दूसरी चीज़ है, वह परिणमित पर्याय है। दोनों का एक ही समय है और दोनों की पर्याय भिन्न-भिन्न है। उसमें एक पर्याय दूसरी पर्याय को करे? नहीं थी और करे? पर्याय तो है, पर्यायरहित द्रव्य नहीं होता। आहाहा! अब उसे (पर्याय) नहीं तो फिर उस द्रव्य ने क्या किया? आहाहा! कहो, समझ में आया? सूक्ष्म है ऐसा। ऐसा कब सुनने को कहाँ मिले ऐसा है? यह तो दया पालो और व्रत करो, अपवास करो और

होली करो, ब्रह्मचर्य लो। यह सब शुभभाव है, क्रिया है। धर्म कहाँ था वहाँ? बालब्रह्मचारी हो, वह भी क्रिया है, धर्म नहीं। आहाहा! क्योंकि वह तो शरीर की क्रिया नहीं हुई परन्तु अन्दर में जो राग के साथ एकत्वबुद्धि है, वह मैथुन तो अन्दर पड़ा है। आहाहा! क्या कहा?

शरीर से क्रिया ब्रह्मचर्य की हुई शरीर से, वह तो शरीर से, वह तो इसे शरीर की पर्याय होनेवाली थी, उस प्रमाण अटक गयी, वह स्त्री के साथ का शरीर का संग नहीं होनेवाला था, इसलिए अटक गयी है। इसे ब्रह्मचर्य नहीं कहते। आहाहा! ब्रह्मचर्य तो अन्दर आत्मा ब्रह्म अर्थात् आनन्द, उस आनन्द में चरे, रमे, उसका नाम ब्रह्मचर्य है। आहाहा! ऐसे बालब्रह्मचारी भी यह बाहर के शरीर के तो अनन्त बार किये। शरीर से स्त्री का सेवन नहीं किया, वह तो जड़ है। उसकी पर्याय पर ने नहीं की, ऐसा कहाँ है? उसकी पर्याय ऐसी होनेवाली थी, उसकी ऐसे होनेवाली थी। यहाँ पर्याय विषय में अटकने की ही थी। अब वह कहता है कि मैंने अटकायी (रोकी)। आहाहा! कठिन काम है, भाई!

मैंने शरीर की क्रिया रोकी, जड़ की अवस्था को मैंने रोका। आहाहा! बहुत कठिन काम, प्रभु! यह ब्रह्मचर्य नहीं। शरीर द्वारा विषय सेवन न करना, यह ब्रह्मचर्य नहीं, यह शुभभाव है। जरा पुण्य बाँधे, साधारण पुण्य। बाकी मिथ्यात्व—महापाप तो साथ में पड़ा है। मैंने इस शरीर को रोका, शरीर की क्रिया जो विषय की होती थी, उसे मैंने रोका, तो इस के बाद इसकी पर्याय तूने रोकी? परद्रव्य की पर्याय को तूने रोका? वह पर्यायरहित द्रव्य है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! बहुत आगे चलते... चलते... चलते...

मुमुक्षु : आगे चलते-चलते शुद्ध दशा हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात है। आगे जाने पर सूक्ष्म विपरीत हो गयी। शरीर से आजीवन ब्रह्मचर्य पाले तो वह ब्रह्मचर्य नहीं, वह तो जड़ की क्रिया है। वह रूकी है, वह तो उसके कारण से रूकी है। आहाहा! ब्रह्मचर्य तो ब्रह्म अर्थात् आनन्दनाथ प्रभु की पर्याय आनन्द की होना चाहिए, वह आनन्द की पर्याय हो, उसे ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आहाहा! शरीर से ब्रह्मचर्य हो और परिणाम में मिथ्यात्व हो, अज्ञान हो, राग-द्वेष हो। आहाहा! कठिन का है।

चेतन-वस्तु के साथ पुद्गल एक-क्षेत्रावगाहरूप से रह रहे हैं... चेतन-वस्तु आत्मा जहाँ है, वहाँ एक क्षेत्र में परमाणु साथ में है। यह है, दूसरे हैं। **पुद्गल रह रहे हैं, तथापि वे चेतन को जड़ बनाकर...** आहाहा! चैतन्य एक है और परमाणु अनन्त हैं। जहाँ चेतन है, वहाँ ही अनन्त है और अनन्त परमाणु की पर्याय होती है, परन्तु वह चैतन्य की पर्याय को बदला नहीं सकते। आहाहा! यह यहाँ रहा हुआ आत्मा वहाँ दूसरे अनन्त प्रदेश हैं, यह तो है परन्तु अनन्त प्रदेश, दूसरे प्रदेश परमाणु साथ में है। वे परमाणु इसका कुछ नहीं कर सकते। आहाहा! चेतन को जड़ नहीं कर सकते। जड़-चेतन को अपनेरूप नहीं परिणमा सकते। अनन्त रजकण और एक आत्मा, उसे—चेतन को जड़रूप नहीं कर सकते। आहाहा!

चेतन को जड़ बनाकर अपनेरूप में परिणमित नहीं कर सके;... आत्मा को जड़ अपनेरूप—जड़रूप तो परिणमा सके नहीं। आहाहा! **तब फिर पुद्गल ने चेतन का क्या किया?** तो फिर कर्म के परमाणु और अन्दर पुद्गल जड़ पड़े हैं, उन्होंने आत्मा को क्या किया? आहाहा! कठिन बात है। ऐसा सुनने को किसी दिन मिले ऐसा है। बाकी तो सब चलता है, संसार, घोटाला। आहाहा! **चेतन का क्या किया? कुछ भी नहीं।** लो!

इससे यह समझना चाहिए कि – व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध होने पर भी... जानने का सम्बन्ध, बस! आत्मा परद्रव्य को जाने और आत्मा जाननेवाला, यह भी व्यवहार है। करने की बात तो है नहीं। आहाहा! परन्तु आत्मा को ज्ञेय-ज्ञायक—आत्मा जाननेवाला और दूसरी चीज़ें ज्ञेय—ज्ञात हो, ऐसा सम्बन्ध होने पर भी **परद्रव्य ज्ञायक का कुछ भी नहीं कर सकते...** परद्रव्य ज्ञेय हैं, वे ज्ञायक को कुछ नहीं करते और ज्ञायक ज्ञेय को कुछ स्पर्श नहीं करते। आहाहा! **और ज्ञायक परद्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता।** यह इस २१३ में कहा, लो! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २१४

अब, इसी अर्थ को दृढ़ करनेवाला तीसरा काव्य कहते हैं–

(रथोद्धता)

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥२१४॥

श्लोकार्थ : [वस्तु] एक वस्तु [स्वयम् परिणामिनः अन्य-वस्तुनः] स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का [किञ्चन अपि कुरुते] कुछ भी कर सकती है–[यत् तु] ऐसा जो माना जाता है, [तत् व्यावहारिक-दृशा एव मतम्] वह व्यवहारदृष्टि से ही माना जाता है। [निश्चयात्] निश्चय से [इह अन्यत् किम् अपि न अस्ति] इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं (अर्थात् एक वस्तु को अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं) है।

भावार्थ : एक द्रव्य के परिणमन में अन्य द्रव्य को निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्य ने यह किया', वह यह व्यवहारनय की दृष्टि से ही है; निश्चय से तो उस द्रव्य में अन्य द्रव्य ने कुछ भी नहीं किया है। वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।

इससे यह समझना चाहिए कि–परद्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ उनके भाव से परिणमित होते हैं और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है; वे एक दूसरे का परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिए यह व्यवहार से ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है' निश्चय से ज्ञायक तो बस ज्ञायक ही है।।२१४।।

प्रवचन नं. ४०८, कलश - २१४, गाथा-३५६ से ३६५ गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण १५
दिनाङ्क - १२-०६-१९८०

समयसार, २१४ कलश। आगे जो आनेवाला है, (उसका कलश है)।

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम्।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात्॥२१४॥

श्लोकार्थ - **एक वस्तु 'स्वयम् परिणामिनः अन्य-वस्तुनः' स्वयं परिणमित होती हुई...** क्या कहते हैं? आत्मा या परमाणु या प्रत्येक पदार्थ स्वयं समय-समय में परिणमन (करते हुए) बदलते रहनेवाले हैं। स्वयं परिणमते हैं। **अन्य वस्तु का कुछ भी कर सकती है-ऐसा जो माना जाता है, वह व्यवहारदृष्टि (झूठी दृष्टि) से ही माना जाता है।** इसमें यह काम किया, इसमें यह काम किया। कोई किसी का काम नहीं कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय (करता नहीं)। (क्योंकि) परिणमन के बिना द्रव्य है नहीं, तो जो परिणमन होता है, उसकी क्रिया, परिणमन की क्रिया करनेवाला तो द्रव्य है, अतः वह परिणमन करता हुआ रहता है, तो दूसरा (द्रव्य) क्या परिणमन करा सकता है? आहाहा! सूक्ष्म बात है।

यह शरीर ऐसे चलता है या कदम भरता है, वह स्वयं अपनी पर्याय से परिणमन करता है। उसे आत्मा हिला सके, ऐसा है नहीं। जगत को-अज्ञानी को भ्रम है कि मैं पैर को चलाता हूँ, बोलता हूँ, हाथ चलाता हूँ, हाथ से, कलम से लिखता हूँ, यह अज्ञानी का भ्रम है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अपना परिणमन, बदलने के काल में बदलता है तो दूसरा उसे बदलावे, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

कुछ भी कर सकती है-ऐसा जो माना जाता है,... आहाहा! यह देश की सेवा की, बीमार मनुष्य था, उसकी सेवा की। नहीं? बीमार मनुष्य की सेवा नहीं की? उसके अपने जो आत्मप्रदेश हैं, वे स्वयं से परिणमते हैं। पर को परिणमाते नहीं, पर से परिणमते नहीं।

पर को बदलाते नहीं, पर से बदलते नहीं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! **स्वयं परिणमित होती हुई अन्य वस्तु का कुछ भी कर सकती है...** प्रत्येक पदार्थ स्वयं से पलटती, बदलती शक्तिवाला है तो परिणमता है, बदलता है। क्या उसे दूसरा पदार्थ बदला सकता है? आहाहा! **ऐसा जो माना जाता है, वह व्यवहारदृष्टि (झूठी व्यवहारदृष्टि) से ही माना जाता है।** कलश-टीका में ऐसा लिखा है, झूठा व्यवहार है, ऐसा शब्द है। दुनिया का पूरा झूठा ही है। दुनिया झूठी। यह मेरी स्त्री और यह मेरे पुत्र, यह मेरा व्यापार और यह मेरा धन्धा।

मुमुक्षु : यह मेरा शरीर।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर धूल मेरा। यह मेरी अँगुलियाँ। यह मेरी नाक, आँख मेरी, काँन मेरे। यह तो जड़-मिट्टी-धूल है। वह अपने परिणमन से परिणमते हैं, वे कहीं आत्मा के आधार से नहीं परिणमते। आत्मा भी स्वयं के कारण से परिणमता है, बदलता है, पर के कारण से नहीं बदलता। आहाहा!

ऐसा कहने में आवे कि आत्मा ने ज्ञानावरणीय कर्म किया। यह तो झूठी दृष्टि से है। ज्ञानावरणीय कर्म जो नया बँधता है, वह अपनी पर्याय से स्वतन्त्र बँधता है। वह आत्मा ने राग किया या दोष किया, इसलिए कर्मबन्धन हुआ – ऐसा नहीं है। और कर्मबन्धन आया तो आत्मा ने राग-द्वेष किये, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! कब ऐसा अन्तर में बैठे? इसके बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। जन्म-मरण कर-करके मर गया है। अनन्त अवतार पशु के, नरक के, गधे के, कौवे के, कुत्ते के अनन्त अवतार किये। अनन्त अवतार हुए हैं, एक मिथ्याश्रद्धा के कारण (हुए हैं)। वह मिथ्याश्रद्धा यह कि मैं पर का कर सकता हूँ। मेरी उपस्थिति में यह काम व्यवस्थित हुआ। मेरे कारण से यह व्यवस्थित हुआ है। ऐसी मान्यता अत्यन्त भ्रम, अज्ञान, मूढ़ है। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ किया नहीं। सलाह-बलाह दी थी। आहाहा! हमारे घर की बात कही न? कुँवरजीभाई हमारी बुआ के पुत्र भागीदार थे। हमारे पालेज में दुकान चलती है। पालेज, भरूच और बड़ोदरा के बीच बड़ी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं, अभी चार लाख की आमदनी है। उस दुकान में मैं नौ वर्ष रहा। हमारे पिताजी की दुकान थी।

कुँवरजीभाई हमारे भागीदार थे। उन्हें बहुत अभिमान। बुद्धि थोड़ी थी, बुद्धि ऐसी नहीं थी परन्तु उनके नाम की दुकान थी, हमारे बड़े भाई भागीदार थे और उनके बड़े भाई तथा मैं दो भागीदार थे। दो दुकानें थीं। परन्तु अभिमान कि मैं करूँ, मैं करूँ, मैं करूँ। मेरी दुकान बराबर चलती है। पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार की आमदनी।

मुमुक्षु : सब लोग सेठ कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठ कहे, वह धूल में यह सेठ कहे, उसमें क्या हुआ? पाँच-दस हजार तो पहले आमदनी थी, हों! फिर जब देह छूटने के काल में तो दो-दो लाख की आमदनी (थी)। वहाँ हमारी दुकान थी। पालेज, भरूच और बड़ोदरा के बीच। कुछ धूल भी नहीं कर सकता। अभिमान करता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **एक वस्तु स्वयं परिणमित होती हुई...** बस! इतने शब्द आये। कोई भी एक वस्तु परमाणु या आत्मा, **स्वयं परिणमित होती हुई...** अर्थात् बदलती हुई **अन्य वस्तु का 'किञ्चन अपि कुरुते' कुछ भी कर सकती है-ऐसा जो माना जाता है, वह व्यवहारदृष्टि (झूठी दृष्टि) से ही माना जाता है।** आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! पूरे दिन मैं करूँ, मैं करूँ, मैं करूँ। दुकान का धन्धा मैं करूँ, आमदनी मैं करूँ, ऐसा करूँ, ऐसे ब्याज उपजाऊँ, अमुक ऐसा करूँ, सब मिथ्यात्व, अज्ञान, अभिमान है और यह चार गति में भटकने के परिणाम हैं। आहाहा! यह किस प्रकार माना जाए?

यह एक बार बात हुई थी। वह चिमनचकु था न? लीमडीवाला चिमनचकु है, मुम्बई। तब उसने कहा, लो! हमने यह किया। नहीं कर सकते तो यह हाथ मैंने किया... अरे! प्रभु! यह हाथ ऐसे हुआ, उसमें आत्मा ने अन्दर क्या किया है? रजकण ने क्या किया है? इसकी खबर है? आत्मा ने उसमें क्या किया है? आत्मा तो उसके परिणाम में रहा है। आत्मा इस शरीर को हिलावे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यह बात कहाँ है वीतराग की?

परमेश्वर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ केवली परमात्मा का यह हुकम है कि एक तत्त्व की परिणमन शक्ति होने के कारण दूसरी शक्ति का परिणमन वह नहीं कर सकता। क्योंकि दूसरा पदार्थ भी अपनी परिणमन शक्ति रखता है। तू भी बदलने की शक्ति रखता है, वह

भी बदलने की शक्ति रखता है। अतः तू दूसरे को पलटावे, बदलावे यह तो सब झूठा भ्रम, अज्ञान है। आहाहा! कठिन बात है।

निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं... भाषा देखो! अन्य वस्तु की अन्य वस्तु कुछ है ही नहीं। दूसरी भाषा में कहें तो एक वस्तु जो आत्मा है, वह अपेक्षा से दूसरा कोई द्रव्य है ही नहीं। दूसरा अद्रव्य है। आहाहा! है ? **निश्चय से इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं...** आहाहा! आत्मा के कर्म बिल्कुल नहीं और कर्म का आत्मा बिल्कुल नहीं। आत्मा की स्त्री बिल्कुल नहीं और स्त्री का पति-स्वामी बिल्कुल नहीं। अज्ञानी ने मूढ़ ने अनादि काल से मान रखा है। आहाहा!

एक वस्तु परिणमती हुई, बदलती, टिककर बदलती है। प्रत्येक पदार्थ अपने में टिककर बदलते हुए दूसरे का क्या कर सकता है ? आहाहा! शरीर को हिला नहीं सकता, भाषा बोल नहीं सकता, पैर घुमा नहीं सकता। आहाहा! कठिन काम, भाई! वीतराग सर्वज्ञ केवली परमात्मा की कथन शैली कोई दूसरी ही है। वर्तमान में तो सब गड़बड़ चलती है।

यहाँ कहते हैं, (अन्य) **वस्तु कुछ भी नहीं...** क्या पाठ में यह है न ? '**अन्यत् किम् अपि न अस्ति**' एक चीज़ की दूसरी चीज़ है ही नहीं। इसलिए एक चीज़ की अपेक्षा से दूसरी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! एक वस्तु की अपेक्षा से दूसरी चीज़ है ही नहीं। इस अपेक्षा से नहीं है, उसकी (स्वयं की) अपेक्षा से भले हो। आहाहा! है न ? '**इह अन्यत् किम् अपि न अस्ति**' **इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं...** आहाहा! ऐसा कब माना जाए ? कमाना, स्त्री, पुत्र को पोषण करना, उनका करना क्या ? आहाहा! पूरे दिन अभिमान, पूरे दिन मिथ्यात्व का सेवन। मैंने यह किया, मैंने यह किया, मैंने यह किया, मैंने यह किया। अरे रे! इसके परिणाम दुर्गति है, देह छूटे तो दुर्गति होनेवाली है। आहाहा! यहाँ भले करोड़पति और अरबपति हो, परन्तु जिसने ऐसे अभिमान किये हैं, भले माँस और शराब की खुराक न हो, आर्य मनुष्य हो, तो मरकर ढोर-पशु होनेवाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : पशु की संख्या अधिक लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पशु बहुत हैं। पंचेन्द्रिय पशु बहुत हैं। बहुत तो पशु में जानेवाले

हैं। आहाहा! माँस और शराब खाते (पीते) नहीं, इसलिए बनिये तो कहीं नरक में नहीं जाएें, परन्तु यह पूरे दिन मेरा... मेरा... मेरा... करके मर गया है। आहाहा! दुकान के ऊपर बैठे, घर में जाए तो स्त्री, पुत्र मेरे। दुकान पर बैठे तो नौकर, धन्धा और व्यापार मेरा, नौकर मेरे। आहाहा! अरे रे! प्रभु कहते हैं कि तू कहाँ रहा? प्रभु! तू बदलते दूसरे को बदला सके यह तूने क्या माना? आहाहा! पानी उतर जाए ऐसा है, बापू! जगत के बनिया के व्यापार के अभिमान, हमने किया, हमने किया। वकालात भी हमने की और सलाह दी और ऐसा किया तथा वैसा किया। यह सब जड़ की क्रिया। वह जड़ की परिणति आत्मा कर सके, यह तीन काल में नहीं है। बोलने की यह भाषा आत्मा कर सके, तीन काल में नहीं। क्योंकि परिणमन बिना की कोई चीज़ नहीं है। वह बदलती है, वह स्वयं से बदलती है। पर उसे बदलावे, परिणमन करावे – ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! यहाँ भाषा कैसी है?

मुमुक्षु : एकाध बात में बन जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : तीन काल में एक बार बनता नहीं। मानता है। दुकान में बैठा हो तो व्यापार चलता हो, और हमेशा दो-चार हजार की आमदनी भी होती हो, बड़ी दुकान अच्छी चलती हो। आहाहा! अभी भी हमारी दुकान चलती है। पालेज। चार लाख की आमदनी है। तीन लड़के हैं और अभी फिर बँटवारा कर लिया तो एक-एक को लाख-सवा लाख की आमदनी है। चालीस लाख आये। उस दुकान में मैं था। मैंने पाँच वर्ष दुकान चलायी परन्तु (संवत्) १९६३ से १९६८। कितने वर्ष हुए? संवत् १९६३ से १९६८। १९७० में दीक्षा। ६६ वर्ष तो दीक्षा हुए हैं। ६६। डेढ़ वर्ष पढ़ने में गया। बाईस वर्ष ये हुए। ९१ हुए, ९१। ९१ वर्ष चलते हैं। ९०+१। देह, देह जड़। इस जड़ को ९१ चलते हैं। आहाहा! उसमें आत्मा कुछ भी कर सके, यह बिल्कुल नहीं है। आहाहा! ९१ वर्ष में कितना अनुभव? पूरी जिन्दगी में निवृत्ति ही रही है। घर की दुकान, व्यापार घर का, साहूकारी करते परन्तु सब घर का स्वतन्त्र घर का। वह दुकान अभी बड़ी हो गयी। तब छोटी थी। वह की वह बड़ी दुकान है। आहाहा! वहाँ जायें (तब) सुनते हैं, दुकान बन्द रखते हैं। दिन की बड़ी आमदनी। दुकान बन्द कर दें। हम जाएँ, आठ दिन रहें तो दुकान बन्द करे। फिर उठकर तब लड़के रोवें। अरे रे! हमें सुनना किस दिन? सिर पर डण्डे

पाडे, सिर पर। यह हम व्यापार करते हैं, हम आमदनी करते हैं। मूढ़ हो, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है, पापी है, पापी। आहाहा! जो नहीं हो सकता, उसको हो सकता है—ऐसा मानना, (वह तो) पापी है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **इस लोक में अन्य वस्तु को अन्य वस्तु कुछ भी नहीं...** आहाहा! यह तो फिर स्पष्टीकरण करना पड़ा। एक वस्तु को अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वास्तव में तो एक वस्तु की अपेक्षा से दूसरी वस्तु है ही नहीं। आहाहा! यह बात सूक्ष्म पड़े, बापू! एक चीज़ है, कोई भी आत्मा या कोई भी एक यह परमाणु, यह तो अनन्त परमाणुओं का बना हुआ है, यह एक नहीं। अनन्त रजकण टुकड़े करते... करते... करते अन्तिम पॉइन्ट रहे, उसे भगवान परमाणु कहते हैं। अनन्त परमाणुओं का बना हुआ यह शरीर है। आत्मा ने शरीर बनाया, आत्मा ने शरीर रखा और व्यवस्थित खाना-पीना बराबर ध्यान रखता है तो शरीर ठीक रहता है, यह सब मान्यता भ्रम, अज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा ले तो भ्रान्ति नहीं होती।

पूज्य गुरुदेवश्री : करता है, इसलिए भ्रान्ति होती है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण नहीं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण (होवे तो) ज्ञानी क्यों नहीं कहते? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण होवे तो ज्ञानी को भी ज्ञायक और वस्तु ज्ञेय, ऐसा ज्ञेय-निमित्त सम्बन्ध है, तथापि उस चीज़ को मैं देखता हूँ, ऐसा परमार्थ से मानते नहीं। आहाहा! उस दूसरी चीज़ को मैं करता हूँ, ऐसा तो नहीं, परन्तु दूसरी चीज़ को मैं जानता हूँ, यह भी व्यवहार है। क्योंकि उसमें प्रवेश किये बिना जानता है तो वह तो अपनी ताकत से अपने में जानता है। अपनी ताकत से अपने में रहकर स्व को और पर को जानता है। उसमें पर जानने में आ गया। आहाहा! ऐसा उपदेश दुनिया से पृथक्। यह सवेरे से शाम तक अकेला पाप। बालक से लेकर वृद्ध। ५०-६०-७० वर्ष हो, ८०। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, प्रभु! एक चीज़ को दूसरी चीज़ बिल्कुल परिणमावे, बदलावे— ऐसा कभी नहीं होता। क्योंकि वह चीज़ अपने से परिणमति, टिकती है। टिकती हुई पलटती है। नित्य-अनित्य वस्तु का स्वरूप है। अत: अनित्य अर्थात् परिणमना, उसका

स्वरूप है, तो दूसरा कैसे परिणमावे ? आहाहा ! यह कहते हैं।

आचार्य को तो ऐसा कहना है, अन्य वस्तु अन्य वस्तु की कुछ नहीं। **कुछ भी नहीं... 'अपि' 'अन्यत् किम् अपि न अस्ति'** एक वस्तु आत्मा की दूसरी कोई चीज़ है नहीं। और इस एक शरीर के परमाणु की दूसरी कोई चीज़ नहीं। अपने से स्वयं वस्तु है। अपनी पर्याय में बदलती रहती है, ऐसी चीज़ अपने में है। पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा अर्थ करना। नहीं तो परवस्तु है ही नहीं। अपनी अपेक्षा से पर तो है ही नहीं। आहाहा ! उसकी अपेक्षा से है। आहाहा ! **(अर्थात् एक वस्तु को अन्य वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं) है।**

भावार्थ – एक द्रव्य के परिणमन में... परिणमन अर्थात् बदलना। यह हाथ ऐसे होता है, भाषा होती है, यह बदलती है। आटे की रोटी होती है, यह सब पलटता है। उसे— रोटी को स्त्री बनाती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा ! वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का यह फरमान है कि एक चीज़ दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करती। एक चीज़ दूसरी चीज़ को छूती नहीं। आहाहा ! यह सुनने को कब मिले ? छूती नहीं, स्पर्शती नहीं।

आत्मा रोटी खाता है तो कहते हैं कि रोटी को स्पर्श नहीं करता। आहाहा ! रोटी आत्मा को स्पर्श नहीं करती। रोटी दाँत को स्पर्श नहीं करती, दाँत को रोटी छूती नहीं। यह किसे जँचे ? पाप के धन्धे के कारण निवृत्ति कहाँ है ? आहाहा ! पूरे दिन पाप, सवेरे से लेकर यह किया, यह किया, यह किया। यहाँ कहते हैं कि एक वस्तु को दूसरी वस्तु के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

एक द्रव्य के परिणमन में अन्य द्रव्य को निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्य ने यह किया',... कुम्हार ने घड़ा बनाया, यह कथन शैली है। निमित्त कौन था, यह बताने के लिये। घड़ा कुम्हार से बना ही नहीं, घड़ा तो मिट्टी से हुआ है। आहाहा ! यह दाल, भात, सब्जी सवेरे-शाम खाता है। सवेरे चाय (बनावे), वह चाय आत्मा बना सकता ही नहीं और आत्मा चाय पी सकता नहीं। अज्ञानी मानता है कि मैं यह पीता हूँ। वह तो मिथ्याभ्रम, अज्ञान है। आहाहा ! चिमनभाई ! ऐसा मार्ग है। कहीं है नहीं। सर्वत्र भटकने के रास्ते बताते

हैं। यह करो और यह करो और यह करो। दया पालन करो और व्रत करो और अपवास करो। यह सब भटकने के रास्ते हैं। आहाहा!

एक चीज़ दूसरी चीज़ को छोड़ नहीं सकती। कर नहीं सकती तो फिर छोड़ सके, कहाँ से आया? उसकी चीज़ में वह दूसरी चीज़ है नहीं। है नहीं तो उसे छोड़ना और करना आया कहाँ से? **वह यह व्यवहारनय की दृष्टि से ही है; निश्चय से तो उस द्रव्य में अन्य द्रव्य ने कुछ भी नहीं किया है।** आहाहा! निश्चय अर्थात् परमार्थ से भगवान की वाणी कहती है कि एक द्रव्य ने अन्य द्रव्य में कुछ भी नहीं किया। कुछ नहीं किया। आहाहा! यह हाथ हिलता है तो आत्मा ने कुछ हिलाया, ऐसा बिल्कुल मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव मानता है। आहाहा! कैसे जँचे? लो, यह हिलाया, हिलाया, कहता है। अरे! भाई! सुन, भाई! इसकी पर्याय होनेवाली, ऐसी होती है। अपने आत्मा में तो अज्ञानी राग करता है। राग से मैं करता हूँ, ऐसा मानता है, बाकी पर का कुछ कर (नहीं) सकता। हाथ का, पैर का नहीं कर सकता तो स्त्री, पुत्र, परिवार का तो कहाँ कर सकेगा? आहाहा! भारी कठिन बात, भाई!

वीतराग त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं... आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का है नहीं। आहाहा! ऐसा कहा न? **एक द्रव्य के परिणमन में अन्य द्रव्य को निमित्त देखकर यह कहना कि 'अन्य द्रव्य ने यह किया', वह यह व्यवहारनय की दृष्टि से ही है;...** यह झूठी दृष्टि है। **निश्चय से तो उस द्रव्य में अन्य द्रव्य ने कुछ भी नहीं किया है। वस्तु के पर्यायस्वभाव के कारण...** प्रत्येक द्रव्य का बदलने की पर्याय का (स्वभाव है)। अभी पर्याय भी सुनी न हो। जैन में जन्मे हों, परन्तु मूढ़ जैसे, पर्याय किसे कहना, इसकी अभी खबर न हो। आहाहा! जो पदार्थ है, उसकी अवस्था, वह उसकी पर्याय। वह उसकी पर्याय है। आत्मा की नहीं, आत्मा ने वह की नहीं। **पर्यायस्वभाव के कारण वस्तु का अपना ही एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप परिणमन होता है; उसमें अन्य वस्तु अपना कुछ भी नहीं मिला सकती।** पर में एक चीज़ में दूसरी चीज़ कुछ भी मिला नहीं सकती। आहाहा!

लड्डू में घी डाल सकता है, लड्डू बना सकता है, भाखरी बनाकर चूरा करता है,

(ऐसा) तीन काल में नहीं है। अरे रे! यह क्या परन्तु ऐसी बात? भगवान का मार्ग, बापू! वीतराग सर्वज्ञदेव (का मार्ग)। अभी तो सब गड़बड़ हो गयी है। वीतराग के बदले अन्यमत चलाया है। जैन मार्ग—वीतराग मार्ग तो एक ओर रह गया। वीतराग के नाम से अन्यमत को चलाया है। दया पालन करो और व्रत करो, यह करो, अन्यमत है। वह राग है। राग करो, यह तो अन्यमत है, जैनमत है ही नहीं। आहाहा!

इससे यह समझना चाहिए कि–परद्रव्यरूप ज्ञेय... परद्रव्यरूप जाननेयोग्य **पदार्थ उनके भाव से परिणमित होते हैं...** परपदार्थ अपनी शक्ति से बदलता है **और ज्ञायक आत्मा अपने भावरूप परिणमन करता है;...** जाननेवाला स्वयं से जानता है। जानता है कि यह होता है। करता हूँ—ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा तो कितनों ने बेचारों ने सुना भी नहीं होगा। भटकने के रंक भिखारी। भिखारी हैं, भिखारी। आत्मा में लक्ष्मी पड़ी है, उसकी खबर नहीं और धूल... धूल, पैसा, उस धूल को माँगता है, वह माँगनेवाला भिखारी है। आहाहा! शास्त्र में आता है, वरांका। भगवान ऐसा कहते हैं, वह भिखारी है। अपने में अन्दर लक्ष्मी पड़ी है। अनन्त आनन्द, दर्शन, ज्ञान, शान्ति को तो देखता नहीं और इसमें नहीं है, उसे देख रहा है। आहाहा! 'वरांका' शब्द है। वरांका अर्थात् भिखारी। आहाहा! रंक है, भिखारी है। यह अरबपति और करोड़पति भिखारी है। आहाहा!

अभी वहाँ अफ्रीका गये थे न? अफ्रीका गये थे तो वहाँ ४५० तो करोड़पति है। एक नैरोबी में। अफ्रीका के एक नैरोबी में एक गाँव में सात लाख की आबादी है। उसमें ४५० तो करोड़पति हैं और १५ अरबपति हैं। लखपति के तो ढ़ेर हैं। लाख तो गरीब कहलाता है। नैरोबी, अफ्रीका हम गये थे और २६ दिन रहे थे। आहाहा! बेचारे सब प्रेम से सुनते थे। बहुत बड़े लोग आते थे। बड़े-बड़े अरबोंपति आते थे, करोड़ोंपति आते थे, सुनते थे। यहाँ कहाँ हमें करोड़पति और अरबपति से कुछ लेना है? यहाँ कहाँ मक्खन लगाना है कि उसे ठीक पड़े तो पैसा दे। यहाँ कुछ है नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि प्रत्येक भाव परिणमता है। **एक दूसरे का परस्पर कुछ नहीं कर सकते। इसलिए यह व्यवहार से ही माना जाता है कि 'ज्ञायक परद्रव्यों को जानता है'...** आहाहा! भगवान आत्मा जाननशक्ति, ज्ञायक पर का तो कुछ कर नहीं सकता, हाथ-पैर

को हिला तो नहीं सकता, पर की क्रिया कर नहीं सकता परन्तु ज्ञायक परद्रव्य को जानता है, जानता है, (यह भी व्यवहार है)। निश्चय से ज्ञायक, ज्ञायक है। आहाहा! जाननेवाला अन्दर ज्ञानस्वरूपी भगवान विराजता है। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' सिद्धस्वरूपी भगवान आत्मा विराजता है। आहाहा! उसने पर को तो कुछ किया नहीं परन्तु पर को जाना, यह व्यवहार है। आहाहा!

प्रत्येक आत्मा ने पर का कुछ नहीं किया? पर को जानता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है, निश्चय नहीं। निश्चय से तो स्वयं अपने को जानता है। आहाहा! कहाँ यह बात? कलई की गाथा बोलो।

गाथा - ३५६-३६५

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।
एवं तु णिच्छय–णयस्स भासिदं णाण–दंसण–चरित्ते।
सुणु ववहार–णयस्य य वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण।।३६१।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मदिट्ठी सहावेण।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो।।३६५।।

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु।।३५६।।

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु।।३५७।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु।।३५८।।
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु।।३५९।।
एवं तु निश्चय-नयस्य भाषितं ज्ञान-दर्शन-चरित्रे।
शृणु व्यवहार-नयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन।।३६०।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन।।३६१।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं पश्यति जीवोऽपि स्वकेन भावेन।।३६२।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन।।३६३।।
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन।।३६४।।
एवं व्यवहारनयस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः।।३६५।।

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि-परद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते ह्वयदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति, यथात्मना ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादे-र्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्शव्यवहारेण?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः ह्न

चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि-परद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते।

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव-भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्-द्रव्यस्यात्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्शव्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः।

किञ्च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्रो सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते ह्न

यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति। यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्य-स्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्शव्यवहारेण?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः ह्न

चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि-परद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति।

तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते–

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्यो–च्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्य-स्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्–गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ?

न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्श–व्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः।

अपि च सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि–परद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभय–तत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते ह्न

यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्य-स्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः।

यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ?

सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः, किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्श–व्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः।

यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः ह्न

चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहक–श्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमान्स्यते ह्न

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसम्बन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं

सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसङ्क्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्य-स्यास्त्युच्छेदः।

ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः।

यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति।

ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यन्शावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यन्शव्यवहारेण ?

न किमपि। तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः।

अथ व्यवहारव्याख्यानं ह्न

यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्य-स्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्य-निमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भर-स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामे-नोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेना-परिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः पुद्-गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्त-केनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते।

किञ्च ह्न यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्य-स्वभावेनापरिण-ममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्य-निमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भर-स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनो-त्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेना-परिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्व-भावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्त-केनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृ-निमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते।

अपि च – यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्य-स्वभावेनापरिणम-माना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्य-निमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं

सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते, तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भर-परापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्गलादि-परद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादि-परद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोह-नात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादि परद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते।

एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः। एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्या-याणां द्रष्टव्यः॥३५६-३६५॥

('खड़िया मिट्टी अर्थात् पोतने का चूना या कलई की खड़िया मिट्टी ही है'-यह निश्चय है; 'खड़िया-स्वभावरूप से परिणमित खड़िया दीवाल-स्वभावरूप परिणमित दीवाल को सफेद करती है' यह कहना भी व्यवहार कथन है। इसी प्रकार 'ज्ञायक तो ज्ञायक ही है'-यह निश्चय है; 'ज्ञायकस्वभावरूप परिणमित ज्ञायक परद्रव्यस्वभावरूप परिणत परद्रव्यों को जानता है' यह कहना भी व्यवहारकथन है।) ऐसे निश्चयव्यवहार कथन को अब गाथाओं द्वारा दृष्टान्तपूर्वक स्पष्ट करते हैं-

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥३५६॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा॥३५७॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा॥३५८॥
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा॥३५९॥
यों ज्ञान-दर्शन-चरितविषयक कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का॥३६०॥
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से॥३६१॥

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
आत्मा भी त्यों ही देखता परद्रव्य को निज भाव से।।३६२।।
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से।।३६३।।
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से।।३६४।।
यों ज्ञान-दर्शन-चरित में निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी इस प्रकार हि जानना।।३६५।।

गाथार्थ : (यद्यपि व्यवहार से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक इत्यादि सम्बन्ध है, तथापि निश्चय से तो इसप्रकार है-) [यथा] जैसे [सेटिका तु] खड़िया मिट्टी या पोतने का चूना या कलई [परस्य न] पर को (दीवाल-आदि की) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञायकः तु] ज्ञायक (जाननेवाला, आत्मा) [परस्य न] पर का (परद्रव्य का) नहीं है, [ज्ञायकः] ज्ञायक [सः तु ज्ञायकः] वह तो ज्ञायक ही है। [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] पर की नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसी प्रकार [दर्शकः तु] दर्शक (देखनेवाला, आत्मा) [परस्य न] पर का नहीं है, [दर्शकः] दर्शक [सः तु दर्शकः] वह तो दर्शक ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] पर की (दीवाल-आदि की) नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] वह तो कलई ही है, [तथा] उसी प्रकार [संयतः तु] संयत (त्याग करनेवाला, आत्मा) [परस्य न] पर का (परद्रव्य का) नहीं है, [संयतः] संयत [सः तु संयतः] यह तो संयत ही है। [यथा] जैसे [सेटिका तु] कलई [परस्य न] पर की नहीं है, [सेटिका] कलई [सा च सेटिका भवति] यह तो कलई ही है, [तथा] उसी प्रकार [दर्शनं तु] दर्शन अर्थात् श्रद्धान [परस्य न] पर का नहीं है, [दर्शनं तत् तु दर्शनं] दर्शन वह तो दर्शन ही है अर्थात् श्रद्धान वह तो श्रद्धान ही है।

[एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [निश्चयनयस्य भाषितं] निश्चयनय का कथन है। [तस्य च] और उस सम्बन्ध में [समासेन] संक्षेप से [व्यवहारनयस्य वक्तव्यं] व्यवहारनय का कथन [शृणु] सुनो।

[यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] (दीवाल आदि) परद्रव्य को [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि] ज्ञाता भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [जानाति] जानता है। [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसी प्रकार [जीवः अपि] जीव भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [पश्यति] देखता है। [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि] ज्ञाता भी [स्वकेन भावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [विजहाति] त्यागता है। [यथा] जैसे [सेटिका] कलई [आत्मनः स्वभावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [सेटयति] सफेद करती है, [तथा] उसी प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [स्वभावेन] अपने स्वभाव से [परद्रव्यं] परद्रव्य को [श्रद्धत्ते] श्रद्धान करता है। [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान-दर्शन-चारित्र में [व्यवहारनयस्य विनिश्चयः] व्यवहारनय का निर्णय [भणितः] कहा है; [अन्येषु पर्यायेषु अपि] अन्य पर्यायों में भी [एवं एव ज्ञातव्यः] इसी प्रकार जानना चाहिए।

टीका : इस जगत में कलई है, वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जानेयोग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है-यदि कलई दीवार आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, वह प्रथम विचार करते हैं-'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है (पृथक द्रव्य नहीं);'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (अर्थात् विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होगी (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होना चाहिए, दीवार-आदि से पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद (नाश) हो जाएगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (अब आगे और विचार करते हैं) यदि दीवार-आदि की नहीं है, तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी

दूसरी कौन-सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है-यह निश्चय है (इस प्रकार दृष्टान्त कहा)। जैसे यह दृष्टांत है, उसी प्रकार यहाँ यह दार्ष्टान्त है-इस जगत में चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय (ज्ञात होनेयोग्य) है। अब, 'ज्ञायक (जाननेवाला) चेतयिता ज्ञेय जो पुद्गलादि परद्रव्य उनका है या नहीं?'-इस प्रकार यहाँ उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं-यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो, इसका प्रथम विचार करते हैं-'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (अब आगे और विचार करते हैं-) यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। इस चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है-यह निश्चय है।

(इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है'-यह व्यवहार-कथन है; 'आत्मा अपने को जानता है'-इस कथन में भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'ज्ञायक ज्ञायक ही है'-यह निश्चय है।)

और (जिस प्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में दृष्टांत-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसी प्रकार दर्शक के सम्बन्ध में कहा जाता है-इस जगत में कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य (कलई के द्वारा श्वेत किये जानेयोग्य पदार्थ) है। अब, 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत करानेयोग्य दीवार-आदि परद्रव्य

की है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है- यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, यह प्रथम विचार करते हैं-'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई उन दीवार-आदि ही होनी चाहिए (अर्थात् कलई दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है-यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त है-इस जगत में चेतयिता दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का दृश्य है। अब, 'दर्शक (देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (देखनेयोग्य या श्रद्धान करनेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्यों का है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार करते हैं-यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो, यह पहले विचार करते हैं-'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिये। (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिए) ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इससे (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादि का नहीं है। तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। (इस) चेतयिता से भिन्न दूसरा ऐसा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ

भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसी का नहीं है, दर्शक दर्शक ही है-यह निश्चय है।

(इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है'-यह व्यवहार कथन है। 'आत्मा अपने को देखता है अथवा श्रद्धा करता है'-इस कथन में भी स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है; 'दर्शक दर्शक ही है'-यह निश्चय है।)

और (जिस प्रकार ज्ञायक तथा दर्शक के सम्बन्ध में दृष्टान्त-दार्ष्टान्त से कहा है) इसी प्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के सम्बन्ध में कहा जाता है :- इस जगत में कलई है, वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये जानेयोग्य पदार्थ)। अब, 'श्वेत, करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है-यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं-'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होनी चाहिए, (अर्थात् कलई भींत आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा परन्तु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) कलई दीवार-आदि की नहीं है। (आगे और विचार करते हैं) यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है-यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है-इस जगत में जो चेतयिता है वह, जिसका ज्ञान-दर्शन-गुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप (त्यागस्वरूप) स्वभाव है, ऐसा द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का अपोह्य (त्याज्य) है। अब, 'अपोहक (-त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (त्याज्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य का है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों का तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है-यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो, यह पहले विचार करते हैं : 'जिसका जो होता है, वह वही

होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से, चेतयिता यदि पुद्‌गलादि का हो तो चेतयिता उस पुद्‌गलादि ही होना चाहिए (अर्थात् चेतयिता पुद्‌गलादि स्वरूप ही होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है। इसलिए (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं;) यदि चेतयिता पुद्‌गलादि का नहीं है तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। (इस) चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (त्याग करनेवाला) किसी का नहीं है, अपोहक अपोहक ही है-यह निश्चय है।

(इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि - 'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है'-यह व्यवहार कथन है; 'आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निज को ग्रहण करता है'-ऐसा कहने में भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है; 'अपोहक अपोहक ही है'-यह निश्चय है।)

अब व्यवहार का विवेचन किया जाता है-जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई, दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं, ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि परद्रव्य को, अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है-ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसी प्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्‌गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्‌गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्‌गलादि परद्रव्य जिसमें निमित्त हैं, ऐसे अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (पुद्‌गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्‌गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से जानता है - ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिस प्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है) इसी प्रकार दर्शनगुण का व्यवहार

कहा जाता है–जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार–आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार–आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं, ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार आदि परद्रव्य को अपने (कलई) स्वभाव से श्वेत करती है–ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसी प्रकार दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं, ऐसे अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को अपने (चेतयिता के) स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है–ऐसा व्यवहार किया जाता है।

और (जिस प्रकार ज्ञान–दर्शन गुण का व्यवहार कहा है) इसी प्रकार चारित्रगुण का व्यवहार कहा जाता है–जैसे श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार–आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार–आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार–आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है, ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार–आदि परद्रव्य को, अपने (कलई) के स्वभाव से श्वेत करती है–ऐसा व्यवहार किया जाता है; इसी प्रकार जिसका ज्ञानदर्शनगुण के परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप स्वभाव है, ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं, ऐसे अपने ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण पर–अपाहनात्मक (पर के त्यागस्वरूप) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से अपोहता है अर्थात् त्याग करता है–इस प्रकार व्यवहार किया जाता है।

इस प्रकार यह, आत्मा के ज्ञान–दर्शन–चारित्र पर्यायों का निश्चय–व्यवहार प्रकार

है। इसी प्रकार अन्य समस्त पर्यायों का भी निश्चय-व्यवहार प्रकार समझना चाहिए।

भावार्थ : शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि हैं। वहाँ निश्चयनय से विचार किया जाए तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, दर्शक नहीं कहा जा सकता, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता, त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं; भाव-भावक का भेद कहना, वह भी व्यवहार है। निश्चय से भाव और भाव करनेवाले का भेद नहीं हैं।

अब, व्यवहारनय के सम्बन्ध में। व्यवहारनय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिकभाव है। ज्ञानादि भावों का परद्रव्य निमित्त होता है, इसलिए व्यवहारीजन कहते हैं कि-आत्मा परद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को देखता है, परद्रव्य का श्रद्धान करता है, परद्रव्य का त्याग करता है।

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के प्रकार को जानकर यथावत् (जैसा कहा है, उसी प्रकार) श्रद्धान करना।

गाथा - ३५६ से ३६५ पर प्रवचन

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु।।३५६।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह पासगो दु ण परस्स पासगो पासगो सो दु।।३५७।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह संजदो दु ण परस्स संजदो संजदो सो दु।।३५८।।
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु।।३५९।।

एवं तु णिच्छय-णयस्स भासिदं णाण-दंसण-चरित्ते।
सुणु ववहार-णयस्य य वत्तव्वं से समासेण।।३६०।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं जाणदि णादा वि सएण भावेण।।३६१।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं पस्सदि जीवो वि सएण भावेण।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं विजहदि णादा वि सएण भावेण।।३६३।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण।
तह परदव्वं सद्दहदि सम्मद्दिट्ठी सहावेण।।३६४।।
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते।
भणिदो अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो।।३६५।।

(नीचे हरिगीत)

ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा।।३५६।।
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा।।३५७।।
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा।।३५८।।
ज्यों सेटिका नहिं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा।।३५९।।
यों ज्ञान-दर्शन-चरितविषयक कथन नय परमार्थ का।
सुन लो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का।।३६०।।
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से।।३६१।।

ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
आत्मा भी त्यों ही देखता परद्रव्य को निज भाव से।।३६२।।
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से।।३६३।।
ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से।।३६४।।
यों ज्ञान-दर्शन-चरित में निर्णय कहा व्यवहार का।
अरु अन्य पर्यय विषय में भी इस प्रकार हि जानना।।३६५।।

टीका – इस जगत में... कलई... कलई-खड़ी, वह दीवार को सफेद नहीं करती। दीवार को सफेद नहीं करती। यह कहाँ से जँचे? पागल है या क्या है? दुनिया पागल है या भगवान पागल है? दुनिया पागल है, पागल.. पागल। कलई दीवार को सफेद करती है, यह मान्यता मूर्ख अज्ञानी की है। कलई कलई में है, दीवार दीवार में है। आहाहा! प्रत्येक चीज़ को कलई सफेद करती है, कलई करते हैं, यह कलई नहीं करते? बर्तन में कलई (करते हैं)। वह कलई बर्तन को होती है, यह बात मिथ्या है। कलई कलई में है और बर्तन बर्तन में है। अरे.. अरे..! आहाहा!

इस जगत में कलई है, वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला... कलई है, वह श्वेतगुण—सफेदगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। **दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से...** आहाहा! वह दीवार को सफेद करती है, लकड़ी के बनाये हुए होते हैं न? क्या कहलाते हैं वे? उन्हें सफेद करती है न? आहाहा! तुम्हारे नाम भूल जाते हैं। लकड़ी के बने हुए (होते हैं न)? रखने के तुम्हारे होते हैं, क्या कहलाते हैं वह? तेल और घी नहीं रखते? ऐसे तो लकड़ी के सन्दूक (होते हैं), सन्दूक... सन्दूक, लो! इस सन्दूक को कलई सफेद करती है, यह मूढ़ जीव मानता है। भगवान वीतरागमार्ग का यह मार्ग नहीं है। आहाहा! सन्दूक, लकड़ी के छोटे सन्दूक, बड़े सन्दूक रंग करते हैं। तो कहते हैं, रंग रंग में है, सन्दूक सन्दूक में है। सन्दूक को रंग करते हैं, यह बात एकदम झूठ है। आहाहा! वस्तु को रंग करना, अत्यन्त झूठ बात है। क्योंकि रंग वस्तु है, वह रंग में रहता है। रंग वस्तु जिसमें

रंग करना है, उस चीज़ में प्रविष्ट नहीं होता। आहाहा! ऐसी कहाँ की बात? क्या होगा यह? पागल... पागल ही कहे। पागल लोग हैं न बेचारे? पागल ही कहे। परमात्मप्रकाश में कहा है, पूरा संसार पागल है। पागल-पागल है। मैंने किया, मैंने किया, इसका किया, यह किया... यह किया... यह किया। आहाहा!

रंग से वस्त्र लाल होता है, यह बात सत्य नहीं है। वस्त्र को रंग छूता-स्पर्शता नहीं है। रंग वस्त्र को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा कहते हैं। ऐसी किस प्रकार की बात? भाई! मार्ग कुछ अलग है, बापू! आहाहा! कलई अथवा खड़ी **श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार...** दीवार, यह मकान, दीवार। **दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है...** व्यवहार से सफेद कही जाती है। कलई कलई में है, दीवार दीवार में है। दीवार को सफेद की है, यह बात एकदम झूठी है। आहाहा! ऐसी बात पागल जैसी लगे। पागल को पागल जैसी लगे।

मुमुक्षु : पूरे देश का राज चलावे और आप पागल कहो।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! शास्त्र ने सबको पागल कहा है। करोड़पति और अरबपति (पागल है)। मैंने किया... मैंने किया। 'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ा का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ा के नीचे कुत्ते का मस्तक छुए, इसलिए (मानता है कि) मुझसे गाड़ी चलती है। इसी प्रकार अज्ञानी जहाँ बैठा हो, (वहाँ) जो पर की लेने-देने की, धन्धे की क्रिया होती हो (वह मानता है कि) मुझसे होती है। वह कुत्ते जैसा है। आहाहा! तब धन्धा करना या नहीं? धन्धा न करे तो पैसे पैदा हुए बिना रोटियाँ किस प्रकार खाना? कौन करता है? बापू! वह तो उसके कारण से होना हो, तब धन्धा होता है। रोटियाँ उसके कारण से आनी हो, तब आती है। आहाहा! यह तो अपने कहावत नहीं? 'दाने-दाने पर खानेवाले का नाम है।' हिन्दी में भी है। खानेवाले का नाम दाने-दाने पर है। उसका अर्थ—जो चीज़ आनेवाली है, वह आयेगी; नहीं आनेवाली नहीं आयेगी। तू कहे कि मैं लाता हूँ और दाने पर को देता हूँ, यह बात एकदम झूठी है। आहाहा! चक्की से आटा होता है (तो कहते हैं), चक्की दाने को स्पर्श नहीं करती और आटा होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने उपादान के कारण से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पदार्थ स्वतन्त्र है। अपनी-अपनी पर्याय अपनी पर्याय-अवस्था अपने से होती है। पर क्या करे? अज्ञानी को पर दिखता है। आहाहा! शक्कर मुँह में पड़े तो मीठी लगे। यह मीठी लगती है, वह मीठी नहीं लगती। वह तो मीठी है, ऐसा जानता है। परन्तु मीठी है, ऐसी मिथ्या भ्रान्ति (होती है)। वह मीठी तो जड़ है और तू तो चेतन है। तो क्या चेतन जड़ को स्पर्श करता है? जड़ है, वह तो मिट्टी-धूल है, धूल है। शक्कर तो धूल है। वह आत्मा को छूती है? स्पर्श करती है? आहाहा!

मुमुक्षु : क्षुधा शान्त हो जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शान्त हो जाए, ऐसा है। पर का कुछ कर नहीं सकता। तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव महाविदेह में विराजते हैं। सीमन्धर प्रभु महाविदेह क्षेत्र में अभी विराजते हैं। वहाँ की यह वाणी है, वहाँ की आयी हुई यह वाणी है। आहाहा! तीन लोक के नाथ विराजते हैं। सामायिक में आज्ञा माँगते हैं न? सामायिक में आज्ञा नहीं माँगते? भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। समवसरण में इन्द्र जाते हैं, मनुष्य जाते हैं। अभी सिंह, बाघ जाते हैं। बहुत दूर, दूर है। उन भगवान के पास मुनि गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है, भगवान की वाणी है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि श्वेत जो है, वह दीवार आदि परद्रव्य को व्यवहार से श्वेत करती है। दीवार। दीवार को कलई श्वेत करती है, यह व्यवहार है। व्यवहार अर्थात् कथनशैली है। सफेद तो सफेदी में है कलई और दीवार दीवार में है। दीवार को श्वेत करती है, ऐसा कहना व्यवहार है। आहाहा! क्योंकि कलई भी पदार्थ है, दीवार भी पदार्थ है। प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणति, पर्याय से परिणमता है। स्वयं से परिणमता है, वह पर को क्या करे? आहाहा!

संसार से तो एक बार मार डाले, मर जाए, तब जीवित हो—ऐसा है। आहाहा! अनन्त काल से चौरासी लाख में भटक-भटककर मर गया है। कौवे के, कुत्ते के अवतार कर-करके (मर गया)। यह भव कहीं पहला नहीं है। इस भव के पहले अनन्त भव हो गये हैं। आहाहा! वे अनन्त किसके (किये)? नरक के, कौवे के, कुत्ते के, बिल्ली के... आहाहा! ऐसे अनन्त अवतार किये हैं और अभी भी करेगा। आहाहा! अभी यह भ्रमणा

रखेगा कि मैं यह पर का कर देता हूँ और कलई से दीवार सफेद होती है। कलई का अस्तित्व कलई में है और दीवार का अस्तित्व दीवार में है। कलई का अस्तित्व दीवार को स्पर्श नहीं करता। वह दीवार को सफेद करे, यह मान्यता अज्ञान है। आहाहा! दामोदरभाई! परन्तु दुनिया से बहुत कठिन-दुनिया से उल्टा है। आहाहा! कपड़े को रंग दे नहीं सकते। पगड़ी को लाल रंग नहीं किया जा सकता, टोपी को रंग नहीं किया जा सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : आहारदान तो दिया जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहारदान नहीं दे सकता। आहार जड़ है। उस जड़ का जाना-आना वह जड़ के कारण से है। आत्मा अभिमानी माने कि मैंने इसे दिया। वह जड़ का अभिमानी जड़ है। जड़ का अभिमानी, भैंस का मालिक पाड़ा है, वैसे इस जड़ का मालिक हो वह जड़ है। आहाहा! अरे.. अरे..! ऐसी बातें। वीतराग का ऐसा उपदेश होगा? यह दया पालना, व्रत पालना, ऐसा हमने सुना है। सूर्यास्त से पूर्व भोजन करना, अमुक करना, अमुक करना, अपवास करना... यह सब क्रियाकाण्ड कर-करके मर गया। सत्य को समझे बिना और सत्य का सत् स्वरूप क्या है, यह जाने बिना सब क्रियाकाण्ड करके मर गया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **इस जगत में...** जगत सिद्ध करते हैं। जगत है। कलई अर्थात् यह खड़ी। **वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है।** वह तो श्वेतगुण से परिपूर्ण द्रव्य है। **दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है...** आहाहा! कलई से पाट सफेद करना, दीवार सफेद करना... क्या कहलाता है तुम्हारा? सन्दूक, सन्दूक रँगना। आहाहा! सफेद लकड़ियाँ हों उन्हें रंग करे। विवाह करे, तब देते हैं न? एकाध सन्दूक देते हैं। उसका स्वतन्त्र। आहाहा! कौन दे? प्रभु! वह सन्दूक जड़ है। वह लकड़ी का अस्तित्व है। वह अस्तित्व दूसरा दे सके और ले सके, यह मान्यता भ्रम और अज्ञान है। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि जीव है। उसे जैनदर्शन की खबर नहीं। जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ क्या कहते हैं, यह (खबर नहीं)। जैन नाम धरावे परन्तु जैन की खबर नहीं। आहाहा!

(अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जानेयोग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं?' क्या कहते हैं? यह

कलई दीवार को सफेद करती है तो यह कलई दीवार की है या कलई कलई की है ? है ? **(अर्थात् कलई के द्वारा श्वेत किये जाने योग्य पदार्थ है)। अब 'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत की जानेयोग्य जो दीवार आदि...** श्वेत करनेयोग्य जो वंडी या दीवार आदि परद्रव्य की है ? कलई परद्रव्य की है ? आहाहा ! पूरी दुनिया से उल्टा। पूरी दुनिया पागल है। यह करोड़पति, लाखोंपति... आहाहा ! देखे न ? कहा न ? अभी अफ्रीका में गये थे न ? एक गाँव में ४५० तो करोड़पति हैं। एक गाँव में ४५० करोड़पति और १५ तो अरबपति। अभी गये थे, २६ दिन रहे न ? अभी गये थे न ? लोगों की माँग थी। अफ्रीका, तीन हजार मील दूर है। तीन हजार मील दूर ! परन्तु सब पैसा... पैसा... पैसा... पैसे का ढ़ेर। एक भगवान की प्रतिमा एक व्यक्ति ने स्थापित की (उसके) साढ़े पाँच लाख (दिये)। साढ़े पाँच लाख में स्थापित की। एक सौधर्म इन्द्र बना। भगवान के सोलह इन्द्र बनते हैं न ? एक इन्द्र बना, उसके साढ़े तीन लाख। ऐसे सोलह इन्द्र। पैसे का तो ढ़ेर। वह तो धूल है। आहाहा ! उसने कहा, हम २६ दिन रहे। ४५ लाख रुपये इकट्ठे हुए। पन्द्रह लाख पहले हुए थे। कुल साठ लाख इकट्ठे किये। अभी महीने-डेढ़ महीने पहले (हुए)। साठ लाख। कहा, साठ लाख क्या, साठ करोड़ करो तो भी जड़ है। उससे तुम्हें कुछ कारण होगा, तुमने दिये, इसलिए तुम्हें धर्म होगा, इस बात में कुछ माल नहीं है।

मुमुक्षु : उसे स्पर्श ही नहीं करते और पैसे-पैसे के कारण से रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : माने किस प्रकार ? हमने दिये हैं न ? भगवान की एक प्रतिमा पधराई, उसके साढ़े पाँच लाख लक्ष्मीचन्दभाई ने दिये। साढ़े पाँच लाख। एक मुख्य प्रतिमा पधराई। ऐसे तो बहुत पैसेवाले वहाँ हैं। यह तो लोगों को बहुत प्रेम था, इसलिए गये थे। नहीं तो कहाँ अफ्रीका और कहाँ... ? उन लोगों को प्रेम, बहुत प्रेम।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने का प्रेम बहुत। बेचारे सुनते थे। महिलाएँ तो ढाई-तीन हजार। ढ़ेर सारी महिलाएँ तो समाती नहीं, इतनी आवे। सुने... सुने... शान्ति से सुने। बापू ! तुमने बुलाया है, इसलिए आये हैं, परन्तु सुनने जैसा यह है। आहाहा !

यहाँ कहते हैं कि जो श्वेत करनेवाली कलई, वह श्वेत की जानेवाली दीवार आदि

परद्रव्य की है या नहीं ? वह कलई दीवार की है या कलई कलई की है ? वह कलई दीवार की हो तो कलई धुल जाए तब दीवार भी गिर जाए। यदि कलई दीवार की हो तो कलई धुल जाए, तब दीवार भी गिर जाए। कलई दीवार की नहीं है। दीवार सफेद हुई नहीं। सफेद कलई है। आहाहा! ऐसा मानना... ? दुनिया से विरुद्ध। पूरे दिन बेचारे पाप करते हों, उसमें यह बात दूसरी। आहाहा! दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं ?

इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक (पारमार्थिक) सम्बन्ध... कलई और दीवार दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध **यहाँ विचार किया जाता है–यदि कलई दीवार आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो...** यदि यह कलई दीवार की हो तो क्या होगा **वह प्रथम विचार करते हैं– 'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका जो होता है, वह वही होता है। यदि दीवार की कलई हो तो दीवार में कलई रहना चाहिए। आहाहा! **'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है...** आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर ज्ञानस्वरूप है। यह आत्मा तो ज्ञान को जाननेवाला है। आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ करनेवाला नहीं है। आहाहा! देखो! कहा न ?

आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (पृथक द्रव्य नहीं);... ज्ञान भिन्न है और आत्मा भिन्न है, ऐसा नहीं है। ज्ञान तो उसका स्वभाव है। स्वभाव और स्वभाववान भिन्न नहीं होते। आहाहा! **'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (पृथक द्रव्य नहीं);'–ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (अर्थात् विद्यमान) होने से,...** जो जिसका हो, वह तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है। जो जिसका है, वह पर का है नहीं, ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है, उसे अज्ञानी नहीं मानता। आहाहा! कलई कलई में है, यह तात्त्विक सम्बन्ध है। दीवार में है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो घर का दृष्टान्त दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो घर का दृष्टान्त है। घर में इसे हो, वह घर में करे न ? यह किया, मैंने यह किया, अमुक किया... इस शीशपेन की नोंक निकाली, कलम.. कलम.. कलम छुरी से की। सब मिथ्या भ्रान्ति। वह जड़ की पर्याय जड़ से होती है और यह मानता है कि मुझसे होती है। आहाहा! यदि तुझसे होती हो तो तू ज्ञान है या तू यह कलम है ? यदि

तू कलम का कर्ता होवे तो तू कलममय हो गया। कलम में प्रविष्ट हो गया। भिन्न तो रहा नहीं। आहाहा! यह कहा।

'जिसका जो होता है, वह वही होता है, जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है (पृथक द्रव्य नहीं);'–ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (अर्थात् विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार–आदि की हो... यदि वह कलई दीवार की हो तो दीवार से भिन्न होगी ही नहीं। यह कलई तो भिन्न है, दीवार भिन्न है। कलई की दीवार नहीं, दीवार की कलई नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दीवार के बिना किस प्रकार फैले?

पूज्य गुरुदेवश्री : फैलती है स्वयं के कारण से फैली है। विशेष कहा जाएगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४०९, गाथा-३५६ से ३६५ शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल १
दिनाङ्क - १३-०६-१९८०

दृष्टान्त के बाद दाष्टान्त लेते हैं। दृष्टान्त आ गया न? दाष्टान्त **इस जगत में चेतयिता है...** है? कलई का दृष्टान्त पूरा होने के बाद। **इस जगत में चेतयिता है (चेतनेवाला अर्थात् आत्मा है) वह ज्ञानगुण से परिपूर्ण... ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय है।** आहाहा! दूसरे द्रव्य का कर्ता तो नहीं, क्योंकि पर को और इसे कुछ सम्बन्ध नहीं, परन्तु इतना ज्ञेय-ज्ञायक का सम्बन्ध है। पर को जानता है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! **व्यवहार से उस चेतयिता का (आत्मा का) ज्ञेय है।** भगवान अरिहन्त या पंच परमेष्ठी, वे इस ज्ञायक का व्यवहार से ज्ञेय हैं। है?

अब, 'ज्ञायक (-जाननेवाला) चेतयिता, ज्ञेय (-जाननेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य, उनका है या नहीं?' व्यवहार से जिन्हें जानता है, उनका वह है या नहीं? आहाहा! इतना स्पष्ट! करने का तो नहीं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को स्पर्श तो करे नहीं, परन्तु एक द्रव्य ज्ञायक, ज्ञेय को जानता है- यह भी व्यवहार है। आहाहा! क्योंकि ज्ञेय में ज्ञान का प्रवेश नहीं तथा ज्ञान, ज्ञेयरूप से परिणमता नहीं। आहाहा!

इस प्रकार पुद्गलादि परद्रव्य उसका ज्ञेय है। **अब, 'ज्ञायक पुद्गलादि परद्रव्य, उनका है या नहीं?'** आहाहा! जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका है या नहीं? जाननेवाला ज्ञायक आत्मा, जो ज्ञेय व्यवहार से जानता है, उसका यह जाननेवाला है या नहीं? आहाहा! इस प्रकार **उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का विचार करते हैं :-** वास्तव में दो के बीच, ज्ञात होनेयोग्य ज्ञेय और जाननेवाला ज्ञायक, इन दोनों का तात्त्विक (सम्बन्ध) विचार किया जाता है। आहाहा!

यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो... जाननेवाला जिसे जानता है, उसका होता है। **तो क्या हो, इसका प्रथम विचार करते हैं...** यह महा सिद्धान्त है। **'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...'** जिसका जो हो, वह उसका ही होता है, ऐसा नहीं कहा। 'उसका' यह भेद पड़ा। आहाहा! **'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...'** यदि पर का आत्मा हो तो वह पररूप ही होगा। पर को जानने से पररूप हो तो पररूप ही वह होगा। उसका ही वह

होगा, भिन्न चीज़ नहीं रह सकेगी। आहाहा! जिसका जो हो, वह उसका– ऐसा न कहकर, वह 'वही' होगा, बस! है? **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...**

जैसे आत्मा का ज्ञान होने से... जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;... ज्ञान, वह आत्मा ही है। जिसका जो होता है, वह वही है। वह उसका है – ऐसा नहीं, परन्तु वह वही है। आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही है। आहाहा! यदि पर को जानते उसका होवे तो वह पररूप हो जाए। पररूप तो (होता नहीं)। आता है। **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए);...** यदि पर को जानते हुए पररूप हो जाए तो जाननेवाला भिन्न रह नहीं सकता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म! पर के साथ कर्ता–कर्म सम्बन्ध तो नहीं; पर की पर्याय कार्य और आत्मा कर्ता (–ऐसा तो नहीं), क्योंकि पर्याय बिना का कोई द्रव्य नहीं, किसी समय। इसलिए उस पर्याय को पर पर्याय करे, यह तो बनता ही नहीं; तो यहाँ पर को जानता है, इतना सम्बन्ध है तो उस पर को जानते हुए पररूप होता है? पर को जानते हुए पररूप होता है या अपनेरूप रहता है? आहाहा!

कहते हैं, '**जिसका जो होता है, वह वही होता है,...**' 'उसका' नहीं कहकर, वह 'वही' होता है। आहाहा! **जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;...** आहाहा! **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित होने से,** ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध अस्ति धराता होने से। आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को जानते हुए 'उसरूप' नहीं होता – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवती ज्योत है। आहाहा! अब पूरे दिन यह करना... करना.. करना.. मैं करूँ, मैं करूँ। यह करने की बात तो कहीं छोड़ दी। मात्र वह ज्ञात होने योग्य और यह जाननेवाला, तो ज्ञात होने योग्य का यह जाननेवाला है? यदि उसका होवे तो, 'जिसका जो होता है, वह वही होता है,' तब तो उसरूप होना चाहिए, तो ज्ञायकरूप तो रहे नहीं। आहाहा!

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो... जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य पुद्गलादि का हो, जाननेवाला भगवान इस पुस्तक को, और अंगुली को और शरीर को जानता है; इसलिए उनका हो, उनका होवे तो 'वही' होगा। आहाहा! **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवित (–विद्यमान) होने से, चेतयिता यदि पुद्गलादि का**

हो तो चेतयिता, वह पुद्गलादि ही होवे (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए);... आहाहा!

ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। यदि जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका हो तो जाननेवाले का नाश हो। जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य चीज़ में चला जाए, उसमें स्पर्श कर जाए और उसमें प्रवेश करे। आहाहा! ज्ञात होनेयोग्य चीज़ में भी जाननेवाला प्रवेश नहीं करता। कर्ता-कर्म की तो बात ही क्या करना? आहाहा! यह जाननेवाला जिसे जानता है, उसे उसी काल में जानता है; इसलिए वह ज्ञेय का हो जाता है-उसे जानता है; इसलिए उसका हो जाता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! **(अर्थात् चेतयिता पुद्गलादिस्वरूप ही होना चाहिए, पुद्गलादि से भिन्न द्रव्य नहीं होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा।** जाननेवाला-जाननहार भिन्न रहकर ज्ञात होनेयोग्य को व्यवहार से जाने नहीं और व्यवहार से जानते हुए उसरूप हो जाए तो चेतयिता-जाननेवाले का उच्छेद हो जाए, जाननेवाले का नाश हो जाए। आहाहा!

किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता,... वस्तु है, उसका नाश तो होता नहीं। जो 'है', 'है', वह 'नहीं' - ऐसा कभी होता नहीं। जो है, द्रव्य-गुण और पर्याय, वह है, उसका किसी प्रकार से उसका नाश नहीं होता। आहाहा! इस पुस्तक को आत्मा जानता है, यह व्यवहार है। इस ज्ञेय को जानते हुए आत्मा कहीं इसके रूप हुआ नहीं है। वह तो अपने में रहकर इस ज्ञेय को जानता है। अपनी जानने की अस्ति में रहकर उसे (ज्ञेय को) जानता है। यह कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म।

चेतयिता... आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है। जिसका जो होता है, वह वही होता है। ऐसे जाननेवाला, ज्ञात होनेयोग्य का होवे तो वह वही होगा। आहाहा! समझ में आया? जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसका यदि होवे तो वह वही होगा। अपनेरूप रह नहीं सकता और उसरूप (ज्ञेयरूप) हो जाए। आहाहा! **किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है।** १०३ गाथा। गाथा १०३ में एक द्रव्य के गुण-पर्याय दूसरे द्रव्य में संक्रमित नहीं होते; एक वस्तु की पर्याय दूसरी चीज़ की पर्याय में प्रवेश नहीं करती, संक्रमित नहीं होती; दूसरी पर्याय होकर वह पर्याय बदलती नहीं। आहा! स्वद्रव्य की पर्याय का परद्रव्य की पर्याय

में संक्रमण-बदला होता या यह पर्याय उसकी हो - ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। १०३ गाथा, १०३ गाथा '**जो जम्हि गुणे**' जो जिसमें गुण हैं '**दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे**' वे द्रव्य के गुण दूसरे द्रव्य में वे संक्रमित नहीं होते। '**सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं**' एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में संक्रमित, पलटती, बदलती, होती नहीं होती तो फिर वह पर को किस प्रकार करे? आहाहा! यहाँ तो अभी पूरे दिन यह मैंने किया, दयाधर्म-वह पर की दया पालना, वह धर्म; भगवान की भक्ति करना, वह धर्म, वहाँ अटके हैं। वह तो बहुत स्थूल बुद्धि मिथ्यात्व है। भगवान की भक्ति, यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो अड़तालीस भव में मोक्ष जाए (- ऐसा लोग मानते हैं)। एक साधु आया था, उसने लिखा है। महावीरकीर्ति। कहा- यह बात मिथ्या है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के आश्रय से भव का अभाव हो, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है, कहा। महावीरकीर्ति थे न? यहाँ आये थे। 'सम्मेदशिखर का माहात्म्य।' श्वेताम्बर में शत्रुंजय का माहात्म्य है। वह सम्मेदशिखर की पुस्तक होगी उनके पास। उसके दर्शन करे तो ४८ भव में मोक्ष जाए। कहा - यह शास्त्र नहीं, यह सिद्धान्त नहीं, (ऐसा हमने) कहा। यह वाणी वीतराग की नहीं। फिर मौन हो गये। दूसरे द्रव्य के आश्रय से भव का अभाव हो, यह वाणी वीतराग की नहीं।

वीतराग की वाणी तो (ऐसा कहती है कि) स्वद्रव्य के आश्रय से भव का अभाव होता है। परद्रव्य के आश्रय से तो भव, भव उत्पन्न होता है। परद्रव्य के आश्रय से तो भव, राग उत्पन्न (होता है) और भव उत्पन्न होता है। आहाहा! चाहे तो साक्षात् पंच परमेष्ठी (हो), उनके दर्शन से तो राग और संसार होता है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं कि १०३ में ऐसा कहा कि वह बदल नहीं सकता। बदले तो पर में तन्मय हो जाये। तन्मय हो तो स्व का नाश हो जाये। एक द्रव्य की पर्याय पर में जाये तो अपनी पर्याय का नाश हो जाये, इसलिए पर्याय बिना का द्रव्य भी नाश हो जाये और पर में प्रवेश होने पर में चला जाये। वह स्वयं स्वतन्त्र रहे नहीं। आहाहा!

अपनी पर्याय के अतिरिक्त आत्मा, पर की पर्याय तीन काल में, तीन काल में (करता नहीं); तीन काल की जितनी पर्यायें हैं, उनका कर्ता आत्मा नहीं है। आहाहा! क्योंकि वह पर्याय संक्रमित हुए बिना, पर में गये बिना, पर में स्पर्श और प्रवेश किये बिना कैसे कर सके? पर में प्रवेश होने का तो निषेध है। किसी की कोई पर्याय पर में प्रवेश हो, इसका तो अभाव है; इसलिए वह पर्याय जिसकी है, वह वही है। जो पर्याय जिसकी है, वह वही है। उस पर पर्याय का जो कर्ता हो तो पर स्वयं हो जाये। पर स्वयं हो जाये और स्वयं अपना रहे नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। यहाँ पूरे दिन दया पालो और व्रत करो और दूसरे की रक्षा करो। आहा! ऐसी बात (करे)।

यहाँ तो यह कहते हैं कि **एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है। इसलिये (यह सिद्ध हुआ कि) चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है।** आत्मा, पर को जानने पर भी पररूप होकर जानता है, ऐसा नहीं है। पर का होकर पर को जानता है, ऐसा नहीं है। अपना होकर, अपना रहकर पर को जाने, यह भी व्यवहार। आहाहा! अब ऐसी बात। यहाँ तो अभी परद्रव्य का कर्तापना न माने तो अभी पर सेवा उतरती है। कर्ता न हो तो यह कौन करे? यह करते हैं न पूरे दिन। आहाहा! भाई! तेरी दृष्टि संयोग पर है।

पानी गर्म अग्नि के साथ होकर देखा तो यह तूने अग्नि को देखा। इससे पानी गर्म तुझे लगा। पानी को तू देख तो पानी स्वयं (पर्याय) ठण्डी और गर्म हुई है। वह तो पानी स्वयं स्वयं के कारण से गर्म हुआ है। तू संयोग से देखे तो उससे (अग्नि से) हुआ, ऐसा तुझे लगता है। वह दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! पानी को अग्नि स्पर्श नहीं करती तथा पानी गर्म होता है। यह तू संयोग से देखे तो उससे हुआ ऐसा लगता है परन्तु इसे स्वभाव से देख तो इसका स्पर्शगुण इस रीति से इस काल में परिणमा है। आहाहा! कठिन काम... पानी अग्नि से गर्म नहीं होता। आहाहा!

एक कील पर में घुसती नहीं, लकड़ी में एक कील घुसती नहीं। लकड़ी पर है, कील पर है। यदि उसमें प्रवेश कर जाये तो अपनी पर्याय का अस्तित्व रहे नहीं; पर्याय का अस्तित्व रहे नहीं और स्वयं का नाश हो जाये। आहाहा! यह तो सिद्धान्त हैं, दृष्टान्तों का तो पार ही नहीं होता। आहाहा! पैर को हिला सकता है, ऐसा यदि कहो तो आत्मा की पर्याय

का प्रवेश पैर में हुआ और पैर का प्रवेश हुआ तो संक्रमण जीव का हो गया, तो जीव का अपना अभाव हो गया। आहाहा! ऐसी बात है।

सिद्धान्त तो यह रखा, **जिसका जो होता है...** जिसका जो होता है, **वह वही है।** वह उसका है, ऐसा भी नहीं। **जिसका जो होता है, वह वही है।** आहाहा! आत्मा का ज्ञान है तो वह आत्मा ही है। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य की पर्याय है, वह द्रव्य की वह द्रव्य ही है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय है, जो है, वह वही है। भाषा ऐसी है न? जो है, वह वही है। आ गया, पहले आ गया ऊपर। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! महासिद्धान्त है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वही अर्थात् वही, वही होता है, ऐसा। वही वस्तु होती है। आहाहा!

अब इसमें होशियार व्यक्ति सब पूरे दिन रंग का काम नहीं करता होगा? योगेश बैठकर करता होगा न सब? आहाहा! दुकान पर बैठना और करना नहीं कुछ, ऐसा मानना। आहाहा! और करता है, यदि ऐसा मानना तो अपना द्रव्य वहाँ चला गया, उसमें बदल गया। क्योंकि उसकी अवस्था इसके प्रवेश बिना पलटे नहीं। आहाहा! गजब बात है।

अक्षर लिखने में अक्षर की पर्याय में अँगुली की पर्याय का अभाव है। अँगुली की पर्याय यदि इसके कारण उसमें जाये तो अँगुली का अभाव हो। कलम के कारण अक्षर लिखे जायें तो कलम की अवस्था वहाँ जाने से कलम का अभाव हो। आहाहा! गजब बात है। ऐसे आत्मा अक्षर को लिखे तो अक्षर की पर्यायरूप वह हुआ; इसलिए अपनी अस्ति गँवा दी। आहाहा! **जिसका जो होता है...** गजब बात है। यह सिद्धान्त, भाषा। जिसका जो, **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वह वही होता है। आहाहा! जिसका जो होता है, वह उसका ही होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! सिद्धान्त है। जिसका जो, पर्याय जिस द्रव्य की है, उसका वह द्रव्य है। वह पर्याय जिसकी है, वह उसके द्रव्य की है अर्थात् उसके द्रव्य की। दूसरे द्रव्य की पर्याय वहाँ आयी नहीं और उसे स्पर्शती नहीं। आहाहा! अनजान लोगों को दूसरों को ऐसा लगे कि ऐसा जैनदर्शन कैसा?

मुमुक्षु : घड़ी का धन्धा करनेवाला तो पूरे दिन घड़ी का ही काम करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ करता नहीं घड़ियाली। घड़ियाली कौन है यहाँ? आहाहा!

घड़ी जड़ परमाणु है, उसकी पर्याय में जीव की पर्याय का प्रवेश नहीं, जीव की पर्याय का वहाँ स्पर्श नहीं। यदि उसे स्पर्श करे तो एक-दूसरे में अभाव है, वह भाव हो जाये। एक-दूसरे में अन्योन्य -अभाव है, वह भाव हो जाये। भाव होने से अपना भाव भिन्न न रहे और उसका भाव हो जाये। आहाहा! गजब बात है। अन्तिम गाथाएँ अलौकिक हैं।

कारीगर, कारीगर की क्रिया कुछ करता नहीं। यह पहले आया है। आहाहा! शिल्पी। आहाहा! कारीगर चाहे जो हो, वह कारीगर पर की पर्याय करता नहीं। पर की पर्याय करे तो अपनी पर्याय का वहाँ प्रवेश हो। स्वयं पर्यायरहित होने से अपना द्रव्य ही नाश हो जाये। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। अनजाने को तो पागल जैसा लगे, पागल जैसा। आहाहा!

वस्तु बापू! वस्तु अनन्त है और अनन्त वस्तु भगवान ने कही, देखी है। उन अनन्त में एक चीज़ की पर्याय दूसरी पर्याय को करे, तब तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो जाये, नाश हो जाये, इसकी पर्याय दूसरा करे तो दूसरे का नाश हो जाये। आहाहा! एक पर्याय दूसरे का करे तो अपनी पर्याय का नाश हो जाये और दूसरे की पर्याय का नाश हो जाये क्योंकि उसकी पर्याय उसने नहीं की। आहाहा! अनन्त द्रव्यों का नाश हो जाये। आहाहा! अनन्त द्रव्य की अस्ति वस्तु वस्तुरूप से है। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से है, वह त्रिकाल उस प्रकार से है। किसी समय में भी उसमें फेरफार है नहीं। आहाहा! जो वस्तु जिसकी है, उसकी वह वस्तु त्रिकाल है। आहाहा! यह सजज्झिया (हथियार) जो यह हज्जाम इसे छुआवे। उसे छुआता नहीं, कहते हैं। आहाहा! यदि उसकी पर्याय इसे छू जाये तो भाव हो जाये। उन्हें एक-दूसरे का अभाव है। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। उसमें यदि उसे छुए तो एक-दूसरे का भाव हो जाये। उसका भाव इसका हो जाये। आहाहा! गजब बात है। बापू! धर्म ऐसा सूक्ष्म है। जिससे जन्म-मरण का अन्त आ जाये, वह बात कैसी होगी? जिससे भव न रहे। यह भव भटक-भटक कर मर गया। चौरासी के अवतार में विपरीत दृष्टि और विपरीत तर्क और विपरीत ज्ञान के कारण मर गया चौरासी के अवतार में। आहाहा! इसे सुलटा करना पड़ेगा।

प्रत्येक द्रव्य अनन्त भाव होने पर भी एक स्वयं चेतयिता एक है और अनन्त को देखते हुए वह अनन्तरूप होकर नहीं देखता। आहाहा! वह अपने ज्ञानरूप होकर अनन्त

को देखता है, यह व्यवहार है। आहाहा! देवीलालजी! अब ऐसी बातें। फिर लोग मजाक करते हैं। एक लड़का ऐसे मारता था, फिर कहे—यह मैंने कहाँ मारा? यह तो हाथ ने किया है। वापस ऐसी मजाक करे। आहाहा! प्रभु! तेरी बात भी सूक्ष्म, भाई!

एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य, एक समय की पर्याय वह वस्तु ही स्वयं द्रव्य-गुण-पर्याय सहित त्रिकाल ऐसी की ऐसी है। त्रिकाल। किसी समय में पर्यायरहित द्रव्य नहीं और गुण, द्रव्य बिना का तो होता ही नहीं। आहाहा! तब, जब पर्याय और गुण, द्रव्य बिना का नहीं तो वह दूसरे की पर्याय करे अथवा दूसरा उसकी पर्याय करने आवे, (ऐसा नहीं है)। है, उसे करने को आवे? आहाहा!

मुमुक्षु : एक गुण दूसरे गुण का न करे तो पर का क्या करे!

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण तो करे ही कहाँ? गुण तो ध्रुव है। यह तो पर्याय की बात है। द्रव्य और गुण तो ध्रुव है। यह तो पलटती अवस्था, संक्रमण होती अवस्था, बदलती अवस्था जब बदलने का करती है तो फिर दूसरे को बदलावे, उसमें क्या दिक्कत? लोग नहीं कहते कि एक गाय को चराने ले जाता है तो साथ में पाँच को ले जाये। ऐसे तेरा परिणमन करता है या नहीं तू? या परिणमन किये बिना तू रहता है? बदले बिना रहता है तू? तो बदलता है तो दूसरे को भी बदला साथ में। आहाहा! वह अत्यन्त नास्तिक होगा। एक पर्याय को बदलनेवाला, दूसरे की (पर्याय) बदलावे तो स्वयं पर्यायरहित होगा और सामने की भी पर्याय इसने की, वह पर्याय बिना का नहीं, नास्तिक होगा। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा मार्ग वीतराग का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा वीतराग का मार्ग है। केवली तीर्थंकर अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों ने ऐसा कहा है, भाई! तू एक पक्षीय है, ऐसा न मान कि सोनगढ़वालों ने यह निकाला। ऐसा मत मान। यह अनन्त तीर्थंकरों की यही आवाज है। आहाहा!

यह अँगुली रोटी को स्पर्श नहीं करती, ऐसा कहते हैं। प्रभु.. प्रभु.. प्रभु! यदि रोटी को स्पर्श करे तो रोटी और आत्मा दो के बीच, अँगुली के बीच अत्यन्त अभाव है। स्पर्श करे तो भाव हो जाता है। भाव कभी नहीं हो सकता। आहाहा! ऐसी बात है। समझने के लिए धीरज चाहिए। यह कोई विद्वत्ता की वस्तु नहीं है। बहुत संक्षिप्त परन्तु अन्तर्दृष्टि का

विषय है। बहुत संक्षिप्त। कोई विद्वत्ता और बड़ी पढ़ाई आवे और लाखों लोगों को रिझावे, इसलिए वह कहीं समझा है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सरस।

(समयसार) १०३ गाथा का उद्धरण दिया है। १०३ गाथा में तो कहा कि किसी द्रव्य की पर्याय दूसरे में संक्रमित नहीं होती। संक्रमित नहीं होती तो करे किस प्रकार? आहाहा! दाढ़ में रोटी का टुकड़ा दाढ़ नहीं करती। दाढ़ की पर्याय यदि उसे करने जाये तो अपनी पर्याय रहती नहीं और रोटी की पर्याय वह दाढ़ करने जाये तो रोटी की पर्याय नहीं, ऐसा हो जाये। वह पर्याय बिना का द्रव्य तो नाश हो जाता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

यह तो परमसत्य है, बापू! परमसत्य। ओहो! तीन लोक का नाथ केवलज्ञानी परमात्मा ने... आहाहा! प्रत्यक्ष देखा, वैसा वाणी में आया। नहीं तो वाणी और आत्मा दो अत्यन्त भिन्न हैं। आहाहा! वाणी को आत्मा कर नहीं सकता, केवली का आत्मा भी वाणी को कर नहीं सकता। आहाहा! तथापि उस वाणी में यह आया। आहाहा! कि हमारी जो यह वाणी की पर्याय है, वह हमारी ज्ञानपर्याय है, इसलिए यह वाणी पर्याय है—ऐसा नहीं है। यदि ऐसा होवे तो जिसका जो होता है, वह वही होता है। यदि वह आत्मा का हो तो वह आत्मा ही होगा। यह वाणी तो जड़ है। आहाहा! ब्रह्मचारीजी! ऐसी बातें हैं। आहाहा! वीतरागमार्ग है, भाई! वीतराग रूखा मार्ग है। उसमें राग और मिथ्यात्व का रस नहीं है। राग और मिथ्यात्व का रस वीतरागमार्ग में नहीं है। आहाहा! अरागी और सम्यग्दर्शन का रस वह जैनदर्शन में है। आहाहा! राग बिना का रस और मिथ्यात्व बिना का समकित का रस, वह वीतरागमार्ग में है, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा!

यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। यह जाननेवाले का जाननेवाला है। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी आत्मा, वह आत्मा का है। आहाहा! पर को जानने के काल में भी स्वयं अपनेरूप रहकर, पर को स्पर्श किये बिना, पर को जानने के काल में अपने को स्वयं जानता है, पर को जानता नहीं। आहाहा! अपनी ही पर्याय का उस काल में उस प्रकार का स्व-पर प्रकाशक जानने की सामर्थ्य से वह पर्याय ज्ञात होती है। वह पर्याय ज्ञात होती है। ज्ञात होती है, वह चीज़ नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! यह सब गड़बड़ कहाँ सुना था तुमने वहाँ तुम्हारे ढूँढिया में? बात भी कहीं नहीं है, श्वेताम्बर में यह बात ही नहीं है। यह तो सनातन सत्य वीतराग तीन लोक का नाथ..

आहाहा! उनकी वाणी सन्त कह रहे हैं। आहाहा! केवली के विरह में सन्त केवली का विरह टाल देते हैं। आहाहा!

चेतयिता – जाननेवाला जानने में आता है, उसका न हो तो जाननेवाला है किसका? – कि जाननेवाला जो है, वह वही है, स्वयं ही है। वह पर के कारण पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! पर को जानता है, ऐसा भी नहीं है, पर को जानने के लिये पर्याय पर में जाती है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह तो अपना पर्याय का स्वभाव स्व-परप्रकाशक अपनी पर्याय से ही वस्तु है। उस पर्याय से ही वह वस्तु है। यदि वह पर्याय नहीं तो वस्तु ही नहीं। क्योंकि कार्य पर्याय में होता है और वह कार्य जब पर से हो अथवा पर को करने जाये तो अपना कुछ रहता नहीं और पर का कार्य करने जाये तो उसका कार्य रहता नहीं। आहाहा! ऐसा है।

सिद्धान्त तो यह बहुत रखा है। जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! गजब सिद्धान्त है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** वही होता है, वह दूसरा नहीं। पर को जानने के काल में ज्ञान ज्ञान का है। इसलिए ज्ञान ज्ञान का है, वह आत्मा का है, उसका (पर का) नहीं। आहाहा! पर के करनेरूप तो नहीं, आत्मा आँख, हाथ हिलावे और पैर हिलावे या मुँह से बोले वह तो है नहीं तीन काल में, परन्तु उन्हें जानता है, उस समय भी स्वयं अपने जानने के अस्तित्व में रहकर, पर में प्रवेश किये बिना, पर और स्व के बीच अत्यन्त अभाव रखकर, अत्यन्त अभाव रखकर अपनी स्व-परप्रकाशक पर्याय अपने से स्वतन्त्र होती है, इसलिए वह आत्मा है। आहाहा! गजब बात है। जैनधर्म सुना न हो, ऐसे अनजान आवे, उसे तो ऐसा लगता है कि यह क्या? यह क्या बकते हैं? किस प्रकार का? बात सत्य, प्रभु! तुझे मिला नहीं, प्रभु! आहाहा!

तू कौन है? कैसे है? किस प्रकार तू है? आहाहा! कौन है? – कि आत्मा। क्या है? – कि मैं तो ज्ञान। किस प्रकार तू है? – कि इस जानने की पर्याय रीति से मैं हूँ। आहाहा! पर को जानने के कारण नहीं और पर को करने के कारण नहीं। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। बहुत लम्बी-लम्बी बातें करे और ऐसा करो और वैसा करो, बड़े

गजरथ चलाओ, रथ कराओ, ब्रह्मचर्य लिया हो वहाँ रथ निकालो, रथ। ब्रह्मचारी का रथ। अरे.. भगवान!

यहाँ तो तीन लोक का नाथ चेतयिता अपनी मर्यादा में प्रत्येक समय में पर को करे तो नहीं, परन्तु उस अनन्त को जाने और ऐसा जो अनन्त ज्ञान यहाँ हो, वह जानने का पर के कारण नहीं। वह जानना पर में जाता नहीं, वह अपने में रहकर अपने से अनन्त जानता है। वह जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! जिसका जो है, वह उसका है, ऐसा न कहकर; जिसका जो है, वह वही है। आहाहा! गजब बात है। इसकी गम्भीरता गहरी, बहुत गम्भीरता, प्रभु! लोग भले नास्तिक कहे, लोग कहे एकान्त कहे। एकान्त किसी का कर नहीं सकता तो फिर यह पूरे दिन करते हैं न? व्यवहार कहाँ जाये? सुन न अब! व्यवहार, व्यवहार में जाये, व्यवहार खोटे में जाये, सच्चे में व्यवहार नहीं जाता। आहाहा!

यहाँ दो सिद्धान्त कहे। जिसका जो है, वह वही है, और वह दूसरे में संक्रमित नहीं होता, इसका उद्धरण १०३ (गाथा) का दिया। क्योंकि पर्याय पलटकर कहीं पर में नहीं जाती, तो नहीं जाती तो, अपने को छोड़कर दूसरी पर्याय भले निकट हो, तो भी करे किस प्रकार? स्पर्श नहीं करता न! क्योंकि एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है और स्पर्श करे तो भाव हो जाता है, उसका भाव हो जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : संयोग सम्बन्ध है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं है, '**नास्ति सर्वोऽपि संबंधः**' २०० कलश। '**नास्ति सर्वोऽपि संबंधः**' ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं। अभी तो आगे आयेगा, इससे अभी आगे आयेगा। अभी इससे आगे सूक्ष्म आयेगा। आहाहा!

(इस) चेतयिता से भिन्न अब कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। जाननेवाला जानने में आता है, ऐसे दो अंश हैं, पर नहीं। जाननेवाला जानने में आता है, ऐसे दो अंश हुए। आहाहा! पर को नहीं जानता। जाननेवाला जानने में आता है, ये भी दो अंश हुए। है? **किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से...** आहाहा! गजब काम है। **व्यवहार से क्या साध्य है?** आहाहा! स्वयं अपने को जानता है, ऐसा भेद डालकर तुझे क्या साध्य है? तुझे सिद्ध क्या करना है? तेरा ध्येय क्या है? आहाहा! है? क्या कहा? स्व-स्वामि अंश अर्थात् कि इसे—स्वयं को

जानता है। ऐसा है न? चेतयिता, चेतयिता को जानता है, ऐसे दो अंश किये, दो अंशों में भेद पड़ा। भेद में साध्य क्या आया? भेद में तुझे क्या फल आया? भेद में तुझे लाभ क्या हुआ? आहाहा!

क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। कुछ साध्य नहीं है। आहाहा! पर के साथ जानने का सम्बन्ध भी कुछ साध्य नहीं है। पर को जानता हूँ, ऐसा तू निर्णय करने जाये तो भी तुझे लाभ क्या है? तेरा साध्य तुझे आत्मा प्राप्त करना, वह है या राग प्राप्त करना और कषाय प्राप्त करना, वह है? तेरा साध्य तो आत्मा प्राप्त करना है, तो आत्मा स्वयं अपने को जानता है, इस सिद्धान्त में आ जा। आहाहा! समझ में आया? यदि अजैन ऐसा सुने तो ऐसा लगे, यह तो क्या? पूरे दिन कर सकते हैं और कहे करता नहीं। करता तो नहीं, परन्तु जाननेवाला नहीं। ले! कर नहीं सकता, परन्तु जान नहीं सकता, यहाँ तो यह कहते हैं। पर को जानना, वह इसकी मिथ्या बात है। अभी इससे आगे ले जायेंगे कि स्वयं अपने को जानता है, ऐसे दो भाग डालकर तुझे काम क्या है? आहाहा! साध्य क्या है?

तब फिर ज्ञायक किसी का नहीं है। ज्ञायक ज्ञायक ही है... लो! आहाहा! ऐसी बात है। अभी यह तो बाहर के विवाद में पड़े हैं। दया पालन करो और व्रत करो, भक्ति करो और चन्दा बनाओ, पैसा इकट्ठा करो और उससे बड़े-बड़े काम करो। धूल भी नहीं। सुन न! आहाहा!

कहा नहीं अभी? अफ्रीका, उन लोगों ने साठ लाख इकट्ठे किये। छब्बीस दिन रहे। पन्द्रह लाख तो पहले किये थे, छब्बीस दिन में पैंतालीस लाख किये। साठ लाख रुपये किये और बड़ा बाईस लाख का मन्दिर बनाने को। उससे भी पैसा बढ़ गया बहुत। कहा, यह चाहे जो हो परन्तु इसमें राग की मन्दता हो तो पुण्य है, धर्म-बर्म नहीं। आहाहा! सब प्रेम से सुनते थे। नहीं तो वह तो अनार्य देश अफ्रीका। वहाँ अपने महाजन गये हैं और महाजनों की छह हजार आबादी है। वे सब बेचारे आते हैं। सभी नहीं आते, दिगम्बर हैं। दिगम्बर हैं, दिगम्बर हैं। मार डाला यह बाड़ा बाँध-बाँधकर। यह दिगम्बर और यह श्वेताम्बर और यह स्थानकवासी... अनादि सनातन मार्ग यह है। उसमें से जितने पन्थ निकले, वे पन्थ जैन नहीं हैं। आहाहा!

वीतराग तीन लोक के नाथ के श्रीमुख से निकली हुई बात वह, यह है। पर की दया

पाल सकने की तो बात ही कहीं रह गयी परन्तु पर की दया उसके कारण पलती है, ऐसा जीवत्व आयुष्य के कारण है। यह जानता है, वह भी कहीं रह गया। आहाहा! इसके कारण जीता है, ऐसा जानना, वह भी व्यवहार जानना है। उसमें तुझे साध्य क्या है। आहाहा!

(इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है' – यह व्यवहार–कथन है;...) कथनमात्र है, सत्य है नहीं। आहाहा! **('आत्मा अपने को जानता है'–इस कथन में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...)** आहाहा! स्व-स्वामिअंश, अंश हो गये। स्वयं अपने को जाने, स्व और स्वामी हो गये, दो भाग पड़ गये। आहाहा! इतनी हद में जाना अब। गुणवन्तभाई! कहाँ कलकत्ता में धन्धा करना और... आहाहा! पर की दया पाल सकने की बात तो तीन काल में जैनधर्म में है नहीं। क्योंकि वह स्वयं द्रव्य है, वह उसका आयुष्य हो, तब तक वहाँ रहेगा। आयुष्य के कारण रहेगा, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। उसके आत्मा की योग्यता उतना काल रहने की है, उतना काल वहाँ रहेगा। आहाहा! उसका यह आयुष्य अथवा उसकी पूरी स्थिति होकर निकल जायेगा। कोई उसे मार सके या जिला सके, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! अत्यन्त अन्यमति आया हो तो ऐसे ही पागल कहे। प्रत्यक्ष ही करते हैं पूरे दिन और कहते हैं करता नहीं। अब यह जानने का है, वह भी जानता नहीं, कहते हैं। जानता नहीं इसे? आहाहा!

यहाँ तो यह कहा कि **('आत्मा अपने को जानता है'–इस कथन में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...)** आहाहा! वह भी निषेध है, व्यवहार निषेध है। **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** पर को जानता है, यह नहीं। **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** स्वयं अपने को जानता है, वह जाननेवाला, जाननेवाला है। वह जाननेवाला जाननहार है। आहाहा! सब फेरफार करके यहाँ तक लाना। जिन्दगी बाड़ा में (सम्प्रदाय में) व्यतीत की हो और बाड़ा का सब पोषण किया हो, अब उसे यहाँ लाना। आहाहा! सब आग्रह छोड़ देना। आहाहा!

('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...) यह जाननेवाला तो जाननेवाला ही है। यह जाननेवाला पर को जाननेवाला नहीं। पर की हिंसा करनेवाला नहीं, पर की दया पालनेवाला नहीं परन्तु पर को जाननेवाला भी नहीं। आहाहा! यह तो स्व को जानना, ऐसा कहना व्यवहार है। **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'...)** विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१०, गाथा-३५६ से ३६५ शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल २
दिनाङ्क - १४-०६-१९८०

समयसार, बीच में कोष्टक में लाईन चल गयी है न? वह फिर से लेते हैं। कोष्टक में है न? **(इस प्रकार यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है'...)** आहाहा! आत्मा, परवस्तु का कुछ कर नहीं सकता। दुकान में पेढी में बैठे तो कुछ व्यापार के धन्धे की क्रिया कर सके - ऐसा नहीं है। परद्रव्य को स्वद्रव्य स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता अर्थात् दो के बीच तो अत्यन्त अभाव है। इसलिए एक आत्मा धन्धे की या कुछ परद्रव्य की क्रिया-पैसा लेना-देना, खाना-पीना, यह कोई क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! यह कठिन लगता है।

('आत्मा परद्रव्य को जानता है'...) कुछ करता तो नहीं, परन्तु पर को जानता है, यह व्यवहार कथन है। क्योंकि पर है, उसे जानता है, यह व्यवहार; स्व है, उसे जानता है, यह निश्चय है। स्व में भी जरा भेद है। आहाहा! पर को जानता है, यह तो व्यवहार कथन है। पर को करता है, बदलता है, देता-लेता है, आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु को देता-लेता है—यह तो तीन काल में है नहीं। आहाहा! पूरे दिन यह धन्धा करे और क्या करे? है इसमें? दो लाईनें बीच में हैं। परम सत्य की बात का छोर है। परम सत्य। आत्मा दुकान का, दूसरे का, शरीर का, वाणी का या मन का कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि दूसरे परद्रव्य है और स्वयं पर है - एक दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अभाव है, वह ऐसे अभाव को कैसे करे? भाव होवे तो करे, वह भी यहाँ तो भाव-भाव का व्यवहार कहेंगे। आहाहा!

'आत्मा परद्रव्य को जानता है, यह व्यवहार कथन है'... परद्रव्य को करता है, यह प्रश्न तो है ही नहीं। आहाहा! गजब बात, जँचना। **'आत्मा अपने को जानता है'-ऐसा कहने में भी**... आहाहा! आत्मा अपने को जानता है, उसमें **'स्व-स्वामि अंशरूप व्यवहार है'**... अपने को स्वयं, अपने को स्वयं जानता है, दो भाग पड़ गये। आहाहा! उसे भी यहाँ तो व्यवहार कहते हैं।

मुमुक्षु : पर को जानता है, यह व्यवहार खोटा या सच्चा?

पूज्य गुरुदेवश्री : झूठा।

यहाँ यह बताया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को जानता है'... यह व्यवहार है। परद्रव्य का कुछ करे – (ऐसा तो है ही नहीं)। आहाहा! ऐसा पंगु? पर के लिये पूरा पंगु, अपने लिये पूरा परमात्मा। आहाहा! अपना परमात्मपद क्षण में प्रगट कर सके – ऐसी ताकतवाला है और पर में एक रजकण भी बदल सके, जिस क्षेत्र में रजकण है, उसे दूसरे प्रदेश में बदले (–यह) आत्मा की ताकत नहीं है। आहाहा! पूरे दिन यह दुकान में धन्धे पर 'मनसुख' बैठे, दुकान में पूरा धन्धा।

यह आत्मा, इसके (स्वयं के) अतिरिक्त कर्म, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, मकान आदि; स्त्री, पुत्र, परिवार का कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि एक–दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अब कहते हैं यह स्वयं आत्मा अपने को जानता है, यह भेद पड़ा, वह व्यवहार है। आहाहा! आत्मा अपने को जानता है। आहाहा! भावक–भाव भेद पड़ गया। भावक को भाव जानता है। आहाहा! ज्ञायक को ज्ञानभाव जानता है, यह व्यवहार हुआ। इसमें भी विकल्प उठता है।

('आत्मा अपने को जानता है' – इस कथन में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...) अपने को–स्व, और उसका स्वामि, जानता है, वह स्वामि। यह स्व–स्वामि अंश भी भेद पड़ा। आहाहा! एक रजकण को तो हिला सकता नहीं, जीभ से बोल सकता नहीं, पैर से चल सकता नहीं। आहाहा! परन्तु उसे जाननेवाला जानता है, ऐसा भी नहीं। क्योंकि जाननेवाला, जानने में आने योग्य से अत्यन्त अभावरूप वर्तता है। अत्यन्त अभावरूप वर्ते, वह भाव अर्थात् स्पर्श कैसे करे? एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। अभाव है, तब उसे स्पर्श करे, वह तो भाव हो गया। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं होगा। मनसुख! धन्धा–पानी के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा!

आत्मा यह वस्तु है। यह शब्द पहले आ गया है। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** यह शब्द आ गया है। फिर आयेगा इसमें। जिसका जो होता है, उसका वह होता है – ऐसा नहीं। जिसका जो होता है, उसका वह होता है – ऐसा नहीं। जिसका जो होता है, वह वही है, जिसका जो होता है, वह वही है। आहाहा! गजब बात है न! जिसका जो होता

है, उसका नहीं, ऐसा भी नहीं। आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है, वही होता है। ज्ञायक का ज्ञायकपना है, वह वही होता है। ज्ञायकपना स्वयं अपने को जाने, ऐसा भेद, वह भी व्यवहार विषय हो गया। आहाहा! अब यहाँ, व्यवहार करते-करते निश्चय होता है, यह तो कहीं रह गया, कि भाई! दया, दान, व्रत, भक्ति, अपवास करते-करते कल्याण होता है, समकित होता है, यह बात तो कहीं रह गयी, झूठ। आहाहा! परन्तु उस परद्रव्य को निकट में है या दूर है? वह दूर ही है। क्योंकि जानने की अपेक्षा से पर को जानना, उस पर को; पर नजदीक हो या दूर हो, पर को जानना, वह व्यवहार है। आहाहा! इसलिए पर को जानना, वह भी आदनेयोग्य नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

यह आत्मा वस्तु है, तो वह पर का कुछ कर सके, जीभ को हिला सके, आाहाहा! या सिर हाँ या ना में ऐसे-ऐसे कर सके, यह तीन काल में नहीं है। यह तो नहीं, परन्तु उसे जाननेवाला जानता है, वह पर है और यह पर है, दो का एकमेकपने का अभाव है। दो के बीच अत्यन्त अभाव है। इसलिए पर को जानता है-ऐसा कहना, वह भी असद्भूत व्यवहार है। अब स्वयं अपने को जानता है, वह सद्भूत व्यवहार है। आहाहा! स्वयं अपने को जानता है, ये दो भाग पड़ गये, सद्भूत व्यवहार हो गया। भावक का भाव, ज्ञायक का ज्ञान, ज्ञायक का ज्ञान, भावक का भाव। आहाहा! जो एक-दूसरे के बीच अत्यन्त अभाव है, उसकी बात तो यहाँ एक ओर रखो। उसे करे नहीं, और उसे जाने नहीं; इसलिए वह तो दूर कर दिया।

अब अन्दर ही अन्दर में स्वयं अपने को जानता है, इसमें भी स्वयं अस्ति हुआ और अपने को जाने, उसका स्वामी हुआ, स्व का स्वामी हुआ। यह स्व-स्वामि अंश भी भावकभाव-भावक का भाव, इस ज्ञायक का ज्ञान, आहाहा! यह भी व्यवहार है। गजब बात है। ऐसा सुनने को मिलना मुश्किल है, सुनने को मिलना मुश्किल है। आहाहा! पूरे दिन करता है न यह? तो भी कुछ करता नहीं? अरे! करता नहीं तो एक ओर रखो, परन्तु जानता नहीं, क्योंकि अपना अंश वहाँ जाये तो उसे जानता है, ऐसा निश्चय से कहा जाये, परन्तु अपना अंश वहाँ जाता नहीं, अपने अंश में उसका ज्ञान अपनी सामर्थ्य से अपने कारण से अपने में होता है, इसलिए पर को जानता है, वह व्यवहार है।

अब, स्वयं अपने को जानता है, ऐसा जो भाव, स्व-उसका स्वामी हुआ, भावक

का भाव हुआ। आहाहा! ज्ञायक, वह भावक; उसका ज्ञान भाव, उसका भाव, यह व्यवहार हुआ। यह सद्भूत व्यवहार, वह निषेध है। आहाहा! यह तो दुनिया दुकान-बुकान छोड़ दे तो दो रहेंगे। नहीं? ऐसा होगा? दुकान-बुकान छोड़ दे। छोड़ दे, वह भी आत्मा का नहीं। परवस्तु छोड़े, वह वस्तु में नहीं। क्योंकि इसमें (आत्मा में) वह नहीं, वह इसने छोड़ा है कहाँ? वह छूटा हुआ ही पड़ा है। आहाहा! आत्मा, पर का त्याग करता है, यह भी व्यवहार का कथन है, क्योंकि त्याग में यह स्वयं जाता नहीं; स्वयं तो अपने में रहता है। आहाहा! यह स्वयं अपने में रहता है और पर को छोड़ता है-यह बात एकदम मिथ्या है। परन्तु छोड़नेवाला, छोड़नेवाला छोड़नेवाले में रहता है। आहाहा!

राग का त्याग, वह आत्मा में नहीं है, परन्तु उसका त्याग का करनेवाला जो जानपना है कि यह नहीं; यह ज्ञान, वह ज्ञायक का ज्ञान है - ऐसा भेद भी व्यवहार है। आहाहा! ऐसा कहाँ? इसे धर्म करना है। दया पालो, यह पालो और यह करो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो, यह करना, वह तो मिथ्यात्व है (अर्थात्) कर्ताबुद्धि, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! परन्तु उसे जानना, वह व्यवहार है, निश्चय नहीं। उसमें मिलता नहीं, ज्ञान उसमें मिल नहीं जाता। भिन्न रहकर स्वयं उसे जानता है, इसलिए निश्चय से तो उसे जानता नहीं। निश्चय से अपने को जानता है। अब अपने को जानता है, वह जाननेवाला अपना जाननेवाला है। आहाहा! ऐसा जो भेद, वह भी व्यवहार है। यह ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। यह तो है, वह है। शब्द आ गया है न?

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... यह बड़ा सिद्धान्त है इसमें। जिसका जो होता है, वह उसका होता है, ऐसा नहीं है। जिसका जो होता है, वह उसका, (यह) तो भेद पड़ गया। **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! गजब किया है न! समझ में आया इसमें? जिसका जो होता है, उसका वह होता है, ऐसा भी नहीं। जिसका जो होता है, वह उसका ही है। आहाहा! वह उसका ही है, ऐसा भी नहीं। चन्दुभाई! ऐसा सूक्ष्म आ गया। आहाहा!

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... जिसका जो होता है, वह उसका होता है—ऐसा भी नहीं। आहाहा! है अन्दर देखो? प्रत्येक जगह है। ज्ञायक में, दर्शन में।

जिसका जो होता है, जिसका जो होता है, आहाहा! वह, जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! इसके बाद तो छठवीं लाईन। आहाहा! ऐसा सब करने को रहे। संसार के चतुर तो पागल बनावे। पागल है या क्या? बापू! यह करते हैं न पूरे दिन। हाथ से, पैर से करते हैं, पैसा लेन-देन करते हैं, ब्याज उपजाते हैं, पैसे लेते हैं, लो! भाई! इतना माल है। यह पाँच हजार का माल। पाँच लाओ। यह पूरा काम पूरे दिन करते हैं और कहते हैं करते नहीं। आहाहा! भाई! तुझे भ्रम पड़ा है, भ्रमणा पड़ी है, वह तुझे देखने नहीं देती। यह संयोग को देखता है, भ्रमणा संयोग को देखती है। आहाहा!

पानी अग्नि से गर्म हुआ, यह भ्रमणा संयोग को देखती है - अग्नि को देखती है, परन्तु पानी स्वयं स्वयं से गर्म हुआ, यह नहीं देखा। आहाहा! समझ में आया? पानी अग्नि से गर्म हुआ, यह तो एकदम झूठ बात है क्योंकि एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। अभाव, वह भावरूप से कैसे हो। आहाहा! यह (अग्नि) उसे (पानी को) गर्म करे तो उसका भाव हो गया, अभाव नहीं रहा। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहते हैं कि (**'आत्मा अपने को जानता है'–इस कथन में भी स्व-स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...)** आहाहा! **('ज्ञायक ज्ञायक ही है'–यह निश्चय है।)** ज्ञायक, वह ज्ञायक ही है, बस! आहाहा! ज्ञायक जानने का काम करे तो ज्ञायक है, ऐसा नहीं। थोड़ी सूक्ष्म बात है। यह ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। अपने को जानने का काम करे, वह भी भेद और व्यवहार है। आहाहा! तो फिर पर को जानने का काम करे, वह तो अत्यन्त असद्भूतव्यवहार है। स्वयं अपने को जाने, यह सदभूतव्यवहार है; पर को जाने, वह असद्भूतव्यवहार है और पर को करे, यह मिथ्यात्व का व्यवहार है। आहाहा! पूरे दिन यह क्या करते हैं? डॉक्टर यह दवा-बवा (दे), इंजैक्शन लगाने और दवा निकालना, उसमें से निकालना। उसमें भरी हो, उसमें से ऐसे दबाकर निकालना, चुपड़ना। यह कहते हैं कि दवा को अँगुली स्पर्श नहीं करती। अँगुली को आत्मा स्पर्श नहीं करता।

मुमुक्षु : भले स्पर्श नहीं करे परन्तु लाभ करती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करती। स्पर्श करे तो भाव हो जाये, एक-दूसरे का एक भाव (हो जाये)। अत्यन्त अभाव है, उसमें भाव नहीं हो सकता। आहाहा! यह भाषा

तो सरल है परन्तु इसका भाव अन्दर सूक्ष्म है, बापू! आहाहा! है, वह है। है, वह है – ऐसा कहा न? जो जिसका होता है, वह वही होता है। आहाहा! वह दूसरे का नहीं होता। आहाहा!

और (जिस प्रकार ज्ञायक के सम्बन्ध में दृष्टान्त-दार्ष्टान्तपूर्वक कहा है) इसी प्रकार दर्शक के सम्बन्ध में कहा जाता है... अब देखने में और श्रद्धा में (लेते हैं), यहाँ देखने में देखना और श्रद्धा दोनों शामिल लेना। **इस जगत में कलई श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार-आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य...** आहाहा! क्योंकि दीवार का अस्तित्व तो भिन्न है और कलई ऊपर सफेद हुई, उसका अस्तित्व भिन्न है। आहाहा! ऊपर जो सफेद हुई, उसकी अस्ति, अस्ति – मौजूदगी भिन्न है और दीवार की अस्ति-मौजूदगी भिन्न है। यदि दीवार ही सफेद हो गयी हो तो सफेदी धुल जाये तो दीवार भी गिर जाये। आहाहा! गजब काम भाई! ऐसा। ऐसा मार्ग है, भाई! **'श्वेत करनेवाली कलई, श्वेत कराने योग्य दीवार-आदि परद्रव्य की है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध,... दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया करते हैं, यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो यह प्रथम विचार करते हैं –...** आहाहा! **जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका जो होता है, वह,.. जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! ऐसी बात चलती न हो, वहाँ लोगों को पर का करना, पर का कर सकते हैं, व्यवहार से करते हैं, व्यवहार से करते हैं, निश्चय से नहीं। आहाहा! अपने अतिरिक्त अनन्त पदार्थों का अहंपना इसे उड़ा देना पड़ेगा। अपने अतिरिक्त परद्रव्य कोई भी हो। अरे! राग का कण हो, उसका स्वामीपना और उसका अपनापना, उसका भाव मेरा, मैं भाववान-यह उड़ा देना पड़ेगा। आहाहा!

वह यहाँ कहते हैं, देखो! **विचार करते हैं – जिसका जो होता है,...** आहाहा! **वह वही होता है,.. जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! सुनने में तो आया था। ग्यारह अंग नौ पूर्व पढ़ा है परन्तु अन्दर घड़ी (तह) बैठी नहीं थी। सब धारणा में बात रखी। धारणा तो परचीज़ है। आहाहा! क्योंकि उसका अभाव हो जाता है। आहाहा! धारणा छूट जाती है, वह कहीं इसकी चीज़ नहीं है। इसकी चीज़ तो ज्ञान में यह बात एकाग्र होकर

आनन्द का वेदन होकर ज्ञान, ज्ञान में ले, वह भी अभी व्यवहार कहकर (निकाल डाला), परन्तु वह व्यवहार सदभूत है। आहा! यह ज्ञान पर को जानता है, वह असद्भूतव्यवहार है। केवलज्ञानी लोकालोक को जानते हैं, यह असद्भूतव्यवहार है, झूठी दृष्टि से यह कथन है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान का स्वभाव तो स्व-परप्रकाशक है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपना स्वभाव स्व-परप्रकाशक अपने से है, पर के कारण नहीं। पर है, इसलिए यहाँ ज्ञात होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! यहाँ स्व-परप्रकाशक स्वभाव-जिसका जो होता है, वह वही होता है। स्व-परप्रकाशक जिसका है, वह उसका ही है; पर के कारण नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। फिर लोग कहे न कि सोनगढ़वाले निश्चयाभास, निश्चयाभास है। व्यवहार की तो बात करते नहीं। व्यवहार कौन नहीं कहते? भाई! व्यवहार है, व्यवहार नय है, नय का विषय है, विषयी का विषय होता है। आहाहा! परन्तु वह आदरनेयोग्य नहीं है। आहाहा! व्यवहारनय नहीं है, ऐसा नहीं है। व्यवहारनय है, वह ज्ञान का अंश है, ज्ञान का अंश है। आहाहा! वह भी सम्यग्ज्ञान का अंश है। ऐई! आहाहा! चन्दुभाई! व्यवहारनय भी सम्यग्ज्ञान का अंश है, मिथ्याज्ञान का नहीं। आहाहा! वह जो जानता है, उसका विषय भी है। नय है, वह विषयी है और उसका विषय है, वह परचीज़ है। आहाहा!

यहाँ तो इतनी सब आवाज (पुकार है) कि जिसका जो होता है... आहाहा! जिसका जो होता है, वह.. जिसका जो होता है वह, आहाहा! वही होता है, वही होता है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? आहाहा! जिसका जो होता है, वह उसका होता है—ऐसा नहीं। यह तो भेद पड़ा। यहाँ तो जिसका जो होता है, वह वही है, वही है। आहाहा! ज्ञायक का ज्ञायक ही है। ज्ञायक, पर को जानता है; इसलिए ज्ञायक है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ज्ञायक ज्ञान द्वारा जानता है, ऐसा भी नहीं है। ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, वह वही है। आहाहा! जिसका जो होता है, जिसका जो होता है वह, जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। ऐसा जैन का होगा? जैन में तो छह द्रव्य कहे, उनके गुण-पर्यायें कही, छह काय की दया का कहा, छह द्रव्य को जानने का-मानने को कहा। लो!

योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। प्रयत्न से छह द्रव्य को जानना। योगीन्द्रदेव के दोहे में आता है। आहाहा! व्यवहारनय के कथनों की शैली देखकर, वह ऐसा है—ऐसा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो अभी व्यवहाररत्नत्रय करने से निश्चयरत्नत्रय प्राप्त होता है, यहाँ तक स्थूलता चल गयी है। आहा! यहाँ तो व्यवहाररत्नत्रय को जानता है, वह भी व्यवहार है। आहाहा! परन्तु व्यवहाररत्नत्रय को जाननेवाला ज्ञायक है, वह जिसका वह है, उसका वही है। आहाहा! उसमें दूसरा ज्ञात होता है, इसलिए उसका वह है और दूसरा ज्ञात होता है, इसलिए दूसरे को जानता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! जमकर बर्फ जैसा हो जाये, ऐसा है। विकल्प का अवकाश वहाँ नहीं है। आहाहा! जहाँ जानपने की विशेषता नहीं। मात्र वह चीज़ जो है.. आहाहा! वह जैसी है, वैसी उसे उसी प्रकार से प्रतीति करना। आहाहा!

उसमें यहाँ आत्मा की बात है। आत्मा लोकालोक को जाने, वह अपनी पर्याय है। लोकालोक के कारण लोकालोक की नहीं। वह पर्याय, लोकालोक है; इसलिए पर को जानने की पर्याय हुई है – ऐसा नहीं है। आहाहा! लोकालोक है तो लोकालोक उसके घर में रहा। भगवान जाननेवाला है, जाननेवाले में रहा। आहाहा! जाननेवाला लोकालोक में कहाँ गया है और लोकालोक का ज्ञान यहाँ कहाँ हुआ है? वह तो इसका अपना ज्ञान हुआ। आहाहा!

जिसका जो होता है, यह महासिद्धान्त है। प्रत्येक जगह यह डाला है। पहले ज्ञायक में डाला था, यह दर्शन और श्रद्धा में डालते हैं। जिसका जो होता है, वह वही; जिसका जो, जिसका जो वह.. जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! ऐसा कहाँ सुनने को मिले? दुकान में सुनने को मिले? संजयभाई! दुकान में कमाओ, यह करो न पूरे दिन, यह लड़के और... होशियारी से काम करता है, वह चतुर कहलाता है। शास्त्र के हिसाब से उसे पागल कहा जाता है। शास्त्र के हिसाब से उसे पागल कहा जाता है। दुनिया के हिसाब से उसे पण्डित कहा जाता है। आहाहा! पण्डित और शूरवीर तो सम्यक्त्वी है, ऐसा शास्त्र में कहा है। पण्डित और शूरवीर (वह) कि जो अभेद का ही अनुभव करता है। आहाहा! समझ में आया?

जिसका जो होता है, वह वही होता है,... अर्थात् ? **जैसे आत्मा का ज्ञान...** देखा ? **होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है...** पर को जानता है, इसलिए पर का है ? आहाहा! लोकालोक जानने में आया, इसलिए केवलज्ञान ने पर को जाना और पर का है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार इस ज्ञान में राग ज्ञात हुआ, व्यवहाररत्नत्रय का राग ज्ञात हुआ; इसलिए वह ज्ञान, राग का है - ऐसा नहीं है। वह जिसका जो है, वह वही है। राग का वह ज्ञान नहीं। राग का ज्ञान हुआ, वह तो अपनी पर्याय के सामर्थ्य से स्वयं से हुआ है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! अभी स्थूल में बात जँचे नहीं वहाँ... आहाहा!

जैसे आत्मा का ज्ञान होने से... आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है' – ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है। आहाहा! भाषा तो देखो! आत्मा का ज्ञान, वह आत्मा का ज्ञान है; वह पर का ज्ञान नहीं। रोटी और सब्जी, दाल, भात का ज्ञान हो, वह कोई ज्ञान उनका नहीं, ऐसा कहते हैं। रोटी और दाल, भात, सब्जी का ज्ञान हो, वह ज्ञान उनका नहीं; वह ज्ञान आत्मा का है। आहाहा! और वह ज्ञान, पर के कारण नहीं, आत्मा के कारण वह ज्ञान है। इसलिए जिसका है, वह वही है, वह वही है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। नटु! समझ में आया इसमें ? सूक्ष्म-सूक्ष्म है बहुत। तेरे व्यापार में, धन्धे में तो यह बात कहीं नहीं आती। अभी तो धर्म के वाड़ा में भी बात नहीं मिलती। अररर! प्रभु.. प्रभु..! यह बात ऐसी है।

कहते हैं, भाई! तुझे जो परसम्बन्धी ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्मा का है, वह ज्ञान उसका नहीं। आहाहा! इस शास्त्र का जो ज्ञान यहाँ हुआ, वह ज्ञान शास्त्र का नहीं; वह ज्ञान आत्मा का है। है ? आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है। आहाहा! किसी भी क्षण और पल में जिस प्रकार का पर को जानने आदि का ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा का ज्ञान है; उसका-पर का नहीं है, पर के कारण से भी नहीं है। आहाहा! वह आत्मा का ज्ञान है। आहाहा!

ज्ञान, वह आत्मा ही है-ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... तात्त्विक सम्बन्ध यथार्थ होने से जीवन्त, जीवन्त सम्बन्ध है, कहते हैं। ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त यथार्थ है। मर गया हुआ वह सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! आचार्यों, दिगम्बर सन्तों (ने) सिद्धों के

साथ बातें की है। लोगों को पक्ष लगता है क्योंकि यह तो स्पष्ट रीति से सत्य हो, वह कहनेवाले हैं। आहाहा! यह तो वस्त्र का टुकड़ा रखे तो मुनि नहीं, परन्तु निगोद में जायेंगे, यह स्पष्ट बात करे, इससे समाज संगठित रहेगा या नहीं, समाज में ये बात बैठने पर खलबलाहट होगी या नहीं, इस बात की कोई दरकार उन्हें नहीं है। समझ में आया? आहाहा! वस्त्र का टुकड़ा रखकर मुनिपना माने और मनावे तथा उन्हें माने, वे सब निगोदगामी हैं। भले वे कोई सीधे एक भव में न जाये, परन्तु अन्त में बहुत अनन्त काल निगोद में रहनेवाले हैं। आहाहा!

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से... यहाँ तो ऐसा है। ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध तो जीवन्त है। आहाहा! कि जिसका जो ज्ञान है, उसका वह है। पर का ज्ञान भी नहीं। इस शास्त्र का ज्ञान, वह ज्ञान शास्त्र का नहीं। शास्त्र है, इसलिए यहाँ ज्ञान होता है-ऐसा नहीं। आहाहा! शास्त्र सामने रखा है और पढ़ा जाता है, इसलिए इससे यहाँ ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा! चैतन्य को कैसा जीवन्त रखा ! **तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से...** आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है, यह तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त है। उसे कोई मार डाले तो वह मर जायेगा स्वयं। आहाहा! उस तात्त्विक सम्बन्ध को न मानकर दूसरे प्रकार से मानेगा तो उसके आत्मा का घात हो जायेगा। आहाहा! यह तो ऐसा सूक्ष्म पड़े न! ब्रह्मचारीजी! कठिन पड़ता है। आहाहा! जो किसी भी परचीज सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह ज्ञान, ज्ञान का है, वह ज्ञान आत्मा का है। वह उसका (परचीज़ का) नहीं, उसके कारण नहीं। आहाहा!

केवलज्ञान में लोकालोक ज्ञात होता है तो लोकालोक के कारण नहीं क्योंकि जिसका जो होता है, वह वही है। वह ज्ञान इसका है, वह वही है; लोकालोक का वह ज्ञान नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार यहाँ नीचे जिस क्षण में और पल में दूसरे सम्बन्धी का ज्ञान जो दिखता है, वह ज्ञान दूसरे का नहीं; वह ज्ञान, ज्ञान का है और वह ज्ञान आत्मा का है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई उन दीवार-आदि ही होनी चाहिए... तो दीवार हो जाये। कलई वहाँ सफेद हुई, इसलिए

दीवार की है तो कलई, दीवार की हो जाये। आहाहा! वाह! **दीवार-आदि ही होनी चाहिए (अर्थात् कलई, दीवार-आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा।** ऐसा होने पर स्व-कलई का अस्तित्व जो है, वह दीवार की हो जाये तो स्वयं के अस्तित्व का नाश हो जायेगा। आहाहा! दीवार सफेद हो गयी, इसलिए दीवार की सफेदी है, वह सफेदपना दीवार का है, ऐसा होवे तो सफेदपने की जो कलई है, उसका उच्छेद हो जायेगा। आहाहा! इसी प्रकार यह ज्ञान भी पर को जानने के काल में पर के कारण होता हो तो ज्ञान जो है, उसका उच्छेद हो जायेगा। आहाहा!

कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायेगा। किन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता, क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। कहाँ? १०३ गाथा। १०३ गाथा में पहले से निषेध करते आये हैं। भाई! १०३ (गाथा)। आहाहा! अन्य द्रव्य की कोई भी पर्याय अन्य द्रव्यरूप से संक्रमित हो और दूसरे की पर्याय को इसकी पर्याय बनावे तो उस द्रव्य की पर्याय संक्रमण (पाकर) पर में गयी तो द्रव्य का विच्छेद हो गया। पर्याय बिना का वह द्रव्य रहा और उसकी पर्याय इसने की तो वह पर्याय बिना का द्रव्य रहा। उस द्रव्य का विच्छेद हो गया। आहा! '**पर्याय विजुत्तम दव्वं**' पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता। पंचास्तिकाय का शब्द है। नौवीं गाथा। '**पर्याय विजुत्तम दव्वं**' नहीं होता, पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता। यदि यह पर्याय पर की करो या दीवार सफेद हुई तो सफेदपन का अभाव होने पर कलई का नाश हो जायेगा। दीवार सफेद हुई नहीं। सफेद हुई है, वह कलई। आहाहा! सफेद जो हुई है, वह कलई सफेद हुई है, दीवार सफेद नहीं हुई। आहाहा! क्योंकि कलई धुल जाये तो दीवार तो ऐसी की ऐसी रहती है। आहाहा! और दीवार गिर जाये, नाश हो जाये तो कलई तो कलई सफेदरूप से तो कायम रहती है न सफेद? आहाहा!

पहले ही निषेध किया गया है। अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण... पर्याय। मूल तो संक्रमण पर्याय का होता है। एक की पर्याय दूसरे रूप हो, तब तो पर्याय बिना का द्रव्य (होगा) तो फिर द्रव्य का नाश हो जायेगा। यह १०३ गाथा में कहते आये हैं। १०३ गाथा है न? १०३।

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामाए दव्वं।।१०३।।

दूसरे द्रव्य की पर्याय दूसरा द्रव्य करे तो दूसरे द्रव्य के परिणाम उसमें जायें। ऐसा तो बनता नहीं। संक्रमण एक-दूसरे में तो होता नहीं। अत: एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य ने क्या किया? आहाहा! दाढ़ ने रोटी का टुकड़ा किसका किया? दाढ़ की पर्याय उसमें से चली जाती है तो दाढ़ की पर्याय रहती नहीं। पर्याय बिना का द्रव्य तीन काल में नहीं रहता। आहाहा! और तीनों काल में जो पर्याय होती है, वह स्वयं से होती है। भले पर को जाने, परन्तु उस पर को जानता नहीं। वह स्वयं स्वयं को जाने, उसकी पर्याय है। आहाहा! ऐसा कठिन। व्यवहारवाले को तो हो..हा.. कर छोड़े कि अरे! ऐसा यह क्या? पूरे दिन हम करते हैं, यह करते हैं। भाई! धीर हो। तू कौन? क्या कर सकता है तू? तुझमें क्या है कि जिससे तू कर सकता है? आहाहा!

यहाँ यह कहा '**अण्णमसंकंतो कह तं परिणामाए दव्वं**' कोई भी द्रव्य अन्य की पर्याय में जाता नहीं, पलटकर बदलता नहीं तो उसके परिणाम को किस प्रकार करे? आहाहा! प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से होती है, पर से बिल्कुल नहीं। पर से होवे तो उसका संक्रमण हो जाये, बदल जाये। तब तो वह द्रव्य स्वयं पर्यायरहित हो जाये और वह पर्याय दूसरे ने की, यह भी पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। आहाहा! जिस पर्याय ने दूसरे की पर्याय को किया तो उस पर्याय का नाश हो गया और दूसरे की पर्याय को करे तो उसे भी पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। आहाहा! ऐसा उपदेश, लो!

कलई दीवार-आदि की नहीं है। (-आगे और विचार करते हैं:) यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है... क्या कहा? कलई की कलई है, ऐसा बोले न? कलई की कलई है, तो किस कलई की यह कलई है? तुमने कहा कि कलई की कलई है तो किस कलई की कलई है यह? आहाहा! दिगम्बर आचार्यों के अतिरिक्त यह बात कहीं नहीं है। लोगों को भले दु:ख लगे। समझ में आया? परन्तु यह ऐसी परमसत्य बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं नहीं है। उल्टा है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है...** उस कलई की कलई कही न? तब प्रश्न उठा, कलई की कलई तो कौन सी कलई की कौन सी कलई? **कौन सी कलई है कि जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है,...** यह तो कथन किया, बापू! कलई की कलई। यह कलई दूसरी और इसकी कलई है, ऐसा नहीं है। कलई, वह कलई ही है।

किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। कलई की कलई, वह तो स्व-स्वामि अंश का व्यवहार किया। आहाहा! वस्तु का अंश और वस्तु का स्वामी वह कलई हुई। आहाहा! **स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं। यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है?** उसमें फल क्या निकला? कलई कलई की हो, (ऐसा) कहें तो उसमें फल क्या निकला? आहाहा! उसमें साध्य अर्थात् परिणाम क्या आया? आहाहा! **कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है, कलई कलई ही है-यह निश्चय है।** कलई, कलई की नहीं; कलई, कलई ही है। आहाहा! **जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त है-** अब दर्शनगुण में यह उतारते हैं। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४११, गाथा-३५६ से ३६५ रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल ३
दिनांक - १५-०६-१९८०

समयसार, ५२३ पृष्ठ है। दृष्टान्त हो गया है। अब सिद्धान्त कहते हैं। ५२३ गुजराती। **जैसे यह दृष्टान्त है,...** तीसरी लाईन। ज्ञायक के साथ कलई का दृष्टान्त दिया न? ज्ञायक ज्ञायक का है, ज्ञायक कलई का नहीं या दीवार का नहीं, तथा किसी भी परचीज़ का नहीं। **उसी प्रकार यह दार्ष्टान्त है–** दृाष्टान्त अर्थात् सिद्धान्त। **इस जगत में चेतयिता...** जाननेवाला-देखनेवाला है **दर्शन गुण से...** और श्रद्धागुण से भरपूर है। टीका में यह बात नहीं है। जयसेनाचार्य की टीका में है। दर्शन और श्रद्धा दोनों है। **इस जगत में चेतयिता...** अर्थात् यह आत्मा है, वह दर्शन-देखना और श्रद्धा करना, ऐसे दो गुण से भरपूर है। आहाहा! है?

दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। पुद्गलादि परद्रव्य... उसे आत्मा के अतिरिक्त परपदार्थ **व्यवहार से उस चेतयिता का दृश्य है।** व्यवहार से देखनेयोग्य है। व्यवहार से श्रद्धायोग्य है। आहाहा! यहाँ तो श्रद्धा को जरा पर में डाला। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है न? नहीं तो श्रद्धा में तो अकेला आत्मा रखते हैं परन्तु यहाँ तो आत्मा और श्रद्धेय वस्तु दोनों इकट्ठी डाली। **अब, 'दर्शक (देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला)...** है न? जयसेनाचार्य की टीका में है। इसमें—टीका में नहीं। जयसेनाचार्य की टीका में है। **चेतयिता, दृश्य (देखनेयोग्य या श्रद्धान करनेयोग्य)...** जो देखनेयोग्य चीज़ है और जो श्रद्धायोग्य चीज़ है, उसका यह चेतयिता है या चेतयिता चेतयिता का है? आत्मा आत्मा का है या आत्मा का जो श्रद्धा करता है, देखता है, उसका है? समझ में आया? आहाहा!

अब, 'दर्शक (देखनेवाला या श्रद्धान करनेवाला) चेतयिता, दृश्य (देखनेयोग्य या श्रद्धान करनेयोग्य) जो पुद्गलादि परद्रव्यों का है या नहीं?' आहाहा! भगवान की श्रद्धा करे तो वह श्रद्धा भगवान की है या नहीं? भगवान को देखता है, वह देखे वह भगवान को देखता है या नहीं? यह देखना, वह चैतन्य का स्वरूप है या देखना, वह दिखता है, उस चीज़ का स्वरूप है? आहाहा! दिखनेयोग्य जो चीज़ है, उसका वह दिखनेयोग्य चीज़ देखनेवाला है या देखनेवाला स्वयं देखनेवाला स्वयं अपने से है? इसी प्रकार श्रद्धा

करनेवाला श्रद्धेय चीज़, उसका है या श्रद्धा करनेवाला स्वयं है, उसका वह है ? समझ में आया ? आहाहा !

यह **जो पुद्गलादि परद्रव्यों का है या नहीं ?'–इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध...** परमार्थ से दोनों का सम्बन्ध विचारते हैं। किसका ? देखनेवाले का और देखनेयोग्य चीज़ का, श्रद्धा करनेवाले का और श्रद्धा करनेयोग्य चीज़ का। वह उसका है या नहीं ? देखनेवाला देखनेयोग्य चीज़ है, उसका है या नहीं ? श्रद्धा करनेवाला पर की श्रद्धा करनेवाला, वह पर श्रद्धा करता है, उसका है या अपना है ? आहाहा ! **यहाँ विचार करते हैं–यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो...** जो जाननेवाला और श्रद्धा करनेवाला परद्रव्य का हो... आहाहा ! शरीर को जाननेवाला शरीररूप **हो तो क्या हो, यह पहले विचार करते हैं–** है ? देखनेवाला यदि शरीर का हो, देखनेवाला यदि वाणी का हो, देखे वाणी को, शरीर को, कर्म को, चीज़ें जो सब देखनेयोग्य है, उन्हें देखे परन्तु वह देखनेवाला देखता है, उसका है या देखनेवाले का देखनेवाला है ? आहाहा ! देखनेवाले का जो विषय है, उसका देखनेवाला है या देखनेवाला देखनेवाले का अपने में है ? आहाहा !

यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो तो क्या हो, यह पहले विचार करते हैं–'जिसका जो होता है... यह सिद्धान्त आया। **'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** जिसका, जिसका जो हो, वह वही होता है। देखो ! यह देखनेवाला देखनेयोग्य चीज़ का हो तो उस रूप होगा। श्रद्धा करनेवाला उसका यदि होवे तो उसरूप होगा। परन्तु ऐसा तो है नहीं। आहाहा ! जिसका जो होता है, वह वही होता है, यह पहले में—ज्ञायक में आ गया है। **जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;'...** यह आत्मा का ज्ञान, यह ज्ञान वह आत्मा का है। यह ज्ञान भले दूसरे को जाने परन्तु यह जानना, वह अपना स्वरूप है। जिसे देखता है, उसका यह स्वरूप नहीं है। जिसे वह जानता है, उसका यह स्वरूप नहीं है। जिसे जो जानता है, वह जाननेवाला जाननेवाले का स्वरूप है। इसी प्रकार जिसे देखता है, वह उसका स्वरूप नहीं, देखनेवाला देखनेवाले का स्वरूप है। श्रद्धा करनेवाला पर की श्रद्धा करता है तो पर का नहीं है, श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले में स्वयं अपनेरूप से है। आहाहा !

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से,... ऐसा दो के बीच यथार्थ सम्बन्ध जीवन्त होने से। आहाहा! कि कोई किसी का है नहीं। दूसरे को देखता है, तथापि वह देखनेवाले का नहीं है, दूसरे की श्रद्धा करता है, इसलिए वह श्रद्धा करनेवाले का नहीं है। वह तो श्रद्धा करनेवाला स्वयं अपना है, देखनेवाला स्वयं अपना है। देखनेवाला जो चीज़ देखे, उसका वह है नहीं। आहाहा! यह पुस्तक दिखती है तो कहते हैं कि देखनेवाला पुस्तक का है या नहीं? कि नहीं। यदि पुस्तक देखनेवाले की होवे तो देखनेवाला पुस्तकरूप हो जाए, तो जड़रूप हो जाए। आहाहा! ऐसी धर्म की बातें।

चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो... जाननेवाला ऐसा आत्मा यदि पुद्गल, शरीर, वाणी, मन, कर्म परचीज़ का हो। आहाहा! **तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिये।** तब तो वह तो परवस्तुरूप हो गया। अपनी चीज़ तो भिन्न रही नहीं। जिसे देखे, श्रद्धा करे, उसका वह तो हो गया। देखनेवाला और श्रद्धा करनेवाला भिन्न रहा नहीं। आहाहा! कहते हैं कि पूरे दिन दुकान का धन्धा करना, वकालात करे, डॉक्टर का दवाखाना चलावे, यह देखनेवाला उसे देखता है, इसीलिए यह देखनेवाला उसका हो जाता है या देखनेवाला देखनेवाले का रहता है? आहाहा! देखनेवाला देखनेवाले का रहकर उसे देखता है, ऐसा कहना यह व्यवहार है। पर को देखता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा! देखनेवाला देखनेवाले को देखता है, यह भी अभी व्यवहार है। आहाहा! भारी बातें! निवृत्त हो कब? निवृत्ति। ऐसा निर्णय करने का समय कब ले?

कहते हैं कि जाननेवाले की बात तो कह गये, कि जाननेवाला ज्ञात होता है, उसका नहीं, जाननेवाला जाननेवाले का है। उसी प्रकार देखनेवाला दिखता है, उसका नहीं, देखनेवाला देखनेवाले का है। इसी प्रकार जिसकी श्रद्धा करता है, उसका वह नहीं। वह श्रद्धा करनेवाले की, श्रद्धा करनेवाले की स्वयं श्रद्धा है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़ता है। आहाहा! **ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त होने से, चेतयिता अर्थात् आत्मा यदि पुद्गलादि का हो...** जिसे देखता है उसरूप हो, जिसे श्रद्धा करता है उसरूप हो **तो चेतयिता पुद्गलादि ही होना चाहिये।** तो वह **(अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिए)...** पर स्वरूप होना चाहिए। आहाहा!

आत्मा रंग को देखते हुए यदि रंग का हो तो रंगरूप हो जाए, आत्मा जड़ हो जाए। आहाहा! रंग को देखते हुए यदि रंग का हो जाए तो वह जड़ हो जाए। रंग को देखते हुए देखनेवाला देखनेवाले में रहकर रंग को देखता है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! स्वयं अपने को देखता है, उसमें भी जरा भेद है। आहाहा! स्वयं अपने को देखता है, यह भी स्व-स्वामी अंश भेद व्यवहार, सद्भूत व्यवहार है। आहाहा! कहाँ ले जाना लोगों को ? यहाँ तो कहे, इसका कर दो और उसका कर दो और इसका कर दूँ। मण्डल बाँधे और मण्डल के नायक हो, उसका अग्रेसर हो और उसका प्रमुख हो, उसका व्यवस्थापक हो और हम उसकी व्यवस्था कर दें, और मैं करूँगा, हों! आहाहा! ऐसा अभिमान मिथ्यात्व का, अनादि का जन्म-जरा मरण का मूल यह है। आहाहा!

इसे यहाँ वीतरागदेव कहते हैं, प्रभु! जो तुझे दिखता है, उसका तू नहीं है। दिखता है, वह तो तेरी चीज़ में देखने का स्वभाव है। स्व और पर दोनों को देखने का तेरा स्वभाव है। तुझमें रहकर तू देखता है, उसमें जाकर तू उसे देखता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार श्रद्धा करनेवाला, पर को श्रद्धा करनेवाला पर का होकर श्रद्धा नहीं करता, स्व का रहकर पर को श्रद्धा करता है। स्व का रहकर पर को श्रद्धा करता है, यह भी व्यवहार है। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है; श्रद्धा करनेवाला पर का व्यवहार से भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। यह बाहर की स्थूल बातों में पूरा सम्प्रदाय रुक गया है। मूल तत्त्व पूरा पड़ा रहा है। आहाहा!

जन्म-मरण रहित होने का मार्ग यह आत्मा वस्तु है, वह पर को जानने पर भी पर का नहीं, पर को देखने पर भी पर का नहीं, भगवान की श्रद्धा करने पर भी यह भगवान का नहीं। पंच परमेष्ठी की श्रद्धा करने पर भी यह पंच परमेष्ठी का नहीं। आहाहा! यह तो अपनी श्रद्धा और देखनेवाला और जाननेवाला अपना, यह भी भेद डालना, वह भी सद्भूत व्यवहार है, कहते हैं। आहाहा! बाकी चेतनेवाला चेतनेवाला, देखनेवाला देखनेवाला ही है, बस! श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाला ही है। आहाहा! श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाला है, इतना भेद व्यवहार भी उसमें नहीं है। आहाहा! ऐसा उपदेश।

ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। जाननेवाला, देखनेवाला,

श्रद्धा करनेवाला ज्ञात हो, उसका और दिखता है, उसका और श्रद्धा हो, उसका होवे तो अपना नाश हो जाए, अपना नाश हो जाए। आहाहा! परन्तु एक द्रव्य का **क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध कर दिया है।** कर्ताकर्म (अधिकार) की १०३ गाथा। कोई तत्त्व दूसरे तत्त्व की पर्याय में संक्रमित नहीं होता, बदलता नहीं, जाता नहीं। आहाहा! शरीर की पर्याय में आत्मा आता नहीं, जाता नहीं, शरीर की पर्याय को बदलाता नहीं। आहाहा!

वाणी और शरीर और मन तथा जगत के व्यापार-धन्धे आदि की क्रियाएँ... आहाहा! उन्हें देखने पर भी वह देखनेवाला उनका नहीं; देखनेवाला देखनेवाले का है। आहाहा! दुकान का बड़ा धन्धा, मनसुख! ऊन की गाँठें की गाँठें भरी हो न दुकान में? उन्हें देखे, तब ऐसा लगता है कि यह हमारा, हमारा यह। यह हमारी बोरियाँ हैं, हमारे चावल हैं, हमारा अनाज है। ऐसा यदि हो, जिसे मात्र देखता है, उसका होवे तो अपना तो अभाव हो जाए। चेतनेवाला जो जीवन्त अनादि सत्ता स्वरूप है, उसका तो अभाव हो जाए। आहाहा! आहाहा! इस पुस्तक को देखनेवाला पुस्तक का नहीं है। इसका देखनेवाला, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। पुस्तक का देखनेवाला कहना, यह व्यवहार है। शास्त्र की श्रद्धा करे, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा! समझ में आया?

ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। जो जिसे देखे, उसका हो जाए; जिसे श्रद्धा करे, उसका हो जाए; जिसे जाने, उसका हो जाए तो अपने तत्त्व का तो विच्छेद हो जाए। आहाहा! ऐसे स्वद्रव्य का उच्छेद और नाश तो कभी नहीं होता। आहाहा! इसलिए देखनेवाला और श्रद्धा करनेवाला अपने में अपने गुण में पर को श्रद्धा करे और देखे, यह व्यवहार कहने में आता है। बाकी तो अपनी श्रद्धा को देखे, स्वयं अपने को श्रद्धा करता है और देखता है, यह सद्भूतव्यवहार है। पर को श्रद्धा करता है और देखता है, यह तो असद्भूतव्यवहार है। आहाहा! अब ऐसी बातें! स्वयं अपने को श्रद्धा करता है और जानता है और मानता है और देखता है—ऐसा भेद भी व्यवहार, सद्भूतव्यवहार है। वह वास्तविक वस्तु नहीं है। आहाहा! क्योंकि देखनेवाला देखनेवाले का ही है, बस! देखनेवाला देखनेवाले का है, ऐसा भेद ऐसा भी नहीं। देखनेवाला ही है, जाननेवाला ही

है, श्रद्धा करनेवाला ही है, बस इतना। किसकी श्रद्धा, ऐसा नहीं। इसी और इसी की यह नहीं। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का ही है। यह श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है, यह भी व्यवहार भेद है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

इसमें निवृत्त कब हो? धन्धा के कारण निर्णय करने की निवृत्ति नहीं मिलती। चला जाना है देह छोड़कर, देह तो यहाँ राख हो जाएगी। अपनी सत्ता कहीं नाश नहीं होगी। उसकी सत्ता तो उसने पर को अपना माना है, वह वस्तु नहीं आवे परन्तु भविष्य में दूसरा संयोग आयेगा। क्योंकि संयोग को स्वयं ने अपना माना है, भविष्य में संयोग भव में आयेगा। भव का संयोग आयेगा, भव का अभाव नहीं होगा। आहाहा! ऐसा कहाँ चलता है? शान्तिभाई! देखा नहीं तुमने सब वहाँ वाडा में? तुम फूँकते नहीं थे बातें, भाषण? आहाहा!

(आगे और विचार करते हैं) चेतयिता यदि पुद्गलादि का नहीं है। तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है। आहाहा! ऐसा तुमने कहा, चेतयिता-जाननेवाला जाननेवाले का है। तो कौन सा और जाननेवाला दूसरा है कि जिसका जाननेवाला है? किसका है जाननेवाला? जाननेवाला जाननेवाले का है, श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है, देखनेवाला देखनेवाले का है। और देखनेवाले का देखनेवाला दो कौन हैं वे? यह तो दो भाग पड़ गये। आहाहा!

(इस) चेतयिता से भिन्न दूसरा ऐसा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? जाननेवाला जाननेवाले का है; श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है तो श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का दूसरा कोई है उसका है वह? आहाहा! देखनेवाला देखनेवाले का है। तब देखनेवाला और देखनेवाले का दूसरी कोई चीज़ है उसका है वह? आहाहा! यह तो कहते हैं, व्यवहार से कथन किया जाता है कि देखनेवाला देखनेवाले का है। बाकी देखनेवाला देखनेवाले स्वरूप ही है। आहाहा! यह जाननस्वरूप भगवान विराजता है, श्रद्धास्वरूप विराजता है, देखनेस्वरूप विराजता है। स्व-पर का देखना, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा!

यहाँ तो अभी व्यवहार दया, दान और व्रत करते-करते व्यवहार मानना है और

उसके व्यवहार से निश्चय मानना है। आहाहा! यह तो कहीं विरुद्ध हो गया। दया पालो, व्रत करो, अपवास करो तो तपस्या कहलाये, ऊनोदरी करो तो तपस्या कहलाये और तपस्या कहलाये, वह निर्जरा कहलाये और निर्जरा कहलाये, वह धर्म कहलाये। तपस्या को निर्जरा कहा है या नहीं? तब अपवास तपस्या है या नहीं?

एक बात हुई थी। राणपुर के पास गाँव है न? कैसा? 'वेजलका'। आता है न उसमें वेजलका? उसकी चर्चा हुई थी। वह कहे, तुम सब बात करो परन्तु अपवास और ऊनोदरी और रसपरित्याग, यह सब तप है और तप है, वह निर्जरा है और निर्जरा है, वह धर्म है। आहाहा! ऐसा है। ऐसा तो अभव्य ने अनन्त बार किया। नौवे ग्रैवेयक (गया)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' तो पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण यह दुःख कहे। यह आस्रव है, पंच महाव्रत आस्रव है, दुःख है। आहाहा! यह आर्तध्यान का दुःख है। आहाहा! महाव्रत के परिणाम दुःखरूप हैं। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' इन पंच महाव्रत में लेश सुख नहीं है। आहाहा! और यह पंच महाव्रत पालना, उसे धर्म मानकर बैठे हैं और भाषण करनेवाले भी ऐसा भाषण करे कि सब प्रसन्न हो, सब खुशी हो। आहाहा! गजब किया! क्या किया; यह मिथ्यात्व पोषण किया है। या क्या किया इसकी खबर नहीं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यदि यह जाननेवाला, चेतनेवाला, श्रद्धा करनेवाला जिसे श्रद्धा करता है, जानता-देखता है, उसका होवे तो इसका तो विच्छेद हो जाता है। आहाहा! **चेतयिता से भिन्न दूसरा ऐसा कौन सा चेतयिता है...** तब तुम कहते हो, चेतनेवाला चेतनेवाले का है, तो चेतनेवाला और दूसरा कौन सा चेतनेवाला है कि उसका है? **जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है,...** यह उत्तर दिया जाता है। **किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं।** यह तो स्व-स्वामीरूप अंश का कथन है। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है, देखनेवाला देखनेवाले का है, यह तो स्व-स्वामी अंश दो भेद करते हैं, यह भी व्यवहार है। आहाहा! कहाँ जाना? यहाँ तो अभी पर की दया पालो तो धर्म हो और व्रत, पंच महाव्रत पाले तो धर्म हो जाए, (ऐसा मानते हैं)।

उसे संवर हो, उसे संवर मानते हैं। महाव्रत आस्रव है। अव्रत, वह पाप और व्रत, वह धर्म है। आहाहा! यहाँ तो, व्रत, वह स्वयं अधर्म है। क्योंकि राग है और राग है वह धर्म से विरुद्ध अधर्म है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। चेतनेवाला चेतनेवाले का है, ऐसा कहा। चेतनेवाला, श्रद्धा करनेवाले की चीज़ का नहीं, दिखती है, उस चीज़ का भी नहीं तो देखनेवाला देखनेवाले का है यह और दो कौन है? कि भाई! दो नहीं है, यह तो कहने का कथन है। **कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं।** आहाहा! अंश है, यह तो दो भेद से बात है। आत्मा आत्मा का, चेतनेवाला चेतनेवाले का, जाननेवाला जाननेवाले का, देखनेवाला देखनेवाले का, यह तो दो अंश स्वस्वामी अंश के भेद किये हैं, यह व्यवहार है।

यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? ऐसे भेद करने से तुझे क्या फल है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर का कर नहीं सकता, पर को जानता नहीं, यह बात तो एक ओर रख दो। पर की श्रद्धा नहीं करता, यह बात एक ओर रखो। परन्तु श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करनेवाले का है, जाननेवाला जाननेवाले का है, देखनेवाला देखनेवाले का है, यह ऐसे दो में तुझे क्या फल है? ऐसा भेद करके, विकल्प करके तुझे क्या लाभ है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा भेद करना, वह भी राग है। आहाहा! वह धर्म नहीं। आहाहा!

कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसी का नहीं है,... देखनेवाला और श्रद्धा करनेवाला भी किसी का नहीं। जिसकी श्रद्धा करता है, उसका भी नहीं। भगवान की श्रद्धा आत्मा करे, इसलिए भगवान का आत्मा है, भगवान का शिष्य है... आहाहा! ऐसा भी नहीं है। वह किसी का शिष्य भी नहीं है, किसी का गुरु भी नहीं है। आहाहा! वह तो स्वयंसिद्ध सहज वस्तु अनादि काल से... आहाहा! पर को स्पर्श किये बिना स्वतन्त्र चीज़ स्वयं सत्ता को सम्हालकर पड़ी है। आहाहा! उसे दूसरी किसी चीज़ की अपेक्षा हो तो उसे कुछ मदद मिले, टिकने का अथवा बदलने का, टिकने का अथवा बदलने का (हो), ऐसा है नहीं। टिकना और बदलना तो स्वतः स्वरूप है। आहाहा! बदलना यह भी स्वतः स्वभाव है। निमित्त आया, इसलिए बदला.. (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

हथौड़ी आयी तो लकड़ी के दो टुकड़े हुए, निमित्त आया तब दो हुए, ऐसा नहीं। इस लकड़ी को वह स्पर्श नहीं करता। वह क्या कहलाता है ? करवत। करवत इसे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! क्योंकि एक चीज़ में दूसरी चीज़ का अत्यन्त अभाव है। अभाव है, उसमें उसे कुछ स्पर्श करना, ऐसा भाव का अंश आया कहाँ से ? आहाहा! समझ में आया ? दामोदरभाई! आहाहा! यह चश्मा नाक को स्पर्श नहीं करता। यदि एक चीज़ दूसरे को स्पर्श करे तो एक चीज़ और दूसरी चीज़ के बीच अत्यन्त अभाव है, उसका नाश होकर भाव हो जाए, दो होकर एक हो जाए। दो होकर एक होने पर भी अनन्त होकर एक हो जाए। आहाहा! ऐसा है। वाडावालों को तो ऐसा कठिन लगता है। ऐसा, ऐसा सब है, सब व्यवहार उड़ा दिया व्यवहार, व्यवहार नहीं ? है। नहीं कहा ? छोड़नेयोग्य है।

आत्मा आत्मा का, यह भी छोड़नेयोग्य है, चेतयिता चेतयिता का, यह भी छोड़नेयोग्य है। आहाहा! एकरूप चेतन ज्ञायक, एकरूप दर्शन, एकरूप श्रद्धान ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका भेद किये बिना अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! तब उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। आहाहा! यह तो सब फेरफार बाहर में तो कितना ही है। इसकी दया पालन की और इसकी पशुशाला बनायी और इसने इन लूले-पंगुओं का पालन किया और बधिरों की पाठशाला बनाते हैं न ? है न पाठशाला ? राजकोट में है। बधिरों की (पाठशाला) एकदम कान से सुनते नहीं, उन्हें लिख-लिखकर बोलना सिखाते हैं। एक बार गये थे, ले गये थे। आहाहा! कौन किसे (किससे) सीखे ? कौन किससे सीखे ? कौन किसे सिखावे और कौन किससे सीखे ? आहाहा! ऐसी बात है।

कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर दर्शक किसी का नहीं है, दर्शक दर्शक ही है–यह निश्चय है। (इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि : 'आत्मा परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है'–यह व्यवहार कथन है। आहाहा! आत्मा पंच परमेष्ठी की श्रद्धा करता है, यह व्यवहार कथन है। आहाहा! पंच परमेष्ठी तो पर है। पर की श्रद्धा करना, वह आत्मा की नहीं है। आहाहा! ऐसा सब है। **'परद्रव्य को देखता है अथवा श्रद्धा करता है'–यह व्यवहार कथन है।** आहाहा! यहाँ तक आना। अभी तो पर का कुछ कर नहीं सकता, स्पर्श नहीं कर सकता, यह मानना (कठिन लगता है)। आहाहा! बिच्छु शरीर को स्पर्श नहीं कर

सकता और यहाँ जहर चढ़ता है। यह क्या ? एक द्रव्य दूसरे को कभी स्पर्श नहीं करता। क्योंकि एक और दूसरे के बीच अनन्त... अनन्त... अनन्त... अभाव है। अनन्त अत्यन्त अभाव है। उस अभाव में स्पर्श करे, इसके भाव का अंश तू डाले (तो) तत्त्व का खून हो जाएगा। आहाहा! यह तत्त्व का खून होगा। आहाहा! ऐसी बात है।

'दर्शक दर्शक ही है'–यह निश्चय है।) और (जिस प्रकार ज्ञायक तथा दर्शक के सम्बन्ध में दृष्टान्त–दार्ष्टान्त से कहा है) इसी प्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के सम्बन्ध में कहा जाता है:– अब आत्मा पर का त्याग करनेवाला है, ऐसा कहा जाता है। चारित्र अर्थात् पर का त्याग करे। कि नहीं, नहीं, यह भी नहीं। आहाहा! इसने स्त्री छोड़ी, पुत्र छोड़े, दुकान छोड़ी, धन्धा छोड़ा, व्यापार छोड़ा, पाँच-पाँच लाख की आमदनी-पैदावार थी और छोड़ी, यह सब कथन झूठा है। आहाहा! परद्रव्य इसके पास आया नहीं, इसका हुआ नहीं, और इसने छोड़ा। इसके पास होवे, इसमें होवे उसे छोड़े। यह भी व्यवहार है। इसमें राग और द्वेष है, उन्हें छोड़े यह भी व्यवहार है। परमार्थ से तो आत्मा आत्मा के ध्यान में जहाँ आता है, तब राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसने राग को छोड़ा - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! ऐसी वस्तु और गड़बड़ करना। बड़ी सभा में यद्वातद्वा भाषण देना, सब प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए! अपना कितना नुकसान हो जाता है (इसकी खबर नहीं पड़ती)। आहाहा! ऐसी बात है।

अब त्याग की बात आयी। ज्ञायक की आयी, दर्शन की आयी, श्रद्धा की आयी। अब त्याग की आती है। **इसी प्रकार अपोहक (त्याग करनेवाले) के सम्बन्ध में कहा जाता है:–** राग के त्याग के विषय में कहा जाता है। आहाहा! **इस जगत में कलई है वह श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है। दीवार आदि परद्रव्य व्यवहार से उस कलई का श्वैत्य है (अर्थात् कलई द्वारा श्वेत किये जानेयोग्य पदार्थ)। अब, 'श्वेत, करनेवाली कलई, श्वेत की जाने योग्य जो दीवार आदि परद्रव्य की है या नहीं?'–इस प्रकार उन दोनों के तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है–यदि कलई दीवार–आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं– 'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** आहाहा! कलई दीवार की हो तो वह उसकी ही होगी। उसकी ही होगी, उससे भिन्न होगी ही नहीं।

आहाहा! जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! पर का त्याग करने जाए तो इसका अर्थ यह कि परवस्तु इसकी है, इसकी हुई तब इसने छोड़ी। आहाहा!

आत्मा में एक ऐसा गुण है। ४७ गुण हैं, उसमें अनन्त गुण हैं। उसमें एक गुण ऐसा है—त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति। पर एक रजकण या गुड़-मिठास रस या आम या अमुक मैंने छोड़ा। यह छोड़ना और ग्रहण करना आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! ४७ शक्तियाँ हैं, उसमें यह त्यागोपादानशून्यत्व शक्ति है। पर का त्याग और पर का ग्रहण। त्याग-उपादान अर्थात् ग्रहण शून्यत्व। पर के त्याग-ग्रहण से शून्य ऐसा आत्मा का स्वभाव है। आहाहा! यह तो बाहर से जहाँ पाँच कुछ छोड़े, वहाँ (ऐसा माने कि) यह बहुत छोड़ दिया, यह दुकान छोड़ी, स्त्री छोड़ी और धन्धा छोड़ा और अमुक किया...

मुमुक्षु : वकालत छोड़ी।

पूज्य गुरुदेवश्री : रामजीभाई ने वकालत छोड़ी। कौन करता था, जो छोड़े? आहाहा! कहाँ ये करते थे, उसे छोड़े? कहाँ उस चीज़ में थे, उसे छोड़े? कहाँ वह चीज़ अपने में थी तो छोड़े? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! अभी दुनिया को जँचना (कठिन पड़ता है)। इस सम्प्रदाय में तो व्यवहार की होली (सुलगती है)। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार (करो)। व्यवहार है अवश्य, व्यवहार शून्य नहीं परन्तु वह आदरणीय नहीं, जाननेयोग्य है। वह जाननेयोग्य है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! ऐसी सब बातें। निवृत्त कब हो और (विचारे)? आहाहा!

अब यहाँ **तात्त्विक सम्बन्ध का यहाँ विचार किया जाता है-यदि कलई दीवार-आदि परद्रव्य की हो तो क्या हो, सो पहले विचार करते हैं- 'जिसका जो होता है, वह वही होता है,...** यदि इसकी हो, यह कलई दीवार की हो तो दीवाररूप ही होगी, कलईरूप पृथक् नहीं रह सकेगी। आहाहा! कलई यदि दीवार की हो तो दीवाररूप ही होगी, कलईरूप रहेगी ही नहीं। आहाहा! इसी प्रकार भगवान आत्मा शरीर का हो, पिता पुत्र का हो, पिता का पुत्र हो, पुत्र कहे मेरा पिता है और पिता कहे मेरा पुत्र है—ऐसा होवे तो दोनों एक हो जाते हैं। आहाहा! कोई है नहीं पिता-पुत्र। कहो, हीरालालजी! आहाहा! ऐसी बात है। यह हमारा पुत्र है और यह हमारे पुत्र का पुत्र है। आहाहा! और यह मारी पुत्री है और

इसे हमने ठिकाने किया, अच्छी जगह डाला है। किसकी पुत्री कहाँ अच्छा ठिकाना किसका? आहाहा! सब अज्ञानी का भ्रम है। सब मिथ्यात्व के पोषक हैं, मिथ्यात्व के पोटले बाँधे हैं। आहाहा! चारित्रदोष तो कहीं रह गया। यह सब मिथ्यात्व के दोष के ही है पोटले हैं। आहाहा! बहुत कठिन काम। वीतराग मार्ग को समझना... बापू! आहाहा!

दुकान में बैठना और दुकान में बैठा नहीं, दुकान का कुछ कर नहीं सकता, दुकान के माल को स्पर्श भी नहीं करता। अरे रे! यह उठाकर दिया ऐसे केसर या कुछ। इसने उसे स्पर्श भी नहीं किया, स्पर्श नहीं किया और दे किस प्रकार? आहाहा! दुनिया से पागल जैसा है। दुनिया पागल है, पूरी दुनिया पागल है। साधु नाम धरानेवाले सब पागल हैं। हम दया पालन कर सकते हैं, दया पालो। दया पाल सकने की आत्मा की तीन काल में ताकत नहीं। और यह दया का भाव जो है, वह हिंसा है, राग है। दया पाल सकता तो नहीं, दया पाल सकता हूँ ऐसा मानना, वह तो मिथ्यात्व का पोषक है। परन्तु इसका भाव हुआ दया का, वह आत्मा की हिंसा है। क्योंकि राग है। राग, वह आत्मा की हिंसा है। आहाहा! उसे धर्म मानना। दामोदरभाई! यह सब सुना था, ऐसा वहाँ सुना था। दामनगर में क्या था? आहाहा! भारी कठिन काम। आहाहा!

ऐसा तात्त्विक सम्बन्ध जीवन्त (विद्यमान) होने से, कलई यदि दीवार-आदि की हो तो कलई वह दीवार-आदि ही होनी चाहिए, (अर्थात् कलई भींत आदि स्वरूप ही होनी चाहिए); ऐसा होने पर, कलई के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा... आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का हो जाए तो स्वद्रव्य का विच्छेद हो जाए। आहाहा! **परन्तु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता,...** द्रव्य जो चीज़ है; है, उसका नहीं—ऐसा कभी नहीं होता। जो है, चाहे तो पर्याय है और चाहे तो गुण और द्रव्य है, है उसका कभी अभाव नहीं होता। आहाहा! उस काल में वह है। पर्याय है, गुण है, द्रव्य है, स्वयं है, स्वयं से है, स्वयं में है। पर की बिल्कुल अपेक्षा से उसकी पर्याय पर्याय में नहीं। आहाहा! ऐसा शान्तिभाई! सुना नहीं सब। उसमें थोथे थोथा इकट्ठा किया है। आहाहा! सर्वत्र यह मार्ग है न, बापू! सर्वत्र गड़बड़ उठती है। सच्ची बात करे तो कहे, यह तो निश्चय की है, यह तो निश्चयाभास की है। निश्चय की अर्थात् सत्य की है, ऐसा। निश्चय की है अर्थात् सत्य की है और व्यवहार की है अर्थात् झूठे की है। आहाहा! कठिन बात है, बापू!

वीतराग जैन परमेश्वर केवलज्ञानी भगवान अनन्त केवलियों की एक आवाज है, कि किसी द्रव्य की पर्याय किसी द्रव्य की पर्याय को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अनन्त केवलियों की एक दिव्यध्वनि है। वह दिव्यध्वनि व्यवहार कहलाती है। उसमें यह आया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता और उसे बदले और उसे साफ करे और उसे सुधारे और उसे बाफ करे और उसे पकावे... आहाहा! कोई एक... एक तिनके के दो टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता। क्योंकि तिनके के दो टुकड़े होने का काल उसके परमाणु की पर्याय का है। उसके बदले स्वयं मानता है कि मैं इसके दो टुकड़े करता हूँ, (वह) मिथ्यात्व को पोषता है। आहाहा!

इसी प्रकार पूरे दिन यह किया और यह किया और यह किया और यह किया। भाई! तुझे कहाँ जाना है? बापू! यह देह छूटकर अन्यत्र अवतार होगा। आत्मसत्ता तो अनादि की है। इस देह का नाश अर्थात् परमाणु की दूसरी अवस्था होगी। वह भी नाश नहीं होता। वह तो परमाणु की दूसरी अवस्था होना, इसका नाम नाश। देह का नाश, कर्म का नाश का अर्थ यह है। कर्म की अवस्था अकर्मरूप हो, इसका नाम कर्म का नाश है। आहाहा! कोई चीज़ नाश नहीं पाती, कोई चीज़ नयी नहीं होती। आहाहा! ऐसा ही यहाँ स्वरूप है।

एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। है? १०३ गाथा। किसी द्रव्य की कोई पर्याय कहीं दूसरे में संक्रमित नहीं होती, पलटकर दूसरे में नहीं जाती। अरे! दूसरे को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! समयसार की तीसरी गाथा। कोई द्रव्य अनन्त जितने हैं, वे अपने में जितनी शक्ति और पर्याय है, उसे स्पर्श करते हैं परन्तु अन्य को तो एक भी स्पर्श नहीं करता, तीन काल में स्पर्श किया भी नहीं। आहाहा! यह अँगुली शरीर को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! तीसरी गाथा में है। संक्रमण है, यह १०३ गाथा में कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमण नहीं होता। और तीसरी गाथा में है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! चुम्बन नहीं करता, ऐसा पाठ तीसरी गाथा में है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म को धार रखा हुआ, उसमें रहा हुआ, वह दूसरे की पर्याय को चूमता नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग। आहाहा!

आग्रही हो, उसे तो ऐसा लगे, पूर्व का आग्रह पक्का हो, उसे तो लगे, यह क्या कहते हैं, यह बकते हैं ?

यह बात हुई थी। (संवत्) १९९७ में यह मन्दिर हुआ तब। चिमनचकु। चिमनचकु महीने रहा था। फिर कहे कि यह किया मैंने। नहीं कर सकता तो कहे, यह मैंने किया, लो! अरे! प्रभु! यह किया उसमें तुमने क्या किया ? उसमें आत्मा में क्या हुआ ? परमाणु में क्या हुआ, यह विचार किया है ? आत्मा, आत्मा के अस्तित्व में है; परमाणु, परमाणु के अस्तित्व में है। उसमें आत्मा ने उसे ऐसा किया, यह कहाँ से आया ? वह बड़ा वकील कहलाता था न ? स्थानकवासी में गप्प मारते हैं। आहाहा! अब ऐसा लोगों को पसन्द पड़ता है। आहाहा!

यहाँ बात चलती थी, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। यह तो ११९७ के वर्ष की बात है, यह मन्दिर होता था, तब (की बात है)। कितने वर्ष हुए ? ३९ वर्ष। तब वह व्याख्यान में बोला, लो! हमने यह किया। नहीं हो सकता ? अरे! प्रभु! उसमें क्या हुआ है और कैसे होता है, इसकी तुझे खबर नहीं है, बापू! उसमें आत्मा तो अत्यन्त भिन्न अपनी पर्याय से है। वह पर्याय शरीर की पर्याय को स्पर्श नहीं करती और शरीर की पर्याय जो ऐसे से ऐसे होती है, वह उसमें क्रियावतीशक्ति नाम का गुण है। वे परमाणु स्वयं के कारण से ऐसे से ऐसे होते हैं। दूसरे परमाणु के कारण नहीं और आत्मा के कारण तो नहीं ही। ऐसा कठिन काम है। शान्तिभाई! ऐसा तो सुना नहीं होगा पहले कभी। सब ऐसे गप्प मारते हों, वह सुना होगा। यह तो बहिन के कारण आने का हुआ। आहाहा! बहुत मार्ग, बापू! ऐसा मार्ग कोई अलग है। आहाहा!

तीर्थंकरदेव केवली सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि और उनका पुकार है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता, चूमता नहीं। आहाहा! चूमता नहीं तो दूसरे का कुछ करे, यह बात तीन काल में खोटी-झूठी है। आहाहा! भारी काम। इस दुकान के धन्धे में लोहे के लोहे घुमाते हो न सवेरे से ? हमारे मनसुख और नटु बड़ा धन्धा करते हैं। दाने घुमाते हैं, यह बोरियाँ घुमाते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़ता है। यह वह कैसे है ? यह क्या है ? ऐसे पूरे दिन ऐसा करते हैं, यह करते हैं, बोलते हैं, हिलते हैं, यह

करते हैं और आत्मा उसे स्पर्श भी नहीं करता? आहाहा! करता तो नहीं परन्तु छूता भी नहीं। यदि उसे स्पर्श करे और करे तो अपना भाव उसमें मिल जाए तो अपना अभाव हो जाए। आहाहा!

द्रव्य का उच्छेद हो जाएगा द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया गया है। है इसमें? पूर्व में १०३ गाथा में निषेध किया है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय में संक्रमित नहीं होती। पलटकर दूसरे में नहीं मिलती। आहाहा! ऐसा है। **कलई दीवार-आदि की नहीं है।** आहाहा! **यदि कलई दीवार-आदि की नहीं है तो कलई किसकी है? कलई की ही कलई है। (इस) कलई से भिन्न ऐसी दूसरी कौन सी कलई है जिसकी (यह) कलई है? (इस) कलई से भिन्न अन्य कोई कलई नहीं है, किन्तु वे दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं।** वह तो स्व-स्वामी कहलाये। इसका यह। आत्मा का ज्ञान, ज्ञान आत्मा का। यह तो स्व-स्वामी अंश का कथन है, कोई भिन्न है नहीं। आहाहा! **यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है? कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर कलई किसी की नहीं है,...** वह कलई दीवार की हुई नहीं, दीवार को कलई ने स्पर्श नहीं किया। आहाहा! दीवाली के दिन यह देते हैं न? सफेदी। उसे सफेदी कहते हैं कि दीवार को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! **कलई कलई ही है-यह निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है, उसी प्रकार यहाँ नीचे दार्ष्टान्त दिया जाता है:-** आहाहा! अब त्याग की बात का सिद्धान्त है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१२, गाथा-३५६ से ३६५ सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ४
दिनाङ्क - १६-०६-१९८०

समयसार में ५२५ (पृष्ठ) है, उसकी चौथी लाईन से लेना है, चौथी लाईन। **इस जगत में जो चेतयिता है...** अर्थात् कि आत्मा, आत्मा है। **वह, जिसका ज्ञान-दर्शन-गुण से परिपूर्ण,...** वह चेतन है। **ज्ञान-दर्शन-गुण से परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप (त्यागस्वरूप) स्वभाव है...** पर का त्याग करना, ऐसा है नहीं। पर के त्याग के—अभाव स्वभावस्वरूप है। आहाहा! परवस्तु छोड़ना, त्यागना, वह वस्तु में नहीं है, वस्तु निराली पड़ी है। निश्चय से तो तत्त्व ने राग को ग्रहण नहीं किया तथा राग को छोड़ना, यह भी व्यवहार है। आहाहा! यह चैतन्यस्वरूप ज्ञान-दर्शन से भरपूर भगवान है और पर के त्याग के अभाव स्वभावस्वरूप। आहाहा!

पर के अपोहनस्वरूप (त्यागस्वरूप) स्वभाव है... अब पर के त्याग स्वभावस्वरूप, अभाव स्वभावस्वरूप है, वह त्यागे किसे? आहाहा! पर के त्याग के अभावरूप स्वभाव है, वह किसे त्यागे? त्याग करने का भाव उसमें होवे तो त्यागे। यहाँ तो कहते हैं, उसमें त्याग का तो अभाव है। आहाहा! बाह्य वस्तु को ग्रहण किया नहीं तो छोड़ना, वह तो वस्तु में कुछ है ही नहीं। लोग बाह्य त्याग देखकर त्यागी है, ऐसा मानते हैं, वह मिथ्या है। आहाहा! निश्चय से तो अन्तर ज्ञान, दर्शन और पर के त्याग स्वभाव के अभावरूप स्वरूप ही है। ऐसी अन्तर्दृष्टि होने पर उस पर का त्याग करता है, यह भी उसमें नहीं है। आहाहा!

ज्ञान दर्शन से तो कहा, परन्तु यह त्याग सूक्ष्म बात है। इसने स्त्री का त्याग किया, इसने लक्ष्मी का त्याग किया, इसने इतने रस का त्याग किया, ऐसा स्वरूप में है नहीं। आहाहा! क्योंकि पर के अभाव स्वभावस्वरूप है, अत: जो त्याग करना है, उसके अभाव स्वभावस्वरूप है, तो अभाव स्वभावस्वरूप (है, वह) पर को त्यागे किस प्रकार? आहाहा! यह अज्ञानी की भ्रमणा है कि मैं यह छोड़ता हूँ और इतना यह त्याग (किया है)। शास्त्र में तो आवे, आत्मा... कि अमुक रस का त्याग करे और अमुक रस (न चलता), ऐसा आवे। यह नाममात्र कथन है, मात्र समझाने के लिये है। रस का त्याग तो उसे त्रिकाली

रस के त्याग का अभाव स्वभावस्वरूप है। उसमें फिर त्यागे किसे? यह तो रस त्याग किया और इसने यह त्याग किया, (ऐसा लोग बोलते हैं)। आहाहा! इसने अनाज त्याग किया, फल-फूल पर रहता है। आहाहा! यह सब भ्रमणा है।

ऐसा द्रव्य है। ऐसा यह भगवान आत्मा है। ज्ञान, दर्शन से भरपूर और रजकण से लेकर पूरी चीज़ें जगत की—पैसा, वस्त्र, गहने, आहार, पानी, रस के अभाव स्वरूप द्रव्य ही है। वह द्रव्य ही ऐसा है, वस्तु भगवान आत्मा। आहाहा! जो पर के त्याग के स्वभाव का जिसमें अभाव है, उससे त्याग कराना... आहाहा! कि यह त्यागना क्या... यह त्यागना क्या... यह त्यागना क्या... यह भ्रम, भ्रमणा है। आहाहा! ऐसा श्रावक के व्रत में तो आता है कि इतना चलता है और इतना नहीं चलता। यह तो सब व्यवहार के—असद्भूतव्यवहार के कथन हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, ऐसा तो वह द्रव्य है आत्मा, ज्ञानदर्शन से भरपूर और पर के त्याग के स्वभाव के अभाव (स्वरूप) ऐसा तो वह द्रव्य है। ऐसा तो वह आत्मा है, ऐसा आत्मा का स्वभाव अनादि ऐसा है। आहाहा! पुद्गलादि परमाणु रस, रोटी, दाल, भात, सब्जी वह **परद्रव्य व्यवहार से चेतयिता का अपोह्य है, व्यवहार से (त्याज्य-त्यागनेयोग्य पदार्थ) है...** यह तो निमित्तपना है, इसलिए व्यवहार से कहा जाता है। बाकी पर को स्पर्श भी नहीं करता, उसे छोड़ना क्या? आहाहा! भगवान आत्मा द्रव्य ही ऐसा है कि कर्म को स्पर्श नहीं करता न! वह अनादि से कर्म एकक्षेत्रावगाह से रहता है। एक क्षेत्रावगाह में अनादि से है। तथापि उसका उसे त्याग है, उस कर्म के त्याग का ही उसका स्वभाव है। आहाहा! कर्म को छोड़ना या बाँधना, ऐसा कोई द्रव्य नहीं है, ऐसी कोई द्रव्य की पर्याय नहीं है। द्रव्य तो भले नहीं, द्रव्य की पर्याय से ऐसा द्रव्य नहीं। आहाहा! व्यवहार से परद्रव्य चेतयिता का त्याग कहलाता है।

अब, 'अपोहक (-त्याग करनेवाला) चेतयिता,... पर का त्याग करनेवाला, **अपोह्य (त्याज्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य...** पुद्गलादि जो छोड़नेयोग्य छोड़ता है, ऐसा कहलाये। उसका वह है या नहीं? आत्मा जिसे त्यागता है, उसका वह है या नहीं? समझ में आया? जो वस्तु उसे ऐसा कि चलती नहीं, उसे छोड़े। तो वह छोड़े, उसका है या नहीं

वह ? छोड़े उसका है या छोड़ने के स्वभाव का उसमें अभाव है ? आहाहा ! **पुद्गलादि परद्रव्य व्यवहार से उस चेतयिता का अपोह्य (त्याज्य–त्यागनेयोग्य पदार्थ) है। अब, 'अपोहक (त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (त्याज्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य का है या नहीं?'** व्यवहार से कहा कि उसका त्याग करता है, ऐसा जो कथनमात्र कहा तो पूछते हैं कि वह चीज़ उसकी है या भिन्न है ? जिसे छोड़ता है, उसकी है या भिन्न है ? आहाहा !

'अपोहक (–त्याग करनेवाला) चेतयिता, अपोह्य (त्याज्य) जो पुद्गलादि परद्रव्य का है या नहीं?'–इस प्रकार उन दोनों का तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है:– आहाहा ! वाणी छोड़े, शरीर छोड़े। आहाहा ! कितने ही तो ऐसे निकलते हैं न अभी ? मरते हुए शरीर दे देवे दूसरे को। उसका क्या कहलाता है ? उसकी क्रिया का स्कूल होता है न, स्कूल उसका। उसे मुर्दा दे देवे, मुर्दा। आहाहा ! बहुत मुर्दा तो मुर्दा मेरा, मैं उसे दूँ। आहाहा ! ऐसा कि मेरे शरीर को जलाना नहीं। शरीर उसे वह ... वह ऐसा पूरा सब देखे। कहाँ–कहाँ क्या–क्या ?

मुमुक्षु : डॉक्टरों को सिखाने के लिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिखाने के लिये दे। आहाहा ! इस शरीर के प्रति ममता कितनी ! आहाहा ! यह शरीर मर गया, छूट जाने के बाद भी (ऐसा करे)। आहाहा ! हमारे यह है न जयन्ती मोदी, पालीताणा, उसने यह अभी से लिख दिया है। आहाहा ! भाई ! खबर है ? प्रवीणभाई है न लिखा हुआ ? वह जहाँ पढ़ाई में काम आवे, चीरकर देखने में, उसे दे दिया। क्या कहलाता है ? स्कूल होगा ? (मेडीकल कॉलेज), वह कॉलेज। आहाहा ! गजब है। वहाँ अपने आप छूटे, अपने आप जले, उसे स्वयं कहता है कि मेरा उसे देना कि जिससे उसे काम आवे, काम आवे उन्हें।

मुमुक्षु : परोपकार है, परोपकार तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परोपकार करता है। आहाहा ! ओहोहो ! जगत कहाँ जाता है, कहाँ जाएगा ? खड़ा रहकर। अर र ! जिसके शरीर का भी उपयोग दूसरा अच्छा करे। मर जाने के बाद भी ! अर र र ! गजब बात है। कितनी ममता ! आहाहा ! शरीर छूटने के बाद भी उसका कोई बराबर काम करे, परोपकार (करे)। उसके अवयव खोजे, देखे, लड़कों

को सिखावे। आहाहा! यहाँ कहते हैं, परन्तु उस पुद्गल को छोड़ता है, उसका यह जीव है या नहीं? आहाहा! यह कहते हैं।

जो पुद्गलादि परद्रव्य का है या नहीं?'-इस प्रकार उन दोनों का तात्त्विक सम्बन्ध यहाँ विचार किया जाता है-यदि चेतयिता पुद्गलादि का हो... यदि आत्मा शरीर का, वाणी का हो.. आहाहा! मेरे शरीर को अच्छी जगह प्रयोग करना, अच्छी जगह देना, ऊँचा ऐसा कॉलेज हो, उसमें देना। आहाहा! कहाँ तक की ममता! आहाहा! इस पुद्गलादि का हो तो क्या हो? जिसे छोड़ता है, उसका वह हो। रस छोड़ता है, सब्जी छोड़ता है, कन्दमूल छोड़ता है, कन्दमूल छोड़ते हैं न? आहाहा! जिसे छोड़ता है, उसका यदि हो तो (क्या हो), यह विचारते हैं।

'जिसका जो होता है वह वही होता है,... जिसका जो होता है, जिसका जो होता है, वह वही होता है। आहाहा! यदि इस शरीर का त्याग करनेवाला आत्मा शरीर का हो तो आत्मा शरीररूप ही होगा। आहाहा! जिसका जो हो, वह वही होता है। उसे छोड़ता है तो उसका हो तो उस रूप ही होगा, उसके स्वरूप होगा। रस छोड़ता है, वह रस का यदि हो तो आत्मा रसरूप होगा। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म। त्याग तक ले गये। जानने-देखने का तो ठीक, पर को जाने-देखे, यह व्यवहार; अपने को जाने-देखे, यह भी सद्भूतव्यवहार। आहाहा! अब यहाँ कहते हैं कि पर को त्यागता है, उसका यह हो तो पररूप होगा, तो अपना तो नाश हो जाए। आहाहा! जिसे छोड़ता है रस को, पुद्गल को, इस आम को, जामुन को, गहने पहनना नहीं, ऐसे कपड़े पहनना नहीं, ऐसा त्याग करते हैं न? सादा कपड़े पहनना, सादा।

मुमुक्षु : खादी के पहनना।

पूज्य गुरुदेवश्री : खादी के पहनना। आहाहा! खादी का यह है या नहीं? कि जिससे उसे पहने और छोड़े। आहाहा! विलायती कपड़े छोड़ना, खादी के पहनना। आहाहा! तो जिसे यह छोड़ता है, उसका यह है या नहीं? और यदि उसका ही हो तो उस रूप होगा, तो भिन्न चैतन्य रह नहीं सकेगा। आहाहा! है? जिसका जो हो, उसे छोड़े, उसका हो, जिसे छोड़े उसका हो तो जिसका जो होता है, वह वही होता है, उस रूप होता है। जो छोड़ता है, उसका हो तो वह छोड़नेरूप हो। आहाहा!

त्याग, बाहर का त्याग। बाहर का, हों! राग का भी नहीं। बाहर के त्याग। आहाहा! इसमें इतना ऐसा छोड़ा और इतना ऐसा छोड़ा और इतना ग्रहण किया। इतना ग्रहण किया और इतना छोड़ा। आहाहा! यह कहते हैं कि जिसे छोड़ता है, उसका वह छोड़नेवाला उसका है? छोड़नेवाला जिसे छोड़ता है, उस रूप है? उसका तात्त्विक सम्बन्ध विचारते हैं। आहाहा! जिसका जो होवे तो वह तो उसका वह होगा। तो वह रस का होगा, विलायती कपड़े छोड़ता है, उसका होगा, उससे भिन्न तो होगा नहीं। आहाहा!

जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान, वह आत्मा ही है;... जिसका जो हो, वह वही होता है। जिसका जो हो, वह वही होता है। आत्मा का ज्ञान है, वह यह आत्मा ही है। ऐसे पर का त्याग करता है, वह उसका हो तो उस रूप हो जाए। आहाहा! **चेतयिता यदि पुद्गलादि का हो तो चेतयिता उस पुद्गलादि ही होना चाहिए (अर्थात् चेतयिता पुद्गलादि स्वरूप ही होना चाहिए); ऐसा होने पर, चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा।** पर का त्याग करनेवाले का, त्याग करनेवाला त्याग करनेवाले का हो तो अपना अभाव होकर पररूप हो, तो अपना तो नाश हो गया। आहाहा! पर के त्याग के स्वभाव से अभावरूप तो रहा नहीं, पर के त्याग के स्वभावरूप हो गया। पर के त्याग के स्वभावरूप (हो गया तो) पर हो गया, वह आत्मा रहा नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। यह तो बाहर के त्याग के ऊपर पूरा प्रमाण (निकालता है)। अन्तर कौन चीज़ है और उसका क्या स्वरूप है, (इसकी कीमत नहीं)। आहाहा!

कहते हैं कि रजकण से लेकर पैसा, लक्ष्मी या इज्जत, कीर्ति और मकान स्त्री और पुत्र-पुत्रियाँ... आहाहा! कि भाई! इस लड़के को मैं छोड़ता हूँ और इसे देता हूँ। समझ में आया? मेरा भले बाँझपना रहे परन्तु इसे मैं देता हूँ। बड़े भाई को नहीं तो उन्हें मैं देता हूँ। होता है न? आहाहा! उन्हें लड़का न हो और लड़का हो इसे दो-तीन लड़के हों तो एक लड़का उन्हें दे। वह लड़का दे, उसका यह है? उसका होवे तो उस रूप रहे, तो भिन्न नहीं हो सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : यह सब होता है क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब गप्प होता है, मिथ्या भ्रान्ति सेवन करता है। आहाहा!

अपनी जाति को भिन्न बनाये नहीं रख सकता। अपनी जाति को पर जाति में मिलाकर पररूप मानता है। ऐसा पूरे दिन कर रहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : बराबर... बराबर हम कहते हैं परन्तु समझ में कुछ नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चीज़ जो आत्मा है, इस शरीर को छोड़े तो वह छोड़े, उसका है या शरीर से भिन्न है? यदि शरीर को छोड़े, उसका होवे तो शरीर से भिन्न रहे नहीं। तो शरीर का हो जाए। अपना नाश हो जाए, चेतयिता का तो नाश हो जाए। आहाहा! यह मेरा शरीर है, इसे सूखड़ से जलाना, लकड़ी से नहीं। ऐसा है। चन्दन की लकड़ी से जलाना। आहाहा! इस चन्दन की लकड़ी का यह है? उसका होवे तो अपना नाश हो जाए। स्वयं चन्दन की लकड़ी पर गिर जाए। आहाहा!

मुमुक्षु : आपके गुरु गुजर गये थे, तब सूखड़ की लकड़ियाँ बहुत लाये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सब साधु को ऐसा ही होता है, साधु का चन्दन की लकड़ी से (संस्कार करते हैं)। और वे तो बड़े इज्जतदार। बड़े सेठिया लाखों, पचास-पचास हजार की आमदनीवाले सूखड़ की लकड़ियाँ ले आये, लेकर सामने आये थे। हम नहीं थे न, वहाँ दूसरे गाँव थे। यह रायचन्द गाँधी और सब सूखड़ की लकड़ियाँ मोटी हाथ में कन्धे पर डालकर सामने आये थे। आहाहा! (संवत्) १९७४ की बात है, चैत्र कृष्ण ९, १९७४ की (बात) है। 'कांप' के पुल के नीचे जलाया था। सब सेठिया सूखड़ की लकड़ियाँ हाथ में लेकर सब सबके अलग (लायी हुई)। आहाहा!

कहते हैं कि जिसे उसने छोड़ा, वह उसका है या नहीं? कि यदि उसका होवे तो जिसका जो होता है, वह वही होता है, जिसका जो होता है, वह वही होता है। यदि वह लकड़ी का हो तो लकड़ीमय ही वह होगा। आहाहा! ऐसी बातें। कठिन काम, बापू! जैनदर्शन वीतराग... और जन्म-मरण के अन्त। आहाहा! अनन्त-अनन्त भव का अन्त लाना, वह कोई अलौकिक चीज़ है। वह रजकण से भी, राग और रजकण से भी प्रभु भिन्न है। वह राग का त्याग भी नाममात्र है। आहाहा! वह रागरूप है नहीं। वह तो वीतरागमूर्ति आत्मा है। आहाहा!

वीतराग स्वरूपी चैतन्यमूर्ति परमेश्वर है, उसे ऐसी हल्की चीज़ में स्वामी बनाना,

मालिक बनाना और उसका बनाना, उसे मैंने छोड़ा, उसका बनाना (उसमें) उसका नाश होता है, स्वयं का-स्वयं की चीज़ का नाश होता है। यह आया न? स्वद्रव्य का उच्छेद होता है। अपना द्रव्य वहाँ रहता नहीं। आहाहा! ऐसा धर्म होगा? दया पालना, व्रत करना, पूजा करना, प्रतिदिन एक घण्टे व्याख्यान सुनना, रात्रि में आहार छोड़ना, हो गया धर्म। कुछ धूल में भी धर्म नहीं है। आहाहा! धर्मी ऐसा आत्मा, उसमें धर्म है। आहाहा! वह पर का त्याग और पर को जानना-देखना, वह तो व्यवहार का कथन है। आहाहा! पर को जानना-देखना, वह भी व्यवहार है तो पर की त्याग की बात तो क्या करना? आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा आता है कि केवली भगवान पहले समय में भाषा को ग्रहण करते हैं और दूसरे समय में छोड़ते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह सब व्यवहार की भाषा आती है, ज्ञान कराने को, जानने के लिये आती है। आहाहा! कोई किसी को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य, एक द्रव्य... सिद्धान्त तीसरी गाथा में आया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, स्पर्श नहीं करता, वह द्रव्य का काम करे, इस मिथ्या भ्रान्ति को सेवन करता है। आहाहा! गजब बात है। ऐसे ब्रह्मचर्यरूप से शरीर के विषय का त्याग हो, परन्तु शरीर से काम नहीं किया, इसलिए मैंने विषय सेवन नहीं किया, यह मिथ्यात्व है। आहाहा! कठिन काम है। इसने विषय सेवन नहीं किया कब कहलाये? कि आनन्दस्वरूप में रहे और विकल्प उठे नहीं, तब इसने ब्रह्मचर्य लिया और विषय सेवन नहीं किया, ऐसा कहलाये। आहाहा! ऐसी बात है। दुनिया से अलग प्रकार है, भाई! दुनिया को जानते हैं न? बहुत बुद्धिवाले हों, साधारण बेचारे भोले भट्ट जैसों को धर्म (मनवाकर) चढ़ा देते हैं (दूसरे) मार्ग में। धर्म है (मानकर) उसमें जिन्दगी पूरी हो जाए और चले जानेवाले हैं चार गति में भटकने। आहाहा! यह देह छूटकर भव तो है। आत्मा है न? कि आत्मा कुछ दूसरी सत्ता में रहेगा या नहीं? अस्तित्वरूप कहीं रहेगा या नहीं? यह छोड़कर दूसरे अस्तित्वरूप (रहेगा)। भान तो नहीं कुछ। आहाहा! फिर कीड़े, कौवे और कुत्ते में अवतार हो। माँस का, शराब का भोजन न हो उसके। आहाहा! माँस और शराब का भोजन हो, वह तो मरकर नरक में जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : इंग्लैण्ड और अमेरिकावाले नरक में जानेवाले हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब नरक में जानेवाले हैं। बहुत कठिन बात पड़े, बापू! कुन्दकुन्दाचार्य तीन लोक के नाथ की बात करते हैं। कपड़े का टुकड़ा रखकर साधु मनवावे, माने (वे) निगोद में जानेवाले हैं। भले कदाचित् इस भव में किंचित् ब्रह्मचर्य पालन किया हो और ऐसा शुभभाव हो तो एकाध भव व्यन्तर-भूतड़े में जाए, वहाँ से तिर्यंच होकर निगोद में जानेवाले हैं। अरे रे! ऐसी बात है। वीर का मार्ग है शूरों का, यह कायर का काम नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहा, यदि उसका वह हो तो **स्वद्रव्य का उच्छेद हो जाएगा। परन्तु द्रव्य का उच्छेद तो नहीं होता,...** उच्छेद अर्थात् नाश। **क्योंकि एक द्रव्य का अन्य द्रव्यरूप में संक्रमण होने का तो पहले ही निषेध किया है।** १०३ गाथा में। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप संक्रमित हो-बदले; एक परमाणु दूसरे परमाणुरूप पर्यायरूप परिणमे, आत्मा एक परमाणु की पर्यायरूप परिणमे तो स्वयं का नाश हो जाए। संक्रमण हो, उसका बदला (होवे तो नाश हो जाए)। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की पर्याय को करे तो स्वयं का नाश हो जाए। आहाहा! ऐसा मार्ग है, उसे लोगों ने कर डाला उल्टा-उल्टा। वीतराग परमात्मा तो ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अभी चारित्रदोष होगा तो उसका हल आयेगा, परन्तु श्रद्धादोष होगा, उसका हल नहीं आयेगा। आहाहा! पाहुड़ में आया है कि कदाचित् समकिती है और विषय के मोह में है, विषय के प्रेम में-आसक्ति में है, तथापि उसकी श्रद्धा को दोष नहीं है। वह शीलवन्त है, सम्यग्दृष्टि शीलवन्त है। आहाहा! नरक में से निकलकर वह तीर्थंकर होनेवाला है। आहाहा! अष्टपाहुड़ में है। मोह में-चारित्रमोह में पड़ा हो, विषय के भोग में (हो), तथापि समकिती है, उसका स्वामी नहीं, उसका रस नहीं। आहाहा! उसमें एकमेक हुआ नहीं। इसलिए उसे दोष समकित का हुआ नहीं। चारित्रदोष है, वह दोष अल्प है परन्तु दर्शनभ्रष्ट है, दर्शनभ्रष्ट है, वह तो ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट है, तीनों से भ्रष्ट है। अष्टपाहुड़ में है, दर्शनपाहुड़। दर्शनभ्रष्ट है, वह ज्ञान से भ्रष्ट और चारित्र से भ्रष्ट, तीनों से भ्रष्ट है। चारित्र से भ्रष्ट है, वह अभी समकित से भ्रष्ट न हो। आहाहा! अष्टपाहुड़, कुन्दकुन्दाचार्य। आहाहा!

श्रद्धा और चारित्रदोष। चारित्र का दोष श्रद्धा को दोष नहीं लगाता। आहाहा! भरत और बाहुबली दोनों लड़े और भरत चक्रवर्ती छियानवे हजार स्त्रियों से विवाह करने पर भी समकित को दोष नहीं है। आहाहा! और जिसे श्रद्धा का दोष है, वह भले विषय सेवन न करता हो, तो भी उस अज्ञानी को संसार में भटकना है। आहाहा! बाल ब्रह्मचारी है, वह शरीर से विषय नहीं लिया, उसे ही ब्रह्मचारी माने, (वह) मिथ्यात्व है। आहाहा! शरीर से विषय नहीं लिया, इसलिए मैंने सेवन नहीं किया। परन्तु यह जड़ मिट्टी है, इसकी क्रिया नहीं हुई परन्तु आत्मा में यह भाव कहाँ गया है? यह विषय का प्रेम और रस है, उसमें सुखबुद्धि, मजाबुद्धि, ठीकबुद्धि, हितबुद्धि है। आहाहा! वह तो मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! ऐसा अन्तर है। शान्तिभाई! बहुत अन्तर। वस्तु तो ऐसी है। लोग कुछ का कुछ (मान बैठे हैं)। आहाहा! ऐसा कहते हैं कि समकित में विरुद्ध मिथ्यात्व है, निश्चय से विरुद्ध व्यवहार, यह नहीं। आहाहा! ऐसी बात करे। निश्चय से विरुद्ध व्यवहार, यह नहीं, विपरीत यह नहीं। विपरीत तो निश्चय समकित से विपरीत मिथ्यात्व है। आहाहा! और वापस अपने लिये कहे, अपन अभव्य हैं या काललब्धि पकी है कि भगवान जाने। अर र! अभव्य हैं (या नहीं) उसकी अभी खबर नहीं होती।

मुमुक्षु : उसमें पुरुषार्थ क्या... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुरुषार्थ सब अज्ञान का है। आहाहा! परन्तु यह तो कहनेवाले ठीक परन्तु यह सुननेवाले, वाँचन करनेवाले को कुछ शंका पड़े तो... होशियार है, सब स्याद्वाद जानता है। आहाहा! अभव्य की भी खबर पड़े नहीं अपने को। आहाहा! वह चाहे जैसा क्रियाकाण्ड करता हो तो भी वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे अभी अभव्य-भव्य की शंका है। आहाहा! वह तो अभी भव्य पात्र नहीं। आहाहा! यद्यपि समकित... श्रीमद् ने तो पात्र उसे कहा है कि सम्यग्दृष्टि हो, वही पात्र है। आहाहा! मुख्यरूप से ऐसा कहा है। दूसरी जगह दूसरा कहा है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यदि पर का त्याग करनेवाला पररूप होवे तो स्व का उच्छेद होगा। तो अन्य द्रव्य का संक्रमण होने का तो पूर्व में निषेध किया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो अर्थात् एक द्रव्य की पर्याय दूसरी पर्यायरूप हो, द्रव्य तो वह का वह। एक

पर्याय दूसरी पर्यायरूप हो तो द्रव्य का नाश हो जाए। क्योंकि स्वयं पर्याय बिना का द्रव्य नहीं हो सकता। एक तो अपना नाश हुआ और सामने का काम स्वयं ने किया। उसे पर्याय नहीं। यह पर्याय उसे नहीं थी, यह तूने दी। वह पर्यायरहित द्रव्य (हुआ तो) उसका भी नाश हुआ। आहाहा! वास्तव में तो चौदह ब्रह्माण्ड का नाश किया। आहाहा! जिसने एक का नाश किया, उसने चौदह ब्रह्माण्ड का नाश किया। आहाहा!

एक का कर्ता हो, वह पूरी दुनिया का कर्ता है। क्योंकि उसे उस समय वह प्रसंग बना है, परन्तु दूसरा प्रसंग बने तो वह करे। यह कसाईखाना लगावे। आहाहा! कर्ता जिसकी बुद्धि है, वह कसाईखाना लगायेगा। आहाहा! कर्तापने की बुद्धि—मैं कर सकता हूँ, तो उसने पूरी दुनिया को कर सकता हूँ, ऐसा उसने माना है। उसने अनन्त मिथ्यात्व को सेवन किया है। आहाहा! सिद्धान्त बहुत कठिन। आहाहा!

मुमुक्षु : दोष की सबको खबर नहीं पड़ती।

पूज्य गुरुदेवश्री : विचार भी कब किया है? सुनने में कहाँ मिलता है? (जहाँ) जाए वहाँ दया पालो, व्रत करो और यह करो और सूर्यास्त से पूर्व भोजन करो और अमुक करो। सुननेवाले भोलेभट्ट जैसे बेचारे, कुछ भान नहीं होता। जय... जय, जय... जय करे। आहाहा! ऐसी कठिन बातें, बापू! इसका हित पड़ा रहा (और) अहित के रास्ते में दौड़ जाता है। इसकी खबर भी नहीं कि हम अहित के रास्ते में चले जा रहे हैं। आहाहा! इस हित के पन्थ में चलनेवाले को अहित के पन्थ में चलता है, ऐसा मानता है। व्यवहार से धर्म नहीं माने, इसलिए अहित के मार्ग में है, ऐसा मानता है। और स्वयं व्यवहार से धर्म मानता है, हम हित के मार्ग में हैं, (ऐसा मानता है)। अहित के मार्ग में है (और मानता है कि) हित के मार्ग में है। (वह) मिथ्यात्व में है। आहाहा!

अब कहते हैं, **चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है। (आगे और विचार करते हैं;) यदि चेतयिता पुद्गलादि का नहीं है तो चेतयिता किसका है? चेतयिता का ही चेतयिता है।** यह तो पर के त्याग स्वभावस्वरूप है, उसका ही है। पर के त्यागवाला यह है ही नहीं। आहाहा! **(इस) चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है...** चेतयिता आत्मा आत्मा का है। आत्मा आत्मा का है, ऐसा जो तुमने कहा तो आत्मा आत्मा का अर्थात् कोई

दूसरा आत्मा का आत्मा है ? यह क्या कहा तुमने ? आत्मा आत्मा का है, तो एक आत्मा दूसरे आत्मा का है तो दूसरा आत्मा है कोई ? आहाहा! पर की बात तो छोड़ दी। अब जाननेवाला जाननेवाले का है, देखनेवाला देखनेवाले का है, पर के त्याग के स्वभाव का अभाव स्वभाववाला वह स्वयं है, तो कहते हैं कि परन्तु तब यह चेतनेवाला है किसका ? तुम कहते हो कि आत्मा आत्मा का है। यह पर के त्याग का करनेवाला भी नहीं, तो यह आत्मा आत्मा का है, किस आत्मा का यह आत्मा है ? है ?

चेतयिता से भिन्न ऐसा दूसरा कौन सा चेतयिता है कि जिसका (यह) चेतयिता है? (इस) चेतयिता से भिन्न अन्य कोई चेतयिता नहीं है,... यह तो व्यवहार के कथन हैं। आहाहा! आत्मा ने आत्मा का काम किया, ऐसा बोला जाता है। इससे आत्मा ने आत्मा का काम (किया), दूसरे कोई आत्मा का एक आत्मा ने किया, ऐसा कुछ नहीं है। आत्मा ने आत्मा का काम किया, तब एक आत्मा ने दूसरा आत्मा है, उसका किया ? यह तो भाषा व्यवहार है। आहाहा! गले उतरना बहुत कठिन। सुनना मिलता नहीं। जिन्दगी में सुनना पहला पहला मिला होगा। आहाहा! वीतराग का मार्ग....

अनन्त पदार्थ परमात्मा ने सिद्ध किये। सिद्ध किये अर्थात् जाने। अनन्त-अनन्त है तो अनन्त अनन्तरूप कब रहे ? कि प्रत्येक समय में वह पर्याय उस द्रव्य की उससे होती है, तब वह द्रव्य रहे। ऐसे अनन्त द्रव्य उनकी पर्याय करे तो रहे। एक पर्याय दूसरी पर्याय को करे, तब तो एक द्रव्य का नाश हुआ तो दूसरे द्रव्य का नाश हुआ तो सब का नाश हुआ। श्रद्धा में अनन्त द्रव्यों का नाश किया। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

किन्तु वे दो स्व... यह तो कहने की बात है। आत्मा आत्मा का है, चेतयिता चेतयिता का है, यह तो **दो स्व-स्वामिरूप अंश ही हैं।** वह कोई अलग चीज़ नहीं। सद्भूतव्यवहार से दो भेद किये हैं। **यहाँ स्व-स्वामिरूप अंशों के व्यवहार से क्या साध्य है?** आहाहा! आत्मा का, आत्मा का आत्मा है—ऐसा भेद पाड़कर साध्य क्या है ? तुझे परिणाम क्या लाना है ? साध्य में परिणाम क्या लाना है ? अच्छा परिणाम लाना है तो अच्छा परिणाम इसमें से आयेगा ? यह तो भेद है। आहाहा! ऐसी बात है।

कुछ भी साध्य नहीं है। आत्मा आत्मा का है, इसमें कुछ साध्य नहीं। यह तो एक

भेद से कथन है। आहाहा! **तब फिर अपोहक (त्याग करनेवाला) किसी का नहीं है,...** वह किसी का त्याग करनेवाला है ही नहीं। आहाहा! इसने किसी का त्याग किया, यह है ही नहीं। आहाहा! क्योंकि पर के त्याग के अभाव स्वभावस्वरूप तो स्वयं है। अब अभाव स्वभावस्वरूप है, वह पर के त्याग के भावरूप किस प्रकार हो? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म (पड़ता है)। फिर कहे कि सोनगढ़वाले निश्चय, अकेला निश्चय (कहते हैं)। व्यवहार से लाभ होता है। व्यवहार अजीव है, व्यवहार अजीव—राग है। वह अजीव है। राग जीव नहीं—राग में चैतन्य का-चैतन्य का अंश नहीं है। आहाहा! जितना व्यवहार है—दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, वह सब राग है, वह जड़ है। उसमें चेतन का अंश नहीं, इसलिए वह चेतन नहीं, इसलिए वह चेतन को लाभदायक नहीं। आहाहा! शान्तिभाई! यह सुना नहीं होगा वहाँ अन्यत्र वहाँ कहाँ सब गड़बड़ घोटाला किया है। आहाहा! सर्वत्र ऐसा है न। आहाहा! ऐसा उपदेश।

कहते हैं कि पर का त्याग करनेवाला मिथ्यादृष्टि है। अर र र! पर के त्यागस्वरूप है और उसके बदले त्याग करनेवाला कहना... आहाहा! तो दोनों का विच्छेद हो जाता है। स्वयं पर के त्याग स्वभावस्वरूप है, उसके बदले त्याग करनेवाला कहना तो अपना नाश हो जाता है और सामने का (पर का) त्याग (करे), उसकी जो वस्तु है, उसे यह त्याग कर सकता है, ऐसा है नहीं। वह स्वयं इसके त्याग से रहित ही है। जिसका त्याग करनेवाला है, वह त्याग करनेवाले से त्यागी चीज़ त्याग करनेवाले से स्वतन्त्र भिन्न है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

यह करना क्या इसमें? यह करना या यह करना? आहाहा! यह समझ करना, साथ में श्रद्धा करना; जैसा सत् है, वैसा उसे पहिचानना, यह करना नहीं है? पूरा बदलाव करना। आहाहा! अज्ञान का ज्ञान करना, मिथ्यात्व टालकर समकित करना, अचारित्र छोड़कर चारित्र (करना), यह वस्तु नहीं है? आहाहा! यह करना तो कुछ सूझता नहीं और यह विपरीत करने में होशियारी (मानता है)। आहाहा!

कुछ भी साध्य नहीं है। तब फिर अपोहक (त्याग करनेवाला) किसी का नहीं है, अपोहक अपोहक ही है... पर के त्याग स्वभाववाला, वह पर के त्याग स्वभाववाला ही है,

पर का त्याग करनेवाला है ही नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। **(इस प्रकार यहाँ यह बताया गया है कि – 'आत्मा परद्रव्य को त्यागता है'–यह व्यवहार कथन है;...** आहाहा! '**आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निज को ग्रहण करता है**'... आहाहा! यह व्यवहार है। ज्ञानदर्शनमय को ग्रहता है, (यह व्यवहार है)। आहाहा! वह तो ज्ञानदर्शनमय ही है। वह ज्ञानदर्शनमय है, ज्ञानदर्शनमयरूप से उसकी पुष्टि है। आहाहा! वह ज्ञानदर्शनमय ऐसे स्वयं को ग्रहता है, ज्ञानदर्शन है, वह स्वयं को ग्रहता है। पर का त्याग नहीं करता परन्तु अपने को ग्रहता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा!

पर का त्याग करता तो नहीं, क्योंकि पर और स्व के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव के कारण पर के त्याग के स्वभाव से अभाव स्वभाववाला तत्त्व है। उसे पर के त्याग स्वभाववाला मानना, वह तो तत्त्व का उच्छेद होता है। और तत्त्व का उच्छेद तो होता नहीं। एक तत्त्व दूसरेरूप होता नहीं, यह तो पहले कह गये हैं, तो तेरी मान्यता में अन्तर है, वस्तु भेद नहीं। आहाहा! एक तत्त्व दूसरे तत्त्वरूप नहीं होता। तेरी मान्यता झूठी है। मैंने इसका त्याग किया, मैंने इसका यह छोड़ा और मैंने इसका यह छोड़ा। आहाहा!

'**आत्मा ज्ञानदर्शनमय ऐसा निज को ग्रहण करता है**'... देखा? पर को त्यागता है, यह तो नहीं परन्तु अब स्वयं अपने को ग्रहता है। आहाहा! वह परद्रव्य को छोड़ता है, यह तो नहीं, **निज को ग्रहण करता है'–ऐसा कहने में भी स्व–स्वामिअंशरूप व्यवहार है;...** स्वयं अपने को ग्रहता है। दो भाग पड़ गये। आहाहा! '**अपोहक अपोहक ही है**'... आहाहा! वह पर के त्याग के अभाव स्वभाव से है, इस प्रकार से ही है। आहाहा! पर का त्याग भी करता नहीं और स्व को ग्रहण भी करता नहीं। आहाहा! पर को छोड़ता भी नहीं और स्व को ग्रहता नहीं। स्वयं है, वह है। जाननेवाला-देखनेवाला और पर के त्याग के अभावस्वभावी है, वह है। इसमें और यह ग्रहण करना और छोड़ना उसमें कहाँ से आया? है वह? वस्तु स्वरूप से है। पर के त्याग के स्वभाव के अभावस्वरूप वह तो वस्तु स्वयं है। अब इसमें स्व को ग्रहता है, यह भी व्यवहार कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बातें।

कहीं निवृत्ति नहीं मिलती, दो घड़ी, चार घड़ी निवृत्ति नहीं होती और ऐसी बातें। मार्ग लेना पड़ेगा, भाई! ऐसा काल आया, मनुष्यपना आया और चला जाएगा। ऐसी गिनती

ऐसे लगती है कि अभी देरी है, देरी है। परन्तु समय आने में देरी नहीं लगेगी। आहाहा! पाँच, दस, पन्द्रह, बीस, पच्चीस वर्ष की गिनती क्या? समय-समय चला जाता है। पच्चीस वर्ष की गिनती क्या? आहाहा! भगवान अनादि-अनन्त है, उसमें पाँच, पच्चीस वर्ष की गिनती क्या? आहाहा! उसे काल लागू नहीं पड़ता कि यह आत्मा कितने काल का है। आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आहाहा!

मनुष्य देह में लाख वर्ष इतना रहा, इसलिए लाख वर्ष की इसकी उम्र थी? वह तो देह की उम्र थी, देह में रहने के आत्मा की योग्यता का काल था पर्याय में। द्रव्य का स्वभाव भी नहीं। आहाहा! यह क्या कहा? आत्मा आयुष्य के कारण शरीर में रहा, यह बात भी सच्ची नहीं है। आयुष्य कर्म अलग चीज़ है, आत्मा अलग है। अब आत्मा अपनी योग्यता से शरीर में रहा, यह भी व्यवहार है। आहाहा! आत्मा अपने में है। आहाहा! वह शरीर में भी रहा नहीं और कर्म को स्पर्शा नहीं। आहाहा! यह आत्मा अपने गुण को ग्रहण करता है, ऐसा कहने में भी स्व-स्वामी अंश (रूप) व्यवहार हुआ। दो भेद पड़ गये न? ज्ञानदर्शनमय को ग्रहता है, ग्रहता है। यह अंश हुआ और अंशी हुआ। '**अपोहक अपोहक ही है'-यह निश्चय है।)** विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१३, गाथा-३५६ से ३६५ बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५
दिनाङ्क - १८-०६-१९८०

समयसार। आज ज्ञान पंचमी है। आज षट्खण्डागम लिखे गये, उसकी यह ज्ञान पंचमी है। अंकलेश्वर में बहुत ताड़पत्र हैं। ताड़पत्र के वृक्ष बहुत, देखे हैं, हम वहाँ गये थे। तब इस ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी को इन ताड़पत्रों पर शास्त्र—षट्खण्डागम लिखे, उसकी यह ज्ञान पंचमी है। गाँव है न? कैसा गाँव? 'सजोद'। प्राचीन दो हजार वर्ष पहले की प्रतिमा नीचे भोंयरा में है। वहाँ दो बार गये थे और साथ में पूरे ताड़पत्र के वृक्ष का जंगल। ताड़पत्र (बहुत), इसलिए वहाँ ताड़पत्र पर लिखते हैं। यह ज्ञान पंचमी।

अपने यहाँ अब अधिकार। निश्चय का अधिकार पूरा हुआ कि ज्ञान ज्ञान को जानता है—ऐसा कहना वह भी सद्भूतव्यवहार है। पर को जानता है—ऐसा कहना तो असद्भूतव्यवहार है। अब उस ज्ञान की, दर्शन की, अपोहक की निश्चय की बात की। ऐसे **अब व्यवहार का विवेचन किया जाता है–**

जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली यही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई... दीवार आदि के स्वभाव से नहीं परिणमती। आहाहा! दीवार आदि परद्रव्य के स्वभाव से कलई नहीं परिणमति। कलई तो अपने स्वभाव से परिणमति है। आहाहा! **और दीवार-आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न करती हुई,...** दीवार को सफेद नहीं करती। आहाहा! सफेदी तो सफेदी में है, दीवार दीवार में है। एक-दूसरे को निमित्त कहा जाता है, अरस-परस निमित्त (कहा जाता है)। परन्तु निमित्त से ऐसा नहीं होता कि, निमित्त था इसलिए यह हुआ, ऐसा नहीं है। यह इसमें अन्दर बड़ा विवाद है।

दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं... देखा? यह सफेद होने में दीवार आदि चीज़ जिसे सफेद की, वह निमित्त है, परन्तु निमित्त को वह स्पर्श नहीं करती। आहाहा! दीवार को कलई स्पर्श नहीं करती। कलई कलई में रहकर कलई की सफेदी दिखाती है। मात्र कलई में दीवार का निमित्तपना है और दीवार को कलई का निमित्तपना है। निमित्तपना है, इससे एक-दूसरे को परिणमति या परिणमाते हैं, ऐसा नहीं है। निमित्त है परन्तु निमित्त

से, दीवार के निमित्त से कलई सफेदी करती है और दीवार कलई से सफेद होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

पाठ तो ऐसा है—**दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं...** किसे? कलई को। कलई ऐसे सफेद करती है, उसमें दीवार तो निमित्त है, उपादान तो स्वयं का है। सफेदी स्वयं अपने से ही सफेद परिणमती है, दीवार के कारण नहीं। दीवार को सफेदता छूती नहीं। आहाहा! इसलिए कहा **दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं...** किसे? सफेद, सफेद को। सफेद चीज़ है, वह स्वयं अपने में रही है, उसे दीवार आदि निमित्त कहे जाते हैं परन्तु इससे उनके कारण यहाँ सफेदी है, ऐसा है नहीं।

ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा... आहाहा! कौन? **दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं...** कलई को। **ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है...** आहाहा! दीवार को कलई निमित्त है। कलई को दीवार निमित्त है और दीवार को कलई निमित्त है। आहाहा! यह व्यवहार स्थापित करते हैं। निमित्त है अर्थात् व्यवहार से होता है, ऐसा नहीं है। दीवार सफेद होती है, ऐसा नहीं है, तथा सफेद जो कलई दीवाररूप होती है, ऐसा नहीं है। दोनों चीज़ें भिन्न-भिन्न अपने परिणाम से परिणम रही है, तब एक-दूसरे को निमित्त-निमित्त कहा जाता है। निमित्त कहा; इसलिए उसके कारण हुआ है—ऐसा नहीं। आहाहा! अब ऐसी बात।

दीवार को सफेदी, श्वेत-सफेद नहीं करती। आहाहा! मात्र दीवार को सफेदी निमित्त है। आहाहा! परन्तु वह दीवार को सफेद नहीं करती। तथा सफेद होने में दीवार कारण नहीं है, दीवार तो निमित्त है। सफेदी सफेदी तो स्वयं के कारण से वहाँ होती है। आहाहा! ऐसी बातें!

कोई भी द्रव्य... यह महा सिद्धान्त तीसरी गाथा (में कहा कि) अपने द्रव्य, गुण, पर्याय को स्पर्श करता है। परन्तु दूसरे के किसी भी द्रव्य, गुण, पर्याय को; द्रव्य-गुण तो ध्रुव है उन्हें तो स्पर्श नहीं करता परन्तु एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य की पर्याय को स्पर्शती और छूती नहीं। आहाहा! अब ऐसी बात गले उतारना।

दीवार को कलई सफेद नहीं करती। आहाहा! सफेदी तो सफेदरूप से, अपनेरूप से सफेद होती है। उसका अस्तित्व सफेदी में है, उसका अस्तित्व दीवार में नहीं। दीवार तो उसे निमित्त कही जाती है। आहाहा! निमित्त कही जाती है, इसलिए दीवार के कारण सफेद हुई है अथवा दीवार सफेद होती है, दीवार के कारण सफेदी हुई है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि सफेद तो स्वयं का स्वभाव है और दीवार को सफेद की है, ऐसा भी नहीं है। दीवार को तो कलई निमित्त है। कलई को दीवार निमित्त है और दीवार को कलई निमित्त है। निमित्त होने पर भी (एक-दूसरे का कुछ नहीं करते)। यह तो व्यवहार सिद्ध करते हैं न? निमित्त है, परन्तु वह निमित्त एक-दूसरे को जरा कुछ करते हैं, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! कठिन बात है।

करवत लकड़ी को काटती है, यह बात मिथ्या है। करवत को लकड़ी निमित्त है और लकड़ी को करवत निमित्त है, उपादान नहीं। इस लकड़ी के टुकड़े होते हैं, वे अपनी योग्यता से कहाँ होते हैं। वहाँ करवत तो निमित्त है। निमित्त है, उसमें वह उपादान उसका है और उसका उपादान इसका है, इसमें वह चीज़ निमित्त कहलाती है। एक-दूसरे को निमित्त कहने पर भी एक-दूसरे से कटते हैं या छिदते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! साधारण लोगों को ऐसी बात पागल जैसी लगती है। आहाहा!

दीवार आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं... किसे? कलई को। **ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है...** दीवार को निमित्त है। निमित्त है अर्थात् उसके कारण दीवार सफेद हुई है, ऐसा नहीं है। निमित्त है, इसका अर्थ यह कि कलई कलई में है, दीवार दीवार में है। दीवार में कलई की नास्ति है, कलई में दीवार की नास्ति है। आहाहा! ऐसी बात है।

शीशपेन को ऐसे चाकू शीशपेन करता है ऐसे, तो कहते हैं चाकू मात्र शीशपेन को निमित्त है। चाकू शीशपेन स्पर्शा नहीं है। चाकू चाकू में रहकर उसकी क्रिया जो होती है, उसमें इसे निमित्त कहा जाता है। शीशपेन की जो ऐसी अणी (नोंक) होती है, वह स्वयं के कारण से होती है, वह चाकू के कारण नहीं। चाकू जिसे निमित्त है, तथापि उस निमित्त के कारण वह होती है, अन्दर यह नहीं है। आहाहा! और चाकू को वह निमित्त है,

कटनेवाली चीज़, वह भी निमित्त है। निमित्त होने पर भी कटने में वह जो कटी चीज़ आयी नहीं। जिसने काटा है, उसमें वह कटी चीज़ आयी नहीं। आहाहा! ऐसी बातें कहाँ (सुनने को मिले)? पागल मनुष्य गिने ऐसी बातें हैं।

स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार आदि परद्रव्य को, अपने (कलई के) स्वभाव से श्वेत करती है–ऐसा व्यवहार किया जाता है;... कलई दीवार को निमित्त है और दीवार कलई को निमित्त है। इससे वह उस दीवार को कलई सफेद करती है, ऐसा निमित्त का व्यवहार किया जाता है। वस्तु ऐसी है नहीं, वस्तु ऐसी है नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

इसी प्रकार... यह दृष्टान्त हुआ, **इसी प्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला चेतयिता भी,...** जैसे श्वेतगुण से भरपूर कलई थी, वैसे ज्ञानगुण से भरपूर स्वभाववाला चेतयिता अर्थात् आत्मा भी **स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ...** जिसे वह जानता है, उसरूप नहीं परिणमता। इस शास्त्र को ज्ञान जानता है, तथापि ज्ञान शास्त्ररूप नहीं परिणमता। आहाहा! यह तो अभी व्यवहार स्थापित करते हैं, हों! एक-दूसरे को निमित्त है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। बाकी एक-दूसरे को कुछ करे और स्पर्श करे, यह तो है ही नहीं। आहाहा!

चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ... जाननेवाला आत्मा परद्रव्य को जाने। उस परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! है? पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं होता, नहीं परिणमता अर्थात् नहीं होता। **पुद्गलादि परद्रव्य को (अपने) स्वभावरूप नहीं परिणमाता हुआ...** जिसे यह जानता है, उसे अपनेरूप नहीं परिणमता। आहाहा! ज्ञान जिसे जानता है—इस शास्त्र को, तो ज्ञान उसे—शास्त्र को परिणमाता नहीं है। आहाहा! और ज्ञान होने में यह शास्त्र निमित्त है, तो निमित्त है, वह ज्ञान को नहीं करता। आहाहा! ज्ञान, ज्ञान से होता है; शास्त्र, शास्त्र से रहा है। आहाहा! इसकी पर्याय को ज्ञानपर्याय करे नहीं और ज्ञानपर्याय को उसकी पर्याय करे नहीं। आहाहा!

पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ... आत्मा, **और पुद्गलादि**

परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ,... स्वयं पररूप नहीं परिणमता और पर को अपनेरूप नहीं परिणमाता। आहाहा! जाननेवाला ज्ञात होनेयोग्यरूप नहीं परिणमता और ज्ञात होनेयोग्य वस्तु को अपनेरूप नहीं परिणमाता। आहाहा! यह शास्त्र को जानता है तो ज्ञान उसे अक्षरादि अवस्था को नहीं परिणमाता और वे अक्षरादि अवस्था ज्ञान को नहीं परिणमाती। ज्ञान उन्हें नहीं परिणमाता, वह अक्षर लिखते हैं, वहाँ लिखने की पर्याय को ज्ञान नहीं करता। आहाहा! इस प्रकार की बात! अब पूरे दिन धमाल...

मुम्बई जैसे में तो बड़े पचास-पचास मण के बर्फ की... क्या कहलाती है वह ? बड़ी शिला। पचास-पचास मण की शिला ऐसी। ऐ..ई..! ट्रक में जाती हो और धमाल धमाल। एक तो बाजार ऐसा है कि अकेला बाजार ही भरा हो। सब चारों ओर रुई के गोदाम भरे हुए हैं, भरे हुए हैं। पूरा बाजार। आहाहा! यह सब मजदूर उतारते हों, अब यहाँ कहते हैं कि मजदूर उसे उतारने में निमित्त है। उसे उतार नहीं सकता। आहाहा! तथा वह उतरता है, इसलिए यहाँ जानने का होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! क्या कहलाता है वह ? भरी हुई थैली। कोथली पूरी को क्या कहा जाता है ? चावल भरे हो उसे ? बोरी, बोरी नहीं। अपनी भाषा में गुणी है न गुणी ? बोरी, बोरी। उस बोरी को चावल ने छुआ नहीं है। चावल रहने में बोरी निमित्त है और निमित्त को (-बोरी को) चावल निमित्त है। परन्तु चावल बोरी के कारण रहे हैं और चावल के कारण बोरी रही है, ऐसा नहीं है। शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : चावल रखना कहाँ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें है सब। प्रत्येक रजकण अपनी... वस्तु है, ऐसा कहा न ? जिसका जो हो, वह वही होता है। तो जो वस्तु जिसकी है पर्याय, वह उसकी होती है। वह पर्याय दूसरे की हो, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! शक्कर मुँह में पड़ती है, वह शक्कर पिघलती है, वह कहीं थूक के कारण नहीं, दाढ़ के कारण नहीं। वह पिघलती है, यह उसमें वह निमित्त कहलाता है और उसे यह शक्कर निमित्त कहलाती है। निमित्त कहने से व्यवहार कहलाता है परन्तु एक-दूसरे को कुछ करते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! पताशा ऐसे मुँह में एकदम चूरा करे, गन्ने का लो न, गन्ना। शेरडी को क्या कहते हैं ? गन्ना। कहते हैं कि उसमें मुँह गन्ने में निमित्त है। उस गन्ने की पर्याय को वह करता नहीं। वह छिलका

उतारता नहीं, छाल उतारता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : गन्ने का रस मुँह में आता है, उसका क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उसे स्पर्श नहीं करता। गन्ने का रस रस के कारण में रहा। रस को मुँह निमित्त कहलाता है, मुँह को रस निमित्त कहलाता है। परन्तु मुँहरूप रस परिणमता नहीं, रस मुँहरूप परिणमता नहीं। सब अपनी-अपनी पर्यायरूप एक समय में साथ में परिणमते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : बाजार में बात करें तो पागल कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल ही कहे। उसमें मुम्बई जैसी मोहनगरी। धमाल धमाल। पहली बीच में अपने एक बाजार नहीं आता? बीच में एक आता था। मात्र माल भरा हुआ। आहाहा! मोटर का रास्ता मुश्किल से हो।

मुमुक्षु : झवेरी बाजार में...

पूज्य गुरुदेवश्री : उस बाजार में बहुत माल सब भरा हुआ। रुई और गद्दे और तकिये और अमुक और अमुक और, ओहोहो! और मजदूर पूरे दिन ऐसे उतारे और ऐसे चढ़ावे, ऐसे मानो कि क्या हम करते हैं। आहाहा!

शरीर के रजकणों को हवा स्पर्श नहीं करती। गर्मी के रजकण शरीर को स्पर्श नहीं करते। गर्मी के रजकणों को शरीर निमित्त कहलाता है और शरीर को गर्मी के रजकण निमित्त कहलाते हैं। परन्तु गर्मी के परमाणुओं के कारण शरीर में गर्मी होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पागल जैसी बातें हैं।

मुमुक्षु : यह बात बैठाना पड़ेगी न?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें यह कहते हैं। एक-दूसरे को निमित्त भले कहो परन्तु एक-दूसरे, एक-दूसरे को कुछ करते नहीं। स्पर्श नहीं करते, परिणमाते नहीं, परिणमते नहीं। दूसरे को परिणमाते नहीं, स्वयं उसरूप परिणमते नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

इसी प्रकार ज्ञानगुण से परिपूर्ण... कहा न? **स्वभाववाला चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ...** उसे जानता है परन्तु उसे

परिणमाता नहीं और उससे परिणमता नहीं। इस शास्त्र के शब्दों से यहाँ ज्ञान परिणमता नहीं। यह शास्त्र के शब्द हैं, उनसे यह ज्ञान परिणमता नहीं और यह ज्ञान शब्दों को परिणमाता नहीं। ज्ञान में इन्हें निमित्त कहा जाता है और इन्हें ज्ञान निमित्त कहा जाता है। इतना व्यवहार कहा जाता है, कहा जाता है इतना। आहाहा! ऐसी बात है।

अपने ज्ञानगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ,... जाननेवाला, जिसे निमित्त है, जो ज्ञात होता है, उसे निमित्त है। आहाहा! यह पुस्तक ज्ञात होती है, इसे जाननेवाला निमित्त है। **ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से जानता है...** इसके परिणाम को, इसकी अवस्था को जानता है। परन्तु इसकी अवस्था को यह ज्ञान करता नहीं और उस अवस्था से यहाँ ज्ञान होता नहीं। आहाहा! शास्त्र के शब्दों से ज्ञान नहीं होता और ज्ञान होता है, इसलिए शास्त्र के शब्दों को परिणमित होना पड़ता है, ऐसा नहीं है। शास्त्र, शास्त्र से परिणमता है; ज्ञान, ज्ञान से परिणमता है। एक-दूसरे को निमित्त कहने में आता है, इतना व्यवहार है।

मुमुक्षु : मात्र कहने जितना निमित्त न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मात्र कहने जितना। आहाहा! इतना जगत में व्यवहार कहनेमात्र है। आहाहा! यह कपड़ा है, लो न। इस कपड़े को शरीर स्पर्शा नहीं, शरीर को कपड़ा स्पर्शा नहीं। कपड़ा शरीर को परिणमाता नहीं, स्वयं परिणमता हुआ शरीर को परिणमाता नहीं और शरीर परिणमता हुआ कपड़े को परिणमाता नहीं।

मुमुक्षु : कपड़ा है, इसलिए आपका शरीर दिखता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात मिथ्या है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। यह चीज़ दूसरी है, यह चीज़ दूसरी है। यह चीज़ इसे स्पर्श नहीं करती परन्तु यह सफेदरूप परिणमती हुई इसे निमित्त कहने में आती है और यह जो इसरूप रहती है, उसे कपड़े का निमित्तपना कहने में आता है। परन्तु कपड़ा कपड़ेरूप परिणमता है, कपड़ा शरीर को परिणमाता नहीं, शरीर कपड़े को परिणमाता नहीं। आहाहा! ऐसा गले उतरना।

मुमुक्षु : कपड़ा शरीर को ढँकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ढँकता नहीं। कपड़ा कपड़े में है और शरीर शरीर में है। आहाहा! ऐसी बातें है, भाई!

अपने (चेतयिता के) स्वभाव से जानता है... उसके ज्ञान में इस चीज़ को निमित्त कहा जाता है और अपने स्वभाव से उसे जाने, **ऐसा व्यवहार किया जाता है।** अपने स्वभाव से उसे जाने, यह व्यवहार है। स्वयं ही अपने को जाने, यह भी अभी व्यवहार है। ज्ञायक, ज्ञायक है, यह निश्चय है। आहाहा! ऐसी बातें! वे पण्डित चर्चे तो खबर पड़े। निमित्त से होता है, निमित्त से होता है। वे विद्यानन्दजी कहते हैं, वीतराग की वाणी है, वह निमित्त है और उससे ज्ञान होता है। (ऐसा) न माने वह मिथ्यात्व है। यहाँ कहते हैं कि वह वीतराग की वाणी सुननेवाले को स्पर्श नहीं करती। सुननेवाले को परिणमाती नहीं। सुननेवाला उस वाणी को परिणमाता नहीं। वाणी को सुननेवाला निमित्त कहलाता है और सुननेवाले को वह वाणी निमित्त कहलाती है। आहाहा! सुनने पर भी निमित्त से वहाँ जरा ज्ञान हुआ है, यह बात एकदम मिथ्या है। देवीलालजी! तब फिर सुनना नहीं न? ऐसा कहे। परन्तु इस सुनने के कारण से सुनने की पर्याय हो और ज्ञान के काल में ज्ञान की पर्याय हो। एक-दूसरे को निमित्त कहलाये परन्तु एक-दूसरे को परिणमाते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, दामोदरभाई! कभी ऐसा सुना था? तुम्हारे रंग और यह सब करते हैं न? योगेश पूरे दिन वहाँ बैठता है। आहाहा!

(जिस प्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है)... क्या व्यवहार कहा? कि ज्ञान स्वयं से होता है, सामने की चीज़ उसे निमित्त कही जाती है परन्तु वह निमित्त उसे-ज्ञान को परिणमाता नहीं और ज्ञान निमित्त को परिणमाता नहीं। तब तो निमित्त कहलाता है। परिणमावे और उससे परिणमे तो निमित्त नहीं, वह तो उपादान हो गया। आहाहा! ऐसी बातें सुनने को भी नहीं मिलती, ऐसी बात है।

और (जिस प्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है), इसी प्रकार दर्शनगुण का व्यवहार कहा जाता है-जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई,... पररूप नहीं परिणमती और पर को नहीं

परिणमाती। कोई भी द्रव्य पररूप नहीं परिणमता और पररूप स्वयं नहीं परिणमता। कोई भी द्रव्य परद्रव्य को परिणमाता नहीं और परद्रव्य से स्वयं परिणमता नहीं, ऐसा त्रिकाल सिद्धान्त है। आहाहा! इसका दृष्टान्त फिर चाहे जैसा दृष्टान्त दे। जिस-जिस समय में, जो-जो दर्शन होता है। यह अभी दर्शन की बात है।

जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, कलई दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार आदि परद्रव्य को अपने (कलई) स्वभाव से श्वेत करती है-ऐसा व्यवहार किया जाता है;... आहाहा!

इसी प्रकार... यह तो दृष्टान्त कहा। अभी बैठे है, हो। सो रहे होंगे, ठीक नहीं। आहाहा! घड़ीक में बदल जाता है, लो! ऐसा था और ऐसा हो गया, तब हमने वहाँ देखा था, मैंने कहा, ऐसा कैसे हो गया? एकदम ऐसा हो गया। वहाँ तो लोगों को खबर पड़ी तो उठे। आहाहा! जिस समय में जिस द्रव्य की जो पर्याय स्वयं से परिणमने की है, वह परिणमेगी, निमित्त से परिणमेगी नहीं। निमित्त को परिणमायेगी नहीं, निमित्त को लायेगी नहीं। आहाहा! निमित्त को लायेगी नहीं। आहाहा! और निमित्त से परिणमेगी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सब्जी को अच्छा करने के लिये चाकू (चाहिए न)।

पूज्य गुरुदेवश्री : ये चाकू-बाकू सब व्यर्थ। सब्जी को जब मोणवु है, वह उसकी पर्याय स्वयं से होती है, तब चाकू को निमित्त कहा जाता है और चाकू को वह सब्जी निमित्त कही जाती है। सब्जी को चाकू निमित्त कहा जाता है, चाकू को सब्जी निमित्त कही जाती है। सब्जी निमित्त कही जाती है, इसलिए चाकू सब्जी को लाया है? सब्जी चाकू को लायी है? चाकू ने सब्जी के टुकड़े किये हैं? आहाहा! प्रत्येक द्रव्य एक समय में अपनी पर्याय से परिणमती दूसरी चीज़—निमित्त उपस्थित हो, उस निमित्त से नहीं परिणमती और निमित्त को भी नहीं परिणमाती, ऐसी चीज़ टिक रही है। आहाहा! अब

इसमें बनिये को व्यापार और धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, और उसमें ऐसी बातें। आहाहा!

मुमुक्षु : महाराज तो ऐसा कहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सुनते हैं न! आहाहा! नास्तिकों में ऐसी बातें करने लगे तो नास्तिक ही कहे। आहाहा! इस लकड़ी को अँगुली स्पर्श नहीं करती। इस लकड़ी को अँगुली निमित्त है, निमित्त को यह लकड़ी निमित्त है। लकड़ी निमित्त को परिणमाति नहीं। लकड़ी निमित्त को अर्थात् अँगुली को परिणमाति नहीं, तथा अँगुली लकड़ी को ऐसे ऊँची-नीचे करके परिणमाति नहीं। आहाहा! सब अपने-अपने कारण से पर्याय परिणमति है और वह भी उस समय में परिणमने का क्रमबद्ध (काल है)। उल्टा-सीधा नहीं। जिस समय में जो पर्याय जिस द्रव्य की होनेवाली है, उस समय में वही स्वयं से स्वयं को होती है। भले सामने को निमित्त कहा जाए और इसे यह निमित्त कहा जाए। यह तो व्यवहार से कथन है परन्तु एक-दूसरे से कुछ होता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : नौकर रखना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन रखे? नौकर है कहाँ? नौकर ही है कहाँ? सब द्रव्य ही है। सब द्रव्य है। आत्मा अन्य द्रव्य है, परमाणु अन्य द्रव्य है। उसमें यह परमाणु आत्मा को परिणमा नहीं सकता। ज्ञान परमाणु को परिणमा-बदला नहीं सकता। तब तो एक-दूसरे को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! एक-दूसरे को परिणमा सके तो निमित्त कहाँ रहा? तो वह चीज़ परिणमति नहीं थी और इसने परिणमाया तो वह चीज़ परिणमे बिना की थी? परिणमे बिना की वह कोई चीज़ रहती होगी कभी कि दूसरी चीज़ उसे परिणमावे? निमित्त कहो, निमित्त कहो, वह तो ज्ञान करने के लिये, दूसरी चीज़ है इतना जानने के लिये। परन्तु उससे वहाँ निमित्त आया इसलिए यहाँ हुआ (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : वकील ने दलील की तो फैसला हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल मिथ्या बात है। वकील का फैसला फैसले की पर्याय में रहा। फैसला हुआ है, वह उससे हुआ है। फैसलेवाले ने वहाँ परिणमाया नहीं और उसे यह लाया नहीं कि हमारे फैसला होता है, इसलिए तू यहाँ आना। आहाहा! ऐसी बात है।

दुनिया पागल कहे। तत्त्व ऐसा है। तत्त्व की खबर बिना सब थोथे हैं। यह सामायिक करे और प्रौषध करे और प्रतिक्रमण करे ... यह चार गति में गहरे-गहरे जाकर डूब मरनेवाले हैं। आहाहा!

जिस द्रव्य का जो स्वरूप, जिस समय में, जिस काल में हो, उसे निमित्त दूसरी चीज़ पलटा सके या आगे-पीछे पर्याय कर सके, यह तीन काल में नहीं है। तथा निमित्त को, वह चीज़ है, वह निमित्त को ला सके, खराब निमित्त छोड़कर अच्छा निमित्त ला सके, तब तो इसने उसे परिणमाया कहलाये। यह तीन काल में परिणमता नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है। यह शास्त्र में आता है, तब तो बात कही जाती है या नहीं? ऊपर-ऊपर से तो ऐसे करो, ऐसे करो, ज्ञान करो, श्रद्धा करो, चारित्र करो, यह करो परन्तु करना क्या? करे किस प्रकार? हो किस प्रकार? कोई दूसरे की सहायता से होगा? दूसरा सहारा दे तो होगा? दूसरा होवे तो होगा या स्वयं स्वतन्त्र होगा? आहाहा! गजब बात भाई!

मुमुक्षु : ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किसके कारण से बनता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सहज बनता है। होता है। आत्मा गति करे, (तब) धर्मास्तिकाय निमित्त कहलाता है। कहीं धर्मास्तिकाय ने उसे गति करायी है, ऐसा नहीं है तथा गति करनेवाले ने धर्मास्तिकाय को परिणमाया है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन बात।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१४, गाथा-३५६ से ३६५ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल ६
दिनाङ्क - १९-०६-१९८०

और (जिस प्रकार ज्ञानगुण का व्यवहार कहा है)... थोड़ा चला है। फिर बन्द रहा न? **इसी प्रकार दर्शनगुण का व्यवहार कहा जाता है-जिस प्रकार श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई, स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई...** आहाहा! दीवाररूप कलई नहीं परिणमती। आहाहा! वह किसे सफेद करे? सफेद सफेद स्वयं अपने को करे। **परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई...** रंग देती है, सफेद रंग। यह कहते हैं कि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमता रंग **और दीवार आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई,...** कलई, कलई स्वयं पर से नहीं परिणमती और पर को नहीं परिणमाती। **दीवार-आदि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं...** निमित्त अर्थात् वस्तु, बस! दीवार को सफेद करती है और दीवार के कारण सफेद होती है, (ऐसा नहीं है)। दीवार को सफेद करती है, ऐसा नहीं है और दीवार के कारण सफेद है, ऐसा नहीं है। सफेद सफेद के कारण है, उसे दीवार निमित्त कहने में आती है। आहाहा!

ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है... दीवार आदि को, **ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होनेवाले दीवार आदि परद्रव्य को अपने (कलई) स्वभाव से श्वेत करती है...** परद्रव्य को कलई सफेद करती है। वह रंग पर को चढ़ता है, रंग वस्त्र को देते हैं। आहाहा! कलई थाली को देते हैं, कलई। यह सब व्यवहार कथन है। कलई स्वयं ही उस प्रकार परिणमती है, उसमें थाली या कटोरी के अस्तित्व का अंश नहीं है। तथा वह कलई स्वयं परिणमती दूसरे को परिणमाती है, दूसरे को सफेद करती है—ऐसा नहीं है। आहाहा! **ऐसा व्यवहार किया जाता है;... परद्रव्य को अपने (कलई) स्वभाव से श्वेत करती है-ऐसा व्यवहार किया जाता है;...** क्योंकि कलई दीवार (सफेद) होने में निमित्त है। आहाहा! इसलिए उसे व्यवहार से ऐसा कहा जाता है (कि) कलई ने दीवार को सफेद किया। आहाहा!

इसी प्रकार दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला... आत्मा दर्शनगुण से भरपूर

स्वभाववाला आत्मा भी **स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ...** देखते समय भी, परद्रव्य को देखने के काल में भी परद्रव्यरूप से नहीं परिणमता। आहाहा! है ? **परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होता हुआ...** पर को देखने के काल में भी। आहाहा! शरीर को आत्मा देखने के काल में भी ज्ञान शरीररूप नहीं परिणमता। आहाहा! **दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला...** दूसरे को नहीं परिणमाता हुआ **और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ,...** स्वयं पररूप नहीं होता और पर को अपनेरूप नहीं परिणमाता। मात्र निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से कहा जाता है। यह बात एकदम मिथ्या है। निमित्त-निमित्त से कथन है। एक सफेद इसमें की है और दीवार सफेद होती है। रंग से कपड़ा रंगता है और कपड़ा रंगवाला होता है, यह तो व्यवहारमात्र कथन है। आहाहा! रंग कपड़े को स्पर्श नहीं करता, कपड़ा रंग को स्पर्श नहीं करता। रंग कपड़े द्वारा परिणमता नहीं, कपड़ा रंगरूप परिणमता नहीं और कपड़े को रंग किया, ऐसा व्यवहार कहने में आता है। आहाहा!

पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ, दर्शनगुण। **पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं...** पर जो देखता है, वह दर्शन को निमित्त कहने में आता है। दर्शन जिसे देखता है, उस चीज़ को दर्शन में निमित्त कहा जाता है, तथापि वह दर्शन निमित्तरूप परिणमता नहीं और उसे निमित्तरूप स्वयं है तो उसे भी परिणमाता नहीं। आहाहा! दीवार को सफेद निमित्त है, सफेद को दीवार निमित्त है, तो भी सफेद दीवाररूप नहीं होती और दीवार को सफेदरूप नहीं करती। आहाहा! पूरे दिन यह हो...

अपने दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता... (दर्शनगुण से) भरपूर स्वभाव के परिणाम द्वारा उपजता द्वारा चेतयिता अपने दर्शनगुण से परिणमता है। अपने दर्शनगुण से परिणमता है। दीवार को-जिसे देखता है, उसरूप परिणमता नहीं। दर्शनगुण जिस चीज़ को देखता है, उस चीज़रूप दर्शनगुण नहीं होता। तथा वह चीज़ दर्शनगुणरूप नहीं होती। जिसे देखता है, उसे दर्शनरूप नहीं होता, जिसे देखता है, वह दर्शनरूप नहीं होता। जिसे देखता है, वह दर्शनरूप नहीं होता। आहाहा! मात्र निमित्त-निमित्त व्यवहार कहने में आता है। वहाँ चिपकते हैं। निमित्त है या नहीं ? निमित्त।

परन्तु निमित्त उसे करे क्या?

रंग कपड़े को स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! कपड़े को रंग दिया जाए। दूसरी किसी चीज़ में धोते हैं। राणपुर में देखा था। राणपुर मन्दिर के सामने है न? वह रंग चढ़ाने से पहले कपड़े को कुछ दूसरा चढ़ाते हैं, फिर रंग छूता है; नहीं तो छूता भी नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहे, यों भी स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

चेतयिता जिसको निमित्त है... दर्शनगुण, देखे, उसे निमित्त है। **ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए...** देखनेवाली चीज़—जो दिखता है, वह अपने स्वभावरूप परिणमती चीज़। आहाहा! **पुद्गलादि परद्रव्य को अपने (चेतयिता के) स्वभाव से देखता है...** वह परद्रव्य परिणमति चीज़ और श्वेत परिणमति चीज़ या दर्शन दिखनेवाली चीज़, वह दर्शन उसे देखे, इसलिए उस रूप पर को परिणमावे, ऐसा नहीं है। तथा दर्शन को वह निमित्त है, इसलिए दर्शन दीवाररूप परिणमे या पर देखे, उसरूप परिणमे, ऐसा नहीं है। आहाहा! व्यवहारी लोगों का व्यवहार उड़ जाता है। आहाहा!

अपने (चेतयिता के) स्वभाव से देखता है अथवा श्रद्धा करता है... देव-गुरु और पंच परमेष्ठी की जीव श्रद्धा करे तो वह श्रद्धा करता है, वह श्रद्धागुण पंच परमेष्ठी और पंच परमेष्ठीरूप नहीं होता तथा पंच परमेष्ठी श्रद्धागुणरूप नहीं होते। आहाहा! दोनों भिन्न-भिन्न चीज़ हैं। एक-दूसरे को निमित्त कहना, यह व्यवहार है। निमित्त से भी होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पंच परमेश्वर प्रभु की भक्ति करना, मानना, इस मान्यता को वे निमित्त हैं परन्तु निमित्त होने पर भी वह मान्यता निमित्तरूप परिणमती नहीं। मान्यता मान्यतारूप परिणमती है और जिसकी मान्यता करता है, उस निमित्तरूप परिणमती नहीं, श्रद्धारूप परिणमती नहीं। वह तो अपनेरूप परिणमती है। आहाहा!

मुमुक्षु : घर में रोज काम करते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ करता नहीं। निमित्त-निमित्त से इसे व्यवहार भासता है। भासता है व्यवहार, उसे निश्चय मानता है। आहाहा! बर्तन को बाई माँजती नहीं। माँजने की क्रिया बर्तनरूप हुई नहीं और बर्तन माँजने क्रियारूप हुआ नहीं। माँजने की क्रिया को बर्तन निमित्त कहलाता है तथा बर्तन को माँजने की क्रिया निमित्त कहलाती है, तथापि

एक-दूसरे एक-दूसरेरूप नहीं होते। आहाहा! भारी काम। एक द्रव्य पूरा दूसरे द्रव्य को स्पर्श करता है, ऐसा मानता है। आहाहा!

इस एक शरीर का एक अवयव दूसरे अवयव को ऐसे स्पर्श करता है, वह यह उसका परिणमन परिणमते हुए इसके कारण यह परिणमता है, ऐसा नहीं है। यह तो मात्र यहाँ परिणमन में निमित्त कहलाता है और उसके परिणमन में यह निमित्त और इसके परिणमन में वह निमित्त। निमित्त अर्थात् कि कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! ऐसी बात है। और पूरे दिन अभिमान। आहाहा!

पुद्गलादि परद्रव्य को अपने (चेतयिता के) स्वभाव से देखता है... उसे अपने स्वभाव से देखता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! दर्शनगुण अपने स्वभाव से पर के आश्रय बिना पर को देखता है, वह अपने स्वभाव से देखता है, ऐसा कहना व्यवहार है। आहाहा! पर को देखता नहीं और स्वयं अपने को देखता है। आहाहा! क्योंकि जिसके अस्तित्व में दूसरे का अस्तित्व आता नहीं। आहाहा! जिसकी मौजूदगी में दूसरे गुण की, द्रव्य की अस्ति आती नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

वस्त्र धोने में डण्डा वस्त्र को स्पर्श नहीं करता, डण्डा वस्त्ररूप नहीं होता, इसी प्रकार वस्त्र डण्डेरूप नहीं होता। धोको समझ में आता है? डण्डा, डण्डा। आहाहा! डण्डा है, वह दूसरे को मारता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। तथापि डण्डा डण्डे के परिणमन में है और डण्डा जिसे मारते हैं, ऐसा दिखता है, वह उसके परिणमन में है। उसको डण्डा निमित्त कहलाता है और डण्डे को वह निमित्त कहलाता है। निमित्त कहलाता है अर्थात् कि निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। आहाहा! निमित्त कहलाता है अर्थात् निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। मात्र एक-दूसरे का निमित्त-निमित्त सम्बन्ध व्यवहार किया जाता है। आहाहा! पूरे दिन यह काम करे।

डिब्बे में घी भरा हुआ है, डिब्बे में या बरनी में, वह घी जो बाहर निकलता है, वह घी बाहर निकलता है, उसे हाथ स्पर्श नहीं करता। हाथ निमित्त कहलाता है और हाथ को घी बाहर निकले, वह निमित्त कहलाता है परन्तु एक-दूसरे को एक-दूसरे स्पर्श नहीं करते। एक-दूसरे को एक-दूसरे करते उस हाथ से घी निकलता नहीं। आहाहा! पत्नी-

पली से घी निकलता नहीं। आहाहा! बरनी में अचार है, आथणु समझे? अचार। वह हाथ से आम का अचार निकलता नहीं। आहाहा! देखनेवाला यह अचार है, ऐसा देखता है। उसे देखनेरूप देखनेवाला होता नहीं और दिखता है, वह चीज़ देखनेरूप होती नहीं। मात्र एक-दूसरे को निमित्त कहने में आता है। इतना व्यवहार किया जाता है, परन्तु वह व्यवहार सच्चा नहीं है। आहाहा!

पूरे दिन काम करे। बापू! तू अकेला नहीं, तू अकेला द्रव्य नहीं। अनन्त द्रव्य है और अनन्त द्रव्य हैं, वे उनकी स्वकाल की पर्याय के बिना द्रव्य नहीं है। अनन्त द्रव्य हैं, वे उसके वर्तमान स्वकाल के परिणमन बिना का द्रव्य नहीं है। अब वर्तमान परिणमन बिना का द्रव्य नहीं है तो दूसरा द्रव्य उसे क्या करे? और दूसरा द्रव्य भी अपने वर्तमान परिणामरूप परिणमता है, उसे दूसरा द्रव्य उसको परिणमावे किस प्रकार? आहाहा! कठिन बात है।

लकड़ी से कपड़ा ऐसे गर्म हुआ है, उसे ऊँचा करे। रंग में डुबोते हैं न? रंग। कहते हैं कि लकड़ी ने उसे स्पर्श नहीं किया। लकड़ी लकड़ीरूप परिणमकर रही है और कपड़ा उसके रंग में ऊँचा होकर उसके परिणाम की पर्याय से परिणमा है। उस डण्डे को कपड़ा निमित्त कहलाता है और कपड़ा रंगे उसे निमित्त कहलाता है। परन्तु एक-दूसरे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, परिणमते नहीं, परिणमाते नहीं। आहाहा! पूरे दिन यह काम करते हैं न? आहाहा! यह हाथ....

मुमुक्षु : पूरे दिन काम होता है, कैसे होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपने आप होता है। काम अर्थात् क्या? पर्याय। पर्याय अर्थात् क्या? उस-उस द्रव्य की, उस-उस काल की अवस्था। उस-उस अवस्था के बिना द्रव्य तीन काल में नहीं होता। वह-वह द्रव्य उसकी अवस्था के बिना नहीं होता। अब अवस्था के बिना होता नहीं, उसमें दूसरा द्रव्य भी अपनी अवस्था के बिना नहीं होता। आहाहा! जब प्रत्येक द्रव्य अपनी अवस्था सहित है, तब दूसरा द्रव्य उसकी अवस्था को करे, उसे परिणमावे तो दो द्रव्य एक हो जाते हैं। आहाहा! कठिन बात है।

यह निश्चय है परन्तु व्यवहार निमित्त है न? निमित्त है न? ऐसा कहकर... परन्तु निमित्त है अर्थात् क्या? निमित्त करता नहीं, निमित्त से होता नहीं, तब तो निमित्त कहा जाता

है। आहाहा! देखनेवाला जो चीज़ को देखता है, शरीर को देखता है, देखो! तो वह देखनेवाला चीज़ आत्मा है, वह देखनेवाला जिसे देखता है, उसरूप होता नहीं। आहाहा! और देखनेवाला जिसे देखता है, उस दर्शनरूप होता नहीं। अँगुली उस दर्शनरूप होती नहीं, दर्शन उस अँगुलीरूप होता नहीं। एक-दूसरे को निमित्त कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! ऐसी स्थिति है। दुकान पर बैठकर पूरे दिन रंग और रोगन और यह किया तथा वह किया... आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जगत में अनन्त चीज़ें हैं या नहीं? और अनन्त हैं, वह अनन्त वर्तमान पर्यायरहित है या पर्यायसहित है? जब अनन्त पर्यायसहित है तो दूसरी चीज़ उसे क्या करे? आहाहा! इसमें भी अनन्त परमाणु हैं। वह प्रत्येक परमाणु परिणमता है तो उसे दूसरा परमाणु उसको परिणमावे, यह कहाँ रहा? उस परिणमे बिना का परिणमन है परमाणु में दूसरे परमाणु में कि जो यह परमाणु उस परमाणु को परिणमावे? आहाहा!

यह ऐसे ऊँचा होता है, इसके अँगुली स्पर्श नहीं करती, अँगुली इसरूप नहीं होती और वह चीज़ अँगुलीरूप नहीं होती। मात्र अँगुली को यह निमित्त कहलाती है और उसे अँगुली निमित्त कहलाती है। निमित्त कहलाने का अर्थ व्यवहार कहने में आता है। व्यवहार, वह झूठा है। आहाहा! ऐसा इसका अर्थ है।

सवेरे यह दाँतुन करते हैं तो दाँतून को हाथ स्पर्श नहीं करता। हाथ दाँतूनरूप नहीं होता, दाँतून हाथरूप नहीं होता। एक-दूसरे को निमित्त कहने में आवे, यह तो व्यवहार है और वह भी दाँतुन और हाथ दोनों पर्यायरहित नहीं है। उस समय भी पर्यायरहित नहीं है कि जिससे दूसरे की पर्याय को मदद करे। आहाहा! ऐसा है। लोगों में ऐसा कहा जाता है, भाई! कहते हैं न कि पेट में दाँत नहीं है, इसलिए चबा-चबाकर खाना। पेट में दाँत नहीं, वह वहाँ चबाये। इसलिए यहाँ बराबर चबाना। आहाहा! गजब बात है। प्रभु! चबाने में क्या है? जो चीज चाबने की है, वह चीज़ तो परिणमनरहित नहीं है, तो वह परिणमनरहित नहीं है तो दूसरा चबानेवाला उसे चाबे किस प्रकार? शान्तिभाई!

मुमुक्षु : दाँत से टुकड़े होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल स्पर्श नहीं करते। दाँत से रोटी के टुकड़ें हो, वह रोटी

स्वयं से टुकड़ेरूप होती है, दाँत उसे निमित्त है। दाँत रोटीरूप हुए नहीं, रोटी दाँतरूप हुई नहीं। दाँत को रोटी निमित्त कहलाती है, रोटी को दाँत निमित्त कहलाते हैं। दाँत को रोटी निमित्त कहलाती है। अब इसका प्रश्न क्या? टुकड़े होते हैं, उसे तुम निमित्त को कहो तो कहे, उससे हुआ। परन्तु रोटी को वह निमित्त है। परन्तु दाँत को रोटी निमित्त है। आहाहा! इसका क्या अर्थ हुआ? कि दाँत को रोटी निमित्त है, इसका क्या अर्थ हुआ कि दाँत, दाँत की पर्यायरूप परिणमते हैं, रोटी रोटी की पर्यायरूप परिणमती है। रोटी की पर्याय को दाँत निमित्त है, वहाँ तो लोगों को वहम पड़ जाता है कि रोटी के टुकड़े दाँत के कारण होते हैं परन्तु दाँत को रोटी निमित्त है। आहाहा! दाँत दाँतरूप परिणमते हैं, उसमें रोटी निमित्त है। रोटी रोटीरूप परिणमती है, उसमें दाँत निमित्त है। दाँत रोटीरूप परिणमता नहीं, रोटी दाँतरूप परिणमती नहीं। आहाहा! बाहर की सिरपच्ची के कारण ऐसा सुना नहीं होगा, शान्तिभाई! ऐसी बात है, बापू! आहाहा!

प्रत्येक समय में, प्रत्येक पदार्थ परिणमनरहित नहीं होता। और परिणमनरहित नहीं होता तो दूसरा भी पदार्थ साथ में परिणमनरहित नहीं होता, अतः दूसरा भी परिणमनरहित नहीं होता तो दूसरा पदार्थ दूसरे को परिणमावे और वह दूसरा इसे परिणमावे, यह बात नहीं रहती। आहाहा! निमित्त-निमित्त कहलाये, यह तो सम्बन्ध पहिचानने को। एक-दूसरे कोई किसी को करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! भारी कठिन काम। वीतराग का मार्ग... वेदान्त ने एक सर्व व्यापक कह दिया। हो गया जाओ। सिरपच्ची मिट गयी। मिथ्या भ्रान्ति में भटके।

यहाँ तो कहे प्रभु! अनादि के अनन्त... अनन्त पदार्थ उस-उस समय के परिणमन बिना नहीं होते। तब चाहे जिस पदार्थ को दूसरा पदार्थ उसे भांगे-तोड़े ऐसा कहे यह बात सत्य नहीं है। क्योंकि कोई भी पदार्थ अपने उस समय के परिणमन बिना नहीं है तो दूसरी चीज़ उसे तोड़े-भांगे, ऐसा भी कैसे बने? आहाहा! और तोड़े-भांगे, वह चीज़ दूसरे को भी लावे, ऐसा कैसे बने? निमित्त मिलाना चाहिए, ऐसा (लोग) कहते हैं। अखबार में बहुत विरोध आता है। निमित्त मिलाना चालिए, निमित्त मिले तो ऐसा हो। ऐ... देवीलालजी! आहाहा! किसे मिलावे? प्रभु! जो चीज़ स्वयं से द्रव्य-गुण टिककर पर्यायरूप परिणमे

बिना कोई काल उसका नहीं तो फिर उसके काल के परिणमन को दूसरा परिणमावे और दूसरे के कारण परिणमवे और दूसरा उसके कारण परिणमे, यह एक भी बात सच्ची नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक-दूसरे को मदद करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन मदद करे ? जिसे मदद करे, ऐसा कहनेवाला है, वह स्वयं मदद जिसकी करना चाहे, उसकी पर्याय बिना का है वह द्रव्य ? पर्याय अर्थात् कार्य और कार्य अर्थात् काम और काम अर्थात् अवस्था। कोई द्रव्य निकम्मा नहीं है। अर्थात ? अनन्त द्रव्य निकम्मे नहीं अर्थात् उनकी पर्याय के कार्य बिना का नहीं है। आहाहा! किसी भी समय में अनन्त पदार्थ अपने काम अर्थात् पर्यायरूपी कार्य बिना नहीं होते। जब पर्याय—काम बिना नहीं होते तो दूसरी पर्याय दूसरा उसका काम करे, यह कहाँ से आया ? आहाहा! दामोदरभाई! ऐसी बातें हैं। अभी तो पर का कर्ता और कर्म के कारण विकार हो, यह अभी बैठती नहीं।

यह कहते हैं कि कर्म जो है और आत्मा है, दोनों एक समय में पर्याय के परिणमनरहित नहीं हैं। जब पर्याय के परिणमनरहित नहीं तो आत्मा की पर्याय ने कर्म किये, आत्मा की पर्याय ने कर्म से विकार, यह कहाँ से आया ? विकार भी उसका स्वभाव नहीं। कर्म बिना विकार होगा ? यह बड़ा विवाद आया न ? और आत्मा ने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्म को—चारित्रमोह को बँधना पड़ा, ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रत्येक काल में, प्रत्येक पर्याय बिना का द्रव्य होता नहीं। इसने राग-द्वेष किये, तब वहाँ कर्मरूपी पर्याय होने के योग्य परमाणु कर्मरूप होते हैं, वह राग-द्वेष किये; इसलिए होते हैं—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग-द्वेष करे, उसके प्रमाण में कर्म आवे, उसका क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके प्रमाण में वह स्वयं उसकी पर्याय की योग्यता से आते हैं, इसके कारण नहीं। वह कर्म की उस समय की अपनी पर्याय बिना का वह स्कन्ध नहीं है। कर्म का स्कन्ध पर्याय के बिना नहीं है कि जिससे वह पर्याय राग-द्वेष आते हैं, इसलिए आते हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमक्षु : राग-द्वेष न करे तो कर्म आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह न आवे का प्रश्न कहाँ? यहाँ आते हैं, हैं, हैं, इसकी बात चलती है, वहाँ नहीं—ऐसा कहाँ से आया? यह प्रश्न हुआ था, (संवत्) २००० में। मूलशंकर ने यह प्रश्न किया था। जब प्रश्न चलता था कि भाई! राग होता है, तब यहाँ परमाणु अपने आप परिणम कर आते हैं। तब उसमें प्रश्न किया कि राग न हो तो क्यों नहीं होते? परन्तु यह प्रश्न कहाँ है? राग न हो तो राग की पर्याय नहीं तो यहाँ कर्म की पर्याय भी नहीं होती। आहाहा! कठिन बात है, बापू! एकदम झूठ बात है। दुनिया से पढ़े हुए पण्डित, विद्वान और सब मूल इस चीज़ को (समझे नहीं)। अनन्त को अनन्तरूप से पर्यायरूप से परिणमित उस समय में रखे तो दूसरा द्रव्य उसे परिणमावे, यह बात नहीं रहती। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : अनुभव लड़कों को देना या नहीं देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दे? देता है अनुभव? अनुभव की पर्याय है, वह उसके पास रहती है या वहाँ जाती है? आहाहा! कहाँ जाती है? किसी के पास नहीं जाती। आहाहा! दुनिया से अलग जाति है।

मुमुक्षु : कर्तापनेरूप भ्रान्ति...

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! पूरी बात ही... अनन्त को अनन्तरूप से सिद्ध करने को दृष्टा-ज्ञाता हो जाता है। अनन्त को अनन्तरूप सिद्ध करके अनन्त को जानने-देखनेरूप हो जाता है। आहाहा! नहीं उसका कर्ता, नहीं उसे परिणमाता, नहीं उससे परिणमता, नहीं उससे कर्ता। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु निमित्त होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त होता है। निमित्त वस्तु है। निमित्त की पर्याय निमित्त में है। निमित्त की पर्याय निमित्त में है और उपादान की पर्याय उपादान में है। उसमें एक-दूसरा कहाँ करता है? बड़ी चर्चा चलती है। आहाहा! यहाँ का विरोध करने के लिये पण्डितों में खलबलाहट चलती है। निमित्त नहीं मानते। निमित्त नहीं मानते किसने कहा तुझे? निमित्त स्वयं जो है, निमित्त परन्तु एक चीज़ है या नहीं? और वह चीज़ स्वयं

परिणमनरहित होती है किसी काल में? किसी काल में परिणमनरहित नहीं होती तो उसे दूसरा कौन परिणमावे? वह स्वयं परिणमे बिना नहीं तो स्वयं परिणमती हुई दूसरे को परिणमावे? आहाहा!

मुमुक्षु : निमित्त अकिंचित्कर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त है, पर के लिए अकिंचित्कर है। वस्तु है परन्तु पर के लिये अकिंचित्कर है। आहाहा! ऐसी बात सुनना, बैठना कठिन पड़ती है। यह तो मूल चीज़ है। मूल चीज़ को जब तक अभी... उसके द्रव्य-गुण तो त्रिकाली हैं, उनका तो सवाल नहीं, उसकी वर्तमान पर्याय का सवाल है। अब वह पर्याय उसे नहीं, ऐसा कहो और पर से होती है कहो (तो) हो गया, द्रव्य का नाश होता है। आहाहा!

यह द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य ने की और उस द्रव्य की पर्याय नहीं थी तो पर्याय बिना का वह द्रव्य नाश होता है। दूसरे ने की, तब दूसरे ने इसकी की अर्थात् पर्याय बिना का था, उसका नाश होता है। और दूसरे ने की, इसलिए दूसरा अपनी पर्याय करे और उसकी करे। यह आया है। द्विक्रियावादी, समयसार। द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अपनी क्रिया करता है। आता है न भाई! चेतनजी! दो द्रव्य इकट्ठे होकर काम करे। आहाहा! तो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! जो बात मोटी है, बहुत स्थूल है परन्तु मूल वस्तु है। आहाहा!

जगत की चीजें जब उन्हें टिकती कहो तो उनका नाश नहीं, जब इसे परिणमनेवाला कहो तो दूसरे से परिणमे, इसकी बात नहीं। आहाहा! कोई भी चीज़ तीन काल में नित्य अविनाशी, नित्यानित्य है। अब यदि अकेली नित्य मानो तो अनित्य बिना नित्य का नाश होगा। अकेली अनित्य मानो तो नित्य बिना अनित्य होती नहीं। और वह अनित्य पर से मानो तो वह द्रव्य अनित्य बिना का रहता है, यह भी नहीं हो सकता। आहाहा! किसी भी काल में कोई भी द्रव्य पर्याय बिना का तीन काल-तीन लोक में नहीं हो सकता। आहाहा!

एक समय की पर्याय उसकी वर्तमान में है, वह भी उसमें नहीं तो उस द्रव्य का नाश हो जाता है। एक द्रव्य का नहीं परन्तु अनन्त द्रव्यों का नाश हुआ। इसकी श्रद्धा में अनन्त द्रव्य 'नहीं' ऐसी श्रद्धा हुई। आहाहा! यह वस्तु है। यह सब सूक्ष्म, यह कहना

चाहते हैं। यह मुफ्त नहीं है। आचार्य को कहीं मुफ्त समय नहीं मिलता। आहाहा! यह करुणा का विकल्प उठा है, वह विकल्प इसे निमित्त होता है। यह तो पर्याय उसके काल में होने की ही है। आहाहा!

मुमुक्षु : पैर दुखते हैं और लड़के दबाते हैं, उसका क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : दबाये। कौन दाबे? वह सुमनभाई आवे और मुफ्त के दाबे। मुफ्त के भटकते रखे अकेले। विवाह करके स्त्री को लेकर चला गया वहाँ। जाओ तुम भटको, खाओ चाहे जैसे। फिर एक ओर पैर दाबे तब कि ओहोहो! सेवा करता है। यह तो दृष्टान्त, हों! आहाहा! हमारे घर में सब बनता था। परदेश में से पिताजी आवे, फिर लड़के पैर दबावे तो पिताजी प्रसन्न हो जायें कि यह लड़के.... परन्तु पैर के परमाणु की पर्याय बिना के परमाणु हैं कि इसके हाथ से वहाँ स्पर्श कर पर्याय हुई है? आहाहा!

किसी भी काल में अनन्त द्रव्यों में एक समय की अनन्त पर्यायों बिना का वह द्रव्य नहीं है। एक पर्याय नहीं, अब अनन्त कही। क्योंकि अनन्त गुण हैं, इसलिए उनकी एक समय में अनन्त पर्याय का परिणमन है। अब उसमें एक परिणमन दूसरे निमित्त से हो और एक परिणमन स्वयं से हो, यह बात भी मिथ्यादृष्टि की मान्यता है। आहाहा! समझ में आया? समझ में आता है इसमें? मुकुन्दभाई! वहाँ नहीं। व्यापार में कुछ माल नहीं होता वहाँ। ऐसी बात भी कहाँ है वहाँ? आहाहा! यह बात थी कहाँ? बापू! हमारे हीराजी महाराज बेचारे, ४३ वर्ष की दीक्षा, बहुत सज्जन मनुष्य। ऐसी सज्जनता (कि) किसी को उलहाना दे नहीं... आहाहा!

एक बार (संवत्) १९७१ में मैं शास्त्र पढ़ता था। चार महीने के एकान्तरा उपवास (थे)। इसलिए दोपहर में जरा बहुत थकान लगी, इसलिए सो रहा था और हाथ में ऐसे पुस्तक थी, पढ़ूँ इसलिए वहाँ से बोले 'कानजी' अपने ऐसे नहीं चलता, अपने को सोते हुए नहीं पढ़ा जाता। आहाहा! ऐसी मीठी भाषा है। उलहाना दे ऐसा कि तो थोड़ी देर सो जा। थकान लगी हो तो दो घड़ी (सो जा) परन्तु सोते-सोते पढ़ना यह अशातना होती है। अशातना बोले नहीं थे परन्तु इतना बोले थे, अपने को सोते हुए पढ़ना चलता नहीं। आहाहा! बहुत सज्जन प्रिय जीव था। परन्तु अब यह वस्तु नहीं मिली। वस्तु थी ही नहीं

वहाँ। आहाहा! कान में भी पड़ी नहीं थी, अरे रे! और हम साधु हैं, हम साधु नहीं होवे तो फिर अभी हिन्दुस्तान में साधु कौन होगा? हम चुस्त क्रिया, निर्दोष आहार-पानी, वस्त्र मोल देकर लिया हुआ लेने में बिल्कुल नहीं। लेने जायें तो अलमारी में कपड़ा पड़ा (हो, आहार) लेने जायें, वहाँ जरा नीचे ग्वार का टुकड़ा या कुछ एक जरा गिर गया हो और हाथ छुए, उसका पैर छुए तो न ले। शान्ति से वापिस मुड़ जाए। आहाहा! अरे रे! उन्हें यह बात कान में पड़ी नहीं। अरे! कहाँ होंगे? ऐसा हो जाता है कितनी बार तो। आहाहा! सज्जन, सज्जन प्रिय जीव कहाँ होगा? ऐसा कि, देवलोक में जाकर कुछ खोजे, ऐसा विचार आ जाये। उनकी मिठास बहुत थी। उलहाना दे परन्तु इस प्रकार से दे कि अपने को यह नहीं चलता। अर्थात्? कि मूलचन्दजी सोते हुए पढ़ते हैं, उन्हें चलता है, अपने को नहीं चलता। आहाहा! मूलचन्दजी थे, थे दूसरे साधु। वे सोते हुए ही पढ़ते, बैठते नहीं। यह सोते रहें पूरे दिन। आहाहा! बात तो बात।

सन्तों ने यह हीरा बिछोरे हैं। आहाहा! अरे! हीरा की कीमत है, यह तो अकिमती चीज़ है। एक किसी भी द्रव्य की एक समय की पर्याय, उसकी कीमत क्या आँकना? बापू! आहाहा! आहाहा! अरे! परमाणु की एक समय की पर्याय की कीमत क्या आँकना? आहाहा!

यहाँ यह कहा, उस पुद्गल को जीव देखता है—ऐसा कहना, वह निमित्त है। तथापि देखनेवाले रूप से परिणमता नहीं और देखनेवाले को परिणमाता नहीं, तब फिर एक-दूसरे ने क्या किया? और तो फिर एक-दूसरे पर्याय से खाली थे, ऐसा कैसे मानना? आहाहा! भाषा धीरे-धीरे समझ में आये ऐसी है। आहाहा! इस तत्त्व को समझे बिना जिन्दगी चली जाती है। पर के अभिमान में और पर के गुलाम हो-होकर पर से मान लेना है और पर से अभिमान लेना है न... आहाहा! अरे रे! किससे कौन सी पर्याय लेना? बापू! आहाहा! पैसा इकट्ठा करना है, फिर दान में देना है। आहाहा! कौन इकट्ठे करे? वह पर्यायरहित है कि तू उसे लावे? वह पर्यायरहित है कि उसे दूसरे को दे? शान्तिभाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : गहन बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार से उल्टी बात है और परम सत्य। तीन लोक के नाथ

तीर्थंकर भगवान का विरह पड़ा। भगवान रह गये वहाँ। आहाहा! उनके कथन रह गये। उनका विरह पड़ा, वाणी ने विरह भुलाया। आहाहा!

नामा लिखनेवाला ऐसा मानता है कि मुझे बहुत नामा लिखना आता है। बापू! यह अक्षर के परमाणु, वह अनन्त परमाणु की पर्याय है। उसमें प्रत्येक परमाणु भिन्न परिणमता है। एक अक्षररूप से परिणमा है, इसलिए दूसरे परमाणु को उस अक्षररूप से परिणमना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा! अनन्त परमाणु का बना हुआ एक अक्षर 'क' वह एक-एक परमाणु अपनी वर्तमान पर्याय रहित खाली नहीं है। वह स्कन्ध में पड़ा, परन्तु अपनी स्वतन्त्रता चूकता नहीं है। स्कन्ध के कारण वह अन्दर परिणम रहा है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! स्कन्ध में रहा, इसलिए अधिक गुणरूप से, पर्यायरूप से परिणमा, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! वह परमाणु में रहा है, वह स्वयं पर को परिणमाये बिना और पर से परिणमे बिना और उस समय की पर्याय के काल से परिणमता (रहा है)। आहाहा! स्कन्ध में रहा परमाणु भी इस प्रकार से काम करता है। आहाहा! ऐसी बात है। ऐसा उपदेश किस प्रकार का? दया पालना और इच्छामि पडिक्कमणा... तस्सूतरि यह एकदम कहे। उसमें अभिमान है, बापू! वह तो मिथ्यात्व का पोषक है। आहाहा! मैं यह करता हूँ और मैंने यह किया, यह अक्षर मैं बोला और यह मेरी सामायिक हुई... भाई! एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य की पर्याय की, यह अनन्त परमाणु की की है, यह अनन्त मिथ्यात्व है। आहाहा! यह तो अधिकार आवे, तब चले न! और दृष्टान्त भी तब दिये जायें न? अधिकार न आता हो, तब तक कहाँ है? कहे। कहाँ है? यह रहा, देखो न! आहाहा!

देखनेवाला पर को देखता है, पर की पर्याय को करता है, यह तो है नहीं और पर के कारण परिणमता है, यह तो है नहीं। परन्तु देखनेवाला देखनेवाले को देखता है, प्रभु! ऐसे भेद का तुझे क्या काम है? आहाहा! गजब है। सन्तों ने—दिगम्बर मुनियों ने भगवान को नीचे उतारा है, केवली की वाणी उतारी है ऐसे। आहाहा! जरा मान छोड़कर, सम्प्रदाय का मोह भी छोड़कर देखे तो खबर पड़े (कि) प्रभु क्या कहते हैं। आहाहा! और वह आत्मा में अन्दर बैठ जाए। आहाहा! इस वाणी के कारण बैठ जाए, ऐसा नहीं। आहाहा! वह बैठने की पर्याय का काल हो, तब बैठ जाए। आहाहा! वह कहाँ परिणमन बिना का

द्रव्य है, जिससे शास्त्र के परमाणु कान में पड़ने के पश्चात् उसे श्रद्धा हो? आहाहा! शान्तिभाई! ऐसी बात है, बापू! आहाहा! उसमें किसके साथ वाद करना?

अरे! स्मरण काल में चले गये बेचारे। कैसा शरीर था! लठ्ठ जैसा, आहाहा! अभी ऐसे जाते थे। साढ़े सात को तो ऐसे जाते थे। उनके दामाद आये होंगे, उनके पास मिलने वहाँ गये, वहाँ गये और बैठे। बैठने के पश्चात् थोड़ी देर में मेरी नजर गयी, दूसरों का ऐसे सुनने में ध्यान था। कहा, ऐसे कैसे हुआ होगा? ऐसे कैसे हुआ? आहाहा! उस समय की उन परमाणुओं की वह पर्याय ऐसी ही होनेवाली है। आहाहा! और कौन सा द्रव्य प्रभु! पर्यायरहित कौन सा द्रव्य जगत में है? किस काल में और किस क्षेत्र में और किस संयोग में पर्याय बिना का कौन सा द्रव्य है कि उसकी पर्याय निमित्त से हो और पर्याय बिना का रहे? आहाहा! कार्य बिना का रहे नहीं और कार्य दूसरे से हो नहीं। आहाहा! दूसरे का कार्य करे नहीं और दूसरे से कार्य हो नहीं, दूसरे का कार्य करे नहीं और दूसरे से कार्य हो नहीं। आहाहा!

वीतराग दिगम्बर सन्त के अतिरिक्त ऐसी बात कहीं नहीं है, बापू! आहा! दूसरे को दु:ख लगे। हमारा पन्थ झूठा कहते हैं। प्रभु! तुझे दु:ख हो, ऐसा नहीं, प्रभु! तुझे सुख हो, ऐसा हो। अरे! किसी प्राणी को दु:ख हो, ऐसा नहीं होता। सभी प्राणी इस सत्य को समझकर शान्ति को प्राप्त करें। आहाहा! सभी आत्मायें भगवान होओ! आहाहा! कितनी जगह, तीन-चार जगह कहा, पाँच-छह जगह (कहा है) आहाहा! द्रव्यसंग्रह की ४८वीं गाथा में, ३८ गाथा में और उन तीन बोल में, मन, वचन और काया द्वारा प्रत्येक जीव... भावना करो। बड़ा लेख है। आहाहा! वीतराग... वीतराग... वीतराग... आहाहा! वीतरागमार्ग में अकेली वीतरागता झरती है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१५, गाथा-३५६ से ३६५, श्लोक-२१५ शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७
दिनाङ्क - २०-०६-१९८०

समयसार, ५२७ पृष्ठ है। नीचे दूसरा अन्तिम पेराग्राफ। ५२७ (पृष्ठ) नीचे पेराग्राफ है। **और (जिस प्रकार ज्ञान-दर्शन गुण का व्यवहार कहा है)...** एक-दूसरे की अपेक्षा से निमित्त-निमित्त कहा। निमित्त से होता नहीं परन्तु एक चीज़ को दूसरी चीज़ निमित्त कहलाती है, वह चीज़ इसे निमित्त कहलाती है, तथापि निमित्त से उपजता नहीं, तथा निमित्त से मिलाया जाता नहीं। **(ज्ञान-दर्शन गुण का व्यवहार कहा है) इसी प्रकार चारित्रगुण का व्यवहार कहा जाता है-जैसे श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाववाली वही कलई,** आ गया है। **स्वयं दीवार-आदि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित न होती हुई और दीवार-आदि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराती हुई, दीवार-आदि परद्रव्य जिनको निमित्त है,... कलई को ऐसे अपने श्वेतगुण से परिपूर्ण स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होती हुई, कलई जिसको निमित्त है, ऐसे अपने (दीवार आदि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए दीवार-आदि परद्रव्य को, अपने (कलई) के स्वभाव से श्वेत करती है...** कलई के स्वभाव से परद्रव्य को श्वेत करती है। **ऐसा व्यवहार किया जाता है;...** निमित्त। कोई किसी को कुछ करता नहीं। दीवार को श्वेत करता नहीं। दीवार है, इसलिए श्वेत आया है, ऐसा नहीं परन्तु एक-दूसरे को निमित्त कहे जाते हैं। है तो स्वयं के कारण से हुई पर्याय। इसलिए उसे एक-दूसरे को निमित्त कहा जाता है। ऐसा व्यवहार किया जाता है। अब यह तो ज्ञान-दर्शन की बात हो गयी।

इसी प्रकार जिसका ज्ञानदर्शनगुण के परिपूर्ण,... भगवान आत्मा ज्ञान और दर्शन स्वभाव से भरपूर है। आहाहा! **ज्ञानदर्शनगुण के परिपूर्ण, पर के अपोहनस्वरूप स्वभाव है...** पर के त्याग स्वभावरूप तो स्वभाव है। त्याग करे तो त्याग, ऐसा नहीं। पर के त्याग के अभावस्वरूप ही स्वयं है। आहाहा! ज्ञानगुण से भरपूर, पर के अपोहन अर्थात् त्याग स्वभाव है। पर का तो त्याग स्वभाव ही है। यह वस्तु पर का त्याग करे तो त्यागी कहलाये, ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहाहा! पर के त्याग स्वभाव से है। **ऐसा चेतयिता...** चेतयिता अर्थात् जाननेवाला आत्मा **भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं**

होता हुआ... जिस चीज़ का त्याग होता है, उसरूप आत्मा नहीं होता। जिस चीज़ का त्याग होता है, उसरूप आत्मा नहीं परिणमता। **और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ,...** स्वयं तो उसरूप होता नहीं परन्तु पर को भी अपनेरूप होता (करता) नहीं। आहाहा! स्वयं पररूप होता नहीं और पर को अपनेरूप करता नहीं, यह ऐसी बातें हैं।

पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त हैं,... जिसको निमित्त है, **ऐसे अपने ज्ञानदर्शनगुण से परिपूर्ण...** भगवान तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव से भरपूर है और पर के अपोहनस्वरूप है, पर के त्याग के स्वभाव स्वरूप ही है। पर का त्याग करे तो त्याग, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह वस्तु ऐसी है कि जैसे ज्ञानदर्शन से भरपूर है, वैसे परवस्तु के त्याग के अभाव-स्वभाव से भरपूर है। पर के त्याग के अभाव-स्वभाव। आहाहा! उसमें पर का त्याग है ही नहीं। आहाहा! आत्मा पर का त्याग करता है, ऐसा है ही नहीं। तथा परवस्तु आत्मा त्याग करता है, ऐसा भी नहीं। आत्मा उसका त्याग करता है और वह आत्मा से त्याग होता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बहुत सूक्ष्म बात।

पर के अपोहनस्वरूप स्वभाव है, ऐसा चेतयिता भी, स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभावरूप परिणमित नहीं होता हुआ... परवस्तु को नहीं त्यागता। आहाहा! **और पुद्गलादि परद्रव्य को अपने स्वभावरूप परिणमित न कराता हुआ,...** और परवस्तु को अपने स्वभाव नहीं होने देता। आहाहा! यहाँ तो कहे, हमने यह छोड़ा, यह त्यागा। यहाँ कहते हैं कि पर के त्याग के स्वभाव का अभाव है इसमें, पर के त्याग के स्वभाव का यहाँ तो अभाव है। त्याग के (अभाव) स्वभाव स्वरूप ही है, त्याग के अभाव स्वरूप ही है। आहाहा! आत्मा परचीज़ को छोड़ता है, वह तो छूटने के काल में वह छूटती है और आत्मा स्वयं को छूटने के काल में छूटनेरूप परिणमता है तो एक-दूसरे को निमित्त कहा जाता है परन्तु आत्मा पर को छोड़ता है और पर से यह आत्मा छूटता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात सुनी नहीं होगी।

यह त्याग... त्याग... त्याग... त्याग... लोग कहते हैं। त्याग करो, त्याग करो। परन्तु कहते हैं प्रभु! यह त्याग करना, ऐसा तू कहता है, वह वस्तु के तो त्याग के स्वभाव के अभावरूप है, त्याग का स्वभाव उसमें है ही नहीं। आहाहा! जिस वस्तु का त्याग स्वभाव

ही है, वह त्याग करता है, यह प्रश्न कहाँ? वह त्याग स्वभावस्वरूप ही है। आहाहा! आत्मा, शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार से त्याग स्वभावस्वरूप ही है। उसे छोड़े तो त्याग हो, ऐसा है नहीं। आहाहा! उसके त्याग स्वभावस्वरूप ही है। इसलिए उनका त्याग करे तो यह त्यागी हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात यह। अब ऐसा मार्ग।

पर-अपोहनात्मक (पर के त्यागस्वरूप) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है... जो वस्तु छूटने के काल में छूटने के स्वभाव से छूटती है, उसे चेतयिता निमित्त है। **ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से अपोहता है...** अपने स्वभाव से स्वयं पर को छोड़ता है। छोड़ी हुई चीज़ है ही। आत्मा के अतिरिक्त राग-द्वेष, पुण्य-पाप, शरीर, वाणी उसके अभाव-स्वभावस्वरूप ही है। उसमें अभाव नाम का एक गुण है। आहाहा! क्या कहा यह? आत्मा में एक अभाव नाम का गुण है, कि वह पर के त्याग के अभावस्वरूप ही है। उसका त्याग करे तो त्याग है, ऐसा नहीं। आहाहा! परचीज़ के त्याग के अभाव-स्वभावरूप जीव का गुण है। उसका अभाव-स्वभाव ही है। पर के त्याग का अभाव ही है। पर का त्याग करता है, तब त्याग होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अरे! क्षण में चले जाना है, कोई किसी का नहीं है। प्रत्यक्ष देखा न? भाई! भाईलालभाई! बेचारे चलते थे। ऐसे बैठे वहाँ एकदम... एकदम... ऐसा हो गया। आहाहा! शरीर का त्याग ही है। आत्मा में शरीर के त्याग का स्वभाव नहीं है, त्याग के अभावरूप स्वभाव ही है। आहाहा! क्योंकि आत्मा में अभाव नाम का एक गुण है। इस भगवान आत्मा में जैसे ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, वैसे एक अभाव नाम का गुण है कि जो परवस्तु के अभाव-स्वभावरूप ही है। पर का त्याग करे तो त्यागी है, ऐसा नहीं। पर के त्याग का अभाव ही इसमें है। अभाव नाम का इसमें एक गुण है। ४७, ४७ गुण (शक्तियाँ) आते हैं न? भाव, अभाव, भाव-अभाव, अभाव-भाव, भाव-भाव, अभाव-अभाव। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय में तो ... छोड़ना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ना-बोड़ना कुछ नहीं, यह नाममात्र कथन है। एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते, फिर छोड़ा किसे? तीसरी गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता तो उसे छोड़े, यह प्रश्न कहाँ से आया? आहाहा! दुनिया से उल्टा है।

त्याग करो, त्याग करो, यह छोड़ो... यह छोड़ो... यह छोड़ो... इसके कारण त्यागी नाम धरावे।

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! उसके अभाव-स्वभावरूप तो तेरा स्वरूप ही है। उसका अभाव तू करे, तब अभाव हो - ऐसा नहीं है। उसके अभाव-स्वभाव तेरा स्वरूप ही है। आहाहा! पर के त्याग के अभावस्वरूप, चारित्रस्वरूप कहो या पर के त्याग के अभावस्वरूप कहो। पर के त्याग के अभावस्वरूप कहो या चारित्रस्वरूप कहो, वह तेरा चारित्रस्वरूप ही है। अपोहन अर्थात् चारित्र। अर्थात् पर के त्याग का अभाव, ऐसा तेरा स्वभाव ही है। पर के त्याग का अभाव, ऐसा तो तेरा स्वभाव ही है। उसके बदले पर का त्याग करूँ तो त्याग हो, यह वस्तु में नहीं है, तो वस्तु का मालिक हो जाता है। एक चीज़ दूसरी चीज़ की मालिक नहीं है, एक चीज़ दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करती, एक चीज़ दूसरी चीज़ की स्वामी नहीं है। आहाहा!

इसलिए कहते हैं, **परिणाम द्वारा उत्पन्न होता हुआ, चेतयिता जिसको निमित्त है...** वह छूटी हुई पड़ी ही है, उसे छूटा, वह चेतन में निमित्त कहा जाता है। आहाहा! चेतन को उसे निमित्त कहा जाता है। **ऐसे अपने (पुद्गलादि के) स्वभाव के परिणाम द्वारा उत्पन्न होते हुए पुद्गलादि परद्रव्य को, अपने (चेतयिता के) स्वभाव से अपोहता है अर्थात् त्याग करता है-इस प्रकार व्यवहार किया जाता है।** आहाहा! जो नहीं है, उसे कहना, इसका नाम व्यवहार। पर के त्याग का अभाव-स्वभाव ही इसका है। उसे यह त्यागता है, ऐसा निमित्तरूप से कहना, इसका नाम व्यवहार है। आहाहा! क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त राग का कण भी जिसने ग्रहण नहीं किया, राग के अभाव-स्वभावस्वरूप इसका स्वरूप है। यदि ऐसा न हो तो राग का अभाव नहीं हो सकता। आहाहा! पर के त्याग के अभावस्वरूप ही इसका (स्वरूप) है। ऐसा न हो तो पर का अभाव-स्वभाव हो नहीं सकता। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

ज्ञान-दर्शन की (बात) कही थी कि ज्ञान स्वयं सामने को जानने परिणमता है, तब वह सामने की चीज निमित्त कही जाती है और सामने की चीज़ इसे निमित्त कही जाती है। अर्थात् दो चीज़ निमित्त-निमित्त कहने में व्यवहार है। बाकी एक-दूसरे को एक-दूसरे की पर्याय करे, जाने, पर को जाने, पर को देखे, पर को त्यागे, वह सब व्यवहार है।

आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। वस्तु जो है अन्दर, वह तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र अर्थात् पर के अभाव-स्वभावरूप तो शक्ति उसकी है। अपनी अभाव नाम की शक्ति है कि जो पर और रागादि के अभावरूप वह स्वयं है। वह है, उस प्रकार से हुआ, उसने पर का अभाव किया, वह तो निमित्तमात्र कहने में आता है। आहाहा! भारी बातें। सूक्ष्म बात है, भाई! जैनधर्म बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

जैसे जानने में वह चीज़ ज्ञात होती है, इसलिए उस चीज़ को जानने में निमित्त कहा जाता है और जाननेवाला उसे जानता है, इसलिए उस जाननेवाले को उसमें निमित्त कहा जाता है परन्तु एक-दूसरे एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करते। एक-दूसरे एक-दूसरे को निश्चय से तो जानते भी नहीं। आहाहा! पर को जानते नहीं, पर को देखते नहीं, पर की श्रद्धा नहीं करता, पर को छोड़ता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। यह तो इस जगह यहाँ कहा है, परन्तु दूसरी जगह कहा है न चरणानुयोग में कि श्रावक हो, उसे यह छोड़ना, ऐसा नियम लेना, इतना यह करना। यह सब व्यवहार की बातें हैं, चरणानुयोग की व्यवहार की बातें हैं। आहाहा!

वस्तु है न? वह किस समय अपनी पर्यायरहित होगी? तो पर्यायरहित होवे तो फिर उसे पर का छोड़ना-त्यागना, यह रहा कहाँ? वह तो अपनी पर्यायसहित ही है। वह पर को छोड़े-त्यागे तो ही यह त्यागी हो और तो ही उस वस्तु को छोड़ी-त्यागी कहलाये, ऐसा भी नहीं है। उसे छोड़ी-त्यागी कहलाये, ऐसा भी नहीं है और आत्मा उसे छोड़े-त्यागे, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। फिर ऐसा समझे बिना भाषण करे। शान्तिभाई! ...रगड़े फिर। सुननेवाले... सर्वत्र यही चला है। आहाहा!

एक परमाणु दूसरे परमाणु को छोड़ता नहीं। यहाँ तो आत्मा की बात है। आहाहा! क्योंकि उस परमाणु में भी दूसरे परमाणु का अभाव-स्वभाव है। आहाहा! इसलिए उसे छूता और स्पर्शता भी नहीं है। आहाहा! यह बात जिसे जँच जाए, उसे अन्तर्दृष्टि होकर पर से वैराग्य हो जाए, अन्तर्दृष्टि होकर बात बैठे। क्योंकि अन्तर्दृष्टि स्वयं पर के त्याग और पर के जानने-देखनेरूप है नहीं। वह तो वस्तुरूप से है, ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई... आहाहा! और परवस्तु से उदास हो। पर को छोड़ना-त्यागना, या जानना-देखना यह भी उसमें रहता नहीं। आहाहा!

ऐसा व्यवहार जैसे जानने-देखने में कहने में आया था, वैसा यहाँ चारित्र में अर्थात् पर के त्याग में भी यह पद्धति कहना कि पर के त्यागस्वरूप ही है। पर का त्याग करता है, वह तो उसे निमित्तरूप से कहा जाता है और इसे तथा उसको निमित्तरूप से कहा जाता है परन्तु एक-दूसरे, एक-दूसरे को छूते हैं और छोड़ते हैं, यह छोड़ता है और वह छोड़नेयोग्य होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। कहो, सुनी थी कहीं? त्याग करो... त्याग करो... त्याग करो... त्याग करो... फिर व्यवहार से भाषा आवे परन्तु यह मूल रखकर। आहाहा! चरणानुयोग में व्यवहार के कथन आते हैं परन्तु उसे-मूल वस्तु रखकर। आहाहा!

जैसे पर को जानते हुए, पर को जानने में पर निमित्त कहने में आता है और ज्ञात होता है, उसे भी ज्ञान निमित्त कहने में आता है। इसी प्रकार दर्शन, जिसे देखने में आता है, उसे निमित्त कहने में आता है और देखने में आनावाला जो है, देखनेवाला उसे निमित्त कहने में आता है परन्तु देखने की वस्तु जो है, वह देखनेवाले के लिये निमित्त कहने में आती है। इसी प्रकार त्याग के लिये पर के त्याग के लिये इसके त्याग के अभाव-स्वभावरूप आत्मा होने से उसका वह त्यागी नहीं है परन्तु उस समय त्याग में उस काल के भाव में आत्मा को निमित्त कहा जाता है। निमित्त कहने में आता है, इसलिए कुछ भी करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : तो फिर पर को कौन जानता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर को जानता है आत्मा, आत्मा अपने को (जानता है)। पर को नहीं जानता। अपने को जानते हुए स्व-पर जानने की ताकत अपनी अपने में है। आहाहा! लोकालोक जानने की ताकत अपनी लोकालोक के बिना है। लोकालोक की अस्ति है, इसलिए उसे जानने की यहाँ शक्ति है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ लोकालोक वस्तु है, इसलिए यहाँ देखने की शक्ति है, ऐसा नहीं है। वस्तु छूट जाती है, इसलिए आत्मा उसे छोड़ता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो। धूल में मरकर जाएगा। यह तो मिथ्यादृष्टि की कर्ताबुद्धि हुई, मिथ्यादृष्टि होकर मनुष्यपना हारकर चला जानेवाला है, बापू! आहाहा!

अरे! देखो न एक यह भाईलालभाई ऐसे बैठे, मिलने गये। ऐसे बैठे। आकर ऐसे बैठे। बैठे वहाँ ऐसे मुझसे नजर गयी। ऐ... सा... (हो गया)। मैंने कहा, यह क्या हुआ? तब तो दूसरे की नजर गयी, नहीं तो दूसरे की सुनने में नजर थी न? मेरी नजर गयी, कहा-यह ऐसे कैसे होता है? आहाहा! एक पल में बदलने को देरी नहीं। शरीर का बदलना तो एक समय की बात है। आहाहा! आत्मा उसे छोड़ता नहीं। भाषा में ऐसा आवे, निपट गया। निपट गया अर्थात् निकल गया, ऐसा। आत्मा अन्दर था, निकल गया। परन्तु निकल गया अर्थात् अन्दर था ही कब? वह तो अपने में ही था। आहाहा! शरीर में नहीं था और आयुष्य के कारण शरीर में रहता है, ऐसा भी नहीं। आहाहा! और शरीर के कारण आत्मा उसमें रहता है, ऐसा भी नहीं। अपनी उस समय की योग्यता के कारण स्वयं रहता है। वह योग्यता छूटे, तब दूसरी योग्यता हुई तो छूट जाता है। आहाहा! छूटा हुआ तो पड़ा ही है परन्तु ऐसे छूट जाता है, दूर ऐसे क्षेत्र से दूर ऐसे जाता है, तब लोगों में ऐसा कहा जाता है कि यह निपट गया, लो! .... की। अब आत्मा नहीं, चला गया। आहाहा! (वापस मुड़ा) लोग ऐसा कहते हैं। दूसरे भव में गया दूसरे में तुरन्त। आहाहा!

आत्मा की सत्ता तो अनादि की है, वह किसे छोड़े और किसे ग्रहण करे? प्रभु! आहाहा! वह स्वयं अपनी सत्ता में पर्याय में फेरफार होता है। आहाहा! वह भी स्वतन्त्र होता है। कर्म के अभाव और सद्भाव की अस्ति के कारण पर्याय में कुछ फेरफार होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! गजब बात है। और किस क्षण में इसकी स्थिति पूरी होने पर इसे खबर पड़ती है। आहाहा! यह स्थिति पूरी हो, इसलिए उस समय एकदम देह छूट जाती है। यह तो थोड़ी देर भी लगी, आधा घण्टा (हुआ)।

एक लड़का मलकापुर का स्वरूपचन्द कहता था कि, हम दो मित्र बात करते थे। साथ में मित्र को नख में रोग नहीं। ऐसे २८ वर्ष की उम्र। बात करते हुए ऐसे फू... इतना हुआ। वहाँ ऐसा देखा तो मर गया। लो! स्थिति पूरी होने का समय जो हो, उस समय में एकदम छूट जानेवाला है। आहाहा! यह लाख उपाय करे तो रहे, ऐसा नहीं है। आहाहा! बेचारी डॉक्टर माधुरीबेन, उसे ऐसा कि यह हृदय का है तो थोड़ा घिसें, वह घिसती थी। छह तो इंजेक्शन दिये। अरे! क्या हो? बापू! यह तेरा भी छूटने का समय आयेगा, उसमें खबर नहीं पड़े कि यह समय आया। आहाहा!

इस प्रकार व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार यह, आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का... पर्याय का न? गुण-द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। **पर्यायों का निश्चय-व्यवहार प्रकार है। इसी प्रकार अन्य समस्त पर्यायों का...** आहाहा! इसी प्रकार आत्मा में वीर्यगुण है, वीर्यगुण से भरपूर है। आहाहा! उस वीर्यगुण की पर्याय में निर्बलता पड़े, वह स्वयं के कारण से है, दूसरी चीज़ तो निमित्तमात्र है। दूसरी चीज़ में भी अपनी पर्याय निमित्तमात्र है। मैंने मेरे वीर्य द्वारा पर का कार्य किया, मेरे पुरुषार्थ द्वारा मैंने यह कार्य किया, यह अत्यन्त झूठ बात है। आहाहा! क्योंकि वीर्य नाम के गुण से भरपूर तो भगवान है। वह वीर्यगुण पर को निमित्त कहलाये परन्तु पर जब होने की क्रिया हो , उसके काल में। वह चीज़ छूटने में कुल्हाड़ी गिरी या शस्त्र पड़ा, उस समय वह पर्याय होनी ही थी। उस समय उसकी पर्याय थी ही, तब इस वीर्य को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! परन्तु वीर्य से वहाँ कुछ रह सके या अन्दर पुरुषार्थ करे तो उसे कुछ रोक सके, ऐसा नहीं है। और रोकता है, वह पुरुषार्थ के कारण से नहीं। कदाचित रूक गया, वह भी उसकी पर्याय के कारण से। उसे वीर्य निमित्त कहलाता है परन्तु वीर्य से वहाँ रुका हुआ है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

थोड़ा श्वास थोड़ी देर चला जाता है, घड़ी-दो घड़ी असाध्य हो जाए और फिर बाद में ऐसा ख्याल आता है न? ख्याल आकर जीवित रह जाए वापस। पाँच-दस वर्ष रह जाय वापस वह। आहाहा! उसका अन्दर वीर्य जो है आत्मा में। वीर्य (अर्थात्) रेत नहीं। वीर्य नाम का गुण है, उस गुण के कारण दूसरे की पर्याय को रोक सके या टाल सके या रच सके, (ऐसा नहीं है)। राग को रचे तो वह वीर्य नहीं। आहाहा! तो वह वीर्य नपुंसक है। दया, दान और व्रत, भक्ति का राग, उसे रचे तो वह वीर्य नपुंसक है। आहाहा! वह वीर्य अपने स्वरूप की रचना करे, शुद्ध स्वरूप की रचना करे, यह व्यवहार है। बाकी तो रचना का काल है, वह रचना होती है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। कभी सुना नहीं हो, शान्तिभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : दिल्ली में ऐसी दुकान नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! सब बहुत फेरफार। उदास हो, प्रभु! तेरे अतिरिक्त सभी

चीज़ों से उदास है। सभी चीज़ों में कैसे हो, किस प्रकार हो, किस काल में हो, कैसे हो, यह इसका नियम है। तुझसे उसमें कुछ भी हो, तेरा वीर्य चाहे जितना जोरवाला हो परन्तु वह वीर्य पर में काम करे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! जोर कर, ऐसा नहीं कहते? जोर कर, हाथ मार, अमुक कर। लकड़ी खींचना हो तो जोर कर, जोर करके ऐसे निकल। आहाहा! लकड़ियाँ उठाते हैं न? जलाने के लिए इकट्ठी की हो, वहाँ से खींचकर (लाते हैं)। आहाहा! ताँबे के (चद्दर), भाई! नौतमभाई के यहाँ बेचारा माल लेने आया था। जैन, जैन था। उसमें से एकदम चद्दर सिर पर गिरा, घोड़े पर पड़ा। वहीं का वहीं मर गया। मुम्बई, ३३ वर्ष की उम्र। अपने मन्दिर के साथ उसकी दुकान थी। अब यह कैसे माने? चद्दर परपदार्थ है, उसे वहाँ चद्दर से सिर फूटा, ऐसा नहीं है, भाई! वह परमाणु की पर्याय उस काल में उस प्रकार से होनेवाली थी, उसे वे ताँबे के (चद्दर) निमित्त कहलाते हैं और उनको यह निमित्त कहलाता है, (ऐसा) परस्पर (निमित्त कहलाता है)। आहाहा! यह वीर्य भी काम नहीं करता।

अब सुख लेते हैं। सुख नाम का गुण आत्मा में भरा है, यह अनुकूल सामग्री आयी, इसलिए सुख की कल्पना हुई। कल्पना हुई, हों! सुख है नहीं। उस कल्पना में वह चीज़ कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा कल्पना होनेवाली थी, इसलिए वह चीज़ आयी, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! पाँच-पच्चीस लाख एकदम पैदा हो जाए (तो) ऐसे हर्ष-हर्ष हो जाता है। वह हर्ष है, उसमें यह चीज़ निमित्त है। इस चीज़ के कारण हर्ष हुआ नहीं। तथा हर्ष हुआ है, इसलिए वह चीज़ यहाँ आयी है, आनेवाली थी वह आयी है, परन्तु यहाँ यह हर्ष हुआ, इसलिए आनेवाली थी, ऐसा नहीं है। आहाहा! तथा हर्ष हुआ, इसलिए कर्म बँधा—ऐसा भी नहीं है। कर्म के परमाणु उस समय में कर्मरूप से, पर्यायरूप से परिणमनेवाले थे, वे परिणमित हुए हैं। हर्ष को, हर्ष को छूता भी नहीं। हर्ष उसे निमित्त कहा जाता है और उस हर्ष को कर्म निमित्त कहा जाता है। एक-दूसरे एक-दूसरे से हुए नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार सब गुण में उतार लेना। ऐसा कहा न? समस्त पर्यायों का निश्चय-व्यवहार। यह ज्ञान, दर्शन, चारित्र के तीन के लिये, ऐसे वीर्य के, सुख के, प्रभुत्व के, कर्ता के (भी ले लेना)। आहाहा! किसी भी द्रव्य की पर्याय कर्तारूप से की, तब साधन अनुकूल थे, इसलिए हुई—ऐसा नहीं है। कर्ता गुण दूसरे को निमित्त है परन्तु दूसरे की

क्रिया कर्ता गुण के कारण होती है, कर्ता होशियार हुआ, इसलिए उस चीज़ को लाया, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बहुत फेरफार पूरा.... आहाहा!

यह कर्ता नाम का गुण भी स्वतन्त्र स्वयं अपने में परिणम रहा है। उसमें दूसरी चीज़ जो अनुकूल है, इसलिए कर्ता गुण आया—ऐसा नहीं है और कर्ता गुण आया, इसलिए वह चीज़ आयी—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार साधन। साधन नाम का आत्मा में गुण है, इसलिए बाहर का साधन उस साधन के कारण आया—ऐसा नहीं है। बाहर का साधन आया, इसलिए यहाँ साधन हुआ—ऐसा नहीं है। तथा साधन हुआ, इसलिए बाहर साधन को, साधन के कारण से आना पड़ा (—ऐसा नहीं है)। आहाहा! गजब बात है।

निश्चय साधन होता है, वहाँ व्यवहार साधन निश्चय साधन होता है, इसलिए आता है, उसके कारण से आता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! निश्चय साधन जो अन्दर में होता है, इसलिए व्यवहाररत्नत्रय उसमें कारण बनता है, ऐसा नहीं है। निमित्त बने। निमित्त का अर्थ कि कुछ करे नहीं। आहाहा! गजब बात है न? भले यहाँ व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह निश्चय का कारण कहकर प्ररूपणा करते हैं। आहाहा! ऐसी की होगी या नहीं? शान्तिभाई! परन्तु वहाँ क्या भाषण किया हो तो सब चला तो हो। जो हो वह आवे न! आहाहा! क्या कहा यह?

मुमुक्षु : शान्तिभाई ने कहा, कितने ही गपड-चौथ मारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो है। परन्तु बात यह कि जो कुछ होता है, वह चीज़ वह पर्याय होनेवाली है, इसलिए वह चीज़ आती है और वह चीज़ आती है, वह इसे निमित्त होती है, इसलिए होता है—ऐसा नहीं है। निमित्त है, इसलिए होता है, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। आहाहा! वस्तु की उपस्थिति है। आहाहा! कर्ता, साधन (आदि) सब गुण है न? कारण, वह साधन हुआ। किसी भी द्रव्य का कार्य, उस समय में वह कार्य होता है; वह आगे-पीछे समय में नहीं। यह तो नहीं परन्तु उस कार्य को बाहर का निमित्त मिला, इसलिए कार्य हुआ - ऐसा नहीं; और वह कार्य होने का था, इसलिए निमित्त को आना पड़ा—ऐसा भी नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सब ऐसा कहते हैं न निमित्त मिलाओ, निमित्त मिलाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन मिलावे ? परचीज़ को मिलावे कौन ? परचीज़ का स्वयं स्वामी-मालिक है ? आहाहा ! और परचीज़ जिस समय में आनेवाली है, वह तो उसकी स्वतन्त्र उसकी पर्याय के काल में आती है। तेरे पुरुषार्थ से और तूने ध्यान बहुत रखा, इसलिए वह चीज़ यहाँ आयी, (ऐसा नहीं है)। आहाहा ! मुकुन्दभाई ! क्या होगा यह सब ? दुकान में पूरे दिन.... आहाहा ! वहाँ दुकान चलाते थे, तब हमारे ऐसा ही चलता था। ऐसा करते हैं, ऐसा करते हैं। छोटी उम्र से मैं माल लेने जाता था। अन्त-अन्त में गया (तब) अन्त में चार सौ मण चावल लिये। बस ! फिर बन्द। अब दुकान नहीं आऊँगा। दुकान बन्द की। मैं नहीं आऊँगा, कहा। (संवत्) १९६८ का माघ महीना। यह लाये और वैशाख में छोड़ दिया। आहाहा ! चार सौ मण चावल अन्तिम बार मुम्बई से कोलाबा से लाये थे। विशिष्टता ऐसी हुई कि उस काल में १९६८ के वर्ष में जैसे सौ बोरियाँ आयीं, ऐसा मण में चार आने बढ़ गये। आये और चार आने बढ़ गये। उस वर्ष में सौ बोरी सौ रुपये (बढ़ गये)। आहाहा ! कहा, ऐसा अब नहीं करना कुछ। आहाहा ! कौन छोड़े और कौन रखे, बापू ! आहाहा !

ऐसी समस्त पर्याये कहना। अर्थात् कर्ता पर्याय कहना, कर्म पर्याय कहना, साधन पर्याय कहना। आहाहा ! और जिसने करके रखी है, उसकी उसमें रहती है। दूसरा करे और दूसरे में रहे... आहाहा ! यह सब बहुत... है।

मुमुक्षु : भोक्ता गुण में घटाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : भोक्ता में भी यही है। स्वयं अपना भोक्ता होता है, निर्विकार, हों ! विकार का भोक्ता नहीं। यह उसका स्वभाव ही नहीं। निर्विकार का भोक्ता होता है, तब चीज़ सामने निमित्त हो भले, परन्तु उसका भोक्ता नहीं होता। कर्ता-भोक्ता अन्तिम बोल आया था न ? करण कर्ता। अकर्ता, अभोक्ता... ४७ (शक्ति में) आया था। पर का अकर्ता, पर का अभोक्ता। आहाहा !

एक ऐसे (अँगुली) उठती है, उसकी यह अँगुली अकर्ता है। अँगुली इसकी अकर्ता है। आत्मा तो अकर्ता है परन्तु ऐसे ऊँची हुई, उसे आत्मा अँगुली अकर्ता है। क्योंकि अकर्ता नाम का गुण इसमें है। उसके कारण अकर्ता की पर्याय स्वयं से वहाँ हुई

है, अँगुली से नहीं। दुनिया से उल्टा है। दुनिया पूरे दिन यह करो, करो, यह करो और यह करो और यह करो और यह करो, अभिमान, अभिमान। आहाहा!

यहाँ तो आचार्य कहते हैं, जैसे तीन बोल की बात की, वह पर्याय की बात की, गुण की नहीं। गुण और द्रव्य तो त्रिकाल रहता है, उसकी कुछ बात नहीं है, पर्याय की बात कही। पर्याय एक-दूसरे में निमित्त कहलाती है। पर्याय उस समय में उत्पन्न होती है, उसी समय में उत्पन्न होती है। आहाहा! पर्यायरहित कोई द्रव्य कभी तीन काल में नहीं होता और वह भी अनन्त पर्यायें। आहाहा! एक द्रव्य की अनन्त पर्यायें। अनन्त पर्यायों बिना का वह द्रव्य होता ही नहीं। आहाहा! वह अनन्त पर्याय हुई, कोई निमित्त अनुकूल आया, इसलिए हुई – ऐसा नहीं है। और अनुकूल निमित्त, वह पर्याय होनेवाली थी, इसलिए निमित्त आया है, ऐसा नहीं है। निमित्त के कारण यहाँ हुई नहीं और उसके कारण निमित्त आया नहीं। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। आहाहा!

मुमुक्षु : स्वस्वामी सम्बन्ध घटाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वस्वामी सम्बन्ध यह। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय जिस समय में होती है, वह स्व और उसका वह स्वामी। स्वस्वामी सम्बन्ध में तो तीनों का स्वामी है परन्तु यहाँ तो पर्याय लेनी है न अकेली? प्रत्येक गुण की जो पर्याय भोगने में आती है, वह भोगने में आती है, वह स्वयं से भोगी जाती है। परवस्तु निमित्त है, इसलिए वहाँ भोगी जाती है, ऐसा भी नहीं है। तथा परवस्तु को भोगता निमित्त कहलाता है, इसलिए परवस्तु भोगने के लिये आयी है, ऐसा भी नहीं है। चूरमे का लड्डू खाने का-भोगने का था, इसलिए आया है—ऐसा भी नहीं है और भोक्ता हुआ, इसलिए चूरमे का लड्डू आया—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा तो बैठाना भारी कठिन।

यहाँ तो कहा न? **समस्त पर्यायों का**... क्योंकि कोई भी द्रव्य पर्याय बिना का नहीं होता। तीन काल में पर्याय, वह अनन्त पर्याय वापस एक नहीं। किसी भी समय में कोई भी द्रव्य अनन्त प्रगट पर्याय बिना नहीं होता। आहाहा! उन अनन्त पर्याय को भी वह दूसरी पर्याय उसे निमित्त है परन्तु उस पर्याय के कारण दूसरी अनन्त पर्यायें हुईं, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? क्योंकि प्रत्येक पर्याय षट्कारकरूप से परिणमति है। प्रत्येक

पर्याय (एक) समय में षट्कारकरूप से परिणमति है। कर्ता, कार्य, साधन, रखना, से-उससे और उसके आधार से—यह छह कारक। आहाहा!

प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस समय में छह कारक से होती है। विकार भी छह कारक से होता है, कर्म का नहीं। यही विवाद आया था न वर्णीजी के साथ २०१३ के वर्ष। सब पण्डित थे। रामजीभाई थे, हिम्मतभाई थे, दूसरे पण्डित थे। बंशीधरजी, कैलाशचन्दजी। आहाहा! फूलचन्दजी। कहा, भाई! विकार होता है, वह षट्कारक से, स्वयं से होता है; कर्म से नहीं। वर्णीजी कहे—नहीं, ऐसा नहीं है। वह तो अभेद की बात है। यदि कर्म से न हो तो स्वभाव कहलाये। कहा, वह पर्याय स्वयं से होती है, उसे स्वभाव कहो, विभाव कहो, जो कहो वह, परन्तु पर्याय के काल में पर्याय होती है। बात नहीं जँची, विरुद्ध पड़ा। २०१३ के वर्ष। तेईस वर्ष हुए। तब वहाँ ईसरी में बहुत चर्चा हुई। सब पण्डित थे। विकार कर्म के कारण नहीं है। यहाँ क्या कहा जाता है इस पर्याय में? इस पर्याय में क्या कहा जाता है? यद्यपि यहाँ निर्दोष पर्याय की बात है परन्तु सदोष पर्याय भी उस समय में होनेवाली है, उसे दूसरी चीज़ आयी, इसलिए हुई; कर्म का उदय आया, इसलिए यहाँ विकार हुआ है। आहाहा! और यहाँ विकार हुआ, इसलिए कर्म को बँधना पड़ता है, कर्म के रजकण को कर्मरूप होना पड़ता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा तो सुना नहीं होगा, शान्तिभाई! अभी भी बात चलती नहीं है। फेरफार है। फेरफार, सब फेरफार। आहाहा! किसी में कुछ अन्तर... किसी में कुछ अन्तर... किसी में कुछ अन्तर... अन्तर, अन्तर और अन्तर घुस गया। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र पर्यायों का निश्चय-व्यवहार प्रकार है।** अर्थात् जिस समय में होनेवाली है वह। उसे दूसरी चीज़ निमित्त कहलाती है, दूसरी चीज़ को वह पर्याय निमित्त कहलाती है, ऐसा व्यवहार कहा गया और निश्चय से तो एक-दूसरे के निमित्त भी नहीं हैं। इस प्रकार है, **इसी प्रकार अन्य समस्त पर्यायों का भी...** आहाहा! सिद्ध वहाँ ऊपर क्यों रहे? धर्मास्तिकाय नहीं हैं इसलिए। ऐसा नहीं है। लोकाग्र में क्यों रहे? कि धर्मास्तिकाय का अभाव है इसलिए। पाठ ऐसा है। यह सब व्यवहार की बातें हैं। बाकी तो उसकी पर्याय उस क्षण में वहाँ ही रहने की उसी प्रकार से है। आहाहा! सिद्धशिलाग्र क्यों रहे? कि यह पाठ ऐसा आता है कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण

(रहे हैं)। आगे धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए (रहे हैं)। (धर्मास्तिकाय) होता तो जाते, होता तो जाते, ऐसा कहते हैं। परन्तु है तत्प्रमाण है। पश्चात् होता तो जाते यह प्रश्न कहाँ आया? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा में अलोक में जाने की शक्ति है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी योग्यता नहीं है। पर्याय वहाँ (जाने की नहीं थी)। लोक का द्रव्य लोक में रहने की योग्यता है। लोक का द्रव्य अलोक में जाए—ऐसी शक्ति होती ही नहीं। आहाहा! अलोक में तो अकेला आकाश है। इसलिए यहाँ कहते हैं। आहाहा! **इसी प्रकार अन्य समस्त पर्यायों का भी...** आहाहा! सिर में कील लगी तो कील सिर में लगी, (ऐसा नहीं है)। वह कील उसे स्पर्शी नहीं है। आहाहा! कील निमित्त कहलाती है और कील से वह छिद्र पड़ा, वह निमित्त कहलाता है। निमित्त का अर्थ एक ज्ञान करने के लिये दूसरी चीज़। परन्तु उससे कुछ होता है, ऐसा नहीं है। ऐसा निश्चय-व्यवहार प्रकार सभी समस्त पर्यायों का (समझना चाहिए)। आहाहा! इसमें कौन सी बाकी रही? परमाणु की.... आहाहा!

यह ऐसा कहते हैं कि एक परमाणु में दो गुण स्निग्धता हो और दूसरे गुण में चार गुण हो तो वहाँ जाये तो चार गुण हो। इसलिए देखो! पर के कारण हुआ। वह चार होने की थी, वही वहाँ गया है। स्वयं के कारण से चार हुआ है। वहाँ चार गुण स्निग्धता है, इसलिए चार गुण यहाँ हुई, ऐसा नहीं है। इसमें बहुत समाहित किया है। तीन बोल कहकर सब पूरी दुनिया की पर्याय, प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्याय एक समय में हो। कोई द्रव्य अनन्त पर्याय बिना का नहीं होता। आहाहा! और वह भी एक-एक पर्याय स्वतन्त्र अपने-अपने से है। आहाहा! और उसे दूसरी चीज़ है, इसलिए पर्याय होती है, यह बात नहीं है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१६, गाथा-३५६ से ३६५, श्लोक-२१५ शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल ९
दिनाङ्क - २१-०६-१९८०

समयसार, गुजराती, ५२८ पृष्ठ है। भावार्थ, नीचे भावार्थ है।

भावार्थ – शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। शुद्धनय से वास्तविक इसे देखें तो आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। जानना-देखना आदि उसका स्वभाव है। **उसके परिणाम...** तीन बातें हुई। एक तो आत्मा, उसका एक चेतनामात्र स्वभाव, उसके परिणाम, उसके परिणाम—पर्याय **जानना, देखना, श्रद्धा करना, निवृत्त होना इत्यादि (परिणाम) हैं।** उसके अपने परिणाम हैं। आत्मा वस्तु है, उसका चेतना स्वभाव है, उसके परिणाम जानने-देखने के स्वत: परिणाम हैं।

वहाँ निश्चयनय से विचार किया जाए... सत्य दृष्टि से देखा जाए **तो आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता,...** आहाहा! आत्मा को पर का कर्ता तो कहा जा ही नहीं सकता, वह तो है ही नहीं। आत्मा अपने अतिरिक्त परद्रव्य का कुछ जरा करे, वह जरा करे, ऐसा तो उसमें है ही नहीं। आहाहा! मात्र आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक कहना, वह भी नहीं कहा जा सकता। आहाहा! क्योंकि जाननेवाला जाननेवाले की अवस्था में अपना और पर का स्वरूप परिणमता है, उसे यह जानता है। पर को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। क्योंकि पर जो ज्ञेय है, वे ज्ञान में नहीं आते और ज्ञान है, वह ज्ञेय में नहीं जाता। ज्ञान और ज्ञेय के बीच अत्यन्त अभाव है। आहाहा! जिससे पर को जानना,ऐसा कहना, वह व्यवहारमात्र है।

परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता,... आहाहा! परद्रव्य का कुछ कर्ता (हो), पर की दया पाले, हिंसा करे—ऐसा तो उसमें है ही नहीं। आहाहा! यह तो उस चीज़ में नहीं, परन्तु पर को जानना—ऐसा जो सम्बन्ध—ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध, वह भी वास्तव में तो नहीं है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ज्ञायक भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जाननेवाला तो अपना स्वभाव है। अपने स्वभाव में स्वपने रहकर अपने को जानता है और पर को स्पर्श भी नहीं करता। जाननेवाला, ज्ञात होता है, उसे तो वह स्पर्शता भी नहीं। आहाहा! ऐसा आत्मा।

दर्शक नहीं कहा जा सकता,... उसे ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, तथा दर्शक—देखनेवाला नहीं कहा जा सकता। क्योंकि देखने और जानने के परिणाम तो अपने हैं, वे तो अपने से हुए हैं। वह कहीं देखने की-जानने की चीज़ से देखने-जानने के परिणाम हुए नहीं है। आहाहा!

श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता,... पर की श्रद्धा करता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि पर की श्रद्धा करता है, वह तो अपने स्वभाव से करता है। उस परचीज़ के कारण पर की श्रद्धा करता है और श्रद्धा करते हुए परद्रव्य कहीं अन्दर आ जाता है या पर की श्रद्धा करते हुए आत्मा पर को स्पर्श करता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! अभी यहाँ तो कर्तापने से निकलना कठिन पड़ता है। व्यवहाररत्नत्रय निश्चय को करे, निमित्त अनुकूल होवे तो लाभ हो। आहाहा! यह तो स्थूल मिथ्यात्व है। समझ में आया? उसके कारण तो कुछ है नहीं।

श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता,... भगवान की आत्मा श्रद्धा करता है। आहाहा! वे केवली हैं, सर्वज्ञ, सर्वदशी, पूर्णानन्द—ऐसी यहाँ श्रद्धा करता है, इसलिए श्रद्धा को और उन्हें कुछ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! इसलिए पर की श्रद्धा करनेवाला भी नहीं कहा जा सकता। आहाहा! ऐसा आत्मा है, उसकी श्रद्धा अन्दर होनी चाहिए। आत्मा ऐसा है, वह जानन-देखन-श्रद्धान पर का नहीं करता, वह अपना स्वभाव ही है। वे परिणाम अपने हैं। उन परिणाम को पर की कोई अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

त्याग करनेवाला नहीं कहा जा सकता;... क्योंकि उसके अस्तित्व में परवस्तु कहाँ है? आत्मा की अस्ति में परवस्तु कहाँ है कि जिससे परवस्तु को छोड़े? आहाहा! परवस्तु का त्याग भी आत्मा को कहीं नहीं कहा जा सकता। आहाहा! यह तो आत्मा का पर के त्याग के अभावस्वभावरूप स्वभाव है, पर के त्याग का तो इसमें अभाव है। आहाहा! बहुत कठिन। पर को छोड़, इसे छोड़, इसे छोड़। शास्त्र में भी—रत्नकरण्डश्रावकाचार में आता है, इतने रस छोड़ना और इस इतने क्षेत्र की बन्दी करना और इतने काल में बाहर जाना नहीं। यह तो अपने परिणाम उस प्रकार के हैं। वह कहीं पर की अपेक्षा से परिणाम हुए नहीं हैं। आहाहा!

क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के... चार बोल लिये—जाननेवाला, देखनेवाला,

श्रद्धा करनेवाला और त्याग करनेवाला। चारों बोल इसे नहीं लागू पड़ते। आहाहा! **क्योंकि परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।** वास्तव में परद्रव्य को और आत्मा को किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध, वह भी व्यवहार है। स्वयं ही ज्ञेय-ज्ञायक है, स्वयं ही जाननेवाला और स्वयं ही ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! स्वयं जाननेवाला और पर ज्ञात होनेयोग्य, ऐसा उसमें लागू नहीं पड़ता। आहाहा!

परद्रव्य के और आत्मा के निश्चय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। वास्तव में निश्चय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करना, इतना तो कुछ सम्बन्ध है या नहीं? यह तो आया था न कल? नहीं? गुरु के सान्निध्य में सुना, सुख कारण धर्म सुना, तथापि उस पर को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। अपनी ज्ञान की योग्यता से ही वह जानने में आया है। इन शब्द से जानने में नहीं आया। समझ में आया? आहाहा! आत्मा को—भगवान आत्मा को और भगवान को, आत्मा को और सिद्ध को, आत्मा को और पंच परमेष्ठी परमात्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! पंच परमेष्ठी को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है; श्रद्धा करता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है; देखता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है; उसे (पर को) छोड़ता है लक्ष्य, वह व्यवहार है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग।

जो ज्ञान, दर्शन, श्रद्धान, त्याग इत्यादि भाव हैं, वे स्वयं ही हैं;... यह कहीं पर के कारण नहीं हुए हैं। परवस्तु है, इसलिए यहाँ जानने का भाव हुआ है, ऐसा नहीं है। परवस्तु है, इसलिए देखने का भाव हुआ है, ऐसा नहीं है। परवस्तु है, इसलिए यहाँ त्यागने का भाव हुआ है, ऐसा नहीं है। वैसे ही परवस्तु है उससे... आहाहा! श्रद्धा करने का भाव हुआ है (ऐसा नहीं है)। भगवान परमात्मा पंच परमेष्ठी है... आहाहा! इसलिए श्रद्धा करने का भाव उनके कारण से हुआ है, ऐसा भी सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व (ऐसा सम्बन्ध नहीं)।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुछ सम्बन्ध नहीं। ज्ञेय और ज्ञान का सम्बन्ध ही नहीं है। सर्व सम्बन्ध निषेध, २०० कलश में आ गया। आहाहा! ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! उसमें कर्ता-कर्म का सम्बन्ध कहना, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा! आत्मा किसी का कुछ भी भला कर सके या आत्मा में किसी से कुछ भला हो या आत्मा

को पर से कुछ बिगाड़ हो, कर्म से बिगाड़ हो, और आत्मा पर को बिगाड़े—ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बात।

पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। पर तो अनन्त हैं। अनन्त को अनन्त अनन्त को जानना-देखना और श्रद्धा करना, तब तो अनन्तता की अनन्तता ख्याल में आवे, परन्तु उन्हें नहीं श्रद्धा करते हुए अपने को ही श्रद्धा करता है। आहाहा! अपने को जानता है, देखता है और श्रद्धा करता है। स्वयं ही पर के त्यागस्वभावरूप परिणमता है। स्वयं ही पर के अभाव-स्वभावरूप परिणमता है। क्योंकि उसमें—द्रव्य में अभाव नाम का एक गुण है। उस पर के अभावस्वभावरूप स्वत: है। पर है, इसलिए उसके अभाव-स्वभावरूप परिणमता है, ऐसा भी नहीं है। अपना स्वभाव ही पर से अभाव-स्वभावरूप परिणमने का है। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग है। अभी स्थूल कर डाला। दया पालो और व्रत पालो, भक्ति करो और मन्दिर बनाओ, दस लाख-बीस लाख खर्च करके बड़ी यात्रा निकालो। पहले तो गाड़ियाँ थीं, अभी तो मोटरों में जाते हैं, प्लेन में, मोटर में (जाते हैं)। पहले तो गाड़ियाँ थीं। यात्रा निकालते महीने, महीने दो-दो महीने हो जाए और दस-दस लाख का खर्च हो। वह सबके सब दे, इसलिए उसे ऐसा हो जाता है कि हमने धर्म किया। करनेवाले को ऐसा होता है कि हमने धर्म किया। इसे ऐसा हो जाता है कि हमने धर्म कराया। आहाहा! यहाँ यह सामायिक बहुतों को करायी, प्रौषध कराये, सामायिक करायी, उसे बक्षीश दी। एक आसन पर पाँच-पाँच सामायिक, एक आसन पर आठ-आठ... आहाहा! अरे! चौबीस घण्टे सोना नहीं। ऐसे चौबीस घण्टे का प्रौषध। सोना नहीं, अकेले चौबीस घण्टे जागना। इसलिए इसे हो गया प्रौषध और धर्म। यह यहाँ इनकार करते हैं। आहाहा! देवीचन्दजी! आहाहा! चौबीस-चौबीस घण्टे, अड़तालीस घण्टे जागे। सोवे नहीं, पूरी रात जागे। हमारे यहाँ बोटाद में बहुत हुआ, बहुत करते थे। पूरी रात जागे, दूसरे दिन सवेरे पारणा करे, वह भी व्याख्यान सुनकर, दोपहर के बाद करे। इसलिए ऐसा कि ओहोहो! गजब भाई! तपस्या।

यहाँ कहते हैं कि पर को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। तूने पर को छोड़ा, यह बात ही झूठ है। आहाहा! पर का तुझमें कहाँ अस्तित्व था? तुझमें पर की अस्ति कहाँ थी कि तूने अस्ति को छोड़ा? और अस्ति हो, वह छोड़ी नहीं जाती। आहाहा!आत्मा के

चैतन्य परिणाम हैं, वे कहीं छोड़े नहीं जाते, पर को छोड़ना किया नहीं जा सकता। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

भाव–भावक का भेद कहना... आत्मा भावक और उसके परिणाम भाव। जानने के, देखने के, श्रद्धा करने के, पर के त्याग के अभावस्वरूप परिणमने के—ऐसा जो कहना, वह व्यवहार है। वह भी व्यवहार है। आहाहा! भाव-भावक, भावक ऐसा भगवान, उसके जो भाव वे परिणाम—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। जानने के उसके परिणाम, देखने के उसके परिणाम, श्रद्धा करने के उसके परिणाम, यह भी भाव और भावक का भेद हुआ। यह भी व्यवहार है। आहाहा! पर को छोड़ना और पर का भला करना... आहाहा! जैन नाम धारण किया किसका? जैन वही ऐसा कहते हैं 'घट घट अन्तर जिन बसे, घट-घट अन्तर जैन, मतमदिरा के पान सों मतवाला समझे न।' तू जिनस्वरूप ही है, तू वीतरागस्वरूप ही है। यह वीतराग परिणाम और श्रद्धापरिणामस्वरूप ही तू है। उस पर के कारण वे परिणाम हुए हैं, ऐसा पर को और इसके परिणाम को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

भाव–भावक का भेद कहना... आहाहा! है? **वह भी व्यवहार है।** जाननेवाला जानता है, यह व्यवहार है। आहाहा! भेद पड़ा न? जाननेवाला जानता है, देखनेवाला देखता है, श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करता है—ऐसा भावक का भाव भेद (हुआ), वह भी व्यवहार है। अर र र! यहाँ तक जाना। लो! यहाँ तो व्यवहार यह दया, दान, व्रत, इस परिणाम से धर्म न माने तो एकान्त है... आहाहा! ऐसा अभी झुकाव यह हो गया है। व्रत, तप, भक्ति और पूजा में धर्म न माने तो ऐसा एकान्त है। वीतराग का मार्ग अनेकान्त है। निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है। उपादान से भी होता है, निमित्त से भी होता है, ऐसा अनेकान्त है। यहाँ कहते हैं कि वस्तु में ऐसा अनेकान्त है ही नहीं। स्वयं से होता है और पर से नहीं होता। कोई भी आत्मा पर का कुछ कर सके, (ऐसा वस्तु में नहीं है)। आहाहा! माता-पिता की सेवा तो कर सकता है या नहीं? वृद्ध हो गये हों १००-१०० वर्ष की उम्र के। सेवा करे, वह कर सकता है या नहीं? पर का कुछ नहीं कर सकता। आहाहा!

आत्मा द्रव्य अलग है, वह चीज़ अलग है। उस चीज के द्रव्य, गुण, पर्याय भिन्न हैं। द्रव्य अर्थात् कायम रहनेवाली चीज़। गुण अर्थात् कायम रहनेवाली शक्ति और परिणाम

वर्तमान उससे भिन्न हैं वे। तेरा द्रव्य भी तेरे द्रव्य, गुण, पर्याय से; पर से भिन्न है। आहाहा! यहाँ तो बड़ी सेवामण्डली, दयामण्डली हो, फिर उसके अध्यक्ष हो, दो-पाँच लाख इकट्ठे करे, फिर उसमें खर्च करे तो बहुत धर्म हुआ। यहाँ कहते हैं, जरा भी धर्म नहीं हुआ। धर्म तो नहीं हुआ परन्तु मैंने पर की दया पालन की, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। क्योंकि पर का कर नहीं सकता और कर सकता हूँ, (ऐसा) माना है। आहाहा! कठिन बात है, भाई!

स्वद्रव्य पर का कुछ नहीं कर सकता। स्वद्रव्य में जो परिणाम होते हैं, वे अपने-अपने से होते हैं। ये परिणाम किसी पर से नहीं होते। पर का जानना-देखना, यह भी व्यवहार है। जानने-देखने के परिणाम भी अपने हैं, इसलिए पर के साथ का सम्बन्ध क्या है? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। लम्बा चलता है न उसका, कुछ हल्का हो, हो सके तो लोग इकट्ठे हों। लाखों लोग इकट्ठे हों। यहाँ कहते हैं, कुछ कर नहीं सकता। इकट्ठे होते ही नहीं न! एक द्रव्य और दूसरा द्रव्य तीन काल में इकट्ठा नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को जरा भी छूता और स्पर्शता नहीं, तो फिर दूसरे को स्पर्शता नहीं तो दूसरे का कुछ कर सके, इस बात में कुछ माल नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : घर में कोई बीमार होवे तो पैर दबाना या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दबाता है? वह दबाने की क्रिया होनी हो जड़ की, जड़ के कारण से होती है, आत्मा के कारण से नहीं होती। वह पैर दबाने का हाथ, हाथ की उस समय की पर्याय हाथ के-जड़ के कारण से होती है, आत्मा के कारण से नहीं। आहाहा! आत्मा उसका जाननेवाला है—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। उसके बदले आत्मा उसका करनेवाला है, यह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा वीतरागमार्ग! परमेश्वर जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा का यह कथन है। दुनिया से निराली जाति है, दुनिया को और उन्हें मिलान खाये, ऐसा है नहीं। आहाहा!

यहाँ कहा न? **भाव-भावक का भेद कहना...** जाननेवाला जानता है, श्रद्धा करनेवाला श्रद्धा करता है, स्वयं को, हों! ऐसा कहना, वह व्यवहार है। पर की श्रद्धा करे और पर को जानना, यह बात तो है ही नहीं। आहाहा! पर का कर सके, यह बात तो तीन काल में नहीं है परन्तु पर को जाने और देखे, यह भी उसमें नहीं है। क्योंकि जानने-देखने के परिणाम कहीं उसके नहीं हैं। जानने-देखने के परिणाम तो जीव के अपने चेतन के परिणाम हैं। उस

परिणाम को और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह फिर एकान्त कहे या नहीं? एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है। अनेकान्त चाहिए। व्यवहार से भी होता है, निमित्त से भी होता है, निश्चय से भी होता है, उपादान से भी होता है तो अनेकान्त कहलाये।

यहाँ कहते हैं, यह एकान्त है, यह मानना एकान्त है। उपादान और निमित्त दो से होता है—ऐसा मानना, वह अज्ञान है। निमित्त हो, परन्तु निमित्त से उपादान में कुछ होता है; जरा भी नहीं। क्योंकि निमित्त की पर्याय निमित्त के काल में, उपादान की पर्याय उपादान (के काल में होती है)। दोनों का काल एक है। अब उसमें यहाँ काल एक, अपने कारण से परिणमे उसमें पर को परिणमाने जायें कहाँ? आहाहा! समझ में आया? कठिन बात है, बापू!

सिद्ध भगवान देख रहे हैं। चाहे जितना हो, जैनधर्म में वाड़ा में विरोध हो या चाहे जैसा (हो), है उन्हें विकल्प? इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा का स्वभाव ही यह है कि स्वयं जानना-देखना अपने को, बस यह स्वभाव। पर को जानना-देखना तो नहीं परन्तु पर का करना तो बिल्कुल नहीं। आहाहा! पर की दया पाल सके, आहाहा! पर को पाल सके, पर को मदद कर सके, दूसरे को जरा सहारा दे सके, दु:खी प्राणी को पैसा दे, कपड़े दे, सहारा दे—ऐसा तीन काल में नहीं बनता, ऐसा कहते हैं।

प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय से रहित नहीं है, प्रत्येक द्रव्य वर्तमान उसकी दशा से रहित नहीं है। जब अवस्था से रहित नहीं है तो दूसरा उसकी अवस्था किस प्रकार करे? स्वयं ही अवस्था करता है, वहाँ दूसरा करे किस प्रकार? आहाहा! पैर दबाने में पैर की पर्याय पैर के परमाणुओं के कारण होती है, उसमें हाथ के कारण से होती है, (ऐसा नहीं है)। कठिन काम है, बापू!

वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म, सूक्ष्म। लोग वाड़ा में पड़े हैं, उन्हें भी खबर नहीं कि जैन परमेश्वर का सत्य क्या है? वे तो जिस वाडा में जन्मे, और जिनका संग हुआ, उसे मान लिया। हो गया। आगे-पीछे यह क्या झूठा है या सत्य है, (यह) विचार करने का अवकाश भी नहीं लेता। मनुष्यपना चला जाता है। आहाहा! वापस कहाँ जाएगा? आत्मा कहीं ऐसे नाश हो, ऐसा नहीं है। देह का नाश होने पर आत्मा तो अन्यत्र सत्ता में कहीं जानेवाला है आहाहा! दूसरे किसी भव में अस्तित्व में जानेवाला है, तो इस भव का क्या? इसमें यहाँ

क्या किया कि इसे भव में वह भव मिला। आहाहा! कठिन काम है, बापू! आहाहा! यहाँ तो मैंने किया, मैंने किया, मैंने किया। यह काम मैंने किये, इसलिए मेरी प्रशंसा करो, महिमा करो। आहाहा! इकट्ठे होकर मानपत्र दो, अभिनन्दन दो। आहाहा! भिखारी है, मान का भिखारी है। आहाहा! वह आत्मा का अर्थी नहीं है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, आत्मा चेतनास्वभाव होने से उसके चेतना के परिणाम होते हैं। आत्मा चेतनास्वभाव होने से उसके चेतना के परिणाम होते हैं। वे भी स्वयं से होते हैं, दूसरे से तो होते ही नहीं और दूसरे को करते नहीं तथा दूसरे से होते नहीं, ऐसा इसका स्वभाव है। वह स्वयं अपने को जाने—ऐसा भेद करना, वह भी व्यवहार है; ज्ञायक ज्ञायक ही है। आहाहा! **भाव-भावक का भेद कहना, वह भी व्यवहार है। निश्चय से भाव और भाव करनेवाले का भेद नहीं हैं।** पर्याय और पर्याय का करनेवाला आत्मा, (ऐसा) भेद नहीं है, अभेद ही है। आहाहा! स्वयं अपने परिणाम और वे चेतन के परिणाम, राग के नहीं। राग के परिणाम, वे आत्मा के नहीं। इसलिए कहा न पहले? **शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है।** उसका जाननेमात्र स्वभाव है। त्रिकाली आत्मा का स्वभाव चेतना—जानना-देखना है, तो उसके परिणाम जानना-देखना आदि होते हैं। वह तो अपने परिणाम हैं। वह कहीं पर के कारण हुए? पर को जाना है, इसलिए वे परिणाम हुए हैं, ऐसा नहीं है। चेतना है, इसलिए अपने परिणाम उस समय होते ही हैं। आहाहा! परिणाम बिना का द्रव्य-गुण होता ही नहीं। समझ में आया? गुण बिना का द्रव्य होता नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। थोड़े अन्तर में बड़ा अन्तर कहाँ पड़ता है, (इसकी) लोगों को खबर नहीं पड़ती और लोगों को (ऐसा होता है कि) मैं करता हूँ, उसमें क्या है? आहाहा!

निश्चय से भाव और भाव करनेवाले का भेद नहीं हैं। अब, व्यवहारनय के सम्बन्ध में। व्यवहारनय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञाता, दृष्टा, श्रद्धान करनेवाला, त्याग करनेवाला कहा जाता है; क्योंकि परद्रव्य और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिकभाव है। इससे कहा जाता है। कहने में आता है, है नहीं। **ज्ञानादि भावों का परद्रव्य निमित्त होता है...** चेतन स्वभाव के जानने-देखने के परिणाम में परद्रव्य को निमित्त कहने से **व्यवहारीजन कहते हैं... निमित्त होता है, इसलिए व्यवहारीजन कहते हैं...** आहाहा! **कि-आत्मा परद्रव्य को जानता है,...** भारी कठिन बात। व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं कि यह पर को जानता है। अज्ञानी

ऐसा कहता है। आहाहा! क्योंकि जिसका जो त्रिकाली स्वभाव, उसका होते वर्तमान परिणाम को किसी पर की अपेक्षा नहीं है, तथापि अपेक्षा करके कहना, वह तो व्यवहार है और उस प्रकार से मानना, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

परद्रव्य निमित्त होता है, इसलिए व्यवहारीजन कहते हैं कि–आत्मा परद्रव्य को जानता है,... आहाहा! परद्रव्य को करे और रखे और सेवा करे, दया पालन करे, यह तो है ही नहीं परन्तु व्यवहारीजन, परद्रव्य को जानता है, ऐसा कहते हैं। **परद्रव्य को देखता है, परद्रव्य का श्रद्धान करता है,...** यह निमित्तनैमित्तिकभाव के कारण। मात्र यह होने पर वह होता है, नैमित्तिक अपनी दशा होने पर दूसरी चीज़ होती है, इतना देखकर व्यवहारी लोग ऐसा कहते हैं कि इसकी श्रद्धा की और इसे ऐसे जाना। आहाहा! सूक्ष्म बात है, पण्डितजी! करने की तो बात ही नहीं। आत्मा परजीव की दया पालन करे, यह बात तो तीन काल में सत्य नहीं है। क्योंकि परद्रव्य और अपने द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव है। इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, एक द्रव्य दूसरे को स्पर्शता नहीं, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्वामी नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे को जानता है, इसे कैसा गिनना?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह व्यवहार है। जानने की पर्याय अपनी है या उसकी है? चेतना के परिणाम हैं या उसके परिणाम हैं? आत्मा चैतन्यस्वरूप और चेतना उसका गुण। इस चेतना के परिणाम जानना–देखना है। अब उसके परिणाम हैं, वे परिणाम इसके हैं और इसके कारण हैं, यह बात व्यवहार से कथन है। ऐसा मान लेना वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : कल तो आया था कि गुरु के सान्निध्य में।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सान्निध्य में आया, इतना बतलाया परन्तु उससे हुआ है, ऐसा नहीं है। उन्होंने कहा कि धर्म आनन्दकारी है। उस आनन्दकारी में परिणमा, तब उन्हें निमित्त कहा गया। उनसे परिणमा है और उनसे हुआ है, ऐसा है नहीं। आहाहा! महाविदेह में अनन्त तीर्थंकरों के समीप में अनन्त बार आया है। अनन्त पुद्‌गल परावर्तन महाविदेह के किये। मनुष्य भव के अनन्त पुद्‌गल परावर्तन किये। एक पुद्‌गल परावर्तन के अनन्तवें भाग में अनन्त चौबीसी जाती है। आहाहा! ऐसे अनन्त पुद्‌गल परावर्तन अनन्त बार

महाविदेह में साक्षात् तीर्थंकर की अस्ति में और समवसरण में जाकर आरती, भक्ति करके (किये), वहाँ भी भगवान की आरती उतारी, हे प्रभु! यह तो सब पर है, राग है। यह कोई धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा!

पंच परमेष्ठी की भक्ति धर्म नहीं? आहाहा! उनकी स्तुति करना, उनके गुणग्राम करना, उनके कवित्व जोड़ना, भगवान के गुण के कवित्व महा बड़े। आहाहा! कहते हैं, वह कुछ कर नहीं सकता। अभिमान करे। आहाहा! कठिन काम है, शान्तिभाई! पहले सुना नहीं था। यह किया और यह किया और यह किया और यह किया... दूसरे महिमा करे। अच्छा भाषण देना आता है, दूसरे को ऐसा और... भाषा जड़ है। आहाहा! जड़ की पर्याय आत्मा से होती है, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा!

इस प्रकार निश्चय-व्यवहार के प्रकार को जानकर यथावत् (जैसा कहा है उसी प्रकार) श्रद्धान करना।

कलश - २१५

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

शुद्धद्रव्य-निरूपणार्पित-मतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेय-मवैति यत्तु तदयं शुद्ध-स्वभावोदयः,
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥

श्लोकार्थ : [शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मतेः तत्त्व समुत्पश्यतः] जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को लगाया है, और जो तत्त्व का अनुभव करता है, उस पुरुष को [एक-द्रव्य-गतं-किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति] एक द्रव्य के भीतर कोई

भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता। [यत् तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदयः] ज्ञान ज्ञेय को जानता है, वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। [जनाः] जबकि ऐसा है तब फिर लोग [द्रव्य-अन्तर-चुम्बन-आकुलधियः] ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए [तत्त्वात्] तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) [किंच्यवन्ते] क्यों च्युत होते हैं?

भावार्थ : शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखायी नहीं देता। ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर यह लोग ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं कि 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है'; यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि-यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं?॥२१५॥

कलश - २१५ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- (कलश) 215

शुद्धद्रव्य-निरूपणार्पित-मतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो,
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेय-मवैति यत्तु तदयं शुद्ध-स्वभावोदयः,
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः॥२१५॥

आहाहा! **'शुद्ध-द्रव्य-निरूपण-अर्पित-मतेः' जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण में बुद्धि को लगाया है,...** निरूपण कथन अर्थात् स्वभाव। **जिसने शुद्ध द्रव्य के निरूपण (स्वभाव) में बुद्धि को लगाया है,...** है, निरूपण तो कथन है परन्तु कथन में आये हुए भाव में जिसने बुद्धि को अन्दर स्थापित किया है। आहाहा! शुद्ध द्रव्य निर्मलानन्द प्रभु में जिसने वर्तमान बुद्धि को स्थापित किया है। **लगाया है, और जो तत्त्व का अनुभव करता है,...** आहाहा! और उस आत्मा का अनुभव करता है, रागादि का नहीं। **उस पुरुष को... 'एक-**

द्रव्य-गतं-किम्-अपि द्रव्य-अन्तरं जातुचित् न चकास्ति' एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि... अर्थात् किसी काल में, बिल्कुल और कदापि, **भासित नहीं होता।** आहाहा! जिसने अपनी बुद्धि को शुद्ध द्रव्य में स्थापित किया है। आहाहा! उसे एक द्रव्य के अन्दर दूसरे का कोई द्रव्य रहा हुआ, कुछ भी कर सकता है, यह कुछ भासित नहीं होता। आहाहा! यह भाषा होती है, किसके कारण? यह होंठ हिलते हैं, वह जड़ के कारण (हिलते हैं); आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! भाषा है, वह भाषावर्गणा की पर्याय है, वह कहीं तेरी पर्याय नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : आवाज से आदमी पहिचाना तो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहिचाना-जाना जाए उसके अभिप्राय से। आहाहा! कैसा उसका अभिप्राय है, ऐसा ज्ञात होता है। उसके कवित्व में, उसके लेखन में स्वयं का भाव कहीं न कहीं आये बिना नहीं रहता। जो अपनी श्रद्धा है, जो अपना भाव है, वह लेखन में कहीं... कहीं... कहीं... आये बिना रहता ही नहीं। आहाहा! इसलिए उसके आधार से खोज करे तो बराबर खबर पड़ती है। आहाहा!

जिसने शुद्ध द्रव्य अर्थात् चैतन्यमूर्ति भगवान परमानन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा अन्दर है, आत्मा वीतरागी स्वरूप से अन्दर विराजता है। वर्तमान, हों! होवे तब तो पर्याय में होगा। यह तो द्रव्यरूप से वीतरागस्वरूप विराजमान है। आहाहा! उसमें जिसने बुद्धि को लगाया है, स्थापित किया है, अनुभव करता है, **उस पुरुष को एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य...** कोई भी-तीर्थंकर की वाणी और तीर्थंकर भी। आहाहा! आत्मा की पर्याय में उस वाणी और तीर्थंकर के कारण हुआ है, ऐसा भासित नहीं होता। आहाहा! है?

एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य... कोई भी अन्य द्रव्य अर्थात् वीतराग हों, तीन लोक के नाथ, उनकी वाणी और उनके दर्शन हुए, इसलिए आत्मा में उनसे पर्याय हुई, उनके कारण शुभभाव हुआ, हुआ शुभ, धर्म नहीं। भगवान के दर्शन करे, यात्रा करे, वह धर्म नहीं; पुण्य है, परन्तु वह पुण्य उनसे नहीं हुआ। आहाहा! क्यों?—कि एक द्रव्य के अन्दर कोई भी अन्य द्रव्य, कोई भी अन्य द्रव्य अर्थात्? चाहे तो निगोद का जीव हो और चाहे तो परमेश्वर का जीव हो। आहाहा! चाहे तो एक परमाणु हो, चाहे तो अनन्त परमाणु

का स्कन्ध शरीर आदि, वाणी आदि हो। आहाहा! **कोई भी अन्य द्रव्य रहता हुआ कदापि भासित नहीं होता।**

'यत् तु ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्ध-स्वभाव-उदय:' ज्ञान ज्ञेय को जानता है,... आहाहा! वाणी को ज्ञान जानता है; करता तो नहीं परन्तु जानता है तथा राग हुआ, उसे ज्ञान जानता है। आहाहा! **वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है।** यह उसे जानता है, इसलिए उसके कारण जानता है, ऐसा नहीं है। शुभराग आया, इसलिए उसे जानता है, ऐसा नहीं है। जानने का उदय तो जानने की पर्याय में से आया है। आहाहा! ऐसा कठिन लगे। तब पूरे दिन करना क्या? किसी का कुछ किया नहीं जा सकता।

मुमुक्षु : अपने में रहा जा सकता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं प्रभु है न? दूसरे की तो गन्ध भी इसमें नहीं और अपने में तो अनन्त गुण भरे हुए हैं। आहाहा! आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण भरे हुए हैं। वीतराग, शान्ति, आनन्द, प्रभुता, स्वच्छता, जीवत्वता, ऐसी अनन्त शक्तियों का सागर आत्मा है। आहाहा! वे अनन्त शक्तियाँ तेरी हैं, वे दूसरे में नहीं हैं। दूसरे में है, वे उनकी हैं। आहाहा!

इसलिए कहते हैं, **ज्ञान ज्ञेय को जानता है,...** आहाहा! ज्ञान स्वभाव पर, राग, विकल्प या शरीर, वाणी को जानता है, **वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है।** आहाहा! वह ज्ञेय के कारण नहीं, जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उनके कारण नहीं। वह तो ज्ञान का स्वभाव है, इसलिए जानता है। आहाहा! अपना ज्ञान का स्वभाव है, इसलिए पर को जानता है, पर को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! वह स्वयं ही अपने को जानता है। आहाहा! अपना एक भी अंश दूसरे द्रव्य में नहीं जाता, दूसरे द्रव्य का एक अंश भी स्वद्रव्य में नहीं आता। करे क्या? आहाहा!

एक द्रव्य के भीतर कोई भी अन्य द्रव्य... कोई भी अर्थात् तीन लोक का नाथ हो या दिव्यध्वनि हो या समवसरण हो। आहाहा! अन्य द्रव्य किसी भी प्रकार से परद्रव्य में आता नहीं। परद्रव्य अन्य द्रव्य में रहा हुआ नहीं है, अर्थात् आता नहीं। आहाहा! कदापि **ज्ञान ज्ञेय को जानता है, वह तो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है।** उदय कहा क्या? यह शुद्ध स्वभाव उस समय उस प्रकार से परिणमित हुआ है। आहाहा! राग को, वाणी को

जानता है, यह तो ज्ञान का अपना उदय है। ज्ञान उस समय में उस प्रकार परिणम कर प्रगट हुआ है। उस चीज़ के कारण नहीं। वाणी सुने, इसलिए वहाँ ज्ञान पर्याय होती है,... आहाहा! ऐसा नहीं है। भारी कठिन काम, भाई! यह शब्द अन्दर कान में पड़ते हैं, इसलिए यहाँ ज्ञान की पर्याय होती है, ऐसा नहीं है। आहाहा! क्योंकि जिसमें चेतना का स्वभाव है, उसके परिणाम चेतना से होते हैं, वाणी से नहीं होते। आहाहा! बड़ी गड़बड़—निमित्त से होता है, किसी समय निमित्त से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि परद्रव्य ने इसमें किया। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी समय होता है अर्थात् किस समय होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे ऐसा कहे, किसी-किसी समय होता है, किसी समय नहीं होता। ढीला-बीला ऐसा हो तो सामने कुछ मदद करके हो। तीन काल में नहीं होता। उपादान की पर्याय स्वतन्त्र जिस समय में होनेवाली है, वह (होती है)। पर्यायरहित वह द्रव्य नहीं कि दूसरा आकर उसकी पर्याय करे। क्या कहा यह ? कोई भी द्रव्य वर्तमान पर्याय बिना का नहीं है तो फिर उसकी पर्याय बिना का अर्थात् निकम्मा नहीं है तो दूसरा आकर उसका पर्याय का कार्य किस प्रकार करे ? आहाहा! शान्तिभाई! ऐसा सुना नहीं सब कहीं। गड़बड़ घोटाला करके, सब ऐसा ही चलता है, सब जगह। आहाहा! यह एकान्त लगता है। वह दूसरे को करे और दूसरे को दे और ऐसे सभा इकट्ठी हो और एक-दूसरे महिमा करे और एक-दूसरे माला, माला पहने, सूखड़ की माला और ऐसा वह खड़ा हो ऐसा करके... वह मान दे, उसका फोटो ले। आहाहा! ऐसा अच्छा इसमें दिखता है ?

मुमुक्षु : फोटो समाचार-पत्र में दे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह तो समाचार-पत्र में सब दे। समाचार-पत्र में आता है, वह देखते हैं, अपने को तो खबर पड़ती है। आहाहा! माला सूखड़ की (पहिनावे), यह पुस्तक अर्पण करते हैं। वह हाथ जोड़कर (खड़ा हो)। उसने कुछ दूसरे को दिया, वह मानो मुझे कुछ मान मिला, अब मैं कुछ गिनती में आया, बाह्य में गिनती में नहीं आया था, (वह अब आया)। आहाहा! अरे रे! किसमें गिनाना है ? प्रभु! तुझे तू गिनती में ले न! तूने तुझे गिनती में लिया ही नहीं, तूने परवस्तु को गिनती में लिया है। आहाहा! परन्तु गिनती

में तूने तुझे लिया नहीं, तेरी कीमत तो तूने की ही नहीं। आहाहा! दूसरे की कीमत करके उसकी गिनती की। आहाहा! इसने दान में पाँच लाख दिये, दस लाख दिये और पचास लाख दिये। आहाहा! वहाँ लिखावट आवे, वहाँ ऐसे, आहाहा! पचास लाख दिये एकमुश्त! कितना उदार! आहाहा! अरे! कौन दे? बापू! वे पैसे-परमाणु जड़ हैं। जड़ की पर्याय जिस जगह जानेवाली हो, वहाँ जाती है। दूसरा कहे कि मैंने दिये। मेरे हैं—ऐसा माना, वही मिथ्यात्व है। पैसे जड़ हैं, वे मेरे हैं, मेरे मानकर दिये, वही मिथ्यात्व सेवन करता है। आहाहा! ऐसी बात है। बैठे रहना पंगु होकर, कुछ करना नहीं?

मुमुक्षु : पर के लिये तो पूरा-पूरा पंगु है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के लिये करना नहीं, यह बात। तेरे लिये कर न अन्दर। अन्दर भगवान विराजता है। आहाहा! वह परमात्मा की पूर्ण शक्ति का सागर है। उसकी प्रतीति कर न! उसका ज्ञान कर न! उसमें स्थिर हो न! उसकी श्रद्धा कर न! आहाहा! करनेयोग्य तो यह है। बाईस लाख पुस्तकें सोनगढ़ से प्रकाशित हुई हैं, आठ लाख वहाँ से (जयपुर से)। (कुल) तीस लाख। कौन प्रकाशित करे? बापू! वे तो परमाणु हैं। परमाणु की अवस्था वह होनेवाली उस काल में हुई। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। यह तो स्वभाव का उदय है। पर को जानने के काल में अपने ज्ञान का उदय है, उस वस्तु के उदय के कारण ज्ञान नहीं है। आहाहा! **यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। ऐसा है, तब फिर लोग ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की...** देखा? आत्मा को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श, छुए, छुए, स्पर्श **मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) क्यों च्युत होते हैं?** आहाहा! ऐसी स्थिति है (तो) तत्त्व से किसलिए (च्युत होते हैं)? पर को स्पर्शता नहीं, छूता नहीं। आहाहा! है? **ज्ञान को अन्य द्रव्य के साथ स्पर्श होने की...** आत्मा स्पर्शता नहीं एक परमाणु को, एक शरीर को, अक्षर को। आहा! तो ऐसी **मान्यता से आकुल बुद्धिवाले होते हुए तत्त्व से (शुद्ध स्वरूप से) क्यों च्युत होते हैं?** विशेष कहेंगे.......

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१७, श्लोक-२१५ रविवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०
दिनाङ्क - २२-०६-१९८०

समयसार, २१५ कलश का भावार्थ। २१५ कलश का भावार्थ। गुजराती में पृष्ठ ५२९ है। **भावार्थ – शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर...** सच्ची दृष्टि से, सत्य दृष्टि से वस्तु के स्वरूप का विचार करने पर **अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखायी नहीं देता।** एक वस्तु में दूसरी वस्तु प्रवेश नहीं करती। आहाहा! एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य स्पर्श नहीं करता।

मुमुक्षु : करोड़ों रुपये हों.....

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई आता नहीं, धूल भी आता नहीं। आवे कहाँ? एक परमाणु दूसरे परमाणु में प्रवेश नहीं करता; इसलिए वह परमाणु उस परमाणु को स्पर्श नहीं करता; इसी तरह एक यह आत्मा, कर्म के परमाणु को स्पर्श नहीं करता। सत्यदृष्टि से सच्ची दृष्टि से अर्थात् वस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार से यदि देखें तो... आहाहा! **तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में प्रवेश दिखायी नहीं देता।** शरीर में आत्मा ने प्रवेश किया है, ऐसा नहीं है। आहा! शरीर का अस्तित्वपना शरीर के क्षेत्र में और प्रदेश में है। आत्मा का अस्तित्व अपने क्षेत्र और प्रदेश में है। कोई किसी द्रव्य को कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता। आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यहाँ कहा स्पर्श नहीं करता। आहाहा! **प्रवेश दिखायी नहीं देता।** इस शरीर में आत्मा प्रवेश करता है, ऐसा है नहीं। आत्मा अत्यन्त भिन्न है। और आत्मा में कर्म प्रवेश करते हैं, ऐसा नहीं है, अत्यन्त भिन्न हैं। इसी प्रकार कर्म में आत्मा प्रवेश करता है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी अस्ति, अपनी वर्तमान पर्याय करते हुए अस्ति रखता है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है, परन्तु वर्तमान पर्याय जो होती है, उसे रचते हुए स्वयं परद्रव्य से भिन्न रहता है। आहाहा! एक द्रव्य में दूसरे (का) प्रवेश दिखायी नहीं देता, स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं। आहाहा! वीतरागभाव है।

आत्मा का वीतरागस्वभाव है। उस स्वभाव से देखे तो वह कर्म को छुआ ही नहीं

है, कर्म को स्वयं स्पर्शा नहीं है, ऐसा उस तत्त्व का स्वरूप है। विकार होता है, वह कर्म के प्रवेश के कारण नहीं; अपनी कमजोरी के कारण जरा-सा विकृत अवस्था में किसी समय होता है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल शुद्ध है। पर्याय में जरा विकार होता है, उसमें कर्म प्रवेश करते हैं, वे कर्म छूते हैं, इसलिए विकार होता है-ऐसा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बात! पूरे दिन करते हैं, यह किया लो! उस दिन चिमनभाई कहे। कुछ करता नहीं। (संवत्) १९९७ में पोष महीने में मन्दिर बनता था। तब 'चिमन चकु' यहाँ महीनें रहे। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ करता नहीं; तब कहा कि लो! यह किया, लो! आहाहा! क्या हो? उसमें क्या हुआ है, यह तुझे क्या खबर? उसमें आत्मा है, उसने क्या किया? और परमाणु ने उसमें क्या किया-इसकी खबर है?

अन्दर आत्मा है, उसने तो अपनी पर्याय में रहा और किया है तथा यह परमाणु भी इसकी पर्याय में रहकर पर्याय को करता है। आहाहा! एक-दूसरे में प्रवेश दिखता नहीं। आहाहा! गजब बात है! शरीर का अवयव दूसरे के अवयव में प्रवेश नहीं करता। आहाहा! क्या है यह बात! अंगुली मुँह में ऐसे जाने पर अंगुली, अंगुली में रहती है और मुँह, मुँह में और जीभ, जीभ में (रहती है)। आहाहा! यह रोटी और दाल मुँह में आने पर, उन आत्मा के प्रदेश में प्रवेश नहीं किया इनने। इनने नहीं, परन्तु दाढ़ और दाँत में भी रोटी और दाल ने प्रवेश नहीं किया। आहाहा! ये रोटी और दाल अपने-अपने में रहे हैं, दाढ़ और दाँत अपने में रहे हैं। कोई किसी में एक-दूसरे का एक-दूसरे में प्रवेश-अन्दर जाना, घुसना... आहाहा! ऐसा कभी होता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : कील लकड़ी में नहीं जाती?

पूज्य गुरुदेवश्री : कील लकड़ी में नहीं जाती। कील के परमाणु अपनी पर्याय में रहकर वहाँ रहे हैं और लकड़ी में जो छिद्र हुआ है, वह अपनी पर्याय में अपने से होकर रहा है; कील के कारण से नहीं। आहाहा! ऐसा स्वभाव है। पूरे दिन इसे करते हैं, हम करते हैं, हमने किया, हमने किया (ऐसे) जगत के पदार्थों का अभिमान, आहाहा! हमने ये पैसे कमाये, पैसे दिये, पैसे लिये। आहाहा! सब भ्रम है, अज्ञान है। दूसरी चीज़ को लिया नहीं जाता, दूसरी चीज़ को दिया नहीं जाता, दूसरी चीज़ की रक्षा नहीं की जा सकती, दूसरी चीज़ का नाश नहीं करता, दूसरी चीज़ को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आहाहा!

यह यहाँ कहा, **ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं...** जगत को भ्रम ऐसे पड़ता है कि ज्ञानस्वरूप का स्वभाव ऐसा है कि स्व-परप्रकाशकस्वभाव है। उस ज्ञान में दूसरे ज्ञेय ज्ञात होते हैं, इससे अज्ञानी को मानों दूसरे ज्ञेय मेरे ज्ञान में आये, इसलिए मैंने जाना - यह मिथ्याभ्रम है। आहाहा! ज्ञान में यह शरीर, वाणी और यह जीभ ज्ञात हुई, परन्तु ज्ञात होने पर भी ज्ञान में उनका प्रवेश नहीं, क्योंकि वे तो ज्ञेय हैं। ज्ञेय जो ज्ञान में ज्ञात होता है, वह ज्ञेय नहीं, वह ज्ञात होता है, वह ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है। आहाहा!

ज्ञान में बहुत ही विस्तार ज्ञात हो, वह विस्तार अन्दर ज्ञान में आया नहीं; ज्ञान का अपना स्वभाव विस्तार हुआ रहा है, होकर रहा है। आहाहा! पर का प्रवेश करके ज्ञान की विशालता हुई है, केवलज्ञान हुआ और लोकालोक ने प्रवेश किया, इसलिए केवलज्ञान हुआ है, ऐसा नहीं है। केवलज्ञान में लोकालोक आया, इसलिए केवलज्ञान हुआ-ऐसा नहीं है। आहाहा! केवलज्ञान का अपना स्वभाव पर को स्पर्श किये बिना, पर में प्रवेश किये बिना, पर को स्पर्शे बिना अपना और पर का ज्ञान स्वयं से स्वयं में पर की अपेक्षा बिना होता है। आहाहा!

अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं... ज्ञान में अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं। ज्ञान में शरीर ज्ञात हो, वाणी ज्ञात हो, कर्म ज्ञात हो, राग ज्ञात हो, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार-पैसा-मकान ज्ञात हो। वह जानने पर भी, वह तो **ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है;...** पर को जानना, वह तो अपनी स्वच्छता के स्वभाव के कारण से है; पर के कारण से पर को जानता है - ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस प्रकाश को ज्ञान जानता है। इस प्रकाश में ज्ञान का प्रवेश नहीं और प्रकाश का ज्ञान में प्रवेश नहीं। मात्र ज्ञान का अपना स्वभाव स्व-पर जानने की सामर्थ्य से प्रकाश को और शब्द को जाने, तथापि प्रकाश और शब्द, ज्ञान को स्पर्श नहीं करते, वे ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। आहाहा! अन्धकार में ज्ञान में अन्धेरा ज्ञात हो, वह अन्धेरा ज्ञान में आया नहीं। आहाहा! बहुत कठिन बात है।

ज्ञानस्वरूपी जो भगवान आत्मा, उस ज्ञान में जो परवस्तु—दीपक, पैसा, स्त्री, कुटुम्ब, वे ज्ञान में ज्ञात हों, परन्तु वह चीज़ ज्ञान में आयी नहीं। वह चीज़ तो चीज़ में रहीं

परन्तु उस सम्बन्धी का ज्ञान अपना, अपने से, अपने में, अपने द्वारा हुआ है। आहाहा! ऐसी बात! ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा, अन्दर जो चैतन्यस्वरूपी ज्ञान भगवान आत्मा, वह परचीज़ को जानते हुए, परचीज़ में ज्ञान प्रवेश नहीं करता और परचीज़, ज्ञान में प्रवेश नहीं करती। मात्र ज्ञान का स्वभाव स्वच्छता का है; इसलिए अपने को और पर को अपने में रहकर जानता है। पररूप होकर पर को जानता है, ऐसा नहीं है। स्व-रूप से रहकर स्व और पर को जानता है। आहाहा! ऐसी बात जगत से पूरी उल्टी है। आहा!

यह मेरा लड़का और यह मेरी लड़की और यह मेरी स्त्री, ये मेरे लड़के और यह तेरा मकान और ये मेरे पैसे। प्रभु कहते हैं, प्रभु! वे तो ज्ञेय हैं न! वे तो तेरे ज्ञान में ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञात होते हैं न! वह चीज़ तुझमें आयी नहीं, तुझमें आये बिना तेरी कहाँ से हो गयी? आहाहा! भारी कठिन काम! पूरी दुनिया से उल्टी बात है। पूरे दिन काम करते हैं, पर का करते हैं और ऐसा कर दें, ऐसा कर दें... ऐसा कर दें.. कहते हैं कि जो काम होते हैं, वे ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञान में ज्ञात होते हैं, परन्तु ज्ञान, ऐसा भगवान आत्मा उस काम में प्रवेश नहीं करता; वह काम तुझमें प्रवेश करता नहीं। आहाहा! अरे! यह बात कैसे बैठे!

अनन्त काल से भटकता है, चौरासी के अवतार। आहाहा! नरक और निगोद, कीड़े और कौए के अवतार कर-करके कचूमर निकल गया है, बापू! अनन्त भव हुए। ये अनन्त भव, भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. भव.. ऐसे वर्तमान से भूतकाल ऐसे देखते-देखते कोई भवरहित जीव नहीं। ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये, तथापि कहते हैं, उस भव का प्रवेश तेरे जीव में नहीं है। वैसे ही जीव के प्रदेश का उसमें प्रवेश नहीं है। आहाहा! अपने को भूलकर कल्पना मानी। मैं ज्ञान का स्वामी हूँ और ज्ञान है, वह मेरा स्वरूप है; जैसे मिठास शक्कर का स्वरूप है; वैसे ज्ञान, वह आत्मा का स्वरूप है। वह ज्ञान, पर में प्रवेश किये बिना, पर को स्पर्श किये बिना; पर इसमें—ज्ञान में—आये बिना, ज्ञान स्व-पर को जानता है, ऐसा इसका स्वभाव है। तदुपरान्त अतिक्रमण करके दूसरी बात मानें (तो वह) भ्रम और मिथ्या अज्ञान है। आहाहा! वह असत्य का सेवन करता है। सत्य को छोड़कर असत्य का सेवन करता है तो उस असत्य के फल में चार गति के परिभ्रमण में उसे भटकना पड़ता है। आहाहा! गजब कठिन काम है। है?

(ज्ञान में) **अन्य द्रव्य प्रतिभासित होते हैं सो तो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है; कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता...** इस प्रकाश को ज्ञान जानता है तो ज्ञान कहीं प्रकाश को स्पर्शता–छूता नहीं है। आहाहा! अन्धकार को ज्ञान जानता है, परन्तु वह ज्ञान, अन्धकार को स्पर्शता नहीं है तथा वह ज्ञान, अन्धकार में प्रवेश नहीं करता तथा वह अन्धकार, ज्ञान में प्रवेश नहीं करता। आहाहा! यह बात किस प्रकार माने? पूरी दुनिया से उल्टा। धर्म के करनेवाले को (ऐसा कहे), यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह कहते हैं कि तू जो यह करने को कहता है, वह तो तेरे ज्ञान का ज्ञेय है। आहाहा! और वह भी ज्ञेय, ज्ञेय में रहकर तुझे तेरे जानने की स्वच्छता के स्वभाव के कारण वह ज्ञेय और तेरा ज्ञान तुझमें तेरे कारण ज्ञात होता है। आहाहा! गज़ब बात है, पूरी दुनिया से उल्टी बात है। पूरी दुनिया का कर दे, मण्डली कर दे, ऐसे कर दे और वैसे कर दे। अपने व्यवस्थापक व्यवस्था करो कि व्यवस्था बराबर हो। प्रभु कहते हैं कि चीज़ व्यवस्थित ही है। वह व्यवस्थित है, उसे व्यवस्था करना मानना, वह भ्रमणा–अज्ञान है। आहाहा! व्यवस्थापक (बड़े) होते हैं न, प्रमुख सामने कि यह इस मण्डली के व्यवस्थापक तुम बनो, यह सब काम तुम्हारे जिम्मे है, तुम्हारी जबावदारी है। आहाहा! प्रभु कहते हैं, सुन! जिसकी तू व्यवस्था करना चाहता है, वह कोई चीज़ है या नहीं? वह कोई चीज़ है या नहीं? और है तो उसकी अस्ति रखती है या नहीं? और उसकी अस्ति तुझमें प्रवेश कर डाली है या स्वतन्त्र अस्ति रखती है? आहाहा! देवचन्दजी! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : क्रमबद्धपर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो ऐसा ही है। जिस समय में जो पर्याय... यहाँ तो पर्याय होनेवाली, वह तो बराबर है, परन्तु यह पर की जो होती है, वह पर के (दूसरे के) कारण नहीं। क्रमबद्ध में जो पर्याय आती है, उसमें स्व–पर का जानना आता है, वह पर के कारण नहीं; वह स्व–पर जनने का स्वभाव स्वयं की स्वच्छता का है। निर्मलता का स्वभाव है; इसलिए उसे तू और पर दो ज्ञात होते हैं तुझमें, तेरे कारण। उस पर के कारण तू ज्ञात होता है और पर को तू जानता है–ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन यह काम। पूरे दिन मानों करें–करें करूँ, दुकान में पेढ़ी पर बैठा हो, यह किया और यह किया, यह किया और यह किया। यहाँ से लाख रुपये कमाये और यहाँ से दो लाख कमाये और यहाँ से पाँच लाख

किये... यह धूल में भी नहीं। सुन न! आहाहा! वह चीज़ अपनी सत्ता को छोड़कर तेरे ज्ञानस्वरूपी तू आत्मा है, उसकी सत्ता में आती नहीं और तेरी ज्ञान सत्ता, ऐसा भगवान आत्मा अपनी ज्ञान सत्ता छोड़कर पर में प्रवेश करता नहीं। आहाहा! कठिन काम।

कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। दोनों (बातें ली हैं)। ज्ञान, ज्ञात हो, उन्हें स्पर्श नहीं करता और ज्ञात होती हैं, वे चीज़ें ज्ञान को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ये शब्द जो ज्ञान में ज्ञात होते हैं, वे शब्द नहीं ज्ञात होते; शब्द सम्बन्धी का अपना ज्ञान है, यहाँ वह ज्ञात होता है। वह ज्ञान की स्वच्छता का स्व और पर को जानने का स्वयं का स्वत: स्वभाव स्वतन्त्र है; इसलिए स्वयं स्व-पर को जानता है। पर के इन शब्दों को जानता है-ऐसा नहीं। शब्द तो ज्ञेय हैं, ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य हैं और आत्मा जाननेवाला है। उस जाननेवाले में ज्ञेय का प्रवेश नहीं है। ये शब्द उसे स्पर्श नहीं करते। शब्द जड़ है और आत्मा प्रभु अन्दर ज्ञानस्वरूपी चेतन है। उस चेतन को शब्द स्पर्श नहीं करते, तो भी शब्द का जो ज्ञान होता है, वह शब्द के कारण से नहीं; वह अपनी सामर्थ्य के कारण ज्ञान होता है। आहाहा! इतना सब फेरफार। अभी तो सब ऐसे काम के करनेवाले (ने) ऐसा कर दिया और वैसा कर दिया और ऐसा कर दिया।

मुमुक्षु : छद्मस्थ को ज्ञान स्पर्श किये बिना किस प्रकार होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श किये बिना जानता है। अपनी स्वच्छता के कारण (जानता है)। ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वत: पर की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से जानने का स्वभाव है। आहाहा! एक-एक शब्द, ध्यान रखे तो पकड़ में आये, ऐसा है, बापू! एक शब्द बदले तो पूरी बात बदल जाए, ऐसी है। अभी तो पागलपना चला है सब। अभी सब पागल, चतुर कहलाते हैं। आहाहा! दुनिया के पागल हैं। हम करते हैं, हमसे हुआ है.. आहाहा! हमने व्यवस्था रखी तो यह काम व्यवस्थित हुआ, उस व्यवस्थित काम में हमारा हाथ है, हमारा हाथ है; इसलिए काम व्यवस्थित हुआ। पागल है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसने काम किया और ऊपर से पागल...

पूज्य गुरुदेवश्री : काम किया नहीं, काम किया नहीं। (किया) ऐसा माने, इसलिए पागल है। इन वकील ने सलाह की, इसलिए वह (मुकदमा) जीता है, वहाँ

वकील ने दलील की है, रामजीभाई ने दलील की थी और वह जीता, यह बात अत्यन्त खोटी है। आहाहा!

ज्ञान में.. यह प्रभु अन्दर चैतन्य है, वह ज्ञानस्वरूप है। जैसे शक्कर मिठासस्वरूप है; वैसे भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उस ज्ञान का स्व-पर जानने का स्वभाव है। वह पर की अपेक्षा रखे बिना, पर में प्रवेश (किये) बिना; पर की अस्ति है; इसलिए पर को जानता है, ऐसा नहीं। आहाहा! कठिन बात, भगवान! वीतरागमार्ग बहुत कठिन है, भाई! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव तीन काल के ज्ञान से इन्द्रों और गणधरों के बीच कहते हैं, वह यह वाणी है। आहाहा! अनन्त तीर्थंकरों का एक वाक्य है, यह एक ही वाक्य है, आहाहा! कि एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य, दूसरे द्रव्य को नहीं चुम्बता, चुम्बता-स्पर्शता नहीं है। गजब बात है, भाई!

यह हाथ दूसरे के शरीर को ऐसे छूता नहीं, कहते हैं। आहाहा! क्योंकि हाथ की अस्ति में जो छूता है, उसकी अस्ति नहीं है और इसमें उसकी अस्ति नहीं है। आहाहा! ऐसा कहा समझे? निवृत्ति कहाँ है? दुनिया की होली, काम-काज पूरे दिन, पूरे दिन अभिमान की होली सुलगती है। हम करते हैं... हम करते हैं.. हमने किया.. हमने किया.. हम चतुर। उसमें मेरा हाथ था, इसलिए वह काम सुधरा, ऐसा कहते हैं न? उसमें मेरी उपस्थिति थी, इसलिए काम सुधरा। आहाहा! प्रभु! काम सुधरा अर्थात् क्या? जो काम वहाँ कार्य हुआ वह-वह, वहाँ उस-उस द्रव्य से कार्य हुआ है और वह कार्य द्रव्य बिना का कार्य होता नहीं। कोई द्रव्य, पर्याय बिना का अर्थात् अवस्था बिना का अर्थात् कार्य बिना का होता नहीं। तब जो कार्य बिना का द्रव्य नहीं, उसे तूने कार्य किया.. शान्तिभाई! पागलपन किया होगा। अभी तक यह सब भाषण कर-करके। यह तो दृष्टान्त (है) शान्तिभाई नजदीक है, इसलिए। सब ऐसा ही करते हैं न! आहा!

'मैं करूँ मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ा का भार ज्यों श्वान खीचे'—गाड़ा का भार। गाड़ा चलते हुए ठीठु कुत्ते को छुए तो वह मानो कि यह गाड़ा मुझसे चलता है। इसी प्रकार पैढ़ी पर बैठा, व्यापार चले जड़ का जड़ से... आहाहा! यह पैढ़ी पर बैठा, वह ऐसा माने कि यह मेरे कारण यह सब व्यवस्था चलती है। हिम्मतभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : हिम्मतभाई को दुकान पर जाना या नहीं जाना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन जाए ? कौन आये ? बापू ! प्रभु तो चैतन्यस्वरूप ही है न, भगवान ! तेरा स्वरूप तो प्रभु ! स्व-पर प्रकाशक शक्ति जानने की है न ! पर का कुछ करने की, छूने की तुझमें शक्ति नहीं है। आहाहा ! अक्षर लिखना, पुस्तक बनाना, पृष्ठ फिराना- यह आत्मा का कार्य नहीं है। अर र र ! ऐसी बात कहाँ बैठे !

प्रभु ! तू कौन है ? तेरा स्वरूप क्या है ? चेतन तेरा स्वरूप है। तेरा चेतन आत्मा चैतन्यस्वरूप है। चेतन आत्मा का चैतन्य—जानना-देखना—स्वरूप है, तो उस जानने-देखने में वह चीज़ ज्ञात हो-दिखे, वह चीज़ वहाँ आती नहीं और उस चीज़ के कारण ज्ञात हो-दिखे, ऐसा नहीं। जानने-देखने का तो स्वभाव अपना अपने से है। आहाहा ! भारी कठिन काम। यह सब शिक्षा के और सब अधिकारी, ये डॉक्टर और वकील और ये है न, वह डॉक्टर का आज ? जानेवाले हैं न सब ? कहाँ ? पालीताणा.. पालीताणा केन्सर। आहाहा ! वह डॉक्टर ऐसा मानता है कि हमने केंसर मिटाया है। हमने उसकी दवा की। प्रभु ! सुन भाई ! उन दवा के परमाणुओं की अस्ति जगत में है या तेरे कारण है ? तो उन परमाणुओं ने उसके कारण वह कार्य किया, उसमें तूने कहा कि मेरे कारण वह कार्य हुआ। आहाहा ! गजब बात है, प्रभु ! तेरी प्रभुता की भी महिमा। क्या कहा ?

मुमुक्षु : मानते हैं तो ऐसा कि हम काम करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : काम किये। धूल भी किये नहीं। आहा ! हमने सब दुकान में देखा है न ! हमने दुकान चलायी है न, पाँच वर्ष दुकान चलायी है, (संवत्) १९६३ से १९६८, पालेज। पालेज है। भरुच और वड़ोदरा के बीच पालेज है। पाँच वर्ष दुकान (चलायी है)। बड़ी दुकान है। अभी दुकान है, वही दुकान है अभी। चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। वही दुकान है अभी तब की। मुझे ६६ वर्ष तो दीक्षा लिये हुए, दुकान छोड़े ६८ वर्ष हुए। ६८ (वर्ष), फिर डेढ़ वर्ष पढ़ा था। यह अभी ९१ वर्ष हुए हैं। ९० और १ । सब देखा है, बहुत जाना है। जगत को देखा, बापू ! आहाहा !

जहाँ हो, वहाँ अभिमान.. अभिमान.. अभिमान.. अभिमान.. पढ़ने (क्षयोपशम) का अभिमान या भाषण करने का अभिमान। आहाहा ! इस अभिमान के कारण इसे मैं

ज्ञानस्वरूप जाननेवाला हूँ (-ऐसा भासित नहीं होता)। यह अभिमान, वह मेरा स्वरूप नहीं। अभिमान करना, वह तो निरर्थक है; पर का काम करना-कर सकता हूँ, वह तो निरर्थक है। आहाहा! पर का भला करके मदद करूँ, वहाँ क्या तेरी चीज़ वहाँ चली जाती है कि तू उसे मदद करे? तेरी चीज़ तो तुझमें रहती है, उसकी चीज़ तो उसमें रहती है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अस्ति में रहता है। उसमें उसकी अस्ति में दूसरे की अस्ति क्या काम करे? आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! व्यापारियों को यह सब पढ़े हुओं को...

मुमुक्षु : आप कहते हो, वह है तो सत्य।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु तो ऐसी है। आहाहा!

यह यहाँ कहा, **कहीं ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता...** आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी चैतन्य ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्मानन्द प्रभु है। उसे भान नहीं, इसलिए काम और क्रोध, और विकार को करके अपना मानकर भटककर मर गया है चौरासी के अवतार में। आहाहा! भले यह दस-दस हजार के वेतनवाला हो। सब पंगु, सब पागल है। आहाहा! यह अरबपति हो, करोड़पति हो। आहाहा!

अफ्रीका में गये थे न? नैरोबी। सात लाख की आबादी है। वहाँ २६ दिन रहे थे। हमारा नाम प्रसिद्ध हुआ न, इसलिए लोगों को बहुत मान / प्रेम (था)। क्या कहते हैं ये महाराज? बहुत पत्र आये थे। अभी कल एक व्यक्ति कह गया, फिर से नैरोबी आओ महाराज! केशुभाई आये थे। बड़ी दुकानवाले बड़े गृहस्थ हैं। केशुभाई आये थे, (कहा) फिर से एक बार आना। भाई! अब ९१ वर्ष हुए, शरीर को ९१ वर्ष हुए। शरीर अलग आत्मा अलग। दोनों को कुछ लेना-देना नहीं है। शरीर को ध्यान रखो तो रहे-इस बात में एक प्रतिशत की दम नहीं है। आहा! ध्यान न रखो तो अन्दर रोग हो जाए, इस बात में कुछ दम नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

तेरी प्रभुता तो नाथ! स्व-पर को जानने की शक्ति में तेरी प्रभुता है। तेरी प्रभुता पर के काम करने में नहीं है। आहाहा! प्रभुता यहाँ है और अन्य काम करने में मेरी प्रभुता है, ऐसा मानता है। इस प्रभुता का गुण मानो वहाँ घुस गया हो! प्रभुता का गुण है आत्मा में, अनन्त गुण में प्रभुता नाम का एक गुण है आत्मा में। ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, सुख,

वीर्य – ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं। उसमें एक प्रभुता नाम का गुण है। वह प्रभुता अपने गुण में रहकर अपना कार्य करती है, अपनी प्रभुता को बनाये रखती है। वह दूसरे की प्रभुता... यह हाथ डालकर मुझसे ये काम हुए... आहाहा! वह प्रभुता नाम का गुण कहाँ गया? और वह जो सामने चीज़ है, वह अपनी पर्याय और कार्यरहित है? आहा! समझ में आया?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में प्रवेश नहीं करता तीन काल-तीन लोक में, और वह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और उसका कुछ भी काम करे तो ज्ञानस्वरूपी भगवान स्व-पर जाननेवाला रहा नहीं। स्व-रूप से रहकर पर को करे, वह तो पर में घुस गया। आहाहा! काम भारी कठिन। ये सब डॉक्टर, सब वकील, सब व्यापारी, सब पढ़े हुए, एम.ए... एल.एल.बी. पढ़े हुए कुछ दुनिया में काम नहीं करते होंगे? सब कार्यहीन बैठते होंगे? पर का काम करे, वह माननेवाला दुर्बल है क्योंकि अपने में पर का काम कर सके, ऐसा माल नहीं है। अपने में प्रभुता का माल है। वह पर को, स्व को जानने की प्रभुता का माल है। उसे रखना आवे, उसे प्रभुता का माल आता है। आहाहा! परन्तु वह अपनी प्रभुता पर के काम में जोड़ देता है, ऐसा वह मानता है परन्तु वह प्रभुता अपने प्रदेश को छोड़कर दूसरे प्रदेश को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! दूसरे किसी भी द्रव्य को अर्थात् वस्तु को; द्रव्य अर्थात् अकेला पैसा कुछ नहीं, धूल नहीं। धूल, पैसा तो धूल है। यह दूसरा सब यह धूल, धूल धमाड़ा है। पैसा, मकान और स्त्री-पुत्र और हजार तथा पचास लाख-लाख के मकान, बड़ी धूल है सब, धूल। यह मकान हमने बनाया और हम वास्तु सब कार्यकर्ताओं को बुलाकर और दो-पाँच-दस हजार खर्च करके बड़ा वास्तु किया। आहाहा! उसका अभिमान किया।

यहाँ कहते हैं कि तेरी चीज़ तेरे स्व-पर प्रकाशक स्वभाव को छोड़कर एक अंश में भी बाहर में नहीं जाती और बाहर का पदार्थ एक अंश भी तुझमें (आया नहीं)। आया था न यहाँ? प्रवेश दिखायी नहीं देता। अन्दर एक-दूसरे में एक-दूसरे का प्रवेश दिखायी नहीं देता। दिखायी नहीं देता, कहते हैं। तुझे ऐसा लगता है कि इसका यह घुस गया और इसे ऐसा हुआ, लकड़ी में कील घुस गयी और पैर में काँटा लग गया.. आहाहा! भारी ऐसी

बातें दुनिया से उल्टी। आहाहा! दुनिया पूरी उल्टी है। पागल है और यह बात भगवान करते हैं।

तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर (कहते हैं), प्रभु! तू भटक मरा चौरासी के अवतार में। आहाहा! यह लहसुन और प्याज के भव, शास्त्र में आता है अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ किये। अड़तालीस मिनिट में निगोद के भव मरे-जन्मे, मरे-जन्मे... अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ भव (किये)। यह एक बार नहीं परन्तु अनन्त बार किये। प्रभु! तू भूल गया। आहा! आचार्य महाराज तो कहते हैं.. चन्दुभाई! आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं गत काल के जहाँ दु:ख स्मरण करता हूँ (तो) चोट लगती है। आचार्य स्वयं कहते हैं। मैं जहाँ गत काल के दु:ख स्मरण करता हूँ... बापू! तूने विचार किया नहीं, दु:ख क्या कहलाता है? उस दु:ख की मर्यादा और दु:ख की हद। आहाहा! कहते हैं कि मैं विचार... आचार्य समकित ज्ञानी.. आहाहा! गत काल में भटकते-भटकते जो दु:ख भोगे, प्रभु! क्योंकि है तो आत्मा अनादि का, (तो) कहाँ रहा? भवभ्रमण में रहा, मुक्ति हुई नहीं। जो चना पका हो, वह मिठास दे और बोने से उगे नहीं। इसी प्रकार यदि आत्मा अज्ञान का नाश करके पक्का हो तो जन्म हो नहीं और आनन्द दे और कच्चा चना मिठास दे नहीं और बोने से उगे। इसी प्रकार अनन्त काल का अज्ञानी आत्मा अज्ञान के कारण दु:ख भोगता है और उगता है (अर्थात्) भव धारण करता है।

मुमुक्षु : दु:ख विस्मृत हो गये हों, उन्हें याद किसलिए करना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : याद करने के लिए, अन्दर वैराग्य के लिए, कहते हैं। आहाहा! वैराग्य करने के लिए कि आहाहा! प्रभु! मैंने कहाँ काल बिताया? इस भव से पहले कहाँ था? उसके पहले कहाँ? उसके पहले कहाँ? उसके पहले कहाँ? कभी विचार (किया नहीं)। वर्तमान भव के अतिरिक्त विचार नहीं होता। पागल, इतना पागल है, पागल है। भले वह करोड़पति हो और अरबपति हो। आहाहा! कहा था वहाँ नैरोबी गये थे तब (कहा था) अफ्रीका में अभी गये थे न? नैरोबी। वहाँ साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। एक गाँव में, एक गाँव में साढ़े चार सौ करोड़पति और पन्द्रह अरबपति। लोगों को बहुत प्रेम था, प्रार्थना बहुत थी। गये थे, छब्बीस दिन रहे थे। नैरोबी-अफ्रीका। परन्तु सब पैसा.. पैसा..

पैसा.. ढेर पैसे का, उसके कारण सूझ नहीं पड़ती उसे बेचारे को। पच्चीस-पच्चीस, पचास-पचास लाख के कपड़े तो दुकान में हैं। ऐ... बड़ा धन्धा और उसमें उसकी सफाई और... आहाहा!

मुमुक्षु : वहाँ के लोग बहुत सुखी हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दु:खी हैं। आहाहा! पराश्रय में सुख नहीं, ऐसा नहीं कहते? पराधीन, वह सुख नहीं, पराधीन है। अपना स्वभाव छोड़कर... आहाहा! पर के भाव में अपनेपन का अभिमान (करता है)। है नहीं, उसे है - ऐसा मानना; पर के कार्य कर नहीं सकता, उसे कर सकना मानना, महा झूठ, असत्य और अज्ञान का सेवन करनेवाले हैं। यह तो ढिंढ़ोरा पीटकर बात है। आहाहा! जो काम कर नहीं सकता, उस काम को कर सकता हूँ—ऐसा मानकर स्वयं को भूलकर परिभ्रमण कर रहा है। आहाहा! मैं कौन हूँ? आहाहा! श्रीमद् कहते हैं न...

'मैं कौन हूँ? आया कहाँ से? और मेरा रूप क्या?
सम्बन्ध दु:खमय कौन है? स्वीकृत करूँ परिहार क्या?
इस विचार विवेकपूर्वक शान्त होकर कीजिये,
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये॥४॥'

सोलह वर्ष में (लिखा)। श्रीमद् की देह की उम्र सोलह वर्ष की। आत्मा को उम्र कैसी! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। है.. है.. है.. और है.. यह धूल यदि यह न हो और धूल जाये, उसे कहे कि मर गया, आत्मा मरता है? वह भी कहाँ मरता है? वह भी जिसकी अवस्था ऐसी है, वह अवस्था दूसरी हुई, उसे मरण कहते हैं। कहीं परमाणु मर नहीं जाते। आहाहा! यह परमाणु जड़ हैं, उनका कहीं अभाव नहीं होता। अभी यह शरीर की अवस्था है। वह श्मशान में जलकर राख की होगी। अवस्था बदलेगी, पर्याय बदलेगी। वस्तु कभी अभाव होगी, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! कठिन है, प्रभु! बात परम सत्य है। आहाहा!

प्रभु! तेरी महिमा का पार नहीं। तुझे तेरी महिमा की खबर नहीं और तू परचीज़ में महिमा लेने जाता है। आहाहा! परचीज़ की अधिकाई में तू महिमा लेने जाता है, (उसमें)

तेरी महिमा लुट जाती है। उसका तुझे विचार भी नहीं। आहाहा! जहाँ हो वहाँ मैंने किया काम, यह काम मैंने किया, मुझसे हुआ, मेरे कारण हुआ। आहाहा! यह यहाँ इनकार करते हैं।

ज्ञान उन्हें स्पर्श नहीं करता अथवा वे ज्ञान को स्पर्श नहीं करते। ऐसा होने पर भी, ज्ञान में अन्य द्रव्यों का प्रतिभास देखकर... ज्ञान में उस-उस समय जो जानने की योग्यता हो, वह-वह पदार्थ ज्ञात होता है। वह पदार्थ ज्ञात होता है, यह व्यवहार है। अपना ज्ञान उस सम्बन्धी का जानना, उसका नाम निश्चय है। आहाहा! इसे कितना बदलना पड़ेगा। आहाहा! पूरा बदलना पड़ेगा। आहाहा! अरे रे! अनन्त-अनन्त काल कहाँ व्यतीत हुआ, प्रभु! कहाँ गया? रहा तू? आहाहा! तुझे रहने का अनन्त काल कहाँ हो? नाथ! अनन्त काल तो आत्मा में रहने का हो। यही वस्तु की स्थिति है। आहाहा!

भगवान आनन्द और ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु में रहने के लिये तेरी योग्यता है। उसके बदले राग और द्वेष और अज्ञान में रहकर (तू) लुट गया है, प्रभु! लुट गया है और मानता है कि हम कुछ बढ़ गये हैं और कुछ दूसरे की अपेक्षा आगे (विशिष्ट) हो गये हैं। आहाहा! ऐसा तुम्हारे हांगकांग का धन्धा, धन्धा लाखों रुपये की आमदनी, इसलिए मानो ओहोहो! और वह फिर लाखों रुपये दे कहीं दान में (तो) मानो लाख दिये तो जाने क्या हुआ? उसमें धूल में है, बापू! वे करोड़ों रुपये दे न, धर्म नहीं है। वह करोड़ जड़, मिट्टी, धूल है। धूल का स्वामी होकर माने तो मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। मेरे हैं, जो तेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है, उसे तू मेरे रूप (अपने रूप) मानता है। आहाहा! ज्ञान का स्वभाव है कि पर उसमें ज्ञात हो, स्वयं के कारण से, पर के कारण से नहीं। आहाहा! उसे पर के कारण से ज्ञात नहीं होता, तथापि उसे पर के कारण वह ज्ञात होता है और पर का स्वामी होता है, कहते हैं कि वह अज्ञान है।

लोग 'ज्ञान को परज्ञेयों के साथ परमार्थ सम्बन्ध है' ऐसा मानते हुए... देखो? आहाहा! भाई! जितने वर्ष रहे, उतना तो सम्बन्ध है या नहीं? स्त्री के साथ, पुत्र के साथ, परिवार के साथ, पैसे के साथ, मकान के साथ, फिर भले मरकर जाये कहीं। परन्तु यह सौ वर्ष, पचास वर्ष तो रहे या नहीं? बापू! उसमें भी रहा नहीं, तुझे भान नहीं। तेरी सत्ता

में तो स्व-पर जानने का स्वभाव तेरा स्वरूप है। उसके बदले पर के काम करूँ और पर मेरे (मानना), वह भ्रम और मिथ्यात्व है, वह भव-भ्रमण का मूल है। आहाहा! चौरासी लाख के भटकने का मार्ग है, बापू! प्रभु! तेरी कीमत की तुझे खबर नहीं है। आहाहा!

आया था यहाँ, नहीं कल? भव के कारण नहीं? भव का भींत... कल आया था, नहीं? दोपहर को। भव का भींत, भव का भय। आहाहा! अरे रे! यहाँ के बाद कहाँ जायेगा और कहाँ रहा? ऐसे भव के भय का डर करके और एक बार आनन्द में आ न, प्रभु! आहाहा! गुरु ने तुझे ऐसा कहा था, ऐसा वहाँ आया था। गुरु के सान्निध्य में आत्मा को सुखकारी सुना था, तो उन्होंने सुखरूप से सुनाया, वह सुखरूप है। आहाहा! वैसा गुरु ने उसे सुखकारी है, ऐसा सुनाया है। गुरु ने उसे, ऐसा कर और ऐसा कर, ऐसा नहीं सुनाया। आहाहा! कल आया था। आहाहा! अमुक कर और तेरे इस काम में होशियार कर, एल.एल.बी. हो और एम.ए. का पुच्छल्ला लगाया, डॉक्टर, एल.एल.बी. का वकीलों को... आहाहा! अरे! उसमें कुछ नहीं है, बापू!

एक बार तू कौन है और तू क्या कर सकता है और तुझसे भिन्न चीज़ क्या है और वह-वह उसके कारण से काम से पलट रही है। उसकी पर्याय उसके कारण से पलट रही है, उसे मैं पलटाऊँ, ऐसा तेरा अभिमान कहाँ ले जायेगा? प्रभु! आहाहा! वहाँ कोई सिफारिश नहीं चलेगी। मैंने ऐसे बहुत काम किये थे; इसलिए किसी की सिफारिश... कुदरत के नियम में तो जो वस्तु का स्वरूप है, तद्नुसार होना है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, परमार्थ से तू सम्बन्ध है, ऐसा मानता है। **ऐसा मानते हुए ज्ञानस्वरूप से च्युत होते हैं...** आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी चैतन्य प्रभु! प्रज्ञाचक्षु, यह तो ज्ञान की आँखें हैं जिसकी, ऐसा ही यह भगवान आत्मा है। उस ज्ञान को.. आहाहा! ज्ञानस्वरूप से च्युत होता है। परमार्थ से पर का काम करता हूँ और दूसरों को मैं सलाह देकर काम करता हूँ, यह सब अज्ञानता-मूढ़ता है। आहाहा! इस मान्यता में ज्ञानस्वरूप से भ्रष्ट हुआ है।

यह उनका अज्ञान है। उन पर करुणा करके आचार्यदेव कहते हैं कि-यह लोग तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं? अरे! प्रभु! तू तत्त्व से कहाँ भ्रष्ट होता है? आहाहा! आचार्य महाराज

का पुकार है, प्रभु! तेरा तत्त्व ज्ञानानन्द, सच्चिदानन्द प्रभु है। वह पर के काम करना मानकर तेरे तत्त्व से क्यों च्युत होता है? प्रभु! तुझे क्या हुआ यह? आहाहा! तुझे कौन बतानेवाला ऐसा मिला कि भटक मरता है तू? किसी ने तुझे ऐसा कहा नहीं कि तू ज्ञानस्वरूप भगवान है। पर को और तुझे कोई सम्बन्ध नहीं है। पर तेरा नहीं, तू उनका नहीं, आहाहा! गजब काम, भाई!

पूरे दिन स्त्री, पुत्र, धन्धा, व्यापार, छह-सात घण्टे नींद, फिर दो-चार घण्टे स्त्री, पुत्र, प्रसन्न करने में रहे। दो-चार घण्टे, छह घण्टे धन्धे में रहे। उसमें कहाँ बचे इसमें? मेरा क्या होगा? मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा? मेरी सत्ता तो है, तो है वह सत्ता तो रहेगी। देह का नाश होगा, देह के नाश का अर्थ ही पर्याय पलटेगी। इसकी पर्याय पलटेगी परन्तु उसके साथ तू पलट जायेगा, उसके साथ? आहाहा! हाँ, तू पलट जायेगा परभव की पर्यायरूप। आहाहा! परन्तु शरीर के नाश में तेरा नाश शामिल नहीं है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। अरे! आचार्य महाराज पुकार करते हैं, **यह लोग...** आहाहा! **तत्त्व से क्यों च्युत हो रहे हैं?** ऐसा जो तत्त्वस्वरूपपना भगवान स्व-पर प्रकाशक शक्ति का धनी, ऐसा यह पर के काम मैं करके अभिमान कर-करके क्यों स्वरूप से च्युत होते हैं? स्वरूप से च्युत होकर कहाँ भटककर मरता है उसमें तो? ऐसे अन्त में बात की। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २१६

पुनः इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं–

(मन्दाक्रान्ता)

शुद्ध–द्रव्य–स्वरस–भवनात्किं स्वभावस्य शेष–
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः।
ज्योत्सनारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि–
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेय–मस्यास्ति नैव।।२१६।।

श्लोकार्थ : [शुद्ध–द्रव्य–स्वरस–भवनात्] शुद्ध द्रव्य का (आत्मा आदि द्रव्य का) निजरसरूप (ज्ञानादि स्वभाव में) परिणमन होता है इसलिए, [शेषम् अन्यत्–द्रव्यं किं स्वभावस्य भवति] क्या शेष कोई अन्य द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है? (नहीं)। [यदि वा स्वभावः किं तस्य स्यात्] अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है? (नहीं। परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।) [ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति] चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है [भूमिः तस्य न एव अस्ति] तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती; [ज्ञानं ज्ञेयं सदा कलयति] इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है [ज्ञेयम् अस्य अस्ति न एव] तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।

भावार्थ : शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाए तो किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनी की किंचित्मात्र भी नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है किन्तु ज्ञेय ज्ञान का किंचित्मात्र भी नहीं होता। आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, इसलिए उसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता।२१६।।

प्रवचन नं. ४१८, श्लोक-२१६, २१७ सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११
दिनाङ्क - २३-०६-१९८०

समयसार, २१७ कलश है।

मुमुक्षु : २१६ बाकी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाकी है।

मुमुक्षु : जी प्रभु।

पूज्य गुरुदेवश्री : १६ बाकी है ? पूरा ?

मुमुक्षु : जी हाँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक।

> **शुद्ध-द्रव्य-स्वरस-भवनात्किं स्वभावस्य शेष-**
> **मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभाव:।**
> **ज्योत्सनारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-**
> **र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेय-मस्यास्ति नैव॥२१६॥**

शुद्ध द्रव्य का (आत्मा आदि द्रव्य का) निजरसरूप (ज्ञानादि स्वभाव में) परिणमन होता है... क्या कहते हैं ? आत्मा का तो ज्ञानस्वभाव है। उस ज्ञानस्वभाव से स्वयं परिणमता है। **शेष कोई अन्य, द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है?** ज्ञान ज्ञेय को जाने, इससे कहीं ज्ञेय ज्ञान का हो सकता है ? ऐसा कहते हैं। आहाहा ! जो ज्ञान का स्वभाव है कि पर को और स्व को जाने, जानने से कहीं ज्ञान पर का हो जाता है ? अपने में रहकर स्वयं जानता है, वह तो अपना स्वरूप है। पर को जानना वह कहीं पर का स्वरूप है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! इस ज्ञान के अतिरिक्त पुण्य और पाप, राग और द्वेष, दया, दान, काम, क्रोध, शरीर, वाणी, मन सब, यह ज्ञान का स्वभाव है कि उन्हें जाने, परन्तु जानने से कहीं ज्ञान उनका हो जाता है, ऐसा नहीं है।

परिणमन होता है... 'शेषम् अन्यत्-द्रव्यं किं स्वभावस्य भवति' शेष कोई अन्य, द्रव्य उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है? ज्ञान में पर ज्ञात होता है, इससे कहीं अन्य द्रव्य अपना हो जाता है ? ज्ञान ज्ञानरूप रहकर राग, द्वेष, दया, दान, विकल्प, शरीरादि (को) अपने में रहकर उन्हें जानने से ज्ञान उनका हो जाता है ? ज्ञान राग का हो जाता है ? ज्ञान ज्ञेय का हो जाता है ? आहाहा ! उस ज्ञान में पूरी दुनिया ज्ञात होने पर भी उस दुनिया का ज्ञान नहीं हो जाता। ज्ञान ज्ञान का रहकर ज्ञान पर को जानता है। आहाहा ! और ज्ञेय भी ज्ञेयरूप रहकर ज्ञान में ज्ञात होता है। कहीं ज्ञेय ज्ञानरूप हो जाए, ज्ञान में ज्ञेय ज्ञात हो,

इसलिए ज्ञेय ज्ञानरूप हो जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा!

दो ही बात है। ज्ञान है, वह ज्ञानस्वरूप से प्रभु है और राग, द्वेष, पुण्य, दया, दान, विकल्प और शरीर, वाणी, मन, पूरा जगत, वह ज्ञान का ज्ञेय होने पर भी उस ज्ञेयरूप कहीं ज्ञान नहीं होता और ज्ञेय जो है राग, द्वेष, दया, दान, या शरीरादि, वह ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं होते। आहाहा! **उस (ज्ञानादि) स्वभाव का हो सकता है? (नहीं) हो सकते।**

'यदि वा स्वभाव: किं तस्य स्यात्' अथवा क्या वह (ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है? तो आत्मा अनन्त ज्ञानस्वरूप प्रभु भले अनन्त को जाने, उससे क्या कहीं अनन्त का हो जाता है? आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, पुत्र, पुत्री, वे सब ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं परन्तु ज्ञान में वे ज्ञेय हो जाएँ, ज्ञान उन ज्ञेयरूप हो जाए, ऐसा नहीं है तथा वह ज्ञेय ज्ञानरूप हो जाए, पुत्र पिता का हो जाए और पिता पुत्र का हो जाए, ऐसा नहीं? पिता का आत्मा है, वह ज्ञान है और वह सब चीज़ को ज्ञेयरूप से जानता है। ज्ञेयरूप से जानते हुए ज्ञान कहीं ज्ञेयरूप नहीं होता। ज्ञानरूप रहकर पर को जानता है। इतना तो नहीं परन्तु पर ज्ञात होता है, इसलिए पर ज्ञान का हो जाए (—ऐसा नहीं है)। आहाहा! ज्ञान में यह पुत्र है, यह पुत्री है, ऐसा ज्ञान में ज्ञात हो परन्तु वे कहीं ज्ञान में पुत्र-पुत्री ज्ञान के हो जाते हैं? यह, वह नहीं हो जाते और ज्ञान भी उनका हो जाता है? आहाहा! भारी कठिन।

स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, शरीर, लक्ष्मी, यह पुस्तक, पृष्ठ, अक्षर यह ज्ञान ज्ञेयरूप से उन्हें जानता है, जानने से ज्ञान ज्ञेयरूप होकर नहीं जानता, ज्ञानरूप रहकर जानता है। आहाहा! बहुत अन्तर। और परचीज़ जो ज्ञान में ज्ञात होती है, इसलिए उसका ज्ञेय का कुछ जोर है, ज्ञान होने में (-ऐसा नहीं है) वह ज्ञेय ज्ञानरूप नहीं होता। आहाहा! ज्ञानी को कुटुम्ब-कबीला, स्त्री-पुरुष आदि पुरुष अर्थात् स्त्री और पुरुष, पुरुष और स्त्री इस ज्ञान में वे ज्ञात होने पर भी ज्ञान उनका नहीं होता। आहाहा! आत्मा में वे ज्ञात होने पर भी आत्मा उनका नहीं होता और वे आत्मा में ज्ञात होते हैं, इसलिए वह चीज़ आत्मा की नहीं होती। भारी कठिन काम। राग-द्वेष से लेकर स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मकान, धन्धा सब लेना। आहाहा!

किसी अन्य द्रव्य में अन्य हो सकता है? **(ज्ञानादि स्वभाव) किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है?** ज्ञान राग को जाने, शरीर को जाने, पुस्तक को जाने, इससे वह ज्ञान कहीं

उनका हो जाएगा ? आहाहा ! **(नहीं) हो सकता।** भगवान आत्मा तो आत्मारूप ही रहा हुआ है, वह आत्मा पररूप होकर रहता है, ऐसा है ही नहीं। पर को जानने पर भी पररूप होकर जानता है, ऐसा नहीं है। अपनेरूप रहकर उन्हें जानता है, वह वास्तव में अपने को जानता है; उन्हें जानता है-यह व्यवहार है। आहाहा ! यहाँ तक जाना। बड़े व्यापार के धन्धे-धमाल चलती हो। आहाहा !

'कोलाबा' मुम्बई में एक बार बहुत वर्ष पहले वहाँ गये थे। एक मारवाड़ी धमाल-धमाल करता था। तब पहले-पहले मुम्बई गये थे। फिर कहा, चलो कोलाबा देखने। एक मारवाड़ी था, धमाल... दिया-लिया, लिया-दिया—ऐसा किया करता था। क्या है परन्तु यह, कहा ? यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों ! १९६८ के पहले, दो-तीन वर्ष पहले, चार वर्ष पहले की बात है। ६४-६५ के वर्ष। पहले-पहले मुम्बई दुकान का माल लेने गये। कहा, कोलाबा देखने जायें। कोलाबा में कैसे है ? वहाँ धमाल चलती थी और तार आवे लन्दन से, यह उसके ऊपर उसके बाद माल का माप करे, कि यही अपना भाव है। लन्दन से आवे समुद्र के किनारे, कोलाबा है न ? आहाहा ! परन्तु देख लो वह तो पागल। आहाहा ! धमाल... तुम्हारे मानो एकमेक होकर...। आहाहा !

(यहाँ) कहते हैं कि भाई ! अरे ! ज्ञानस्वरूप स्वयं अपने क्षेत्र को और भाव को छोड़कर (अलावा) जिसे जानता है, उसके क्षेत्र में और उसके भावरूप से होकर जानता है ? आहाहा ! और जो क्षेत्र तथा भाव ज्ञात होता है, वे ज्ञान के हो जाते हैं ? आहाहा ! पुत्र ज्ञान में ज्ञात होता है, वह कहीं पिता का हो जाता है ? पिता पुत्र को जानता है, इसलिए पुत्र का पिता हो जाता है ? यह कैसे होगा यह ?

मुमुक्षु : यह तो हाँ करने में कठिन पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा ! स्त्री मेरी है, ऐसा कहने में कहते हैं, वह तो ज्ञेय है, ज्ञान में ज्ञेय है तो भी उसे जानने से ज्ञान ज्ञेयरूप—स्त्री मेरी है, ऐसा हुआ नहीं उसे ज्ञान में। आहाहा ! तथा स्त्री है, वह ज्ञेय है, वह पर—उसके पति की स्त्री हुई नहीं। आहाहा ! भारी कठिन काम। पूरा संसार... एक ओर राम तथा एक और गाँव, एक ओर प्रभु आत्मा और एक ओर पूरी दुनिया, राग से लेकर दया, दान के विकल्प से लेकर (पूरी दुनिया)।

आहाहा! इसी प्रकार एक ओर ज्ञेय तथा एक ओर ज्ञान। यह ज्ञान, ज्ञेय को जानने से ज्ञेय का होता नहीं। आहाहा! भाषा सादी है, परन्तु भाव बहुत गहरा है।

ज्ञान जगत को ऐसे जानता है। वह इसे नहीं जानता, जानता है स्वयं को, परन्तु यहाँ जानता है, (ऐसा) समझाते हैं कि ज्ञेय को जानता है तो भी ज्ञान ज्ञेय का नहीं होता। आहाहा! और वह ज्ञेय भी जिसमें ज्ञात होता है, उसका नहीं होता। ज्ञेय जिसमें ज्ञात होता है, उसका ज्ञेय नहीं होता। आहाहा! भारी कठिन काम। **किसी अन्य द्रव्य का हो सकता है? (नहीं हो सकता। परमार्थ से एक द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है।)** आहाहा!

मुमुक्षु : कहा कि व्यवहार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से तो बोलने में है। बोलने में आवे। कथन, बोलना तो जड़ की कथनशैली है। परमार्थ से कोई पुत्र पिता का नहीं, पिता पुत्र का नहीं। पत्नी पति की नहीं, पति की पत्नी नहीं। आहाहा! इसमें आ जाता होगा या नहीं इसमें? आहाहा! दुनिया तो अर्धांगिनी कहती है, अर्धांगिनी है। आधा स्वयं और आधा वह—अर्धांगिनी। पागल लोग तो ऐसा मानते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, एक भी राग का अंश और परचीज़ ज्ञान में ज्ञात होने पर भी, ज्ञान उस राग का और परचीज़ का तीन काल में नहीं होता। आहाहा! और वह ज्ञात हो राग और वह चीज़, वह राग और वह चीज़ ज्ञान की नहीं होती। आहाहा! वह राग आत्मा का नहीं होता, माने भले। आहाहा! दृष्टान्त देते हैं। आहाहा!

चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है... चाँदनी का श्वेतरूप इस पृथ्वी को उज्ज्वल करता है। इससे क्या उज्ज्वल की हो गयी? यह प्रकाश उज्ज्वल पृथ्वी का है? यह उज्ज्वल की भिन्नता है, पृथ्वी भिन्न है। आहाहा! **चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है...** करती है, ऐसा बोला जाता है। **'भूमि: तस्य न एव अस्ति' तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती;...** आहाहा! जो चाँदनी पृथ्वी को सफेद करती है, उस चाँदनी की पृथ्वी होती नहीं, तथा वह चाँदनी पृथ्वी की होती नहीं। आहाहा! यह दृष्टान्त देकर वह समझाया। ज्ञान ज्ञेय का होता नहीं, ज्ञेय ज्ञान का होता नहीं। इसी प्रकार सफेदी जो है चाँदनी

की, पहले कलई की सफेदी आ गयी थी, यह तो प्रकाश आया। चैतन्यप्रकाश है न? ऐसा कि प्रकाश है, इसलिए जानता है। चैतन्य प्रकाश है, वह तो राग से लेकर सब चीज़ को जानता है। इसी प्रकार चाँदनी पृथ्वी को सफेद करती है, ऐसा कहा जाता है परन्तु पृथ्वी सफेद होती नहीं। सफेद तो जो ज्योत्स्ना है, वह है। आहाहा! चाँदनी जो है, वह सफेद है, पृथ्वी सफेद नहीं हुई। आहाहा! इस दीवाली में हडफा और सब सफेद करते हैं न? आहाहा!

चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है, 'भूमिः तस्य न एव अस्ति' तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती;... आहाहा! दृष्टान्त कैसा दिया है, देखो न! चन्द्र का प्रकाश जगत को सफेद करता है, ऐसा दिखता है तो भी उसने उस पृथ्वी को सफेद किया नहीं। सफेदी का अस्तित्व सफेदी में रहा है, चाँदनी का प्रकाश चाँदनी के प्रकाश में रहा है। और जो कुछ सफेद दिखता है, वह दीवार सफेदरूप हुई नहीं, दीवार दीवाररूप रही है। आहाहा! यह बात किस प्रकार बैठे?

क्षण में और पल में भिन्न-भिन्न जो ज्ञेय ज्ञात होते हैं, उससे इसे ऐसा हो जाता है कि आहाहा! मेरा ज्ञान, मेरे ज्ञान की यह विशेषता है। क्या कहा यह? ज्ञान में भिन्न-भिन्न ज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिए इसे ऐसा हो जाता है कि मेरे ज्ञान की इस विशेषता के कारण भिन्न-भिन्न ज्ञात होता है। उन्हें जानने की मेरी ताकत है। परन्तु मैं भिन्न हूँ, मेरी जानने की ताकत में वे ज्ञात होते हैं—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! पर ज्ञात हो जाते हैं; इसलिए ज्ञान पर का हो जाता है? और पर ज्ञात हुए, इसलिए ज्ञान का पर हो जाता है? आहाहा! यह अक्षर ज्ञात होते हैं, वह यह ज्ञान कहीं अक्षर का हो जाता है? वे तो ज्ञेय हैं और अक्षर ज्ञेय हैं, वे ज्ञान के हो जाते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार ज्ञान शरीर को, वाणी को, मन को, राग को अपने अस्तित्व में रहकर अपने सामर्थ्य से जानता है, इसलिए उस चीज़ का आत्मा हो गया? आत्मा उसे जानता है, इसलिए आत्मा उसका हो गया? आहाहा! शब्द थोड़े हैं परन्तु गम्भीरता बहुत है। राग और आत्मा दोनों अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! राग भी ज्ञान का ज्ञेय है। व्यवहाररत्नत्रय, लोग चिल्लाहट करते हैं न? कि व्यवहाररत्नत्रय से निश्चय होता है, तो यहाँ तो कहते हैं कि

व्यवहाररत्नत्रय ज्ञान के परज्ञेयरूप से है और वह परज्ञेयरूप से है, वह स्वज्ञेयरूप से होता नहीं। आहाहा! ऐसा है। पूरे दिन यह धमाल करने की—यह किया और यह किया और यह किया। इसके बिना कुछ लाखों रुपये पैदा होंगे? मेहनत किये बिना? पैदा हुए कहाँ हैं? मेहनत की कहाँ है? इसने तो ज्ञान में क्रीड़ा की है। परन्तु कल्पना की है कि मैंने इसकी यह मेहनत की, इसलिए यह चीज़ मुझे मिली, इस चीज़ की मैंने माँग की, इस चीज़ को मैंने मेहनत की इसलिए यह चीज़ मिली। आहाहा! कठिन काम है। और उसमें मुम्बई और कलकत्ता और दिल्ली तथा अफ्रीका और... यह बात कैसे बैठे? आहाहा!

हर रोज पाँच सौ-सात सौ, हजार-हजार, दो-दो हजार की आमदनी प्रतिदिन की। यह दस-दस हजार की आमदनी इसे—पूनमचन्द को, पूनमचन्द को दिन की दस हजार की आमदनी। मुम्बई। आहाहा! निवृत्ति नहीं मिलती, व्याख्यान सुनने को समय नहीं मिलता। लड़के का विवाह किया तो लड़के ने यहाँ विवाह करने के बाद सामने देखा नहीं। बाहर घूमने निकल गया पूरा देश देखने। उसने बीस लाख की मोटर ली, एक (मोटर) बीस लाख की। आहाहा! घूमने निकल गया। पति-पत्नी दोनों पूरे देश में, सब देश देखने। आहाहा! कहते हैं कि देश को देखने से वह देश ज्ञान का हो जाता है? और ज्ञान उस देश का हो जाता है? आहाहा! क्यों मधुभाई! ऐसी बात है। आहाहा!

चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है... दृष्टान्त कैसा सरस दिया है! वह कलई का दिया था। आहाहा! पहला कारीगर का दिया था शिल्पी, शिल्पी। कारीगर बुद्धिवाला, इसलिए कारीगर पर में कुछ काम कर सके, बुद्धिवाला कारीगर और कारीगर की बुद्धि है, इसलिए कर सके, कि नहीं। कारीगर, कारीगर की पर्याय में रहा। क्रिया होती है, वह क्रिया के पर में रही। कारीगर ने क्रिया कब की है? आहाहा! इसी प्रकार कलई दीवार को सफेद करे? कि नहीं, नहीं। सफेदी बरसात में धुल जाए तो दीवार तो खड़ी रहे तो दीवार सफेद हो गयी हो तो सफेदी जब धुल जाए तो दीवार का नाश हो जाना चाहिए। आहाहा! भारी कठिन काम।

प्रभु! तू तो ज्ञान और चिदानन्दस्वरूप है। यह चाँदनी जैसे जगत को सफेद करती है, तथापि जगत सफेद नहीं होता; इसी प्रकार तू ज्ञान जगत को जानने पर भी ज्ञान जगत

का नहीं होता। आहाहा! राग से लेकर दाल, भात, सब्जी, रोटियाँ, रोटियाँ, मकान, स्त्री, पुत्र, पैसा, इज्जत। आहाहा! यह ज्ञान में ज्ञात होने पर भी इस ज्ञान की वे चीज़ें नहीं होतीं तथा ज्ञान उनरूप नहीं होता। आहाहा! ज्ञान इस शास्त्र को जानता है, इसलिए ज्ञान इस रूप हो जाता है? और वह ज्ञानरूप हो जाता है? उसके कारण ज्ञान होता है? इस पृष्ठ के कारण ज्ञान होता है न? माने न, उसके कारण ज्ञान (होता है)। बहुत पढ़े, वेदिया होते हैं, वे बहुत पढ़ते हैं, वे मानो बहुत पढ़ें तो बहुत ज्ञान आवे। आहाहा! वहाँ अक्षरों में से मानो ज्ञान आता होगा। आहाहा! कठिन काम है।

ज्ञान चाँदनी की भाँति पर का प्रकाश करे, पर को जाने, पर को जानने पर भी परवस्तु ज्ञान की हुई नहीं। अक्षर और ये शब्द ज्ञान जाने, तो भी ज्ञान में अक्षर हुए नहीं। आहाहा! तथा ज्ञान अक्षर का हुआ नहीं। आहाहा! मिश्री का स्वाद आवे, वह स्वाद तो मीठा जड़ है, वह ज्ञान जड़रूप हुआ नहीं। आहाहा! इस मिश्री की मिठास को ज्ञान जानता है। अपने स्व सामर्थ्य द्वारा, यह एक चीज़ है ऐसा। परन्तु उस चीज़रूप ज्ञान होता नहीं, ज्ञान मीठा होता नहीं, उसी प्रकार वह मीठी चीज़ ज्ञानरूप होती नहीं। मिश्री की मिठास दशा इस ज्ञानरूप होती नहीं। कहो, शान्तिभाई! ऐसा सुना नहीं कभी। सुना नहीं वहाँ। गप्प-गप्प मारी हो, उसमें कहा (सुना हो)? सर्वत्र ऐसा चलता है न। आहाहा! गजब बात है। एक ओर प्रभु, एक ओर केवलज्ञान को ज्ञान जाने, यह केवली है—ऐसा ज्ञान जाने। तो भी ज्ञान केवलज्ञानरूप होता नहीं और केवलज्ञान उसके ज्ञानरूप होता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा आवे, ज्ञान में ज्ञेय घुस गये, उत्कीर्ण हो गये, समा गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ज्ञान का सामर्थ्य बताया है। ज्ञान की ताकत है कि उसे मानो उत्कीर्ण हो गये हों, ऐसा जानता है। छूता कहाँ है ज्ञान? प्रवचनसार में आता है। ज्ञान में उत्कीर्ण हो गये, इसका अर्थ यह कि वह चीज़ कोई बाकी रही नहीं जानने में। जानने में सब आ गया है इतना। जानने में ज्ञेय आ जाते हैं, ऐसा ज्ञेय सम्बन्धी का ज्ञान अपना अपने से होता है, यह बताना है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव निश्चय है या व्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्व-परप्रकाशक निश्चय है परन्तु पर को जानना, उसमें स्व स्वयं

है। स्व-परप्रकाशक स्व है। परप्रकाशक, इसलिए पर है—ऐसा नहीं है। ४७ शक्ति में यह आ गया है कि सर्वज्ञ सर्व को जाने, इसलिए सर्वज्ञ हैं? कि, नहीं; वे आत्मज्ञ है। सर्वज्ञपना, वह आत्मज्ञपना है। आहाहा! सर्वज्ञ उस समय का तीन काल, तीन लोक को जाने, इसलिए सर्वज्ञ हैं? कि नहीं। वे तो आत्मज्ञ ही हैं। आहाहा! इस ज्ञान में ही स्व-परप्रकाशक अपने सामर्थ्य से अपने को अपने द्वारा ज्ञात हो जाता है। आहाहा! दुनिया से बहुत फेरफार। पूरे दिन दुनिया में धमाल और उसमें यह धमाल, यह बात। आहाहा!

एक समयमात्र भी ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को भिन्न-भिन्न रीति से, भिन्न-भिन्न काल में जाने, तथापि एक समयमात्र ज्ञान ज्ञेय का नहीं होता। और भिन्न-भिन्न ज्ञेय भिन्न-भिन्न काल में ज्ञान में ज्ञात हों, इसलिए वह ज्ञेय ज्ञान का नहीं होता। आहाहा! **चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है, 'भूमिः तस्य न एव अस्ति' तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती;...** आहाहा! इसी प्रकार भगवान ज्ञानस्वरूपी चाँदनी जगत के पदार्थों को जानता है। आहाहा! तथापि वह ज्ञान पररूप हुआ नहीं। आहाहा! पर को जानते हुए ज्ञान पररूप होता नहीं और पर को जानते हुए ज्ञान पर जो है, वह यहाँ आता नहीं, ज्ञेय यहाँ आता नहीं। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना जगत को कठिन (पड़ता है)। यह ज्ञाता-दृष्टा ही है, ऐसा कहना है। स्वयं अपने कारण से ज्ञाता-दृष्टा है, पर के कारण से नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : नियमसार में तो स्वप्रकाशक को निश्चय कहा, परप्रकाशक को व्यवहार कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्व-परप्रकाशक स्वयं अपने से है। यह तो एक बार कहा नियमसार में कि व्यवहार से कोई ऐसा कहे कि आत्मा लोकालोक को जानता है और आत्मा को नहीं जानता तो क्या दोष है? व्यवहारनय से। आता है। निश्चयनय से ऐसा कहे, आत्मा आत्मा को जानता है, लोकालोक को (नहीं) जानता है तो इसमें क्या दोष है? यह भी आया है। दोनों कलश, दोनों गाथाएँ आयी हैं। आहाहा! वह तो व्यवहारनय का कथन है तो वह जानता है इतना। व्यवहारनय से लोकालोक को जानता है, ऐसा कहे तो ऐसा कि व्यवहारनय है। वह कहीं परमार्थ नहीं है। आहाहा! दो श्लोक आये हैं। है न, ख्याल है न! शुद्धोपयोग—अन्तिम शुद्धोपयोग के आयेंगे। इस आवश्यक अधिकार के पश्चात्, आवश्यक

के पश्चात वह अधिकार (आयेगा)। आहाहा! तो फिर इस समय यही क्यों ज्ञात होता है? यदि इस ज्ञान में ज्ञेय न आता हो तो यही ज्ञान इस काल में यही क्यों ज्ञात होता है? दूसरा क्यों नहीं ज्ञात होता? अरे! बापू! इस काल में यह ज्ञान की पर्याय स्व-परप्रकाशक अपने कारण से परिणमकर खड़ी हुई है। आहाहा! पर के कारण से नहीं। आहाहा!

रंग वस्त्र को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! और वस्त्र लाल-हरा कहलाता है। वह कहलाता है, यह व्यवहार है; बाकी कपड़ा लाल-हरा हुआ नहीं, लाल-हरा तो रंग रहा है। लाल और हरेरूप रंगरूप रहा है, कपड़ेरूप नहीं। आहाहा! कपड़ा रंगरूप हुआ नहीं और रंग कपड़ेरूप हुआ नहीं। अरे! यह बैठे, यह ऐसी बात है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। परन्तु भ्रमणा, ऐसी भ्रमणा वह मानो यह पर सब मेरे, मेरी सेवा करते हैं। आहाहा! कितने ही ऐसा कहते हैं, पचास वर्ष की उम्र हुई हो और स्त्री मर जाए तो फिर दूसरी स्त्री को किये बिना सेवा करेगा कौन अन्त में? अन्तिम स्थिति में कौन सेवा करेगा? ऐसा कहते हैं या नहीं? ऐसा सब सुना है। ऐसा कि जैसी सेवा स्त्रियाँ करती हैं, उस प्रकार से कोई दूसरा सेवा नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : स्त्री पहले (स्वयं) मर जाए तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया। परन्तु यह तो पहले ऐसा कि स्त्री हो और शरी निर्बल हो तो नग्न होकर पेशाब करने या दस्त करने बैठे तो स्त्री खड़ी हो अपनी तो उसे दिक्कत नहीं परन्तु दूसरे का कोई हो तो बाधा है। आहाहा! यह सब नजरों से देखा है। जामनगर में उपाश्रय के सामने एक ओसवाल था। कोई बीमार था। वह दस्त करने बैठा नग्न, स्त्री खड़ी थी। एकदम नग्न। क्योंकि स्त्री के सिवाय ऐसी स्थिति में खड़ा कौन रहे? इसलिए लोग ऐसा कहते हैं कि स्त्री सेवा करे, दूसरे सेवा नहीं कर सकते। अपने नंगे को उस समय वस्त्र (ढँके), दस्त करने जाए, तब बीमारी हो तो एकदम नग्न बैठा हो। आहाहा! यह तो सब देखा हुआ है। उपाश्रय के सामने ही मंजिल के ऊपर वीसा ओसवाल था, कोई जामनगर का। नाम भूल गये। आहाहा! उसमें हम मौके से गये, उसने कहा कि दर्शन करना है। उसमें ऐसा हुआ, इसलिए उसी अवसर पर हम वापस मुड़ गये। आहाहा! स्त्री हो तो लोग ऐसा ही बोलते हैं, नंगे ढँके तो स्त्री हो तो करे, दूसरा कौन करेगा? नहीं आता

अपने कहने में? कहते हैं न? सुना है। नंगे-भूखे को स्त्री होगी, वह देखेगी, वह काम-सेवा करेगी, दूसरा कौन करेगा? धूल भी करता नहीं, सुन न! आहाहा! भ्रमणा है। आहाहा! दुनिया का सब देखा, सब देखा है। नाचे नहीं हैं परन्तु नाचनेवालों को देखा है।

मुमुक्षु : एक वकालत नहीं की।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील भी किया था। बड़ोदरा में एक वकील अपना खास (किया था)। (संवत्) १९६३ के वर्ष। वकील स्वयं। उसके साथ जाते, पूछते। ऐसा है, ऐसा हुआ है, झूठ-झूठ बात है। वहाँ व्याख्यान पढ़ा था। तालाब के सामने बड़ी न्याय कोर्ट है। तालाब है न बड़ा? बड़ोदरा न्याय कोर्ट है। वहाँ केस चलता था १९६३ के वर्ष, १९६३ के वर्ष। और अभी वहाँ ही व्याख्यान पढ़ा था। वे लोग अमलदार अधिकारी (कहे), यहाँ नीचे पढ़ो। भले हम ऊपर हैं, आप नीचे पढ़ो। बहुत लोग आये थे। अधिकारी, दूसरे लोग आदि (सब आये हुए थे)। बड़ोदरा। तब केशुभाई वहाँ थे न? भाई! वे केशवलाल प्रोफेसर, प्रोफेसर। वे बड़ोदरा में प्रोफेसर थे। आहाहा!

किसकी किसकी वस्तु? आहाहा! यह वस्त्र मेरा और यह कलम मेरी और यह शीशपेन मेरा... आहाहा! एक ओर प्रभु आत्मा ज्ञानस्वरूप है। **चाँदनी का रूप पृथ्वी को उज्ज्वल करता है, तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती; इस प्रकार ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है...** आहाहा! **ज्ञान ज्ञेय को सदा जानता है 'ज्ञेयम् अस्य अस्ति न एव' तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता।** आहाहा! एक गाथा में तो पूरी दुनिया को विभाजित कर डाला। फिर इसका यह कर दे और इसका व्यवहार से करे, अमुक करे, (यह) सब भाषा है। आहाहा! यह अक्षर लिखे, उसमें यह अक्षर आत्मा नहीं लिखता और अँगुलियाँ नहीं लिखती।

मुमुक्षु : कलम?

पूज्य गुरुदेवश्री : कलम नहीं लिखती। ज्ञान में वह ज्ञात होता है, तथापि वह ज्ञानरूप नहीं होता। उसे यह जानता है, तथापि वह ज्ञानरूप नहीं होता, वे अक्षर ज्ञानरूप हुए नहीं। आहाहा! यह तो जीते-जी मर जाने जैसा है। पर के लिये तो जीते-जी मर जाना चाहिए। आहाहा!

भावार्थ – शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाए... सत्य दृष्टि से जैसा वस्तु का स्वरूप

है, उस प्रकार से यदि इसमें जो आवे, ऐसा। शुद्धनय अर्थात् यह। जो वस्तु का स्वरूप है, उस प्रकार से **देखा जाए तो किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता।** आहाहा! **जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है किन्तु पृथ्वी चाँदनी की किंचित्मात्र भी नहीं होती,...** आहाहा! पृथ्वी चाँदनी की जरा भी नहीं होती। इसके ऊपर ऐसे छूती है न? छूती नहीं। आहाहा!

कलई दीवार को स्पर्श नहीं करती, रंग वस्त्र को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! इसी प्रकार चाँदनी प्रकाश परवस्तु को स्पर्श नहीं करती और परवस्तु उस चाँदनीरूप नहीं होती। आहाहा! ऐसा भेदज्ञान है। सूक्ष्म है। यहाँ तो अभी कर दें, इसका कर दें और उसका कर दें और मण्डल बनाओ, मण्डल की ऐसे सेवा करो, मण्डल का अध्यक्ष खोजो, व्यवस्थापक (खोजो) और व्यवस्था कर सके ऐसा। आहाहा! अन्ध खाता है, अज्ञानी की कल्पना है।

पृथ्वी चाँदनी की किंचित्मात्र भी नहीं होती, इसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय को जानता है किन्तु ज्ञेय ज्ञान का किंचित्मात्र भी नहीं होता। आहाहा! **आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, इसलिए उसकी स्वच्छता में...** यह तो अपनी स्वच्छता का स्वभाव है, **ज्ञेय स्वयमेव झलकता है,...** ज्ञेय है, वे स्वयमेव झलकते हैं। झलकते हैं, यह उनकी अपेक्षा से समझाया। यह तो ज्ञान स्वयं अपनेरूप परिणमता है। उसमें उस ज्ञेय का ज्ञानरूप भी स्वयं अपनेरूप परिणमता है, उसे यह ज्ञेय झलकता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! **उसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकता है, किन्तु ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं होता।** आहाहा! यह २१६ (कलश पूरा हुआ)। २१७

कलश - २१७

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं-

(मन्दाक्रान्ता)

राग-द्वेष-द्वय-मुदयते ताव-देतन्न यावत्,
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञान-भावं,
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्ण-स्वभावः।।२१७।।

श्लोकार्थ : [तावत् राग-द्वेष-द्वयम् उदयते] राग-द्वेष का द्वन्द तब तक उदय को प्राप्त होता है [यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति] कि जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो [पुनः बोध्यम् बोध्यतां न याति] और ज्ञेय ज्ञेयत्व को प्राप्त न हो। [तत् इदं ज्ञानं न्यक्कृत-अज्ञानभावं ज्ञानं भवतु] इसलिए यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप हो- [येन भाव-अभावौ तिरयन् पूर्णस्वभावः भवति] कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाए।

भावार्थ : जब तक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तब तक राग-द्वेष उत्पन्न होता है; इसलिए इस ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभावरूप दो अवस्थाएँ होती हैं, वे मिट जाएँ और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाए। यह प्रार्थना है।।२१७।।

कलश - २१७ पर प्रवचन

राग-द्वेष-द्वय-मुदयते ताव-देतन्न यावत्,
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम्।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञान-भावं,
भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्ण-स्वभावः।।२१७।।

आहाहा! 'तावत् राग-द्वेष-द्वयम् उदयते' राग-द्वेष का द्वन्द तब तक उदय को प्राप्त

होता है... आहाहा! वस्तु तो वस्तु ज्ञानस्वरूप है परन्तु जब तक... आहाहा! ज्ञान ज्ञानस्वभावरूप न हो, तब तक राग-द्वेष का उदय होता है। आत्मा आत्मारूप न हो, तब तक उसे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। आहाहा! पश्चात् भी आत्मा को जानने के बाद भी राग-द्वेष होते हैं परन्तु वे ज्ञेय में जाते हैं। अपने में नहीं आते, ज्ञेय में जाते हैं और आत्मा जाना नहीं, उसे राग-द्वेष होते हैं, वे राग-द्वेष उसके हैं। आहाहा! गजब बात है। आहाहा!

सर्वत्र कलकत्ता और दिल्ली और मुम्बई तथा बड़े शहर में सभा भरे और लौकिक बातें चलती हों, उसमें यह रखे तो पागल कहे। यह करते हैं न? तब चिमनचकु कहता था न? तब १९९७ में, १९९७ न? कौन सा वर्ष? मन्दिर हुआ वह, मन्दिर हुआ १९९७ के वर्ष। तब यहाँ थे न? एक महीना रहे थे। कहा, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। १९९७ की बात है। मन्दिर होने से पहले, अभी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी। पौष महीने में, फाल्गुन में प्रतिष्ठा हुई और यह पौष महीने की बात है। १९९७ में। ३९ वर्ष हुए। तब कहे, यह हाथ किया, लो! कहाँ नहीं कर सकते? अर र! यह स्थानकवासी के प्रमुख! यह किया। कहाँ नहीं कर सकते? यह किया, इसमें क्या हुआ—यह देखा है? आत्मा में क्या हुआ? परमाणु में क्या हुआ?

आत्मा अन्दर ऊँचा करने गया, इसलिए हुआ? या उसे होना था और उसके कारण से हुआ, आत्मा ने मात्र कल्पना की। यह दो क्या है इसमें देखा? आहाहा! आहाहा! इसमें कल्पना की है कि, हाथ ऐसे करूँ। कल्पना के कारण हाथ ऐसे होता है, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! ज्ञान का स्वभाव है कि जैसा ज्ञेय हो, वैसा ही वह जाने। वैसा जाने; इसलिए इसे ऐसा हो जाता है कि वैसा ही वह क्यों जानता है? इसलिए ज्ञेय की कुछ अन्दर छाया पड़ती है अथवा ज्ञेय की ज्ञान में कुछ मदद मिलती है। जैसा-जैसा ज्ञेय है, वैसा उसे जाने, भिन्न-भिन्न काल में जैसा-जैसा ज्ञेय हो, वैसा-वैसा जाने, तो यह जानता है, वह—वह जानने की दशा बदलने पर, जानना बदलने पर, जानने की चीज़ बदले और वह चीज़ बदलने पर जानना बदले। आहाहा! इसलिए कुछ न कुछ... कुछ न कुछ... कुछ न कुछ... परचीज़ का असर कुछ यहाँ है। आहाहा! जब तक राग-द्वेष का द्वन्द्व उत्पन्न पाता है, ऐसा कहते हैं।

'यावत् एतत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति' कि जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो... आहाहा!

ज्ञान ज्ञानरूप न हो, तब तक राग-द्वेष का उदय होता है। और ज्ञान ज्ञानरूप हुआ, पश्चात् राग-द्वेष होते हैं परन्तु राग-द्वेष का ज्ञान होता है। आहाहा! कहो, देवचन्दजी! ऐसी सूक्ष्म बात है। अभी के साधु और ये सब पण्डित धमाधम करते हैं। इसका ऐसा करना और इसका ऐसा करना और इसका ऐसा करना। किया जा सकता है, व्यवहार से किया जा सकता है, निश्चय से नहीं। दो नय है न? एक नय तो कथनमात्र है। साथ में निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराना है। निमित्त से जरा भी होता है, (ऐसा) तीन काल, तीन लोक में नहीं है। आहाहा! किसी समय भी निमित्त के कारण कुछ भी होता है। आहाहा! दीपक जलता हो और बुझानेवाला मिले तो एकदम बुझ जाता है। और जब दीपक जलाना हो तो बत्ती ऐसे दबावे तो दीपक जल जाता है। कुछ नहीं होता, धूल में भी। उसके होने के काल में वह होता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि तब तक राग-द्वेष का उदय होता है कि जब तक ज्ञान ज्ञानरूप न हो, तब तक। आत्मा आत्मारूप से जब तक न हो, तब तक राग-द्वेष का उदय होता है, राग-द्वेष उत्पन्न हों परन्तु आत्मा आत्मारूप से जाना, जानने में आया, तब राग-द्वेष वे ज्ञेय हो गये, ज्ञान का ज्ञेय हुआ। राग-द्वेष उदय नहीं पाये हैं परन्तु अमुक का राग-द्वेष सम्बन्धी का अपना ज्ञान स्व-परप्रकाशक, उनकी अस्ति की अपेक्षा बिना स्व-पर को प्रकाशित करता है। आहाहा! समझ में आया?

राग-द्वेष उदय पाता है, तब तक ज्ञान, ज्ञान नहीं होता—ऐसा कहते हैं। और जब ज्ञान ज्ञानरूप हुआ, तब राग-द्वेष उदय नहीं होते। राग-द्वेष छद्मस्थ को होते ही नहीं? कि उस समय वह ज्ञान उस राग को जाननेमात्र ज्ञान स्वयं जानता है। राग को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। ज्ञान का उस समय का वह स्वभाव स्व और पर को जानने का स्वस्वभाव अपना अपने से हुआ है। वह राग के कारण जानता है, ऐसा नहीं है। राग के कारण राग का ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। अरे! यह जिन्दगी चली जाती है और क्या सत्य है, यह इसे हाथ में नहीं आवे (तो) हो गया। आहाहा! चौरासी लाख के अवतार (में भटकेगा)। यहाँ भले चतुर होकर घूमे। वहाँ सूकर में और कौवे में जाकर विष्टा खायेगा। आहाहा!

जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो... अर्थात् आत्मज्ञान न हो, तब तक राग-द्वेष की

उत्पत्ति होती है। और जब राग से भिन्न पड़कर आत्मज्ञान हुआ, तब राग का ज्ञान होता है—ऐसा कहना, वह भी व्यवहार। तथापि अपने और पर सम्बन्धी का ज्ञान होता है, उसे राग-द्वेष होते ही नहीं। उसे राग-द्वेष सम्बन्धी का ज्ञान होने पर राग-द्वेष होते ही नहीं। पण्डितजी! आहाहा! ऐसी बात है। यह सब भाषण करनेवाले ये किसी को... होंगे। आहाहा!

पूरी चीज़ ही अलग है न, प्रभु! तू कौन है ? ज्ञान का सूर्य है, चैतन्य प्रकाश का पुंज है। वह भी ज्ञान की शक्ति कितनी है ? अनन्त है। आहाहा! भले पर्याय हुई, तथापि उस पर्याय में अनन्त शक्ति है। छद्मस्थ के मति-श्रुतज्ञान की पर्याय में भी अनन्त शक्ति है। वह अनन्त ज्ञेयों को जाने। आहाहा! मात्र केवली को प्रत्यक्ष है, इसको परोक्ष है, इतना अन्तर, तथापि श्रुतज्ञान की पर्याय पूरे लोकालोक सम्बन्धी वह है, इसलिए उसे जानती है—ऐसा नहीं है। अपनी उस समय में स्व-पर जानने की ताकत के कारण स्व-पर को जानती है। आहाहा! अब इसमें वाद-विवाद से चर्चा में क्या हो ? शान्तिभाई! दूसरी जगह चरणानुयोग में बहुत जगह आता है, राग से ऐसा करना, तुझे ऐसा करना, ऐसा करना, पाप लगा हो (तो) प्रायश्चित्त लेना, प्रायश्चित्त से ऐसा करना। आहाहा!

ज्ञान ज्ञानरूप से अर्थात् राग से भिन्न पड़कर। राग से भिन्न है ही। वह है, उस प्रकार से होकर है, तब राग का उदय नहीं होता। और राग होता है तो भी उसका यहाँ ज्ञान होता है। ऐसा ही कोई उसका स्वभाव है। परन्तु राग होता है, तब ज्ञान उसका कर सकता है, ऐसी ताकत रहती नहीं। उस समय शक्ति तो ऐसी है। राग होता है, तब भी भले माने राग मेरा, तथापि ज्ञान में उस काल में ज्ञान की शक्ति तो राग को और अपने को जाने, ऐसी ताकतवाला वह ज्ञान है। आहाहा! माने चाहे जो। आहाहा! माने उससे कहीं वस्तु स्वभाव बदल जाता है ? इसलिए कहते हैं, जब तक ज्ञान ज्ञान न हो, तब तक राग-द्वेष का उदय होता है। आहाहा!

जब तक यह ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञेयत्व को प्राप्त न हो। आहाहा! जब तक ज्ञान ज्ञान न हो और राग को अपना माने, तब तक ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं रहता। उस ज्ञेय को अपना मानता है। जब ज्ञान ज्ञानरूप हुआ, पश्चात् राग हुआ तो भी राग सम्बन्धी का ज्ञान

अपना अपने से होता है। वह ज्ञेय ज्ञेयपने को नहीं पाता। पश्चात् राग है, वह ज्ञेयपना होता है, उसे यहाँ जानता है। ज्ञेय ज्ञेयपने को नहीं पाता। आहाहा! **इसलिए यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर...** करो। आहाहा! ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो, तब तक राग-द्वेष की उत्पत्ति दिखती है, ऐसा कहते हैं। जब तक ज्ञान ज्ञानरूप न हो और ज्ञेय ज्ञेयरूप न रहे, तब तक राग-द्वेष दिखते हैं। आहाहा! अब ऐसी व्याख्या।

इसलिए यह ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप हो... ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है। राग-द्वेष की उत्पत्ति उसमें है ही नहीं। ज्ञान ज्ञानरूप हुआ नहीं, तब तक मानता है। ज्ञान ज्ञान हुआ, तब ज्ञेय ज्ञेयपने को पाते हुए ज्ञेय जानता है। आहाहा! **कि जिससे भाव-अभाव (राग-द्वेष) को रोकता हुआ पूर्णस्वभाव (प्रगट) हो जाए।** इस राग-द्वेष को जानता हुआ ज्ञान, राग-द्वेष को छोड़कर ज्ञान पूर्णता को पाता है। परन्तु जब तक राग को अपना मानता है, तब तक ज्ञेय ज्ञेयरूप से नहीं रहता; ज्ञान ज्ञानरूप से नहीं रहता तो वह ज्ञान आदि आगे नहीं बढ़ सकता। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१९, श्लोक-२१७, गाथा-३६६ से ३७१ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२
दिनाङ्क - २४-०६-१९८०

समयसार, २१७ (कलश का) भावार्थ है।

भावार्थ – जब तक ज्ञान ज्ञानरूप न हो,... अर्थात् कि अज्ञान टालकर और ज्ञान ज्ञानरूप न हो तथा **ज्ञेय ज्ञेयरूप न हो,...** रागादि ज्ञेय हैं। उन्हें अपना मानता है, वह अज्ञान से मानता है। राग और द्वेष, विकार अज्ञान से अपना मानता है। वह ज्ञेय अर्थात् राग और परवस्तु ज्ञेयरूप से जब तक न हो, ज्ञान ज्ञानरूप न हो, **तब तक राग–द्वेष उत्पन्न होता है;...** समझ में आया इसमें? आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उसका जब तक ज्ञान न हो और अज्ञान रहे... आहाहा! और ज्ञेय—राग-द्वेष आदि ज्ञेय, वे ज्ञेयरूप जब तक भासित न हो, तब तक अज्ञान से राग-द्वेष उपजते हैं। अज्ञान से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। आहाहा!

अज्ञानभाव को दूर करके,... इसलिए इस ज्ञान, अज्ञानभाव को दूर करके,... राग पर्यायबुद्धि से जो दिखता है, उसे द्रव्यबुद्धि से उस अज्ञान का नाश करके **ज्ञानरूप होओ,..** आहाहा! **अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ,...** अज्ञान से राग, पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव, वे मेरे हैं—ऐसी जब तक दृष्टि है, तब तक अज्ञानभाव है। अज्ञानभाव है, तब तक उत्पन्न होते हैं। अज्ञान टालकर राग-द्वेष को न करो और ज्ञानरूप होओ। आहाहा! है?

ज्ञानरूप होओ,... अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ,... अर्थात् कि वस्तु ज्ञानस्वरूप ही है। उसमें राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान के कारण से है। उस अज्ञान को टालकर **ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभावरूप...** है। ज्ञान में जो विकार की उत्पत्ति और अभाव है तो विकार उत्पन्न होता है और विकार नाश हो, ऐसा जो है। **दो अवस्थाएँ होती हैं, वे मिट जाएँ...** आहाहा! सूक्ष्म बात है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा वह जब तक ज्ञानरूप न हो, तब तक अज्ञान से राग-द्वेष की उत्पत्ति है। ज्ञान और ज्ञानरूप होने पर उसे राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से होती (थी), वह नहीं होती। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि, **अज्ञानभाव को दूर करके, ज्ञानरूप होओ, कि जिससे ज्ञान में जो भाव और अभावरूप दो अवस्थाएँ...** ज्ञान में जो राग-द्वेष होते हैं और जाते हैं, होते हैं और

जाते हैं; वस्तु ज्ञायकस्वरूप है, उसमें वे राग-द्वेष होते हैं और जाते हैं, वह भाव-अभाव का अभाव होता है। **वे मिट जाएँ और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाए।** आहाहा! अज्ञान को मिटाने पर पुण्य और पाप की उत्पत्ति मुझसे है, यह मिट गयी। मात्र अस्थिरता रही, वह ज्ञान में ज्ञेयरूप से रही। वह अस्थिरता भी जब टाली, तब ज्ञान, ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हुआ, तब उसे जन्म-मरण का अन्त आ गया। आहाहा! समझ में आया इसमें? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : भाव-अभाव दो अवस्था हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, यह मिथ्यात्व कहा न! राग-द्वेष उत्पन्न हो, यह भाव। इसका अभाव हो। विकार का उत्पाद-व्यय यही अज्ञान के कारण से है, ऐसा कहते हैं। ज्ञानस्वभाव के कारण से राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं है। क्योंकि राग-द्वेष स्वरूप में नहीं है। आहाहा! जब तक यह ज्ञान अपने स्वरूप को न जाने और उसकी दृष्टि पर्याय अर्थात् रागरूप रहे, तब तक अज्ञान के कारण राग-द्वेष-भाव हों, परन्तु अज्ञान टालने के बाद राग-द्वेष हों और जाए, यह रहता नहीं। पश्चात् अकेला ज्ञान रहता है। आहाहा!

और ज्ञान पूर्ण स्वभाव को प्राप्त हो जाए। यह प्रार्थन है। आहाहा! संक्षिप्त में तो यहाँ यह सार कहना है कि वस्तु है, वह तो आनन्द, ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप अर्थात् अनन्त गुण पवित्र स्वरूप है। उसमें जो विकार होता है, वह पर के कारण नहीं। तथा द्रव्यदृष्टि, द्रव्य वस्तु है, उसके कारण नहीं। अज्ञान के कारण—वस्तु के स्वभाव का अज्ञान (है, उस) अज्ञान के कारण राग-द्वेष की उत्पत्ति है। तब तक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं-जाते हैं, उत्पन्न होते हैं-जाते हैं, व्यय होता है परन्तु अज्ञान टलने पर ज्ञान ज्ञानरूप होने पर राग बाकी रहे, वह भी ज्ञान में ज्ञेयरूप से जानने पर ज्ञान ज्ञानरूप रहता है और ज्ञानरूप रहते हुए स्थिरता करते-करते अस्थिरता का जो ज्ञेय राग था, वह टलने पर ज्ञान पूर्णता को पाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा! भाषा तो बहुत संक्षिप्त है परन्तु भाव तो बहुत गम्भीर है। आहाहा!

गाथा - ३६६-३७१

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि ।।३६७।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु ।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो ।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु ।।३७०।।
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्ण-परिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी ।।३७१।।

दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु विषयेषु ।।३६६।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तत्र कर्मणि ।।३६७।।
दर्शनज्ञानचारित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु कायेषु ।।३६८।।
ज्ञानस्य दर्शनस्य च भणितो घातस्तथा चारित्रस्य।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ।।३६९।।
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न सन्ति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ।।३७०।।

रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्य-परिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न सन्ति रागादयः।।३७१।।

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते; यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यत एव, यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटघाते घट-प्रदीपो न हन्यते; यत्र च यन्न भवति तत्तद्घाते न हन्यते, यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते।

अथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यन्ते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घाते-ऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते; एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवन्तीत्यायाति; अन्यथा तद्घाते पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एव ततो ये यावन्तः केचनापि जीव-गुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न सन्तीति सम्यक् पश्यामः, अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्य-घातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्।

यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ?

न कुतोऽपि।

तर्हि रागस्य कतरा खनिः ?

रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामाः, ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न सन्ति, अज्ञाना-भावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवन्ति। एवं ते विषयेष्वसन्तः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्तो न भवन्त्येव।।३६६-३७१।।

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्मा के दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं है' ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता; और राग-द्वेषादि जड़ विषयों में भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशा में प्रवर्तमान जीव के परिणाम हैं।-इस अर्थ की गाथाएँ कहते हैं-

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन विषय में?।।३६६।।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन कर्म में?।।३६७।।
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन काय में?।।३६८।।

है ज्ञान का, सम्यक्त्व का, उपघात चारित का कहा।
वहाँ और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्गलद्रव्य का।।३६९।।
जो जीव के गुण है नियत वे कोइ नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्दृष्टि जीव को राग नहिं है विषय में।।३७०।।
अरु राग, द्वेष विमोह तो जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों में नहीं रागादि हैं।।३७१।।

गाथार्थ : [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने विषये तु] अचेतन विषय में [किंचित् अपि] किंचित्मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [चेतयिता] आत्मा [तेषु विषयेषु] उन विषयों में [किं हंति] क्या घात करेगा?

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने कर्मणि तु] अचेतन कर्म में [किंचित् अपि] किंचित्मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [चेतयिता] आत्मा [तत्र कर्मणि] उन कर्म में [किं हंति] क्या घात करेगा? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)

[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन-ज्ञान-चारित्र [अचेतने काये तु] अचेतन काय में [किंचित् अपि] किंचित्मात्र भी [न अस्ति] नहीं है, [तस्मात्] इसलिए [चेतयिता] आत्मा [तेषु कायेषु] उन कायों में [किं हंति] क्या घात करेगा? (कुछ भी घात नहीं कर सकता।)

[ज्ञानस्य] ज्ञान का, [दर्शनस्य च] और दर्शन का [तथा चारित्रस्य] तथा चारित्र का [घातः भणितः] घात कहा है, [तत्र] वहाँ [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य का [घातः तु] घात [कः अपि] किंचित्मात्र भी [न अपि निर्दिष्टः] नहीं कहा है। (अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र के घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता।)

(इस प्रकार) [ये केचित्] जो कोई [जीवस्य गुणाः] जीव के गुण हैं, [ते खलु] वे वास्तव में [परेषु द्रव्येषु] परद्रव्य में [न संति] नहीं हैं, [तस्मात्] इसलिए [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [विषयेषु] विषयों के प्रति [रागः तु] राग [न अस्ति] नहीं है।

[च] और [रागः द्वेषः मोहः] राग, द्वेष और मोह [जीवस्य एव] जीव के ही [अनन्य परिणामाः] अनन्य (एकरूप) परिणाम हैं, [एतेन कारणेन तु] इस कारण से [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादि विषयों में (भी) [न संति] नहीं है।

(राग-द्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं और न जड़ विषयों में, वे मात्र अज्ञानदशा में रहनेवाले जीव के परिणाम हैं।)

टीका : वास्तव में जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है), जैसे दीपक के घात होने पर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है; तथा जिसमें जो होता है, वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् आधेय का घात होने पर आधार का घात हो जाता ही है), जैसे प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है। और जो जिसमें नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घड़े का नाश होने पर *घट-प्रदीप का नाश नहीं होता; तथा जिसमें जो नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीप का घात होने पर घट का नाश नहीं होता। (इस प्रकार से न्याय कहा है।) अब, आत्मा के धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता (यह तो स्पष्ट है); इसलिए इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि - 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं' क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात, और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अवश्य ही घात होना चाहिए। ऐसा होने से जीव के जो जितने गुण हैं, वे सब परद्रव्यों में नहीं हैं, यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात, और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुण का घात होना अनिवार्य हो जाए। (किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि जीव के कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं।)

प्रश्न-यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है? उत्तर-किसी भी कारण से नहीं होता। (प्रश्न-) तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन सी है? (उत्तर-) राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है); इसलिए वे राग-द्वेष-मोह, विषयों में नहीं हैं क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टि में (भी) नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है; इस प्रकार राग-द्वेष-मोह, विषयों में न होने से और सम्यग्दृष्टि के (भी) न होने से, (वे) हैं ही नहीं।

भावार्थ : आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का घात होता है, किन्तु गुणों के घात होने पर भी अचेतन

* घट-प्रदीप=घड़े में रखा हुआ दीपक। (परमार्थतः दीपक घड़े में नहीं है, घड़े में तो घड़े के ही गुण हैं)

पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता; और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का घात नहीं होता; इसलिए जीव के कोई भी गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में रागादिक नहीं होते। राग-द्वेष-मोह, पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं, वे जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं; जब अज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गलद्रव्य में हैं और न सम्यग्दृष्टि में भी होते हैं, इसलिए शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर वे हैं ही नहीं, और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव को अज्ञान अवस्था में हैं। ऐसा जानना चाहिए।

गाथा - ३६६ से ३७१ पर प्रवचन

अब दूसरा अधिकार। नीचे कथन है।

'ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न है, आत्मा के दर्शनज्ञानचारित्रादि कोई गुण परद्रव्यों में नहीं है', ऐसा जानने के कारण सम्यग्दृष्टि को विषयों के प्रति राग नहीं होता; और राग-द्वेषादि जड़ विषयों में भी नहीं होते; वे मात्र अज्ञानदशा में प्रवर्तमान जीव के परिणाम हैं।- इस अर्थ की गाथाएँ कहते हैं-

दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे विसए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु।।३६६।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्हि कम्मम्हि।।३६७।।
दंसणणाणचरित्तं किंचि वि णत्थि दु अचेदणे काए।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु काएसु।।३६८।।
णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स।
ण वि तहिं पोग्गलदव्वस्स को वि घादो दु णिद्दिट्ठो।।३६९।।
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु।।३७०।।

रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्ण-परिणामा।
एदेण कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी॥३७१॥

नीचे हरिगीत।

चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन विषय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन विषय में?॥३६६॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन कर्म में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन कर्म में?॥३६७॥
चारित्र-दर्शन-ज्ञान किंचित् नहिं अचेतन काय में।
इस हेतु से यह आत्मा क्या हन सके उन काय में?॥३६८॥
है ज्ञान का, सम्यक्त्व का, उपघात चारित का कहा।
वहा और कुछ भी नहिं कहा उपघात पुद्‌गलद्रव्य का॥३६९॥
जो जीव के गुण है नियत वे कोइ नहिं परद्रव्य में।
इस हेतु से सद्‌दृष्टि जीव को राग नहिं है विषय में॥३७०॥
अरु राग, द्वेष विमोह तो जीव के अनन्य परिणाम हैं।
इस हेतु से शब्दादि विषयों में नहीं रागादि हैं॥३७१॥

अब टीका, जरा सूक्ष्म बात है। **(राग-द्वेषादि न तो सम्यग्दृष्टि आत्मा में हैं...)** कोष्ठक में है न? है न टीका के ऊपर? **और न जड़ विषयों में, वे मात्र अज्ञानदशा में रहनेवाले जीव के परिणाम हैं।)**

टीका – वास्तव में जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है... यह सिद्धान्त, यह तो सिद्धान्त कहा। **वास्तव में जो जिसमें होता है, वह उसका घात होने पर नष्ट होता ही है (अर्थात् आधार का घात होने पर आधेय का घात हो ही जाता है), जैसे दीपक के घात होने पर (उसमें रहनेवाला) प्रकाश नष्ट हो जाता है;...** आधार है न दीपक? प्रकाश का आधार दीपक है। प्रकाश आधेय है। दीपक घात होता है, (इसलिए) प्रकाश का घात हो जाता है। आधार का घात हो, वहाँ आधेय का घात हो जाता है। आहाहा! **तथा जिसमें जो होता है, वह उसका नाश होने पर अवश्य नष्ट हो जाता है...** दीपक का घात

होता है। आहाहा! **और जो जिसमें नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता,...**

जैसे घड़े का नाश होने पर... यह तो दृष्टान्त देते हैं, हों! **घट-प्रदीप का नाश नहीं होता;...** घड़ा फूट जाता है। यह दीपावली के घड़े नहीं होते? क्या कहलाते हैं वे? गरबा छिद्र वाले, छिद्र पाड़कर अन्दर। वह गरबा टूट जाए और दीपक रह जाए तथा दीपक बुझ जाए और घड़ा रह जाए। दोनों कहीं एक चीज़ नहीं हैं कि घड़ा फूटे, इसलिए दीपक बुझ जाए और दीपक बुझे, इसलिए घड़ा फूट जाए—ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! **जैसे प्रकाश का घात होने पर दीपक का घात हो जाता है।** आधेय का घात होने पर आधार दीपक, वह घात हो जाता है। पहला आधार दीपक था, उसका आधेय प्रकाश था। वह आधार घात होने पर आधेय घात हो जाता है, ऐसा कहा। फिर कहा कि आधेय दीपक घात हो जाता है, तो घट का घात हो जाता है।

नीचे (फुटनोट)। **घट-प्रदीप=घड़े में रखा हुआ दीपक। (परमार्थतः दीपक घड़े में नहीं है, घड़े में तो घड़े के ही गुण हैं।)** यह तो दृष्टान्त है। आहाहा! दीपक बुझ जाए तो घड़ा तो रहता है और घड़ा फूट जाए तो दीपक भी रहता है। परन्तु यह तो दृष्टान्त दिया है। आहाहा! **जैसे घड़े का नाश होने पर घट-प्रदीप का नाश नहीं होता; तथा जिसमें जो नहीं होता, वह उसका घात होने पर नष्ट नहीं होता, जैसे घट-प्रदीप का घात होने पर घट का नाश नहीं होता। (इस प्रकार से न्याय कहा है।)** अब सिद्धान्त।

अब, आत्मा के धर्म... आत्मा के जो गुण, **दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नष्ट नहीं होते...** क्या कहते हैं यह? शरीर में रोग आवे, शरीर का घात हो जाए परन्तु कहीं आत्मा के गुण घात नहीं होते। आत्मा के गुण जड़ में नहीं है, जड़ के गुण आत्मा में नहीं है। इसलिए शरीर घात होने पर भी कहीं ज्ञान-दर्शन घात नहीं होते। आहाहा! **आत्मा के धर्म-दर्शन, ज्ञान और चारित्र-पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी नष्ट नहीं होते और दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर भी पुद्गलद्रव्य का नाश नहीं होता...** आहाहा! दो कहा न? आत्मा के धर्म-दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वे पुद्गलद्रव्य का घात होने पर भी घात नहीं होते। अर्थात् जरा सूक्ष्म बात कहते हैं कि यह शरीर और वाणी अटक जाए, रुक जाए, घात हो जाए, इससे अन्दर ज्ञान, दर्शन का आराधनपना है, वह कहीं घात नहीं

होता। क्या कहा ? शरीर और वाणी की क्रिया घात हो जाए, बोला नहीं जाए, शरीर का घात हो जाए, भाषा बन्द हो जाए, इससे कहीं आत्मा के गुणों का घात हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर की क्रिया और वाणी की क्रिया दूसरी है और वह क्रिया न हो और घात हो, इससे आत्मा के गुण का घात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

मुमुक्षु : शरीर दुबला हो और ज्ञान बढ़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके साथ सम्बन्ध ही नहीं है, दुबले के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह रोग हो या घात हो तो इससे गुण का घात होता है, ऐसा नहीं है। अब जरा सूक्ष्म बात आती है।

इसलिए इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि – 'दर्शन–ज्ञान–चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं' क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो दर्शन–ज्ञान–चारित्र का घात होने पर... आहाहा! **पुद्गलद्रव्य का घात,...** क्या कहते हैं ? जिसे अन्दर में अज्ञान से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात हुआ, तथापि देह की क्रिया तो जैसी हो, वैसी की वैसी रहती है। द्रव्यलिंग की क्रिया ऐसी की ऐसी रहती है, तथापि अज्ञान से अन्दर घात हुआ है। वह कोई यह क्रिया यथावत रही, इसलिए घात न हो—ऐसा नहीं है। क्या कहा, समझ में आया ? कि शरीर की क्रिया और वाणी की क्रिया नाश हो गयी, हुई नहीं, तो भी अन्दर गुण का घात नहीं होता। क्योंकि वह गुण इसमें नहीं है और इसके गुण उसमें नहीं है। इसलिए शरीर की क्रिया अटक गयी, इससे आत्मा के घात में गुण का घात अटक गया, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

दर्शन–ज्ञान–चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात,... हो। अन्दर अज्ञानरूप से दर्शन-ज्ञान का घात हुआ होने पर भी शरीर की क्रिया ऐसी की ऐसी रहती है। समझ में आया ? पुद्गल का घात होता है, ऐसा नहीं है। है ? दर्शन-ज्ञान-चारित्र का घात होने पर पुद्गल का घात हो, ऐसा नहीं है। अज्ञानरूप से दर्शन-ज्ञान का घात किया होने पर भी शरीर की क्रिया पंच महाव्रत की द्रव्यलिंग की ऐसी की ऐसी रही। आहाहा! वह क्रिया ऐसी रही, इसलिए यहाँ गुण रहे, ऐसा नहीं है। यहाँ गुण का रहना तो अज्ञान के अभाव के कारण गुण का रहना (होता है)। वह शरीर की क्रिया घात हो गयी, इसलिए यहाँ घात होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

शरीर की क्रिया रुक गयी, वाणी अटक गयी, वन्दन, विनय देह से जो कुछ वाणी आदि से विनय (होना) वह अटक गया, इससे कहीं गुण का घात हुआ नहीं। बात समझ में आती है? बाहर का अटक गया। गुरु का वन्दन, देव का वन्दन आदि अटक गया, देह की क्रिया अटक गयी तो भी अन्दर गुण का घात हुआ नहीं। क्योंकि वह गुण कहीं शरीर की क्रिया के कारण नहीं थे। आहाहा! वे तो अपने ज्ञान-गुण के कारण गुण थे। आहाहा!

और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अवश्य ही घात होना चाहिए। अर्थात्? पुद्गल की क्रिया कदाचित् न हुई, तथापि ज्ञान-गुण तो वहाँ रहा। बात समझ में आती है? शरीर से वन्दन आदि की क्रिया न हुई तो भी अन्दर तो गुण रहे हैं। शरीर की क्रिया नहीं हुई, इसलिए गुण का घात हो गया और शरीर की क्रिया सरीखी रही, इसलिए गुण का घात नहीं होता, ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें कुछ? यह शरीर और वाणी तथा आत्मा, इस आत्मा के गुण उनमें नहीं और उनके गुण इसमें नहीं। इसलिए शरीर और वाणी की क्रिया रुक जाए, इससे आत्मा के गुण का घात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

यदि दोनों एक हों तो पुद्गल का घात होने पर, **पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्र का अवश्य ही घात होना चाहिए। ऐसा होने से जीव के जो जितने गुण हैं, वे सब परद्रव्यों में नहीं हैं, यह हम भलीभाँति देखते-मानते हैं;...** आहाहा! दो बातें की हैं, कि देह की क्रिया पंच महाव्रत की विनय-वन्दन रुक गया, इससे गुण अटक गये, ऐसा भी नहीं है और देह की क्रिया बराबर रह गयी, वन्दन व्यवहार बराबर रहा, इसलिए गुण वहाँ अन्दर रहे, ऐसा नहीं है। बाहर की क्रिया रही और अन्दर के अज्ञान के कारण गुण का घात होता है। देवचन्दजी! समझ में आया इसमें? शान्तिभाई!

दो चीज़—शरीर-वाणी तथा एक ओर आत्मा। तो कहते हैं कि आत्मा के गुण शरीर में नहीं—पुद्गल में नहीं और शरीर के गुण इसमें नहीं क्योंकि इसकी क्रिया रुक जाती है तो भी आत्मा के गुण रुकते नहीं। आत्मा अपने आनन्द में प्रगट होकर गुण आगे बढ़ते हैं। इसके साथ उन्हें सम्बन्ध नहीं है तथा शरीर, वाणी की क्रिया बराबर रही, आज्ञा प्रमाण बाहर वन्दन, व्यवहार आदि (रहे), तथापि अन्दर अज्ञान के कारण गुण का घात हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानादि गुण का घात, इसका अर्थ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञान के कारण घात कहा है। यह अज्ञान है न ? अज्ञान है न ? मिथ्यात्व है। अज्ञान है, वह ज्ञान का घात करता है या नहीं ? अज्ञान के कारण (ज्ञान) उत्पन्न नहीं होता। अज्ञान के कारण, मिथ्यात्व के कारण गुण उत्पन्न नहीं होते परन्तु घात हो जाता है। यह तो सीधी साधारण बात है।

यहाँ तो दूसरा कहना है कि यह शरीर की क्रिया घात हो गयी, घट गयी, तो भी आत्मा के गुण जो हैं, अज्ञान टालकर ज्ञान हुए, वे गुण तो ऐसे के ऐसे रहे हैं। यहाँ घटा, इसलिए वहाँ गुण घट जाते हैं, ऐसा नहीं है। तथा इस शरीर की क्रिया वन्दन व्यवहार, आवश्यक, व्रत ऐसी की ऐसी रही परन्तु अन्दर अज्ञान के कारण गुण का घात हो गया। इसलिए यहाँ क्रिया रही, इसलिए वहाँ गुण का घात न हो—ऐसा नहीं है। बात समझ में आती है ?

जीव के और पुद्गल के दोनों के गुण भिन्न हैं—एक बात। उसमें आधार का घात होता तो आधेय घात हो जाए और आधेय घात होवे तो आधार घात हो जाए। इस प्रकार यदि आत्मा का गुण का आधार इस देह की क्रिया के आधार से हो, वन्दन और व्यवहार और आवश्यक बराबर इसके आधार से हो तो इनका नाश होने पर इसका नाश हो जाए। परन्तु ऐसा है नहीं। आहाहा! भारी काम, कठिन काम। समझ में आया ?

देह की क्रिया घट जाए। वन्दन, व्यवहार, बोलने का, चलने का सब रुक जाए तो भी अन्दर गुण का घात नहीं होता क्योंकि गुण का घात तो अज्ञान से होता है, अपने अज्ञान से होता है। क्योंकि वह गुण कहीं पुद्गल में नहीं है, कि पुद्गल का घात हुआ, इसलिए यहाँ घात हो। तथा पुद्गल की क्रिया ऐसी की ऐसी रही। द्रव्यलिंगी साधु, द्रव्यलिंगी साधु क्रिया बराबर विनय, वैयावृत्त्य, भक्ति आदि बराबर करे, तथापि अन्दर अज्ञान के कारण गुण का घात हुआ है। आहाहा! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

इस देह और वाणी की क्रिया को तथा आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि इसके गुण उसमें नहीं और उसके गुण इसमें नहीं। यदि ऐसा होवे तो इसके आधार से यदि गुण हो तो जैसे घड़े के आधार से दीपक था तो घड़ा फूटने पर दीपक गया।

उसी प्रकार यहाँ क्रिया के आधार से यदि गुण हो तो क्रिया जाए तो गुण भी जाए। ऐसा नहीं है। समझ में आया इसमें? आहाहा! और शरीर की क्रिया, वाणी की क्रिया बराबर जैसी है, वैसी व्यवहार में रहे तो भी अन्दर अज्ञान के कारण गुण का घात होता है। ऐसी क्रिया है, इसलिए यहाँ गुण का घात नहीं होता, ऐसा नहीं है। शान्तिभाई! सुना यह? सुनी नहीं होगी कभी ऐसी बात।

इसकी (—शरीर की) क्रिया समरूप हो तो इससे गुण का घात नहीं होता, ऐसा नहीं है और इसकी क्रिया समरूप न हो तो गुण का घात होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! दोनों चीज़ें ही भिन्न है। आहाहा! स्त्री, पुत्र, परिवार, धन्धा छोड़ा, यह घात हुआ। इससे यहाँ गुण का उघाड़ हो, ऐसा नहीं है। कुटुम्ब, दुकान छोड़ी, इसलिए गुण का उघाड़ हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि उसके गुण यहाँ नहीं हैं, इसके गुण उसमें नहीं है। आहाहा!

आत्मा में अज्ञान टलकर ज्ञान हुआ और बाहर में दुकान और राग आदि रहा वह ज्ञेयरूप से रहा। ज्ञान हुआ, वह ज्ञेयरूप से परद्रव्य रहा। आहाहा! वह परद्रव्यरूप से रहा, इसलिए यहाँ गुण का घात होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, शरीर रहे, इसलिए गुण का घात होता है, ऐसा भी नहीं है और उन्हें छोड़ा, इसलिए गुण का घात नहीं होता और गुण विकास को पाते हैं, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात करते हैं। आहाहा!

पुद्गल के गुण जीव में नहीं है और जीव के गुण पुद्गल में नहीं है। यह तो बात की है और दृष्टान्त दिया है कि आधार का नाश होवे तो आधेय का नाश हो। घड़े का नाश हो तो दीपक का नाश हो। फिर कहा कि आधेय का नाश हो तो आधार का (नाश हो)। प्रकाश का नाश हो तो दीपक का नाश (हो)। इसी प्रकार यदि देह की क्रिया गुण के आधार से हो, इस आत्मा का गुण है, उसके आधार से क्रिया हो तो यह क्रिया घटनी नहीं चाहिए, तो क्रिया ऐसी की ऐसी रहना चाहिए। ऐसा है नहीं। और यहाँ क्रिया घट गयी, इसलिए गुण घट जायें, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं करता। सम्बन्ध ही नहीं है न! उस द्रव्य के गुण जीव में नहीं है, जीव के गुण द्रव्य में नहीं है। फिर देह की क्रिया चाहे जैसी अच्छी हो तो वहाँ

गुण हो अन्दर, सम्यग्दर्शन और ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। तथा वहाँ अज्ञान के कारण सम्यग्दर्शन और ज्ञान का घात हो गया और देह की क्रिया तो ऐसी की ऐसी रही, इसलिए वहाँ गुण का घात न हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! अभी तो समझना कठिन पड़े।

ऐसा होने से जीव के जो जितने गुण हैं, वे सब परद्रव्यों में नहीं हैं, यह हम भलीभाँति देखते–मानते हैं; क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर... अर्थात् ? अज्ञान से जीव के गुण का घात होने पर परद्रव्य का घात होता है। अर्थात् द्रव्य की, जड़ की क्रिया भी समरूप नहीं रहे। ऐसा नहीं है। समझ में आया ? जीव के गुणों का घात होने पर परद्रव्य का घात होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। अन्दर अज्ञान के कारण, मिथ्यात्व के कारण गुण की दृष्टि अज्ञान हो गयी, तथापि देह की क्रिया द्रव्यलिंगी की वैसी की वैसी रही। वैसी की वैसी क्रिया रहने पर भी वहाँ गुण का घात होता है। आहाहा! अब ऐसी बातें पकड़ना कठिन पड़ती है। वह तो एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय दया पालो, हो गया। कुछ लेना–देना (नहीं)। यहाँ तो कहते हैं कि यह दया पालने की क्रिया देह से होती है परन्तु अन्दर में अज्ञान है, वह मिथ्यात्व है, वह गुण नहीं है। आहाहा!

कदाचित् बाहर में समकिती को युद्ध भी हो, भरत और बाहुबली (के बीच) युद्ध हुआ तो भी उस क्रिया से गुण घात हो जाए, ऐसा नहीं है। अज्ञान से गुण घात होते हैं। अज्ञान नहीं है; ज्ञान हो गया है। आहाहा! समझ में आया ? भरत और बाहुबली दोनों ने युद्ध किया। बड़े कितने लोग लश्कर, लाखों सैनिक, तथापि गुण का घात नहीं, क्योंकि यह गुण उसमें नहीं। वह क्रिया होने पर भी गुण का घात नहीं होता, क्योंकि यह गुण उसमें नहीं है। आहाहा!

और द्रव्यलिंगी सब छोड़कर बैठा है। अकेला शरीर है, निर्दोष आहार–पानी (लेता है), चौका–बौका उसके लिये बनाया हो तो आहार नहीं लेता, ऐसी देह की क्रिया है। पुद्गल की ऐसी क्रिया होने पर भी अन्दर अज्ञान है तो गुण का घात होता है। यह क्रिया का घात नहीं हुआ, इसलिए गुण का घात नहीं होता—ऐसा नहीं है। बात समझ में आती है ? आहाहा! ऐसी बातें हैं।

वह कहे कि मैं शरीर से ब्रह्मचर्य पालता हूँ, बालब्रह्मचारी हूँ; इसलिए मैं समकिती हूँ। यह बात मिथ्या है। यह शरीर की क्रिया बालब्रह्मचारी रही, इसलिए वहाँ समकित इसके कारण से होता है, यह बात झूठ है। आहाहा! यह तो शरीर की क्रिया नहीं हुई। आत्मा

में ? अज्ञानरूप से स्वयं अपना परिणमन करे तो वह अज्ञान वहाँ है और यहाँ बालब्रह्मचारी बाहर में है। आहाहा ! और बाहर में छियानवें हजार स्त्रियों का भोग विषय लेता है, तथापि... आहाहा ! अन्दर क्षायिक समकिती है। क्षायिक समकित को एक अंश भी आँच नहीं आती। छियानवें हजार स्त्रियों का भोग (हो), तथापि समकिती को समकित में एक अंश भी घात और आँच नहीं आती। क्योंकि इसके गुण उसमें नहीं, उसके गुण इसमें नहीं। आहाहा ! यह पुद्गल की क्रिया इतनी हुई परन्तु यहाँ अज्ञान भाव नहीं है, इसलिए गुण तो यहाँ अपना हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

यह कहीं रुपये-बुपये में नहीं वहाँ कहीं भी। आहाहा ! यहाँ तो कहे रुपया न हो, निर्धन हो, शरीर में रोग हो, क्षय रोग हो, काला कलुटा हो, खाने को न मिलता हो, एक बार भी न मिलता हो तो भी इस शरीर के घात से गुण का घात नहीं होता। आहाहा ! गजब बात है ! और बाहर की क्रिया देह की ऐसी की ऐसी रहे, तथापि अन्दर अज्ञानरूप से गुण का घात होता है, क्योंकि इसके कारण यह भी नहीं और उसके कारण यह भी नहीं। आहाहा ! गजब बात है। समझ में आया ?

पुद्गल के गुण जीव में नहीं है और जीव के गुण पुद्गल में नहीं हैं। यह सिद्ध करने के लिये आधार-आधेय का दृष्टान्त दिया। तो इस क्रिया के आधार से गुण है और गुण है, इसलिए क्रिया ऐसी ही रहती है, उसके आधार से—ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा ! सुना था कभी ? आहाहा ! देह, वाणी, मन, यह सब क्रियाएँ भले हों, तो भी अन्दर अज्ञान नहीं है; इसलिए आत्मा के गुणों का इसके कारण कुछ घात नहीं है। आहाहा ! और यह क्रिया न हो... आहाहा ! अन्तिम स्थिति ऐसी हो गयी हो, शरीर जीर्ण (हो गया हो), बोलने की भी ताकत नहीं, विनय करने का, गुरु आये और विनय करने (के लिये) खड़ा होना भी न हो सके, भाषा न हो सके, इससे उसके गुण का घात हो, ऐसा नहीं है। आहाहा ! भिन्न करके करते तो आये हैं, कलई और चाँदनी जमीन को सफेद करती है। जमीन सफेद होती नहीं। वह सफेदी सफेदी में है, जमीन जमीन में है। इसी प्रकार देह की क्रिया जड़ में है, आत्मा की क्रिया आत्मा में है। आहाहा ! गजब बात है।

यहाँ भी जीव के गुणों का घात होने पर पुद्गलद्रव्य का घात,... होना चाहिए। तो

ऐसा नहीं होता, कहते हैं। जीव के गुण रहते हैं और क्रिया जड़ की होती नहीं। आहाहा! **और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर जीव के गुण का घात होना अनिवार्य हो जाए।** देह की क्रिया कुछ काम नहीं कर सकती, इससे गुण का घात हो जाए, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! जरा समाधान करना कठिन है। आहाहा! प्रश्न। ऐसा सुनने के बाद शिष्य को प्रश्न हुआ।

प्रश्न–यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है? आहाहा! क्योंकि ऐसा दिखता तो है। समकिती विवाह करता है, लग्न करता है, छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं। आहाहा! शिष्य प्रश्न करता है। **ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है? उत्तर–किसी भी कारण से नहीं होता।** वह क्रिया है, इसलिए अज्ञान होता है और आत्मा को नुकसान होता है, बिल्कुल समकित को बिल्कुल दोष नहीं है। चारित्रदोष के क्रियाकाण्ड के कारण से समकित में दोष है, यह बिल्कुल नहीं और बाहर का क्रियाकाण्ड समरूप हो, इसलिए समकित में दोष नहीं है और समकित है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

ऐसा है तो सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग किस कारण से होता है? उत्तर–किसी भी कारण से नहीं होता। (प्रश्न–) तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन सी है? आहाहा! आप तो ऐसा कहते हो कि सम्यग्दृष्टि हुआ, इसलिए राग है ही नहीं। अब छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह करे उसे राग नहीं। यह तुम क्या कहते हो? शिष्य कहता है, तुम यह क्या कहते हो? छियानवें हजार स्त्रियों से विवाह करे और राग नहीं। और समकिती है? समकिती को राग होता नहीं, ऐसा आप कहते हो। सुन, सुन... भाई! **किसी भी कारण से नहीं होता।** क्योंकि राग की खान है।

(प्रश्न–) तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन सी है? (उत्तर–) राग–द्वेष–मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं... देखा? किसी बाहर की क्रिया के कारण से कुछ भी फेरफार नहीं होता। आहाहा! बाह्य में स्त्री, पुत्र, परिवार सब छोड़कर, राजपाट छोड़कर बैठा हो परन्तु अन्दर अज्ञान और मिथ्यात्व हो तो वह अवगुण है। उसके कारण यहाँ गुण हुआ—ऐसा नहीं और वह छूट गया, इसलिए यहाँ गुण हो—ऐसा भी नहीं। आहाहा! दुनिया बाहर से देखनेवाले को यह बात (बैठती नहीं)। बाहर की प्रवृत्ति देखे,

अच्छी क्रिया (देखे)... ओहोहो! भारी त्याग। इसलिए ऐसा त्याग हो जहाँ, उसे तो मुनिपना होता ही है न! समकित होता ही है न! ऐसा। आहाहा!

राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन सी है? राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं... यह देह की क्रिया होने पर अज्ञान हो जाए या चारित्रमोह का राग आया, इसलिए समकित और अज्ञान हो जाए, एक गुण का दोष दूसरे गुण के दोष को लगा दे, ऐसा नहीं है। आहाहा! **जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं...** आहाहा! **(अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है);...** आहाहा! यह विषय छूटे, इसलिए गुण हुआ और विषयों में पड़ा है, इसलिए अवगुणी है, अज्ञानी है—ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात है।

राग-द्वेष-मोह, जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं (अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है);... आहाहा! बाहर की पुद्गल की कोई क्रिया सुधर जाए तो गुण सुधरे और पुद्गल की क्रिया खूब रहे तो यहाँ अज्ञान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! शान्तिभाई! यह सुना नहीं, कभी पढ़ा नहीं। सब वर्ष व्यतीत किये एकड़े बिना। बातें कठिन, बापू! आहाहा! पुद्गल के गुण जीव में नहीं है, जीव के गुण पुद्गल में नहीं है, परन्तु इसमें सिद्धान्त क्या किया? कि पुद्गल की यह सब क्रिया होती है, इसलिए वहाँ गुण अन्दर है, ऐसा नहीं है और यह क्रिया रुक जाती है तो वहाँ अवगुण है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है); इसलिए वे राग-द्वेष-मोह, विषयों में नहीं हैं... क्या कहते हैं? विषय जो है, उसमें राग-द्वेष नहीं है; इसलिए उस विषय को छोड़े तो राग-द्वेष छोड़े, ऐसा नहीं है। विषय छूट गये और छियानवे हजार स्त्री आदि न रही तो यहाँ ज्ञान है, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब काम करते हैं। विषयों में राग नहीं। आहाहा! **राग-द्वेष-मोह, विषयों में नहीं हैं क्योंकि विषय परद्रव्य हैं,...** आहा! परद्रव्य में जीव के गुण नहीं तो गुण की विपरीत-उल्टी अवस्था भी उसमें नहीं। जीव के गुण, उसकी उल्टी अवस्था गुण में है। तो ये गुण दूसरे में-जड़ में नहीं तो उसमें अज्ञान भी नहीं। आहाहा! और उसके कारण यहाँ अज्ञान हो, ऐसा भी नहीं। तथा यहाँ राग

को तोड़कर ज्ञान हुआ, इसलिए विषय, राज्य, कुटुम्ब आदि सब छूट गये, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

बाहर से जहाँ छोड़े, छोड़े वहाँ... आहाहा! इसने तो दूध छोड़ा, इसने रस छोड़ा, इसने अमुक छोड़ा, इसने आम छोड़ा और यह अमुक खाने के रस छोड़े। पाँच प्रकार के रस छोड़ दिये। परन्तु तेरा क्या भला हुआ? सुन न। आहाहा! और समकिती—क्षायिक समकिती को छियानवें हजार स्त्रियाँ (हों) और जिसका—चक्रवर्ती का एक ग्रास छियानवें करोड़ सैनिक पचा सकें, ऐसी ताकत नहीं। क्या कहा? इस चक्रवर्ती का समकिती का भोजन ऐसा होता है, बत्तीस ग्रास, कि जिसकी अरबों की कीमत हो। अकेले हीरा की भस्म करके घी में डालकर भस्म डालकर गेहूँ वह भस्म पी जाए, उस गेहूँ की रोटी बनावे। वह रोटी और रस खाये, जिसकी कीमत अरबों रुपये हो। आहाहा! तो भी उसे समकित में दोष नहीं है। आहाहा!

यह अज्ञान राग-द्वेष-मोह विषयों में नहीं है। उसमें नहीं कि, उसके छूटने से तो राग-द्वेष छूट जाए। आहाहा! विषयों में राग-द्वेष नहीं कि वे छूट जाऐं तो राग-द्वेष छूट जाए। आहाहा! राग-द्वेष तो तुझमें अज्ञानरूप से है। आहाहा! क्योंकि विषय परद्रव्य है। परद्रव्य में गुण और अवगुण, तेरा गुण उसका अवगुण उसमें नहीं। तेरा गुण उसमें नहीं तो गुण का अवगुण भी उसमें नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई!

और वे सम्यग्दृष्टि में (भी) नहीं हैं... क्या कहा? परद्रव्य में, उन विषयों में भी राग-द्वेष नहीं। क्योंकि उसमें जीव के गुण नहीं, इसलिए अवगुण नहीं। तथा यह सम्यग्दृष्टि नहीं। क्योंकि अज्ञान नहीं। इसलिए नहीं सम्यग्दृष्टि के राग-द्वेष, नहीं राग-द्वेष पुद्गल में। अज्ञान से उत्पन्न हुए थे। वह अज्ञान गया, इसलिए अब राग-द्वेष नहीं। आहाहा! तथापि स्वच्छन्दी हो, ऐसा नहीं, हों! वह। आहाहा! कि समकिती को राग-द्वेष नहीं, इसलिए हम चाहे जैसा करें—ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन बात है, भाई!

इन गाथाओं में तो पूरा सिद्धान्त भरा है, कि तुझे तेरे गुण की दशा उल्टी और सुल्टी तुझसे होती है। संयोगी कोई भी चीज़ घटा दी या बढ़ गयी, इसलिए तेरे गुण और अवगुण में फेरफार पड़ता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया इसमें? अज्ञान से ही गुण का

घात होता है। कोई जड़ की, पुद्गल की क्रिया न हो, इससे अन्दर घात हो जाए—ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन काम है।

लोग तो बाहर से माने और बाहर से मनवावे। आहाहा! बाहर का त्याग करके (मानते हैं कि) हम त्यागी हैं। यहाँ इनकार करते हैं। बाहर की वस्तु में तेरा अवगुण नहीं कि तूने छोड़ा, इसलिए तुझे गुण हो गया। आहाहा! तेरा अवगुण—गुण की उल्टी अवस्था तो तुझमें है। आहाहा! वह अवस्था छोड़े बिना तू बाहर का छोड़कर नग्न होकर अकेला बैठ जा, इससे कहीं जरा भी गुण आये नहीं। आहाहा! और समकिती को अज्ञान टालकर छियानवें हजार स्त्रियाँ हों तो उसे अज्ञान के राग-द्वेष नहीं हैं। अस्थिरता के हैं, वे ज्ञेय में गये। ज्ञान के ज्ञेय में गये। आहाहा! गजब बात है। इसलिए राग-द्वेष-मोह विषयों में नहीं है। क्योंकि वे घटें-बढ़ें, उनके साथ आत्मा को सम्बन्ध नहीं है। तथा विषय... आहाहा!

क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, और वे सम्यग्दृष्टि में (भी) नहीं हैं क्योंकि उसके अज्ञान का अभाव है;... आहाहा! सम्यग्दृष्टि को जो राग-द्वेष हुए, वे तो ज्ञान में ज्ञेयरूप से हैं; ज्ञान में अपने रूप से हैं नहीं। चारित्र का दोष छियानवें हजार स्त्री का, परन्तु वह राग अपनेरूप नहीं है, वह राग ज्ञेयरूप है। आहाहा! इस ज्ञान का इतना बलवानपना-जोर है कि वह राग को ज्ञेयरूप से जानता है। आहाहा! और वह भी राग में रस नहीं है। आहाहा! राग में रस होवे तो अज्ञान है। राग में रस हो और अज्ञान है और फिर बाहर छोड़कर भले बैठे। आहाहा! यह बात भारी कठिन पड़ती है। बाहर का त्याग कर त्याग मनवाना है, उसे यहाँ इनकार करते हैं। बाहर के त्याग से त्याग मनावे, वह वस्तु (नहीं है)। क्योंकि पर में कहीं तेरे गुण नहीं है, इसलिए गुण की विपरीत दशा भी उसमें नहीं है। आहाहा!

तेरे गुण तुझमें हैं न, प्रभु! उस गुण की पर्यायदृष्टि टालकर द्रव्यदृष्टि हुई, पश्चात् राग जो हुआ, वह ज्ञान में ज्ञेय रहा। आहाहा! इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष नहीं है, ऐसा कहा है। इस अपेक्षा से, हों! फिर सर्वथा मान बैठे कि हमारे राग-द्वेष है ही नहीं, ऐसा नहीं। यहाँ क्या अपेक्षा है? अज्ञान टला, उसे उस प्रकार के राग-द्वेष उसके नहीं हैं। दूसरे राग-द्वेष हैं, वे ज्ञान में ज्ञेयरूप से रहे हैं। उसे ख्याल है कि मुझे अभी टालने हैं। मुझे अभी आगे बढ़ना है, इसमें अटकना नहीं है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

मुमुक्षु : कठिन लगता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कठिन है परन्तु है तो यह सत्य। तुझमें तू और पर में वह। तेरी स्थिति का कोई शक्ति का गुण पर में नहीं है। इसलिए पर के त्याग-ग्रहण से तुझमें त्याग-ग्रहण का गुण आ जाए, ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! तथा पर के ग्रहण से तुझमें अवगुण आ जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा!

चक्रवर्ती का राज, संयोग दिखायी दे, तथापि समकित की है और ज्ञानी है। आहाहा! बाहुबली और भरत लड़े परन्तु वह राग ज्ञेय है। आहाहा! वह राग मेरा है—ऐसा है ही नहीं। राग की एकता टूट गयी है, इसलिए ज्ञानी को राग नहीं है। एकता टूटी है, इसलिए राग नहीं है। एकता है, वहाँ भले छोटे में छोटा राग रहा और द्रव्यलिंगी साधु हो परन्तु राग के अंश की एकत्वबुद्धि पड़ी है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! उसे अज्ञान का अभाव है, सम्यग्दृष्टि में नहीं क्योंकि अज्ञान नहीं है।

इस प्रकार राग-द्वेष-मोह, विषयों में न होने से... अर्थात् पुद्गल में नहीं होने से **और सम्यग्दृष्टि के (भी) न होने से,...** द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से वह वस्तु **(वे) हैं ही नहीं।** आहाहा! जहाँ द्रव्यदृष्टि हुई, इससे जो अज्ञान के कारण राग-द्वेष थे, वे है नहीं और पर में तो है ही नहीं। पर के त्याग-ग्रहण में तो गुण-अवगुण है नहीं। आहाहा! पर के त्याग-ग्रहण से गुण-अवगुण नहीं है। तेरे अज्ञान के ग्रहण से अवगुण है और अज्ञान के त्याग से गुण है। अज्ञान का त्याग हुआ और फिर बाहर का संयोग पुण्य के कारण अधिक रहा, इससे रागी हुआ और द्वेषी हो गया, ऐसा नहीं है। लो! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२०, गाथा-३६६ से ३७१ तथा श्लोक-२१८ बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३
दिनाङ्क - २५-०६-१९८०

भावार्थ ५३४ पृष्ठ है। **भावार्थ – आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप...** यहाँ तो अज्ञान से उत्पन्न हो, इसलिए अज्ञान से ही गिना है। ज्ञानी के राग-द्वेष को गिना नहीं। ज्ञानी के राग-द्वेष को ज्ञेय माना गया है। **आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का घात होता है,...** अपने अज्ञान के कारण से गुण घात होते हैं, पर के कारण से नहीं। **किन्तु गुणों के घात होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता;...** शरीर को कुछ दिक्कत नहीं आती। अन्दर भले गुण घात हो परन्तु शरीर तो ऐसा का ऐसा रहता है, निरोगी रहता है। आहाहा! क्योंकि शरीर के गुण आत्मा में नहीं है और आत्मा के गुण शरीर में नहीं है। इसलिए आत्मा के गुण, अवगुण से—अज्ञान से घात होने पर शरीर और शरीर की क्रिया तो ऐसी की ऐसी रहती है। आहाहा!

और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर... शरीर निर्बल पड़ जाये, रोग हो जाये, क्षय हो जाये। **दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का घात नहीं होता;...** क्योंकि इसकी चीज़ दूसरी है, यह चीज़ दूसरी है। शरीर की जीर्णता होने से शरीर में रोग और... आहाहा! अनेक प्रकार के केन्सर आदि रोग हो, तो भी वे शरीर में हैं। वे कहीं आत्मा को घात नहीं करते, आत्मा के गुण की पर्याय घात नहीं होती। **इसलिए जीव के कोई भी गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं।** जीव के कोई गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं है अर्थात् कि मैं पुद्गल को कुछ सुधारूं तो मुझे लाभ हो, पुद्गल बिगड़े तो मुझे नुकसान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! शरीर को कुछ ठीक रखूँ तो मुझे गुण में ठीक रहे, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार शरीर में ठीक न रहे और व्याधि आदि आवे, तो भी आत्मा को दिक्कत नहीं। शरीर के घात से आत्मा के किसी भी पर्याय-गुण का घात नहीं होता।

ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में... यह विषय जो अचेतन हैं, उनमें **रागादिक नहीं होते।** क्योंकि राग-द्वेष तो अज्ञान के कारण से होते हैं। जहाँ अज्ञान

गया, पश्चात् अपने में नहीं होते तथा विषयों में नहीं होते। आहाहा! यहाँ यह बात ली है। **जीव के कोई भी गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में रागादिक नहीं होते।** आहाहा! गुण की उत्पत्ति अथवा अज्ञान से गुण का घात, वह तो स्वयं से स्वयं में होता है। कोई शरीर और वाणी, मन या पर संयोग प्रतिकूल हो तो यहाँ गुण का घात हो जाये और अनुकूल रहे तो गुण वृद्धि को प्राप्त करे, (ऐसा नहीं है)। 'शरीराद्य खलु धर्म साधनम्' आता है न? पुरुषार्थसिद्धिउपाय में (आता है)। यह तो निमित्त के कथन हैं। कोई जिसमें कुछ गुण नहीं, उस गुण की उल्टी दशा स्वयं करे तो होती है। वह उल्टी दशा कोई दूसरा करावे तो हो या दूसरे से हो, ऐसा नहीं है।

जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं;... राग और द्वेष, मिथ्यात्व और भ्रान्ति जीव के अज्ञानभाव से जीव की पर्याय में उत्पन्न होते हैं। आहाहा! **जब अज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होता है,...** अज्ञान का अभाव हो तो सम्यग्दृष्टि हो। **तब वे उत्पन्न नहीं होते हैं।** सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष होते ही नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु ऐसा कोई सर्वथा मान ले (कि) राग-द्वेष कुछ मुझमें है ही नहीं, होते हैं तो भी; तो स्वच्छन्दी हो जाये तो उसके लिये यहाँ बात नहीं है। आहाहा! उत्पत्ति अज्ञान के कारण से होती है, वह अज्ञान स्वयं के कारण से है, वह अज्ञान पर के कारण से नहीं है, इसलिए पर के कारण से राग नहीं होता, ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया? आहाहा!

इस प्रकार राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गलद्रव्य में हैं... राग-द्वेष कर्म में भी नहीं। कर्म में अनुभाग होता है, वह तो जड़ का जड़ में होता है। कर्म का कठोर अनुभाग आवे तो यहाँ राग-द्वेष हों, ऐसा नहीं है। आहाहा! आहाहा! कर्म के प्रदेश और स्थिति तो एक ओर रही, परमाणु की संख्या, परन्तु उसका अनुभाग जो कठोर हो तो उसके कारण यहाँ जीव में विकार होता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! इसलिए एक द्रव्य में उल्टी-सुल्टी अवस्था में कोई परद्रव्य कारण है ही नहीं, परद्रव्य के कारण से कुछ है ही नहीं। आहाहा!

इसलिए **राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गलद्रव्य में हैं और न सम्यग्दृष्टि में भी होते हैं, इसलिए शुद्धद्रव्यदृष्टि से देखने पर...** द्रव्यस्वभाव, वस्तु का स्वभाव देखने पर, द्रव्यदृष्टि

से देखने पर, आहाहा! **वे हैं ही नहीं,...** क्योंकि द्रव्य में नहीं है; इसलिए द्रव्यदृष्टि को नहीं है, इसलिए द्रव्यदृष्टिवान को भी नहीं है। राग-द्वेष उत्पन्न होने का कारण द्रव्य में नहीं है, इसलिए द्रव्यदृष्टिवान को भी राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते। इसमें एकान्त ले जाये, वापस ऐसा नहीं, हों! वे राग-द्वेष ज्ञानी को जरा भी नहीं होते, वे जरा भी दु:ख का वेदन नहीं करते, ज्ञानी को दु:ख होता ही नहीं, ऐसा एकान्त ले जाये—ऐसा नहीं। जितना ज्ञानी को राग होता है, उतना दु:ख है, उतनी आकुलता है। परन्तु यहाँ तो अज्ञानरूप से उत्पन्न होते भाव उसे नहीं है। अस्थिरता के भाव हों, वे ज्ञान में ज्ञेयरूप से, परज्ञेयरूप से आते हैं। वेदन में भी आते हैं तो भी दृष्टि की प्रधानता की मुख्यता से उन्हें अपने गिनने में नहीं आया है। आहाहा! अभी इसका बड़ा घोटाला है। कर्म से होता है, कर्म से होता है।

जैन में तो तीनों सम्प्रदाय (ऐसा मानते हैं)। कर्म के कारण ज्ञानावरणीय (बँधता है)। स्पष्ट गोम्मटसार में पाठ—ज्ञानावरणीय कर्म। ज्ञान को आवृत्त करे, वह कर्म। कर्म जड़ और ज्ञान पर को आवृत्त करे। शब्द तो यह है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय, मोह। आहाहा! यह तो निमित्त से सब कथन हैं। कोई परद्रव्य, परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता, फिर परद्रव्य के कारण कुछ होता है, यह बात है नहीं। आहाहा! शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर, द्रव्यदृष्टि में अशुद्धि द्रव्य है पर्याय से, परन्तु शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर त्रिकाल चैतन्यस्वभाव आनन्दकन्द त्रिकाल को देखने पर वे हैं ही नहीं।

पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव को... पर्यायदृष्टि, अवस्थादृष्टि, व्यवहारदृष्टि से देखने पर **अज्ञान अवस्था में हैं।** आहाहा! अज्ञान-अवस्था में है; ज्ञान-अवस्था में नहीं। आहाहा! अभी ऐसा सिद्ध करना है। राग-द्वेष की उत्पत्ति, विकार की उत्पत्ति जहाँ निर्विकार गुण हों, वहाँ विकार की उत्पत्ति होती है, यह सिद्ध करना है। परन्तु जहाँ निर्विकारी गुण नहीं, वहाँ विकार / राग हो, यह कहाँ? पुद्गल में कोई निर्विकारी गुण है ही नहीं तो वहाँ फिर विकार कहाँ से होगा? जहाँ निर्विकारी गुण हों, वहाँ विकार होता है, वह अज्ञानरूप से। ज्ञानरूप से तो विकार होता नहीं।

पर्यायदृष्टि से देखने पर... आहाहा! वर्तमान इसकी पर्याय से देखने पर, जीव को पर्यायदृष्टि से देखने पर। यह ज्ञानी को नहीं। क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि द्रव्य पर दृष्टि है। द्रव्य

के ऊपर, ध्रुव के ऊपर, त्रिकाल ध्रुव पर कायम दृष्टि है, ध्रुव से हटती नहीं। चाहे जो बात करे, बोले, चले, खाये, पीये, युद्ध करे परन्तु दृष्टि ध्रुव से हटती नहीं है। इसलिए **अज्ञान अवस्था में हैं।** वे ज्ञानी को है, ऐसा नहीं। ज्ञानी को जो राग-द्वेष होते हैं, वे सब ज्ञेय में जाते हैं। आहाहा! **ऐसा जानना चाहिए।**

कलश - २१८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(मन्दाक्रान्ता)

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञान-मज्ञान-भावात्,
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्व-दृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञान-ज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः।।२१८।।

श्लोकार्थ : [इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति] इस जगत में ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; [वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्य-मानौ तौ किञ्चित् न] वस्तुत्व में स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टि से देखने पर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से देखने पर), वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं (द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं।) [ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु] इसलिए (आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से उन्हें (राग-द्वेष को) स्पष्टतया क्षय करो, [येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति] कि जिससे, पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है, ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ : राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के

अज्ञानभाव से होते हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं, ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्म का नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है।।२१८।।

कलश - २१८ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं– २१८।

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञान-मज्ञान-भावात्,
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्व-दृष्ट्या स्फुटं तौ,
ज्ञान-ज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः।।२१८।।

आहाहा! **'इह ज्ञानम् हि अज्ञानभावात् राग-द्वेषौ भवति' इस जगत में...** ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा **अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है;...** राग-द्वेष कर्म कराता है, (ऐसा नहीं)। आहाहा! तब यह बड़ा प्रश्न चला था, वर्णीजी के साथ। कर्म, कर्म बिना यदि विकार हो तो विकार स्वभाव हो जायेगा, इसलिए कर्म के कारण विकार होता है। बड़ा प्रश्न चला था। (कहा), बिल्कुल मिथ्या बात है, कर्म के कारण बिल्कुल नहीं होते। कर्म जड़ है, चैतन्य भिन्न है। जड़ में वे गुण नहीं कि जिससे अवगुण करे। जिसमें गुण हो, वह अवगुण करे। आहाहा! और उस अवगुण में पर भले निमित्त हो, परन्तु परचीज़ से अवगुण हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस जगत में ज्ञान ही... 'ही' (डाला है)। देखा? अर्थात् आत्मा का **ज्ञान ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; 'वस्तुत्व-प्रणिहित-दृशा दृश्य-मानौ तौ किञ्चित् न' वस्तुत्व में स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टि से...** त्रिकाली चैतन्य द्रव्य जो है, उस ध्रुव पर दृष्टि देने से बिल्कुल राग और द्वेष है ही नहीं। ध्रुव में नहीं, इसलिए ध्रुव दृष्टिवन्त को भी है नहीं। आहाहा! अधिक जोर तो यहाँ द्रव्यदृष्टि का देना है। द्रव्यदृष्टि के कारण विकार बिल्कुल नहीं होता, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। **वस्तुत्व में स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टि से देखने पर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से देखने पर),...** वस्तु को देखने पर,

वस्तुरूप से देखने पर। आहाहा! वे राग-द्वेष कुछ नहीं हैं, वे राग-द्वेष कुछ है ही नहीं। आहाहा!

एक का ऐसा मत था कि राग-द्वेष ज्ञानी को होते ही नहीं। क्योंकि वे—शास्त्र इनकार करते हैं, बिल्कुल नहीं होते। दूसरा और ऐसा कहता है कि राग-द्वेष होते हैं परन्तु कर्म के कारण से होते हैं। यह मिथ्या और वह भी मिथ्या, दोनों मिथ्या। ज्ञानी को भी जब तक अस्थिरता के राग-द्वेष होते हैं, तब तक उनका वेदन है, दु:ख का वेदन है। पूर्ण आनन्द का वेदन केवली को होता है, पूर्ण दु:ख का वेदन मिथ्यादृष्टि को होता है, साधक में आनन्द और दु:ख दोनों का वेदन होता है। आहाहा! समझ में आया? यदि यह वेदन न हो तो ज्ञान पूर्ण होना चाहिए, पूर्णानन्द होना चाहिए। यहाँ तो द्रव्यदृष्टि के कारण से नहीं है, ऐसा सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : द्रव्य के देखने से द्रव्य में नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य में द्रव्य को देखने से, वस्तु देखने से, उसमें नहीं है। अज्ञानरूप से उत्पन्न होते हैं। वे भी पर के कारण नहीं। अपने अवगुण के कारण उत्पन्न होते हैं। आहाहा!

वस्तुत्व में स्थापित (-एकाग्र की गई) दृष्टि से देखने पर (अर्थात् द्रव्यदृष्टि से देखने पर), वे राग-द्वेष कुछ भी नहीं हैं... आहाहा! द्रव्यसंग्रह में आया है, द्रव्यसंग्रह में। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वह वस्तु है ही नहीं, पर्यायदृष्टि से देखने पर है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वह वस्तु जगत में राग है ही नहीं। क्योंकि वस्तु में राग नहीं है। वस्तु निर्मल चिदानन्द प्रभु सच्चिदानन्द अकेला आनन्दकन्द है, उसमें से राग की उत्पत्ति हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। उसे न जानकर होता है, वह तो अज्ञान से हुआ। कर्म के कारण हुआ या ज्ञानावरणीय का उदय तीव्र आया, इसलिए अज्ञान हुआ अथवा मोह का तीव्र उदय आया, इसलिए अज्ञान हुआ—ऐसा नहीं है। आहाहा! कर्म का मोह का जोर उदय आया, इससे आत्मा को अन्दर अज्ञान करना पड़ा, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(द्रव्यरूप पृथक् वस्तु नहीं हैं।) द्रव्य के ऊपर दृष्टि देने पर उसमें राग और द्वेष नहीं है। इसलिए वे राग-द्वेष कोई अलग वस्तु नहीं है, वे कोई दूसरी चीज़ नहीं है। आहाहा!

'ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु' इसलिए **(आचार्यदेव प्रेरणा करते हैं कि) सम्यग्दृष्टि पुरुष...** आहाहा! तत्त्वदृष्टि से देखकर **तत्त्वदृष्टि से...** वस्तु त्रिकाल चिदानन्द ध्रुव है। अखण्डानन्द है, उसमें राग और विकार संसार दोष है नहीं, इसलिए सम्यग्दृष्टि तत्त्वदृष्टि अर्थात् ध्रुवदृष्टि द्वारा, द्रव्यदृष्टि द्वारा **उन्हें (राग-द्वेष को) स्पष्टतया क्षय करो,...** आहाहा! तब है तो सही। समकिती को है तो सही। तत्त्वदृष्टि से क्षय करो। तो है न? अज्ञानपने के जो उत्पन्न होते हैं, वे नहीं। आहाहा! अस्थिरता के अन्दर होते हैं, उन्हें यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि हे जीवो! सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि द्वारा... आहाहा! द्रव्यदृष्टि अर्थात् ज्ञायकदृष्टि द्वारा **उन्हें स्पष्टतया क्षय करो,...** आहाहा!

यह राग और द्वेष नहीं द्रव्य वस्तु में, नहीं परवस्तु उसे राग-द्वेष कराती। इसलिए तत्त्वदृष्टिवन्त देखकर राग-द्वेष को क्षय करो। राग-द्वेष है अवश्य अस्थिरता में। अज्ञानपने के नहीं, अज्ञानपने जो राग-द्वेष होते हैं, वे नहीं। इसलिए अज्ञानपने से नहीं होते तत्त्वदृष्टि द्वारा। आहाहा! है? **तत्त्वदृष्टि से...** किसी क्रियाकाण्ड द्वारा कर्म को नष्ट करो, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! समझ में आया? कि इतनी तपस्या करो और इतने अपवास करो और इतनी यात्रा करो और इतने आंबेलो करो तो कर्म नष्ट हो, ऐसा नहीं कहा। आहाहा!

तत्त्वदृष्टि से... आहाहा! अन्दर भगवान अखण्डानन्द प्रभु की दृष्टि द्वारा राग को नष्ट करो। आहाहा! यहाँ ऐसा नहीं आया (कि) व्यवहार करते-करते राग नाश होगा। यह आया नहीं। यह तो तत्त्वदृष्टि द्वारा राग को नष्ट करो। राग को, हों! कर्म को नहीं। कर्म तो जड़ है। कर्म का पलटना-बदलना, वह तो कर्म के कारण से है, उसके द्रव्य के कारण से है। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से...** आहाहा! **उन्हें (राग-द्वेष को) स्पष्टतया क्षय करो...** इसका अर्थ हुआ कि अभी राग-द्वेष है अवश्य। अज्ञान के राग-द्वेष नहीं हैं, परन्तु अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, उन्हें तत्त्वदृष्टि के जोर द्वारा उन राग-द्वेष का क्षय करो। आहाहा!

'येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति' कि जिससे,... आत्मा की तत्त्वदृष्टि द्वारा, ध्रुव दृष्टि द्वारा, ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि के आश्रय से कर्म नष्ट होने पर, राग नष्ट होने पर, विकार नष्ट होने पर **पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है...** वह प्रगट होगा।

अभी सम्यग्दृष्टि में पूर्ण नहीं है। आहाहा! परन्तु तत्त्वदृष्टि द्वारा उन्हें नष्ट करते हुए **पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है, ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।** ऐसी सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित होती है अर्थात् केवलज्ञान होगा। आहाहा! बहुत संक्षिप्त। जहाँ हो, वहाँ कर्म के कारण होता है। जैन में तो तीनों में यह (चलता है)। स्थानकवासी में, मन्दिरमार्गी में तो यह होता ही है, दिगम्बर में भी अभी तो कर्म के कारण विकार... कर्म के कारण विकार। बस! इतना। आहाहा! श्वेताम्बर लोग तो कर्म के कारण ही विकार मानते हैं। उनकी दृष्टि ही पहले से ऐसे कथनवाली है।

एक जेठाभाई थे, 'खेडा' के। आते थे, गुजराती। मन्दिरमार्गी थे। फिर यहाँ का सुनने के बाद उन्हें कुछ शंका पड़ गयी कि हम जो मानते हैं, उसमें अन्तर लगता है परन्तु यदि अपने श्वेताम्बर में जो यह बात ठीक से मिल जाये तो पलटना मिटे। ऐसा विचारकर पचास प्रश्न निकाले, रखे। किसी ने जवाब नहीं दिया, एकाध साधु ने दिया, वह बिना ठिकाने का। फिर रामविजय के साथ बात हुई। रामविजय है न? उसके साथ बात हुई कि हम चर्चा करेंगे। परन्तु रामविजय कहे, पहली बात यह है कि कर्म से विकार होता है, यह तुम्हें मान्य है? फिर चर्चा करेंगे। तो यह कहे, हमको यह मान्य नहीं। आहाहा! गजब है न!

मुमुक्षु : फिर चर्चा करने का रहता ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात यह पहले कर्म जड़ है, वह तुझे विकार करावे, परन्तु यह क्या? यह पहले स्वीकार करो तो फिर हम चर्चा करेंगे। एक जेठाभाई थे। दो जेठाभाई थे, दोनों जेठाभाई गुजर गये बेचारे। एक जेठाभाई तो पोरबन्दर के थे। दोनों आते थे। श्वेताम्बर (थे), परन्तु प्रेम बहुत था। इसलिए वहाँ भी चर्चा की। कर्म के कारण विकार होता है, यह बात स्वीकृत हो तो चर्चा करें। यह कहे, यह बात हमें स्वीकृत नहीं है। यहाँ का सुना था न?

कर्म जड़ है। जड़ में गुण है कि अवगुण हो? जिसमें गुण हो, उसकी उल्टी अवस्था होती है। कर्म में यदि गुण हो तो उसकी उल्टी अवस्था विकार हो। वह हो तो उसमें कर्म में हो, आत्मा को क्या? आहाहा! आत्मा में गुण है तो उल्टी अज्ञान अवस्था

करे तो विकार हो। इसमें गुण है तो गुण की उल्टी अवस्था होती है परन्तु कर्म के कारण विकार होता है, यह बात बिल्कुल झूठी है। आहाहा! यह यहाँ इनकार करते हैं न? परद्रव्य के कारण तो वह है ही नहीं।

तेरे आत्मा में तत्त्वदृष्टि द्वारा अज्ञान से राग उत्पन्न हो, यह नहीं होगा परन्तु दूसरे जो अस्थिरता के राग-द्वेष हैं, उन्हें तत्त्वदृष्टि से नष्ट कर। दूसरा कोई उसका उपाय है नहीं। आहाहा! कि इतने अपवास करना, इतने आंबेल करना, इतने ओळी करना और आहाहा! या आजीवन का ब्रह्मचर्य पालना न! यह नहीं? आहाहा! **तत्त्वदृष्टि से...** भाषा ऐसी ली है। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टि से...** है न? '**ततः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वदृष्ट्या तौ स्फुटं क्षपयतु**' पाठ ही यह है। आहाहा! सम्यग्दृष्टि तत्त्व की दृष्टि ध्रुव दृष्टिवन्त, ध्रुव दृष्टि द्वारा नष्ट करो। आहाहा! यह उन्हें नष्ट करने का उपाय, मार्ग और रास्ता यह है। (यह नहीं) कि अमुक क्रिया करे और इतने उपवास करे तो कर्म नष्ट हो। अठ्ठम करे और उसमें अठ्ठम का पोरसी करे तो पच्चीस अपवास का फल आवे, ऐसा उनमें चलता है न। परन्तु वह अठ्ठम ही खोटा, लंघण है। फिर और पोरसी में पच्चीस-बच्चीस अपवास और कहाँ गये वे तो कहीं रहे। आत्मा के ज्ञान बिना जितने त्याग-ब्याग के वैराग्य, वे सब व्यर्थ है। आहाहा! यह तो आ गया न?

पुद्गल की चाहे जितनी क्रिया तेरी हो, जिससे आत्मा को गुण हो, ऐसा नहीं है। और पुद्गल चाहे जितना खराब हो जाए, उससे तुझे आत्मा में नुकसान हो जाए, ऐसा बिल्कुल नहीं है। तू स्वयं अज्ञान करके राग-द्वेष उत्पन्न करे तो कर। हम तो कहते हैं कि तत्त्वदृष्टि द्वारा राग-द्वेष को नष्ट कर डाल। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! तब ऐसा कहाँ सुना था? कर्म करो और कर्म के कारण होगा, बस! सब ऐसे भाषण करते थे। यह सर्वत्र चलता था ऐसा सब। आहाहा! उसमें आता है, 'कर्म बिचारे कौन भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घन घात लोह की संगति पाई' लोहे की संगति अग्नि करती है तो उसके ऊपर घन पड़ते हैं। इसी प्रकार आत्मा परद्रव्य का संग करके मोह करे तो दु:ख पड़ता है। परद्रव्य का संग न करे और स्वद्रव्य की दृष्टि करे तो सुखी और आनन्द होता है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ विशिष्टता क्या है? एक ओर कहना कि सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष है नहीं तथा

एक ओर कहना कि सम्यग्दृष्टि तत्त्वदृष्टि द्वारा राग को नष्ट करो। अस्थिरता बाकी है न? आहाहा! तत्त्वदृष्टि होने पर अज्ञान से उत्पन्न होते वे राग-द्वेष ज्ञानी को है ही नहीं परन्तु अस्थिरता के जो हैं, वे ज्ञेयरूप से हैं। परन्तु है अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण; कर्म के कारण नहीं। इसलिए तत्त्वदृष्टि का तीव्र पुरुषार्थ करके उस विकार को नष्ट करो। दूसरा कोई उपाय नहीं है। आहाहा! और उसे नष्ट करते हुए सहज ज्ञान ज्योति प्रकाशित होगी। पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... पूर्ण... यह जो पूर्ण नहीं था, वह पूर्ण और अचल उसका प्रकाश है।

सम्यग्दृष्टि तत्त्वदृष्टि द्वारा, अज्ञान से तो उसे राग-द्वेष है नहीं, परन्तु जो अस्थिरता के राग-द्वेष परज्ञेयरूप से है, उन्हें तत्त्वदृष्टि द्वारा नष्ट करो। नष्ट करके तुझे अचल और पूर्ण यह ज्ञान की पूर्णता और अचलता प्रगट होगी। आहाहा! ज्ञान पूर्णानन्द और अचल— चलित न हो, ऐसी ज्ञानदशा होगी परन्तु वह अन्तर की दृष्टि द्वारा होगी। बाकी उसका कोई दूसरा उपाय नहीं है। आहाहा! यह पूजा करे और भक्ति करे... पालीताणा में सब बहुत चलता है। सब साधु शाम को हाथ में माला गिनकर, ऐसे माला गिनते-गिनते चढ़ते हैं। यात्रा कर आये। आहाहा!

मुमुक्षु : कितने ही तो वहाँ चातुर्मास ही करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसके लिये चातुर्मास करते हैं, भले (पहाड़) के ऊपर न जायें परन्तु नीचे रहे। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! जिसमें विकार अज्ञान से है, उसे तत्त्वदृष्टि से अज्ञान से उत्पन्न होते हुए को मिटाया। अब बाकी जो रहे, उन्हें भी तत्त्वदृष्टि के जोर से... आहाहा! द्रव्यदृष्टि के जोर से बाकी रहे हुए को नष्ट कर। यह कैसे उसे कहा नष्ट कर? यह अभी बाकी है। पूर्ण ज्ञान और अचल ज्ञान प्रगट नहीं हुआ। सम्यग्दर्शन होने पर भी पूर्ण ज्ञान और अचल ज्ञान अभी हुआ नहीं। इसलिए 'पूर्ण' (ज्ञान) शब्द पड़ा है न?

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का सागर, उसकी जिसे प्रथम दृष्टि हुई, उसे अज्ञान के कारण राग-द्वेष नहीं है। अब अज्ञानरहित जो राग-द्वेष है, उन्हें अब पूर्ण दृष्टि और पूर्ण अचल करने के लिए तत्त्वदृष्टि द्वारा उन्हें नष्ट कर और नष्ट करने पर पूर्ण और

अचल प्रकाश होगा। आत्मा का पूर्ण और अचल प्रकाश होगा। आहाहा! इतनी भक्ति करे तो होगा और इतना यह कार्य किया तो होगा, ऐसा यहाँ नहीं (कहा)। अज्ञान को समझे बिना इतनी सामायिक करे, प्रोषध करे, प्रतिक्रमण करे तो कर्म नष्ट होंगे। अज्ञानी को सामायिक और प्रोषध, प्रतिक्रमण कैसे? जहाँ अभी समता... सामायिक अर्थात् समता का लाभ। तो समता का लाभ अर्थात् वीतरागस्वरूप आत्मा है। उस ध्रुवदृष्टि के बिना अभी सम्यग्दर्शन नहीं, वहाँ सामायिक कहाँ से आयी? आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **जिससे, पूर्ण और अचल...** है? '**येन पूर्ण-अचल-अर्चिः सहजं ज्ञानज्योतिः ज्वलति**' आहाहा! सम्यग्दर्शन अर्थात् तत्त्वदृष्टि, ध्रुवदृष्टि चैतन्य ध्रुव की दृष्टि द्वारा अज्ञान नष्ट किया। अब ध्रुव का आश्रय करके बाकी रहे हुए राग-द्वेष को नष्ट कर डाल कि जिससे ज्ञान पूर्ण और अचल प्रगट हो। जिसका प्रकाश पूर्ण और अचल प्रगट हो। आहाहा! है? **पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है, ऐसी (दैदीप्यमान) सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।** आहाहा!

भावार्थ – राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है,... दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, विषय-वासना, वह कोई अलग तत्त्व नहीं है, द्रव्य नहीं है। तत्त्व है परन्तु भिन्न द्रव्य नहीं है। तत्त्व तो है पुण्य-पापतत्त्व। द्रव्य—वस्तु नहीं है। राग-द्वेष कोई अलग द्रव्य नहीं है, **वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के अज्ञानभाव से होते हैं;...** उस जीव को अज्ञानभाव से... आहाहा! भगवान आनन्दमूर्ति प्रभु को भूलकर, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द है, यह भूलकर पर में कुछ भी ठीक और मजा है, उसमें आनन्द मानकर अज्ञानभाव से इसमें महाराग और द्वेष अनन्त संसार के कारण इसे उत्पन्न होते हैं। पर में सुख है, ऐसी बुद्धि। अपने में सुख है, आनन्द आत्मा में है, उसके बदले अन्यत्र कहीं उसमें-सुविधा में, इस अनुकूलता में ऐसा कहीं भी ठीक है, एक स्वचीज़ के अतिरिक्त बाहर के एक शुभविकल्प से लेकर पूरी दुनिया में कुछ भी ठीक और यह अनुकूल है, यह क्षेत्र अनुकूल है, यह काल अनुकूल है, यह एकान्त है, उसके कारण अन्दर अवगुण टलें और राग-द्वेष टलें, ऐसा नहीं है। आहाहा!

४९ गाथा में कहा है। तत्त्वदृष्टि द्वारा अन्तर अनुभवरूपी गिरिगुफा में, अनुभवरूपी

गिरिगुफा, यह पर्वत की गिरिगुफा नहीं। टीका में है, समयसार में ४९वीं गाथा (जयसेनाचार्य की टीका) अनुभवरूपी गिरिगुफा में अन्दर जा, तब तेरे राग-द्वेष मिटेंगे, इसके बिना राग-द्वेष नहीं मिटेंगे। आहाहा!

भावार्थ – राग-द्वेष कोई पृथक् द्रव्य नहीं है, वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के अज्ञानभाव से होते हैं;... यह तो पर्याय होती है अज्ञानभाव से। इसलिए सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से देखा जाए, तत्त्व ज्ञायक चिदानन्द भगवान सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द का नाथ वीतरागमूर्ति प्रभु है। यह अन्तर आत्मा वीतरागमूर्ति आत्मा है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द है, अतीन्द्रिय ज्ञान का भरपूर समुद्र है। आहाहा! ऐसे आत्मा को तत्त्वदृष्टि से देख। आहाहा!

वे (राग-द्वेषरूप परिणाम) जीव के अज्ञानभाव से होते हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से देखा जाए... आहाहा! आत्मा जिस स्वरूप से है, उस स्वरूप से देखने में आये, ऐसा। तत्त्वदृष्टि अर्थात् यह। आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप विराजमान है। वह तत्त्व है, उस दृष्टि से देखने में आवे। आहाहा! जिस स्वरूप से है, उस स्वरूप से यदि देखने में आवे,... आहाहा! **तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं...** तो राग और द्वेष कोई वस्तु नहीं कि उत्पन्न हो। आहाहा! कठिन, बैठना कठिन पहले।

आत्मा में राग-द्वेष है ही नहीं। राग-द्वेष है, वह तो दूसरा तत्त्व है, वह आत्मतत्त्व नहीं है। नव तत्त्व में उनके नाम अलग आये न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। अत: वे भिन्न तत्त्व हैं, वे भिन्न तत्त्व से उत्पन्न नहीं होते। यह ज्ञायक तत्त्व है, इससे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, परन्तु ज्ञायक के अज्ञानभाव से उत्पन्न होते हैं। वह कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह बड़ी चर्चा चली थी, (संवत्) १९७६ में दामोदर सेठ थे, दामनगर। बड़ी चर्चा (संवत्) १९७६ के वर्ष। वह कहे कि महाराज! तुम पुरुषार्थ की बहुत बात करते हो तो ५१ प्रतिशत पुरुषार्थ रखो और ४९ प्रतिशत कर्म रखो। सौ-सौ प्रतिशत। ४९ प्रतिशत कर्म के, ५१ प्रतिशत पुरुषार्थ के। मैंने कहा, सौ में सौ प्रतिशत पुरुषार्थ के और सौ में सौ प्रतिशत कर्म के कर्म में। बड़ी चर्चा हुई थी। उसे जँचता नहीं था। उन सबको विकार कर्म से होता

है, विकार कर्म से होता है, बस! स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी सब। दिगम्बर भी अभी बहुत ऐसा ही मानते हैं। आहाहा!

वर्णीजी के साथ चर्चा हुई तो उन्हें कहा। (वे कहे), विकार कर्म से न हो तो विकार स्वभाव हो जाएगा। कहा, पर्याय का स्वभाव ही है। कर्म उसे स्पर्शा नहीं है। विकार को कर्म स्पर्शा नहीं है, कर्म को विकार स्पर्शा नहीं है। एक-दूसरे द्रव्य भिन्न हैं। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। आहाहा! नहीं जँचा। उल्टा लिख गये। सोनगढ़ का साहित्य संसार में डुबो देगा, ऐसा लिख गये। क्योंकि यहाँ से इनकार किया न कि विकार स्वयं से होता है, पर से जरा भी नहीं, एक प्रतिशत भी नहीं, यह बात नहीं जँची। आहाहा! और क्रमबद्ध। एक के बाद एक होती है, आड़ी-टेढ़ी पर्याय नहीं होती। तब कहे, ऐसा नहीं। एक के बाद एक होती है, यह बराबर है परन्तु एक के बाद यही होगी और यही होगी, ऐसा नहीं है। यहाँ कहा एक के बाद यही होगी, ऐसा है। यह और दूसरी हो, और तीसरी हो, ऐसा नहीं। बड़ी चर्चा। दिगम्बर में तो वे बड़े कहलाते थे न! थे सब रामजीभाई थे, हिम्मतभाई थे, सब थे। बात यह, जैन में कर्म की विपरीतता घुस गयी है। दूसरे ईश्वर कर्ता मानते हैं, यह जड़ (को) कर्ता मानते हैं। आहाहा! दूसरे ईश्वर कर्ता माने चैतन्य, जैन जड़ कर्ता, कर्म जड़ कर्ता (मानते हैं)।

मुमुक्षु : जड़ेश्वर है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों मिथ्यादृष्टि है। यह तो अमुक आरोप चढ़ जाये मिथ्यात्व में। जड़ के कारण भटकना पड़े, जड़ के कारण यह हो। वह कहे, ईश्वर है और वह भटकाता है, ईश्वर करता है वह होता है, वह परमेश्वर है। यह कर्म को—जड़ को परमेश्वर मानता है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, आत्मा में विकार वस्तुदृष्टि से नहीं है। वस्तुदृष्टि देकर विकार नहीं है, उसका नाश कर कि जिससे तुझे सम्यग्दर्शन तो है परन्तु पूर्ण अचल, पूर्ण अचल ऐसा चैतन्य का प्रकाश केवलज्ञान का तुझे प्रगट हो। आहाहा! केवलज्ञान का पूर्ण प्रकाश तब प्रगट होगा। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि होकर तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं...** वे कुछ भी वस्तु नहीं। आहाहा! एकान्त? यह एकान्त सम्यक् एकान्त

दृष्टि की अपेक्षा से है। दृष्टि का विषय बताने में एकान्त किया है। राग-द्वेष है ही नहीं।

वस्तु त्रिकाल आनन्द का नाथ अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर, उसमें यह राग-द्वेष कैसे? राग-द्वेष तो वर्तमान एक समय की पर्याय में है। एक समय की पर्याय में है, त्रिकाली तत्त्व में राग-द्वेष है ही नहीं। आहाहा! त्रिकाली तत्त्व में राग-द्वेष नहीं। आहाहा! तथा राग-द्वेष कायम रहनेवाले नहीं, एक समय रहते हैं। आहाहा! वह भी तत्त्व की दृष्टि नहीं, तब रहते हैं, होते हैं। तत्त्वदृष्टि होने पर, वे अज्ञानरूप से नहीं होते। आहाहा! ऐसी बात है।

ऐसा दिखाई देता है, तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो वे (राग-द्वेष) कुछ भी वस्तु नहीं हैं, ऐसा दिखाई देता है, और घातिकर्म का नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है। देखा? सम्यग्दर्शन तो है, तत्त्वदृष्टि तो है, इसलिए अज्ञान से उत्पन्न होते राग-द्वेष नहीं है। परन्तु अस्थिरता के राग-द्वेष जो हैं, उन्हें भी तत्त्वदृष्टि के जोर द्वारा नष्ट कर, केवलज्ञान उत्पन्न होगा। घातिकर्म के नाश को समझाया है। आहाहा! घातिकर्म का नाश होकर, यह तो निमित्त से बात की है। **केवलज्ञान उत्पन्न होता है।** आहाहा!

निगोद में जो भी रहा है, वह भी अपने विपरीत पुरुषार्थ से (रहा है)। कर्म का जोर है, इसलिए वहाँ लहसुन और प्याज में जीव रहा है, (ऐसा नहीं है)। अभी अनन्त रहे हैं और अनन्त रहेंगे। एक शरीर के अनन्तवें भाग मोक्ष जायेंगे और शरीर असंख्य चौबीसी के समय जितने निगोद के शरीर हैं और वे मोक्ष गये हैं तथा जायेंगे, अनन्तवें भाग। आहाहा! एक शरीर के अनन्तवें भाग मात्र मुक्ति। बाकी एक शरीर में उससे अनन्तगुणे निगोद में पड़े रहेंगे। ऐसे-ऐसे शरीर। असंख्य चौबीसी के समय जितने निगोद के शरीर हैं। आहाहा! गजब बात है।

कहते हैं, यह कहने का आशय ऐसा है, प्रभु! तुझे समय मिला है न, आहाहा! एक निगोद में से निकलकर लट हो तो भी छहढाला में ऐसा कहा है कि निगोद से निकलकर लट दोइन्द्रिय हो तो भी चिन्तामणि रत्न (प्राप्त हुआ समझ)। आहाहा! ऐसा पाठ है, तो उसके बदले मनुष्यपना (मिला), उसमें भी जैनदर्शन का सम्प्रदाय और उसमें भी वीतराग की वाणी कान में पड़ी। बापू! बड़ा पुण्य का ढ़ेर हुआ। आहाहा! परन्तु उसे सफल करने

का तो अन्दर तत्त्व है। यह बाहर के साधन मिले, इसलिए सफल हो जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो उसकी दुर्लभता बतायी है। निगोद के जीव कितने? आहाहा! अनन्त काल रहा निगोद में, बहुत निगोद में ही रहा है। और अभी रहे हैं, वे कभी निकलेंगे भी नहीं, इतने जीव निगोद में हैं। उस निगोद के अनन्तवें... छह महीने और आठ समय में ६०८ मोक्ष जाते हैं, तथापि वे निगोद के अनन्तवें भाग जायेंगे। आहाहा! गजब बात है।

अरे रे! यह जीव। उसे जीवपना है, इसकी खबर नहीं। अक्षर का अनन्तवाँ भाग, उसके ज्ञान के उघाड़ में अक्षर का अनन्तवाँ भाग रह गया। बाकी द्रव्य तो परमात्मस्वरूप है। पर्याय में अक्षर का अनन्तवाँ भाग उघाड़ में रह गया। ऐसे अनन्त जीव रहेंगे, रहे हैं। आहाहा! उसमें यह मनुष्यपना, पंचेन्द्रियपना, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, यह महा-महा पुण्य से मिले हैं। उसमें करनेयोग्य हो तो यह है। उसके कारण नहीं। तत्त्वदृष्टि करके अज्ञान का नाश कर और फिर तत्त्वदृष्टि द्वारा राग-द्वेष का नाश कर, दोनों बात हो गयी। चारित्र अर्थात् यह। तत्त्वदृष्टि में स्थिर होना, वह चारित्र। उससे कर्म क्षय और केवलज्ञान होगा। आहाहा!

अभी यह ऐसा कहे, भगवान ने भी देखो बारह वर्ष तपस्या की थी, तब केवल (ज्ञान) हुआ। आहाहा! चैन से (भले प्रकार) सो नहीं रहे थे, ऐसा बोलते हैं, भाषण / व्याख्यान करते हैं। भगवान महावीर भी बारह वर्ष तक चैन से (भले प्रकार) सो नहीं रहे थे, चैन से (अच्छी तरह) खाया नहीं था, अन्न करके... पानी करके... पानी पिया नहीं था तो उन्हें केवल (ज्ञान) हुआ। ऐसी बातें करते हैं। तब सुननेवाले कहे, हाँ! परन्तु उसके कारण से नहीं। बारह वर्ष छद्मस्थ रहे थे न? बहुत तपस्या की है न! छठ, छठ और अट्ठम। पूरे बारह वर्ष में कुछ तीन सौ या अमुक दिन ही खाया है। बाकी तो सब उपवास है। यह उपवास है, वह चीज़ नहीं है। अन्दर उप-वास है। यह अपवास है, वह नहीं, उपवास है। आनन्द का सागर उप अर्थात् समीप में अन्दर बसे (तो) कर्म क्षय हो जाते हैं, यह तपस्या है। यह तपस्या करे और समकित का भान नहीं होता। वस्तु कौन? वर्षी तप करे, एक बार खाना और एक बार (अपवास करे), वह कहीं कर्म खिरने का रास्ता नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो दोनों बातें ली हैं। तत्त्वदृष्टि से अज्ञान टले और तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष टले।

आहाहा! और वह भी केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट हो। आहाहा! अन्दर चैतन्य ज्योति, जलहल ज्योति विराजे और ऐसा मनुष्यपने का प्रसंग तुझे मिला, प्रभु! भूतकाल का विचार कर तो चोट खाये ऐसा है। निगोद में अनन्त काल रहा और अभी अनन्त काल रहनेवाले जीव पड़े हैं। आहाहा! उसमें मान और अपमान और सन्मान में क्या? कब क्या करना? दुनिया में कुछ गिनाना, दुनिया मुझे गिने। गिनाना है तुझे? आहाहा! यह तो संसार में भटकने का है। आहाहा! प्रभु... प्रभु!

रात्रि में कहा था, वैराग्य उसे कहते हैं... पुण्य-पाप के अधिकार में (है कि) पुण्य और पाप के भाव से रहित, उसे वैराग्य कहते हैं। तब इसका अर्थ यह हुआ कि पूरी दुनिया से और पुण्य-पाप के भाव से विरक्त, इसका नाम वैराग्य। आहाहा! सायं काल उठते हुए जरा कहा था। शुभ और अशुभभाव से विरक्त को वैराग्य कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पूरी दुनिया तथा पुण्य और पाप सबसे विरक्त होकर इसमें (स्वभाव में) रक्त होना, इसका नाम वैराग्य है। स्त्री-पुत्र छोड़ दिये और बालब्रह्मचारी हुआ, इसलिए वैरागी हो गया, ऐसा है नहीं। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - २१९

अब आगे की गाथा में यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य को गुण उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं-

(शालिनी)

राग-द्वेषोत्पादकं तत्त्व-दृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

श्लोकार्थ : [तत्त्वदृष्ट्या] तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो, [राग-द्वेष-उत्पादकं अन्यत् द्रव्यं किञ्चन अपि न वीक्ष्यते] राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किञ्चित्मात्र भी दिखायी नहीं देता, [यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तः अत्यन्तं व्यक्ता चकास्ति] क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है।

भावार्थ : राग-द्वेष चेतन के परिणाम हैं। अन्य द्रव्य आत्मा को राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती है, अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती॥२१९॥

प्रवचन नं. ४२१, श्लोक-२१९, गाथा-३७२ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १३
दिनांक - २६-०६-१९८०

समयसार, कलश २१९।

राग-द्वेषोत्पादकं तत्त्व-दृष्ट्या
नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

तत्त्वदृष्टि से देखा जाए तो, 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य को गुण उत्पन्न नहीं कर सकता'... गुण अर्थात् पर्याय, यहाँ गुण अर्थात् पर्याय लेना। **अब आगे की गाथा में यह कहेंगे कि 'अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य को गुण उत्पन्न नहीं कर सकता' इसका सूचक काव्य कहते हैं–**

तत्त्वदृष्टि से देखा जाए... 'राग-द्वेष-उत्पादकं अन्यत् द्रव्यं किञ्चन अपि न वीक्ष्यते' राग-द्वेष को... यह पूरा बड़ा विवाद था। पण्डितों के साथ, वर्णीजी के साथ यह बड़ा विवाद था कि कर्म के कारण विकार होता है, कर्म न हो तो नहीं होता। यहाँ कहते हैं, अन्य द्रव्य अर्थात् आठ कर्म, मन, वचन और काया नोकर्म तथा पाँच इन्द्रिय के सामग्रीरूप भोग, यह कोई आत्मा को विकार उपजावे, यह तीन काल में नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा में मिथ्यात्व, अज्ञान, राग, द्वेष दोष उत्पन्न होते हैं, वह आठ कर्म में से किसी भी कर्म से नहीं; मन, वचन और काया—नोकर्म से भी नहीं और पाँच इन्द्रिय की सामग्री भोग की, पाँच इन्द्रिय की भोग की सामग्री, वह भी विकाररूप उपजाने में बिल्कुल कारण नहीं है। आहाहा! अर्थात् कि अन्य द्रव्य विकार उपजाने में कारण नहीं है। फिर इसका विस्तार किया है।

पाठ में तो ऐसा है न, कि **अन्य द्रव्य किञ्चित्मात्र भी दिखायी नहीं देता,...** आहाहा! **'किञ्चन अपि'** शब्द है न? किंचित् भी अन्य द्रव्य आत्मा को विकार उपजावे, यह नहीं है। उस अन्य द्रव्य में फिर ये सब आये—आठ कर्म, नोकर्म—मन, वचन, काया, पाँच इन्द्रिय के साधन, भोग, सामग्री, वे कोई पाँच इन्द्रिय के विषय या भोग, वे कोई आत्मा को विकार नहीं उपजा सकते। नोकर्म विकार नहीं उपजा सकते। मन, वचन और काया तीनों विकार नहीं उपजा सकते और आठ कर्म में कोई कर्म आत्मा को विकार नहीं उपजा सकता। अब बाकी क्या रहा? आहाहा! यह तो विकार उपजता है, वह कर्म के कारण होता है, ऐसा बड़ा विवाद, बड़ी तकरार। कर्म के कारण न हो तो वह स्वभाव हो जाएगा। तो यहाँ तो कहते हैं कि वह स्वभाव ही है। आहाहा! देखो!

'यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन' है न? वह विकार भी पर्याय का

स्वस्वभाव हो गया। आहाहा! त्रिकाल द्रव्य-गुण तो स्वभाव है परन्तु विकार भी... यहाँ ऐसा कहते हैं न कोई? **राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य...** अर्थात् कर्म, नोकर्म और सामग्री जरा भी—किंचित् भी नहीं दिखती। पण्डितजी! यह बड़ा विवाद। (संवत्) २०१३ के वर्ष। २३ वर्ष हुए। वर्णीजी के साथ चर्चा होने पर सब पण्डित बैठे थे। कर्म... कर्म... कर्म... कर्म... हो तो ही विकार होता है, कर्म न हो तो विकार नहीं होता। कहा, यहाँ उसे विकार स्वयं से होता है, किसी से नहीं होता। आहाहा! यही था न? विकार कर्म से होता है, विकार कर्म से होता है। जैसा कर्म का उदय आवे, तत्प्रमाण फिर विकार होता है।

यहाँ कहते हैं, कोई द्रव्य आत्मा के द्रव्य सिवाय कोई दूसरा द्रव्य अनन्त द्रव्यों में से कोई द्रव्य। आहाहा! किंचित् भी—**सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में...** आहाहा! **अपने स्वभाव से ही होती हुई...** यहाँ इतना शब्द है। विकार भी स्वभाव से उत्पन्न होता है। ऐसा है? यहाँ विकार की बात चलती है न? उसमें स्वभाव डाला है न? यही एक बड़ा विवाद था, कि यदि कर्म से विकार न हो तो स्वभाव हो जाएगा। यहाँ तो प्रत्येक समय की पर्याय स्वयं से होती है, पर से बिल्कुल नहीं, एक ही बात। यह तो २०१३ के वर्ष, २३ वर्ष पहले सब पण्डित बैठे थे। चर्चा चली ईसरी में। आहाहा! तब यह शान्तिभाई जैसे पण्डित बैठे हों, इसलिए क्या खबर नहीं पड़ती, फिर हाँ, हाँ सब करे। क्यों शान्तिभाई!

मुमुक्षु : परस्पर आचार्यत्व करते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई आचार्य करता ही नहीं। कोई आचार्य आत्मा को कर्म से विकार होता है, ऐसा नहीं कहा। और कहा हो वहाँ क्या अपेक्षा है? स्वभाव की दृष्टि हुई है, दृष्टि पर्याय पर नहीं है; इसलिए स्वभाव की दृष्टि का स्वभाव व्यापक—कर्ता (कहा), तब स्वभाव उसका कर्म व्याप्य है, ऐसा गिनकर उस समय का विकार कर्म का व्यापक का व्याप्य गिनकर किया गया है। आहाहा! समझ में आया?

शास्त्र में (समयसार में) आया है—७५-७६-७७-७८ (गाथा)। कर्म व्यापक है, विकार व्याप्य अर्थात् उसकी अवस्था है। आहाहा! उसका कार्य है। यह तो स्वभाव की दृष्टि हुई, इसलिए विकार है, वह अपना कार्य नहीं है, इसलिए वह कर्म के निमित्त को

जैसे छोड़ना है, वैसे यह भी साथ ही छोड़ने का कहकर उसका कार्य है, ऐसा करके छोड़ दिया।

यहाँ तो सामान्य विकार जो अनादि से जीव को उत्पन्न होता है, मिथ्यात्व और अज्ञान राग और द्वेष और विकार, यह कर्म, आठ कर्म में से कोई कर्म भी नहीं है, अन्तराय कर्म जीव को अन्तराय करावे, यह भी नहीं, मोहकर्म आत्मा को मोह उपजावे, ऐसा भी नहीं, ज्ञानावरणीय ज्ञान की हीन दशा करे, ऐसा भी नहीं। आहाहा! और आयुष्य कर्म के कारण शरीर में रहना पड़े, ऐसा भी नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसी स्थिति है।

बड़ी चर्चा २३ वर्ष पहले (हुई थी)। कहा, बापू! मार्ग तो यह है, भाई! मानो, न मानो। भले विद्वान बहुत पुराने लोग हों और यह तो स्थानकवासी में से-ढूँढ़िया में से निकले और फिर यह कहाँ से निकाला ऐसा? मार्ग यह है, यह यहाँ कहते हैं।

राग-द्वेष और पुण्य-पाप या मान-सन्मान को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य अर्थात् कोई भी द्रव्य। अन्य द्रव्य अर्थात्, अन्य द्रव्य अर्थात् कोई भी द्रव्य। कर्म, नोकर्म और पाँच इन्द्रिय और भोग सामग्री (सब आ गये)। आहाहा! भाई! यह आँख का विषय है, वह आँख में राग उत्पन्न करावे, कान का विषय है, वह राग उत्पन्न करावे, शरीर का विषय है स्पर्श—भोग, वह विकार उपजावे (तो कहते हैं), नहीं। आहाहा! पाँचों इन्द्रिय के विषय हैं, वे परद्रव्य हैं। आठ कर्म भी परद्रव्य है। मन-वचन-काया, वह परद्रव्य है। वह परद्रव्य किंचित् भी, जरा भी एक प्रतिशत भी... आहाहा! एक दोकड़ा समझ में आता है? एक प्रतिशत। हमारे दामोदर सेठ के साथ बड़ी चर्चा चलती थी। वे कहे, ५१ प्रतिशत रखो पुरुषार्थ के, ४९ प्रतिशत रखो कर्म के। कहा, इसमें एक भी प्रतिशत कर्म का नहीं। सौ में सौ प्रतिशत कर्म के कर्म में, जीव विकार उपजावे स्वयं सौ के सौ प्रतिशत स्वयं अपने में। आहाहा!

लोगों की परद्रव्य के ऊपर दृष्टि है। अपनी पर्याय में विकार होता है, वह पर के कारण होता है। इसलिए पर हटे तो विकार मिटे, इसलिए अपने हाथ में कुछ रहा नहीं। ऐसा हुआ न? अन्य द्रव्य विकार करावे तो अन्य द्रव्य हटे तो विकार टले। परन्तु स्वयं से विकार होता होवे तो अपने पुरुषार्थ से विकार टले। आहाहा! यह गाथा बहुत संक्षिप्त परन्तु

पूरा तत्त्व समाहित कर दिया है। और आगे की गाथा कहेंगे, उसका यह उपोद्घात है।

राग, द्वेष, पुण्य, पाप, दया, दान, काम, क्रोध, भक्ति, पूजा, किसी भी भाव को उपजानेवाला... भगवान की मूर्ति है, वह यहाँ शुभभाव को उपजाती है, ऐसा नहीं है। तीर्थंकर हैं, वे समवसरण में विराजते हैं तो उनके दर्शन करने जाने पर उसके कारण शुभभाव होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वे निमित्त तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त हो, परन्तु निमित्त से होता नहीं। यह तो अब अभी स्वीकार किया है भाई ने—कैलाशचन्दजी ने। तब कैलाशचन्दजी भी थे। परन्तु सबकी शामिल मान्यता थी। अभी अखबार में आया था कि भाई! सोनगढ़वाले कहते हैं कि निमित्त है, परन्तु निमित्त से होता नहीं। दूसरी वस्तु है भले, हो, उससे क्या है? जीव गति करे तो धर्मास्तिकाय निमित्त है, परन्तु उसने गति करायी है, ऐसा नहीं है। विकार के समय कर्म निमित्त हो परन्तु निमित्त ने विकार कराया नहीं है। उसके कारण से विकार हुआ नहीं है। आहाहा! थोड़े में बहुत बड़ा अन्तर है, पण्डितजी! बड़ा अन्तर है। आहाहा!

मुमुक्षु : सोनगढ़ आते हैं, तब परिणाम में अन्तर प्रत्यक्ष दिखता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दिखता है, वह तो स्वयं के कारण से है। यहाँ आकर उल्टा भी कितने ही नहीं ले जाते? तीनों ही इसमें लिखे हैं, हों! कलश में। कलश-टीका में है न? उसमें आठ कर्म, मन, वचन और काया नोकर्म; मन से विकार होता नहीं, वाणी से होता नहीं, काया से होता नहीं। इस काया से विकार नहीं होता, आठ कर्म से विकार नहीं होता, इसी तरह पाँच इन्द्रिय के भोगों की सामग्री, वह तो परपदार्थ है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से विकार नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य... विशिष्टता तो यह है, अन्य द्रव्य में सब द्रव्य आये। आत्मा के अतिरिक्त सब आये। दूसरी बात **किञ्चित्मात्र भी...** वापस जरा भी। किंचित्मात्र—थोड़ा-सा, थोड़ी-सी उसकी मदद और थोड़ी-सी आत्मा की, थोड़ा-सा कर्म का कारण और थोड़ा-सा विकार का कारण स्वयं का, ऐसा जरा भी नहीं। आहाहा! इसी प्रकार विकार स्वयं से होता है, पर से नहीं—ऐसा निर्णय नहीं करे, वह

विकार को टाल नहीं सकेगा। क्योंकि विकार पर के कारण होता है, पर हटे तो हो। तो पर का हटना, न हटना, वह तो परद्रव्य है, वह कहीं आत्मा के आधीन नहीं है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

किञ्चित्मात्र भी दिखायी नहीं देता,... ऐसा आचार्य कहते हैं। अन्य द्रव्य जरा भी विकार उपजाने में, आत्मा की पर्याय में अज्ञान से जो राग-द्वेष होते हैं, उन्हें अन्य द्रव्य किंचित् उपजाता नहीं। आहाहा! वैरी ने यहाँ शरीर के ऊपर छुरी की चोट मारी, इसलिए अन्दर कुछ द्वेष आया, ऐसा भी नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसके स्वयं के ही कारण से उत्पन्न होता है। क्योंकि मुनि को घात करे, घानी में पेले और केवलज्ञान होता है। मुनिपना कहीं जाता नहीं। मुनि को घानी में पेला, इससे बाहर की सामग्री कुछ विकार उपजाती नहीं। आहाहा! तेरे अज्ञान के अतिरिक्त विकार की उत्पत्ति किंचित् कोई परद्रव्य (कराता) नहीं, तथा स्वद्रव्य भी (कराता) नहीं, अज्ञान ही कारण है और या अस्थिरता कारण है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है। यह बड़ा विवाद। तीनों सम्प्रदाय को यह विवाद था। तीनों सम्प्रदाय में विवाद।

(संवत्) १९७१ में बात बाहर रखी थी। पहला स्थानकवासी ने विरोध किया, पश्चात् श्वेताम्बर को लक्ष्य में गया तो उन्होंने विरोध किया, पश्चात् दिगम्बर में गया तो दिगम्बर ने विरोध किया, यह वर्णीजी आदि ने। कहा, किसी भी प्रकार से एक प्रतिशत परद्रव्य विकार उपजावे, (ऐसा है नहीं)।

स्वद्रव्य की पर्याय स्वतन्त्र है। आहाहा! और वह तो उसकी विकारधारा से, विकार की धारा से, उसकी पर्याय होने का उस समय में होता है। पर के कारण जरा भी नहीं। उसकी धारा विकार की होती है। आहाहा! इसलिए उसे कहते हैं कि विकार की दृष्टि छोड़ अर्थात् कि पर्यायदृष्टि छोड़ और द्रव्यदृष्टि कर, वह निर्विकारी दृष्टि कर तो विकार टले, विकार उत्पन्न हो नहीं। आहाहा!

किञ्चित्मात्र भी दिखायी नहीं देता,... 'यस्मात् सर्व-द्रव्य-उत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तः अत्यन्तं व्यक्ता चकास्ति' क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति... द्रव्यों की उत्पत्ति अर्थात्? पर्याय की। **सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति...** आहाहा! पाठ तो यह है, **सर्व द्रव्यों की**

उत्पत्ति... परन्तु आशय जानना चाहिए। द्रव्य की उत्पत्ति कहना, गुण की उत्पत्ति कहाँ करनी है ? उत्पत्ति और व्यय, उत्पाद-व्यय पर्याय में होता है। द्रव्य-गुण में उत्पत्ति-व्यय होता ही नहीं। परन्तु समझाना है कि जीवद्रव्य स्वयं अपनी पर्याय में उपजाता है, इसलिए जीवद्रव्य उपजाता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति... अर्थात् पर्याय की उत्पत्ति। अर्थात् सर्व द्रव्य की वर्तमान पर्याय की उत्पत्ति, आहाहा! **अपने स्वभाव से ही...** 'ही' (है), देखा ? **स्वभाव से ही...** अर्थात् चाहे तो निर्मल पर्याय हो या चाहे तो विकार हो परन्तु अपने स्वभाव से ही होती है। आहाहा! है ? गाथा में ऐसे कितने गहरे भाव भरे हैं। स्वभाव से, विकार पर्याय का स्वभाव है, सुन न! विकार भी पर्याय का स्वभाव है। आहाहा!

सर्व द्रव्यों के विकार की उत्पत्ति... ऐसा लेना। **अपने स्वभाव से ही...** एकान्त कहा। कथंचित् परद्रव्य और कथंचित् अपना दोष, ऐसा नहीं। (यदि ऐसा कहो) तो अनेकान्त हो, ऐसा लोग कहते हैं। कथंचित् अपने से होता है और कथंचित् कर्म से होता है तो अनेकान्त होता है। यह अनेकान्त नहीं है। अपने से होता है और पर से जरा भी नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! बड़ा अन्तर, ठेठ से अन्तर। आहाहा! खलबलाहट हो गयी। सब पण्डित बंसीधरजी और कैलाशचन्दजी और फूलचन्दजी सब थे। एक फूलचन्दजी ने तब स्वीकार किया था कि स्वामीजी कहते हैं कि विकार होने में निश्चय में ऐसी पीछे भाषा ली है, निश्चय से विकार होने में परद्रव्य का कोई कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं—ऐसा उन्होंने कहा। आहाहा! नहीं तो यह वर्णीजी से विरुद्ध था, तथापि उन्होंने बात बाहर रखी कि स्वामी (जी) ऐसा कहते हैं कि विकार होने में निश्चय से, निश्चय से वापस ऐसा। व्यवहार से नहीं। व्यवहार से बोला जाए, वह अलग बात है। यथार्थ से वास्तव में विकार होने में परद्रव्य कुछ भी काम नहीं करता। आहाहा! बात साधारण है परन्तु यह मूल बात है। जैन में कर्म घुस गया है, अन्य में ईश्वर घुस गया, ईश्वर कर्ता, इसमें (जैनों में) कर्म घुस गये। जहाँ हो वहाँ कर्म के कारण (विकार होता है) भाई! मस्तिष्क घूम जाए, कर्म के कारण यह होता है, कर्म के कारण ऐसा होता है, ऐसी ही बातें सब करते हैं।

मुमुक्षु : कर्म के कारण पैसे मिलें...

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे कर्म के कारण नहीं मिलते। वह तो परमाणु के पैसे उपादानरूप से वहाँ आनेवाले उसके कारण से आये हैं, तब पूर्व के पुण्य को निमित्त कहने में आया। निमित्त ने लाया नहीं, निमित्त पैसे को खींचकर लाया नहीं। आहाहा!

अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य को कुछ भी नहीं करता। इसका अर्थ क्या हुआ? ऐई! यह पैसे पुण्य के कारण नहीं आये, ऐसा कहते हैं। तो भी भाई ने तो ऐसा लिखा है, पुण्य के कारण निमित्त से कहो परन्तु स्वयं मिला है, वह पाप है, पाँचवाँ परिग्रह है। जैसे हिंसा, पाप, झूठ, चोरी, विषय, वैसे परिग्रह पाप है। आहाहा! पूर्व के पुण्य से मिला, ऐसा कहना वह तो निमित्त के कथन हैं। कोई द्रव्य किसी के कारण से जरा भी कुछ हो, यह बात जैन सिद्धान्त में तीन काल में नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

एक द्रव्य दूसरे की पर्याय को निर्विकारी या विकारी, भाई! समकित उपजता है, तब उस मिथ्यात्व का, कर्म के दर्शनमोह का नाश होता है, तब उपजता है—कि ऐसा भी नहीं। आहाहा! चारित्रमोह का नाश होता है, इसलिए चारित्र यथाख्यातचारित्र होता है (ऐसा नहीं है)। कल नहीं आया था? घातिकर्म का नाश होकर केवलज्ञान उपजता है। तुरन्त ऊपर आया था। वह तो निमित्त के कथन हैं। उस कलश के ऊपर आया है। है? **घातिकर्म का नाश होकर...** यहाँ यह पकड़ते हैं। परन्तु यह तो निमित्त का कथन किया है। है पण्डितजी? यह तो सब कथन बहुत जगह आते हैं। परन्तु तीन काल में छहों द्रव्य की जो पर्याय की धारा है, उस धारा में जरा भी फेरफार नहीं होता। दूसरा द्रव्य जरा भी उसकी पर्याय की धारावाही में फेरफार नहीं कर सकता। आहाहा! अभी सत्य क्या है, इसका ठिकाना न हो, उसे धर्म हो जाए? सत्य का स्वरूप किस प्रकार है, इसकी खबर न हो और सत्य को असत्य में खतौनी कर डाले और उसे धर्म हो? जरा भी धर्म नहीं होता, अधर्म होता है। मिथ्याश्रद्धा के कारण अधर्म होता है। गजब बात है, प्रभु! आहाहा!

तब हम यह सब मानते थे कर्म को, वे सब हम मिथ्यादृष्टि? भाई! वस्तुस्थिति देखो न! जिस द्रव्य की पर्याय धारावाही पर्याय बहती है, वह क्रमबद्ध कहो या धारावाही कहो... आहाहा! उस पर्याय में परद्रव्य किंचित्मात्र भी मददगार नहीं है। उस पर्याय में परद्रव्य

अर्थात् यह कर्म, नोकर्म और पाँच इन्द्रिय के भोग-विषय। स्त्री का शरीर आत्मा को राग करावे ?—कि यह तीन काल में नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! इस विषय में जो राग होता है, वह उसका शरीर देखकर और शरीर है, उसमें इस शरीर के कारण राग होता है (ऐसा) बिल्कुल नहीं है। आहाहा! यह पाँच इन्द्रिय के भोग में गया। पाँच इन्द्रिय के भोग— श्रीखंड और पूड़ी थाली में पड़ी हो उसे—श्रीखंड और पूड़ी ने उसे राग उपजाया, रोटी की अपेक्षा श्रीखंड और पूड़ी आयी, पतरवेलिया घी में तले हुए आये, दूधपाक आया। पतरवेलिया समझते हो ? अरबी, अरबी पान के टुकड़े होते हैं न ? चने का आटा डालकर टुकड़े करे, वह चीज़ आत्मा को राग उपजावे, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। आहाहा! शान्तिभाई! सुना था कभी ? सुना नहीं था। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा सुनने का ही नहीं मिलता, वहाँ तो खोटा सुनने को मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! यह परम्परा टूट गयी। कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है, यही बात लोगों में थी। जैन अर्थात् ईश्वर को न माने। वह तो कर्म कारण होता है। आहाहा! अर्थात् जैन का ईश्वर कर्म। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **सर्व द्रव्यों की...** अर्थात् पर्याय की। **उत्पत्ति...** पर्याय **अपने स्वभाव से ही...** पर्याय के स्वभाव से ही। विकार या अविकार वह पर्याय का स्वभाव है। वह धारावाही जिस समय क्रमबद्ध होने का, वह होता है। **अन्तरंग में...** यह अन्तरंग में अर्थात् उसकी पर्याय में। बाह्य के कारण नहीं और बाह्य में नहीं। उसकी पर्याय में अत्यन्त रूप से **प्रगट प्रकाशित होती है।** साधारण प्रगट प्रकाशित होता है, ऐसा नहीं कहा। इसकी ही पर्याय अपने में अत्यन्त प्रगट होकर प्रकाशित होती है। आहाहा! भले कहते हैं कि मिथ्यात्व हो या राग-द्वेष हो। आहाहा! परन्तु अत्यन्त प्रगटरूप से उस पर्याय में स्वयं के कारण प्रगट होता है। वह अपनी पर्याय का वह स्वभाव है, उस समय का, उस समय का। दूसरे समय का दूसरा। आहाहा! समझ में आया ? कठिन बात है।

यह कर्म के कारण नहीं होता, यह बात जैन में बहुत कठिनाई (करती है)। बड़े पण्डित गोता खा गये हैं। आहाहा! जो हो वह यह कहे। वहाँ बात हुई या नहीं ? फिर उनको ऐसा लगा कि यह तो, आहाहा! यह तो मूल में भूले हैं। कर्म के कारण विकार नहीं होता,

यह मूल में भूले हैं। इसलिए वापस एक पत्र कलकत्ता लिखा। सेठ शाहूप्रसाद-शान्तिप्रसाद को पत्र लिखा कि जाकर पूछो, विकार कैसे होता है ? वे इनकार करते हैं कर्म के कारण। परन्तु ऐसा नहीं। गजराजजी है न ? गजराजजी, थे न गजराजजी ? उन गजराजजी के यहाँ आहार था। आहार करके बैठे और सेठ पत्र लेकर आये। ईसरी से पत्र आया है कि इस प्रकार विकार यदि स्वयं से हो तो स्वभाव हो जाएगा, इसलिए कर्म के कारण नहीं होता— ऐसा कहते हो, वह विरुद्ध है। कहा, जवाब दे दिया है, उठो। वहाँ ईसरी में जवाब दे दिया है, कहा। आहाहा ! अरे रे ! क्या हो ? यह चीज़ कोई किसी से दे सके ऐसा है ? किसी से समझाया जा सके, ऐसा है ? समझाया जा सके, ऐसा है ? तब तो एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य को समझाया। यह एक द्रव्य दूसरे को कुछ उपजाता नहीं। समझानेवाले के कारण वह समझता है, (ऐसा) किंचित् नहीं है। आहाहा ! यह पुस्तक और पृष्ठ रचे गये, इसलिए कुछ आत्मा में ज्ञान होता है, पुस्तक पृष्ठ न रचे होते तो नहीं होता। पण्डितजी ! ऐसा नहीं है। अन्य द्रव्य कुछ नहीं करता, उसमें यह सब आया या नहीं ? पुस्तक और पृष्ठ नहीं आये ? आहाहा ! आहाहा ! जीव को शुभ और अशुभभाव...

मुमुक्षु : आपके उपदेश से समझ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही नहीं है, ऐसा कहते हैं।

तुम्हारी पर्याय की योग्यता से वहाँ होता है, यह शब्द तो निमित्त है। निमित्त हो परन्तु निमित्त से नहीं होता। आहाहा ! पण्डितजी ! आहाहा ! अरे.. ! अरे.. ! यहाँ ही जहाँ अटके, उसे विकार को लाँघकर अन्दर जाना है। विकार स्वयं स्वतन्त्र यदि करता हो तो उसे लाँघकर, नाश करके अन्दर जाए परन्तु कर्म से होता हो तो वह कर्म हटे, तब विकार जाए, आत्मा के हाथ में तो कुछ रहे नहीं। आहाहा ! अधर्म करना आत्मा के हाथ में रहे नहीं क्योंकि कर्म के कारण, (होता है, ऐसा माना है) अब धर्म करना आत्मा में रहे नहीं। क्योंकि अधर्म कर्म के कारण होता है, तब तक धर्म नहीं हो सकेगा। आहाहा ! बराबर है ? आहाहा !

श्लोक बहुत ऊँचा है। क्योंकि आगे की गाथायें आयेंगी, उसका यह उपोद्घात है। **क्योंकि सर्व द्रव्यों की...** पहले गुण लिये थे, तो यह पर्याय लेना। किसी समय गुण को

पर्याय भी कहते हैं। सहवर्ती पर्याय और क्रमवर्ती पर्याय, ऐसा भी शास्त्र में आता है। सहवर्ती पर्याय, वह है तो गुण परन्तु उसे पर्यायरूप से कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्यायवर्ती कहते हैं। किसी समय गुण को जब पर्यायरूप से कहते हैं, तब पर्याय को गुणरूप से कहते हैं। यहाँ पर्याय को गुणरूप से कहा। आहाहा! यहाँ तो द्रव्यरूप से कहा। गुण और पर्याय को इस प्रकार से कहा। क्या अपेक्षा है? पकड़ रखे कि इस जगह ऐसा लिखा है। उसका आशय न समझे।

यह तो सिद्धान्त है, वीतराग की वाणी है, बापू! तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि कहना, यह भी व्यवहार है। वह वाणी भगवान की है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वाणी वाणी के कारण से निकलती है; कहीं भगवान के कारण से नहीं निकलती। भगवान तो निमित्त है। निमित्त से पर में कुछ होता है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ उपजाता नहीं। भगवान का केवलज्ञान वाणी को उपजाता नहीं। आहाहा! और वह वाणी सुननेवाले को ज्ञान नहीं उपजाती। अरे! यह तो सब... बापू! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु की स्थिति और वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। भले कहने में आवे, निमित्त से बोलने में आवे, तथापि निमित्त से कुछ नहीं होता। जो होता है, वह अपनी योग्यता और लायकात और धारावाही की पर्याय में आनेवाली हो, वह आती है। आहाहा! **अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट (स्पष्ट) प्रकाशित होती है।**

भावार्थ – राग-द्वेष चेतन के परिणाम हैं। ठीक! दूसरी जगह राग-द्वेष को पुद्गल कहा है, पुद्गल। राग-द्वेष पुद्गल के परिणाम और पुद्गल। ७५-७६ गाथा। इसलिए मनोहरलालजी ने प्रश्न किया था, मनोहरलाल वर्णी वहाँ आये थे। कहाँ? जयपुर आये थे और यह प्रश्न किया था कि राग-द्वेष को पुद्गल क्यों कहा? कहा, भाई! वे निकल जाते हैं, वे शाश्वत् चीज़ नहीं है, इसलिए स्वयं निमित्त के आधीन हुआ, इसलिए निमित्त के आधीन से, इसलिए दोनों को निकाल डाला, दोनों निमित्त में निकाल डाला। निमित्त के आधीन स्वयं होता है, निमित्त आधीन करता नहीं, परन्तु स्वयं आधीन होता है, इसलिए निमित्त के आधीन दोनों को पुद्गल के कहकर निकाल डाला, स्वभावदृष्टि कराने के लिये। आहाहा! समझ में आया? उन्होंने माना था तब। परन्तु उद्देशिक आहार का पूछा, वह नहीं माना। यह माना। उद्देशिक आहार के लिये क्या? लोग उनके लिये करे, उसमें

उस लेनेवाले को क्या ? ऐसा। कहा, करते हैं, उसे लेते हैं, उसकी अनुमोदना कोटि टूटती है। भले करे नहीं, करावे नहीं परन्तु लेते हैं, वह अनुमोदन कोटि टूटती है। (इसलिए) नव कोटि टूट जाती है, उस नव कोटि रहती नहीं। उसके लिये बनाते हैं, (यह) खबर है कि यह लिया, मेरे लिये किया पानी। यहाँ दस सेर पानी कहाँ से था ? वह अनुमोदन करता है। आहाहा ! वीतराग का मार्ग, भाई ! बापू ! ऐसा है। वीतराग के विरह में उद्देशिक की व्याख्या ऐसी करना कि लोग अपने आप बनाते हैं, उसमें लेनेवाले को क्या ? यह व्याख्या नहीं होती। आहाहा !

यह प्रश्न तो मेरे (संवत्) १९६९ में हुआ था। दीक्षा लेने से पहले, दीक्षा लेने से पहले हुआ था। कि साधु के लिये उपाश्रय बनावे और प्रयोग करे तो नव कोटि—मन, वचन और काया, करना, कराना और अनुमोदन (इसमें) कौन-सी कोटि टूटती है ? ऐसा मैंने गुरु से पूछा था। ६९, ७० वर्ष पहले, दीक्षा लेने से पहले। गुरु ने तो घोटाला किया। किसी ने किया, उसमें इसे क्या ? तेरे भाई ने तेरे लिये मकान बनाया और उसमें तू रहे, तुझे क्या ? मैं कुछ बोला नहीं। मन में था कि अनुमोदन है। पाठ है दशवैकालिक के आठवें अध्याय में। दशवैकालिक तब दीक्षा लेने से पहले कण्ठस्थ किया था। श्वेताम्बर का दशवैकालिक है। आठवें अध्याय में ऐसा है कि उसके लिये बनाया हुआ हो तो अनुमोदन है। बनाया हुआ ले तो वह उसे अनुमोदन है। आहाहा ! यहाँ तो, भाई ! सत्य होगा तो बैठेगा, नहीं होगा तो हम किसी का मानते नहीं। कोई सम्प्रदाय का या किसी का। सत्य क्या है ? आहाहा !

यहाँ यह कहा, **राग-द्वेष चेतन के परिणाम हैं।** भाषा देखो ! अब एक ओर राग-द्वेष पुद्गल कहे। आहाहा ! इसमें ऐसी गाथा आती है कि पुराने कर्म नये कर्म को आने का कारण है। पुराने कर्म व्यापक हैं, नये कर्म व्याप्य—उसका कार्य है। ऐसा इसमें आता है। वह किस अपेक्षा से ? उसे स्वभाव में नहीं है, इसलिए नये कर्म आने का कारण पुराने कर्म हैं। और उन पुराने कर्म को वापस निमित्त कारण विकार स्वयं है। आहाहा ! एक न्याय भी बदले तो तत्त्व बदल जाये, पूरी बात (बदल जाये)। यहाँ राग-द्वेष, मिथ्यात्व चेतना के ही परिणाम। चेतना के 'ही', देखा ? कथंचित् चेतना के और कथंचित् कर्म के, ऐसा नहीं कहा। आहाहा !

मुमुक्षु : शास्त्र में तो उभय कारणवशात् आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारण उभय में एक निमित्त बतावे, ज्ञान कराने के लिये। होता नहीं है। कलश जयसेनाचार्य की टीका में लिखा है कि विकार दो से होता है। जैसे पुत्र, स्त्री और पुरुष दो से होता है, उसी प्रकार विकार कर्म और आत्मा दो से होता है, ऐसा लिखा है। यह तो निमित्त का ज्ञान कराया है, निमित्त कौन है वह ? निमित्त को स्पर्श नहीं करता परद्रव्य। एक द्रव्य परद्रव्य को छूता ही नहीं। आहाहा! वह इसे करावे, बिल्कुल झूठ बात है। **भावार्थ – राग–द्वेष चेतन के ही परिणाम हैं।** जीव के परिणाम है। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरी जगह उन्हें पुद्‌गल का परिणाम कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न, अन्यत्र पुद्‌गल... पुद्‌गल कहा है। पुद्‌गल के परिणाम तो ठीक परन्तु पुद्‌गल (कहा है)। यह निकाल डालने के लिये (कहा है)। आहाहा! उससे होता नहीं। आहाहा!

अन्य द्रव्य आत्मा को राग–द्वेष उत्पन्न नहीं करा सकता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति... द्रव्य अर्थात् पर्याय, **अपने–अपने स्वभाव से ही होती है,...** लो! यहाँ स्वभाव लिया। **अपने–अपने स्वभाव से ही होती है,...** विकार भी स्वभाव से होता है। आहाहा! स्व–भाव, ऐसा। स्व अर्थात् अपने भाव और पर्याय से होता है। ऐसा है, बापू! बड़ा विरोध किया था। कलकत्ता में सेठ के प्रति विरोध का उत्तर आया। कहा, वहाँ जवाब दिया है। कर्म से विकार नहीं होता, जवाब दिया है। आहाहा!

क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने–अपने स्वभाव से ही होती है,... उत्पत्ति द्रव्य की अर्थात् पर्याय की। **स्वभाव से ही...** विकार और अविकार दोनों स्वभाव कहा। स्व अर्थात् अपना भाव, अपनी पर्याय। **अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य के गुण–पर्यायों की उत्पत्ति नहीं होती।** आहाहा!

गाथा - ३७२

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्व-दव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्य-द्रव्येणान्य-द्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्व-द्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥३७२॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शङ्क्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पाद-करणस्या-योगात्; सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्।

तथाहि – मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते, किं मृत्तिका-स्वभावेन?

यदि कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भकरणाहङ्कारनिर्भरपुरुषाधिष्ठित-व्यापृतकरपुरुष-शरीराकारः कुम्भः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्।

यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन नोत्पद्यते, किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते।

एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यान्तर-स्वभावेनोत्पद्यन्ते, किं स्वस्वभावेन?

यदि निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यन्ते, किन्तु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्।

एवं च सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावानतिक्रमान्न निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावमस्पृशन्ति स्वस्व-भावेन स्वपरिणामभावेनो-त्पद्यन्ते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ॥३७२॥

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं–

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का अरे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से।।३७२।।

गाथार्थ : [अन्यद्रव्येण] अन्य द्रव्य से [अन्यद्रव्यस्य] अन्य द्रव्य के [गुणोत्पादः] गुण की उत्पत्ति [न क्रियते] नहीं की जा सकती; [तस्मात् तु] इससे (यह सिद्धान्त हुआ कि) [सर्वद्रव्याणि] सर्व द्रव्य [स्वभावेन] अपने-अपने स्वभाव से [उत्पद्यंते] उत्पन्न होते हैं।

टीका : और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि – परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझायी जा रही है–

मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के? यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती; परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिए, कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।

इसी प्रकार-सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से (अर्थात् अपने परिणाम भावरूप से) उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभाव से? यदि निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के होने चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभावरूप से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद दिखायी नहीं देता। जबकि ऐसा है तो सर्व द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है। ऐसा होने से, सर्व द्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन न करते होने से, निमित्तभूत अन्य द्रव्य

अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं; सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से उत्पन्न होते हैं।

इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (–मानते) कि जिस पर कोप करें।

भावार्थ : आत्मा को रागादि उत्पन्न होते हैं, सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। यदि निश्चयनय से विचार किया जाए तो अन्य द्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता, यह नियम है। जो यह मानते हैं–ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि – 'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं', वे नयविभाग को नहीं समझते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र हैं–ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि–हम राग–द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करें? राग–द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है।

गाथा - ३७२ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं–

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हा दु सव्व–दव्वा उप्पज्जंते सहावेण।।३७२।।
को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का अरे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से।।३७२।।

आहाहा! प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में उसके उस–उस काल की पर्याय है, उस–उस पर्याय बिना का यह द्रव्य होता ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! और वह पर्याय दूसरे से नहीं होती। फिर भले विकारी हो या अविकारी हो। पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता और पर्याय पर के बिना होती है। आहाहा! यह निवृत्ति इतना सब निर्णय करने के लिये कौन (ले)? समय कहाँ लेना? एक जगह पुद्गल के परिणाम कहे, एक जगह चैतन्य

के परिणाम कहे, एक जगह पुद्गल कहे, एक जगह उसे जड़ कहे। पुण्य-पाप को ७२ गाथा में जड़ कहा है। क्योंकि चैतन्य-चैतन्य के प्रकाश का उसमें अभाव है, इसलिए जड़ है। जड़ कहीं परमाणु है, ऐसा नहीं है। अचेतन है, उसमें चेतनपना नहीं, इस अपेक्षा से जड़ (कहा)। राग-द्वेष कहीं परमाणु है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें तो बहुत ध्यान रखना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत, भाई! यह तो वस्तु ऐसी है और यह तो पहले से अन्दर से आयी हुई है। (संवत्) १९७१ के वर्ष से। कितने वर्ष हुए? तुम्हारा जन्म भी नहीं होगा। ६५, ६५ हुए। साठ और पाँच। कहा, भाई! विकार है, वह पर से उत्पन्न होता है, (यह) बिल्कुल अपने को मान्य नहीं है। चाहे जो सम्प्रदाय कहता हो, चाहे जो पण्डित कहते हों। भगवती (सूत्र) का वाँचन चलता था। श्वेताम्बर की भगवती (सूत्र)। उसमें यह आया था कि संशय है, वह स्वयं से होता है, पर से नहीं। इसके ऊपर से बाहर रखा था। संशय अर्थात् मिथ्यात्व। भ्रान्ति पर से नहीं होती, स्वयं से होती है, ऐसा भगवती (सूत्र) के तीसरे शतक में पाठ है। इसके ऊपर से चर्चा (चली थी)। यह (दिगम्बर शास्त्र) तो देखे कहाँ थे तब? आहाहा!

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का अरे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से।।३७२।।

गुण अर्थात् पर्याय। देखो... देखो! स्वभाव से उपजे। विकार भी स्वभाव से उपजता है, ऐसा आया या नहीं? मूल में आया था। '**सव्व-दव्वा उप्पज्जंते**' '**दव्वा**' अर्थात् पर्याय। '**सव्व-दव्वा उप्पज्जंते सहावेण**' स्वभाव से उपजती है, वह उसका स्वभाव है। पर्याय का उस काल का वह-वह जो वह समय है, उस समय का वह हो, वह उसका स्वभाव है। आहाहा! आड़ा-टेढ़ा नहीं होती, आगे-पीछे नहीं होती, पर से नहीं होती। आहाहा! बहुत निश्चय लेने जायें तो द्रव्य-गुण से भी नहीं होती। पर्याय, पर्याय से होती है। षट्कारक से पर्याय स्वयं से उत्पन्न होती है। पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। यह पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा। यह तब वहाँ रखी थी। ६२वीं गाथा देखो, कहा। षट्कारक के परिणमन से विकारी होता है। अपनी पर्याय को कर्म

कारक नहीं, ऐसा संस्कृत पाठ है। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा। कर्म कारक नहीं है, ऐसा पाठ है। स्वयं को पर्याय में षट्कारक से विकार, विकार की बात है, निर्विकार धर्म की यहाँ बात नहीं है। स्वयं के कारण से होता है। आहाहा! यह तो अभेद की बात है, अभेद की बात है—ऐसा कहकर उड़ा दिया। ठीक! दूसरा क्या हो? अभेद की अर्थात् यह स्वयं अपने से होता है। पर से नहीं। आहाहा!

टीका – और परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं;... परद्रव्य पुण्य-पाप विकल्प... आहाहा! कषायभाव परद्रव्य उत्पन्न करता है... आहाहा! **ऐसी शंका नहीं करना चाहिए...** रागादि का अर्थ कषाय। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, रति, अरति, विषय, वासना सब उसमें आया। आदि है न? रागादि, द्वेष, विषय वासना, वेदना, उदय के कारण विषय की वासना नहीं होती। आहाहा! पुरुषवेद का उदय है, इसलिए विषय-वासना होती है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

परद्रव्य जीव को... राग-द्वेष आदि रति, सुख—पर में सुख की कल्पना परद्रव्य उत्पन्न नहीं करता, वह **उत्पन्न करते हैं; ऐसी शंका नहीं करना चाहिए...** आहाहा! भाषा ऐसी ली है, देखा? कि कोई भी परद्रव्य... आहाहा! **क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को उत्पन्न...** अन्य द्रव्य द्वारा, अन्य द्रव्य की पर्याय का उत्पाद। (यहाँ) गुण अर्थात् पर्याय। **गुणों को उत्पन्न करने की अयोग्यता है;...** ठीक! अयोग्यता है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य से पर्याय उपजे, ऐसी अयोग्यता है, उसकी योग्यता नहीं है। आहाहा!

अयोग्यता है; क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। लो! द्रव्यों का अर्थात् द्रव्य की पर्याय का। सर्व द्रव्यों का, अनन्त द्रव्यों का एक समय में अपने-अपने स्वभाव से उसका उत्पाद पर्याय का होता है। आहाहा! अभी यह सब फेरफार है, पण्डितजी! पण्डितों में गड़बड़, बड़ी गड़बड़ है। बड़े भाषण करे। आहाहा! मूल बात में अन्तर है।

सर्व द्रव्यों का... अर्थात् उसकी पर्याय का **स्वभाव से ही उत्पाद होता है।** वह अपना स्व-भाव, स्व पर्याय अर्थात् उसका भाव। यह विकार भी स्व-भाव। स्व अपना यही भाव है पर्याय का। कर्म के कारण विकार है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई!

ऐसा सुना था? गड़बड़ की होगी न! न समझ में आये, तब (घोटाला करे)।

सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है। आहाहा! अनन्त द्रव्यों की एक समय में जो पर्याय उत्पन्न होती है, स्वयं के स्वभाव से उत्पन्न (होती है)। उसका स्व-भाव है। आहाहा! चाहे तो मिथ्यात्व उत्पन्न हो तो स्वभाव है, राग उत्पन्न हो तो स्वभाव हुआ। आहाहा! गृहीत मिथ्यात्व उत्पन्न हो तो भी स्वभाव है, अनादि का मिथ्यात्व है, वह भी स्वभाव है। आहाहा!

यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझायी जा रही है– लो! पहले पूरा सिद्धान्त कह दिया कि अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य की पर्याय में उत्पाद करने की अयोग्यता है, योग्यता जरा भी नहीं है। परद्रव्य में योग्यता... आहाहा! स्त्री के शरीर की योग्यता पुरुष को विकार उपजावे? बिल्कुल नहीं। अयोग्यता है। आहाहा! उसी तरह पुरुष का शरीर स्त्री को विकार उपजावे? बिल्कुल नहीं। आहाहा! इसी तरह कोई छुरी से मार मारे और उस समय वेश हो, वह मार मारने के कारण से है? बिल्कुल नहीं। आहाहा! और एक महिमा बहुत करे, प्रशंसा बहुत करे और इसे मान उपजे, वह प्रशंसा के कारण बिल्कुल नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग सुना न हो, उसे तो कुछ का कुछ समय चला जाए उसी और उसी में। आहाहा! **यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझायी जा रही है–** विस्तार कहेंगे विशेष....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२२, गाथा-३७२ शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल १४
दिनांक - २७-०६-१९८०

हिन्दी चलेगा। ३७२ गाथा। ३७२, टीका :- **और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए...** ३७२ है न? **और भी ऐसी शंका नहीं करना चाहिए कि – परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न करते हैं;...** कर्म आत्मा को विकार उत्पन्न कराता है, ऐसी किसी को शंका नहीं करना चाहिए। कर्म आत्मा को कभी तीन काल में विकार उत्पन्न नहीं कराते। विकार अपने में अपने पुरुषार्थ की उल्टी दशा से अपने में, अपने से, अपने कारण से, पर की अपेक्षा बिना होता है। आहाहा! पहला शब्द है न?

परद्रव्य जीव को... अर्थात् कर्म आदि अथवा सब। आठ कर्म, पाँच इन्द्रियों के विषय, मन, वचन और काया, यह कोई चीज़ आत्मा को राग-द्वेष कराती है, ऐसी शंका करना नहीं। वह चीज़ राग-द्वेष नहीं कराती। राग-द्वेष आत्मा अपने अज्ञानभाव से, उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है, आहाहा! क्यों? कारण क्या है? सब ऐसा कहते हैं कि कर्म के कारण से विकार होता है, कर्म के कारण से विकार होता है, वे सब मिथ्यादृष्टि हैं। उन्हें जैनदर्शन की प्रतीति नहीं है।

जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसी प्रसिद्धि करते हैं कि कोई द्रव्य-तत्त्व दूसरे द्रव्य को कुछ करे, ऐसा तीन काल में नहीं है। समझ में आया? राग या द्वेष, विषय वासना या मिथ्यात्व कर्म कराता है, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय में अपने उल्टे पुरुषार्थ से होता है। विजयभाई आये हैं? सेठी। यहाँ आओ। आज हिन्दी चलता है। दीपचन्दजी सेठिया के पुत्र हैं। आहाहा!

राग और द्वेष, काम और क्रोध, पुण्य और पाप, दया और दान, यह विकार है। यह विकार कर्म नहीं कराते। क्योंकि कर्म दूसरा द्रव्य है, आत्मा दूसरा द्रव्य है। एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य स्पर्श नहीं करता, स्पर्श नहीं करता। स्पर्श नहीं करता तो करे कहाँ से? आहा! दुनिया ऐसा ही मानती है कि विकार कर्म से होता है, विकार कर्म से होता है। वह मिथ्यादृष्टि है, वह जैन नहीं है। उसे जैन की खबर भी नहीं है।

क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को... गुण अर्थात् पर्याय लेना।

अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों को... गुण अर्थात् पर्याय का, अवस्था का **उत्पन्न करने की अयोग्यता है;...** आहाहा! प्रत्येक द्रव्य में दूसरे द्रव्य में कुछ करने की अयोग्यता है। आहाहा! क्यों? ऐसा क्यों है? **सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।** भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। आत्मा, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, काल और आकाश। छहों पदार्थ अपनी पर्याय में, अपनी अवस्था के काल में, अपने कारण से पर्याय उत्पन्न करते हैं। दूसरे से वह पर्याय उत्पन्न हो, ऐसी वस्तु की स्थिति नहीं है। आहाहा! दृष्टान्त देंगे।

मुमुक्षु : यह तो निश्चय की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय कौन कहता है? सत्य बात यही है। निश्चय सत्य ही यह है, बाकी सब झूठा है। यह यहाँ कहेंगे। कुम्हार घड़ा बनाता है, यह बात झूठ है। मिट्टी से स्वयं से घड़ा होता है। कुम्हार तो दूसरी चीज़ है। दूसरी चीज़, दूसरी चीज़ को क्या स्पर्श करती है? दूसरी चीज़ दूसरी चीज़ को कहाँ स्पर्श करती है (कि) उसे करे? आहाहा! समझ में आया? ऐसी बात है। पुस्तक नहीं ली? भाई!

दो सिद्धान्त सिद्ध किये। एक तो विकार परद्रव्य उपजाता नहीं, क्योंकि अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य की पर्याय उत्पन्न करने की अयोग्यता है। आहाहा! **सर्व द्रव्यों का...** छह द्रव्य भगवान परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने देखे हैं। छह द्रव्य, संख्या अनन्त, अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, एक अधर्मास्ति, एक आकाश—ऐसे छह द्रव्य भगवान सर्वज्ञ ने देखे हैं। सर्व द्रव्य स्वभाव से उत्पन्न होते हैं। अपनी जिस क्षण में जो पर्याय होती है, वह अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है। विकार उत्पन्न हो तो भी पर्याय का स्वभाव है। पर्याय का विकार स्वभाव है। कर्म विकार कराते हैं या दूसरी चीज़ उसे बदला देती है, यह बात सत्य नहीं है, त्रिकाल झूठ है। यह जैनदर्शन को मान्य नहीं है। आहाहा! कहाँ दरकार है? पूरे दिन धन्धा, पाप। एकाध घण्टे सुनने जाए, वहाँ मारे कि कर्म विकार कराते हैं, कर्म विकार कराते हैं (यह सुने)। अर्थात् एक घण्टा लूट लिया। हो गया। जाओ! आराम पूरी जिन्दगी। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **यह बात दृष्टान्तपूर्वक समझायी जा रही है–मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई...** मिट्टी है, वह घटभाव, घड़ा-भाव से उपजती हुई, **कुम्हार के स्वभाव से**

उत्पन्न होती है या मिट्टी के? घड़ा जो मिट्टी से उत्पन्न होता है, उस मिट्टी से घड़ा उत्पन्न होता है या पर से होता है ? है ? **कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के?** वह घड़ा कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होता है ? कुम्हार घड़े का कर्ता है ? आहाहा ! गजब बात है। कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है। घट को कुम्हार स्पर्श नहीं करता। घट की पर्याय मिट्टी से अपने में अपने कारण से घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है, कुम्हार से नहीं। आहाहा ! कहाँ दरकार पड़ी है ? वीतराग क्या सत्य कहते हैं ? वीतराग परमेश्वर...

जैसे वह कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है। क्योंकि मिट्टी अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है। है न ? **यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो...** घड़ा कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होता हो **तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ...** आहाहा ! कितना सिद्धान्त रखा है ! घड़ा जब मिट्टी से बनता है, तब कुम्हार अहंकार करता है कि मैं करता हूँ। वह मिथ्यात्व करता है। बुनकर कपड़ा बुनता है, वह कपड़े का अहंकार-मिथ्यात्व करता है, कपड़ा नहीं करता। आहाहा ! चित्रकार चित्र बनाता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। चित्र, चित्र से होता है। आहाहा ! लिपिकार, अक्षर (लिखनेवाले), लिपिकार लिपि का कर्ता नहीं है। आहाहा ! लिपि का कर्ता लिपि है। परपदार्थ उसका कर्ता नहीं है। आहाहा ! वीतराग की ऐसी बात माने कौन ?

अनन्त द्रव्य हैं। तो अनन्त-अनन्तपना रखकर टिकते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्याय—अवस्था करता है तो टिकता है। अपनी पर्याय पर से हो तो अपना द्रव्य पर्यायरहित रह सकेगा नहीं। किसी भी पदार्थ की पर्याय—अवस्था दूसरा द्रव्य करे तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हुआ। तो एक द्रव्य नहीं। इसी तरह अनन्त द्रव्य का नाश हुआ। आहाहा ! है ?

अहंकार से भरा हुआ... आहाहा ! वाणी, लिपि, कपड़ा, चित्रकार उस समय अहंकार से भरे हुए हैं। मैं करता हूँ, ऐसा मिथ्यात्व का अहंकार है। आहाहा ! ऐसी बात ! जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की दिव्यध्वनि में यह आया है और ऐसा है ही। प्रत्येक पदार्थ अपनी पर्याय से, अपने कारण से उत्पन्न होता है। पर से वह पर्याय उत्पन्न हो तो अपनी पर्याय बिना का द्रव्य रहे तो उस द्रव्य का नाश हो जाए। पर्याय बिना का वह द्रव्य नाश हो जाए। आहाहा ! किसी भी द्रव्य की पर्याय दूसरा करे तो उस पदार्थ की पर्याय

नहीं है, तो पर्याय बिना का द्रव्य तो नाश हो जाए। समझ में आया ? भाई! थोड़ी सूक्ष्म बात है। कभी सुनी नहीं ऐसी बातें। आहाहा! हम जबलपुर आ गये हैं। आहाहा!

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्यदेव (कहते हैं), '**अण्णदविएण अण्णदवियस्स**' पाठ है। एक द्रव्य की पर्याय—अवस्था दूसरा द्रव्य कभी नहीं करता। यह सिद्धान्त—मुख्य पाठ है। यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव का पाठ है, उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्यदेव करते हैं। वे कहते हैं कि एक द्रव्य यदि दूसरे द्रव्य का करे तो दूसरा द्रव्य पर्याय बिना का रहे तो उसका नाश हो जाए। कोई द्रव्य पर्याय बिना का कभी होता नहीं। अनादि-अनन्त काल में कोई द्रव्य पर्याय बिना का नहीं होता। आहाहा! और उस पर्याय का कर्ता पर कहो तो वह पर्याय बिना का द्रव्य हो गया। आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि है (अर्थात्) पर्याय बिना का द्रव्य माने, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया ? वह पर्याय दूसरे से होवे तो वह पर्याय बिना का (द्रव्य) हुआ। आहाहा! समझ में आया विजयजी ? सूक्ष्म बात है। व्यापार में वहाँ कहीं सुनी नहीं। सेठिया तो आते थे न, बहुत आते थे। एक बार नहीं, यह तो १९वीं बार चलता है। यह समयसार सभा में अक्षर-अक्षर १८ बार चला है, यह १९वीं बार चलता है। यहाँ जंगल में ४५ वर्ष हुए। १८ बार तो समयसार चला है। आहाहा! ४५ वर्ष की उम्र से आये थे। ४५ दूसरे हुए। ९१ वर्ष हुए, शरीर को ९१ हुए। ९० और १। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, आहाहा! **मिट्टी घटभावरूप से उत्पन्न होती हुई कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मिट्टी के (स्वभाव से)? यदि कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न होती हो तो जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ...** आहाहा! कोई भी परचीज़ की पर्याय करने में मैं करता हूँ, यह महा मिथ्यात्व—अहंकार है। आहाहा! अनन्त-अनन्त द्रव्य हैं, अनन्त-अनन्त पदार्थ हैं। अत: अनन्त पदार्थ की पर्याय भी अनन्त की अनन्त है। पर्याय—अवस्थारहित कोई द्रव्य नहीं होता। तो वह अवस्था स्वयं से है, दूसरे से वह अवस्था नहीं होती। आहाहा! रोटी स्त्री से और तवे से नहीं होती।

मुमुक्षु : पुरुषार्थ तो करना पड़े न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। वह मिथ्यात्व—अहंकार है। मैं इस रोटी को बनाता हूँ, यह अहंकार मिथ्यादृष्टि है, जैन नहीं। जैन की दृष्टि की उसे खबर नहीं है।

आहाहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो बहुत गड़बड़ चलती है, इसलिए लोगों को यह बात जँचती नहीं। कपड़े का बुनकर कपड़े को बनाता नहीं। क्योंकि कपड़ा दूसरी चीज़ है, बुनकर दूसरी चीज़ है। दूसरी वस्तु से दूसरी वस्तु होती हो, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! यह इस गाथा में कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास गये थे। सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है। भगवान की वाणी है, तीर्थंकरदेव की वाणी है। आहाहा!

बुनकर कपड़े को करता नहीं, कुम्हार घड़े को करता नहीं, चित्रकार चित्र बनाता नहीं, लिपिकार लिपि करता नहीं, रोटीकार रोटी बनाता नहीं।

मुमुक्षु : मोटर का ड्राईवर?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोटर का ड्राईवर मोटर को चलाता नहीं। यह पागल जैसा लगे। लोग पागल हैं, लोगों को सत्य की खबर नहीं है। सत्य क्या है? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ...

मुमुक्षु : परन्तु मोटर पेट्रोल बिना कैसे चले?

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट्रोल बिना मोटर चलती है। एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ मदद करे, ऐसा तीन काल-तीन लोक में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : सोनगढ़ की मोटर पेट्रोल से नहीं चलती।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, नहीं चलती—ऐसा कहते हैं। सोनगढ़ की मोटर ही नहीं है, सोनगढ़ ही नहीं है। आहाहा! मोटर भी अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध है, तो अनन्त परमाणु के स्कन्ध में प्रत्येक परमाणु अपनी पर्याय का कर्ता है। दूसरे से दूसरे की पर्याय होती है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! धर्म करना और वस्तु क्या है, इसकी खबर नहीं होती। धूल में भी धर्म नहीं होता। धर्म बिना चला जाता है। नरक और चार गति में भटकता है। आहाहा! कहा न?

घड़ा कुम्हार के स्वभाव से उपजता होवे तो **अहंकार से भरा हुआ पुरुष...** कुम्हार अहंकार से भरा हुआ है, मैं घड़ा बनाऊँ, मैं मिट्टी को ऐसे बनाऊँ, मैं कोडिया बराबर बनाऊँ। आहाहा! यह अहंकार है। यह अहंकार मिथ्यात्व है। क्योंकि उससे बनता नहीं है। वह चीज़ अपनी पर्याय से बनती है और यह कहता है कि मुझसे बनती है तो इसका नाम

मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। वह जैन नहीं है, उसे जैन की खबर नहीं है। भाई! सूक्ष्म बात है। जबलपुर से आये हैं, इसलिए हिन्दी लिया है।

एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता, यह कहेंगे। **और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए।** शरीर के आकार घड़ा होना चाहिए, यदि कुम्हार घड़ा करता होवे तो। घड़ा तो मिट्टी के आकार होता है। मिट्टी के स्वभाव से और मिट्टी के आकार से होता है। कुम्हार का अहंकार और शरीर वहाँ प्रविष्ट नहीं होते। आहाहा! वजुभाई!

मुमुक्षु : रसोईया होवे तो रोटी कैसी बनावे और पुत्री होवे वह कैसी बनावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन बनाता है रोटी? रोटी क्या पापड़ बनाते नहीं, रोटी बनाते नहीं। क्या कहते हैं यह? वडी। क्या कहा वह? वडी-वडी। वडी नहीं बनाते। यह रोटियाँ बनाते नहीं, तवा बनाता नहीं, अग्नि तवे को स्पर्श नहीं करती, तवा रोटी को स्पर्श नहीं करता। तावडी समझे? तवा को छूती नहीं और वह तवा रोटी को छूता नहीं। भिन्न-भिन्न पदार्थ है। आहाहा! शान्तिभाई!

मुमुक्षु : ऐसा का ऐसा कर्ता बन जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : तत्त्व-पदार्थ है या नहीं? पदार्थ है तो उसकी अवस्था होती है या नहीं? अवस्था बिना का द्रव्य रहता है? कोई भी पदार्थ अपनी पर्याय—अवस्था बिना द्रव्य रहता है? तो उसकी अवस्था दूसरा करे तो इसने स्वयं ने क्या किया? अहंकार किया, मिथ्यात्व किया, मिथ्यात्व। आहाहा! मैंने पुस्तक बनायी और पुस्तक के नाम से मेरा नाम प्रसिद्ध होगा। यह सब मिथ्यात्व है, वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि नाम प्रसिद्ध होगा। नाम तेरा है ही नहीं। नाम शरीर का है, आत्मा का नाम है नहीं। पण्डितजी! आहाहा! मेरा नाम तो रहेगा। पाँच-पच्चीस हजार दूँ तो नाम रहेगा। परन्तु पैसा दे सकता नहीं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। दूसरा द्रव्य वह पैसा दे नहीं सकता, पैसा ले नहीं सकता। पैसे की पर्याय स्वयं से जाती है और स्वयं से टिकती है। आहाहा!

प्रत्येक पदार्थ पर्याय बिना का होता नहीं, अवस्था बिना का होता नहीं तो दूसरा द्रव्य उसकी अवस्था कैसे करे? दो द्रव्य इकट्ठे मिलकर अवस्था करे? यह समयसार में

पहले आ गया है कि दो द्रव्य इकट्ठे मिलकर करे तो वह द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ८५ गाथा। ८५ गाथा में आ गया है। एक द्रव्य की क्रिया और दूसरे द्रव्य की क्रिया, एक द्रव्य दो द्रव्य की क्रिया करे तो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि है, जैन है ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

चश्मे को बनाता नहीं। आत्मा चश्मे को नाक के ऊपर ले नहीं सकता। इस हाथ को आत्मा स्पर्श नहीं करता। यह तो जड़-मिट्टी-धूल है, धूल है। प्रभु तो चैतन्य अरूपी है। यह रूपी है। अरूपी रूपी को स्पर्श नहीं करता। एक रूपी दूसरे रूपी को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! पागल जैसा लगे। दुनिया पागल है। सत्य बात वीतराग (कहते हैं)।

मुमुक्षु : यह मकान स्तम्भ के ऊपर खड़ा है या ऐसे का ऐसा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्तम्भ से रहा नहीं। इन स्तम्भ से मकान रहा नहीं। मकान अपने कारण से रहा है।

मुमुक्षु : कारीगर की मेहनत तो मुफ्त में जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कारीगर-बारीगर करता नहीं। कडिया समझते हो? कडिया— कारीगर। मकान के कारीगर ने मकान बनाया है, ऐसा बिल्कुल नहीं है। इस पाट पर पुस्तक खड़ी है, ऐसा नहीं है। पाट पर शरीर बैठा है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कुछ गले उतरे इस प्रकार से समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गले उतरे, यह ही गले उतरे ऐसा है। एक द्रव्य की पर्याय... यह गले उतरे। दूसरा द्रव्य करता नहीं, यह गले उतरे। लाख बात की बात। छहढाला में आता है न? 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो, छोड़ी जगत द्वंद्व फंद, निज आतम ध्याओ।' आहाहा! भगवान ज्ञानस्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु, उस आनन्द और ज्ञान का ध्यान करो तो धर्म है। बाकी राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम करे तो भी धर्म नहीं है। आहाहा! राग और विकार को कर्म स्पर्श नहीं करते और धर्म की पर्याय को विकार स्पर्श नहीं करता। आहाहा! भारी कठिन बात है। यह कहते हैं।

अहंकार से भरा हुआ... यह शब्द है। प्रत्येक पदार्थ की जब-जब पर्याय होती है,

वहाँ व्यवस्थित बैठा हुआ मनुष्य ऐसा मानता है कि यह मुझसे बनती है। वह सब जगह मिथ्यात्व है, अज्ञान है। आहाहा!

मुमुक्षु : पत्र तो लिखा जाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : पत्र-बत्र लिख नहीं सकता। यह वस्त्र पहन नहीं सकता। कपड़े की यह पटली है न? कपड़े की पटली बना नहीं सकता। पटली समझते हैं? सरीखी करते हैं न?

मुमुक्षु : .... वस्त्र उतारे।

पूज्य गुरुदेवश्री : उतार सकता नहीं। वह जड़ की पर्याय उसके कारण से उतरती है।

मुमुक्षु : उदयपुरवाले चाँदमलजी आये थे, तब झगड़ा हुआ था...

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्त्र उतार सकता है, यह बात चली थी। भगवान दीक्षा लेते हैं, तब वस्त्र उतारते हैं। कहा, यह कथन है। वस्त्र अपने आप छूट जाते हैं, अपने आप छूट जाते हैं।

किसी द्रव्य का कोई द्रव्य कुछ कर सके, यह तीन काल-तीन लोक में नहीं है। ऐसा परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव केवली परमात्मा अनन्त तीर्थंकर, अनन्त तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि यह है कि दिव्यध्वनि भी मुझसे हुई नहीं है।

मुमुक्षु : कब से ऐसा चलता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाषा में से वाणी निकलती है।

मुमुक्षु : भाव अनादि से चलता है या नया है?

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि से यह की यह बात है। नयी बात नहीं है।

मुमुक्षु : मुनिपना क्यों धारण करते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनिपना कहाँ है? मुनि किसे कहना? अभी तो दर्शन की खबर नहीं। एक तत्त्व दूसरे का कर सकता है—ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वहाँ मुनि है कहाँ?

मुमुक्षु : मुनिपने बिना तो मोक्ष होता नहीं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मुनिपना कहना किसे ?

मुमुक्षु : आगम तो यही कहता है न कि मुनिपना धारण किये बिना मोक्ष तो होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात सत्य है।

मुमुक्षु : सत्य बात है तो मुनिपना कब होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनिपना तो पहले सम्यग्दृष्टि होता है, मैं किसी चीज़ का कर्ता नहीं, एक रजकण का भी कर्ता नहीं, मैं पर की दया पाल नहीं सकता, मेरे अनुभव में आनन्द है, ऐसे आनन्द का अनुभव हो, (पश्चात् मुनि होता है)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : राग की उत्पत्ति कर्म से होती है, आत्मा से नहीं। यह बात तो चलती है। आत्मा से माने यह झूठ है।

मुमुक्षु : कर्म...

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म से माने वह मिथ्यादृष्टि है। अभी पूरी बात में सब अन्तर है। मुनिपना तो कहाँ है ? अभी मुनिपना किसे कहना, खबर नहीं। अभी सम्यग्दर्शन की श्रद्धा की खबर नहीं। एक चीज़ दूसरी चीज़ को कर सके, शिष्य बना सके, पर को पढ़ा सके, दूसरे को पढ़ा सकते हैं, यह सब मिथ्यात्वभाव है। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ समकित नहीं और समकित नहीं वहाँ मुनिपना तो है ही नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : मनुष्य उलझ जाए ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त काल हुआ, अनन्त काल गया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीयक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो' छहढाला में आता है न ? दिगम्बर मुनि अनन्त बार हुआ, पंच महाव्रत अनन्त बार लिये। परन्तु वे पंच महाव्रत तो राग है, आस्रव है, दुःख है। परन्तु आत्मज्ञान हुआ नहीं तो वह मिथ्यादृष्टि रहा। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु : आपकी बात जरा कठिन लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गाथा ऊँची है। मूल पाठ है न? '**अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ**' कुन्दकुन्दाचार्य का वचन है। अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य की पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकता। आहाहा! '**तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण**' इसलिए सभी द्रव्य अपनी पर्याय से उत्पन्न होते हैं, पर से उत्पन्न नहीं होते। यह गाथा पुकारती है। गाथा का तो अर्थ चलता है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है, जगत की पूरी जाति से अलग है। जगत में तो मैं करूँ, इसका मैं करूँ। आहाहा! और मैं ऐसा करूँ तो मुझे मान मिले, मैं ऐसा करूँ तो लोग मुझे प्रतिष्ठा दे। सब मिथ्यात्वभाव है, म्थ्यिादृष्टि है, उसमें कुछ समकित नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि कुम्हार घड़ा बनाने के **अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है...** विद्यमान तो अहंकार से भरा हुआ विद्यमान है। घड़ा बनाने में विद्यमान नहीं। आहाहा! अहंकार से भरा हुआ—मैं घड़ा बनाता हूँ। आहाहा! **अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है...** यह है, कहते हैं। **और जिसका हाथ (घड़ा बनाने का) व्यापार करता है, ऐसे पुरुष के शरीराकार घट होना चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता,...** आहाहा! घट की पर्याय कुम्हार के शरीर के आकार बनती नहीं और शरीर के आकार बनती नहीं तो उसने किया क्या? वह तो मिट्टी अपने आकार से, स्वभाव से घट हुई है। घट का कर्ता मिट्टी है, घट का कर्ता कुम्हार नहीं। आहाहा! है या नहीं अन्दर? यह तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव का दो हजार वर्ष पहले बनाया हुआ है। भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान महाविदेह में विराजते हैं। प्रभु तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ विराजते हैं। वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है।

अनन्त तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि यह गाथा... '**अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ**' अन्य द्रव्य की पर्याय कोई अन्य द्रव्य उत्पन्न नहीं कर सकता, ऐसा अनन्त तीर्थंकर कहते हैं। '**तम्हा दु सव्वदव्वा**' इसलिए सर्व अनन्त द्रव्य '**उप्पज्जंते सहावेण**' पर्याय अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है, पर से उत्पन्न नहीं होती। गाथा, मूल गाथा है। इसकी तो यह टीका है। आहाहा! गजब। उस्तरा है न! क्या कहते हैं? नाई। मस्तक को छूता नहीं। नाई मस्तक को छूता नहीं। वाणंद उस्तरे को छूता नहीं। उस्तरे को छूता नहीं,

अस्त्र यहाँ छूता नहीं। ऐसी बात है, प्रभु! आहाहा! ऐसी बात अभी... सर्वत्र गड़बड़ चलती है। आहाहा!

यहाँ ऐसा कहते हैं कि घड़ा होने के काल में, मिट्टी के स्वभाव से घड़ा होने के काल में, अहंकारवाला विद्यमान पुरुष है। अहंकार करनेवाला विद्यमान पुरुष है, परन्तु उससे हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम। इस पुस्तक के आधार से नहीं। क्योंकि इन परमाणु में आधार नाम की शक्ति है। प्रत्येक द्रव्य में आधार नाम की एक शक्ति-गुण है, तो अपने आधार से रहा है। पुस्तक के आधार से यह रहा नहीं।

मुमुक्षु : स्तम्भ के आधार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्तम्भ के आधार से रहा नहीं, बिल्कुल झूठ बात है। सब अपने-अपने कारण से रजकण रहे हैं। कोई दूसरे रजकण के कारण से दूसरे रजकण रहे हैं, स्तम्भ के आधार से यह रहा है, बात बिल्कुल मिथ्यादृष्टि का अहंकार है। पागल है। दुनिया पागल है, वह नहीं समझती। वस्तु के स्वरूप की खबर नहीं है। अज्ञानी पागल है। ऐसे तो दुनिया में चतुर दिखते हैं। आहाहा! गाथा भी ऐसी आ गयी है। यह मूल गाथा है। आहाहा!

शरीराकार घट होना चाहिए। यदि कुम्हार से घड़ा बने तो मिट्टी के आकार घड़ा हुआ है, यदि कुम्हार से होता हो तो कुम्हार के शरीराकार होना चाहिए। ऐसा होता नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म है। जिनेश्वर तीन लोक के नाथ तीर्थंकर, अनन्त तीर्थंकर हो गये। बीस तीर्थंकर महाविदेह में अभी विराजमान हैं। अनन्त तीर्थंकर होंगे, सबका यह कथन है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' अनन्त तीर्थंकरों का यह मत है। एक तीर्थंकर कुछ कहते हैं और दूसरे तीर्थंकर कुछ कहते हैं, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

विशिष्टता तो क्या की? कि मिट्टी में से घड़ा होता है। अहंकार से भरा हुआ कुम्हार विद्यमान है। विद्यमान है, निमित्त है। वह कुम्हार विद्यमान है परन्तु उससे नहीं बनता। आहाहा! कुम्हार विद्यमान है, कुम्हार की अस्ति है, मौजूदगी है, वह वहाँ विद्यमान है। आहाहा! परन्तु उससे बनता नहीं। निमित्त से कुछ होता नहीं। निमित्त है, निमित्त है परन्तु निमित्त से होता नहीं। आहाहा!

परन्तु ऐसा तो नहीं होता,... मिट्टी के आकार घड़ा हुआ है, उस कुम्हार के आकार घड़ा हुआ नहीं; इसलिए कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। उसकी विद्यमानता है। घड़े के काल में कुम्हार की विद्यमानता है, निमित्त है। निमित्त है, ऐसा सिद्ध किया। विद्यमान है, ऐसा कहा न ? निमित्त है परन्तु कर्ता नहीं। आहाहा! थोड़ा-थोड़ा समझ में आता है ? भाई! सूक्ष्म बात है। आहाहा! **क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का...** अन्य द्रव्य के स्वभाव से **किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।** देखने में नहीं आता। ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरी दृष्टि में अन्तर है।

कुम्हार को विद्यमान देखकर तू कहता है कि कुम्हार ने घड़ा किया है, यह तेरी बुद्धि में अन्तर है। मिट्टी में से घड़ा हुआ है, ऐसा नहीं देखता, दूसरे द्रव्य से देखता है कि इससे हुआ है, यह तेरी दृष्टि में अन्तर है। समझ में अन्तर है। आहाहा! भारी कठिन काम। पूरे दिन यह काम करते हैं न, व्यापार और धन्धा न ?

मुमुक्षु : काम करके-करके तो शरीर टूट गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर नहीं सकता, टूट क्या जाए ? धूल। आहाहा! शरीर का एक-एक रजकण, परमाणु अनन्त गुण से भरपूर है। वह अपने काल में अपने से पर्याय होती है। दूसरी चीज़ विद्यमान है, निमित्त विद्यमान है, परन्तु निमित्त से होता नहीं। वह तो पर चीज़ है, वह तो बाह्य है। आहाहा!

पहले यह चर्चा हुई थी परन्तु अब तो कैलाशचन्दजी ने लिखा है कि सोनगढ़वाले निमित्त का निषेध नहीं करते। निमित्त है परन्तु निमित्त से होता नहीं। समाचार-पत्र में आया था। होता नहीं। यह तो वर्णीजी के साथ चर्चा हुई थी। २३ वर्ष पहले ईसरी में चर्चा हुई थी कि बिल्कुल निमित्त से नहीं होता। यह लोग कहते थे कि किसी समय निमित्त से होता है। कहा, किसी समय नहीं होता। प्रत्येक समय में प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक (पर्याय) समय-समय में होनेवाली है, वह होती है। २३ वर्ष पहले। (संवत्) २०१३ के वर्ष ईसरी गये थे, ईसरी।

मुमुक्षु : ज्ञान में हीनाधिकपना क्यों है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं के कारण से है, पर के कारण से नहीं।

मुमुक्षु : पूर्व का कोई...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह बिल्कुल नहीं। वर्तमान पर्याय की हीनाधिकता स्वयं से है। पूर्व के कारण से भी नहीं और कर्म से भी नहीं।

मुमुक्षु : मन के विस्तार से....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। पूर्व की पर्याय गयी, उससे वर्तमान होती है ?

मुमुक्षु : ज्ञान बराबर...

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर ज्ञान की अपनी पर्याय होती है। अपनी योग्यता से अपनी पर्याय होती है। पूर्व के कारण से नहीं, कर्म से नहीं। आहाहा! कठिन काम है।

अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता। आहाहा! आचार्य क्या कहते हैं ? कि एक द्रव्य से दूसरे किसी द्रव्य की पर्याय उत्पन्न हो, ऐसा हम देखते ही नहीं। हमें दिखता नहीं और तू कहाँ से मानता है ? **क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभाव से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में नहीं आता।** आहाहा! तेरी दृष्टि में अन्तर है। मैं बनाता हूँ और मैं करता हूँ और वह करता है। यह तो तेरी दृष्टि में अन्तर है, वस्तु में अन्तर नहीं। आहाहा! कठिन बात है। आगे कहेंगे, स्पर्श करते नहीं। पहले तीसरी गाथा में आ गया है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा में आ गया है, यहाँ भी आयेगा। स्पर्श नहीं करता, ऐसा।

यदि ऐसा है तो फिर मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती;... लो, ठीक! **मिट्टी कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती;...** आहाहा! मिट्टी अपने स्वभाव से घटरूप उत्पन्न होती है। कुम्हार के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! दुनिया का पागलपन है। पागल लगे, यह क्या कहते हैं ? पूरे दिन करते हैं, कर सकते हैं, ऐसे खाते हैं, पीते हैं, चलते हैं। यहाँ तो कहते हैं पैर को आत्मा चलावे, ऐसा तीन काल में नहीं है। पदार्थ विद्यमान हो, निमित्त हो परन्तु उससे यह होता है, यह बात नहीं है। आहाहा!

परन्तु मिट्टी के स्वभाव से ही उत्पन्न होती है क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। देखो! क्योंकि स्वयं के कारण से स्वभावरूप से। पर्याय, हों! द्रव्य के परिणाम के, द्रव्य की पर्याय का, द्रव्य की अवस्था का **उत्पाद**

देखा जाता है। दिखाई देता है। आहाहा! यह गजब बात। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस द्रव्य से उत्पन्न होती है, ऐसा देखने में आता है। वहाँ पहले ऐसा कहा था, दिखाई नहीं देता, एक द्रव्य दूसरी पर्याय को करे, ऐसा दिखाई नहीं देता। परन्तु वह द्रव्य अपनी पर्याय को करे, ऐसा दिखाई देता है। आहाहा!

(द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिए,... आहाहा! मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती। अपना स्वभाव है, उस स्वभाव से ही घड़ा होता है; इसलिए **कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं;...** देखो! कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। यह टीका दिगम्बर सन्तों की है। अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले हुए। मूल पाठ कुन्दकुन्दाचार्य का है। दो हजार वर्ष पहले हुए। आहाहा! वे जगत के पास पुकार करते हैं। आहाहा! जगत में तो गड़बड़ चली है। पर का कर सकते हैं, पर का कर सकते हैं, व्यवहार से कर सकते हैं—ऐसा करकर गड़बड़ करते हैं। व्यवहार से क्या कर सकते हैं?

ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिए, कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं;... है ही नहीं। निश्चय कहा। कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं, है ही नहीं। वस्त्र का उत्पादक बुनकर है ही नहीं। चित्रकार चित्र का करनेवाला है ही नहीं। आहाहा! रोटी को बनानेवाली स्त्री है ही नहीं।

श्रोता : ऐसी बात सुनी ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है, भाई! दुनिया से उल्टी है। यह तो दृष्टान्त दिये हैं। ऐसे पूरे जगत का ले लेना। मिट्टी अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करती। ऐसे प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक समय में अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं करते। अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, विकार भी स्वभाव से उत्पन्न होता है, आहाहा! कर्म से नहीं। ज्ञानावरणीय से ज्ञान में हीनाधिकता होती है, ऐसा नहीं है। अपनी पर्याय के कारण से अपने में हीनाधिकता होती है। आहाहा! पूर्व में कर्म बाँधे थे, इसलिए अभी ज्ञान की हीनदशा होती है, ऐसा नहीं है। वर्तमान हीनदशा अपने में होती है और उग्रदशा भी अपने में होती है। आहाहा! दुनिया को जँचना कठिन काम है।

अभी श्रद्धा का ठिकाना नहीं, वहाँ मुनिपना कहाँ से आया? अभी समकित किसे कहना, इसकी खबर नहीं। आहाहा! मुनिपना तो अलौकिक चीज़ है, बापू! समकित सहित निर्वस्त्र—वस्त्र का एक टुकड़ा न रखे और अन्तर में एक राग का टुकड़ा भी अपना न माने। महाव्रत का अंश विकल्प है, उसे आस्रव और दु:ख माने। ऐसी चीज़ को मुनिपना कहते हैं। आहाहा!

कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं;... उसमें सब आया न? बुनकर कपड़े का उत्पादक है ही नहीं। आहाहा! कठिन बात है। रंग से कपड़ा रंगता ही नहीं। क्योंकि रंग कपड़े को छूता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : लौकिक में लोगों को बड़ा कलह लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा झगड़ा नहीं, बड़ा अन्तर है। दुनिया और वीतरागमार्ग सब अन्तर है। वीतराग तीन लोक के नाथ सीमन्धर परमात्मा वाणी करते हैं। वहाँ महाविदेह में विराजते हैं, सभा में विराजते हैं। इन्द्र, सिंह, बाघ सुनने जाते हैं। अभी वर्तमान में (जाते हैं)। आहाहा!

कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं;... आहाहा! कण्ठी बनानेवाला कण्ठी बनानेवाला ही नहीं। आहाहा! किसी भी द्रव्य की चीज़, अनन्त द्रव्य भगवान ने देखे हैं तो अनन्त द्रव्य, प्रत्येक द्रव्य की पर्याय पर से उत्पन्न होती है, ऐसा भगवान ने देखा नहीं और ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं। भगवान को कुछ पक्ष नहीं है। जैनधर्म को वाड़ा, पक्ष नहीं है। वह तो वस्तु का स्वरूप-स्वभाव है, वह जैनधर्म है। वह कोई पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं, सम्प्रदाय नहीं। वस्तु छह जगत में है, उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का क्या स्वभाव है, उसे जानना, यह जैनधर्म है। आहाहा! भाषा समझ में आती है थोड़ी-थोड़ी?

ऐसा होने से, मिट्टी अपने स्वभाव को उल्लंघन नहीं करती इसलिए,... आहाहा! गजब बात करते हैं न! **कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं; मिट्टी ही,...** अब कहते हैं, देखो! कुम्हार मिट्टी का घड़ा करनेवाला है ही नहीं। **मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई...** देखो! छूती नहीं। आहाहा! **मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई...** कुम्हार के भाव को मिट्टी स्पर्श नहीं करती। मिट्टी कुम्हार के हाथ को, उसके भाव

को स्पर्श नहीं करती, स्पर्श नहीं करती, आया। तीसरी गाथा। तीसरी गाथा में आया कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, छूता नहीं। प्रत्येक पदार्थ भिन्न है। कोई उसका कर्ता-फर्ता है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? यहाँ स्पर्शता नहीं, आया न ? देखो!

मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई... मिट्टी कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श नहीं करती। कुम्हार घड़े का उत्पादक है नहीं, मिट्टी कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! परस्पर दोनों बातें हुई। कुम्हार घड़े का उत्पादक नहीं है, मिट्टी कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श नहीं करती। परस्पर दोनों स्पर्श नहीं करते और होता है, तो अपनी पर्याय से होता है। आहाहा!

मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई... कुम्हार को अहंकार है कि मैं बनाता हूँ। उस अहंकार को मिट्टी स्पर्श नहीं करती। आहाहा! यह अहंकार करता है तो घड़ा हुआ है, ऐसा नहीं है और मिट्टी इसके अहंकार को छूती नहीं। आहाहा! है ? **स्पर्श न करती हुई अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।** आहाहा! मिट्टी अपने स्वभाव से घटरूप से उत्पन्न होती है। कुम्भभाव। कुम्भ अर्थात् घड़ा। मिट्टी **अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।** कुम्हार उत्पादक नहीं है, कुम्हार के भाव को मिट्टी छूती नहीं और मिट्टी अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है। आहाहा! कितना स्पष्ट है, तो भी मैं करता हूँ, यह मैं करता हूँ, यह मैंने किया, मैंने किया, मैं यह करूँ, मैं यह करूँ तो पीछे से ऐसा होगा और पीछे ऐसे रहेगा। आहाहा! यह सब मिथ्यात्वभाव है, सब मिथ्यात्व की पुष्टि है। मिथ्या—विपरीत-विपरीत पुष्टि है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२३, गाथा-३७२ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण १
दिनांक - २९-०६-१९८०

समयसार, ३७२ गाथा। तीसरा पेराग्राफ है। अन्त में ऐसा आया कि कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। क्यों? कि मिट्टी कुम्हार को स्पर्श नहीं करती। मिट्टी कुम्हार को छूती नहीं। मिट्टी स्वयं से घटरूप परिणमति है। कुम्हार से घड़ा होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। कपड़ा बुनकर से नहीं होता। बुनकर कपड़ा बुनता है तो उस बुनकर से कपड़ा नहीं बुना जाता। कपड़ा अपने परिणाम से परिणमन करता हुआ कपड़ा उत्पन्न होता है। आहाहा! यह तो दृष्टान्त कहा।

इसी प्रकार... यह कुम्हार का दृष्टान्त दिया, **इसी प्रकार–सभी द्रव्य...** मूल पाठ है। **सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से (अर्थात् अपने परिणाम भावरूप से)...** उत्पन्न होते हैं। वाणी भी वाणी की पर्याय से उत्पन्न होती है, आत्मा से वाणी उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! शरीर चलता है, वह स्वयं की पर्याय से चलता है, आत्मा से नहीं चलता। आहाहा! ऐसी बातें। तृषा लगती है तो पानी को स्पर्श नहीं करता। आत्मा कलश को, बर्तन को स्पर्श नहीं करता और पानी अपने गले को स्पर्श नहीं करता। सर्व द्रव्य आये न? मूल पाठ है। '**अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पाद**' इसलिए सर्व द्रव्यों के परिणाम अपने (-अपने) से उत्पन्न होते हैं। आहाहा! दुनिया यह कब माने? कोई भी पदार्थ स्वयं से पर्याय में उत्पन्न होता है, पर से उत्पन्न नहीं होते।

यह कपड़ा बुनकर ने बनाया नहीं है और यह कपड़ा स्वयं की पर्याय से उत्पन्न होकर यहाँ आया है। आत्मा कपड़ा पहनता नहीं और आत्मा कपड़े को उतारता नहीं। आहाहा! यह प्रश्न चला था। चाँदमलजी के साथ बहुत वर्ष पहले (चला था)। ऐसा कि भगवान जब कपड़े उतारते हैं तो मुनि होते हैं। कहा, कपड़े को उतारे, वह आत्मा उतारता ही नहीं। कपड़ा स्वयं से उतरता है, आत्मा को निमित्त कहने में आता है। निमित्त पर को कुछ नहीं करता। चाँदमलजी थे न? उदयपुर... उदयपुर (वाले)। आये थे। ब्रह्मचर्याश्रम में रहते थे। यह वस्त्र उतारते हैं, भगवान दीक्षा लेते हैं तो वस्त्र उतारते हैं, नग्न होते हैं तो... कहा, ऐसा नहीं है। वह वस्त्र की पर्याय स्वयं से नीचे उतरती है। हाथ भी वस्त्र को स्पर्श

नहीं करता और वस्त्र को आत्मा स्पर्श नहीं करता और आत्मा वस्त्र को छूता नहीं। वस्त्र अपनी उतरने की योग्य पर्याय से उतरता है। पण्डितजी! ऐसी बात है। आहाहा!

प्रत्येक पदार्थ **इसी प्रकार–सभी द्रव्य...** कुम्हार का दृष्टान्त दिया कि कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं। क्योंकि घड़े की उत्पत्ति मिट्टी के स्वभाव से, घड़ा कुम्हार को स्पर्शे बिना, कुम्हार को छुए बिना अपनी पर्याय से घड़ा उत्पन्न होता है। आहाहा! दुनिया से तो विरुद्ध है। समझ में आया? यह खाने-पीने की चीज़ है, सब द्रव्य आये न? तो खाने-पीने की चीज़ भी आत्मा खा सकता है या आत्मा ले सकता है या आत्मा रोटी, चूरमा बना सकता है... आहाहा! यह कभी होता नहीं।

मुमुक्षु : चबाकर खाना पड़ता है, पेट में दाँत नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट में पेट की पर्याय उससे उत्पन्न होती है। कोई लोग कहते हैं, चबाकर खाना, पेट में दाँत नहीं है। चूरा करके खाना, क्योंकि पेट में दाँत नहीं है। सब झूठ बात है। प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक द्रव्य; घड़े का दृष्टान्त दिया कि घड़े का उत्पादक, कुम्हार नहीं है और वह मिट्टी कुम्हार को स्पर्श नहीं करती, इसी प्रकार सभी द्रव्य, कुम्हार की भाँति और घड़े की भाँति सभी द्रव्य, ऐसा लिया है। मूल पाठ है न? मूल पाठ है। '**सव्वदव्वा**' '**तम्हा दु सव्वदव्वा**' आहाहा! आत्मा पानी पी नहीं सकता, आत्मा आहार कर नहीं सकता, आत्मा आहार बना नहीं सकता, आत्मा पानी पी नहीं सकता। आत्मा कुएँ में से पानी निकाल नहीं सकता। आहाहा!

यह मकान बनानेवाला है, इससे मकान बना है—ऐसा है नहीं। मकान तो अपनी पर्याय से उत्पन्न हुआ है। देखो! **सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से...** स्वपरिणाम पर्याय से दो शब्द लिये हैं। अपने बदलते परिणाम की पर्याय से, ऐसी भाषा ली है। देखो! आहाहा! अभिमान-अभिमान में से निकलना कठिन काम है। आत्मा पुस्तक बना नहीं सकता। आत्मा एक अक्षर लिख नहीं सकता। अक्षर में तो अनन्त परमाणु है। अ... क... ख। अनन्त परमाणु का पिण्ड है। उसमें एक-एक परमाणु अपनी पर्याय से स्वतन्त्र परिणमता है, दूसरे परमाणु से भी नहीं। तो फिर दूसरे आत्मा से वे अक्षर बनते हैं, ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : तो फिर पत्र लिखना या नहीं लिखना?

पूज्य गुरुदेवश्री : लिख नहीं सकता न! लिखने की क्रिया जड़ की होनेवाली हो तो होती है, आत्मा कर सकता है, यह बात नहीं है। इसके लिये तो दृष्टान्त दिया है।

मुमुक्षु : ऐसा विचार करने से किसी भी कार्य की सिद्धि किस प्रकार होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : कार्य की सिद्धि अपने में होती है, पर का अहंकार उड़ जाता है। ऐसा विचार करने से, पर के काम मैं कर सकता हूँ - ऐसा अहंकार उड़ जाता है और मैं ज्ञानमूर्ति हूँ, जाननेवाला हूँ, मैं तो जाननेवाला हूँ, ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। धर्म की पहली सीढ़ी।

मुमुक्षु : पुरुषार्थ हीनता का दोष आ जाएगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य में पुरुषार्थ बिल्कुल काम नहीं करता। पुरुषार्थ अपने में काम करता है। यह तो चलता है। राग-द्वेष करता है, वह स्वयं से होते हैं, कर्म से बिल्कुल नहीं। और राग-द्वेष का नाश भी स्वयं से होता है। कर्म का अभाव होवे तो राग-द्वेष का अभाव हो, ऐसा है नहीं। ऐसी बात है, भाई! जगत से उल्टा है। आहाहा!

सभी द्रव्य... यह कुम्हार का तो दृष्टान्त दिया। कुम्हार को मिट्टी स्पर्श नहीं करती, इसी प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं। आहाहा! आया न? स्पर्श नहीं, ऐसा आया है। कुम्हार को मिट्टी स्पर्श नहीं करती। आहाहा! यह तीसरी गाथा में आया है, एक भी पदार्थ, सर्व जितने पदार्थ भगवान ने अनन्त देखे हैं, उन पदार्थ में अपनी शक्ति-गुण और पर्याय है, उसे वह चूमता है, उसे स्पर्श करता है। अपने को छोड़कर दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, नहीं चूमता, स्पर्श नहीं करता। आहाहा! इस शरीर के ऊपर हाथ फिराना, उसे आत्मा नहीं कर सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात है, भाई!

प्रत्येक पदार्थ अपने स्वपरिणामपर्याय से, अपने परिणाम की पर्याय से (उत्पन्न होता है)। आहाहा! यह कुम्हार का, घड़े का तो एक दृष्टान्त दिया। आहाहा! लिपिकार लिपि बना नहीं सकता, अक्षर बना नहीं सकता, पुस्तक आत्मा बना नहीं सकता, पुस्तक से अपने में ज्ञान नहीं होता। आहाहा! क्योंकि ज्ञान उसे स्पर्श नहीं करता और वह अपनी ज्ञान की पर्याय को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! ऐसी कठिन बात है।

यह बात तो हमारे (संवत्) १९७२ से चलती है। ७२.. ७२, कितने वर्ष हुए? ६४

वर्ष पहले से यह बात चलती है। स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे न ? हम तो तब से कहते थे। किसी द्रव्य का कोई द्रव्य कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! किसी को नहीं जँचता था, विरोध भी करते थे। यह कर सकते हैं, यह हिलाया न! क्या हिलाया ? तुझे कहाँ खबर है ? वह जड़ की पर्याय (उससे होती है)।

(यहाँ) दो भाषा ली है कि कुम्हार घड़े का उत्पादक नहीं है। क्यों ? कि मिट्टी अपने स्वभाव से, घड़ा बनने के स्वभाव से बनता है और कुम्हार को स्पर्श नहीं करती। **इसी प्रकार**... इस दृष्टान्त से **सभी द्रव्य**... आहाहा! क्या बाकी रहा इसमें ? देवीलालजी! चश्मे को आत्मा स्पर्श नहीं करता। यह चश्मा नाक के ऊपर रहा नहीं। चश्मा अपने में अपने से रहा है। क्योंकि यह अनन्त परमाणु का पिण्ड है और एक-एक परमाणु में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ऐसी छह शक्ति का पिण्ड है। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक द्रव्य कर्ता, अपनी पर्याय का कर्ता, अपनी पर्याय का कार्य, अपनी पर्याय का साधन, अपनी पर्याय करके रखना, अपने से पर्याय उत्पन्न होना और पर्याय के आधार से पर्याय उत्पन्न होती है। आहाहा! कभी सुनी नहीं, ऐसी बात है। बहुत सूक्ष्म बात है। समझ में आया ? तुम बाद में आये, इसलिए हिन्दी चलती है। यहाँ तो पहले से गुजराती में शुरु हो गया है। आहाहा! विजय गया या विजय है ? नहीं। नहीं। यह नहीं। दीपचन्द सेठिया का विजय आया है न! गया लगता है। आहाहा! सुमनभाई!

मुमुक्षु : समझनेवाला, जाननेवाला तो कायम टिकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाननेवाला तो कायम रहता है। परन्तु यह जाननेवाला कायम टिकता है, आत्मा भी जानकर टिकता है। और परद्रव्य अपनी पर्याय से टिकता है। क्या कहा ? फिर से, आत्मा जानकर टिकता है। जानना... जानना... जानना करके नित्य रहता है। और परपदार्थ स्वयं की पर्याय से रहता है। कोई किसी की पर्याय, किसी की दशा, किसी द्रव्य का कोई कार्य तीन काल में दूसरा द्रव्य नहीं कर सकता। किसी द्रव्य का कार्य कहो, पर्याय कहो, परिणाम कहो, अवस्था कहो। कोई द्रव्य का कार्य...

मुमुक्षु : सुमनभाई सेठ का काम नहीं करे तो वेतन किसका देगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेतन कोई देता नहीं और कोई वेतन लेता नहीं। पैसा उसके

कारण से जाता है और उसके कारण से आता है। आत्मा के कारण से आता नहीं और आत्मा के कारण से जाता नहीं। आत्मा पैसे को छूता नहीं तो पैसे को लाना, आना, वह अपने से नहीं है। उसकी पर्याय... दो आया न?

सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से... भाषा देखी? स्वपरिणामपर्याय। अपने परिणाम की पर्याय से उत्पन्न होता है। आहाहा! भाषा ऐसी नहीं की कि सभी द्रव्य स्वपरिणाम से उत्पन्न होते हैं, सब द्रव्य पर्याय से उत्पन्न होते हैं। सब द्रव्य परिणामपर्याय से, ऐसी भाषा की है। उसका भाव, उसकी पर्याय, उसकी दशा। जड़ की जड़ में, चैतन्य की चैतन्य में। कठिन बात है, भगवान!

मुमुक्षु : अपने चेतन में कुछ भाव करे तो कार्य सिद्ध हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं, बिल्कुल झूठ है। अपना ज्ञाता-दृष्टापने का कार्य करे तो अपने कार्य की सिद्धि—मुक्ति हो, इतना। जानने-देखने का कार्य करे, राग-द्वेष न करे, पर का अभिमान न करे, पर के कार्य मैं कर सकता हूँ। तीन काल में किसी परद्रव्य का कार्य नहीं कर सकता, मुझमें राग आता है, वह भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला हूँ, ऐसा उसमें स्थिर होता है, रहता है, तब उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है। तत्पश्चात् उसमें स्थिर हो तो चारित्र होता है। सम्यग्दर्शन होने के बाद। परन्तु इस सम्यग्दर्शन में भी मैं किसी द्रव्य का कर्ता नहीं, मैं किसी का कर्ता नहीं। मैंने शिष्य बनाये और दूसरे को मैंने सुनाया, उससे ज्ञान हुआ, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है।

मुमुक्षु : इसीलिए घर में झगड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी ने बनाया नहीं। आहाहा! यह क्या कहते हैं? देखो न! कुम्हार का दृष्टान्त देकर सभी द्रव्य। अन्तिम कुम्हार का दृष्टान्त दिया न? **कुम्हार घड़े का उत्पादक है ही नहीं;...** है ही नहीं। अन्तिम दो लाईनें। **मिट्टी ही, कुम्हार के स्वभाव को स्पर्श न करती हुई...** आहाहा! मिट्टी कुम्हार को छूती नहीं, स्पर्शती नहीं। **अपने स्वभाव से कुम्भभावरूप से उत्पन्न होती है।** कुम्भभाव, कुम्भरूपी भाव, कुम्भरूपी पर्याय, घड़ेरूपी भाव, घड़ेरूपी पर्याय, घड़ेरूपी परिणाम, घड़ेरूपी परिणामपर्याय की कर्ता मिट्टी है; कुम्हार नहीं। आहाहा! तो अभी तक यह क्या किया? अभिमान... अभिमान। आहाहा!

आत्मा तो जानने-देखने का कार्य करनेवाला है। वह जानने-देखने का कार्य पर के कारण से नहीं। अपने स्वभाव में ज्ञान और दर्शन भरे पड़े हैं तो अपना अपने से और पर का, पर की अपेक्षा रखे बिना, अपना ज्ञान स्वयं करता है और पर का ज्ञान पर की अपेक्षा रखे बिना करता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतरागमार्ग... ओहोहो! पर का जानना भी पर की अपेक्षा रखे बिना... पर का करना तो नहीं, परद्रव्य का कर्ता या भोक्ता तो नहीं परन्तु परद्रव्य का जाननेवाला है, यह भी पर के कारण से नहीं। अपने में जानने की ताकत स्वयं के कारण से होने से अपने में अपने को जानता है और परसम्बन्धी अपना ज्ञान है, उस अपने ज्ञान को जानता है। पर को जानता है, ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! बड़ा विवाद है। सुमनभाई! कुछ कर नहीं सकते। बहियों का नामा (लिख नहीं सकते)।

हम भी नामा लिखते थे। हमारी पालेज में दुकान थी। हमने भी पाँच वर्ष दुकान चलायी थी, परन्तु सब अभिमान। मैं करता हूँ, मैं करता हूँ, मैं करता हूँ और हमारी दुकान का नामा मैं लिखता था। ऐसे पैसे आये और ऐसे गये। परन्तु यह तो (संवत्) १९६३ से १९६८। तुम्हारे जन्म के पहले। संवत् १९६३ से १९६८, पाँच वर्ष। १९६८ से दुकान छोड़ दी। दुकान है, बड़ी दुकान है। अभी चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है। घर की बड़ी दुकान है। आहाहा! परन्तु एक पाई भी आत्मा ला सके और पैदा कर सके, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा! आत्मा दूध और चाय पी सकता है या नहीं?

मुमुक्षु : तो उसका भाव क्यों आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव तो अज्ञानी को राग आता है। राग स्वयं से होता है, इसके लिये तो बात करते हैं। राग स्वयं से होता है, कर्म से नहीं, परचीज़ से नहीं। इस पर से नहीं, स्वयं से होता है। अपने में अपना मानता है और मैं कर सकता हूँ, इस कारण से अभिमान और राग उत्पन्न होता है। आहाहा! पर का कर सकता नहीं। आहाहा! और अपना काम दूसरा कर सकता नहीं। अपना काम... आहाहा! गुरु अपने (शिष्य का) मोक्ष नहीं कर सकता। गुरु (शिष्य को) सम्यग्दर्शन नहीं दे सकता। आहाहा! तथापि कल आया था कि गुरु के मुख्य वचन मुक्ति के....

मुमुक्षु : गुरु के वचन...

पूज्य गुरुदेवश्री : वे स्वयं से हैं, उनसे नहीं, गुरु के कारण से नहीं। स्वयं समझ में ले तो। गुरु ने कहा, उसके कारण से नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

यहाँ तो कुम्हार का दृष्टान्त दिया। अमृतचन्द्राचार्य मुनि ने कुम्हार का दृष्टान्त देकर बड़ी बात की है कि कुम्हार मिट्टी को स्पर्श नहीं करता, मिट्टी कुम्हार को स्पर्श नहीं करती और मिट्टी के अपने परिणामपर्याय से घड़ा उत्पन्न होता है, कुम्हार के कारण से बिल्कुल नहीं। उसी प्रकार... ऐसा आया न? यह दृष्टान्त आया न? **इसी प्रकार-सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से...** आहाहा! महासिद्धान्त। सभी द्रव्य। कोई भी परमाणु, कोई भी निगोद का आत्मा, लहसुन और प्याज में आत्मा है तो कर्म के कारण से वहाँ है, ऐसा नहीं। वह अपनी पर्याय के अपराध से वहाँ है, स्वयं के कारण से वहाँ रहे हैं। कर्म के कारण से वहाँ हैं, ऐसा है ही नहीं।

आत्मा अज्ञान से राग-द्वेष करे तो कर्मबन्धन होता है, ऐसा नहीं है। कर्मबन्धन कर्मबन्धन के कारण से होता है। इसने राग-द्वेष किया, इसलिए कर्मबन्धन हुआ, ऐसा है नहीं। कर्म की पर्यायरूप से परमाणु होनेवाले थे, उससे कर्मपर्याय हुई है। जीव ने राग-द्वेष किये तो कर्मपर्याय हुई है, ऐसा है नहीं। दुनिया से अलग बात है, भाई! एक-एक बात खोटी है। अहंकार मिथ्यात्व का चलता है। आहाहा! क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : सबको हेय करते-करते शुद्धात्मा का स्वरूप पहिचान में आ जाएगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को पूछने का है? यह तो स्वयं से अपने में आता है। किसी को पूछना नहीं पड़ता। मैं पर का कर्ता नहीं, मैं तो अपनी पर्याय का कर्ता हूँ, ऐसा जब निर्णय होता है तो पर्यायदृष्टि छूटकर द्रव्यदृष्टि होती है, तब इसे सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी होती है, इतनी शर्त है। मैं पर का बिल्कुल कर्ता नहीं और पर से मुझमें कुछ होता नहीं, फिर अपनी पर्याय में जो राग-द्वेष होते हैं, वे भी अपनी द्रव्यदृष्टि से जब राग-द्वेष टालता है, तब नाश होते हैं। आहाहा! पण्डितजी! ऐसी बात है। आहा!

यहाँ तो कुम्हार का दृष्टान्त कठोर पड़े। ऐसा कि कुम्हार के बिना घड़ा बनेगा? कुम्हार के बिना घड़ा हो जाएगा? स्त्री के बिना रोटी हो जाती है? पुरुष के बिना नामा लिख

जाता है ? नामा लिखनेवाला होशियार मनुष्य हो तो कलम से बराबर लिखे, (यह सब) मिथ्या बात है, बिल्कुल खोटी बात है। कलम से अक्षर नहीं लिखे जाते और कलम को हाथ हिलाता नहीं और हाथ को आत्मा हिलाता नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। सर्वत्र से कर्ताबुद्धि हटाकर अपने में से राग-द्वेष हटाकर दृष्टि द्रव्य पर करने से धर्म—सम्यग्दर्शन होता है, बाकी इसके बिना कभी नहीं होता। और इस सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र तीन काल में नहीं होता। नग्न हो गये, पंच महाव्रत हैं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

पर का कर्ता होता है और पर को अपनी पर्याय का कर्ता मानता है, तब तक तो वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि नहीं तो मुनि तो कहाँ से होगा? आहाहा! मुनि नाम धराकर पंच महाव्रत के परिणाम का आस्रव होता है, उसका कर्ता होता है तो वह मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि महाव्रत के परिणाम आस्रव हैं; आस्रव दुःखदायक है; दुःखदायक का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? दुनिया से अलग प्रकार है और उसमें भी यह ३७२ गाथा तो अलौकिक गाथा है। आहाहा! और आचार्य ने टीका कैसी की है! हमने तुझसे कहा कि, कुम्हार से घड़ा उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि मिट्टी घड़े को स्पर्श करती है, मिट्टी कुम्हार को स्पर्श नहीं करती; इस कारण से कुम्हार से घड़ा उत्पन्न नहीं होता, घड़ा अपने उस समय के घड़ा होने के परिणामपर्याय से, मिट्टी का पिण्ड था उसमें घड़ा होने की पर्याय का काल था तो घड़ा हुआ है। इसी तरह सभी द्रव्य। यह तो एक दृष्टान्त दिया। आहाहा!

जगत में किसी पड़ी है? कहाँ जाएगा मरकर? देह छूट जाएगी। देह तो २५-५० वर्ष है और ५० वर्ष निकले, उसे (अब) ५० वर्ष तो निकलनेवाले नहीं हैं। १०० वर्ष का आयुष्य तो किसी-किसी को होता है। और देह छोड़कर परलोक में जाएगा तो कहाँ जाएगा? कहाँ जाएगा, इसका पता नहीं। दृष्टि की खबर नहीं। दृष्टि में सम्यक्ता नहीं, दृष्टि राग-द्वेष का अभाव नहीं। मैं राग-द्वेष का कर्ता नहीं, वैसे पर भी राग-द्वेष का कर्ता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जब मिट्टी में से घड़ा होता है तो उस समय कुम्हार का भाव क्या रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुम्हार का भाव, 'मैं करता हूँ', यह अभिमान रहा। मैं घड़ा करता हूँ, ऐसा अभिमान—अहंकार उसके पास रहा। कुम्हार के पास अहंकार रहा। यह

आया न ? कल आया था न ? कल आया। अहंकार आया था न ? दूसरे पेराग्राफ की दूसरी लाईन। **जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष...** है ? यह कल आया था। आहाहा! **जिसमें घट को बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है...** यह पुरुष विद्यमान है, परन्तु इससे घड़ा नहीं बनता। आहाहा! अभी तक यह दुकान चलायी, यह सब किया, पैसा इकट्ठा किया... आहाहा!

मुमुक्षु : इसे समझने के लिये दूसरा कोई दृष्टान्त है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दृष्टान्त दिया न ? यह अपने परिणाम से उत्पन्न ऊँचा होता है, अँगुली से नहीं। अँगुली की पर्याय से भी यह पर्याय उत्पन्न नहीं होती। वह भिन्न चीज़ है, यह भिन्न चीज़ है। भिन्न चीज़ से भिन्न चीज़ की पर्याय में कुछ नहीं होता। यह दृष्टान्त। दियासलाई... दियासलाई। क्या कहते हैं ? बीड़ी पीते हैं तो बीड़ी पी नहीं सकता। बीड़ी को छूता भी नहीं। अग्नि बीड़ी को स्पर्श नहीं करती। अग्नि बीड़ी को छूती नहीं और बीड़ी को आत्मा स्पर्श नहीं करता।

मुमुक्षु : बीड़ी सुलगी कैसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी पर्याय हुई न! सब द्रव्य अपने परिणामपर्याय से, अपने परिणामपर्याय से। आहाहा! कठिन बात है, भाई! आहाहा! एक करवत से लकड़ी के दो टुकड़े होते हैं, ऐसा नहीं है। उस लकड़ी में दो टुकड़े होने के परिणामपर्याय होनेवाली थी तो उससे हुए हैं, करवत से नहीं। करवत समझ में आता है न ? करवत। आहाहा! ऐसी बात है। चश्मा चढ़ाया, इसलिए देख सकते हैं और पहले नहीं दिखता था, ऐसा नहीं है। इससे इनकार करते हैं। आहाहा! यह तो अपने परिणाम से पर्याय उत्पन्न हुई है। आहाहा!

मुमुक्षु : चश्मे को छूने जाए तो टूट जाएगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : चश्मा अपने को छूता ही नहीं न! हाथ भी स्पर्श नहीं करता। उसके कारण से आया है। उसकी परिणामपर्याय से यहाँ आया है। नाक के ऊपर भी रहा नहीं। वह अपने आधार से रहा है, नाक के आधार से भी रहा नहीं।

मुमुक्षु : तो फिर उसकी जरूरत क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरूरत कौन कहता है ? यह मानता है और लेता है, परन्तु उसमें

अभिमान करता है कि मैंने लिया और उसने लिया और मैंने उससे देखा। यह मिथ्या अभिप्राय है। मैंने लिया और मैंने उससे देखा। यह सब मिथ्या अभिप्राय है। उससे मैंने अक्षर देखे। यह अक्षर देखे तो मुझे ज्ञान हुआ, यह भी मिथ्या अभिप्राय है। किसी द्रव्य की पर्याय किसी द्रव्य के परिणाम पर्याय से उत्पन्न नहीं होते। भाषा दो ली है।

इसी प्रकार–सभी द्रव्य... सभी द्रव्यों में कौन बाकी रहा? खाना, पीना, चलना, बोलना, हँसना, रोना। आहाहा! सोना, जागना, बिस्तर करना... आहाहा! बिस्तर आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! आत्मा पुस्तक हाथ में ले नहीं सकता। होता है, जानता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! दुनिया को कहाँ पड़ी है? कि मेरा क्या होगा? यहाँ से देह छोड़कर कहाँ जाऊँगा? मैं तो अनादि सत्ता चीज़ हूँ। अनादि सत्ता शाश्वत् हूँ। यह शरीर छूटेगा तो कहाँ जाऊँगा? रहेगा तो सही, तो कहाँ जाएगा? कुछ खबर नहीं। मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया... और ऐसा किया, (ऐसे) अभिमान में रहकर पशु होता है। पशु... पशु... भैंस और पाड़ा, कौवा और कुत्ता होता है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! वह भी माँस और अण्डा न खाता हो तो। माँस और अण्डा खानेवाला तो नरक में जाता है।

वास्तव में तो... और यह याद आया, जैन नाम धरानेवाले को रात्रिभोजन नहीं होता। पण्डितजी! जैन को रात्रिभोजन नहीं होता। रात्रिभोजन में माँस आता है। पानी भी नहीं। हमारे तो (संवत्) १९६५ के वर्ष से रात्रि के आहार-पानी का त्याग है। १९६५ के वर्ष। कितने वर्ष हुए? ७१ वर्ष हुए। पानी नहीं, आहार नहीं, दवा नहीं, बिल्कुल कुछ नहीं, रात्रि में बिल्कुल कोई चीज़ नहीं। दुकान चलाते थे, तब भी रात्रि में कुछ नहीं लेते थे। आहाहा! रात्रिभोजन में, गरम कढ़ी... कढ़ी कहते हैं न? कढ़ी, खिचड़ी, भात, गरम मूँग की दाल खाये तब बारीक-बारीक जीवांत होती है। छोटी जीवांत होती है, इसलिए प्रकाश में दिखती नहीं। वह खुराक (नहीं ली जाती)। मेरे साथ ऐसा हुआ था। माल लेने गये थे। वहाँ शाम पड़ गयी, अन्धेरा हो गया। जीमने बैठे। खिचड़ी या कढ़ी ऐसा कुछ था। उसमें दीपक से देखा कि इसमें तो जीव पड़े हैं, बारीक जीवांत आती है। यह तो माँस का भोजन है। जैन को रात्रिभोजन नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार अथाणा। अथाणा में भी बहुत जीवांत पड़ती है, बहुत जीवांत पड़ती है। नमक के पानी में केरी, गुंदा, गुवार

रखते हैं। खारे पानी में जीव उत्पन्न होते हैं। यह भी नहीं होना चाहिए। इसका भी मुझे अनुभव हुआ था। तब ७१ वर्ष पहले। हम भोजन करने बैठे थे। अथाणा लाये। मैं देखने गया अथाणा कहाँ से लाये? हम ३०-३२ व्यक्ति थे। दो बरनियाँ भरी हुई। मैंने ऐसा जहाँ देखा वहाँ कंथवा। ऊपर का कपड़ा गन्दा होता है न? कपड़ा गन्दा हो जाता है। बारीक कंथवा। वे कंथवा अन्दर गिरे। वह अथाणा लावे। उस अथाणा का खुराक जैन को नहीं होता। उसे खा नहीं सकता परन्तु इसका भाव है न? भाव, यह मिथ्याभाव है। आहाहा! खाने की, पीने की क्रिया तो भिन्न है परन्तु इसका भाव है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! यहाँ तो बहुत वर्ष से (यह अभ्यास है)। जिन्दगी में पाँच वर्ष व्यापार किया है, बाकी (अभी) ९१ वर्ष हुए हैं। ९० और १। १०० में ९ कम। यह पूरी जिन्दगी देखा है, ऐसा ही देखा है। ओहो!

यहाँ आचार्य महाराज टीका में कहते हैं, हों! आहाहा! यह टीका है। टीका में दो पेरेग्राफ हो गये हैं, यह तीसरा पेरेग्राफ (चलता) है। कुम्हार घड़े का कर्ता नहीं है, मिट्टी कुम्हार को स्पर्श नहीं करती। **इसी प्रकार-सभी द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से (अर्थात् अपने परिणाम भावरूप से)...** पर्याय अर्थात् पश्चात् भाव लिये। अपने परिणामरूपी भाव। प्रत्येक आत्मा या प्रत्येक परमाणु अपने परिणामरूपी भाव, (उससे) उत्पन्न होता है। अपने परिणामरूपी भाव से उत्पन्न होता है, पर से नहीं। आहाहा!

उत्पन्न होते हुए, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं... निमित्तभूत द्रव्य हो, उसके स्वभाव से उत्पन्न होता है? **उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभाव से?** प्रत्येक पदार्थ, निमित्त जो दूसरी चीज़ है, उसकी पर्याय से परिणाम उत्पन्न होता है या परिणाम अपने से होता है? परिणाम—पर्याय अपने से होती है, निमित्त से नहीं। आहाहा! वीतराग मार्ग परमेश्वर केवली का बहुत सूक्ष्म मार्ग। आहाहा! उसमें यह सब द्रव्य, कोई द्रव्य दूसरे को स्पर्श नहीं करता। गजब बात है। यह माने कौन?

पानी अग्नि से गर्म नहीं होता। क्योंकि जल को अग्नि स्पर्श नहीं करती। आहाहा! और पानी गर्म होता है, वह स्वयं से होता है। अपने परिणामपर्याय भाव से उत्पन्न होता है। पानी ठण्डे में से गर्म स्वयं के भाव, परिणामपर्याय से उत्पन्न होता है; अग्नि से नहीं।

आहाहा! ऐसी बात। पूरे दिन कर्ता के अभिमान (करे), मैं करूँ... मैं करूँ... मैं करूँ... उसे यह बात कठिन पड़ती है। भाई! मार्ग ऐसा है। परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का यह फरमान है और यह फरमान न्याययुक्त है। सर्व द्रव्य जब स्वतन्त्र है, तब सर्व द्रव्य, पर्याय बिना का रहता नहीं। कोई भी पदार्थ पर्याय बिना का रहता नहीं। वह पर्याय बिना का नहीं तो उसकी पर्याय दूसरा करे, यह कैसे बने? आहाहा! भगवान कहते हैं, वह तो ठीक है परन्तु सर्व द्रव्यों के अपने परिणाम-पर्याय बिना होते नहीं। परिणाम-पर्याय उस समय में उससे हुई है। दूसरे द्रव्य से परिणाम-पर्याय उत्पन्न नहीं हुई। आहाहा! विचार माँगता है, भाई! बहुत विचार माँगता है। आहाहा!

कहते हैं कि **निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं कि अपने स्वभाव से? यदि निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न होते हों तो उनके परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के होने चाहिए।** अन्य द्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हों तो अन्य द्रव्य के स्वभावरूप होना चाहिए। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक पदार्थ अपने परिणाम से उपजता न हो और पर से उत्पन्न होता हो तो पर का स्वभाव उसमें घुस गया। पर के स्वभाव से उत्पन्न हो, ऐसा कभी नहीं होता। पर का स्वभाव कभी पर में नहीं जाता। आहाहा!

यह गाथा भारी कठिन है। कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं (कहते हैं), '**अण्णदविएण अण्णदवियस्स**' पाठ है न? '**अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरए गुणुप्पाओ**' पर्याय का उत्पाद। '**तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण**' इसमें क्या बाकी रहा? आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा है। वे तो महा दिगम्बर मुनि, भगवान के पास गये थे, आठ दिन रहे थे। भगवान विराजते हैं। अरबों वर्ष का आयुष्य है। प्रभु का करोड़पूर्व का आयुष्य है। प्रभु समवसरण में विराजते हैं। करोड़ पूर्व का आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख छप्पन हजार वर्ष जाते हैं। आहाहा! इतने अरबों वर्ष से भगवान हैं और अरबों वर्ष रहेंगे। कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले गये थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं।

अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य का उत्पाद नहीं होता। यह सिद्धान्त। अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की पर्याय उत्पन्न नहीं होती, अतः सर्व द्रव्य अपनी पर्याय से उस क्षण में, उस समय में उत्पन्न होते हैं। आहाहा! गजब बात! तो पहले क्यों नहीं हुई? लकड़ी के टुकड़े पहले

क्यों नहीं हुए ? और रोटी के टुकड़े रोटी पड़ी थी, तब क्यों नहीं हुए ? नहीं हुए, यह क्या प्रश्न ? उस समय रोटी का भाव वह था। मुँह में आयी तो उसके भाव की पर्याय वह हुई। वह स्वयं से हुई है। दाढ़ से भी रोटी के दो टुकड़े नहीं हुए। यदि दाढ़ से होते हों तो दाढ़ का स्वभाव, दाँत का स्वभाव रोटी में आना चाहिए, दाँत का स्वभाव रोटी में आना चाहिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! साधारण प्राणी को तो, पूरे दिन काम करे, अहंकार... अहंकार... अहंकार... और यहाँ कहे, एक कदम भी भरता है, वह तुझसे नहीं। वह तो जड़पर्याय, मिट्टी या धूल अपनी पर्याय से उत्पन्न होती है। परिणामपर्याय। उस परमाणु की परिणामरूपी पर्याय से वह उत्पन्न होती है। आहाहा!

दाल पानी में चढ़ती है तो कहते हैं कि पानी से नहीं (चढ़ती)। यह दाल... दाल। पानी से नहीं। पानी दाल को स्पर्श नहीं करता; ये दाल के परमाणु अपने परिणाम से उस समय की पर्यायरूप उत्पन्न होते हैं अपने परिणाम से। यदि पानी से होता हो तो पानी यहाँ आना चाहिए। उसमें पानी का स्वभाव घुस जाना चाहिए। पानी से भी दाल चढ़ती (सीझती) नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : सब अभिमान छूट जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान छूट जाए। आहाहा!

उनके परिणाम निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के आकार के होने चाहिए। परन्तु ऐसा तो नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य के स्वभावरूप से किसी द्रव्य के परिणाम का उत्पाद दिखायी नहीं देता। आहाहा! कुम्हार से घड़ा उत्पन्न होता है, ऐसा दिखायी नहीं देता। आहाहा! अग्नि से पानी गर्म होता है, ऐसा दिखायी नहीं देता। स्त्री से दाल, भात, रोटी हुए हैं, ऐसा दिखायी नहीं देता, यह यहाँ कहते हैं। आहाहा! **जबकि ऐसा है तो सर्व द्रव्य निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं...** आहाहा! गाथा बहुत (ऊँची है)। सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि यह है। कोई द्रव्य किसी निमित्तभूत द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। **परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं...** आहाहा! प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से उत्पन्न होता है। उस-उस समय में वह परिणाम उस-उस परिणाम के स्वभाव से उत्पन्न होता है। पहले

क्यों नहीं हुआ ? पहले दूसरा था, इस समय तीसरा हुआ। जिस समय में उत्पन्न होनेवाला है, उस समय में उत्पन्न होता है; पर से नहीं। आहाहा!

दाल को घड़े में रखे तो सीझती है ? पानी में डाले तो सीझती है। ऐसा है ही नहीं। उसन दाल के परमाणुओं की सीझने की पर्याय अपने में से उत्पन्न होने की थी तो वहाँ (पानी) आया। पानी से उत्पन्न हुई नहीं। आहाहा! चावल और खिचड़ी...

मुमुक्षु : पानी निमित्त तो हुआ न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त का अर्थ क्या ? निमित्त एक चीज़ है, उससे हुआ नहीं। निमित्त का अर्थ विद्यमान चीज़ है। यह तो पहले कह गये। विद्यमान वस्तु है। समझ में आया ? विद्यमान होने पर भी उससे होता नहीं। विद्यमान तो अनन्त विद्यमान है। जगत में पदार्थ तो अनन्त विद्यमान है। उसमें एक पदार्थ के परिणाम को अनन्त विद्यमान पदार्थ अनन्त परिणाम करते हैं ? एक द्रव्य यदि करे तो दूसरा द्रव्य करे, तो तीसरा करे, ऐसे अनन्त करे। तो अपने भाव की सत्ता तो रही नहीं। अपना उस समय का भाव और पर्याय करने की ताकत तो रही नहीं। आहाहा! ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : ऐसी भावना करने से संसार में झगड़ा उत्पन्न हो जाएगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार में से झगड़े का नाश होता है। भाई! संसार का नाश हो जाता है। चार गति में भटकना बन्द हो जाता है। आहाहा! झगड़ा बन्द हो जाता है।

परन्तु अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है। आहाहा! क्या कहा ? प्रत्येक द्रव्य के अपने स्वभाव से, **अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है।** आहाहा! आचार्य कहते हैं, हमें तो यह देखने में आता है। पानी अग्नि से गर्म हुआ, ऐसा तो देखने में आता नहीं। पानी स्वयं से गर्म हुआ है, ऐसा हमें दिखाई देता है। आहाहा!

वीतराग मार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिकाल ज्ञानी परमात्मा ने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे। उनकी शैली अलौकिक है। ऐसा कोई मार्ग जगत में है ही नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कही, ऐसी चीज़ कहीं है ही नहीं। बाकी सबने गप्प और कल्पना की है। आहाहा! ऐसी बात सुनते हुए अन्यमति को ईश्वरकर्ता, ईश्वरकर्ता और ईश्वर के बिना पत्ता

नहीं हिलता, ऐसा वे लोग बोलते हैं। यहाँ कहते हैं, पत्ता हिलता है, वह स्वयं से हिलता है, ईश्वर से नहीं और दूसरा हाथ लगाता है, उससे भी नहीं।

हम संसार में थे न? वहाँ गढडा गाँव था, वहाँ स्वामीनारायण का बड़ा मन्दिर है। वहाँ गये थे। उन साधु लोगों को खबर कि यह दीक्षा लेनेवाले हैं। इसलिए वे बोले कि ईश्वर के बिना पत्ता हिलता नहीं। एक-एक परमाणु स्वयं ईश्वर है। पत्ते में तो अनन्त परमाणु हैं। एक-एक परमाणु अनन्त गुण का ईश्वर है। अपनी ईश्वरता पर से लेता है, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! अभी तो यह बड़ी गड़बड़ चली है। आहाहा!

क्योंकि (द्रव्य के) अपने स्वभावरूप से द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखने में आता है। ऐसा होने से, सर्व द्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन न करते होने से,... लो, ठीक! सर्व पदार्थ अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। उल्लंघन नहीं करते। आहाहा! **सर्व द्रव्य अपने स्वभाव को उल्लंघन न करते होने से, निमित्तभूत अन्य द्रव्य अपने (अर्थात् सर्व द्रव्यों के) परिणामों के उत्पादक हैं ही नहीं;...** निमित्तभूत चीज़ उसकी उत्पादक है ही नहीं। निमित्त है, निमित्त विद्यमान है, परन्तु निमित्त से पर में कुछ होता है—ऐसी बात नहीं है। निमित्त वस्तु नहीं है, ऐसा नहीं है। निमित्त है। उपादान और निमित्त दोनों चीज़ें हैं। काम उपादान से होता है, निमित्त से नहीं। निमित्त भी उसका उपादान है न? इसकी अपेक्षा से उसे निमित्त कहा जाता है, परन्तु निमित्त स्वयं अपनी अपेक्षा से उपादान है, तो उसकी पर्याय उसके कारण से होती है। इसकी पर्याय इसके कारण से यहाँ होती है।

मुमुक्षु : वह कार्य हो जाने के बाद निमित्त क्यों पृथक् पड़ जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा निमित्त है। वह निमित्त छूट जाता है, दूसरी पर्याय में दूसरा निमित्त आता है। उस निमित्त से होता नहीं। निमित्त बदल जाता है। पहले रोटी थी, वह थाली में आयी, परन्तु रोटी बदल गयी है? पर्याय बदली, वह तो स्वयं से बदली है।

सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए,... भाषा देखो! यह बहुत अलौकिक बात है। तीसरी गाथा का अर्थ। कोई द्रव्य किसी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली कागज को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! गोंद कागज को स्पर्श नहीं करता, कील लकड़ी में नहीं घुसती। कीली कहते हैं न? कील होती है न? वह

हथौड़े द्वारा अन्दर घुस नहीं गयी। अन्दर छिद्र पड़ा, वह कीली से छिद्र नहीं पड़ा। लकड़ी के परिणाम की पर्याय उत्पन्न होने के काल में वैसा ही होता है। निमित्त की उपस्थिति हो परन्तु निमित्त से होता नहीं। आहाहा!

सर्व द्रव्य ही, निमित्तभूत अन्य द्रव्यों के स्वभाव को नहीं स्पर्शते हुए, ठीक! कोई द्रव्य किसी द्रव्य को स्पर्श नहीं करते हुए, आहाहा! स्पर्श नहीं करते, ऐसा कहते हैं। कोई द्रव्य स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली उसे स्पर्श नहीं करती। आहाहा! है? अन्य द्रव्यों के स्वभाव को नहीं स्पर्शते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणामभाव से अपने में होता है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामभाव से उत्पन्न होता है। पर को स्पर्श नहीं करता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२४, गाथा-३७२, श्लोक - २२०-२२१ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण २
दिनांक - ३०-०६-१९८०

समयसार, (३७२ गाथा के) भावार्थ के ऊपर की दो लाईनें हैं। भावार्थ है न? **इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि)...** किसलिए? अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य का स्पर्श नहीं होता। ऊपर कहा न? **निमित्तभूत अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए,...** कुम्हार घड़े को, मिट्टी को नहीं स्पर्शता हुआ। **इसलिए...** ऐसे सभी द्रव्य। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता इसलिए। यह कारण रखा। आहाहा! सब द्रव्य अपनी पर्याय में अपने से उत्पन्न होते हैं। निमित्त हो, परन्तु निमित्त से उत्पन्न नहीं होते।

इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (–मानते)... भावार्थ के ऊपर दो लाईनें है न? भावार्थ के ऊपर। वे बाकी थी। पहले आ गया था कि, सब द्रव्य स्वपरिणामपर्याय से उत्पन्न। यहाँ आया कि **इसलिए...** इस कारण से। इस कारण का अर्थ (यह कि) कुम्हार मिट्टी को स्पर्श नहीं करता, इसी प्रकार कोई भी द्रव्य...। ओहोहो! परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता, एक परमाणु आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आत्मा परमाणु को स्पर्श नहीं करता, आत्मा दूसरे आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी वस्तु की मर्यादा है। इसलिए, इस कारण से। ऐसा होता है और ऐसा है, इस कारण से। **हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (–मानते) कि जिस पर कोप करें।** सिद्धान्त कहा, कि परद्रव्य से कुछ होता नहीं तो फिर परद्रव्य के ऊपर कोप करना, क्रोध करना, यह तूने क्या किया? ऐसा करने का क्या प्रयोजन है? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, पश्चात् दूसरे द्रव्य पर कषाय करना कि तूने ऐसा कैसे किया? यह कुछ आवश्यकता नहीं रही। क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! इसलिए प्रत्येक प्राणी अपने काल में अपने से रागादिक करता है तो हम परद्रव्य के ऊपर कोप क्यों करें? कि तू आया और ऐसा हुआ। तुमने ऐसा किया न, इसलिए मुझे ऐसे क्रोध आया। तुमने ऐसी गाली दी तो मुझे क्रोध आया। ऐसा है नहीं। पश्चात् यह लेंगे, निन्दा-स्तुति। इसके बाद यह लेंगे। आहाहा!

कोई परद्रव्य से, अनन्त परद्रव्य हैं, उसमें किसी भी परद्रव्य से परद्रव्य में उत्पत्ति होने का कोई कारण नहीं है। परद्रव्य से उत्पत्ति नहीं होती तो निमित्त के ऊपर क्लेश करना, क्रोध करना, यह क्या है? आहाहा! बहुत शब्द लिये हैं। रागादि का उत्पादक परद्रव्य को देखते नहीं तो फिर क्रोध कैसे करें? किस कारण कषाय करें? ऐसा कहाँ कहा? ऐसा हमसे क्या कहा? वाणी वाणी में है, वाणी तुझमें आयी नहीं। वाणी तुझसे निकली नहीं और तेरे लिये निकली नहीं। आहाहा! परन्तु तू कोप करता है तो यह मिथ्या है। आहाहा! शान्तिभाई! किसी का दोष निकालता है कि तूने ऐसा किसलिए किया? परन्तु एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को कुछ करता नहीं तो ऐसा क्यों किया—ऐसा कोप तू किसलिए करता है? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सब झगड़ा मिट जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ झगड़ा ही नहीं है। सत्य में तो झगड़ा है ही नहीं। असत्य है, उसमें झगड़ा—कषाय होती है। अपनी बात मिथ्या हो और कोई मिथ्या कहे तो अज्ञानी को कोप आये बिना रहता नहीं। क्योंकि झूठ क्रोध नहीं कराता। वह तो जड़ की भाषा है। उसे तुझे कहा नहीं और तेरे लिये वह भाषा उत्पन्न हुई नहीं। परन्तु तुझे क्रोध आया वह निरर्थक मिथ्या कषाय है। आहाहा! समझ में आया? मेरा नाम लेकर क्यों आया? ऐसा क्रोध तू क्यों करता है? वह तो मिथ्या है। आहाहा!

इसलिए... इस कारण से। इस कारण से न? **अन्य द्रव्य के स्वभाव को स्पर्श न करते हुए, अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से...** भाषा ली है, देखो! पहले लिया था, स्वपरिणामपर्याय। पहली लाईन। सभी (द्रव्य) स्वपरिणामपर्याय से उत्पन्न होते हैं। यहाँ कहा कि, **अपने स्वभाव से अपने परिणामभावरूप से उत्पन्न होते हैं।** अपने परिणाम भावरूप से उत्पन्न होते हैं। आहाहा! **इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) हम जीव के रागादि का उत्पादक...** द्वेष हो, राग हो, हास्य हो, मजाक कहो, वह पर के कारण से तुझे नहीं होते। तो तू क्या करता है? आहाहा! मिथ्याश्रद्धा है। ... तो तुझे क्रोध आता है, ऐसा कहते हैं। परद्रव्य द्वारा तेरा नाम आया और तुझे क्रोध हुआ, यह मिथ्या है। वह भाषा तो जड़ की थी, जड़ की भाषा तुझे स्पर्श नहीं करती तो फिर तुझे क्रोध क्यों हुआ? आचार्य कहते हैं, हम तो कोप करते नहीं। आहाहा! हम किस पर कोप करें? आहाहा!

निमित्त से, परद्रव्य से परद्रव्य में किंचित् किसी भी द्रव्य में, कुछ भी पर से पर में कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। तो फिर हम परद्रव्य पर कोप क्यों करें? आहाहा! सिद्धान्त है। इस मनुष्य ने बराबर काम नहीं किया, इसलिए काम बिगड़ गया। वह काम तो उसका है, तेरा काम तो तेरे पास है। आहाहा! बहुत संक्षिप्त शब्दों में (लिखा है)। **हम जीव के रागादि का उत्पादक परद्रव्य को नहीं देखते (–मानते) कि जिस पर कोप करें।** जिस पर अर्थात् किसी पर के ऊपर। पर से होता नहीं तो पर के ऊपर कोप क्यों करता है? आहाहा!

भावार्थ – आत्मा को रागादि उत्पन्न होते हैं, सो वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। आहाहा! आत्मा में राग, द्वेष, हास्य आदि विषय विकार आदि का उत्पन्न होना, वह अपने ही अशुद्ध परिणाम है। **निश्चयनय से...** सत्यार्थदृष्टि से, सत्यदृष्टि से **विचार किया जाए तो अन्य द्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है;...** निमित्तमात्र है तो निमित्त ने तुझमें कुछ किया नहीं। आहाहा! लो, इसमें विवाद है। निमित्त है न? तो निमित्त ने कुछ किया या नहीं? निमित्त वस्तु है, प्रत्येक पदार्थ में निमित्त तो है, परन्तु निमित्त कुछ करता नहीं। आहाहा! निमित्त है, तथापि निमित्त पर में कुछ करता नहीं। तेरी दृष्टि में अन्तर है। आहाहा! अन्य द्रव्य निमित्तमात्र है। निमित्तमात्र तो है। पहले विद्यमान आया था। विद्यमान आया था। विद्यमान है। मिट्टी में से घड़ा उत्पन्न होता है, तब कुम्हार विद्यमान है, परन्तु कुम्हार ने (घड़ा) किया नहीं। विद्यमान निमित्त है। निमित्त का निषेध नहीं। निमित्त नहीं है, ऐसा नहीं है परन्तु उससे तुझमें कुछ होता है, यह बात नहीं है। आहाहा!

अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता, यह नियम है। अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य की गुण की पर्याय, विकारी या अविकारी, गुणपर्याय कहा है, **गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता, यह नियम है।** यह तो नियम है, त्रिकाल नियम है। आहाहा! वस्तु की त्रिकाल मर्यादा ऐसी है कि एक चीज़ दूसरी चीज़ को कुछ करती नहीं। ऐसी वस्तु की मर्यादा नियम है। नियम ऐसा है। आहाहा! यह नियम तुझे तोड़ना है? आहाहा! यह बड़ा विवाद है। निमित्त से कुछ होता है, सर्वथा नहीं होता – ऐसा नहीं है। किसी समय किसी निमित्त से कुछ फेरफार होता है। मैं शान्त बैठा था और उसने आकर क्रोध किया तो मुझे क्रोध आया, मैं शान्ति से बैठा था। उसने आकर गाली

दी तो मुझे क्रोध आया। यह बात झूठ है। गाली तो निमित्तमात्र हुई, उसने तुझे क्रोध कराया नहीं। तूने ऐसा माना है, यह ऐसा कैसे करता है ? आहाहा!

निश्चयनय से विचार किया जाए तो अन्य द्रव्य रागादि का उत्पन्न करनेवाला नहीं है, अन्य द्रव्य उनका निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य के अन्य द्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करता, यह नियम है। जो यह मानते हैं–ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं... आहाहा! **कि – 'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं',...** ऐसा एकान्त मानता है कि परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं। **वे नयविभाग को नहीं समझते,...** आहाहा! वे नयविभाग को नहीं समझते। **मिथ्यादृष्टि हैं।** आहाहा! अपनी बात में कोई अवगुण कहे, कोई फेरफार कहे और क्रोध आता है तो कहते हैं कि तू मिथ्यादृष्टि है। उससे हुआ, ऐसा (मानता है) तो तू मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! है ?

ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं... एकान्त ग्रहण करते हैं। आहाहा! स्वयं से होता है, उसमें वह तो निमित्तमात्र है। उससे कुछ हुआ ही नहीं। आहाहा! **ऐसा एकान्त ग्रहण करते हैं कि–'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं',...** आहाहा! मेरा अवगुण बोला, मुझसे विरुद्ध बोला तो मुझे क्रोध हुआ। मिथ्यादृष्टि है। यह बात मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा! **वे नयविभाग को नहीं समझते,...** यह निमित्तमात्र तो व्यवहार है। अपने से उत्पन्न हुआ है, यह नयविभाग है। नयविभाग को समझते नहीं। **मिथ्यादृष्टि हैं।** आहाहा!

यह रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं,... राग, द्वेष, कषाय, क्रोध, मान, अपमान, वह जीव के सत्त्व में, जीव के सत्त्व में—उसकी पर्यायरूपी सत्त्व में उत्पन्न होते हैं। दूसरे द्रव्य के सत्त्व में या सत्त्व से उत्पन्न नहीं होते। आहाहा! **जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं,...** लो! ठीक। एक जगह ऐसा कहते हैं कि जीव के सत्त्व में विकार है ही नहीं। वह तो स्वभाव की दृष्टि करने के लिये, स्वभाव की दृष्टि में तो वह है ही नहीं। आहाहा! यहाँ (कहते हैं), **'परद्रव्य ही मुझमें रागादिक उत्पन्न करते हैं', वे नयविभाग को नहीं समझते,...** रागादि जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं। परद्रव्य तो निमित्तमात्र है। वह तो निमित्तमात्र चीज़ है। आहाहा! **ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है।** ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। आहाहा!

इसलिए... इस कारण से **आचार्यदेव कहते हैं कि–हम राग–द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर क्यों कोप करें?** आहाहा! उसके ऊपर कैसे क्रोध करे? आहाहा! परद्रव्य के ऊपर अरुचि, द्वेष, विरोध कैसे करें? परद्रव्य से तो अपने में कुछ हुआ नहीं। आहाहा! **राग–द्वेष का उत्पन्न होना तो अपना ही अपराध है।** बड़ी गड़बड़ चलायी है, विकार कर्म से होता है। इसके बाद यह लेंगे। शब्द यह लेंगे, कर्म लेंगे। निन्दा लेंगे। कोई तेरी निन्दा करे तो तुझे क्रोध होता है, क्या है यह? आहाहा! इसके बाद यही लेंगे। और तेरी स्तुति करे तो तुझे प्रसन्नता होती है, उसका क्या कारण है? आहाहा! इस बात के बाद यह लेते हैं। आहाहा!

कलश - २२०

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:–

(मालिनी)

यदिह भवति राग–द्वेष–दोषप्रसूतिः,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वय–मय–मपराधी तत्र सर्पत्यबोधा,
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

श्लोकार्थ : [इह] इस आत्मा में [यत् राग–द्वेष–दोष–प्रसूतिः भवति] जो राग–द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है, [तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति] उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है, [तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोधः सर्पति] वह तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है–[विदितम् भवतु] इस प्रकार विदित हो और [अबोधः अस्तं यातु] अज्ञान अस्त हो जाए; [बोधः अस्मि] मैं तो ज्ञान हूँ।

भावार्थ : अज्ञानी जीव परद्रव्य से राग–द्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि – 'यह परद्रव्य मुझे राग–द्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ।' ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि – राग–द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से

आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए इस अज्ञान को नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो, आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा अनुभव करो; परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो।।२२०।।

कलश - २२० पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- २२० न?

यदिह भवति राग-द्वेष-दोषप्रसूति:,
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वय-मय-मपराधी तत्र सर्पत्यबोधा,
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोध: ।।२२०।।

इस आत्मा में जो राग-द्वेषरूप दोषों की उत्पत्ति होती है... राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। **'तत्र परेषां कतरत् अपि दूषणं नास्ति'** कुछ भी दूषण-दोष नहीं है। आहाहा! मैं तो शान्ति से बैठा था और वह आकर हमारी निन्दा करने लगा तो फिर क्रोध आवे ही न? तो कहते हैं, नहीं, नहीं। तेरी दृष्टि विपरीत है। तू उससे हुआ, ऐसा मानता है, यह तेरी दृष्टि में मिथ्यात्व है। आहाहा! अपनी प्रशंसा सुनकर राग होता है और अपने में जरा अवगुण देखकर बोले तो कषाय आती है, तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

उसमें परद्रव्य का कोई भी दोष नहीं है,... आहाहा! **'तत्र स्वयम् अपराधी अयम् अबोध: सर्पति' वह तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है...** आहाहा! देखो! निमित्त से होता है—ऐसा मानना, वह अज्ञान है। निमित्त से पर में क्रोध, मान, माया, लोभादि राग होता है, (उसमें अज्ञान फैलता है)। आहाहा! **'विदितम् भवतु'** ऐसा ज्ञान होओ कि यह अपराधी ऐसा अज्ञान ही फैलाता है। निमित्त से (होता है, उसमें) अपराधी अज्ञानी स्वयं के अज्ञान को फैलाता है। **इस प्रकार विदित हो...** आहाहा! **इस प्रकार विदित हो और 'अबोध: अस्तं यातु' अज्ञान अस्त हो जाए;...** आहाहा! उस अज्ञान का नाश हो जाओ। आहाहा!

मैं तो ज्ञान हूँ। 'बोध: अस्मि' मैं तो ज्ञान हूँ। ज्ञान में पर निमित्त से क्रोध हो, ऐसा

मेरा स्वरूप ही नहीं है। आहाहा! संयोग से-प्रतिकूलता से क्रोध हो और अनुकूलता से मानादि हो, ऐसा वस्तु का स्वरूप ही नहीं है। वस्तु तो ज्ञान है। वह तो जाननेवाला-देखनेवाला है। जानता-देखता है। आहाहा! **मैं तो ज्ञान हूँ।** आहाहा! चाहे तो अनुकूल-प्रतिकूल (हो)। ज्ञेय में अनुकूल-प्रतिकूल कोई है ही नहीं। एक ओर ज्ञान आत्मा है, एक ओर ज्ञेय है। तीर्थंकर ठीक है और दुश्मन ठीक नहीं, ऐसी ज्ञेय में छाप नहीं है। वह तो जाननेयोग्य ज्ञेय है। बस! जो जाननेयोग्य में तूने दो भाग कर दिये कि यह ठीक है और यह अठीक है, तो तेरा अज्ञान है। आहाहा! जगत को कठिन पड़े। प्रत्यक्ष दिखता है न? यह क्रोध होता है, मान होता है, अमुक से होता है। किसी से कुछ नहीं होता। तुझे भान नहीं है। आहाहा!

बीस वर्ष का लड़का गुजर गया तो मुझे राग हुआ। झूठ बात है। आहाहा! स्त्री छह महीने के विवाह में सुन्दर स्त्री गुजर गयी तो उस समय राग आये बिना नहीं रहता, यह बात झूठ है। यह बात ऐसी है नहीं। आहाहा! हमारा छोटा भाई था। उसका विवाह किया था। कन्या ऐसी थी कि बहुत रूपवान, सुन्दर। मध्यम जैसी सुन्दर पूरा शरीर कोमल था। और हमारा छोटा भाई दो वर्ष के विवाह में गुजर गया। वह महिला छह महीने पश्चात पति के पीछे झूरकर मर गयी। गारियाधार की थी, बहुत रूपवान, बहुत रूपवान थी। नर्मदा थी। पति गुजर गया, २२ वर्ष की उम्र, २० वर्ष में विवाह (हुआ था), दो वर्ष का विवाह था। झूरकर रो-रोकर देह टूट गयी। यह क्या है? आहाहा! मिथ्यात्वभाव क्या करता है? अज्ञान क्या नहीं करता? आहाहा! वह तो स्त्री मर गयी, इसलिए मुझे ऐसा होता है, मेरा पति मर गया तो मुझे दु:ख हुआ है। अच्छी बात नहीं? आहाहा! सुमनभाई! नहीं? दो वर्ष के विवाह में स्त्री मर जाये, सुन्दर स्त्री मर जाये... हाय... हाय..! पर से द्वेष नहीं होता? आहाहा! बिल्कुल नहीं, कहते हैं। यह बात ऐसी है ही नहीं। वस्तु की मर्यादा ही ऐसी नहीं है। पर से राग-द्वेष उत्पन्न हो, ऐसी वस्तु की मर्यादा ही नहीं है। आहाहा! है?

मैं तो ज्ञान हूँ। आहाहा! जो चीज़ जिस प्रकार से, जिस समय में, जिस क्षेत्र में जैसी बननेवाली है, वैसे बनती है, ऐसा मैं व्यवहार से जाननेवाला हूँ। व्यवहार से जाननेवाला हूँ, निश्चय से तो मैं मुझे जाननेवाला हूँ। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। पिता ४० वर्ष का हो और पुत्र २० वर्ष का हो और इकलौता पुत्र हो। उसमें एकदम अकस्मात हो जाये। आहाहा!

रोवे... रोवे... रोवे... वह कहीं उसके कारण से रोता है? अपना अपराध है। अज्ञान के कारण से रोता है। आहाहा! ऐसी चीज़? २० वर्ष का पुत्र ऐसा जवान विवाहित (होवे)। आहाहा! अरे! विवाह करते-करते गुजर जाते हैं।

एक पति-पत्नी (वर-वधू) विवाह करते थे। उसमें नीचे सर्प आया। डंक मारा, वहीं मर गया। अभी दो हाथ करके हस्तमिलाप करते थे। वहाँ जंगल जैसा था। ऐसा बड़ा सर्प आया, नीचे से काट गया। वहीं का वहीं मर गया। ऐसा होवे तो दु:ख होगा या नहीं? उसके कारण दु:ख होता ही नहीं। तेरे अज्ञान के कारण तुझमें दु:ख होता है। आहाहा!

भावार्थ – अज्ञानी जीव परद्रव्य से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती हुई मानकर... आहाहा! अज्ञानी जीव पर के कारण से मुझे राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है... आहाहा! ऐसा मानकर **परद्रव्य पर कोप करता है...** आहा! उसे कषाय होती है। अपनी अनुकूलता न हो तो कषाय होती है। अनुकूल होवे तो मान होता है। अनुकूल प्रशंसा करे तो मान होता है और प्रतिकूल बोले तो कषाय होती है। यह सब अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आहाहा! **परद्रव्य पर कोप करता है कि – 'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है,...** आहाहा! **'यह परद्रव्य मुझे राग-द्वेष उत्पन्न कराता है, उसे दूर करूँ।'** उसे दूर करूँ। मैं राग-द्वेष से दूर हो जाऊँ, ऐसा नहीं; उसे दूर करूँ। आहाहा!

ऐसे अज्ञानी जीव को समझाने के लिए आचार्यदेव उपदेश देते हैं कि – राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है... आहाहा! मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ, यह भूलकर पर के प्रति कषाय आती है। आहाहा! **राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से आत्मा में ही होती है और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं।** आत्मा के परिणाम हैं, वे कोई निमित्त के परिणाम नहीं हैं। निमित्त ने परिणाम किये नहीं हैं। आहाहा! **इसलिए इस अज्ञान को नाश करो,...** आहाहा! इस अज्ञान को नाश करो। पर से मुझमें दोष होता है, क्रोध होता है, कषाय होती है, इस अज्ञान का नाश करो। **सम्यग्ज्ञान प्रगट करो,...** आहाहा! सम्यग्ज्ञान में प्रतिकूल संयोग चाहे जो हो, उसके कारण से (कषाय) नहीं होती। रुदन आता है।

ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे। भरत को रुदन आया परन्तु वह उसके कारण से नहीं, स्वयं की कमजोरी से आया। समझ में आया? आहाहा! सम्यग्दृष्टि है। भगवान को

देखकर रुदन आया। इन्द्र ने कहा, अरे! भरतजी! तुम तो इस भव में मोक्ष जानेवाले हो, यह देह तो अन्तिम है। हमें तो अभी इन्द्र को एक अवतार धारण करना है। प्रथम देवलोक, शकेन्द्र। मनुष्य का एक भव धारण करेगा, पश्चात् मोक्ष जायेगा। तुम्हें तो इस भव में मोक्ष जाना है, और यह क्या? मैं सब समझता हूँ, यह मेरी कमजोरी है। यह पर के कारण से नहीं है। मेरी कमजोरी के कारण (रुदन) आया है। मैं इसका देखनेवाला-जाननेवाला हूँ। आहाहा! दुनिया में रहना और यह सब ऐसा मानना?

मुमुक्षु : दुनिया में सुख से रहना हो तो यह मानना।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख से रहना हो तो यह मानना चाहिए। पर से कुछ नहीं होता। आहाहा! तेरा ही अपराध है और वह भी अज्ञान से है। आहाहा! आया न?

और वे आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं। इसलिए इस अज्ञान को नाश करो, सम्यग्ज्ञान प्रगट करो,... आहाहा! **आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा अनुभव करो;...** भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। कोई राग उत्पन्न करे, द्वेष करे, यह आत्मा में है ही नहीं। आत्मा में केवलज्ञान उत्पन्न हो, ऐसा है। केवलज्ञान सिद्धपद उत्पन्न हो, ऐसा है। राग उत्पन्न हो, ऐसा आत्मा है ही नहीं। आहाहा! **परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पन्न करनेवाला मानकर उस पर कोप न करो।** उसके ऊपर क्रोध न करो, द्वेष न करो, अपमान न करो। मेरा अपमान हुआ, ऐसा न मानो। आहाहा! मुझे गाली दी तो मेरा अपमान हुआ। मैं बैठा था। पाँच सौ-हजार लोगों के बीच आकर गाली दी तो मेरा अपमान हुआ तो मुझे विकार-द्वेष हो या नहीं? यह छोड़ दे। यह बात ऐसी है ही नहीं। आहाहा!

कलश - २२१

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:-

(रथोद्धता)

राग-जन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्य-मेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।।२२१।।

श्लोकार्थ : [ये तु राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति] जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व (कारणत्त्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते) [ते शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुद्धयः] वे-जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अन्ध है ऐसे (अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है ऐसे)- [मोह-वाहिनीं न हि उत्तरन्ति] मोहनदी को पार नहीं कर सकते।

भावार्थ : शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, नित्य, अभेद, एक है। वह अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है, उसीप्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्मा के ऐसे स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्मा को जिस प्रकार परिणमन कराता है, उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते), उनके राग-द्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करने में यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटाने में भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरे के कराये ही राग-द्वेष होता हो तो पर तो राग-द्वेष कराया ही करे, तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा? इसलिए राग-द्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं-इस प्रकार कथञ्चित् मानना, सो सम्यग्ज्ञान है।।२२१।।

कलश - २२१ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए और आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं:-

राग-जन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्य-मेव कलयन्ति ये तु ते।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।।२२१।।

लो, यह श्लोक हमारे पहले से विवाद में आया था तो कहा था कि देखो! वर्णीजी और सब मानते नहीं थे, विकार कर्म से होता है, कर्म से होता है। बिल्कुल झूठी बात है।

जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व (कारणत्त्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते)... इसमें से ले, भाई! निमित्त भी कारण है और उपादान भी कारण है, दो कारण है। ऐसा। इसमें से निकालते हैं। इस श्लोक में यह विवाद था। कहा, बिल्कुल नहीं। निमित्त से बिल्कुल एक अंश भी नहीं होता। यहाँ कहते हैं न? आहा! **राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तत्व (कारणत्त्व) मानते हैं,**... ऐसा शब्द है न? इसमें से ऐसा अर्थ निकालते हैं कि परद्रव्य को ही मानते हैं। स्वयं और पर दो मिले तो होता है। अकेले परद्रव्य को मानता है, वह अज्ञान है। ऐसा इसमें से निकालते हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। क्या कहा, समझ में आया?

जो राग की उत्पत्ति में, द्वेष की उत्पत्ति में, वासना की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्त-कारण मानते हैं, ऐसा कहते हैं। निमित्त कारण तो है। उपादान मानो और निमित्त भी मानो, ऐसा इसका अर्थ कहते हैं। ऐसा है नहीं। श्लोकार्थ की चर्चा पण्डितजी के साथ हो गयी है। अकेले निमित्त को माने तो दोष है। उपादान और निमित्त दो को माने तो (दोष नहीं है)। दो को माने परन्तु निमित्त से होता है, ऐसा नहीं है। निमित्त है, उसका ज्ञान कराने के लिये कहा। दूसरी चीज़ है, विद्यमान है परन्तु दूसरी चीज़ से होता है, ऐसा नहीं है। दो चीज़ मिलकर होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

इस श्लोक में बड़ा विवाद है कि देखो! यहाँ तो यह लिया है। राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपना (कारणपना) मानते हैं, आत्मा का कुछ भी कारण नहीं मानते। आत्मा का कारण और निमित्त कारण, दो कारण मानो। ऐसा है नहीं। शास्त्र में दो कारण आते हैं, परन्तु दूसरे कारण का ज्ञान कराया है। उपादान में अपनी पर्याय में अपने कारण से उस समय उत्पन्न होता है, उस समय निमित्त क्या था, उसका ज्ञान कराया है। निमित्त से पर में कुछ भी होता है, यह है नहीं, एकान्त है। आहाहा! समझ में आया? परद्रव्य से कुछ नहीं होता।

यहाँ ऐसा आया न? **परद्रव्य का ही निमित्तत्व (कारणत्त्व) मानते हैं, (अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते)**... अपना भी कारण माने और निमित्त को भी कारण माने, इसमें से ऐसा लेते हैं। परन्तु ऐसा है नहीं। समझ में आया? पाठ ऐसा है न? '**राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति**' कषाय करने में निमित्त को ही मानते हैं, वह दोषवाला है, परन्तु उपादान को और निमित्त को मानता है तो दिक्कत नहीं, ऐसा निकालते हैं। ऐसा है नहीं। **(अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते)**... आहाहा! अर्थकार ऊपर तो बारम्बार कह गये हैं। निमित्त कुछ करता नहीं, निमित्त से कुछ होता नहीं। तू तेरे अपराध से अज्ञान से क्रोध करता है। आहाहा! यहाँ तो यह आया। निमित्त को ही मानता है। दो को माने तो दिक्कत नहीं। दो को मानने का ज्ञान कराया है। दूसरी विद्यमान चीज़ है, उसका ज्ञान कराने के लिये यह कहा है। नहीं कि इस चीज़ से उसमें कुछ होता है। आहाहा! शब्द-शब्द में विवाद। ऐसा आया न?

'**राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव**' ऐसा आया। परद्रव्य ही। '**निमित्ततां कलयन्ति**' परद्रव्य ही '**निमित्ततां कलयन्ति**' परन्तु आत्मा और परद्रव्य दो मिलकर होता है, ऐसा अर्थ निकालते हैं। ऐसा आता है, कार्य के दो कारण। उपादान और निमित्त। राजवार्तिक में आता है। निमित्त का ज्ञान कराते हैं। दूसरी चीज़ है, विद्यमान है, वस्तु है, उसका ज्ञान कराते हैं। उससे कुछ होता है, यह बात नहीं है। आहाहा! (ऐसा कहते हैं), देखो! अकेले निमित्त को मानते हैं, वे दोष करते हैं, परन्तु उपादान और निमित्त दो को मानते हैं तो कार्य के दो कारण तो राजवार्तिक में आया है। राजवार्तिक में आया है, कार्य के दो कारण हैं। उपादान और निमित्त। निमित्त की विद्यमानता है, उसका ज्ञान कराया है। उससे उपादान में कुछ

होता है, (ऐसा नहीं है)। निमित्त की पर्याय निमित्त में हुई, उपादान की पर्याय उपादान में होती है। एक समय में दो की पर्याय एक ने की? निमित्त ने भी की और उपादान ने भी की? दो द्रव्य की क्रिया एक ने की? आहाहा!

विकार अपने में होता है तो निमित्त चीज़ है, निमित्त चीज़ है, बस! इतनी बात। पहले विद्यमान आया था न? दूसरी चीज़ नहीं है, ऐसा नहीं है। वेदान्त की तरह नहीं कि सर्व व्यापक एक ही आत्मा है, दूसरी कोई चीज़ ही नहीं है। यहाँ तो अनन्त चीज़ें हैं। अनन्त चीज़ में प्रत्येक समय में पर्याय होती है तो निमित्त भी साथ में होता है। प्रत्येक समय में पर्याय में (निमित्त होता है)। जैसे गति करने में धर्मास्तिकाय का निमित्त है, परन्तु धर्मास्तिकाय ने गति करायी है, ऐसा नहीं है।

इष्टोपदेश में आया है कि निमित्त धर्मास्तिकायवत् है। सभी पदार्थों के निमित्त धर्मास्तिकायवत् है। धर्मास्तिकाय गति कराता नहीं। (गति) करता है, उसको निमित्त कहने में आता है। आहाहा! इसका भी विवाद था। एक-एक चर्चा बहुत हुई है। इष्टोपदेश में ऐसा कहा है न? भाई! परद्रव्य निमित्तमात्र है। आहाहा! धर्मास्तिकायवत् निमित्त है, वे सब उदासीन निमित्त है। निमित्त और प्रेरक कारण। निमित्त है, इस कारण से प्रेरक कहा है परन्तु प्रेरक से पर में कुछ फेरफार हुआ है, ऐसा नहीं है। हवा चलती है तो ध्वजा हिलती है, (ऐसा नहीं है)। हवा निमित्त है, ध्वजा उपादान है। हवा का विद्यमानपना है, इतना ज्ञान कराने के लिये (कहा है)। बाकी हवा से कपड़ा हिलता नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, फिर प्रश्न कहाँ? हवा भी पदार्थ है, ध्वजा भी पदार्थ है, तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता। आहाहा! विवाद... विवाद... विवाद... क्लेश... क्लेश... क्लेश... अपने को अनुकूल लगे तो पसन्द करे, नहीं तो क्रोध करे। आहाहा! पूरी दुनिया राग-द्वेष में घुस गयी है। आहाहा!

पाठ आया न? '**राग-जन्मनि परद्रव्यम् एव**' परद्रव्य को ही मानता है। अपना कुछ नहीं मानता। इसका अर्थ ऐसा नहीं कि निमित्त से हुआ है। समझ में आया? यह तो सब ऊपर कहा जा चुका है। आहाहा! **(अपना कुछ भी कारणत्व नहीं मानते) 'ते शुद्ध-बोध-विधुर-अन्ध-बुद्धय:' वे-जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञान से रहित अन्ध है...** आहाहा! विकारी या अविकारी पर्याय अपने काल में, अपने स्वकाल में क्रमबद्ध में स्वयं से होती है, पर से

बिल्कुल नहीं होती। इस प्रकार जिसकी बुद्धि शुद्ध ज्ञान से रहित अन्ध है (वे) ऐसा मानते हैं कि निमित्त से होता है।

(जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है...) आहाहा! **शुद्धनय के विषयभूत...** देखो! आहाहा! **(शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है ऐसे) मोहनदी को पार नहीं कर सकते।** वे मोहनीय को पार नहीं कर सकते, मिथ्यात्व को पार नहीं कर सकते। आहाहा! इस शब्द में ऐसा आया न? **'परद्रव्यम् एव'** परद्रव्य को ही मानते हैं। वहाँ परद्रव्य भी है और स्वद्रव्य भी है, ऐसा अर्थ में नहीं लेते। परन्तु परद्रव्य है, इतना ज्ञान कराया है। परद्रव्य से कुछ होता है, यह तो पहले से इनकार करते आये हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : महा सिद्धान्त पकड़ रखे तो सब आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आ जाता है। यह वस्तु है।

मुमुक्षु : अपने स्वरूप की पहिचान नहीं होने से यह सब झगड़े हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वरूप का ज्ञान होवे तो किसी के प्रति क्रोध नहीं करे और किसी को (कारण) माने नहीं, निमित्त से माने नहीं कि निमित्त से मुझमें क्रोध हुआ। तुमने इतनी बात की, तो मुझे क्रोध हुआ, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : मास्टर ने पढ़ाया वह खोटा?

पूज्य गुरुदेवश्री : मास्टर ने पढ़ाया नहीं। वकील ने वकालत की नहीं। सब खोटा है। आहाहा! मास्टर तो निमित्तमात्र है। ज्ञान की उत्पत्ति की पर्याय का काल है, तो पर्याय उत्पन्न होती है। भले अज्ञान (हो)। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! दुनिया से सब प्रकार से पूरी भूल निकालना बहुत कठिन बात है। आहाहा!

(जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है...) अन्ध है, वे **मोहनदी को पार नहीं कर सकते।** आहाहा! (संवत्) १९७२ के वर्ष में बड़ी चर्चा हुई थी। १९७२ के वर्ष। केवली ने भव देखे होंगे, उससे भव घटा सकते हैं, घटा सकते हैं, परन्तु घटे हुए ही थे, घटा सकते हैं, ऐसा नहीं। उसके भव ही नहीं थे। नहीं थे, उसे घटा सकते हैं, ऐसा कहा है। १९७२ की बात है। भव घटा सकते हैं या नहीं?

केवली ने देखा है, उसमें दूसरा फेरफार कर सकता है या नहीं? कहा, केवली ने देखा, उसमें कुछ फेरफार हो सकता नहीं। आहाहा! बड़ी चर्चा। बहुत वर्ष हो गये। ओहोहो! कितने वर्ष हुए? ६४ वर्ष हुए। ६४ वर्ष पहले की बात है। बड़ी चर्चा चली थी।

हमारे गुरु बेचारे नरम थे। वे स्वीकार करते थे परन्तु पाँच समवाय को नहीं मानते। ऐसा कहे, बात सच्ची है, कानजीमुनि कहते हैं, यह बात सच्ची है, परन्तु यदि तुम कहते हो, वैसा होवे तो पाँच समवाय हो जायेंगे। जिस काल में जो बनता है, वह बनेगा, ऐसा हो जायेगा। कहा, है तो ऐसा ही। जिस काल में जो बनता है, पाँच समवाय तो है। परन्तु उस पुरुषार्थ से पाँच समवाय का ज्ञान रहता है, पाँच समवाय का ज्ञान पुरुषार्थ से होता है। आहाहा! बड़ी चर्चा हुई थी। बहुत से लोग। हीराजी महाराज को छोड़कर चले जाना? हीराजी महाराज कौन थे? बहुत सज्जन, बहुत सज्जन। बहुत नरम... बहुत नरम। 'हीरा अेटला हीर, बाकी सूतरना फालका' काठियावाड़ में हिन्दुस्तान का हीरा एक था। ऐसा कहते थे। ऐसे नरम थे। उन्हें छोड़कर चले जाना.. कहा, मुझे यह बात जँचती नहीं। नहीं जँचे वहाँ मैं नहीं रह सकूँगा। मैं इसके लिये नहीं निकला हूँ। उसने ऐसा भी कहा कि मूर्ति की भूल होवे तो भूल हो। कहा, मूर्ति की भूल वह साधारण भूल है, यह महाभूल है। अपने पुरुषार्थ से कार्य होता है, भगवान ने भी ऐसा देखा है। आहाहा! भगवान ने देखा, तब पुरुषार्थ होगा, हम क्या करें? ऐसी बात है ही नहीं। आहाहा! हीराजी महाराज के सम्प्रदाय को छोड़कर चले जाना... और २५ वर्ष की उम्र, जवान उम्र। कहा, हमें बिल्कुल रूचता नहीं, हमारा आत्मा स्वीकार नहीं करता। आत्मा स्वीकार न करे, उसे हम नहीं मानते, पूरी दुनिया को हम नहीं मानते। आहाहा!

जिस समय में जो होनेवाला है, वह होगा ही, परन्तु वह पुरुषार्थ से होता है। आत्मा में वही पुरुषार्थ है। जिस समय में होना है, वह होना है, इस पुरुषार्थ की दृष्टि कहाँ जाती है? ज्ञान में अन्तर में जाती है। आहाहा! भगवान ने भी ऐसा देखा है। उसे भव है नहीं। आहाहा! भगवान ने भव देखे हैं और यह जीव भव घटा सकता है, यह प्रश्न ही नहीं है। अभी भी गूढ़ बात हो गयी है।

यह यहाँ कहते हैं, पाठ ऐसा है न? '**राग–जन्मनि परद्रव्यम् एव निमित्ततां कलयन्ति**' परद्रव्य को ही निमित्त मानते हैं। अपने को कुछ मानते ही नहीं। अपने को भी मानो और

पर को भी मानो, ऐसा कहते हैं। इसमें से दो निकाले। समझ में आया? परन्तु ऐसा है नहीं। निमित्त का ज्ञान कराते हैं। निमित्त है, परन्तु उससे पर में कुछ होता है, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : फिर उसे निमित्त किसलिए कहें? उपादान कहें।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपादान, निमित्त दोनों होवे तो हो। अकेले उपादान से होता ही नहीं। निमित्त हो, परन्तु उससे होता है, पर को स्पर्श करता है, पर उसे स्पर्श करता है-ऐसा है ही नहीं। आहाहा! कहा, यह बात बहुत आती है न!

इष्टोपदेश में यह आया है, धर्मास्तिकायवत् सब निमित्त हैं, ऐसा पाठ है। ३५ गाथा। इष्टोपदेश ३५ गाथा। पूज्यपादस्वामी कहते हैं, सब निमित्त धर्मास्तिकायवत् हैं। धर्मास्तिकाय कोई गति नहीं कराता। गति करता है, उसमें निमित्त कहते हैं। उसमें निमित्त ने क्या किया? आहाहा! यहाँ यह कहते हैं, निमित्त है अवश्य; निमित्त नहीं है – ऐसा नहीं। परन्तु निमित्त से कुछ होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

(अर्थात् जिनकी बुद्धि शुद्धनय के विषयभूत शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित अन्ध है ऐसे)-मोहनदी को पार नहीं कर सकते। आहाहा!

भावार्थ – शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान,... है। आहाहा! शुद्धनय का विषय अनन्त शक्तिवान है, अनन्त शक्तिवान है। है? **चैतन्यचमत्कारमात्र,...** है। उसमें रागादि, द्वेषादि है ही नहीं, संसार है ही नहीं। वह तो चैतन्यचमत्कारमात्र वस्तु है। आहाहा! और **नित्य,...** है। वह वस्तु नित्य है। **अभेद,...** है। भेद नहीं, गुण-गुणी का भेद भी नहीं। आहाहा! **एक है।** शुद्धनय का विषय। सम्यग्दर्शन शुद्धनय का विषय, नय ज्ञान से बात है, दर्शन की बात में दर्शन में निर्विकल्प है, तब निर्विकल्प दृष्टि होती है। ज्ञान में तो स्व और पर का जानना है न, तो उसे ऐसा कहा कि शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्त शक्तिवान, चैतन्यचमत्कारमात्र, चैतन्यचमत्कारमात्र। रागादि करना, वह उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! नित्य, अभेद, एक है।

वह अपने ही अपराध से... आहाहा! **अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है।** आहाहा! राग और द्वेषरूप परिणमता है। कोई कर्म का कारण नहीं है। शास्त्र में शब्द आता है, ज्ञानावरणीय ऐसा आता है न? ज्ञानावरणीय—ज्ञानावरणीय ने ज्ञान को

आवरण किया। कहा, यह तो निमित्त का कथन है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं तो ज्ञान को कर्म आवरण किस प्रकार कर सकता है ? गोम्मटसार में आता है, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय।

यह यहाँ कहा, **अपने ही अपराध से राग-द्वेषरूप परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है,...** निमित्त जैसे परिणमावे **उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है,...** ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा विचार करने को समय कहाँ ले ? निवृत्ति भी कहाँ है ? जो कुछ माना वह माना। आहाहा! सत्य हो या असत्य हो, उसकी कुछ कीमत नहीं होती। आहाहा! **ऐसा नहीं है कि जिस प्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है, उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है।** विकार करने में पुरुषार्थ नहीं, कर्म से होता है। आहाहा! यह आता है न कहीं ? इष्टोपदेश के दूसरे श्लोक में आता है। यह चर्चा चली थी। जयसेनाचार्यदेव की टीका में भी आता है कि जैसे एक पुत्र पति-पत्नी के अतिरिक्त होता नहीं। उसी प्रकार विकार एक से नहीं होता। इसका अर्थ (यह कि) विकृत अवस्था अपने स्वभाव के आश्रय से नहीं होती, दूसरी कोई चीज़ है। यह बताने के लिये कहा। परन्तु निमित्त से होता है, यह बात तीन काल में सत्य नहीं है। आहाहा! वह यह बात करते हैं।

जिस प्रकार निमित्तभूत परद्रव्य परिणमित करता है, उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है, और उसमें आत्मा का कोई पुरुषार्थ ही नहीं है। जिन्हें आत्मा के ऐसे स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे यह मानते हैं कि परद्रव्य आत्मा को जिस प्रकार परिणमन कराता है, उसी प्रकार आत्मा परिणमित होता है। ऐसा माननेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं कर सकते (अथवा मोह-सैन्य को नहीं हरा सकते),... आहाहा! **उनके राग-द्वेष नहीं मिटते; क्योंकि राग-द्वेष करने में यदि अपना पुरुषार्थ हो तो वह उनके मिटाने में भी हो सकता है, किन्तु यदि दूसरे के कराये ही राग-द्वेष होता हो...** आहाहा! निमित्त से राग-द्वेष कषाय होते हों तो पर राग-द्वेष कराया ही करे। आहाहा! **तब आत्मा उन्हें कहाँ से मिटा सकेगा ?** पर करावे तो कैसे मिटा सके ? **इसलिए राग-द्वेष अपने किये होते हैं और अपने मिटाये मिटते हैं- इस प्रकार कथञ्चित् मानना, सो सम्यग्ज्ञान है।** लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - ३७३-३८२

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूय रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ।।३७३।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ।।३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोद-विसय-मागदं सद्दं ।।३७५।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खु-विसय-मागदं रूवं ।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाण-विसय-मागदं गंधं ।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसण-विसय-मागदं तु रसं ।।३७८।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं काय-विसय-मागदं फासं ।।३७९।।
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसय-मागदं तु गुणं ।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसय-मागदं दव्वं ।।३८१।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिव-मपत्तो ।।३८२।।

निन्दितसन्स्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमन्ति बहुकानि।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ।।३७३।।

पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः।
तस्मान्न त्वं भणितः किञ्चिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ।।३७४।।
अशुभः शुभो वा शब्दो न त्वां भणति शृणु मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं श्रोत्र-विषय-मागतं शब्दम् ।।३७५।।
अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषय-मागतं रूपम् ।।३७६।।
अशुभः शुभो वा गन्धो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राण-विषय-मागतं गन्धम् ।।३७७।।
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसन-विषय-मागतं तु रसम् ।।३७८।।
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं काय-विषय-मागतं स्पर्शम् ।।३७९।।
अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धि-विषय-मागतं तु गुणम् ।।३८०।।
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धि-विषय-मागतं द्रव्यम् ।।३८१।।
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवा-मप्राप्तः ।।३८२।।

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशन न प्रदीपं प्रयोजयति, न च प्रदीपोऽप्ययःकान्तोपलकृष्टायसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितु-मायाति; किन्तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुम-शक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्तत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते।

स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयो-ऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते।

तथा बहिरर्थाः शब्दो, रूपं, गन्धो, रसः, स्पर्शो, गुणद्रव्ये च, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा, 'मां शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां रसय, मां स्पृश, मां बुध्यस्व' इति स्वज्ञाने

नात्मानं प्रयोजयन्ति, न चात्माप्यय:कान्तोपलकृष्टाय: सूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति; किन्तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते।

स्वरूपेणैव जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन्त: कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन्। एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थिति:, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम्।।३७३-३८२।।

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल, आत्मा से कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने को नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं। इस प्रकार आत्मा पर के प्रति उदासीन (सम्बन्ध रहित, तटस्थ) है, तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है, यह उसका अज्ञान है।

इस अर्थ की गाथा कहते हैं:-

पुद्गलदरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे।।३७३।।

पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तूँ क्यों करे।।३७४।।

शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को।।३७५।।

शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूप को।।३७६।।

शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंध को।।३७७।।

शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वाद को।।३७८।।

शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्श को।।३७९।।

शुभ या अशुभ गुण कोई भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे।।३८०।।

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे।।३८१।।

यह जानकर भी मूढ़ जीव पावे नहिं उपशम अरे!
शिव बुद्धि को पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे।।३८२।।

गाथार्थ : [बहुकानि] बहुत प्रकार के [निन्दितसंस्तुतवचनानि] निन्दा के और स्तुति के वचनरूप में [पुद्गलाः] पुद्गल [परिणमंति] परिणमित होते हैं; [तानि श्रुत्वा पुनः] उन्हें सुनकर अज्ञानी जीव [अहं भणितः] 'मुझसे कहा' ऐसा मानकर [रुष्यति तुष्यति च] रोष और सन्तोष करता है (अर्थात् क्रोध करता है और प्रसन्न होता है।)

[पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [शब्दत्वपरिणतं] शब्दरूप से परिणमित हुआ है; [तस्य गुणः] उसका गुण [यदि अन्यः] यदि (तुझसे) अन्य है, [तस्मात्] तो हे अज्ञानी जीव! [त्वं न किंचित् अपि भणितः] तुझसे कुछ भी नहीं कहा है; [अबुद्धः] तू अज्ञानी होता हुआ [किं रुष्यसि] क्यों रोष करता है?

[अशुभः वा शुभः शब्दः] अशुभ अथवा शुभ शब्द [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् शृणु] 'तू मुझे सुन'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [श्रोत्रविषयम् आगतं शब्दम्] श्रोत्र-इन्द्रिय के विषय में आये हुए शब्द को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने को (-जानने को) नहीं जाता।

[अशुभं वा शुभं रूपं] अशुभ अथवा शुभरूप [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् पश्य इति] 'तू मुझे देख'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से छूटकर), [चक्षुर्विषयम् आगतं] चक्षु-इन्द्रिय के विषय में आये हुए [रूपम्] रूप को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने को नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः गंधः] अशुभ अथवा शुभ गन्ध [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहती कि [माम् जिघ्र इति] 'तू मुझे सूंघ'; [सः एव च] और आत्मा भी [घ्राणविषयम् आगतं गंधम्] घ्राण इन्द्रिय के विषय में आई हुई गन्ध को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] (अपने स्थान से च्युत होकर) ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः रसः] अशुभ अथवा शुभ रस [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् रसय इति] 'तू मुझे चख'; [सः एव च] और आत्मा भी [रसनविषयम् आगतं तु रसम्] रसना-इन्द्रिय के विषय में आये हुए रस को (अपने स्थान से च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः स्पर्शः] अशुभ अथवा शुभ स्पर्श [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् स्पर्श इति] 'तू मुझे स्पर्श कर'; [सः एव च] और आत्मा भी, [कायविषयम् आगतं स्पर्शम्] काय के (-स्पर्शेन्द्रिय के) विषय में आये हुए स्पर्श को (अपने स्थान से च्युत होकर), [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभः गुणः] अशुभ अथवा शुभ गुण [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्व इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं तु गुणम्] बुद्धि के विषय में आये हुए गुण को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[अशुभः वा शुभं द्रव्यं] अशुभ अथवा शुभ द्रव्य [त्वां न भणति] तुझसे यह नहीं कहता कि [माम् बुध्यस्य इति] 'तू मुझे जान'; [सः एव च] और आत्मा भी (अपने स्थान से च्युत होकर), [बुद्धिविषयम् आगतं द्रव्यम्] बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य को [विनिर्ग्रहीतुं न एति] ग्रहण करने नहीं जाता।

[एतत् तु ज्ञात्वा] ऐसा जानकर भी [मूढः] मूढ़ जीव [उपशमं न एव गच्छति] उपशम को प्राप्त नहीं होता; [च] और [शिवाम् बुद्धिं अप्राप्तः च स्वयं] शिव बुद्धि को (कल्याणकारी बुद्धि को, सम्यग्ज्ञान को) न प्राप्त हुआ स्वयं [परस्य विनिग्रं हमनाः] पर को ग्रहण करने का मन करता है।

टीका : प्रथम दृष्टान्त कहते हैं : इस जगत में बाह्यपदार्थ-घटपटादि- जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है, इसी प्रकार, दीपक को स्वप्रकाशन में (अर्थात् बाह्य पदार्थ को प्रकाशित करने के कार्य में) नहीं लगता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर', और दीपक भी लोहचुम्बक-पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उसे (-बाह्य पदार्थ को) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव दूसरे से उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए, दीपक जैसे बाह्य पदार्थ की असमीपता में अपने स्वरूप से

ही प्रकाशता है। उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है। (इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है ऐसे दीपक को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।

इसी प्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं : बाह्य पदार्थ – शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य–जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है, उसी प्रकार आत्मा को स्वज्ञान में (बाह्य पदार्थों के जानने के कार्य में) नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख, तू मुझे स्पर्श कर, तू मुझे जान,' और आत्मा भी लोह चुम्बक–पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की–भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (–बाह्यपदार्थों को) जानने को नहीं जाता; परन्तु वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता इसलिए तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए, आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की असमीपता में (अपने स्वरूप से ही जानता है) उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही जानता है। (इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।

इस प्रकार आत्मा दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन (अर्थात् सम्बन्धरहित; तटस्थ) है–ऐसी वस्तुस्थिति है, तथापि जो राग–द्वेष होता है, सो अज्ञान है।

भावार्थ : शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। वे आत्मा से कहीं यह नहीं कहते, कि 'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (–जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों, तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, इसी प्रकार शब्दादिक समीप हों, तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। इस प्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले ऐसे आत्मा को अपने–अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते। ऐसा वस्तुस्वभाव है, तथापि जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गन्ध को सूँघकर, रस का स्वाद लेकर, स्पर्श को छूकर, गुण–द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा–बुरा मानकर राग–द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।

प्रवचन नं. ४२५, गाथा-३७३-३७२ मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ३
दिनांक - ०१-०७-१९८०

समयसार के २२१ के बाद। २२१वाँ कलश आ गया न?

स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दादिरूप परिणमते पुद्गल आत्मा से कहीं यह नहीं कहते हैं कि 'तू हमें जान', और आत्मा भी अपने स्थान से छूटकर उन्हें जानने को नहीं जाता। दोनों सर्वथा स्वतंत्रतया अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हैं। इस प्रकार आत्मा पर के प्रति उदासीन (सम्बन्धरहित, तटस्थ) है,... पर के प्रति उदासीन तटस्थ है, **तथापि अज्ञानी जीव स्पर्शादि को अच्छे-बुरे मानकर रागी-द्वेषी होता है, यह उसका अज्ञान है। इस अर्थ की गाथा कहते हैं:-**

णिंदिदसंथुदवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुगाणि।
ताणि सुणिदूय रूसदि तूसदि य पुणो अहं भणिदो ।।३७३।।
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं तस्स जदि गुणो अण्णो।
तम्हा ण तुमं भणिदो किंचि वि किं रूससि अबुद्धो ।।३७४।।
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणदि सुणसु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं सोद-विसय-मागदं सद्दं ।।३७५।।
असुहं सुहं व रूवं ण तं भणदि पेच्छ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं चक्खु-विसय-मागदं रूवं ।।३७६।।
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणदि जिग्घ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं घाण-विसय-मागदं गंधं ।।३७७।।
असुहो सुहो व रसो ण तं भणदि रसय मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं रसण-विसय-मागदं तु रसं ।।३७८।।
असुहो सुहो व फासो ण तं भणदि फुससु मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं काय-विसय-मागदं फासं ।।३७९।।

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसय-मागदं तु गुणं।।३८०।।
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणदि बुज्झ मं ति सो चेव।
ण य एदि विणिग्गहिदुं बुद्धि-विसय-मागदं दव्वं।।३८१।।
एयं तु जाणिऊणं उवसमं णेव गच्छदे मूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिव-मपत्तो।।३८२।।

नीचे हरिगीत।

पुद्गलदरब बहु भाँति निंदा-स्तुतिवचनरूप परिणमे।
सुनकर उन्हें 'मुझको कहा' गिन रोष तोष जु जीव करे।।३७३।।
पुद्गलदरब शब्दत्वपरिणत, उसका गुण जो अन्य है।
तो नहिं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तूँ क्यों करे।।३७४।।
शुभ या अशुभ जो शब्द वो 'तूँ सुन मुझे' न तुझे कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कर्णगोचर शब्द को।।३७५।।
शुभ या अशुभ जो रूप वो 'तू देख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे चक्षुगोचर रूप को।।३७६।।
शुभ या अशुभ जो गंध वो 'तू सूंघ मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे घ्राणगोचर गंध को।।३७७।।
शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे रसनगोचर स्वाद को।।३७८।।
शुभ या अशुभ जो स्पर्श वो 'तू स्पर्श मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे कायगोचर स्पर्श को।।३७९।।
शुभ या अशुभ गुण कोई भी 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर गुण अरे।।३८०।।
शुभ या अशुभ जो द्रव्य वो 'तू जान मुझको' नहिं कहे।
अरु जीव भी नहिं ग्रहण जावे बुद्धिगोचर द्रव्य रे।।३८१।।

यह जानकर भी मूढ़ जीव पावे नहिं उपशम अरे!
शिव बुद्धि को पाया नहीं वो पर ग्रहण करना चहे।।३८२।।

टीका – प्रथम दृष्टान्त कहते हैं : इस जगत में बाह्यपदार्थ–घटपटादि... अर्थात् घड़ा और वस्त्रादि, **जैसे देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्त नामक पुरुष को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है...** कोई हाथ पकड़कर किसी कार्य में जोड़े, **इसी प्रकार, दीपक को स्वप्रकाशन में (अर्थात् बाह्य पदार्थ को प्रकाशित करने के कार्य में) नहीं लगता कि 'तू मुझे प्रकाशित कर', और दीपक भी लोहचुम्बक–पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उसे (बाह्य पदार्थ को) प्रकाशित करने नहीं जाता; परन्तु, वस्तुस्वभाव दूसरे से उत्पन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए तथा वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए, दीपक जैसे बाह्य पदार्थ की असमीपता में अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है। (इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही प्रकाशता है ऐसे दीपक को, वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त होता हुआ मनोहर या अमनोहर घटपटादि बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करता।** आहाहा! क्या कहते हैं?

इसी प्रकार दार्ष्टान्त कहते हैं : बाह्य पदार्थ – शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा गुण और द्रव्य–जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है,... देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में जोड़े, **उसी प्रकार आत्मा को स्वज्ञान में (बाह्य पदार्थों के जानने के कार्य में) नहीं लगता...** आहाहा! **कि 'तू मुझे सुन,...** शब्द ऐसा कहते हैं? निन्दा के या स्तुति के शब्द। आहाहा! वे ऐसा नहीं कहते कि तू मुझे सुन तथा आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर निन्दा या स्तुति के वचनों को जानने नहीं जाता। आहाहा!

'तू मुझे सुन, तू मुझे देख,... बाहर की चीज़ ऐसा नहीं कहती कि तू मुझे देख। वे तो ज्ञेय है, आत्मा ज्ञान है। ज्ञेय है, वह तो परज्ञेय है। परज्ञेय ऐसा नहीं कहते कि तू मुझे जान। **तू मुझे सूंघ,...** सुन, ऐसा नहीं कहते। आहाहा! निन्दा के वचन होने पर भी, निन्दा के वचन ऐसा नहीं कहते कि तू मुझे सुन। अज्ञानी यह शब्द सुनकर यह मेरी निन्दा करता है, ऐसी कल्पना अज्ञान में करके रोष और तोष करता है। आहाहा! राग और द्वेष करता

है। आहाहा! कोई किसी को कहता नहीं कि तू मुझे देख और सुन। इसी प्रकार आत्मा भी अपना स्थान छोड़कर वहाँ देखने नहीं जाता, अपने स्थान में रहता है।

आत्मा को स्वज्ञान में नहीं लगाते कि 'तू मुझे सुन,... आहाहा! निन्दा या प्रशंसा शब्दों की पर्याय है। उस समय वह जड़ की पर्याय होने का काल है। उसे तू ऐसा जानता है कि मुझे कहा ऐसा मानकर तूने रोष-तोष किया, वह अज्ञान है। आहाहा! यह तो पूरी दुनिया से (अलग बात है)। निन्दा करे तो भी नहीं और स्तुति करे तो भी नहीं, यह तो शब्द ही शब्द हैं। निन्दा और स्तुति के शब्द पुद्गल की पर्याय है। वह पर्याय सुनकर तुझे ऐसा क्यों होता है कि यह मेरी निन्दा की और मेरी स्तुति की। क्योंकि वह तो शब्द की-जड़ की पर्याय है और तू तेरा स्थान छोड़कर सुनने नहीं जाता, तो भी तुझे यह क्यों अज्ञान के कारण... आहाहा! राग और द्वेष होते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

तू मुझे देख,... पहले में निन्दा और स्तुति में सुनने में आया, इसमें तू मुझे देख (आया)। चीज़ जो सादगी की चीज़ है, सुन्दर रूपवाली या कुरूपवाली, वह चीज़ तो पुद्गल की पर्याय है। वह तुझे नहीं कहती कि मैं रूपवान हूँ तो तू मुझे देख। आहाहा! तथा आत्मा भी अपने स्थान को छोड़कर रूप को देखने नहीं जाता। आहाहा! समझ में आया?

निन्दा और स्तुति के शब्द पुद्गल की पर्याय है, वह कहीं आत्मा की पर्याय नहीं। अत: निन्दा और स्तुति के शब्द जड़ की पर्याय होने पर भी तुझे ऐसा क्यों होता है कि यह मुझसे कहा? तेरा स्थान छोड़कर तू शब्द सुनने जाता नहीं और शब्द हैं, वे कहीं तेरे कारण हुए नहीं। वे तो निन्दा, स्तुति के परमाणु की जड़ की पर्याय होती है। आहाहा! वह निन्दा-स्तुति के जड़ के शब्दों का परिणमन जड़ के कारण हुआ है, उसे आत्मा ऐसा मानता है कि यह मुझे कहते हैं, यह अज्ञान है, वह मिथ्यादृष्टि है, मूढ़ है। आहाहा! कहो, सुमनभाई! ऐसी बात है।

शब्द और रूप... आहाहा! उसके कारण से परिणम रहे हैं। उसके बदले तुझे ऐसा क्यों होता है कि यह मेरी निन्दा करता है? वह निन्दा तो जड़ की पर्याय है और स्तुति भी जड़ की-पुद्गल की अवस्था है। वह मेरी स्तुति करता है, ऐसा तुझे क्यों लगता है? आहाहा! यह तेरी अज्ञानता, तुझे संसार में डुबाने के लिये है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

दुनिया को कहाँ पड़ी है, अकेली बाहर की हो... हा... में जिन्दगी व्यतीत करके, मरकर चौरासी में भटकने जाना है। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो नित्य है, आत्मा की सत्ता तो शाश्वत है, शरीर की सत्ता का नाश होगा, वह पर्याय बदल जाएगी। कहीं तू बदलने से कहीं आत्मा बदल जाएगा और उसे बदलने से तू बदल जाएगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो भगवान चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द अपने स्वरूप में है और निन्दा को, स्तुति को सुनकर और वह निन्दा और स्तुति मेरी करता है, ऐसा तुझे कहाँ से आया? तथा निन्दा और स्तुति के पास तू जाता नहीं। आहाहा! तथापि वह तेरी निन्दा और स्तुति की, ऐसी तुझे अज्ञान की कल्पना कहाँ से आयी? ऐसा कहते हैं। जगत से सूक्ष्म बात है। आहाहा! जगत किस प्रकार से चलता है? भटकने के मार्ग में चलता है, सब चार गति में भटकनेवाले हैं। आहाहा! एक देह छोड़कर पशु में... (मैं) कौन हूँ और यह क्या होता है? आहाहा! ऐसा विचार करने का समय भी कहाँ है? बाहर में कुछ पाँच-पच्चीस लाख धूल मिली हो, धूल करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ धूल, बस! गरकाव हो जाता है। मानो हम पुण्यशाली हैं और हमारे यह सब योग अनुकूल है। परन्तु यह तो सब पुद्गल, जड़ है। जड़ की अनुकूलता आत्मा को किस प्रकार आयी? और जड़ की प्रतिकूलता, वह आत्मा को कहाँ लागू पड़ी? आहाहा! यह तो तूने कल्पना करके माना कि यह मुझे अनुकूलता अभी है और यह सब प्रतिकूलता है, यह तो तेरी मानी हुई मूढ़ता है। आहाहा! यह दुनिया से अलग बात है। दुनिया के साथ कुछ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

यह शरीर ही मिट्टी का पिण्ड है और मिट्टी से-धूल से बना हुआ है। यह धूल में धूल मिल जाएगी, श्मशान में राख (होगी)। यह तेरा आत्मा सत्ता तो नित्य वस्तु है। आहाहा! तू ऐसी स्थिति में रुक जाएगा तो कहाँ तुझे भटकना और जाना है? आहा! कहो, शान्तिभाई! आहाहा! निन्दा और स्तुति के शब्द... आहाहा!

जैसे देवदत्त यज्ञदत्त को हाथ पकड़कर किसी कार्य में लगाता है, उसी प्रकार आत्मा को स्वज्ञान में नहीं लगाते... कौन? **कि 'तू मुझे सुन,...** निन्दा और प्रशंसा के शब्द तुझे कुछ कहते नहीं कि तू मुझे सुन। आहाहा! यह पूरी दुनिया किस प्रकार से चलती होगी? भटकने का इसका मिटेगा किस प्रकार? चौरासी के अवतार... आहाहा! यहाँ करोड़पति

मनुष्य मरकर ढोर में-पशु में अवतरित हो। माँस और शराब न खाता (पीता) होवे तो, हों! माँस और शराब खाता (पीता) होवे तो मरकर नरक में जाये। माँस, शराब न खाता (-पीता) हो तो वे सब ढोर में जानेवाले हैं, पशु होनेवाले हैं। नहीं आत्मा की खबर, नहीं यह क्या होता है और मुझे तथा परद्रव्य के साथ सम्बन्ध क्या है? परद्रव्य स्वतन्त्र है, मैं स्वतन्त्र हूँ। मुझे कोई कहे, ऐसा नहीं, तथा मैं उसे सुनने जाऊँ, ऐसा मैं नहीं। आहाहा! अरे रे! इस दुनिया की धूल के समक्ष ऐसे विचार कब किये हों? धूल अर्थात् पैसा। आहाहा!

यह स्वर्णमोहर और हीरा-माणिक और दस-दस करोड़ के हो, जहाँ अलमारियाँ भरी हों ऐसे। यह मानो हमारे हम। परन्तु तू कौन कहाँ है? वह तो जड़ है। जगत की चीज़ तेरे पास आयी कहाँ है? वह तो वहाँ उसके कारण से आयी है। उसके बदले तू कहता है कि मेरे हैं। आहाहा! और मुझे मिले हैं। तुझे कहाँ मिले हैं? तुझमें घुस गयी है वह चीज़? उस चीज में तू गया है? ऐसी चीज़ तुझमें आयी है? तो यह है क्या यह गजब? अज्ञान और मूढ़ता, मूढ़ता है। आहाहा! यह अरबोंपति और करोड़ोंपति की मूढ़ता है। मूढ़, मूढ़ मरकर पशु में जानेवाला है। आहाहा! कठिन काम है।

तू मुझे सुन, तू मुझे देख, तू मुझे सूंघ,... वह चीज़ कहाँ कहती है? गन्ध ऐसा कहाँ कहती है - मुझे तू सूँघ। आहाहा! बढ़िया फूल हों, उन्हें सूँघे। वे तो जड़ मिट्टी हैं। फूल और फूल की सुगन्ध तो मिट्टी, जड़, धूल है और तू तो प्रभु आत्मा है, भिन्न चीज़ है, अरूपी है। वह तो मिट्टी, धूल है। इस अरूपी को रूपी कहाँ से स्पर्श करे? आहाहा!

मुमुक्षु : कठिन बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो यह है। कठिन हो या... सत्य यह है, परम सत्य यह है। इससे कम, अधिक और विपरीत करेगा तो मरकर जाएगा, अधोगति में भटकेगा। वहाँ कुदरत में किसी की सिफारिश चले, ऐसा नहीं है। आहाहा! कि भाई! हम करोड़पति और अरबपति हैं, इसलिए हमें कुछ अच्छी पदवी मिलना चाहिए। वहाँ कुदरत के नियम में ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! वह अरबपति मरकर सूकर होता है और सूकर फिर विष्टा खाता है और (मरकर) नरक में जाता है। ऐसे अनन्त भव किये, प्रभु! अनन्त-अनन्त भव किये हैं, भाई! आदिरहित। आहाहा! इससे पहले... इससे पहले... इससे पहले... इससे

पहले... इससे पहले... ऐसे भव तो अनन्त-अनन्त किये हैं। आहाहा! वह ऐसा का ऐसा अज्ञान में और अज्ञान में अनन्त भव किये हैं। अभी भी यदि अज्ञान सेवन करेगा तो ऐसे ही भव तुझे करने पड़ेंगे। ऐसे तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा का यह फरमान है। आहाहा! अरे रे! उसे बाहर की धूल जरा देखे...

यहाँ आया न? तू मुझे सूँघ। फूल, फूल के वृक्ष और चारों ओर बगीचा और उसमें शाम के समय निवृत्त होकर फिर कुर्सी डालकर बैठे। दुकान का धन्धा पाँच बजे बन्द करे, फिर निवृत्त होकर बैठे भोजन से पहले। बगीचा हो फूल का, उसमें बैठे। आहाहा! ऐसे फूल के वे बनावे... क्या कहलाता है? गोटा बनावे। हाँ है न, यह तो सब देखा है और सब किया है सब। पूरी दुनिया देखी है, किस प्रकार चलती है। यहाँ तो ९१ वर्ष हुए। ९१। ९० और १। पूरी जिन्दगी उसमें गयी है।

मात्र एक पाँच वर्ष व्यापार किया है, पालेज। भरुच और बड़ोदरा के बीच पालेज है न? बाकी सब यही किया है पूरी जिन्दगी। एक पाँच वर्ष दुकान में (बैठे)। पिताजी की दुकान थी, चलायी थी। चलती है, अभी बड़ी दुकान है, वही दुकान है, चालीस लाख रुपये हैं, चालीस लाख रुपये हैं, अभी चार लाख की आमदनी है। वह दुकान है। मुझे तो ६६ वर्ष दीक्षा लिये हुए, वह दुकान छोड़े हुए ६८ वर्ष हुए। होली सुलगती है, वहाँ उसकी वह वापिस। आहाहा!

यहाँ कहते हैं तू मुझे... आहाहा! सूँघ। यह गन्ध तुझे कहती है? रूप तुझे कहता है कि तू मुझे देख? और रूप तथा गन्ध सुनने-देखने के लिये तू तेरा स्थान छोड़कर वहाँ जाता है? तेरे स्थान में तू और उनके स्थान में वे हैं। उनकी चीज़ उनकी चीज़ में, तेरी चीज़ तुझमें है। आहाहा! तुझमें तेरा अस्तित्व है और पर की वस्तु का तुझमें नास्तित्व है। परवस्तु में पर का अस्तित्व है और तेरी वस्तु का उसमें नास्तित्व है। आहाहा! चिमनभाई! उसमें पैसा... आहाहा! अभी गये थे न अफ्रीका! पैसा... पैसा... पैसा... पैसा... ढ़ेर अफ्रीका में। एक नैरोबी में साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं। व्याख्यान में लोग आते थे। अभी गये थे, ६६ दिन रहे थे। बहुत माँग थी, बहुत माँग थी इसकी। प्रेम, लोगों को बहुत प्रेम। अफ्रीका नैरोबी। अरबोंपति। ४५० तो करोड़पति गाँव में है और पन्द्रह अरबपति हैं। अरबपति आते

थे। मैंने कहा, सब धूल है। वे धूल के धनी मरकर जायेंगे कहीं, पर के स्वामी होंगे तो। परचीज़ तो पर की है, उसका स्वामी तुम कहाँ से हुए? तुम्हारा-तुम्हारी चीज़ है वह? आहाहा! यशपालजी! आहाहा! दुनिया से ऐसा तो उल्टा। ऐ... वजुभाई! दुकान में बैठे और पेढ़ी पर बैठे और उसमें जहाँ प्रतिदिन की पाँच-पाँच, दस-दस हजार की आमदनी हो। आहाहा! प्याला फट जाए (अभिमान चढ़ जाए)। अपने यह पूनमचन्द नहीं? मुम्बई (में) मकान चिनवाते हैं। पूनमचन्द मलूकचन्द। दस हजार की आमदनी एक दिन की, एक दिन की दस हजार की। पूनमचन्द, चन्दुभाई के भाई। आहाहा!

मुमुक्षु : परन्तु ऐसे तो कोई होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसे तो कितने ही कहे न। नैरोबी एक सात लाख की आबादी में साढ़े चार सौ तो करोड़पति हैं और पन्द्रह तो बड़े अरबपति हैं। सौ करोड़— अरबपति धूल बहुत इकट्ठी हुई। परन्तु वह धूल आयी है उसके कारण से और उसके ठिकाने। यह मानता है कि, वह मेरे पास आयी है और मेरी है। तू तेरा स्थान छोड़कर पैसे में अन्दर जाता है? और पैसा घुस जाता है तेरे आत्मा में? फिर वह तेरा कहाँ से हुआ? ममता की। अज्ञान की मूढ़ता की। ऐसे स्त्री, सुन्दर स्त्री। जड़-मिट्टी का शरीर धूल। वह मेरी है। परन्तु तेरी कहाँ से हो गयी? वह तो उसका आत्मा और शरीर तो तुझसे भिन्न है। वह भटकते, भटकते वह यहाँ आयी है और तू भटकता-भटकता यहाँ आया है। तुझे और उसे सम्बन्ध क्या है? यह ऐसा कहते हैं कि तू मुझे मान? वह आत्मा कहता है? आहाहा! शान्तिभाई! दुनिया से उल्टा है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : क्या करना, रुपये हों तो डाल देना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु रुपये कहाँ इसके थे (कि) डाल दे या रखे? इसके कहाँ थे कि रखे या डाले? पैसे उसके कारण से आये हैं, उसके कारण से रहे हैं और उसके कारण से जानेवाले हैं। तेरे कारण से आये नहीं, तेरे कारण से रहे नहीं और तेरे कारण से जानेवाले नहीं। अब यह तो कौन माने? दुनिया पागल, पागल। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र में तो ऐसा कहते हैं कि दान अच्छी जगह देना।

पूज्य गुरुदेवश्री : दान दे तो उसमें धूल में दान कहाँ इसके पैसे हैं? पैसे मेरे

मानकर दे, वह मूढ़ है। पैसे मेरे हैं, ऐसा मानकर (देता है)। वह तो जड़ है। चैतन्य का जड़ हो गया स्वामी? आहाहा! मेरे हैं, यह पाँच-पच्चीस लाख मैंने दिये। वे मेरे मानकर दे, वह महा मिथ्या मूढ़ जीव है। दुनिया से उल्टा है। दुनिया को-सबको जानते हैं। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं कि जो कुछ निन्दा और यह स्तुति के शब्द किसी के मुँह में से पड़े, वह तो जड़ की पर्याय है। उसमें तुझे कहाँ निन्दा और स्तुति हुई? तुझे किसने कहा निन्दा और स्तुति? तू कहाँ यहाँ से हटकर वहाँ सुनने जाता है? निन्दा की जगह निन्दा और आत्मा की जगह आत्मा है। उसके बदले तू मेरी निन्दा की—ऐसा तूने माना, यह महा अज्ञान और मूढ़ता है। आहाहा! इस चतुराई का बड़ा पानी, पानी उतर गया है। ऐ... शान्तिभाई!

मुमुक्षु : दृष्टि बदल जाए तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बात है। प्रभु! क्या करें? प्रभु! तेरी चीज़ तो कोई अलौकिक, प्रभु! तेरी चीज़ अन्दर आत्मा अनन्त-अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य से भरपूर भगवान अन्दर है। प्रभु! प्रभु! तुझे तेरी कीमत की खबर नहीं। और तू दूसरे की कीमत आँकने जाता है। तेरी कीमत की तुझे खबर नहीं। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, **तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख,...** यह मैसूर और रसगुल्ला, ऊँची चीज़ लेते हैं न! वह कहती है कि तू मुझे चख? वह तो जड़ है। ऐसी बात है, प्रभु! कठिन बात है, नाथ! जगत से उल्टी है, जगत तो अभी...

मुमुक्षु : भगवान होने की बात सत्य ही होगी न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वीतराग की वाणी है। तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर अरिहन्तदेव विराजते हैं, (महाविदेहक्षेत्र में) सीमन्धर भगवान... आहाहा! उनकी यह वाणी है, परमेश्वर के मुख में से निकली हुई यह वाणी है। आहाहा! जगत को बैठना कठिन पड़े, प्रभु! क्या करे? कभी सुना नहीं, सुनने की दरकार भी नहीं की। आहाहा!

तू मुझे सूंघ, तू मुझे चख,... यह मैसूर या रोटी और रसगुल्ला कहता है तुझे? वह तो जड़ है। तू मुझे चख और... सुनो! इस मैसूर को आत्मा खाता नहीं। मैसूर तो जड़ है,

मिट्टी-धूल है, धूल। और आत्मा तो अरूपी है। आत्मा अरूपी—रूपरहित, उसे खाता नहीं, मात्र उसके सन्मुख देखकर 'यह ठीक है', ऐसा राग करता है। राग को खाता है। और मानता है कि मैसूर को खाता हूँ। पण्डितजी! जगत से सब उल्टी बात है। यह चीज़ जो चीनी है, इस चीनी को आत्मा खाता नहीं। मिश्री तो मिट्टी, धूल है और आत्मा तो अरूपी है। मात्र मिश्री के सन्मुख देखकर अनादि की टेव पड़ी है कि यह ठीक है। मिठास में ठीक है, ठीक है। वह मिश्री की मिठास इसे नहीं आती। क्योंकि मिश्री की मिठास तो जड़ है और यह प्रभु तो अरूपी है। आत्मा तो रूप, रंग, गन्ध, रस, स्पर्श रहित है। और वह तो रूप, गन्ध, जड़ है। आहाहा! उस चीनी का स्वाद इसे नहीं है। मात्र चीनी का लक्ष्य करता है और ठीक है, ऐसी कल्पना करके राग करता है। इसे राग का स्वाद आता है। राग को चखता है और मानता है कि चीनी को चखता हूँ। चीनी को तीन काल में कोई चख नहीं सकता। ऐसी बात पागल जैसी लगे, पागल को, पागल को। क्या कहते हैं यह?

प्रभु! तुझे खबर नहीं, तेरी चीज़ अन्दर कौन है? अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान से भरपूर भगवान तू है। तूने भिखारी वेडा किये हैं। तुझमें नहीं, उसे माँगनेवाला हुआ माँगना और तुझमें है, उसे लेना नहीं चाहता। अन्दर वस्तु पड़ी है, उसे लेना नहीं चाहता और जो तुझमें नहीं है, उसे याचक होकर, माँगनेवाला-भिखारी होकर लाओ, पैसा लाओ, स्त्री लाओ, पुत्र लाओ, कीर्ति लाओ, मकान बड़ा बँगला करोड़ों रुपये के बनाओ। परन्तु किसके? तेरे कहाँ थे? भिखारी। तुझे यह क्या हुआ? भीख माँगा करता है। ऐ... चिमनभाई! यह यहाँ कहते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे, महाविदेह में भगवान विराजते हैं, सीमन्धर स्वामी। दो हजार वर्ष हुए। संवत् ४९। वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से यहाँ आकर यह शास्त्र रचे हैं। दुनिया के समक्ष प्रसिद्ध किया, वस्तुस्थिति की मर्यादा इस प्रमाण है। यह मर्यादा उल्लंघ कर मानोगे तो भटक मरोगे। आहाहा! ऐसी बात है। मैं भी वहाँ था। यह बैठना कठिन बात है, बापू! मैं वहाँ भगवान के पास था। देह छूटने के समय परिणाम ठीक नहीं रहे तो यहाँ काठियावाड़ में उत्पन्न हो गया। आहाहा! वस्तुस्थिति भगवान के पास सीधी सुनी है। आहाहा!

मुमुक्षु : काठियावाड़ अर्थात् आत्मा के सेवन का वाड़ा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो काठियावाड़ कहलाये न, उमराला ग्यारह मील है न, उमराला है न?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में कुछ नहीं उसमें। तेरह वर्ष उमराला रहे, नौ वर्ष दुकान। पालेज में दुकान है न? अभी दुकान है। चालीस लाख रुपये हैं, अभी चालीस लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है, अभी है। भरूच और बड़ोदरा के बीच। यह दुकान हमारे पिताजी की थी। वहाँ नौ वर्ष रहा। सब बहुत देखा है, व्यापार भी बड़ा किया है। पाँच वर्ष धन्धा-बन्धा (किया) है मुम्बई-बुम्बई में माल-बाल लेना और यह सब किया है। बीस वर्ष की उम्र से, हों! सब मजदूरियाँ। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **तू मुझे चख,...** यह चूरमे का लड्डू ऐसे मुँह में टुकड़ा आया या यह आम का रस आया, वह जड़ है, वह तो मिट्टी है। वह ऐसा कहता है कि तू मुझे चख? आहाहा! और आत्मा अपने अरूपी के स्थान को छोड़कर चखने जाता है? वह तो जड़ है। अरूपी आत्मा रूपी स्थान में अन्दर जाता है? भगवान आत्मा तो अन्दर अरूपी है। रंग, गन्ध, वर्ण, रस, स्पर्श आत्मा में नहीं है। और यह तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाली चीज़ है। उसे आत्मा कैसे स्पर्श करे और कैसे चखे? समझ में आया? आहाहा! यह तो दुनिया की उलट-पुलट की बातें हैं। कान में (सुनना) मिलना मुश्किल है। प्रभु! सब फेरफार हो गया है। दया पालो, व्रत करो और यह करो और धूल करो और ऐसा कर-करके जिन्दगी चली गयी। आहाहा! सत्य क्या है, परम सत्य का स्वरूप क्या है, यह अन्तर में अनुभव किये बिना, जाने बिना भव का अन्त आये ऐसा नहीं है, बापू! नहीं तो भव में भटक-भटक कर मर गया है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! लड्डू और मैसूर...

मुमुक्षु : रस चखे नहीं परन्तु रस को जानता है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानता है, यह कहना भी व्यवहार है। सुनो! जो यह दूसरी चीज़ है, उसे आत्मा जानता है, ऐसा कहना व्यवहार है। क्यों? - कि आत्मा उसमें तन्मय हुए बिना जानता है। हरिभाई! अलग प्रकार है, बापू! दुनिया से अलग प्रकार है। यह रस है,

लड्डू है, उसे जानता भी नहीं। वास्तव में तो तब स्वयं अपने को जानता है। क्योंकि लड्डू में यह तन्मय हुआ नहीं। अन्दर तन्मय—एकमेक तो हुआ नहीं। एकमेक हुए बिना उसे जाना कहाँ से ? आहाहा ! अरे रे ! ऐसी बातें।

चखता तो नहीं परन्तु जानता है या नहीं ? ऐसा हरिभाई पूछते हैं।

जाने बिना स्वयं अपने को जानता है और उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान अपने में होता है, उसे जानता है। उस सम्बन्धी का अपना ज्ञान, अपने में होता है, उसे यह जानता है। एक अक्षर कम-ज्यादा होगा तो उल्टा पड़ेगा।

जो कुछ यह आम का रस है... अभी तो यह मौसम है न ? आम के टुकड़े किये हों ऐसे ऊँचे, टुकड़े ऐसे खाता हो और ऐसे मानो, ओहोहो ! क्या है प्रभु तुझे ? इस चीज़ को जड़ को चखने तो जाता नहीं परन्तु वास्तव में तू उसे जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। क्यों ? कि जिसे जानता है, उसमें यह तन्मय नहीं है। मात्र उसे जानने का जो ज्ञान अपना है, उसमें यह तन्मय है; इसलिए वास्तव में यह स्वयं अपने को जानता है। परन्तु यह कहाँ विचारने का समय कहाँ ? यह सब होली सुलगती है। व्यापार, पैसा और स्त्री-पुत्र और... उसमें ऐसा सुनने को मिले... आहाहा !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अग्नि को जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। उस ज्ञान में अपना स्वभाव है कि स्वयं अपने को जाने और पर को पर की अपेक्षा बिना पर को अपने में जाने। पर को स्पर्श किये बिना, पर बिना, पर की अस्ति है; इसलिए उसे जानता है—ऐसा नहीं है। इस जानने के अस्तित्व का इसका स्वभाव है, स्व-पर को जानने का अपना स्वभाव, वह स्वयं अपने को जानता है। अरे ! इतना सब कहाँ ले जाना ? आहाहा ! अग्नि से वह जलता नहीं। आहाहा ! अर र र ! यह स्पर्श में आयेगा।

तू मुझे स्पर्श,... देखो ! यह आया। यह अग्नि और स्त्री का शरीर तुझे कहता नहीं कि तू मुझे स्पर्श। आहाहा ! कोमल रेशम के गद्दे, कोमल चीज़ें तुझे कहती नहीं कि **तू मुझे स्पर्श...** स्पर्श। तू अपना स्थान छोड़कर वहाँ उनके स्थान में स्पर्श करने नहीं जाता। आहाहा ! प्रभु ! तेरी मर्यादा तो यह है, नाथ ! अब इससे उल्लंघकर चौरासी के अवतार में

भटकता है, बापू! आहाहा! एक क्षण में देह छूट जाती है। ऐसे लाख इसके वैद्य आवे न, परन्तु जिस समय में, जिस क्षण में, जिस क्षेत्र में देह छूटना है वह छूटेगी ही। एक समय बढ़े ऐसा नहीं है और एक समय घट ऐसा नहीं है। आहाहा! उसमें प्रभु! तेरी चीज़ है, उसे तू जान ले कि यह मैं कौन हूँ? यदि उसकी कीमत कर ले और उसका अनुभव करे तो जन्म-मरण मिटेगा; नहीं तो जन्म-मरण मिटनेवाला नहीं है, प्रभु! आहाहा! यह तो आ गया। आहाहा! आचार्यों ने गजब काम किया है न! आचार्य सन्तों ने जगत को प्रसिद्ध करके दुनिया की दरकार छोड़कर, (कि) यह दुनिया को जँचता है या नहीं? समाज को सुगठित रखा जा सकेगा या नहीं? उसका वह जाने। वस्तुस्थिति यह है। आहाहा!

कहते हैं **तू मुझे स्पर्श...** यह अग्नि ऐसा कहती है कि तू मुझे स्पर्श? स्त्री का शरीर है धूल-मिट्टी का, वह ऐसा कहता है कि तू मुझे स्पर्श? इसी प्रकार अपना आत्मा अपना स्थान छोड़कर स्पर्शने जाता है? शरीर के परमाणु—जड़ में जाता है? भगवान अरूपी उस रूपी में जाता है? रूपी अरूपी में आता है? आहाहा! क्या है यह तब? सर्वत्र इस धर्म के नाम की गड़बड़ है। धर्म के नाम से अभी गड़बड़ हो गयी। वस्तुस्थिति कौन है और पर क्या है, इसके भेदज्ञान बिना-पृथक्ता के ज्ञान बिना कभी पृथक् हो सके, ऐसा नहीं है। आहाहा! सभी चीज़ें जो स्पर्श, गन्ध, रस आदि शब्द... अरे! यह शरीर, अरे! अन्दर कर्म, अरे! अन्दर राग और द्वेष, वे भी भिन्न विकार है, प्रभु! तू निर्मल-निर्विकारी भिन्न है। आहाहा! यह विकार दु:खरूप दशा प्रभु तूने खड़ी की है, तेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा! इस विकार से रहित निर्विकारी अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु सत् चिदानन्द आत्मा है। सत् है, चिदानन्द अर्थात् चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द का समुद्र भरा है। आहाहा! सामने कब देखा तूने? आहाहा! भरे बर्तन के सामने देखा कब है?

इसी प्रकार दुनिया में नहीं कहते अपने? गृहस्थ का पुत्र हो और व्यभिचार में चढ़ गया हो। करोड़पति का पुत्र हो और व्यभिचार में (चढ़ गया हो) तो कहते हैं, बेटा! यह अपना घर अब नहीं ठहरेगा और ऐसे इस सन्दूक में से लेकर तूने देने जाता है और इस व्यभिचार में अपना नहीं निभेगा। आहाहा! इसी प्रकार तीन लोक के नाथ जगत को कहते हैं कि तू जड़ का अनुभव करता है, ऐसा मानता है, वह तेरा नहीं टिकेगा। तेरा तत्त्व भटकने में चार गति में परिभ्रमण में जायेगा। आहाहा! बहुत अधिकार... सुमनभाई! बराबर

अधिकार अच्छा आ गया है। यह तुम्हारा वेतन छह हजार, आठ हजार का वेतन। महीने का छह हजार का वेतन, आठ हजार का वेतन। धूल में भी ऐसे तो कई पड़े हैं। लाखों रुपये की आमदनी एक दिन की, अभी ऐसे कितने ही बहुत से पड़े है। धूल में है, उसमें मरकर नीचे जानेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **तू मुझे स्पर्श...** कहती है वह चीज़? कोमल रेशम के गद्दे, कोमल चीज़, अरे! लड़के छोटे रूपवान छोटे हों, छह महीने के, बारह महीने के (हों उन्हें) ऐसे बच्ची भरते हैं न? बच्ची। वह जड़ है, प्रभु! तू आत्मा भिन्न, वह जड़ भिन्न, वह भिन्न, तू चुम्बन किसे लेता है, यह तुझे खबर है? क्या करता है उसमें? उस चुम्बन में क्या हुआ, तुझे खबर है? यह उसे स्पर्शा नहीं, उसे तूने स्पर्शा नहीं। तुझे अन्दर राग हुआ है, विकार हुआ है। विकार को स्पर्श कर विकार के दुःख को भोगता है। आहाहा! ऐसा है। आहाहा! गले उतरना कठिन पड़े, प्रभु! कभी सुना नहीं, यह रास्ता लिया नहीं, उल्टा रास्ता छोड़ा नहीं, सुल्टा रास्ता लिया नहीं। आहाहा! चौरासी के अवतार में अनादि से भटककर आत्मा दुःखी है। उसकी इसे खबर नहीं है। यह राग-द्वेष से पैसे में लक्ष्य जाता है, वह दुःख है। स्त्री में लक्ष्य जाता है, वह राग है, दुःख है। पाँच-पचास लाख का मकान बनाया हो और वास्तु करे तथा कार्यवाहकों को बुलाकर, बड़ों को बुलाकर लापसी करे, हो हा... यह सब राग है, प्रभु! यह दुःख है। आहाहा!

मुमुक्षु : इसमें तो मजा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मूढ़ किसे कहें? जिसमें दुःख है, उसे मजा मानता है। आहाहा! क्योंकि उस परसन्मुख के लक्ष्य में तो राग है। राग अर्थात् दुःख। दुःख को मजा मानता है, वह मूढ़ है। फिर भले करोड़पति और अरबपति हो और महीने में लाख रुपये का वेतनदार हो। है न वहाँ तुम्हारे पन्द्रह हजार का वेतनदार एक दलीचन्दभाई का पुत्र मुम्बई में। महीने का पन्द्रह हजार (वेतन)। उसमें क्या? धूल में। यहाँ है न, उसका मकान यहाँ है। उसकी माँ बहुत बार यहाँ रहती है।

यहाँ कहते हैं, स्पर्शवाली चीज़ तुझे कुछ कहती है (कि) तू मुझे स्पर्श, मुझे छू। आत्मा अरूपी है। आत्मा में तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है नहीं। रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं,

वह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श को किस प्रकार स्पर्श करे? अरे... अरे...! ऐसी कैसी बात? पागल जैसी बातें लगे।

मुमुक्षु : भगवान जैसी है, भगवान होने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भगवान होने की बात है, प्रभु! भटक-भटक कर मरकर दुःखी हुआ है। चौरासी के अवतार में एक-एक चौरासी की योनि, चौरासी लाख योनि की एक-एक योनि में अनन्त अवतार किये हैं, प्रभु! कौवे के, कुत्ते के, सूकर के, नरक के... आहाहा! ऐसे अनन्त भव भूतकाल में किये परन्तु जहाँ यह भव मिला वहाँ भूल गया। आहाहा! और भूतकाल को याद करता नहीं कि भूतकाल में था कहाँ परन्तु अभी तक तू? आत्मा है या नहीं? सत्ता है, (वह) शाश्वत है या नहीं? तो वह चीज़ रही कहाँ? भटकने में रही। आहाहा!

मुमुक्षु : चार गति में से एक गति में था।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई एक गति में था ही। वह तो चारों गति में अनन्त बार रहा है। यह मनुष्यपना कहीं एक बार नहीं पाया, ऐसे तो अनन्त बार पाया है। और अनन्त बार अरबोंपति हो गया है, अनन्त बार नरक में गया है, अनन्त बार पशु-ढ़ोर हुआ है, अनन्त बार स्वर्ग में देव हुआ है। उस मूढ़ता के कारण सब भव किये हैं। वस्तु की स्थिति की मर्यादा की खबर नहीं होती। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, तू मुझे सूँघ, स्पर्श। आहाहा! **तू मुझे जान,...** ठीक! लो, यह आया। वह चीज़ ऐसा कहती है कि तू मुझे जान और तेरा आत्मा यहाँ से जाकर उस चीज़ में वहाँ जानने जाता है? आहाहा!

और आत्मा भी लोह चुम्बक-पाषाण से... लोहचुम्बक का पत्थर होता है, वह लोहे को खिंचता है, लोहचुम्बक का पत्थर है, वह लोहे को खींचता है, वैसे **लोह चुम्बक-पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की-भाँति अपने स्थान से च्युत होकर...** वह खिंचाव करता है कि तू वहाँ जा? लोहचुम्बक का पत्थर जैसे सुई को खींचता है, वैसे यह स्पर्श, गन्धवाली चीज़ें तुझे खींचती है? तू मूर्ख होकर वहाँ जाता है। यह अच्छा है और यह बुरा है, ऐसी कल्पना करने लग पड़ा है। आहाहा! ऐसा भारी कठिन काम। यह वाणी सुनना

मुश्किल पड़े। आहाहा! परम सत्य कान में पड़ना मुश्किल पड़े। क्योंकि वह कहाँ है? और सुनने में भी मुश्किल। पूरे दिन ऐसा करते हैं। नहीं करते? परन्तु तू क्या करता है? पूरे दिन अज्ञान करता है। आहाहा! मैंने उसका किया और मैंने उसका किया और मैंने उसका किया। मैं व्यवस्थापक हूँ, अमुक की व्यवस्था करनेवाला, व्यवस्था मुझसे हुई है न... धूल से भी हुई नहीं, सुन न! उसकी व्यवस्था हुई, उससे हुई। तुझसे हुई, यह आया कहाँ से? आहाहा!

यहाँ तो वहाँ तक लिया, तू मुझे जान, यह भी मिथ्या है, ऐसा कहते हैं। हरिभाई! यह चीज़ ऐसा कहती है कि तू मुझे जान? और अपना आत्मा स्वयं लोहचुम्बक की भाँति खिंचकर वहाँ जानने जाता है? आहाहा! बड़ी गड़बड़। साधारण लोगों को तो बेचारों को जँचता नहीं। मिलता कहाँ है? फालतू मजदूर, मजदूर। पूरे दिन मजदूरी करना। मजदूरी। तुम्हारे नौकरी क्या? पूरे दिन मजदूरी। फिर भले आठ हजार का वेतन मिले या दस हजार धूल का मिले। पूरे दिन मजदूरी राग की और द्वेष की, राग की और द्वेष की करना। बड़ा मजदूर। सत्य की कुछ खबर नहीं होती।

यहाँ कहते हैं कि **तू मुझे जान,...** आहाहा! ऐसा वह चीज़ कहती है? तथा तू लोहचुम्बक की सुई जैसे खिंच जाती है, वैसे तू यहाँ से खिंचकर वहाँ जाता है? यहाँ से खिंचान में अरूपी तो यहाँ भगवान अन्दर है। आहाहा! वह अपना स्थान छोड़कर वहाँ जानने जाता है? वास्तव में अर्थात् पर को जानता नहीं, अपने को जानता है। परन्तु इसे यह खबर कहाँ है? आहाहा! **और आत्मा भी लोह चुम्बक–पाषाण से खींची गई लोहे की सुई की–भाँति अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (–बाह्यपदार्थों को) जानने को नहीं जाता;...** उस पदार्थ को जानने नहीं जाता। इस पुस्तक को जानने आत्मा नहीं जाता और इसमें जो ज्ञान होता है, वह पुस्तक में से नहीं (आता)। यह तो जड़ है, मिट्टी है। आहाहा! जड़ में से ज्ञान होगा? ज्ञान का तो समुद्र भगवान है। अन्दर प्रभु स्वयं आत्मा ज्ञान का सागर है। वह ज्ञान, ज्ञान से ज्ञान होता है, उसमें से (पर में से) नहीं। आहाहा!

उसमें मुम्बई के व्यापारी बड़े, आहाहा! धमालिया करोड़पति और अरबोंपति। बड़ी बखारियाँ भरी हों। आहाहा! मस्तिष्क फट गया हो अन्दर से (अभिमान चढ़ गया

हो)। यह सुनने के लिये निवृत्त नहीं होते। आहाहा!

कहते हैं कि वह चीज़ जो थी... चीज़ कहा न? कौन सी? कि तू मुझे सुन—शब्द। तू मुझे देख—रूप। तू मुझे सूँघ—गन्ध। तू मुझे चख—रस। तू मुझे स्पर्श—स्पर्श। तू मुझे जान—वस्तु। और आत्मा अपने को छोड़कर वहाँ जाता नहीं। **अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें (–बाह्यपदार्थों को) जानने को नहीं जाता; परन्तु वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता...** आहाहा! **इसलिए वस्तुस्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता...** क्या कहते हैं? वस्तु का जो स्वभाव है, वह पर द्वारा उत्पन्न नहीं होता और पर का स्वभाव इस वस्तु द्वारा उत्पन्न नहीं हो सकता। पर द्वारा आत्मा का नहीं होता और आत्मा द्वारा पर का कुछ नहीं होता, कुछ नहीं होता। आहाहा! यह सब क्या तूफान किया सब? हीरा-माणिक का। चिमनभाई! इन्हें बड़ा स्टील का, स्टील का कारखाना है। स्टील-स्टील। धूल के कारखाने। आहाहा! यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि तू उसे स्पर्श नहीं करता, उसे देखता नहीं, उसे चखता नहीं, उसे सूँघता नहीं, उसका स्पर्श नहीं करता, उसे जानता भी नहीं। आहाहा! गाथा बहुत ऊँची है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२६, गाथा-३७३ से ३८२ रविवार, ज्येष्ठ कृष्ण ९
दिनांक - ०६-०७-१९८०

समयसार, गाथा है न? ३८२। इस ओर का पैराग्राफ।५४५ पृष्ठ, गुजराती में अन्तर होगा, यह पुराना है।५४५ पृष्ठ की पहली लाईन है। ये गाथायें ३८२ के बाद। ३८२ गाथा है न? उसके बाद **आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की...** दीपक का दृष्टान्त लिया है न? कि दीपक है, उसके समीप में पदार्थ बसते हों तो भी दीपक को कोई विक्रिया नहीं होती और दूर हों तो विक्रिया नहीं होती तथा समीप और दूर हो तो जाने बिना नहीं रहता, ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। उसका प्रकाश नजदीक पदार्थ हो या दूर हो, दीपक का स्वभाव उसे प्रकाशित करने का है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव, पदार्थ कोई भी आत्मा के अतिरिक्त नजदीक में हों या दूर हों, उसे आत्मा विक्रिया किये बिना, विपरीत बुद्धि किये बिना, राग-द्वेष किये बिना स्व-पर को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। समझ में आया इसमें? आहाहा! दीपक है, वह तो अपने कारण से प्रकाशता ही है। जगत में दीपक के नजदीक पदार्थ हो तो कहीं दीपक के प्रकाश को विपरीत कर सके या विक्रिया बनावे, ऐसा नहीं है। नजदीक में हो तो भी दीपक प्रकाशित करता है और दूर होवे तो दीपक प्रकाशित करता है इतना। जानने का कहाँ वहाँ है?

इसी प्रकार **आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की असमीपता में...** बाह्य पदार्थ दूर हों, **(अपने स्वरूप से ही जानता है)...** आहाहा! भगवान सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं। तो भी आत्मा दूर है तो भी जान सकता है। दूर है तो न जान सके, ऐसा नहीं है। तथा जानने में, दूसरे को जानने में ऐसे विक्रिया राग-द्वेष हों, इसलिए पर के ऊपर लक्ष्य करके राग-द्वेष करे तो हो। पहले ये सिद्धान्त आ गया है न? पर के प्रति लक्ष्य करे और राग करे तो राग होता है। नहीं तो जाने तो जानने का स्वभाव है। पदार्थ दूर हो या नजदीक हो। **आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की असमीपता में...** और नजदीक में हो, उसे जानता है।

उसी प्रकार बाह्य पदार्थों की समीपता में भी... आत्मा के नजदीक में हो तो जानता है। आत्मा से पदार्थ दूर हो तो जानने में अधिक समय लगे और नजदीक हो तो कम लगे,

ऐसा नहीं है। समझ में आया? इस भगवान (का) स्वभाव तो जानना-देखना है, जानने-देखने का पूरा पिण्ड पड़ा है। ज्ञानसागर है। अब उस ज्ञानसागर के निकट में वस्तु हो तो भी स्वयं अपने द्वारा जानता है और दूर हो उसे भी स्वयं अपने द्वारा जानता है। उसे जानता है, ऐसा कहना वह तो व्यवहार है। आहाहा!

(अपने स्वरूप से 'ही' जानता है)... ऐसा है, देखा? उसमें ऐसा है। क्योंकि यहाँ है, दूसरे में ऐसे बाह्यपदार्थ भी **(अपने स्वरूप से ही जानता है)...** वहाँ दूसरे में 'ही' है, इसलिए पहले में 'ही' ले लेना। दूसरे बोल में है न? आया हाथ? भाई! आया न हाथ? **आत्मा जैसे बाह्य पदार्थों की असमीपता में...** दूर होने में। वहाँ 'ही' शब्द नहीं है, परन्तु दूसरे में 'ही' है, इसलिए उसमें डाल देना। **बाह्य पदार्थों की समीपता में भी...** नजदीक पदार्थ हो तो भी आत्मा **(अपने स्वरूप से ही जानता है)...** आहाहा!

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा तो ज्ञान का पूर है, ज्ञान का सागर है, ज्ञान का विशाल समुद्र है। वह ज्ञानस्वभाव स्वत: ऐसा है कि कोई भी बाह्य पदार्थ, बिच्छु, नाग और भगवान दूर हों तो भी अपने ज्ञान से वर्तमान में उसकी अपेक्षा बिना स्वयं अपने से अपने में स्वपरप्रकाश से है। और सर्प, जहर और भगवान समीप में हों, सर्प, जहर और भगवान, तो भी आत्मा जानता है। आहाहा! अपने स्वरूप से ही, 'ही' शब्द आया है न? पहले में ही नहीं था इसलिए इसमें आया तो उसमें भी लगा लेना। नीचे भावार्थ किया है। भाई ने-पण्डितजी ने।

(इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस... अपने स्वरूप से जानते हुए ऐसे उसे। आहाहा! विवाद... विवाद... विवाद... भाई ने अर्थ किये हैं न? भाई! (समयसार) कलश के। जगनमोहनलालजी। अध्यात्म अमृतकलश, अब उसका कितना विरोध किया है। मोतीलाल फलटन में शास्त्री है। उसने कितना विरोध किया है। ऐसा कि जहाँ-तहाँ ज्ञानी हो, वहाँ तुम चौथेवाले को भी ज्ञानी सिद्ध कर देते हो, ऐसा नहीं है। वहाँ ज्ञानी अर्थात् मुनि ही है। कहो, अब ऐसा। जैनदर्शन (पत्रिका) में बड़ा पृष्ठ भरा है। परस्पर में शास्त्री... जगनमोहनलाल तो बड़े विद्वान व्यक्ति हैं। फूलचन्दजी, कैलाशचन्दजी और जगनमोहनलाल तीन तो विद्वानों में बड़े कहलाते हैं। अब उन्होंने यह कलश के अर्थ किये हैं। देखे हैं? यह कलश। अमृत के भरे हैं। अध्यात्म अमृतकलश। उसकी भूल का पूरा पृष्ठ भरा है और यहाँ

के विरुद्ध का। बुलन्दशहर का सुल्तानसिंह ने भूल रखी है। इससे ऐसा होता है, इससे ऐसा होता है और इससे ऐसा होता है। आहाहा! प्रभु!

यहाँ तो वहाँ तक बात ली है कि आत्मा चैतन्य दीपक है। उस दीपक की समीप में जैसे पदार्थ हो तो भी ज्ञान में विक्रिया उत्पन्न किये बिना ज्ञान स्वयं अपने द्वारा जानता है और दीपक से पदार्थ दूर हो तो उसे जानना ठीक पड़े, ऐसा कुछ है? इसी प्रकार अठीक पड़े, दूर हो तो अठीक पड़े, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा को नजदीक के पदार्थ जानने में जैसे पर का कारण नहीं है। नजदीक है, इसलिए ज्ञान में कुछ विक्रिया (उपजावे), परपदार्थ देखने से परपदार्थ विक्रिया उपजावे, ऐसा नहीं है। आहाहा! और परपदार्थ दूर हो, उसे जानने में देरी लगे अथवा वह उसमें कुछ विक्रिया—विपरीतपना, दीपक में जैसे उपजावे, वैसे नहीं है, उसी प्रकार आत्मा में विक्रिया उत्पन्न नहीं कराता। आहाहा! नजदीक के कर्म, नजदीक में नजदीक अन्दर कर्म को भी जानता है, जानता है। जानने में कर्म विक्रिया उत्पन्न नहीं करता और ज्ञान से दूर वस्तु हो, सिद्ध भगवान या दूसरे के कर्म या दूसरे आत्मायें दूर हों तो जानने में देरी नहीं लगती और जानने में विक्रिया उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! समझ में आया? ऐसी चीज़ है।

ज्ञान क्या करे? आत्मा के अतिरिक्त दूसरी परचीज़ को-शरीर को हिलावे और वह क्या करे यह? आहाहा! वह तो चैतन्य दीपक है। नजदीक हो या दूर हो। नजदीक में शरीर, कर्म, वाणी, मन नजदीक में है। वे नजदीक में हो तो भी आत्मा तो जानता है। वह उनके कारण से नहीं। अपना स्वभाव है, उसे जाने और पर को जानते हुए विक्रिया उत्पन्न (हो, ऐसा नहीं है)। ऐसा जो आया कि परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य कर तो राग होगा। वह तो विकार हो, इस अपेक्षा से बात की है। बाकी पर को जानते हुए विकार हो, ऐसा कुछ है नहीं। पर को जानते हुए विकार हो तो केवली तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। आहाहा! कहो! पण्डितों-पण्डितों के बीच विवाद अब। समयसार क्या चीज़ है, (इसकी खबर नहीं)। जहाँ-तहाँ तुम ज्ञानी अर्थात् समकिती अर्थ कर डालते हो। ज्ञानी अर्थात् मुनि लेना। समकिती को तो श्रद्धा मात्र है, उसे क्या?

मुमुक्षु : टीकाकार ने तो स्पष्ट ज्ञानी कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी कहा परन्तु स्पष्टीकरण नहीं किया। कलश टीकाकार ने

स्पष्टीकरण किया। हेमचन्दजी ने स्पष्टीकरण किया है, नहीं ? भाई, हेमचन्दजी नहीं ? यहाँ ज्ञानी कहा है न, वह समकिती अर्थात् ज्ञानी लेना। वहाँ से ज्ञानी लेना। ज्ञानी को बन्ध नहीं, उसे ज्ञानी से ऐसा ले लेना। वह अल्पबन्ध है, उसे न गिनकर स्थिति, रस थोड़ा पड़े, ऐसा बन्ध ही नहीं है। न गिनकर ज्ञानी को बन्धन नहीं है (ऐसा कहा है)। तब वे कहते हैं, बन्धन नहीं है, उसमें ज्ञानी नहीं लेना, वह तो सातवें (गुणस्थानवाले) लेना। कहो, अब पण्डितों के बीच में विवाद। जगनमोहनलालजी और मोतीलाल फलटनवाला। आहाहा! अरे! प्रभु! किसके साथ वाद करना है ? भाई! 'वाद-विवाद कर सो अन्धा'—आया नहीं ? आहाहा! स्वसमय और परसमय के साथ (वाद-विवाद करना नहीं)। वस्तु ऐसी है। जिस अपेक्षा से कथन है, उस अपेक्षा से न जाने तो वाद-विवाद खड़ा हो जाता है।

यहाँ तो कहते हैं, (पदार्थ) दूर हो या नजदीक हो, अपने स्वरूप से अर्थात् अपने स्वरूप से जानता है, ऐसी भाषा है। यह क्यों लिया ? कि वह दूर या नजदीक पदार्थ, उसके कारण नहीं जानता है। अपने स्वभाव / स्वरूप से ही जानता है। आहाहा! इस चीज़ को जानते हुए अपने स्वरूप से स्व और पर को जानने का स्वभाव है, अपने स्वरूप से ही जानता है। दूसरी चीज़ को जानते हुए, दूसरी चीज़ की अस्ति है, इसलिए यहाँ उसका ज्ञान आया, पहले वह नहीं था और दूसरी बार उसकी अस्ति आयी, तीसरी बार तीसरी अस्ति आकर ज्ञान आया—ऐसा नहीं है। उससे तो नजदीक हो या दूर हो; काल में भी दूर हो या नजदीक हो; क्षेत्र में भी नजदीक हो या दूर हो। आहाहा!

जैसे दीपक का प्रकाशित करने का स्वभाव है, वैसे जीव-प्रभु का जानने का स्वभाव है। किसी का करने का नहीं, किसी को मदद करने का नहीं। आहाहा! किसी भूखे को आहार देना और प्यासे को पानी देना और रोगी को औषधालय बनाकर औषध देना, यह आत्मा कर सके, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा! वह नजदीक में चाहे जैसी क्रिया होती हो, वह स्वयं अपने स्वरूप से जानता है और दूर हो, उसे भी अपने स्वरूप से ही दूर को जानता है। आहाहा! समीप या असमीप आत्मा को कुछ फेरफार नहीं कर सकता। पदार्थ नजदीक हो या दूर हो, आत्मा तो जानता है, ऐसा उसके स्वरूप से स्वयं का स्वभाव है। आहाहा!

अब इसमें बड़ा विवाद। वे ऐसा कहें कि ज्ञानी तो मुनि को ही लेना। ज्ञानी चौथे

में अविरति नहीं। अविरति को तो श्रद्धामात्र ही है, उसे कहीं दूसरा अनुभव अधिक नहीं है। आहाहा! अरे रे! ऐसी बात। भाई! यह जानने का स्वभाव किसने अकेले मुनि के लिये कहा है? यह तो समकिती को ज्ञानी को ज्ञान के स्वभाव की बात है। समकिती ज्ञानी है, पाँचवें गुणस्थानवाला ज्ञानी है, मुनि भी ज्ञानी है। चौथे से ज्ञानी लेना है। इन्होंने ज्ञानी-अज्ञानी का स्पष्टीकरण किया है। ऐसे लो तो बारहवें तक अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् पूर्ण नहीं जानता, इस अपेक्षा से। अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान, ऐसा नहीं है। और ऐसे ज्ञान चौथे से है। आहाहा! शास्त्र में बारहवें तक का अज्ञान लिया है। अज्ञान अर्थात् वहाँ जानना कम है, ऐसा। अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान, ऐसा नहीं है। आहाहा! अब वहाँ अज्ञान कहा। चौथे, पाँचवें, छठे में सर्वत्र अज्ञान है। आहाहा! मुख्य बात साधु की मुख्यता से बात की है। स्वयं साधु है। परन्तु समकित की बात की न अन्दर? चौदहवीं गाथा में अकेली समकित की बात है, पन्द्रहवीं ज्ञान की है। आहाहा! और सर्वत्र ज्ञान-प्रधान बात है। जिस जगह जहाँ ज्ञान मुनि का लेना हो तो ऐसे ले; चौथे का लेना हो तो ऐसे ले, अन्तिम लेना हो तो ऐसे ले। किस जगह क्या कहा है... आहाहा! पण्डित-पण्डित पढ़े हुए इतने वर्ष से, पचास-पचास, साठ वर्ष से (पढ़े हुए) अब उसमें विरोध। जैनदर्शन (पत्रिका) में बड़ा विरोध आया है। अब यहाँ का विरोध करे, उसमें क्या बात? आहाहा! उसमें एक विरोध है, दूसरा विरोध बहुत नहीं। शुभभाव से भी होता है, यह एक बात है। इतना विरोध है। बाकी सब अर्थ अच्छे किये हैं। पढ़ा है। अध्यात्म अमृत... अध्यात्म अमृत कलश। जगनमोहनलालजी ऐसे नरम व्यक्ति हैं। मूल यह परम्परा टूट गयी, इसलिए कितनी ही बात में अन्तर आ गया होता है।

यहाँ कहते हैं कि स्वयं से जानने का जाने। **अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस...** परवस्तु को... आहाहा! इस स्त्री के शरीर को या पैसे को नजदीक देखे तो भी उससे विक्रिया नहीं होती। आहाहा! ओहोहो! लक्ष्मी दूर हो तो भी नहीं होती और नजदीक में पाँच, दस लाख के हीरे के, हीरे के ढ़ेर हों। यह एक हीरे की खान तुम्हारे नाम की निकली है। परन्तु क्या है? वह जड़ है। नजदीक में हो तो जानता है और दूर हो तो जानता है। तथा नजदीक में आवे तो परपदार्थ कुछ विक्रिया उत्पन्न कर सके (ऐसा नहीं है)। यह पहले आ गया है, वस्तु स्वभाव पर से उत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसके ऊपर ही है। यह पढ़ते

हैं, इसके ऊपर दो लाईने। **वस्तुस्वभाव पर के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता...** दोनों बातें आयी हैं। वस्तु स्वभाव पर द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता होने से तथा वस्तु स्वभाव पर को उत्पन्न नहीं कर सकता होने से। पर द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता, पर को उत्पन्न नहीं कर सकता। आहाहा! यह सब व्यापार के धन्धे और पूरे दिन होते हैं, किसके द्वारा होते हैं? यह तो पर को कहीं आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! तथा पर द्वारा यहाँ विकल्प भी नहीं किया जा सकता।

ज्ञानी धर्मात्मा धर्मी दुकान पर बैठा हो तो यह तो होता है, उसे जानता ही है। आहाहा! कुम्हार ज्ञानी हो तो वह घड़े का कर्ता, कर्ता नहीं मानता। आहाहा! इसी प्रकार ज्ञानी बाई हो तो वह रोटी, रोटी, दाल, भात मैं बनाती हूँ—ऐसा नहीं मानती। आहाहा! ऐसा मार्ग। अत्यन्त भिन्न चीज़ और सबको प्रकाशित करने का उसका स्वभाव। आहाहा! प्रकाशित करने पर भी पर द्वारा कहीं विकार उत्पन्न किया जा सके, ऐसा नहीं है। परद्रव्य को जानने से, रागी प्राणी है, इसलिए राग होता है परन्तु पर के कारण से नहीं। स्वयं रागी प्राणी है, उसे पर को जानने से उसको जानने से राग हो जाता है। राग पर को जानने से होता हो तो केवली को राग होना चाहिए। आहाहा!

ज्ञानी पर को जानने के काल में राग की निर्बलता की भूमिका है, ज्ञान होने पर भी, सम्यग्दर्शन होने पर भी... आहाहा! वह राग को जानता है, राग को वह करता नहीं है। तथा वह राग हुआ, इसलिए यहाँ राग का ज्ञान हुआ, ऐसा भी नहीं है। परद्रव्य द्वारा राग उत्पन्न किया नहीं जा सकता और पर द्वारा अपने में किया नहीं जा सकता। आहाहा! ऐसी एक बात बैठे तो यह निवृत्ति हो जाए। यह तो जहाँ-तहाँ मैंने किया, इसका किया, मेरा किया। आहाहा!

एक क्षण में देह छूटकर चला जाएगा। कोई सम्बन्ध में आयेगा नहीं, कुदरत में बाहर की कोई सिफारिश लागू पड़ेगी नहीं। जैसा इसने स्वभाव किया होगा—विभाव या स्वभाव, तत्प्रमाण गति मिलेगी। आहाहा! किसी मनुष्य को मदद मिले कि हमने बहुतों की सेवायें की है, बहुतों को मैंने ऐसा किया या ऐसा किया, ऐसे नाम आते हैं न? कल सबके फोटो आये थे। अमुक ने ऐसा किया और अमुक ने ऐसा किया और अमुक ने ऐसा

किया। अमुक बड़े अपने हिन्दुस्तान में हो गये न... आहाहा! रजनीश को विचारक रखा है। आहाहा! विचारक रजनीश।

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है न? उसमें सब गुण शामिल आ जाते हैं। परन्तु उस ज्ञान में समीप पदार्थ हो, इसलिए नजदीक आया, इसलिए ज्ञान में कुछ विकृति करते हुए दूर चला जाए, चला जा दूर, ऐसा है नहीं। आहाहा! जो स्त्री या पुरुष नजदीक में हो या दूर हो, अपने आत्मा को वह चीज़ विकार कर नहीं सकती। आहाहा!

पैसे के ऐसे नोट दिखाई दे करोड़ों-करोड़ों, करोड़ों के, तो वह विक्रिया नहीं होती। वह परचीज़ विक्रिया नहीं कर सकती। आहाहा! दीपक के पास सोना हो, तो वह तो प्रकाशित करता है और दीपक के पास सर्प तथा जहर, बिच्छू हो, दीपक तो प्रकाशित करता है, उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि भाई! यह बिच्छू है और जहाँ प्रकाशित करने में विभाव में अन्तर पड़े और साथ में ऐसा कि चीनी पड़ी हो और देखने में अन्तर पड़े। चीनी या जहर दोनों पदार्थ धूल है। वह दीपक जैसे समीप में और दूर में दूर को जानने में कुछ अन्तर नहीं; उसी प्रकार प्रभु आत्मा स्व और पर को जानने में अथवा नजदीक के पदार्थ को, दूर के पदार्थ को जानने में कुछ अन्तर नहीं। आहाहा! ऐसा गले उतरना। पूरे दिन यह करते हैं, यह करते हैं।

तब कहा था, चिमनचकु कहा, कुछ कर नहीं सकता। तब यह मन्दिर हुआ था न, तब, (संवत्) १९९७। 'यह किया लो! यह किया।' कर नहीं सकता। यह हाथ किया, लो! अब ऐसे लोग। बापू! इसमें क्या ऐसा किया? ऐसा होने पर क्या हुआ? तेरे परिणाम में क्या हुआ? इसमें क्या हुआ? उसके ज्ञान बिना अपन कहते हैं कि मुझसे यह हुआ। आहाहा! वह तो जाननेवाला-देखनेवाला है। यह हाथ ऐसा हो या ऐसा न हो। आहाहा! यह पैर चले या पैर स्थिर रहे। ज्ञान का स्वभाव, वे स्थिर रहे या चले, दोनों को जानने में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। आहाहा!

ज्ञानी दाल, भात, सब्जी, रोटी, रोटी खाता है तो भी वह नजदीक है, उसे जानता है। जानता है, इसलिए विक्रिया हो जाती है, ऐसा नहीं है। और चीज़ दूर है, ऐसा कि गेहूँ और ज्वार कोठी में पड़े हैं, बाद में रोटियाँ होंगी। ऐसे दूर को जाने तो भी जानता ही है। उससे कुछ विक्रिया उत्पन्न नहीं होती कि हमारे पास ऐसी कोठी भरी है, पचास मण की

गेहूँ की, अमुक चीनी भरी है... उस पर के कारण आत्मा में कुछ हो, ऐसा बिल्कुल नहीं होता। आहाहा! क्या शान्तिभाई! क्या करना इसमें? आहाहा! ऐसा स्वभाव है।

देखो न! दृष्टान्त कैसा दिया है दीपक का! दीपक जो स्वयं जलता है, वह तो जलता है बस, प्रकाशित करता है। चाहे तो सामने सर्प आवे तो भी प्रकाशित करता है और सामने चीनी पड़ी हो, शक्कर की बोरी सामने पड़ी हो, उसे दीपक प्रकाशित करता है। आहाहा! अन्धेरा हो, वहाँ दीपक ले जाते हैं न? अन्धेरे में वस्तु पड़ी हो, चीनी या (दूसरी कोई)। वह दीपक तो प्रकाशित करता है। इसी प्रकार आत्मा चाहे जहाँ हो तो वह जानता ही है, इतना अन्तर। वह दीपक जानता नहीं, प्रकाशित करता है, इतना है। आहाहा! इसी प्रकार शरीर में रोग हो या रोग न हो, समीप में रोग हो और बाद में भी रोग आवे, ऐसा ख्याल आने पर भी ज्ञान तो ज्ञान का काम जानने का ही करता है। आहाहा! ज्ञान किसी को कुछ भी मदद कर सके, सहायक हो, तथा पर से कुछ मदद ले और पर से सहायक हो, ऐसा स्वरूप नहीं है। आहाहा! पूरी दुनिया का जहर उतर जाए, ऐसा है, जहर उतर जाए ऐसा है। आहाहा! इतने शब्दों में है।

(इस प्रकार) अपने स्वरूप से ही जानते हुए उस (आत्मा) को, वस्तुस्वभाव से ही... वस्तु का स्वभाव ही ऐसा जानना है। **वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त...** अर्थात्? ज्ञान समीप में (या) दूर (पदार्थ हो उसे जानने) परिणति बदले परन्तु वह स्वयं के कारण बदलती है। वह जानने की परिणति विचित्ररूप होती है, वह स्वयं के कारण परिणमति है। वह **वस्तुस्वभाव से ही विचित्र परिणति को प्राप्त...** आहाहा! परपदार्थ। अब यहाँ पर भले विचित्रता को प्राप्त हो और **मनोहर अथवा अमनोहर...** हो, ज्ञान तो जानता ही है। वे परपदार्थ **मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि...** आहाहा! शब्द अर्थात् निन्दा। निन्दा के शब्द आयें तो कहीं निन्दा के शब्द ऐसा नहीं कहते कि तू मुझे सुन। आहाहा! स्तुति के शब्द ऐसा नहीं कहते, कि तू मुझे सुन और स्वयं अपना स्थान छोड़कर निन्दा और स्तुति को सुनने नहीं जाता। जैसे लोहखण्ड की सुई लोहखण्ड को खींचती है, वैसे परपदार्थ आत्मा को खींचते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इस वस्तु के स्वरूप के ज्ञान बिना इसे प्रतीति कहाँ से होगी? और चारित्र कहाँ से होगा? जैसी चीज़ है, वैसा अभी ज्ञान ही न हो, वहाँ प्रतीति कहाँ रही? और स्थिरता तो

कहाँ रही? आहाहा! **मनोहर अथवा अमनोहर शब्दादि बाह्य पदार्थ किंचित्मात्र भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते।** आहाहा! परपदार्थ जानते हुए परपदार्थ कुछ विक्रिया नहीं करते। आहाहा! कोई तलवार लेकर मारना आया, तो भी कहते हैं ज्ञान निकट से जानता है, जानता है। वह विक्रिया उत्पन्न नहीं करता। आहाहा! श्रेणिक राजा (को) उनके पुत्र ने उन्हें जेल में डाल दिया और जेल में थे, और वही स्वयं छुड़ाने आया। वहाँ उन्हें ऐसा लगा... अब समकिती, क्षायिक समकिती, तथापि यह भूल आयी तो वह कहीं समकित का दोष नहीं है। भूल आयी कि यह मुझे मार डालने के लिये आता है। इसलिए मैं पहले मर जाऊँ। सिर फोड़कर जहर पीकर मर गये। आहाहा! इससे उन्हें समकित में (दोष नहीं है)। क्षायिक समकिती है और क्षायिक समकिती तो क्षण-क्षण में वापस यहाँ तीर्थंकरगोत्र भी वे बाँधते हैं। आहाहा!

जहाँ आत्मा स्वयं अपने हाथ आया, इसलिए फिर कोई परपदार्थ उसे कुछ विक्रिया उत्पन्न कर नहीं सकता। आहाहा! हाथ आये बिना उसके ही ऊपर लक्ष्य है और अपने ऊपर, जो चीज़ है, उसके ऊपर लक्ष्य नहीं, इसलिए उसे भ्रम पड़ता है कि इसके कारण मुझे विक्रिया हुई, इसके कारण मुझे राग हुआ, इसके कारण मुझे द्वेष हुआ। यह दृष्टि पर्याय के ऊपर, पर के ऊपर है इसलिए। आहाहा! ऐसी वस्तु।

इस प्रकार आत्मा दीपक की भाँति... अन्तिम दो लाईनें हैं न? पैराग्राफ अलग है। **इस प्रकार आत्मा दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन है...** आहाहा! भगवान आत्मा चाहे तो... आहाहा! अब कोई ऐसा सिद्ध करते हैं कि यह सब बात सातवें गुणस्थान की है, ऐसा सिद्ध करते हैं। आहाहा! बापू! यह तो स्थिरता में अन्तर है। श्रद्धा-ज्ञान में, केवली और इसके श्रद्धा-ज्ञान में जरा भी अन्तर नहीं है। केवली की श्रद्धा और तिर्यंच समकिती की (श्रद्धा) में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! असंख्य समकिती तिर्यंच बाहर पड़े हैं। पंचम गुणस्थानवाले मगरमच्छ, मछलियाँ, अरे! सिंह, बाघ और भालू... भाई! ढाई द्वीप के बाहर पंचम गुणस्थानवाले। आहाहा! वे किसी को भय नहीं उपजाते, तथा किसी पर से उन्हें भय नहीं उत्पन्न होता। आहाहा! यह तो समकित का पहला निःशंक-निर्भय गुण है। निःशंक कहो, निर्भय कहो। समकित के आठ गुण हैं न? (उसमें) पहला। आहाहा!

निर्भय। सिंह बालक ऐसे पीछे (हो), बड़ा सिंह समकित प्राप्त और पंचम गुणस्थान

प्राप्त। आहाहा! अन्तर में शान्ति का वेदन हो। बाहर में कहीं किसी को डराना या किसी से डरना (है नहीं)। ढाई द्वीप के बाहर पड़े हैं। सिंह, बाघ, भालू, बिल्ली, जंगली सूकर, अरे! जंगली भैंस, जंगल पाड़ा, जंगली जंगल में (पड़े हैं)। आहाहा! यह तो शरीर का अन्तर किया। आत्मा का कहाँ अन्तर किया उसमें? यह तो शरीर का अन्तर किया। आत्मा तो ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है। वह शरीर में सिंह के स्वरूप में हो, तो भी उसे जानता है। आहाहा! ऐसे बाल होते हैं न बड़े सिंह के? बाघ को नहीं होते। सिंह के होते हैं। दीपड़ा के नहीं होते। इसे ऐसे बड़े बाल (होते हैं)। आहाहा! यह वहाँ बालवाला रखते होंगे? सिंह। शाम, सवेरे करे न उसमें? बाल को साफ करे, ऐसा करता होगा वह? आहाहा!

वह सम्यग्दृष्टि सिंह। अनेक बाल हो ऐसे। आहाहा! तथापि उसमें कहीं मैं हूँ— ऐसी बुद्धि नहीं है। तथा उसे वह विक्रिया उत्पन्न नहीं कराता। आहाहा! सिंह... सिंह। आहाहा! और कुत्ती के बच्चे, कुत्ती के बच्चे का क्या कहते हैं? पिल्ला। वह समकित पाता है। आहाहा! आत्मज्ञान पाता है। वह डरता नहीं, भाई! आहाहा! ढ़ाई द्वीप के बाहर बहुत पड़े हैं। बच्चे भी हों। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य समकिती पड़े हैं। इसलिए परजीव उसे कुछ उपजावे, (ऐसा नहीं है)।

आत्मा दीपक की भाँति... जैसे दीपक दूसरे को प्रकाशित करता है, तथापि समीप और असमीप में कुछ अन्तर नहीं है। उसी प्रकार **दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन...** आहाहा! उदासन, उदासन। आहाहा! दृष्टि बदल गयी है वहाँ, जहाँ पर्याय पर दृष्टि थी, वह द्रव्य पर दृष्टि लगा दी। आहाहा! ध्रुव चीज़ है ध्रुव। ध्रुव पर दृष्टि लगायी है, इसलिए उसे बाह्य चीज़ कोई विक्रिया उत्पन्न नहीं कर सकती। **उदासीन (अर्थात् सम्बन्धरहित; तटस्थ) है...** दूसरे पदार्थ के साथ आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आ गया है पहले, २०० कलश में। 'सर्वोअपि सम्बन्धः नास्ति।' आहाहा! बाघ, मैं इसे खाऊँ और यह खा जायेगा, ऐसा सम्बन्ध वहाँ नहीं है। समकिती बाघ और सिंह किसी को खाता नहीं, मारता नहीं। माँस नहीं होता, जंगल में अकेला रहता है। कमल हो, फूल हो, डोडा हो, उसे खाता है। आहाहा!

समुद्र में भी हजार योजन के मच्छ समकिती हैं। आहाहा! वे भी वहाँ आगे के कमल आदि हों, उन्हें खाते हैं। मछली-बछलियों को छूते नहीं। आहाहा! अन्तर में

भगवान जहाँ देखा, अनन्त गुण का सागर, अनन्त गुण का समुद्र... आहाहा! अनन्त शक्ति का संग्रहालय, अनन्त स्वभाव का सागर, ऐसा भगवान आत्मा, कहते हैं कि **दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन है...** जैसे दीपक स्व और पर को प्रकाशित करता है, बिच्छू, सर्प हो तो प्रकाशित करता है और स्त्री-पुरुष एकावतारी या उस भव में मोक्ष जानेवाले पुरुष हों, उन्हें वह प्रकाशित करता है, जानता है कि यह है इतना। वह भी अपने प्रकाश के बल से; उसके-ज्ञेय के बल से नहीं। आहाहा!

कहाँ पर की दया पालना कहाँ रह गयी। वह दया पाल सकता तो नहीं परन्तु दया के भाव हिंसा है, उसे भी राग आता है, उसे जानता है। जाननेवाला जानता है। दीपक की भाँति वह जानता है। समकिती युद्ध में खड़ा हो, आहाहा! तथापि वह जानता है कि यह चीज़ पर है, मैं तो जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। आहाहा! गले उतरना (कठिन)। आहाहा! सत्य ऐसा है। परम सत्य, परम सत्य की उपस्थिति जहाँ हाजराहुजूर हुआ, यह हाजराहुजूर भगवान जहाँ जागृत हुआ... आहाहा! जहाँ हो वहाँ, चाहे जिस काल में उसकी उपस्थिति ही स्वयं की है, अपनी स्व-परप्रकाशक की ही हाजरी है। पर का इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह कहा।

आत्मा दीपक की भाँति पर के प्रति सदा उदासीन है... सदा उदासीन है। आहाहा! **(अर्थात् सम्बन्धरहित; तटस्थ) है-ऐसी वस्तुस्थिति है,...** देखा? यह कहीं भगवान ने किया, ऐसा नहीं है। यह वस्तु की स्थिति ऐसी है, वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। और **तथापि जो राग-द्वेष होता है, सो अज्ञान है।** वस्तु की स्थिति तो ऐसी है। **तथापि जो राग-द्वेष होता है, सो अज्ञान है।** मिथ्यात्व है। इसलिए अन्दर विकल्प राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। आहाहा!

भावार्थ - शब्दादिक... शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श **जड़ पुद्गलद्रव्य के गुण हैं।** ये तो पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। आहाहा! निन्दा-स्तुति, यह तो पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। तेरी निन्दा-स्तुति कोई नहीं करता। आहाहा! तथा उसका आत्मा भी वास्तव में नहीं करता। वह तो जड़ की पर्याय में होता है। आहाहा! निन्दा और प्रशंसा इत्यादि पुद्गलद्रव्य के गुण हैं, **वे आत्मा से कहीं यह नहीं कहते, कि तू हमें ग्रहण कर...** निन्दा ऐसा नहीं कहती, स्तुति ऐसा नहीं कहती। आहाहा! कि तू हमें देख, तू हमें जानने के लिये रुक। आहाहा! **(अर्थात् तू हमें जान);...** वह ऐसा कहती है कि तू हमें जान? आहाहा!

और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। उन्हें जानने-ग्रहण करने। ग्रहण करने अर्थात् जानने। उन्हें जानने के लिये उनकी ओर नहीं जाता। आहाहा! वे तो दूर हों, उन्हें भी जानता देखता है। यह जानना-देखना, वही इसका स्वरूप है। यह चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर है। आहाहा! उसकी महिमा जानने-देखने के कारण महिमा है, राग और द्वेष, वह कहीं उसकी महिमा नहीं है। आहाहा! वे आत्मा को कहते नहीं कि हमें ग्रहण कर। तू हमें ग्रहण कर—ऐसा कहते हैं? ग्रहण अर्थात् जान। दूसरी चीज़ कहीं आत्मा को कहती नहीं कि तू जान।

और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों, तब आत्मा... शब्द समीप न हो, निन्दा-प्रशंसा समीप न हो। निन्दा-प्रशंसा, कोई बहुत विरोध करता हो, तो भी ज्ञानी को ज्ञान ही है। आहाहा! और सामने नजर में आकर ज्ञानी की निन्दा करे। आहाहा! शब्दों का परिणमन है, बापू! भाई! भगवान! तू तो आत्मा है न! तुझसे कहाँ शब्द परिणमते हैं? वह शब्द की परिणति है। तू आत्मा है न, प्रभु! मैं भी आत्मा हूँ, तू भी आत्मा है। आहाहा!

मुमुक्षु : पदार्थ समीप हो तो साफ ज्ञात होता है, स्पष्ट ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल खोटी बात है। पदार्थ के कारण कहाँ जानना है? ज्ञान के कारण जानना है। जैसा ज्ञान है, वैसा ज्ञात होता है। पदार्थ को कहाँ जानना है? आहाहा! पदार्थ को जाननेवाले को, जाननेवाले को जानना है। वह तो जैसा है, वैसा है। आहाहा! नजदीक हो या दूर हो, वह तो जानने के स्वभाववाला जीव है। आहाहा!

अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (-जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता। जैसे शब्दादिक समीप न हों, तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है, इसी प्रकार शब्दादिक समीप हों... निन्दा-प्रशंसा, **तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है।** आहाहा! पूरी दुनिया को उतारा है। एक ओर राम तथा एक ओर गाँव। एक ओर प्रभु चैतन्य, एक ओर शब्दादि पूरी दुनिया। यह पूरा तेरे ज्ञेयरूप से पर है, परज्ञेयरूप से है। तेरा, तेरे स्वज्ञेयरूप से नहीं है। राग-द्वेषरूप से तो नहीं, वह चीज़ देखने से तुझे राग-द्वेष हों, यह तो नहीं परन्तु उसे जानते हुए, उसे जानता है—ऐसा भी नहीं। आहाहा! स्वयं को

जानता है। उस समय स्व-परप्रकाशक ज्ञान की शक्ति ऐसी है कि उस समय पर को जानने की स्वयं के कारण से थी, पर के कारण जानने की (शक्ति) नहीं है। आहाहा! सामने सिंह दिखाई दिया तो सिंह के कारण यह जानने का हुआ है, ऐसा नहीं। आहाहा! यह तो उस समय ज्ञान की परिणति ही पर को जानने की ऐसी थी, वह स्वयं के कारण हुई है, सिंह के कारण हुई नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : सिंह देखते ही भय तो पाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। दीपक के पास बाघ आया, सर्प आया तो दीपक कहीं बुझ जाता है या नहीं? दीपक के पास बाघ आया, दीपक के ऊपर ऐसा बड़ा काला सर्प आया। दीपक मन्द होता है या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा तो चेतन है और दीपक तो जड़ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दृष्टान्त है। दृष्टान्त का सिद्धान्त है, दोनों समान हैं। दूसरे को देखते हुए दीपक को कहीं विक्रिया नहीं होती, इसी प्रकार इसे जानते हुए कुछ भी विक्रिया नहीं होती। लो! यह तो सिद्धान्त है। आहाहा! कठिन काम। बाहर में बहुत फेरफार हो गया।

इस प्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले... स्वरूप से ही जाननेवाले... देखा! क्या कहा? पर को जानता नहीं। पर को जानते हुए पर को नहीं **अपने स्वरूप से ही जाननेवाले ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते,...** आहाहा! निन्दा या प्रशंसा, सुन्दर रूप या कुरूप कुछ भी आत्मा को विक्रिया नहीं कर सकता। आहाहा! अपना स्वरूप है, उसे ही वह तो जानता है। आहाहा! देखा? **अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को...** जैसे अपने स्वरूप से ही प्रकाशित करते हुए। एक दीपक है और बहुत दीपक नजदीक में आये, इसलिए दीपक का—एक दीपक का प्रकाश बढ़ा? बहुत दीपक नजदीक में आये तो इसका प्रकाश बढ़ा? सब दीपक चले गये और दीपक अकेला रह गया तो प्रकाश घट गया? आहाहा! इसी प्रकार भगवान जंगल में अकेला रह गया तो भी स्वयं जानता है और झुण्ड में बैठा हो तो भी वह जानता है। आहाहा!

जंगल में ज्ञानी सिंह बैठा हो। आहाहा! उसमें हिरण निकला। (उसे) जानता है, मारने का विकल्प उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! जैसे दीपक को दूसरी विक्रिया उत्पन्न नहीं होती, उसी प्रकार सिंह के जानते हुए कुछ नहीं होता। आहाहा! हिरण ऐसे दिखाई दे और पहले स्वयं बहुत बार मारे हैं, तथापि वह देखने पर उसे जरा विक्रिया हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो चैतन्य प्रकाश का पूर है, ज्ञान का सागर है। समीप में या दूर में, उसे कुछ समीप-दूर से कुछ अन्तर नहीं पड़ता। आहाहा! लोकाकाश के प्रदेशों को जानना हो या यहाँ नजदीक के शरीर को जानना हो, उसमें कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा! ऐसा ही उसका अपना स्वरूप से प्रकाशक दीपक का स्वभाव है। इसी प्रकार चैतन्य का प्रकाश स्वभाव— जानने का स्वभाव है। आहाहा!

बीस वर्ष का पुत्र मर गया और ज्ञानी रोवे सही, आँसू आ गये, परन्तु उसके कारण नहीं। मर गया, उसके कारण नहीं, अपनी कचास के कारण जरा राग आया, उसे भी वह जानता है। आहाहा! अन्तर वैरागी मनुष्य होता है न साधारण? 'चूड़ा' में एक डॉक्टर था। (संवत्) १९६९ की बात है। जूनागढ़ के स्थानकवासी थे। ऐसा नरम व्यक्ति, ऐसा नरम। (उसका) जवान लड़का मर गया, जवान। परन्तु बिल्कुल रोवे नहीं और कोई आवे (तो कहे), रोना नहीं। होनेवाला था, वह हो गया। 'चूड़ा... चूड़ा' वाले नहीं कोई? १९६९ की बात है। ६७ वर्ष हुए, ६७। नरम व्यक्ति था। परन्तु ज्ञान नहीं, भान नहीं। स्थानकवासी था। मैं वहाँ जीमने गया था। आहाहा! परन्तु यह दीपक पहले उसके ... परन्तु तो भी पहले से यहाँ से कहा, कोई आते हुए रोना नहीं, कोई आते हुए यहाँ दूसरे रोने की बात करना नहीं। साधारण अज्ञान में भी इतना वैराग्य होता है। ज्ञान की बात क्या करना? ज्ञान तो उदासीन स्वरूप ही है। विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२७, गाथा-३७३ से ३८२, श्लोक-२२२ सोमवार, ज्येष्ठ कृष्ण १०
दिनांक - ०७-०७-१९८०

भावार्थ, ऐसी थोड़ी सी लाईन चली है। फिर से लेते हैं। **शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्य के गुण हैं।** पहली बात यह ली है। ऐसे अरिहन्त में द्रव्य और गुण है, वह भी राग का कारण है। परन्तु इससे पहले जड़ की बात ली। भगवान में दूसरे गुण हैं, भगवान का द्रव्य है, यह बाद में लेंगे। जीवद्रव्य और जीव के गुण का (बाद में लेंगे)। **शब्दादिक जड़ पुद्गलद्रव्य के गुण हैं।** गुण शब्द से पर्याय। **वे आत्मा से कहीं यह नहीं कहते, कि तू हमें ग्रहण कर...** जड़ की अवस्था आत्मा को खींचती नहीं कि तू हमें जान। है? भावार्थ है न? भावार्थ।

वे कोई ऐसा नहीं कहते कि **'तू हमें ग्रहण कर (अर्थात् तू हमें जान)'; और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए (-जानने के लिए) उनकी ओर नहीं जाता।** आहाहा! **जैसे शब्दादिक...** अभी पहले जड़ की बात है। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श **समीप न हों, तब आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है,...** है? शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आत्मा के समीप में न हो, तो भी अपने स्वरूप से स्वयं जानता है। आहाहा! **इसी प्रकार शब्दादिक समीप हों...** नजदीक में शब्द, रूप, रस आदि हो, तब भी आत्मा अपने स्वरूप से जानता है। **तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है।** नजदीक हो या दूर हो, उसमें कुछ अन्तर नहीं पड़ता।

यह तो प्रश्न हुआ था न कल? नजदीक हो तो स्पष्ट ज्ञात हो। दूर हो तो... यहाँ तो जानने की बात है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श तथा जड़ के गुण, इतने अभी। वे दूर हों या नजदीक हों। जाननेवाले को दूर और नजदीक में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। जाननेवाला तो जानता है। आहाहा! दूर हो या नजदीक हो, वह जाननेवाला भगवान आत्मा जानता है। जैसे सिद्ध भगवान जगत की चीज़ जानते हैं। चाहे जो हो उन्हें कुछ विकल्प उत्पन्न नहीं होता। सिद्ध भगवान। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा बाहर की चीज़ में चाहे जो उथल-पुथल हो, इससे उसे विकल्प नहीं आता, वह तो जानता है। आहाहा! है न?

इस प्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले... स्वरूप से ही जानते हुए, उस चीज़ को नहीं जानता। स्वयं अपने स्वरूप से ही जानते हुए। उस सम्बन्धी का ज्ञान भी स्वयं

अपने से स्वयं जानते हुए। आहाहा! **समीप हों तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है। इस प्रकार अपने स्वरूप से ही जाननेवाले ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए...** कहते हैं कि समीप या दूर को जानता है स्वयं और सामने की चीज़ चाहे जिस प्रकार से परिणमती हो, उसके परिणमन में उसकी पर्याय के योग्य... है न?

अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार (जीव को) नहीं करते,... भले वह सामने शब्द, रूप, रस, विचित्रता को प्राप्त हो, निन्दा के-प्रशंसा के, रूप के, कुरूप के, गन्ध और सुगन्ध-दुर्गन्ध आदि चाहे जो सामने परिणमन हो परन्तु जाननेवाला तो जानता ही है। आहाहा! जाननेवाले का स्वभाव तो जानना ही है। समीप या असमीप की यहाँ कोई विशेषता नहीं है। आहाहा! **ऐसे आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित्मात्र भी विकार नहीं करते, जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते।** यह दृष्टान्त कहा। दीपक घटपट को प्रकाशित करता है, तथापि दीपक के प्रकाश में घटपटादि विचित्र परिणमन हो तो उसे विकार नहीं करते। परवस्तु भले विचित्ररूप परिणमे, परन्तु दीपक को कुछ विकार नहीं करती। आहाहा!

उसी प्रकार... उसी प्रकार पर परिणमन चाहे जिस प्रकार से हो। आहाहा! शब्द का, रूप का, रस का, गन्ध का, संस्थान का, संस्थान (अर्थात्) आकार, चाहे जो परिणमन हो, दूर हो या नजदीक हो, वह अपने-अपने परिणाम से उस समय की विचित्र जो पर्याय क्रमबद्ध है, वह परिणमति है। क्षण में पहला कुछ देखे और दूसरे क्षण में कुछ देखे। आहाहा! तथापि देखनेवाले में, देखनेवाले को देखनेयोग्य चीज़ कुछ भी विकार नहीं करती। आहाहा! ऐसा स्वभाव। यह सब, यह व्यापार और धन्धा और बन्धा का इनकार करते हैं। मुम्बई व्यापार हो या यहाँ हो, वह चीज़ चाहे (जहाँ हो) आत्मा तो उसे जानता ही है। वह सामने पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणमता हो, विचित्ररूप से परिणमते हों, तथापि आत्मा को विकार नहीं करते। आहाहा! बहुत गहरी बात डाली है।

स्त्री आदि हो या पुरुष हो, विचित्ररूप से परिणमते हों... आहाहा! तथापि जाननेवाले को वे विकार नहीं उपजा सकते। आहाहा! बहुत गहरी बात डाली है। शरीर को आत्मा स्पर्श करता है? कि शरीर को स्पर्श करता भी नहीं। उसी प्रकार शरीर में सामने अनेक

प्रकार की विक्रिया हो, तथापि इस जाननेवाले को वे पदार्थ विक्रिया अर्थात् विकार नहीं कर सकते। वह पदार्थ चाहे जिस प्रकार से परिणमे, उसका स्वतन्त्र क्रमबद्ध परिणमन में स्वभाव है। उसे परिणमने से इसे विकार हो, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कच्चा खायें तो पेट में दुःख होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दुखता-बुखता कुछ नहीं, वह मानता है। उसे भी जानता है। आहाहा! इन्द्रियों के विषय कहे न? आहाहा! जड़ में तो यह आवे न? वह नजदीक हो या दूर हो... आहाहा! परन्तु वह चीज़ विकार उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! विकार कराती नहीं, उसी तरह आत्मा विकार करता नहीं। वह तो जानता है कि यह ऐसा हुआ। आहाहा! कठिन काम है। पूरी दुनिया से पृथक्। आहाहा!

जैसे कि अपने स्वरूप से ही प्रकाशित होनेवाले दीपक को घटपटादि पदार्थ विकार नहीं करते। यह तो सरल बात है। दीपक हो, उसके साथ घट-पट हो या बिच्छू हो या सर्प हो या जहर हो या सर्प नजदीक आया, काला नाग (हो) तो घट के प्रकाश में कुछ अन्तर पड़ता है? आहाहा! उसके प्रकाश में नजदीक में बिच्छू आया या बिच्छू दूर रहा तो घट के प्रकाश में कुछ अन्तर पड़ता है? और घट के प्रकाश में वह चीज़ जहर या सर्प या बिच्छू या चन्दन की लकड़ियाँ सामने हो, वे कुछ भी विक्रिया उत्पन्न नहीं करते। वह चीज़ राग-द्वेष उत्पन्न नहीं करती। आहाहा! ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि आत्मा के अतिरिक्त परचीज़ समीप में शरीर बदले या सामने का शरीर बदले तो भी वह बदलती चीज़ इसे बदला सके, विकार करा सके... आहाहा! ऐसा नहीं है। ओहोहो! सिद्धान्त तो बहुत सादा है परन्तु इसका मायना है यह गहरा है। आहाहा! कहते हैं, भगवान आत्मा के नजदीक में हलुवा और मैसूर आया तो भी वह जानता है और मैसूर नजदीक आया और मुँह में पड़ा, इसलिए राग उत्पन्न कराता है (ऐसा नहीं है)। आहाहा! मैसूर समझते हो? मैसूर-मैसूरपाक। वह मुँह में पड़ा, इसलिए इसे राग उत्पन्न कराता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! बहुत संक्षिप्त समाहित कर दिया है। इसी प्रकार स्त्री दूर हो या स्त्री समीप में हो। आहाहा! उसे यह चीज़ सामने चाहे जिस रूप परिणमति हो, वह आत्मा को तो कुछ फेरफार कराती नहीं। वह तो जानता है कि ऐसा है, इस प्रमाण। यह व्यवहार से। आहाहा!

चोर आया, उसने खाट से बाँधा। पैसा लेने के लिये करते हैं न? अभी हुआ था न? पैसा लाओ। कितने पैसे हैं यहाँ घर में? बाँधा। ले लिये। अब दूसरी दुकान में कितने हैं? कहाँ दुकान में कहाँ है? बताओ। आहाहा! कहते हैं कि आत्मा तो वह चीज़ नजदीक में ऐसा करे कि शरीर को बाँधा और लक्ष्मी को ले गया। तो भी आत्मा को कुछ विकार नहीं करते। वह आत्मा को राग और द्वेष उत्पन्न नहीं कराते। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : परपदार्थ राग-द्वेष कहाँ उपजावे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परपदार्थ अपने-अपने कारण से क्रमबद्ध-क्रमसर परिणमते हैं। ऐसा जाननेवाला भी वास्तव में अपने ज्ञान में क्रमसर ज्ञान की शक्ति द्वारा परिणमता है। वह कहीं पर को जाने, इसलिए पररूप परिणमता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! एक ओर ज्ञान तथा एक ओर पूरी दुनिया। गुण और द्रव्य लेंगे, भगवान के गुण-द्रव्य बाद में लेंगे। यह तो अभी जड़ की बात (करते हैं)। आहाहा!

दीपक को घटपटादि... घड़ा या वस्त्र, दीपक के पास रेशमी गद्दा पड़े या यों ही साधारण रुई पड़ी हो या रुई जलती हो तो उससे दीपक को कुछ विकार हो... आहाहा! सामने कपड़ा जलता हो, आहाहा! या कपड़ा बिखरकर ऐसे कोई चोर ले जाता हो तो दीपक को कुछ विकृति नहीं होती। आहाहा! ऐसे आत्मा को... यह तो दृष्टान्त की बात है। उसी प्रकार उस सामने की चीज़ में चाहे जो रहती हो... होती हो, कोई ले जाता हो, कोई बिगाड़ता हो। आहाहा! प्रभु का स्वभाव तो जानना, वह स्वभाव है। आहाहा! यह क्यों ले जाता है और क्यों करता है और यह अन्याय करता है, यह वस्तु के स्वरूप में ऐसे विकल्प को अवकाश नहीं है। पर के कारण वह विकल्प उत्पन्न करे, यह तीन काल में नहीं होता। अपनी कमजोरी के कारण जरा विकल्प आवे, वह अलग बात। कल अपने आ गया है। 'संसारजनित विकार ज्ञानी को दूर वर्तते हैं। संसारजनित विकार ज्ञानी को दूर वर्तते हैं।' यह विकार उसे कुछ भी विकार करावे, नजदीक या दूर हो तो, ऐसा स्वभाव उस ज्ञेय का नहीं है, ऐसा स्वभाव ज्ञान का नहीं है। आहाहा! यह सब कठिन काम है।

परचीज़ जलती हो तो दीपक प्रकाशित करता है और यों ही चीज़ पड़ी हो तो दीपक जानता-(प्रकाशित करता) है। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा शरीर की क्रियाएँ

बनती हों... आहाहा! कठिन बात है। शरीर की अनेक प्रकार की विक्रिया आदि बनती हो, सामने चीज़ दिखे, उसमें भी विक्रिया होती दिखाई दे, तथापि ज्ञान में उसके कारण जरा भी फेरफार नहीं होता। ज्ञान का स्वभाव उसका जैसा हो, वैसा जानता है। आहाहा! ऐसी मान्यता कठिन है। यह मान्यता सम्यग्दर्शन में होती है। आहाहा! सत्य दर्शन में उस प्रकार की मान्यता और ज्ञान होता है। चाहे जो सामने चीज़ में नजदीक या दूर में फेरफार होता हो। आहाहा! और चोर घर में से माल ले जाता हो परन्तु वह चीज़ इसे विकार उत्पन्न नहीं करती। अपनी कमजोरी के कारण विकल्प आवे परन्तु उसके कारण नहीं आता। आहाहा! ऐसी वस्तु की मर्यादा है।

एक वस्तु की अपनी मर्यादा छोड़कर परवस्तु में नहीं जाती। परवस्तु को विकार नहीं कराती। आहाहा! अपने शरीर के फोटो हों, रंग-रंगीन ऐसे पच्चीस, पचास, सौ, दो सौ (हों), पश्चात् यह देखकर ज्ञान में वह कुछ विकार करावे, ऐसा है नहीं। आहाहा! वहाँ फेरफार होता है, इसलिए यहाँ ज्ञान में फेरफार होता है, विकाररूप फेरफार, हों! ऐसे बदले वह तो अपना स्वभाव है, जैसे वहाँ बदलता हो, वैसा यहाँ बदले, परिणमे, वह अलग बात है परन्तु विकार उपजावे—ऐसा परद्रव्य में किसी अंश में कहीं नहीं है। आहाहा! सिद्धान्त तो देखो!

ऐसा वस्तुस्वभाव है,... इस प्रकार से वस्तु की मर्यादा है। **तथापि जीव शब्द को सुनकर,...** आहाहा! राग-द्वेष करता है। प्रशंसा सुनकर राग करता है, निन्दा सुनकर द्वेष करता है। आहाहा! वजन यहाँ है, कि ऐसा वस्तु का स्वभाव... है? ऐसा वस्तु का स्वभाव है, यहाँ वजन है। है तीसरी लाईन? **ऐसा वस्तुस्वभाव है,...** आहाहा! यहाँ वजन है कि चाहे जिस प्रकार से सामने परिणमे तो दीपक का भी ऐसा स्वभाव है कि उस प्रकार से जाने (प्रकाशित करे), ऐसा ही वस्तु का कोई स्वभाव है। आहाहा!

इस प्रकार **जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर,...** आहाहा! **गन्ध को सूँघकर, रस का स्वाद लेकर, स्पर्श को छूकर,...** शरीर को दूसरा शरीर स्पर्शे, छुए। आहाहा! वह स्पर्शता तो है नहीं परन्तु नजदीक आकर उसे स्पर्शे, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! है? **रस का स्वाद लेकर, शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गन्ध को सूँघकर, स्पर्श को छूकर,**

गुण–द्रव्य को जानकर,... अब यहाँ डाला। जड़ उपरान्त अरिहन्त के या धर्मात्मा के गुण, धर्मात्मा का द्रव्य। आहाहा! उसमें जड़ की बात ली थी। **गुण–द्रव्य को जानकर,...** चाहे जैसे अरिहन्त को–परमात्मा को जानकर ज्ञान को कहीं राग कराता नहीं। परमात्मा के प्रति प्रेम, वह वस्तु नहीं कराती। आहाहा!

द्रव्य को... तथा अरिहन्त के द्रव्य को या स्त्री के आत्मा को या पुत्र के आत्मा को या किसी भी आत्मा को जानते हुए, सुवर्ण आत्मा को... आहाहा! इस गुण के पुंज प्रभु परमात्मा को जानते हुए को, आहाहा! उन **गुण–द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा–बुरा मानकर...** आहाहा! परद्रव्य अच्छा–बुरा माने। परद्रव्य में कुछ दो भाग नहीं है। परद्रव्य तो ज्ञेय है। आत्मा ज्ञान है और सामने सब चीज़ ज्ञेय है। ज्ञेय के दो भाग नहीं है, कि यह अच्छे और बुरे। अच्छे–बुरे की कल्पना उत्पन्न करता है, वह अज्ञान है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! ओहोहो! एक ओर राम तथा एक ओर गाँव, एक ओर आत्मा राम, एक ओर गाँव—पूरी दुनिया। गाँव अर्थात् समूह। वह कोई गुण हो या अवगुण हो, इसका द्रव्य हो या इसका गुण हो या इसकी पर्याय हो... आहाहा! केवली की वाणी सुनने से सुननेवाले को राग उत्पन्न नहीं करती सामने वाणी। आहाहा! उसी प्रकार भगवान को देखकर भगवान का द्रव्य सामनेवाले को राग उत्पन्न नहीं करता। आहाहा!

जैसे दीपक अपने समीप या दूर में रहे हुए को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार भगवान आत्मा नजदीक में रहे हुए गुणों अथवा दूर रहे हुए गुणों, नजदीक में रहे हुए गुणीजन या दूर रहे हुए गुणीजन... आहाहा! उन्हें अच्छा–बुरा मानकर स्वयं राग–द्वेष करता है, वह चीज़ राग–द्वेष नहीं कराती। आहाहा! परन्तु उसकी उपस्थिति न हो तो राग–द्वेष नहीं होते। यह कहनेमात्र है, ऐसा है नहीं। तुझमें भी ज्ञाता की हाजिरी है या नहीं? उसमें चाहे उसकी हाजिरी विचित्र हो। तुझमें ज्ञान की हाजिरी है, जानने की हाजिरी है। वह जानने का ही काम करे। आहाहा! बाहर का त्याग करके त्यागी मनवाना, वह तो एक बात है। आहाहा! परन्तु अन्दर के अज्ञान और राग–द्वेष का त्याग करके त्यागी अन्दर होना... आहाहा! वह अलग वस्तु है।

गुण–द्रव्य को जानकर,... केवली के केवलज्ञान को जानने से वह केवलज्ञान

कुछ प्रेम इसे उत्पन्न नहीं कराता। सुननेवाले को स्वयं को भगवान के प्रति प्रेम होता है, वह अपनी पर्याय का उस प्रकार का परिणमन है, इसलिए (होता है), परन्तु भगवान को देखकर, वह हुआ है... आहाहा! ऐसा है नहीं। **गुण-द्रव्य को जानकर,...** आहाहा! अथवा अवगुण को और द्रव्य को जानकर। सामनेवाले के अवगुण को और उसका द्रव्य... आहाहा! जानकर, **उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। बहुत सिद्धान्त-न्याय।

पूरी दुनिया एक समय में चाहे जिस प्रकार से पलटे परन्तु ज्ञान तो जानने के लिये पलटता है, वह स्वयं के कारण परिणमन है इसलिए। उस पलटने में, उसे देखकर राग-द्वेष हो, ऐसा ज्ञान का स्वभाव नहीं और ऐसा ज्ञेय का स्वभाव नहीं कि उसे राग-द्वेष उपजावे। आहाहा! सुन्दर स्त्री देखकर राग हो तो उस सुन्दरता का स्त्री का शरीर इसे राग उपजाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अन्तिम शब्द में **गुण-द्रव्य को जानकर,...** (आया)। आहाहा! सामने के गुण को या द्रव्य को, पदार्थ जानकर **उन्हें अच्छा-बुरा मानकर...** आहाहा! **राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।** मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है कि परद्रव्य को देखकर, यह विचित्रता देखकर और स्वयं अपने को राग-द्वेष हो, ऐसा कोई स्वरूप नहीं है। सामने भगवान हो या सामने अवगुणी कसाई हो। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ गुण से पर्याय लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : गुण शब्द से पर्याय है। उसका गुण भी लिया जाता है। सामने की बात है न। सामनेवाले में उसका गुण, उसकी पर्याय और उसका द्रव्य तीनों लिये जाते हैं। अपने परिणमन में पर्याय आती है, परन्तु जानने में तो द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों आते हैं। जानने में पर्याय ही आवे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : जैसा है, वैसा ही जाने तो राग-द्वेष न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैसा है, वैसा जानना, यह तो उसका स्वरूप है। जाननेवाले सिद्ध भगवान सब जानते हैं। कसाईखाना जानते हैं या नहीं? कसाईखाना सिद्ध भगवान जानते हैं या नहीं? आहाहा! अन्तर्मुहूर्त में आठ वर्ष के बालक को केवलज्ञान होने पर भी

सिद्ध भगवान जानते हैं। वह उन्हें विकल्प होता है? यह वस्तु उन्हें विकल्प कराती है? आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो अकेले सिद्धान्त हैं, वस्तु की मर्यादा में किसी की मर्यादा नहीं चलती। वस्तु की जो मर्यादा जानने की आत्मा की है, उस मर्यादा में परवस्तु का कुछ भी घालमेल नहीं होता। आहाहा! **गुण-द्रव्य को जानकर,...** अन्तिम मूल पाठ में है। मूल पाठ में गुण-द्रव्य था। था, देखो! शुभ या अशुभ गुण। ३८० (गाथा)। शुभ-अशुभ गुण और ३८१ में शुभ-अशुभ द्रव्य। गाथा है न? ३८० गाथा में गुण की व्याख्या है, ३८१ में द्रव्य की है। उसका यहाँ अन्त में योगफल लिया है। आहाहा! **गुण-द्रव्य को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है,...** वह मिथ्यात्व और अज्ञान है। आहाहा! जरा कठिन काम है। भाषा सादी है। सिद्धान्त तो मानो बहुत संक्षिप्त है।

एक पदार्थ दूसरे को कुछ विकार नहीं कराते, इतने सिद्धान्त में बड़ा हल है। अनन्त द्रव्य सामने पड़े हैं और गुणी अनन्त केवली, सिद्ध भगवान हैं। आहाहा! और अवगुणी अनन्त निगोद के और दूसरे जीव सब पड़े हैं, परन्तु उन्हें जानने से वे इसे विकार उपजावें, तथा उन्हें जाननेवाले को उन्हें जानने से विकार उपजे, ऐसा नहीं है। आहाहा! भाषा सरल है, इसका सिद्धान्त कठिन है। यह बात स्थूल दृष्टि में कहाँ (बैठे)? बाहर का यह करना और यह करना और यह करना और यह करना। कहते हैं, परन्तु तेरा स्वभाव जानने का है, उसमें करने का आया कहाँ? जानने में आया। जानने का, यह करना आया। वह भी जानता हूँ, ऐसा विकल्प कहाँ है? वह तो इसका स्वभाव जानने का है, बस! आहाहा!

चाहे जितना जैनधर्म के नाम से विरोध हो तो भी उन्हें—सिद्ध भगवान को विकल्प नहीं होता। आहाहा! इसी प्रकार धर्म के नाम से बहुत गुणों की बड़ी शोभा हो या गुण प्रगटे... आहाहा! हजारों लोग एक साथ हों, आहाहा! और एकदम केवल(ज्ञान) हो। छह महीने आठ समय में ६०८ (जीव) मोक्ष में जाते हैं। भाई! मोक्ष जानेवाले निकलें ऐसे। इससे कहीं जाननेवाले को राग होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! एक समय में तिर्यंच मरकर आठवें देवलोक में एक समय में उत्पन्न हो, ऐसा सिद्धान्त है। सरीखी स्थिति में (उत्पन्न नहीं होते)। निकलने के समय भले सरीखी स्थिति है, परन्तु सरीखी स्थिति में वास्तव में उत्पन्न नहीं हो सकते। क्योंकि सरीखी स्थिति से उपजे तो वहाँ से सबको

निकलकर एक साथ आना (पड़े)। आहाहा! एक समय में उपजे, परन्तु स्थिति में अन्तर से उपजे। क्या कहा समझ में आया? स्वर्ग में हजारों (जीव) एक समय में देव में उपजे। पशु में से आठवें देवलोक में एक समय में हजारों देव (उपजे)। स्थिति समान नहीं।

मुमुक्षु : उपजे एक समय में परन्तु...

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर है। स्थिति एक सरीखी हो तो एक हजार वहाँ से छूटकर समकिती (हों), यहाँ आना एक हजार कहाँ आ सके? आहाहा! प्रभु के ज्ञान की मर्यादा कोई अलौकिक है। आहाहा!

यहाँ इन गाथाओं में यह कहा। **गुण-द्रव्य को जानकर,...** आहाहा! **उन्हें अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।** भरत चक्रवर्ती को भगवान को मोक्ष पधारे देखकर राग आया था। (वह) उनके कारण नहीं, अपनी कमजोरी के कारण (आया था)। आहाहा! संसारजनित राग, (ऐसी) भाषा रखी, कल रखी थी। उस संसारजनित राग से ज्ञानी दूरवर्ती है। उस राग से दूरवर्ती है, राग से दूर वर्तता है। आहाहा! राग के समीप में होने पर भी राग से दूर वर्तता है। आहाहा! ज्ञानी को वास्तव में तो राग का क्षेत्र भी भिन्न है। उसका भाव भिन्न, क्षेत्र भिन्न, काल की मर्यादा भी भिन्न। आहाहा! वस्तु और वस्तु के गुण त्रिकाल रहते हैं और पर्याय एक समय रहती है। आहाहा! ऐसी चीज़ को जानते हुए भी जाननेवाले को ज्ञात हो, वह कहीं फेरफार करावे या जाननेवाला कुछ उसे देखकर फेरफार हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह तो सिद्धान्त रखे हैं।

चार पैसे सेर तो मण के ढ़ाई (रुपये)। पश्चात् इसकी चाबी (लगावे)। सवा सेर का क्या? ढाई सेर का क्या? साढ़े तीन सेर का क्या? पाँच सेर का क्या? साढ़े पाँच सेर का क्या? एक आने सेर तो मण के ढाई। इसमें यह चाबी आयी। ये तो सब सिद्धान्त... इसी प्रकार यह तो चाबी है। आहाहा! सामनेवाले के गुण और द्रव्य को जानकर तथा सामनेवाले की पर्याय, यह पहले में (आ गयी), जड़ की पर्याय शब्द आदि सब पर्याय है। और गुण-द्रव्य को जानकर भी... आहाहा! **अच्छा-बुरा मानकर राग-द्वेष करता है, वह अज्ञान ही है।** 'ही' रखा है, देखा? **वह अज्ञान ही है।** आहाहा!

कलश - २२२

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्णैकाच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा बोधो न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीप: प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थिति-बोध-वन्ध्य-धिषणा एते किमज्ञानिनो,
राग-द्वेष-मयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ।।२२२।।

श्लोकार्थ : [पूर्ण-एक-अच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा अयं बोद्धा] पूर्ण, एक, अच्युत और (-निर्विकार) ज्ञान जिसकी महिमा है, ऐसा यह ज्ञायक आत्मा [बोध्यात्] ज्ञेय पदार्थों से [काम् अपि विक्रियां न यायात्] किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता, [दीप: प्रकाश्यात् इव] जैसे दीपक प्रकाश्य (-प्रकाशित होने योग्य घटपटादि पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। [ततः इत:] तब फिर [तद्-वस्तुविस्थति-बोध वन्ध्य-धिषणा: एते अज्ञानिन:] जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव [किम् सहजाम् उदासीनताम् मुञ्चन्ति, रागद्वेषमयीभवति] अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? (इस प्रकार आचार्यदेव ने सोच किया है।)

भावार्थ : जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करन का है; उसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागीद्वेषी-विकारी होता है, जो कि अज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव ने सोच किया है कि-'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?' इस प्रकार आचार्यदेव ने जो सोच किया है, सो उचित ही है, क्योंकि जब तक शुभराग है, तब तक प्राणियों को अज्ञान से दु:खी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है।।२२२।।

कलश - २२२ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- २२२

पूर्णैकाच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा बोधो न बोध्यादयं,
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव।
तद्वस्तुस्थिति-बोध-वन्ध्य-धिषणा एते किमज्ञानिनो,
राग-द्वेष-मयी भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्।।२२२।।

आहाहा! अरे! प्रभु कैसा है? '**पूर्ण-एक-अच्युत-शुद्ध-बोध-महिमा अयं बोद्धा**' भगवान आत्मा पूर्ण है, अपूर्ण नहीं। एक है, स्वतन्त्र पृथक् एक है, ऐसा कहते हैं। सब होकर एक है, ऐसा नहीं। अच्युत है, अपने स्वरूप से ज्ञेयों को जानने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। आहाहा! यह सब लोग कहते हैं न? जीव मोक्ष में गये हैं परन्तु यदि यहाँ राक्षस जैसों का उपद्रव विशेष बढ़ जाए तो अवतार लेते हैं। यह सिद्धान्त सत्य नहीं है। आहाहा! राक्षस का जोर बढ़ जाए, भक्तों को पीड़ा बढ़ जाए, भक्तों को पीड़ा बढ़ जाए, इससे मोक्ष में से भी उन्हें अवतार धारण करना पड़ता है। अवतार धारण करे, ऐसा आता है न? ऐसा नहीं है। आहाहा! वे तो पूर्ण और एक और अच्युत हैं। अपने स्वभाव से च्युत होकर फिर से अवतार धारण करे या फिर से राग करे, ऐसा वह स्वरूप ही नहीं है। आहाहा!

पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (-निर्विकार)... चार विशेषण हैं, चार विशेषण हैं। आहाहा! **ऐसा ज्ञान...** पूर्ण ज्ञान, एक ज्ञान, अच्युत ज्ञान, शुद्ध ज्ञान, **ऐसा ज्ञान जिसकी महिमा है...** आहाहा! जिसके ज्ञान की तो यह महिमा है। आहाहा! **ऐसा यह ज्ञायक आत्मा...** अच्युत, पूर्ण और एक तथा शुद्ध—ऐसा यह आत्मा, **ज्ञेय पदार्थों से...** आहाहा! ज्ञेय में तो अरिहन्त और सिद्ध भी आ गये, पाँच परमेष्ठी भी आ गये। आहाहा! भगवान की मूर्ति देखकर शुभभाव होता है, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! **ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से...** जाननेयोग्य पदार्थ से। आहा! परमाणु से लेकर परमात्मा सब आ गये। परमाणु से लेकर परमात्मा। परमाणु में स्कन्ध आ गये, परमात्मा जीव में समकिती,

पाँचवें गुणस्थानवर्ती (आदि सब) आ गये। आहाहा!

ऐसा यह ज्ञायक आत्मा ज्ञेय पदार्थों से 'काम् अपि विक्रियां न यायात्' किंचित् मात्र भी... आहाहा! **'काम् अपि'** अर्थात् **किंचित् मात्र भी विक्रिया को प्राप्त नहीं होता,...** भगवान के प्रति राग आवे, परन्तु वह तो स्वयं की निर्बलता के कारण से है। वे भगवान दिखे, इसलिए उनके कारण (राग) आता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ के स्वभाव में नहीं है, तथा उनके कारण यहाँ हो, ऐसा ज्ञानस्वभाव नहीं है। स्वयं को जरा संसारजनित पर्याय है (तो) होता है। तथापि ज्ञानी उससे दूरवर्ती है। आहाहा! संक्षिप्त भाषा (परन्तु) भाव बहुत गम्भीर। अभी तो यह कलकलाहट, यह क्लेश, यह करना और यह करना और रखना और यह छोड़ना और यह रखना....

यहाँ कहते हैं, परमात्मा पूर्ण, अच्युत, एक, शुद्ध, बुद्ध—ज्ञानस्वरूप है। आहाहा! वह पर के लिये कुछ नहीं करता और पर को देखकर उसे कुछ नहीं होता। आहाहा! भगवान आत्मा का जाननेवाला स्वभाव जाननेवाला है। वह ज्ञात हो, उन पदार्थों से उसे कुछ विक्रिया हो, (ऐसा नहीं है)। ज्ञात हो, उसमें तो सब आ गये। आहाहा! मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है, इस बात में वहाँ लिया है, सबको अधिक द्रव्य और सब गुणों को जाने, इसलिए उसे कुछ भी प्रेम आवे, ऐसा नहीं है। परवस्तु के कारण नहीं है, अपनी निर्बलता के कारण से आता है, वह तो जाननेयोग्य, दूरवर्ती रहकर जाननेयोग्य है। आहाहा! कहो! दया, दान का राग आवे, वह परचीज़ की दया से नहीं आता; पर दु:खी है, इसलिए उसे मिटाऊँ—ऐसा नहीं आता। क्योंकि वह तो ज्ञेय में है। अपनी कमजोरी के कारण संसारजनित वह संसरण, परिभ्रमण के कारण उत्पन्न होता राग, उससे प्रभु चैतन्य दूरवर्ती वर्तता है। आहाहा! कठिन काम है। एकदम नये सुननेवाले को तो ऐसा लगे, क्या बात है? ऐसी कैसी बात है? यह जैन का ऐसा उपदेश होगा? जैन का नहीं, वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है। वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है। भगवान ने कुछ मर्यादा बाँधी नहीं है। ज्ञेय के कारण विकार उन्हें नहीं होता, ऐसी मर्यादा भगवान ने बाँधी है? भगवान ने तो जानकर कहा है। आहाहा! जाना वैसा कहा। आहाहा!

जैसे दीपक प्रकाश्य (–प्रकाशित होने योग्य घटपटादि पदार्थों से) विक्रिया को

प्राप्त नहीं होता। आहाहा! दीपक के प्रकाश में सर्प हो या गहना हो या चाहे जो घटपट आदि चीज़ हो, वे कहीं दीपक के प्रकाश में फेरफार नहीं कर सकते। छोटी चीज़ पड़ी हो तो कुछ फेरफार (नहीं होता) और बड़ी पड़ी हो तो फेरफार उसके कारण होता है, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! परन्तु छोटी हो, उसे आत्मा छोटी जाने परन्तु जानने से कहीं छोटी के कारण राग हो और बड़ी को बड़ी कर भगवान को जाने, परन्तु जानते हुए उसके कारण राग हो, ऐसी वस्तु की मर्यादा नहीं है। आहाहा! ऐसा धर्म है। कठोर धर्म।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा वे तो अपने स्वरूप में विराज गये, परन्तु वाणी में यह आया। वाणी में आया। ओहोहो! कि चैतन्य से विरुद्ध इस (शब्द को) चैतन्य की खबर नहीं, शब्द को चैतन्य की खबर नहीं, इस शब्द को खबर भी नहीं कि यह चैतन्य है। आहाहा! ऐसे शब्द में ऐसी वाणी आयी। उस वाणी के भगवान कर्ता नहीं, भगवान दिव्यध्वनि के कर्ता नहीं। उन्हें कहीं मुख में से वाणी नहीं निकलती। शास्त्र में भाषा आवे, मुख से बोलते हैं, ऐसा आता है। पंचास्तिकाय। वे तो लोग मुख से बोलते हैं, इसलिए (कहा है)। बाकी तो पूरे शरीर में से असंख्य प्रदेशों से ॐ उठता है। उसमें से गणधरदेव अनेक प्रकार के शास्त्र रचते हैं।

ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।

आता है न स्तुति में? उनकी स्तुति में बनारसीदास ने स्तुति की है। आहाहा!

मुमुक्षु : देव का लक्षण तो हितोपदेश है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कथन की शैली है। हित का उपदेश निकलता है, इसलिए ऐसा कहा। कहीं उपदेश की वाणी के कर्ता नहीं हैं। आहाहा! बहुत अन्तर। हितोपदेश कहलाये। ऐसा तो कहा नहीं? कि ज्ञान से मुक्ति होती है। आत्मा ज्ञान सच्चिदानन्द स्वरूप है। इसलिए उसका ज्ञान हो, उसे मुक्ति होती है; किसी क्रियाकाण्ड से मुक्ति नहीं होती। और वह ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र आप्त से होता है, केवली आदि आप्तपुरुष की वाणी आती है। आहाहा! समझ में आया? अर्थ में तो भाई ने ऐसा अर्थ लिया है, वह सर्वज्ञदेव की कृपा है। वाणी निकले और लाभ हुआ, वह कृपा है—ऐसा कहा जाता

है। वहाँ पाठ तो ऐसा लिया है। भाई! क्या कहा यह? है न इसमें है न? यह समयसार में है? नियमसार में है। बताया था न?

इष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध है। सम्यक्—सच्चा ज्ञान भगवान ने कहा, ऐसे ज्ञान से इष्ट फल अर्थात् सिद्ध, सिद्ध की प्राप्ति ज्ञान से है। वह ज्ञान... आहाहा! मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह ज्ञान सुशास्त्र से होता है। आहाहा! यहाँ कहे, एक ज्ञेय दूसरे को कुछ करे नहीं और हो नहीं। भगवान की वाणी अनेकान्त है। किस अपेक्षा से वाणी है? आहाहा! सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिए उनके प्रसाद के कारण आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य है। अर्थात्... कोष्ठक में भाई ने डाला है, मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल है। वे जानते हैं। आहाहा! 'करुणा हम पावत है तुमकी, यह बात रही गुरुगम की।' प्रभु! आपकी करुणा... आहाहा! श्रीमद् कहते हैं, करुणा का अर्थ कि आपके ज्ञान में मैं ज्ञात हुआ, वही आपकी करुणा है। आपके ज्ञान में मैं ज्ञात हुआ, यही आपकी कृपा है। आहाहा!

यह यहाँ कहा। **जैसे दीपक प्रकाश्य पदार्थों से विक्रिया को प्राप्त नहीं होता। तब फिर जिनकी बुद्धि ऐसी वस्तुस्थिति के ज्ञान से रहित है, ऐसे यह अज्ञानी जीव...** आहाहा! **अपनी सहज उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं...** आहाहा! अपनी स्वाभाविक **उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं तथा राग-द्वेषमय क्यों होते हैं? (इस प्रकार आचार्यदेव ने सोच किया है।)** आहाहा! विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२८, श्लोक-२२२, २२३ मंगलवार, ज्येष्ठ कृष्ण ११
दिनांक - ०८-०७-१९८०

समयसार, २२२ कलश का भावार्थ है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है तो **ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है।** आहाहा! चौथे गुणस्थान में भी जो कुछ क्रिया होती है, वास्तव में तो उसे भी वह जानता है। आहाहा! संसार में चक्रवर्ती के राज आदि हों, युद्ध आदि हो, विषय आदि (हो)... आहाहा! छद्मस्थ है, कोई उदय आवे, उसे जानता है; जुड़ता नहीं। आहाहा! जानता है और जुड़ता नहीं, इसके बीच पुरुषार्थ कितना है? ज्ञान जानता है और कर्म का उदय अर्थात् विकार अपने में अपने से आया, कर्म तो निमित्त है, उसे भी जानने का ही है। आहाहा!

जैसे दीपक का स्वभाव घटपटादि को प्रकाशित करने का है। ऐसा वस्तुस्वभाव है। यह वस्तु का स्वभाव है। **ज्ञेय को जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता।** आहा! जाननेयोग्य को जानने से विकार नहीं होता। **ज्ञेयों को जानकर, उन्हें अच्छा-बुरा मानकर, आत्मा रागीद्वेषी-विकारी होता है जो कि अज्ञान है।** आहाहा! जाननेमात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता, परन्तु जानकर अच्छा-बुरा मानकर उसमें रागी-द्वेषी-विकारी हो, वह अज्ञान है। क्योंकि राग और ज्ञान दोनों एकत्व कर डाला, इसलिए वह अज्ञान है। आहाहा! **इसलिए आचार्यदेव ने सोच किया है कि-'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर...** आहा! वस्तु का स्वभाव तो ऐसा जानने का ही है, अच्छा-बुरा मानने का उसका स्वभाव नहीं है। तथापि कहते हैं **अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है?** ऐसा आश्चर्य करते हैं। आहाहा!

भरतेश वैभव में एक बात आती है। भरत चक्रवर्ती के वैभव की बात (आती है)। समकिती है—ज्ञानी है, तथापि विषय वासना है परन्तु वह भोग ले और तुरन्त ही अन्दर ध्यान में उतरे और निर्विकल्प हो जाए। आहाहा! बात कठिन है। जगत को पकड़ना (कठिन है)। विषय में जुड़े, जुड़े अर्थात् हो ऐसा, तथापि अन्तर्मुहूर्त में तुरन्त ही वापस ध्यान करे तो निर्विकल्प होता है। आहाहा! भरतेश वैभव। चारित्रदोष अलग और दर्शनदोष

अलग, दोनों दोष अलग हैं। एक दोष दूसरे दोष को करता नहीं, नहीं तो कभी सुधार होगा नहीं। आहाहा!

'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? आहाहा! भगवान तो ज्ञानस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, तथापि रागरूप क्यों परिणमता है? आचार्य आश्चर्य करते हैं, आचार्य आश्चर्य करते हैं। आहाहा! आहाहा! **अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?** आहाहा! अपनी स्वाभाविक उदासीन अवस्था। व्यक्तिगत बात करते हैं। दूसरा जो समकिती हो और उसका—समकिती का दोष कोई देखे तो उसे बाहर प्रसिद्ध नहीं करता। उपगूहन आता है न? उपगूहन नाम का गुण। वह अलग वस्तु है। परन्तु अन्दर में विकार होता क्यों है? ऐसा यहाँ कहते हैं। वस्तु निर्विकारी सच्चिदानन्दस्वरूप परमब्रह्म आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा तो है, तथापि ऐसे राग-द्वेष विकारी होते हैं, वह अज्ञान है।

आचार्यदेव ने सोच किया है कि-'वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, फिर भी यह आत्मा अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? अज्ञानी होकर राग-द्वेषरूप क्यों परिणमित होता है? आहाहा! **अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?** आहाहा! उसका स्वरूप तो जानकर—देखकर विकल्प न करना, ऐसा उसका स्वरूप है। विकल्प कोई शुभ या अशुभ करना ही नहीं, ऐसा उसका स्वरूप है। तथापि ऐसा कि यह राग और द्वेष क्यों होता है? यह आचार्य आश्चर्य करते हैं। **इस प्रकार आचार्यदेव ने...** आहाहा! **अपनी स्वाभाविक उदासीन-अवस्थारूप क्यों नहीं रहता?' इस प्रकार आचार्यदेव ने जो सोच किया है, सो उचित ही है,...** नहीं तो मुनि हैं, छठवें गुणस्थान में और वापस यह विकल्प आया है। यह विकल्प, राग तो आया। यह ऐसा कैसे करते हैं, इतना राग तो आया न?

क्योंकि जब तक शुभराग है, तब तक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देखकर... आहाहा! शर्त तो यह। देखकर नहीं परन्तु जब तक शुभराग है, राग है-शुभराग जहाँ तक, **तब तक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देखकर करुणा उत्पन्न होती है...** हेतु देखने का नहीं है, हेतु राग का है। समझ में आया? देखते तो केवलज्ञानी तीन काल-तीन लोक को देखते

हैं। देखने का दोष नहीं परन्तु उसमें राग-द्वेष करता है, (वह दोष है)। आहाहा! तो कहते हैं कि **अज्ञान से दु:खी देखकर करुणा उत्पन्न होती है और उससे सोच भी होता है।** आहाहा! कहो, अमृतचन्द्राचार्य टीकाकार (कहते हैं)। जो कुन्दकुन्दाचार्य तीर्थंकर जैसा कार्य किया, उनकी टीका इन्होंने की है, वे टीकाकार ऐसा कहते हैं। अरे! अज्ञानी को राग-द्वेष करते देखकर, दु:खी देखकर यह तुझे विकल्प क्यों आता है? आहा! कि राग है, इसलिए आता है। आहाहा! और इसलिए शौच भी होता है। यह २२२ कलश (पूरा हुआ)। यह २२३ कलश।

कलश - २२३

अब, आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसो नित्यं स्वभावस्पृशः,
पूर्वागामि-समस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरा-रूढ-चरित्र-वैभव-बला-च्चञ्चच्चिदर्चि-मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्त-भुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्॥२२३॥

श्लोकार्थ : [राग-द्वेष-विभाव-मुक्त-महसः] जिनका तेज राग-द्वेषरूपी विभाव से रहित है, [नित्यं स्वभाव-स्पृशः] जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करनेवाले हैं, [पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकलाः] जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और [तदात्व-उदयात् भिन्नाः] जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भिन्न हैं, [दूर-आरूढ-चरित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्यसंचेतनाम् विन्दन्ति] वे (-ऐसे ज्ञानी) अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं- [चञ्चत्-चिद्-अर्चिर्मयीं] जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है और [स्व-रस-अभिषिक्त-भुवनाम्] जिसने अपने (ज्ञानरूपी) रस से समस्त लोक को सींचा है।

भावार्थ : जिनका राग-द्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभाव को जिन्होंने अंगीकार

किया और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्म का ममत्व दूर हो गया है, ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग होकर चारित्र अंगीकार करते हैं। उस चारित्र के बल से, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न जो अपनी चैतन्य की परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है, उसका अनुभव करते हैं।

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि–जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम–प्रमाण, अनुमान–प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है; यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है। और जब अप्रमत्त अवस्था होती है, तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था, उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् *ज्ञानचेतनारूप हो जाता है।।२२३।।

कलश - २२३ पर प्रवचन

अब, आगामी कथन का सूचक काव्य कहते हैं– अब भूतकाल का प्रतिक्रमण, भविष्य का प्रत्याख्यान, वर्तमान की आलोचना—ऐसा जो चारित्र का अधिकार, उसकी सूचनारूप यह श्लोक है अब।

राग–द्वेष–विभाव–मुक्त–महसो नित्यं स्वभावस्पृशः,
पूर्वागामि–समस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात्।
दूरा–रूढ– चरित्र–वैभव–बला–च्चञ्चच्चिदर्चि–मयीं,
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्त–भुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम्।।२२३।।

'राग–द्वेष–विभाव–मुक्त–महसः' जिनका तेज... स्वरूप चैतन्य का तेज, अन्तर

---

* केवलज्ञानी जीव के साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होने से पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय जीव के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकत्व को मुख्य न किया जाए तो, सम्यग्दृष्टि को ज्ञानचेतना निरन्तर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञान के स्वामित्वभाव से परिणमन होता है, कर्म के और कर्मफल के स्वामित्वभाव से परिणमन नहीं होता।

आत्मा के स्वरूप का तेज **राग-द्वेषरूपी विभाव से रहित है,...** आहाहा! जिसका स्वरूप, तेज अर्थात् स्वरूप प्रकाश, चैतन्य का जिसका प्रकाश है, वह स्वरूप से तो राग-द्वेषरहित ही है। स्वरूप में राग-द्वेष है नहीं। **जिनका तेज राग-द्वेषरूपी विभाव से रहित है, 'नित्यं स्वभाव-स्पृश:' जो सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करनेवाले हैं,...** आहाहा! चारित्रवन्त की बात है। अपना स्वभाव आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति, उसे स्पर्श करनेवाला है। चारित्र है न? यह चारित्र की व्याख्या है।

'पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकला:' जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं... आहाहा! वर्तमान में उसे पूर्व का कर्म उदय आवे, तथापि उससे भिन्न है। भविष्य में आयेगा, उससे भी भिन्न है। आहाहा! **भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और 'तदात्व-उदयात् भिन्ना:' जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भी भिन्न हैं,...** आहाहा! अन्तिम अधिकार चारित्र का है। आगे का अधिकार सब चारित्र का है। सम्यग्दर्शन उपरान्त स्वरूप में स्थिरता कैसे जमे, उस स्थिरता में पूर्व के कर्म, भविष्य के कर्म और वर्तमान तीनों काल से भिन्न है, ऐसा जिसका चारित्र है। चारित्रवन्त को स्वरूप में रमणता इतनी जमी है कि तीनों काल के कर्म से वह भिन्न अनुभव करता है। उसका नाम यहाँ चारित्र है। आहाहा! ऐसी चारित्र की व्याख्या।

सदा (अपने चैतन्यचमत्कारमात्र) स्वभाव को स्पर्श करनेवाले हैं,... राग को स्पर्श करनेवाला नहीं; अपने शुद्ध स्वभाव को स्पर्श करनेवाला है। आहाहा! **'पूर्व-आगामि-समस्त-कर्म-विकला:' जो भूतकाल के तथा भविष्यकाल के समस्त कर्मों से रहित हैं और जो वर्तमान काल के कर्मोदय से भी भिन्न हैं,...** आहाहा! कर्म का उदय आवे, तथापि वस्तु के स्वभाव की दृष्टि उससे भिन्न है। ऐसा चारित्र का स्वरूप है। **'दूर-आरूढ-चरित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्यसंचेतनाम् विन्दन्ति' वे (-ऐसे ज्ञानी) अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से...** देखो! अति प्रबल चारित्र के जोर, वैभव के बल से। आहाहा! **ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं...** वह तीनों काल के कर्म से भिन्न ज्ञान को वेदता है, ज्ञान का अनुभव करता है। उसे कोई भूत-भविष्य-वर्तमान का कर्म का राग, राग का अनुभव नहीं है। चारित्र की व्याख्या है।

अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का... ज्ञान के भाव को

वेदता है। चारित्र का अर्थ—उस ज्ञान का वेदन करना। आत्मा का जो स्वभाव ज्ञान और आनन्द, उसका विशेषरूप से वेदन करना, उसका नाम चारित्र है। कोई क्रियाकाण्ड चारित्र नहीं है। वस्तु का जो स्वभाव है, उसे उस ओर का झुकाव करके उसे वेदन करना, आहाहा! इसका नाम चारित्र। चारित्र किसे कहना, इसकी भी खबर नहीं होती और चारित्र हो गया। कठिन काम है, भाई! अनन्त काल से, अनन्त काल हुआ। कुछ न कुछ... कुछ न कुछ... मूल में भूल रह गयी, मूल में भूल रह गयी। बाकी चारित्र तो क्रिया तो बहुत की, चारित्र नहीं परन्तु क्रिया चारित्र की। आहाहा! चमड़ी उतरे और नमक छिड़के तो क्रोध न करे, तथापि अन्दर में मिथ्यात्व का शल्य है। आहाहा! तब तक चारित्र के बल से ज्ञान का अनुभव नहीं करता।

'चञ्चत्-चिद्-अर्चिर्मयीं' जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है... आहाहा! राग को वेदना, वह कर्मचेतना है। उसके फल में खुशी और नाराजपने वेदना, वह कर्मफलचेतना है और यह है ज्ञानचेतना। आहाहा! अकेला ज्ञान की संचेतना को अनुभव करता है। **अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से...** आहाहा! हैं?

मुमुक्षु : इसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान का बल शामिल है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : है, परन्तु सम्यग्दर्शन का जोर चारित्र जितना नहीं है, जोर चारित्र का है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा अनन्तगुणा पुरुषार्थ चारित्र में है। यह तो प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने में अनन्त पुरुषार्थ है। चारित्र का पुरुषार्थ उससे अनन्तगुणा है। आहाहा! यह चारित्र कहीं साधारण नहीं है। सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ है, उससे चारित्र का पुरुषार्थ निर्बल है, ऐसा नहीं है, अनन्तगुणा पुरुषार्थ है। आहाहा!

चारित्र अर्थात् स्वरूप में अन्दर रमणता जम जाना। आहाहा! ज्ञान के वेदन में अकेला पड़ना, अन्दर ढलान हो जाना। जिसे परीषह या उपसर्ग पड़ा है या नहीं, यह भी खबर नहीं, ऐसे वेदन में अन्दर चले जाना। विकल्प आवे तो जाने कि, यह होता है; नहीं तो निर्विकल्प वेदन में तो अन्दर में पड़ा है। यह आता है न, मोक्षमार्गप्रकाशक में? उपसर्ग और परीषह आवे तो ज्ञानी न जाने, ऐसा कुछ नहीं है। विकल्प आवे, तब जानता है। है, उसमें—मोक्षमार्गप्रकाशक में। जाने सही कि यह उपसर्ग आया। परन्तु विकल्प न हो, तब

तो निर्विकल्प में समा गये होते हैं। बाहर का परीषह, उपसर्ग चाहे जैसा हो, बाघ खाने के लिये बटका भरता हो। आहाहा! सिंह और बाघ (बटका भरते हों)।

स्वयं ने जंगल में संथारा किया हो, अकेले पड़े हों गिरिगुफा में। शास्त्र में ऐसा पाठ है। साधु अकेले गिरिगुफा में चले जाते हैं। अकेले। वहाँ संथारा करे और वहाँ देह छूट जाए, इसलिए वहाँ के सिंह और बाघ उस शरीर को खा जायें। आहाहा! ऐसा पाठ है। गिरिगुफा में चले गये। कोई सामने नहीं मिलता। जीते जी कोई वैयावृत्य करे नहीं और मरते समय कोई रोवे नहीं। आहाहा! ऐसी स्थिति में मुनि चले जाते हैं। आहाहा! मैंने संथारा किया है या नहीं, यह भले दुनिया न जाने। इससे क्या है? आहाहा! और देह छूटकर अकेला पड़ा रहता है। फिर मुनि की देह है, इसलिए उसे इस प्रकार से जलाना कि... वहाँ तो बाघ और सिंह आकर खा जाए। आहाहा! स्वयं तो आनन्द की लहर में उठकर चले गये होते हैं। आहाहा!

शरीर है, वह व्याधि आवे, अनेक प्रकार की आवे। आहाहा! शरीर निर्बल पड़ जाए, शिथिल पड़ जाए, चलते हुए चक्कर आवे, चक्कर में पड़ जाए तो कहाँ पड़ जाए, इसका मेल न रहे। मुनि को भी ऐसा आ जाए। आहाहा! मुनि आनन्द में हैं। पड़े और ऐसे पड़े (तो) पत्थर के साथ (टकराकर) सिर फूट भी गया हो। अतीन्द्रिय आनन्द में संचेतन में स्थित हैं। उन्हें परीषह की खबर भी नहीं। आहाहा! वीतरागी आनन्द में स्थित हैं।

वे **चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं...** ऐसे परीषह के समय, उपसर्ग के समय वे तो अकेले आत्मा का ही अनुभव करते हैं। आहाहा! है? **ज्ञान की संचेतना का...** ज्ञान को ही वेदते हैं। ज्ञान का ही वेदन, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करते हैं। आहाहा!

जंगल में रहे। शरीर में रोग आवे, कोई चक्कर आवे। अब वहाँ जंगल में कहाँ ठीक से चलने का हो? जहाँ-तहाँ पैर पड़ा हो, गिर जाए, एकदम गिर जाए। वहाँ वृक्ष हो या पत्थर हो, सिर टकराये। आहाहा! तथापि वे आनन्द में हैं। चारित्रवन्त तो अतीन्द्रिय ज्ञान की संचेतना में है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान का संचेतन—ज्ञान का सम्यक् प्रकार से वेदन, उसे अनुभव करते हैं। आहाहा! चारित्र कोई साधारण चीज़ नहीं है, भाई! चारित्र तो कोई

अलौकिक चीज़ है। आहाहा! वस्त्र बदले और नग्न हो गये, इसलिए चारित्र हो गया या पंच महाव्रत के परिणाम कदाचित् हुए तो चारित्र हो गया, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

प्रबल चारित्र के वैभव के बल से... विशिष्टता है न? आहाहा! भार है न? **'दूर-आरूढ-चरित्र-वैभव-बलात् ज्ञानस्यसंचेतनाम् विन्दन्ति'** अति प्रबल चारित्र के जोर से। आहाहा! अन्तर के पुरुषार्थ में आत्मा की ओर के उग्र पुरुषार्थ से ज्ञान को वेदते हैं। यह परीषह और उपसर्ग आया, उसका वेदन नहीं, उस ओर का झुकाव का राग भी नहीं। आहाहा! यह चारित्रदशा।

कल सुना था न? बहिन आयी न? राजकुमारसिंह सात बार गिर गये। शरीर में ऐसा फेरफार होगा तो चलते-चलते छह बार तो गिरे। सातवीं बार गिरने पर असाध्य हो गये। बीस करोड़ का आसामी। वहाँ धूल-पैसा क्या करे? आहाहा! यहाँ आये थे न? वहाँ मुम्बई, मलाड, मलाड में। मलाड न? वह मलाड था? वहाँ आये थे न?

मुमुक्षु : अस्पताल में आये थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे वहाँ भी आये थे, परन्तु हमारे पास आये थे। अस्पताल में कौन गये थे? यह तो राजकुमारसिंह आये थे न यहाँ? हम थे, वहाँ आये थे, अस्पताल की कौन बात करता है? दो व्यक्ति आये थे। परन्तु शरीर देखा तो पूरा बदल गया। हम जहाँ उतरे थे, वहाँ आये थे। राजकुमारसिंह। आहाहा! मुँह में फेरफार और कुछ दिखाव में कुछ दिखाव। यह? राजकुमार यह? पूरा शरीर बदल गया। पुण्य का उदय जहाँ जाए तो सब समाप्त। आहाहा!

अति प्रबल चारित्र के वैभव के बल से ज्ञान की संचेतना का अनुभव करते हैं- जो ज्ञानचेतना-चमकती हुई चैतन्यज्योतिमय है... आहाहा! यह चैतन्यज्योति चमकती प्रकाशमय आनन्दमय चमकती है, जिसमें खेद और राग का अंश हद नहीं, छूता नहीं। ऐसी यह चैतन्य चमकती ज्योति है। आहाहा! उसे ये अनुभव करते हैं। **'स्व-रस-अभिषिक्त-भुवनाम्' जिसने निजरस से (अपने ज्ञानरूप रस से)... जिसने निजरस से (अपने ज्ञानरूपी रस) से समस्त लोक को सींचा है।** आहाहा! जिसने निजरस से... आहाहा! **समस्त लोक को सींचा है।** पूरे लोक को शान्ति है, पूरे लोक पर शान्ति हो गयी। स्वयं अकेले शान्ति में स्थित हैं।

उस दिन वे आये, तब अपने अस्पताल में आये ? ठीक, हाँ। वहाँ आये थे। थोड़े दिन रहे थे न बुखार के कारण। थोड़े दिन सात-आठ दिन रहे थे। फिर गुजर गये। आहाहा! बीस करोड़ रुपये। राजकुमारसिंह, दिखाव देखो तो ऐसा मुँह बदल गया। मैंने कहा, राजकुमार है ? कौन है यह ? देह की स्थिति ऐसी है। वहाँ करोड़ों रुपये हों तो किस काम के ? डॉक्टर भी क्या करे और वैद्य भी वहाँ क्या करे ? आहाहा!

यह अन्दर में जहाँ आत्मा जगा... आहाहा! उसे कोई बाहर की सहायता की आवश्यकता नहीं। अन्दर से ज्ञान की चेतना अनुभव करते हुए समस्त लोक को सिंचन किया अर्थात् समस्त लोक को जानते हैं। सिंचन किया अर्थात् समस्त लोक की चाहे जितनी प्रवृत्ति हो, उसे वे जानते ही हैं। आहाहा! शरीर में चाहे जैसा हो, सम्प्रदाय में चाहे जैसा हो, शिष्यों में चाहे जैसा हो। आहाहा! जानते हैं। वे सिद्ध जानते हैं, दूसरा कुछ है नहीं। आहाहा! ऐसा करना पड़ेगा, हों! इसकी यह स्थिति रहेगी नहीं। आहाहा! ऐसी दशा आये बिना मुक्ति होगी नहीं। आहाहा! ऐसी स्थिति बिना मोक्ष होगा ? अकेले समकित से या श्रद्धा से कुछ नहीं होता। आहाहा! चारित्र बिना (नहीं होता)। चारित्र ऐसा—बाह्य में नग्नदशा, कपड़ा का टुकड़ा नहीं, अन्दर में एक राग का विकल्प नहीं, राग का अंश नहीं। आहाहा! उस आनन्द की दशा में रमते हुए, सिंचन करते हुए लोक की स्थिति चाहे जितनी हो, उस सब को जानते हैं। आहाहा!

समस्त लोक को सींचा है। अर्थात ? ज्ञानरस से जानते हैं, ऐसा। सिंचन किया है अर्थात् जो कुछ भी लोक, राजा हो और मुनि हुए हों और अन्तिम स्थिति में बहुत देखने आवे ऐसे, उस पर कहीं नजर नहीं है। ज्ञानानन्द में नजर पड़ी है, वेदन में स्थित हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ज्ञान का आनन्द, उसका नाम चारित्र, यह चारित्र की अब व्याख्या है।

भावार्थ – जिनका राग-द्वेष दूर हो गया, अपने चैतन्यस्वभाव को जिन्होंने अंगीकार किया... नास्ति-अस्ति की, राग-द्वेष गये और अपने चैतन्यस्वभाव का अंगीकार हुआ। आहाहा! जिसने चैतन्यस्वभाव अंगीकार करके पकड़ा, **और अतीत, अनागत तथा वर्तमान कर्म का ममत्व दूर हो गया है...** तीनों काल के कर्म का ममत्व गया। प्रतिक्रमण की बात है न यह ? प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना। **ऐसे ज्ञानी सर्व परद्रव्यों से अलग**

होकर... आहाहा! **चारित्र अंगीकार करते हैं।** परद्रव्य से पृथक् पड़कर अन्तर आनन्द में... आहाहा! यह चारित्र अर्थात् आनन्द को अंगीकार करते हैं। आहाहा! चारित्र की उग्रता का नाम तप है, ऐसा लेख है। तप अर्थात् क्या? चारित्र की दशा में पुरुषार्थ की उग्रता अर्थात् आनन्द, इसका नाम तपस्या है। ऐसा लेख है। आहाहा!

उस चारित्र के बल से,... आहाहा! **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न...** अन्दर ज्ञानचेतना, ज्ञान का संचेतन, वेदन के समक्ष राग की चेतना, वह कर्मचेतना कहलाती है। राग की, राग। और उसके हर्ष-उत्साह और शोक की वेदना, वह कर्मफलचेतना। इन दोनों का जिसे अभाव है। आहाहा! जो आनन्द की लहर में झूलता है। आहाहा! **चारित्र के बल से, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न जो अपनी चैतन्य की परिणमन-स्वरूप...** अपने में चैतन्य का परिणमनस्वरूप, **ज्ञानचेतना है, उसका अनुभव करते हैं।** यहाँ तो चारित्रवन्त ज्ञानचेतना का अनुभव करता है, ऐसा आया। पंचास्तिकाय में ऐसा आता है, ज्ञानचेतना केवली को होती है। क्या अपेक्षा है, उसे जानना चाहिए न? वहाँ पूरी ज्ञानचेतना की व्याख्या है। यहाँ चारित्रवन्त की (व्याख्या) है। वहाँ ज्ञानचेतना केवली को होती है, ऐसा कहा है और यहाँ ज्ञानचेतना चौथे, पाँचवें, छठवें में शुरु हो जाती है। आहाहा!

चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव होते हैं समकिती, वे संसार में होते हैं। आहाहा! बड़े राजकुमार, दिन की अरबों की आमदनी, वे भी अन्दर में रमते हैं। समकिती अन्दर में रमते हैं। पर के ऊपर उनके मेरेपन का ममत्व का नाश हो गया है। पर मेरे हैं, उसका नाश हो गया है और मैं पूर्ण हूँ, उसकी अस्ति का भान हो गया है, जागृतदशा हो गयी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है। अन्दर का अस्तित्व ज्ञान और आनन्द जिसकी अस्ति, चारित्र और शान्ति वे जहाँ प्रगट हुए हैं। आहाहा! और दुनिया की ओर के झुकाव के भाव का नाश हो गया है। है? **अपनी चैतन्य की परिणमनस्वरूप ज्ञानचेतना है, उसका अनुभव करते हैं।** आहाहा!

यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि-जीव पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप... आहा! यहाँ कहा, देखो! तीन प्रकार लिये। १७वीं गाथा में ऐसा नहीं लिया, १७वीं गाथा में ऐसा लिया, सीधे आत्मा को जाने। और यहाँ जरा

आगम-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है... क्रम बताया है। आहाहा! वहाँ १७वीं गाथा में तो सीधे-सीधे आत्मा (लिया है)। कोई पर की अपेक्षा नहीं।

यहाँ कहते हैं कि प्रथम ज्ञानचेतना किसे कहना? भगवान ज्ञानस्वरूप है, उसमें अन्तर में वेदन में एकाग्र होना, इसका नाम ज्ञानचेतना है। आहाहा! इससे पहले **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न...** कर्मचेतना अर्थात् कर्म अर्थात् जड़ नहीं। राग और द्वेष का होना, वह कर्मचेतना। और कर्मफलचेतना अर्थात् हर्ष-शोक का होना, वह कर्मफलचेतना। जड़ कर्म का फल नहीं। आहाहा!

यह **अपनी ज्ञानचेतना का स्वरूप आगम-प्रमाण,...** से पहले सुने, आगम प्रमाण से जाने, पहिचाने कि इसे ज्ञानचेतना कहते हैं, राग के विकल्प को कर्मचेतना कहते हैं और उसके वेदन को कर्मफलचेतना कहते हैं, ऐसा आगम से पहले जानना। समझ में आया? वीतराग कथित, दिव्यध्वनि से रचित शास्त्रों से पहले जानना। आहाहा!

ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।

भगवान की-त्रिलोकनाथ की वाणी वह शास्त्र की रचना में आती है, वह सब व्याख्या, उसे पहले जाने। आगम-प्रमाण से जाने, आगम वह यह आगम, हों! सर्वज्ञ वीतराग केवली के मुख से-श्रीमुख से निकली हुई, सन्तों ने कही हुई, चारित्र नग्न मुनि दिगम्बर ने शास्त्र रचकर कहा, वह आगम। दूसरा आगम नहीं। आहाहा! आगम-प्रमाण से जाने तो पहले आगम को पहचानना पड़ेगा न इसे? सच्चे आगम कौन से हैं और मिथ्या (आगम) कौन से हैं?

मुमुक्षु : दिगम्बर के नाम से मिथ्या शास्त्र लिखे हों तो परीक्षा कैसे करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर में खोटा कोई नहीं होता। किसी में सहज फेरफार लिखा हो तो वह फेरफार रहता नहीं, लम्बे काल टिकता नहीं। आता है मोक्षमार्गप्रकाशक में, मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। उसमें कोई खोटी बात थोड़ी चलावे परन्तु लम्बे काल चलती नहीं। उसे तोड़नेवाला, नाश करनेवाला निकलता ही है। है? उसमें है, है, इसे खबर नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : बीस पंथी ने कोई शास्त्र रचना की हो तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : ... यह रहे नहीं, लम्बे काल रहे नहीं, टिक नहीं सकता, न्याय के समक्ष लम्बे काल मिथ्या आगम टिक नहीं सकते। कोई अन्दर घर का कुछ डाले तो लम्बे काल चलता नहीं। तोड़नेवाला उसका नाश करनेवाला निकलता ही है। यह तो सत्य का पंथ है, परम सत्य का प्रवाह है। आहाहा! उसमें मिथ्या असत्य का प्रवाह नहीं चलता। चारित्रदोष होता है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान का दोष नहीं होता। वह दोष टिकता नहीं कभी। आहाहा!

आगम-प्रमाण से अर्थात् आगम अर्थात् वीतराग ने कहे हुए शास्त्र प्रमाण से। श्वेताम्बर ने बाँधे हुए हैं, वे आगम-प्रमाण नहीं हैं। वह आगम नहीं है। उस आगम-प्रमाण से निर्णय नहीं करना है। आहाहा! कठिन लगे। वीतराग ने कहे हुए जो दिगम्बर सन्तों ने रचे हुए, उन्होंने कहे हुए जो आगम, उस आगम-प्रमाण से पहले निर्णय करे। पश्चात् अनुमान प्रमाण करे, कि ऐसा होवे तो ऐसा होगा। राग होवे तो कर्मचेतना और फल होवे तो कर्मफलचेतना (होती है)। रागरहित होवे तो ज्ञानचेतना (होती है)। ऐसा अनुमान से निर्णय करे।

और स्वसंवेदनप्रमाण से जानता है... पश्चात् स्व—अपने वेदन से जाने। आहाहा! यह होता है इतना। परन्तु इस वेदन के काल में वह छूट जाता है। आहाहा! आगम-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण अनुभव में छूट जाता है। यह ४९ गाथा में आया है न? समयसार में। अनुमान-प्रमाण नहीं, समयसार में ४९ गाथा में आ गया है। अनुमान-प्रमाण को छोड़कर भी सीधे साक्षात् चैतन्य के वेदन का प्रमाण, वह सच्चा। अनुमान-प्रमाण, वह परोक्ष है, व्यवहार है। आहाहा! है न? अन्दर ४९ गाथा में है। देखो! ४९ गाथा है न? देखो!

इस प्रकार रस, रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रपने के अभाव के... इसमें गुजराती में १०१ पृष्ठ है, १०१ पृष्ठ। चौथी लाईन है, चौथी लाईन। **अनुमानगोचरमात्रपने के अभाव के कारण...** है? अनुमान है, वह तो परोक्ष है। आवे भले परन्तु उससे अन्दर वेदन में काम नहीं आता। यहाँ निकाल डाला, पहले निकाल डाला। आहाहा! **स्वसंवेदन**

के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अनुमानगोचरमात्रपने के अभाव के कारण... है? आहाहा! अनुमान को तो स्वामी कार्तिकेय में विकल्प में भी डाला है। जैसे श्रुतविकल्पानया:, वैसे अनुमान को भी प्रमाण में न डालकर विकल्प में भी डाला है। स्वामी कार्तिकेय। अनुमान वह एक विकल्प है, प्रमाण विकल्प प्रमाण। आहाहा! किसी अपेक्षा से कहाँ है, यह जानना चाहिए न?

मुमुक्षु : राजमलजी ने कलश टीका में बारह अंग के ज्ञान को विकल्प बताया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो है, विकल्प कहलाता है। परन्तु बारह अंग में कहा है अनुभूति। यह उसमें वहाँ आया है। आत्मा में आनन्द का अनुभव करना, यह वस्तु है, बारह अंग का सार है। बारह अंग में यह आया है। बाकी बारह अंग स्वयं विकल्प है। इसलिए यहाँ कहा न? उसे निकालकर जाने, परन्तु पश्चात् स्वसंवेदन प्रमाण से जाने। देखा? आहाहा! स्व अर्थात् अपने स्व प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन प्रमाण, वह प्रमाण है। अनुमान-प्रमाण की अपेक्षा, आगम-प्रमाण की अपेक्षा भी यह प्रमाण। आहाहा! स्वसंवेदन—स्व अर्थात् अपने आनन्द का वेदन, आहाहा! उसके प्रमाण से जानता है।

और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करता है;... लो! यह जानकर उसकी श्रद्धा दृढ़ करता है; **वह तो...** यहाँ तक तो **अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है।** यहाँ तो सातवें की उत्कृष्ट अवस्था लेना है न! अप्रमत्तदशा में जहाँ विकल्प नहीं। क्या कहा? कि यह जो स्वसंवेदन प्रमाण जानता है और उसका श्रद्धान करता है, दृढ़ करता है। वह तो चौथे गुणस्थान में भी होता है, पाँचवें में भी होता है और छठवें में भी होता है। वहाँ अभी विकल्प है न? स्वसंवेदन को आगम से, अनुमान से निर्णय करे, पश्चात् वेदन से (प्रमाण करे)। आहाहा!

और जब अप्रमत्त अवस्था होती है... लो! आहा! तब फिर विकल्प आगम प्रमाण अन्दर रहता नहीं। **अवस्था होती है, तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है;...** वहाँ फिर आगम-प्रमाण और अनुमान-प्रमाण वहाँ रहता नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। लोगों ने वेरी डाला है जैनधर्म। ऐसे मानो साधारण यह दया पालना और व्रत करना। अजैन को जैन सिद्ध कर दिया है। जैन अर्थात् वह क्या? बापू! वह तो वस्तु का

स्वभाव है। आहाहा! चलकती, चमकती चैतन्यज्योति, पूर्ण आनन्द और पूर्ण सुख से भरपूर, ऐसा जिसका स्वभाव है—ऐसे अनन्त आत्मा को जिसने जाना है, उससे अनन्तगुणे परमाणु को जिसने जाना है, ऐसे केवली के वचन निकलें, वह वाणी है, वह आगम है। आहाहा!

ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।

भगवान की वाणी सुनकर आगम रचे। कल्पना से आगम रचे, वह आगम नहीं। आहाहा! यह आता है बनारसीदास में। 'जिनादेश ज्ञाता...' यह भगवान की स्तुति जब करे न? यह अपने ज्ञानपंचमी थी न? स्तुति करे, तब गाते थे न? वह आता है, 'जिनादेश ज्ञाता...' इसके पहले पाँच बोल आते हैं, उसमें यह शब्द आता है,

ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।

इसमें है। इस दूसरे में, यहाँ स्तुति नहीं यहाँ, स्तुति आती है न?

मुमुक्षु : आगम, अनुमान में गुरु परम्परा किस प्रकार ली है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह परीक्षा करते हुए सब प्रमाण हो जाता है। लोक की परीक्षा कैसे करते हैं? पैसे लेने जाए, आम लेने जाए तो परीक्षा करते हैं या नहीं? यहाँ परीक्षा करना न? आहाहा! उसमें यह नहीं निकला? हमेशा बोला जाता है।....

णमो केवल, णमो केवलरूप भगवान,
मुख ॐकार ध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे,
रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।
सो सत्यार्थ शारदा तासु भक्ति उर आणु।
छंद भुजंग प्रयात्मे अष्ट कहुं बखान।

यहाँ **अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था... प्रथम श्रद्धान किया था, उसमें वह लीन होता है...** चारित्र है न? **और श्रेणी चढ़कर,...** आहाहा! चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है। परन्तु चारित्र कहना किसे,

यह समझना कठिन है। एक व्यक्ति कहता था, चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है। परन्तु चारित्र कैसा? यह वस्त्र छोड़कर नग्न हुआ तो चारित्र हो गया? **जब अप्रमत्त अवस्था होती है, तब जीव अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है; उस समय, उसने जिस ज्ञानचेतना का प्रथम श्रद्धान किया था, उसमें वह लीन होता है और श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् ज्ञानचेतनारूप हो जाता है।** लो!

नीचे है **केवलज्ञानी जीव के साक्षात् ज्ञानचेतना होती है। केवलज्ञान होने से पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय जीव के उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। यदि ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकत्व को मुख्य न किया जाए तो, सम्यग्दृष्टि को ज्ञानचेतना निरन्तर होती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि उसका निरन्तर ज्ञान के स्वामित्वभाव से परिणमन होता है, कर्म के और कर्मफल के स्वामित्वभाव से परिणमन नहीं होता।** अर्थात् चौथे से ज्ञानचेतना शुरु होती है और तेरहवें में पूर्ण होती है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४२९, श्लोक-२२३, गाथा-३८३ से ३८६		बुधवार, ज्येष्ठ कृष्ण १२
दिनांक - ०९-०७-१९८०

समयसार, ५४७ पृष्ठ गुजराती है। यहाँ से है। **अतीत कर्म के प्रति..** पहली ज्ञान की बात नीचे आ गयी है। **केवलज्ञानी जीव के...** नीचे नोट (फुटनोट)। **साक्षात् ज्ञानचेतना होती है।** केवलज्ञानी प्रभु को अकेली ज्ञानचेतना पूर्ण होती है। ज्ञान का पूर्ण स्वरूप प्रगट हुआ, वह पूर्ण ज्ञानचेतना कहने में आता है। **केवलज्ञान होने से पूर्व भी, निर्विकल्प अनुभव के समय...** छद्मस्थ को भी जब विकल्प बिना निर्विकल्प अनुभव में होता है, ज्ञाता—ज्ञेय और ज्ञान ऐसे तीन भेद का भी जहाँ विकल्प नहीं और ध्यान में हो तब, उसे ज्ञानचेतना कहा जाता है। **उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है।** वह उपयोगात्मक ज्ञानचेतना। **ज्ञानचेतना के उपयोगात्मकत्व को मुख्य न किया जाए तो,...** ज्ञान और उपयोग में ज्ञान की एकाग्रता, उसके उपयोग की ज्ञानचेतना **मुख्य न किया जाए तो, सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतना निरन्तर होती है,...** आहाहा! धर्मी जीव को आत्मा का आनन्द और ज्ञान की एकाग्रता का स्वाद हमेशा होता है। आहाहा!

ज्ञानचेतना अर्थात् आत्मा का जो ज्ञान स्वभाव, उसकी एकाग्रता का स्वाद। ज्ञान की एकाग्रता अर्थात् आनन्द का स्वाद। वह तो निरन्तर होता है। धर्मी जीव को ज्ञानचेतना निरन्तर होती है। उपयोगात्मकरूप से हो, तब अलग बात है, तब तो अन्तरध्यान में होते हैं, परन्तु बाहर में विकल्प हों। आहाहा! अरे! युद्ध आदि, विषय आदि के राग हों तो भी अन्दर की ज्ञानचेतना है, वह कहीं नाश नहीं पाती। आहा! उस ज्ञानचेतना की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि को निरन्तर होती है। संसार के काम-काज में जुड़ा हुआ दिखाई दे, तथापि उसे जानना जो आत्मा का ज्ञान, एकाग्रता, वह ज्ञानचेतना तो निरन्तर होती है। संसार के काम-काज में जुड़ने पर भी या दिखने पर भी ज्ञान चैतन्य का भान, ज्ञान की एकाग्रता और ज्ञान का वेदन तो निरन्तर होता है।

तीन प्रकार कहे। एक पूर्ण ज्ञानचेतना केवली को; एक उपयोगात्मक ज्ञानचेतना छद्मस्थ धर्मी को भी होती है, उपयोगात्मक जिसे कहते हैं। उपयोग ज्ञान में ही एकाग्र हो गया है, निर्विकल्प, दो। और तीसरा, निर्विकल्प उपयोग को मुख्य न गिने... आहाहा! तो

ज्ञान का एकाग्रपना धर्मी को पहली श्रेणी में चौथे गुणस्थान से—सम्यग्दृष्टि से ज्ञान की एकाग्रता निरन्तर होती है। समझ में आया इसमें कुछ?

मुमुक्षु : उपयोग की एकाग्रता किस प्रकार होती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्यान में, ध्यान में। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीन के भेद भी छूटकर ज्ञान में उपयोग एकाग्र हो, उसे उपयोगात्मक कहते हैं। आत्मा ज्ञान में आनन्द में एकाग्र हो, उसे विकल्प भी नहीं रहता, निर्विकल्प उपयोग हो जाए, उसे उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहते हैं। समझ में आया?

पूर्ण ज्ञानचेतना परमात्मा को (होती है) परन्तु छद्मस्थ में भी ज्ञानचेतना दो प्रकार की है। गृहस्थाश्रम में रहा हो, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार हो, तथापि ज्ञानचेतना सम्यग्दर्शन यदि हो तो होती है और वह ज्ञानचेतना दो प्रकार से होती है। जहाँ ज्ञान में ध्यान में जम जाए, उसे उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहते हैं। और उपयोग उसमें न रहे और उपयोग दूसरे में हो, संसार के किसी राग में, द्वेष में, विकल्प में हो, तथापि ज्ञानचेतना है, वह निरन्तर होती है। समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : उसे लब्धरूप ज्ञानचेतना कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानचेतना सदा होती है। उघाड़रूप ही होती है। उपयोगरूप भले न हो। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्धपरिणति और ज्ञानचेतना में क्या अन्तर है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सब एक ही है। शुद्ध ज्ञानचेतना अर्थात् आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता। उस एकाग्रता के तीन प्रकार। ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता के तीन प्रकार।—(१) ज्ञान की पूर्ण एकाग्रता, वह केवली को होती है। (२) छद्मस्थ को पूर्ण एकाग्रता नहीं परन्तु उसे उपयोगात्मक ज्ञानचेतना होती है। अर्थात् कि आत्मा ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान, ऐसे तीन भेद भूलकर अकेली ज्ञानचेतना के वेदन में, निर्विकल्प ज्ञान वेदन में हो, उसे उपयोग ज्ञानचेतना कहते हैं और (३) उपयोग रागादि में हो। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। उपयोग राग-द्वेष आदि संसार के काम आदि में हो, तथापि अन्तर ज्ञानचेतना होती है। ज्ञान अपने में एकाग्र हुआ है, वह राग से भिन्न पड़ा है, वह तो सदा रहता है। समझ

में आया? आहाहा! धर्म सूक्ष्म बात है, प्रभु! वीतराग मार्ग कैसा है? आहाहा! एक तो ज्ञानचेतना होती है और युद्ध करता हो। तथापि वह उपयोगात्मक ज्ञानचेतना नहीं है। तथा पूर्ण ज्ञानचेतना केवली को है, वह नहीं। परन्तु ज्ञान आत्मा में एकाग्र हुआ है, राग से भिन्न पड़कर (एकाग्र हुआ है), वह ज्ञानचेतना तो निरन्तर रहती है। समझ में आया? क्या कहते हैं?

मुमुक्षु : स्वभाव का अवलम्बन छूटता नहीं, ऐसा कहना चाहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे एकदम द्रव्य का अवलम्बन है ही। ज्ञानचेतना ज्ञान है अर्थात् द्रव्य का ध्येय उसे सदा है। उपयोगात्मक हो, तब तो है परन्तु विकल्प में, राग में, द्वेष में, संसार के कोई विषय, रागादि में हो, तथापि ज्ञान एकाग्रता की ज्ञानता सदा होती है। आहाहा! नीचे आया है न? यह ऊपर का स्पष्टीकरण किया है। आहाहा!

बात ऐसी है कि आत्मस्वरूप भगवान ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, वह तो परमात्मस्वरूप है। उस परमात्मस्वरूप का अन्दर भान, ज्ञान का एकाग्र होना, ज्ञान जो राग में एकत्वबुद्धि अनादि की है, वह ज्ञान, ज्ञान में एकाग्रबुद्धि होना, उसे ज्ञानचेतना कहते हैं। उस ज्ञानचेतना के तीन प्रकार—पूर्ण ज्ञानचेतना केवली को, छद्मस्थ को ज्ञानचेतना दो प्रकार की। अन्दर ज्ञान में उपयोग जम गया हो, विकल्प में लक्ष्य भी नहीं, ऐसी स्थिति का ध्यान भी समकिती को होता है। चौथे गुणस्थान में भी होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। ज्ञान, ज्ञान में जम जाना, राग का लक्ष्य न रहना; राग से एकता तो टूटी है, तथापि राग बाकी रहा है, उसमें भी जुड़ान न रहे और अन्दर में एकाग्र हो, वह उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहने में आती है। और राग में आवे और ज्ञानचेतना तो रहती ही है, उपयोग उसमें भले न हो, उपयोग राग में आ जाए, द्वेष में, किसी विकल्प में, संसार के विषय-कषाय, रागादि (होवे), तथापि ज्ञानचेतना आत्मा की तो सदा निरन्तर रहती है, वह राग को जाननेवाली भिन्न है, वह तो सदा रहती है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्यान, ध्याता और ध्येय का भेद परिणति में ज्ञात होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय में जब तक विकल्प है, तो ज्ञात होता है, विकल्प है उसमें ज्ञात होता है कि आत्मा ज्ञाता है, यह ज्ञान है, यह ज्ञेय है। परन्तु वह विकल्प होता है।

निर्विकल्प उपयोग में वे तीन ज्ञात नहीं होते। तीन ज्ञात हों तो उपयोग अन्दर में रहे नहीं। आहाहा! ऐसी धर्म की बातें हैं। वे कहीं अधिक जानपना हो तो ही यह होता है, ऐसा कुछ नहीं है।

अन्तर्दृष्टि का पलटा मारता है, दृष्टि जो पर्याय और राग के ऊपर है, वह दृष्टि ज्ञायक ध्रुव के ऊपर जाती है। उस बदलाव में ज्ञानचेतना प्रगट होती है। पश्चात् उस ज्ञानचेतना के तीन प्रकार। छद्मस्थ ज्ञान है, वह विकल्प में वर्तता हो, तब ज्ञान कहलाये, वह भी निरन्तर ज्ञानचेतना इस हिसाब से तो होती है। उपयोग में वर्ते, तब विकल्प नहीं होता और उपयोग में वर्ते, तब राग नहीं होता परन्तु ध्यान में एकाग्र होता है। ऐसा भी छद्मस्थ में ज्ञानचेतना का दूसरा भाग होता है; और ज्ञान की पूर्णता साक्षात् लिया है न? यह देखो न! शब्द आया न? **केवलज्ञान उत्पन्न करके, साक्षात् ज्ञानचेतनारूप हो जाता है।** अन्तिम शब्द आया। साक्षात् अर्थात् पूर्ण हुई। आहाहा! समझ में आया? यहाँ तक तो कल आया था।

अब बात, ज्ञानस्वरूप चैतन्य आनन्द है, उसका भान तो निरन्तर वर्तता हो। अब तदुपरान्त चारित्र की दशा कैसी होती है, उसका वर्णन है। वह ज्ञानचेतना न हो और चारित्र हो, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता, क्योंकि लोग तो ऐसा कहते हैं न कि यह शास्त्र का जानपना किया, अब हम चारित्र ले लेते हैं। आहाहा! तो वह चारित्र नहीं है। अन्तर ज्ञान के आनन्द का स्वाद आकर ज्ञानचेतना प्रगट हुई हो, उसे फिर विशेष स्वरूप में स्थिरता का चारित्र कैसा होता है, उसका वर्णन है। आहाहा! इसमें तुम्हारे हीरा-माणिक में ऐसा तो कभी आया नहीं होगा। सिरपच्ची मजदूरी बड़ी, बड़ा मजदूर। आहाहा!

भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप ही विराजमान है। प्रत्येक का आत्मा परमात्मा ही है परन्तु उसकी पर्याय में अन्तर है। राग की एकता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, राग की एकता टूटकर ज्ञानस्वरूप का भान करे, वह सम्यग्दृष्टि है। वह ज्ञानचेतनावाला उपयोग में जम जाता है, तब उपयोगात्मक चेतना है। उपयोग में न हो और यों ही विकार आदि के विकल्प में हो और तो भी ज्ञानचेतना निरन्तर रहे। और वह ज्ञानचेतना रागरहित हुई और साक्षात् पूर्ण ज्ञान हो जाए, वह केवलज्ञानी को होता है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। अब यह ज्ञान होने के उपरान्त, आत्मा का ज्ञान हुआ रागरहित भिन्न, तथापि राग

बाकी था, वह अचारित्र था, अचारित्र। उसे अब चारित्र कैसा होता है, इसका वर्णन है।

अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे, वह आत्मा प्रतिक्रमण है,... यह प्रतिक्रमण जो करते हैं, वह प्रतिक्रमण नहीं है। यह प्रतिक्रमण किया होगा न बाहर में? पहाड़े। आहाहा! यह तो प्रति—विमुख होकर, राग से विमुख होकर स्वरूप में जो ज्ञान था, उस ज्ञान में विशेष शान्ति आवे, स्थिरता आवे, उसे चारित्र कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रत्यक्ष और परोक्ष में क्या भेद है?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष-परोक्ष कुछ है नहीं। ज्ञान, वह प्रत्यक्ष ही है। ज्ञान है, उसका स्वरूप वास्तव में तो प्रत्यक्ष ही है। वह राग में जुड़े तो भी ज्ञान तो वहाँ प्रत्यक्ष वेदन में है। ऐसा पूर्ण दिखाई न दे, इस अपेक्षा से भले परोक्ष कहलाता है। श्रुतज्ञान को परोक्ष कहते हैं। श्रुतज्ञान परोक्ष। परन्तु वास्तव में तो उस ज्ञान की अन्दर एकाग्रता है, अन्दर उसे कोई बाहर का अवलम्बन नहीं है। इस अपेक्षा से वह प्रत्यक्ष ही है। आहाहा! राग की अपेक्षा साथ में लें तो उस ज्ञान को परोक्ष कहा जाता है। आहाहा!

अब, **अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे...** राग की एकता तो टूटी है। अब राग बाकी रहा है, उसके त्याग की बात है। आहाहा! यह चारित्र तो बहुत दुष्कर है। उसमें अभी इस काल में चारित्र है, वह तो अलौकिक है! बाहर से माने भले कोई, नग्नपने पंच महाव्रत पालन करे, वह चारित्र, (परन्तु) वह चारित्र नहीं है। यहाँ तो पूर्व का शुभ-अशुभ जो भाव, वही कर्म है। उसका जहाँ त्याग (हुआ) और इतनी जहाँ अन्दर में स्थिरता (हुई), उसका नाम चारित्र है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप है, ऐसा भान (हुए) उपरान्त राग होता है, वहाँ तक वह ज्ञानचेतना उपयोगात्मक नहीं है। अब उपयोगात्मक हुआ होने पर भी चारित्र न हो। चौथे, पाँचवें में उपयोगात्मक हो, तथापि चारित्र न होता। आहाहा! पण्डितजी!

उपयोगात्मक ज्ञानचेतना अलग चीज़ है, चारित्र अलग चीज़ है। उपयोगात्मक ज्ञानचेतना चौथे, पाँचवें में भी होती है। आहाहा! परन्तु चारित्र तो वस्तु की स्थिरता है। अन्दर जैसा भान (हुआ) और देखा, उसमें जमा है। शुभाशुभभाव से रहित होकर उसमें एकाग्र में जमा है, वह ज्ञानचेतना ऊपर स्थिरता हुई, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! ऐसी

बात है। साधारण समाज में धर्म तो यह है; धर्म कोई साधारण समाज के लिये दूसरा हो जाए और अमुक समाज के लिये धर्म दूसरा, ऐसा कुछ है? सत्य यह एक प्रकार का ही है। परम सत्य, चिदानन्द भगवान परम सत्य, उसका ज्ञान, वही ज्ञान है और उसमें रमणता-स्थिरता करना, वह चारित्र है।

मुमुक्षु : जितना कषाय का अभाव हुआ, उतनी तो चौथे गुणस्थान में स्थिरता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभाव की तो नास्ति से बात है। अभाव की बात नहीं की। स्थिरता की, बस! अभाव की बात नहीं की। यह तो नास्ति की बात है। अन्दर स्थिरता जमती है। स्वरूप में स्थिरता जमकर आनन्द और शान्ति की वृद्धि होती है। वह आनन्द और शान्ति चौथे और पाँचवें में थी, इससे चारित्र में आनन्द और शान्ति की वृद्धि होती है। ज्ञान भले न बढ़े, ज्ञान इतना का इतना रहे। आहाहा! अरे! थोड़ा ज्ञान पाँच समिति और तीन गुप्ति जितना हो। उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! उसका जो ज्ञान हुआ, स्वज्ञेय को पकड़ा, उसमें विशेष स्थिरता हुई, वीतरागता बढ़ी, शान्ति और आनन्द बढ़ा, तब उसने शुभाशुभ भावकर्म छोड़ा। अतीत कर्म के प्रति ममत्व छोड़ा, इसका अर्थ यह। ममत्व छोड़ा, यह समझाना है। वास्तव में (तो) ऐसे अन्दर स्थिर होता है, तब ममत्व नहीं रहता। समझाते हैं इस प्रकार से। आहाहा!

अतीत कर्म के प्रति... अर्थात् भूतकाल के—गत काल के शुभाशुभभाव के प्रति जो ज्ञानी को भी अस्थिरता थी... आहाहा! वह अस्थिरता मिटने पर, वह अस्थिरता। हों! अकेले अज्ञानी की बात नहीं है। ज्ञानी को अतीत काल के प्रति, आत्मा का ज्ञान होने पर भी वह अस्थिरता की ममता थी, वह ममता छोड़े, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। आहाहा! यह प्रतिक्रमण की व्याख्या। राग और द्वेष के विकल्प से विमुख होना और स्वरूप में स्थिर होना, इसका नाम प्रतिक्रमण है। चलते प्रवाह से अलग प्रकार है। बाहर के प्रतिक्रमण किये और प्रतिक्रमण किये और सामायिक की... आहाहा! जहाँ आदि चैतन्य वस्तु अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान का गंज प्रभु, उसका जहाँ अभी स्वाद और पता नहीं लगा, उसे अन्दर सामायिक और प्रौषध हो, यह तीन काल में नहीं होता। समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं, गत काल का कर्म। कर्म शब्द से शुभाशुभभाव। उसके प्रति **ममत्व को छोड़ दे, वह आत्मा प्रतिक्रमण है,** वह आत्मा प्रतिक्रमण है। आहाहा! समझाना है न? नहीं तो कर्म के प्रति ममत्व छोड़े, ऐसा भी नहीं है, छोड़ना भी नहीं है। स्थिर होता है, वहाँ छूट जाता है, उसे छोड़ना कहते हैं। आहाहा! आनन्दस्वरूप का ज्ञान तो है, अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मज्ञान है परन्तु उसमें स्थिर हो जाता है, स्थिर होता है, तब राग उत्पन्न नहीं होता, उसे छोड़ता है—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! इतनी सब बातें पहुँचना। अरे! कहाँ मनुष्य देह। आहाहा! और कहाँ दुःखी? चौरासी लाख योनि के प्राणी कहाँ दुःखी, कैसे दुःखी, कैसे दुःखी! वेदनावाले को... आहाहा!

एक जगह नारणभाई गये थे और कहते थे कि पारसी थे। वे सूकर को सूकर, जीवित सूकर, उसके लोहे के सरिया द्वारा पैर बाँधे और अग्नि की भट्टी थी, उसमें डाला। जीवित, हों! जीवित। आहाहा! यह कैसी पीड़ा होगी? इससे अनन्तगुणी पीड़ा तो पहले नरक में है। उष्ण, शीत वेदना सातवें में है। आहाहा! ऐसे का ऐसा पड़ जाए और रट जाए, वह बात अलग है। इसके ख्याल में आना कि यह वेदन ऐसा। आहाहा! यह दुःख का वेदन! जीते-जी अग्नि में सेंके। आहाहा! यह सब्जी भी हरितकाय जीव है या नहीं? यह पानी में सिंकती है न? गर्म पानी में। आहाहा! लौकी, घीसोड़ा, तोरई वह जीव है। पानी में धगधगते होकर सिंक जाती है। आहाहा! वह वेदना कैसी होगी? इसने कभी ख्याल में की नहीं। यह जाने कि यह घीसोड़ा पानी में डालते हैं, उसमें यह डाला। आहाहा!

मुमुक्षु : उसमें दुःख किसे अधिक है? सूकर को अधिक या एकेन्द्रिय जीव को अधिक?

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख?

मुमुक्षु : हाँ, दुःख...

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख तो वेदे, उसे अधिक है न? इसे तो मिथ्यात्व है। इसे मैं काम करता हूँ, ऐसी मान्यता वह तो मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व का इसे दुःख है और इसे वेदन का दुःख है। मिथ्यात्व तो है ही अज्ञानी को। आहाहा!

मुमुक्षु : यह ऐसा कहते हैं, सूकर पंचेन्द्रिय जीव को वह....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें कोई अन्तर नहीं है, वेदन सबको उसके प्रमाण में होता है। पंचेन्द्रिय को अधिक वेदन, एकेन्द्रिय को कम, ऐसा नहीं है। आहाहा! इन्द्रिय एक ही है, इसलिए इतना वेदन ज्ञात होता है। बाकी वेदन... आहाहा! चैतन्य की जाति को भूलकर दुःख की ज्वाला में सुलगता है, बापू! आहाहा! ऐसा अनन्त बार हुआ है, एक आत्मा के ज्ञान बिना। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **अनागतकर्म न करने की प्रतिज्ञा करे...** भविष्य में शुभाशुभभाव न हो, ऐसी प्रतिज्ञा। आहाहा! भविष्य में शुभाशुभभाव न हो, ऐसी प्रतिज्ञा। समकितसहित ज्ञानचेतना की भूमिका में (हो), उसे यहाँ प्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! है? **(कर्म बँधें उन भावों का ममत्व छोड़े) वह आत्मा प्रत्याख्यान है...** आहाहा! **(अर्थात् जिन भावों से आगामी कर्म बँधें उन भावों का ममत्व छोड़े)...** भाव की बात है न इसमें? आहाहा! भविष्य में जो भाव होनेवाले हैं, उसकी प्रतिज्ञा करता है कि वह भाव करूँगा ही नहीं। आहाहा! अर्थात् स्वरूप में स्थिर होता है। वर्तमान में ही इतना स्थिर होता है कि भविष्य में वह शुभाशुभभाव हो ही नहीं, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। भाव से है, देखो न! **बँधें उन भावों का...** यहाँ कर्म की बात नहीं है। पहले अतीत कर्म के प्रति (कहा), वह कर्म भी शुभाशुभभाव है। आहाहा! वह भी **अनागतकर्म न करने की प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावों से आगामी कर्म बँधें, उन भावों का ममत्व छोड़े), वह आत्मा प्रत्याख्यान है...** आहाहा!

जब तक यह भविष्य की परपदार्थ के प्रति कुछ भी आसक्ति और ममता रहती है, तब तक वह अप्रत्याख्यानी है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। भविष्य के विकल्पों का भी जिसमें वर्तमान में त्याग की प्रतिज्ञा। वर्तमान में ही स्थिर होता है। आहाहा! भविष्य में शुभाशुभभाव न हो, इस प्रकार से वर्तमान में अन्तर होता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। यह चारित्र का अधिकार है। अन्तिम गाथायें हैं न? सम्यग्दर्शनसहित चारित्र कैसा होता है? आहाहा!

कितनों को तो कहाँ पड़ी है? बाहर का व्यापार-धन्धा, खाना-पीना, पकाना, पुत्र-पुत्री को सम्हालना। आहाहा! अरे रे! यह तो समय चला जाता है। ऐसा मनुष्य का एक-

एक समय महा कीमती है, उसमें करने का यह है। आहाहा! न हो सके तो भी, उसकी प्रतीति में तो यह लेने योग्य है कि भविष्य के शुभाशुभभाव से भी लाभ होगा, ऐसा नहीं है। भविष्य के भी शुभाशुभभाव का त्याग, इसका नाम वर्तमान प्रत्याख्यान है। आहाहा! शुभभाव करूँगा तो किंचित् लाभ होगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! इसे प्रत्याख्यान कहते हैं। और हाथ जोड़कर ऐसा करो... यह प्रत्याख्यान नहीं है।

आत्मा का ज्ञान है, आत्मा की ओर का झुकाव का वेदन है परन्तु थोड़ा है। उसमें विशेष वेदन के लिये राग-द्वेष छूट जाते हैं, विशेष वेदन होने पर छूट जाते हैं, उसे यहाँ प्रत्याख्यान कहते हैं। आहाहा! और तीसरा—**उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े...** अर्थात् कि वर्तमान में शुभाशुभभाव होने न दे। ममत्व छोड़े अर्थात् होने ही न दे। आहाहा! होवे और ममत्व छोड़े, यह नहीं। ममत्व छोड़े, उसका अर्थ यह। आहाहा! वर्तमान शुभाशुभभाव को होने न दे, **वह आत्मा आलोचना है;...** आहाहा! बात-बात में अन्तर है। वर्तमान जगत को सत्य तत्त्व बहुत दूर है। बाहर में जरा शरीर ठीक मिले, साधन मिल पाँच, पचास लाख रुपये, स्त्री-पुत्र अनुकूल हो, हो गया... 'मैं चौड़ा और गली सकड़ी' हो गयी। आहाहा! उसे मेरा क्या है, अभी क्या है, क्या मुझे वेदन हो रहा है, भविष्य में क्या होगा, इसका भी विचार कहाँ है? आहाहा!

मुमुक्षु : यह विचार करना, ऐसा सुना कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य। सुनने को मिलना ही मुश्किल है। बाहर से ही सब चलाया... सब। यह प्रतिक्रमण किया और। आहाहा! (संवत्) १९८० के वर्ष में सब प्रतिक्रमण करते। आवे सब। ठाकरसी नहीं? भूराभाई ठाकरसी गोपाणी, उसके सब भाई प्रतिक्रमण करे। एक बार मैंने पूछा कि 'यह अनुभव अर्थात् क्या?' (तो कहे), 'अपने ऐसा होता नहीं।' १९८० के वर्ष। यह क्रियाकाण्ड परन्तु उसमें विभाव और विकार का अनुभव नहीं, यह क्या चीज़? विभाव किसे कहना और विभाव का अनुभव करना तथा विभाव का अनुभव छोड़ना, यह क्या चीज़ है? यह कुछ नहीं, कुछ नहीं। ऐसी बात अपने नहीं होती। आहा! अहमदाबाद में है न? अपना खाड़िया का मन्दिर, मन्दिर के पास, उसका पिता।

वर्तमान भाव की ममता छोड़े, वह आत्मा आलोचना है। **सदा ऐसे प्रतिक्रमण,...** सदा ऐसे प्रतिक्रमण। (रूढ़िगत) करता है, ऐसा नहीं। **सदा ऐसे प्रतिक्रमण, सदा ऐसे प्रत्याख्यान और सदा ऐसे आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है।** इसका नाम चारित्र है। आहाहा! यहाँ तो वस्त्र छोड़े और स्त्री-पुत्र छोड़े और पंच महाव्रत (लिये) तो हो गया चारित्र। अरे! भाई! चारित्र तो... आहाहा! उसकी व्याख्या—चारित्र का स्वरूप, वास्तविक स्वरूप सुनना कठिन पड़े, वहाँ वह चारित्र की दशा... आहाहा! बात करे, तब तो सब करे न? पंचम काल में नहीं हो सकता, ऐसा कुछ नहीं है। **ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान...** इस प्रकार वर्तता **आत्मा चारित्र है।** ऐसा वर्तता आत्मा चारित्र है। चारित्र, वह आत्मा की स्थिरता की क्रीड़ा है। आहाहा!

मुमुक्षु : स्थिरता बढ़े तो ममत्व छूटे या ममत्व छूटे तो स्थिरता बढ़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कुछ नहीं। यहाँ स्थिरता बढ़ी तो ममत्व उत्पन्न होता ही नहीं। यह तो फिर समझाना हो तो किस प्रकार समझावे? ममत्व छोड़े, यह छोड़े, ऐसा समझाया जाता है न? छोड़ना है? यहाँ जहाँ अन्दर एकाग्र हुआ तो वह (भाव) उत्पन्न नहीं हुए, उसे छोड़ा, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! आत्मा, आत्मा में आनन्द में स्थिर हुआ, वहाँ जितने वे दु:खरूप विकल्प उत्पन्न हुए नहीं, जितना आनन्द में था उतने, इसका नाम त्याग, ऐसा कहा जाता है। ऐसा है। आहाहा! बात-बात में अन्तर पड़ गया और न्याय-न्याय में बात पूरी बदल गयी।

गाथा - ३८३-३८६

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुह-मणेय-वित्थर-विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा।।३८५।।
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा।।३८६।।

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभ-मनेक-विस्तर-विशेषम्।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम्।।३८३।।
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिन्श्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता।।३८४।।
यच्छुभमशुभमुदीर्णं सम्प्रति चानेक-विस्तर-विशेषम्।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता।।३८५।।
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता।।३८६।।

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति, स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति।

एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयन्श्च, पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तरकर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यन्तं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः, स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः।।३८३-३८६।।

जो अतीत कर्म के प्रति ममत्व को छोड़ दे, वह आत्मा प्रतिक्रमण है, जो अनागतकर्म न करने की प्रतिज्ञा करे (अर्थात् जिन भावों से आगामी कर्म बँधें, उन भावों का ममत्व छोड़े), वह आत्मा प्रत्याख्यान है और जो उदय में आये हुए वर्तमान कर्म का ममत्व छोड़े, वह आत्मा आलोचना है; सदा ऐसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनापूर्वक प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है।–ऐसे चारित्र का विधान इन गाथाओं द्वारा करते हैं:–

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्मा को, वो आतमा प्रतिक्रमण है।।३८३।।

शुभ अरु अशुभ भावी करम का बंध हो जिन भाव में।
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है।।३८४।।

शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस काल में।
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है।।३८५।।

पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है।।३८६।।

गाथार्थ : [पूर्वकृतं] पूर्वकृत [यत्] जो [अनेकविस्तरविशेषम्] अनेक प्रकार के विस्तारवाला [शुभाशुभम् कर्म] (ज्ञानावरणीय आदि) शुभाशुभ कर्म है; [तस्मात्] उससे [यः] जो आत्मा [आत्मानं तु] अपने को [निवर्तयति] दूर रखता है, [सः] वह आत्मा [प्रतिक्रमणम्] प्रतिक्रमण करता है।

[भविष्यत्] भविष्य काल का [यत्] जो [शुभम् अशुभं कर्म] शुभ–अशुभ कर्म [यस्मिन् भावे च] जिस भाव में [बध्यते] बँधता है, [तस्मात्] उस भाव से [यः] जो आत्मा [निवर्तते] निवृत्त होता है, [सः चेतयिता] वह आत्मा [प्रत्याख्यानं भवति] प्रत्याख्यान है।

[संप्रति च] वर्तमान काल में [उदीर्णं] उदयागत [यत्] जो [अनेकविस्तर-विशेषम्] अनेक प्रकार के विस्तारवाला [शुभम् अशुभम्] शुभ और अशुभ कर्म है, [तं दोषं] उस दोष को [यः] जो आत्मा [चेतयते] चेतता है–अनुभव करता है–ज्ञाताभाव से जान लेता है, (अर्थात् उसके स्वामित्व–कर्तृत्व को छोड़ देता है), [सः चेतयिता] वह आत्मा [खलु] वास्तव में [आलोचनं] आलोचना है।

[यः] जो [नित्यं] सदा [प्रत्याख्यानं करोति] प्रत्याख्यान करता है, [नित्यं प्रतिक्रामति

च] सदा प्रतिक्रमण करता है और [नित्यम् आलोचयति] सदा आलोचना करता है, [सः चेतयिता] वह आत्मा [खलु] वास्तव में [चरित्रं भवति] चारित्र है।

टीका : जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से हुए भावों से अपने को छुड़ाता है (–दूर रखता है), वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है; वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों को (भविष्यकाल के कर्मों को) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है; वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (–आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, आलोचना है। इस प्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्व कर्मों के कार्यरूप और उत्तरकर्मों के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ, अपने में ही–ज्ञानस्वभाव में ही–निरन्तर चरने से (आचरण करने से) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है)। और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपने को–ज्ञानमात्र को चेतना (अनुभव करता) है इसलिए (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है।

भावार्थ : चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषों से आत्मा को निवृत्त करना सो प्रतिक्रमण है, भविष्य में दोष लगाने का त्याग करना सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोष से आत्मा को पृथक् करना सो आलोचना है। यहाँ निश्चयचारित्र को प्रधान करके कथन है; इसलिए निश्चय से विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकाल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इस प्रकार प्रतिक्रमण स्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूपमय आत्मा प्रगट होता है।

गाथा - ३८३-३८६ पर प्रवचन

ऐसे चारित्र का विधान इन गाथाओं द्वारा करते हैं:– इस चारित्र का ऐसा जो प्रकार और उसका जो विस्तार, आगे की गाथाओं में कहते हैं। गाथा।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुह–मणेय–वित्थर–विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेददि सो खलु आलोयणं चेदा॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चं पडिक्कमदि जो य।
णिच्चं आलोचेयदि सो हु चरित्तं हवदि चेदा॥३८६॥

नीचे हरिगीत।

शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरव जो किये।
उनसे निवर्ते आत्मा को, वो आतमा प्रतिक्रमण है॥३८३॥
शुभ अरु अशुभ भावी करम का बंध हो जिन भाव में।
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है॥३८४॥
शुभ और अशुभ अनेकविध हैं उदित जो इस काल में।
उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है॥३८५॥
पचखाण नित्य करे अरु प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
नित्यहि करे आलोचना, वो आत्मा चारित्र है॥३८६॥

यह चारित्र सदा ही, इस प्रकार से हो, वह सदा ही चारित्र है। शाम और सबेरे प्रतिक्रमण करे, तब प्रत्याख्यान है—ऐसा नहीं। अन्तर में पूर्व के भाव का वर्तमान... अन्तर में स्थिर होकर छोड़ता है, उसे सदा चारित्र है। आहाहा! इसका नाम चारित्र है। इसकी टीका।

जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से हुए भावों से... यह तो निमित्त से

समझाते हैं। विकार होने में निमित्त कौन है ? पुद्गल का विपाक, इतना। उससे हुए, ऐसा नहीं। ऐसे **भावों से अपने को छुड़ाता है...** आहाहा! **पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से हुए भावों से अपने को छुड़ाता है...** आहाहा! **वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है;...** देखा ? स्वयं प्रतिक्रमण हुआ, वह प्रतिक्रमण है। आहाहा! धर्म आत्मा में होता है या धर्म उस निमित्त में और राग में होता है ? निमित्त अर्थात् संयोग में होता है या राग में होता है ? आहाहा! धर्म आत्मा में होता है, परन्तु आत्मा कौन है, यह अभी जाना नहीं तो धर्म होगा कहाँ से उसमें ? धर्मी ऐसा आत्मा, उसमें इसका धर्म; धर्मी का धर्म होता है। वह कहीं पुण्य-पाप और निमित्त, वह कोई चीज़ इसमें नहीं है। आहाहा! तो आत्मा ही जहाँ अभी वह चीज़ है, उसे जाना नहीं, उसे प्रतिक्रमण और चारित्र और प्रत्याख्यान नहीं हो सकता। आहाहा! और यह वर छोड़कर बारात। दूल्हा, दूल्हा। बारात जोड़ते हैं न ? यह विवाह। दूल्हा न हो और बारात जोड़ दी। आत्मा न हो और कर डाले प्रत्याख्यान। आहाहा! पहले आत्मा कौन है ? कहाँ है ? कितना है ? कैसा है ? आहाहा! उसका ज्ञान (नहीं)। जिसे धर्म करना है, वह करनेवाला धर्मी है कितना ? कैसा ? उसके ज्ञान और श्रद्धा बिना चारित्र, व्रतादि नहीं हो सकते। आहाहा!

उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है;... स्वयं ही प्रतिक्रमण है;... रागादि, वे कोई प्रतिक्रमण (नहीं है)। शुभभाव हो, वह प्रतिक्रमण नहीं है। आहाहा! शुभभाव मिच्छामि दुक्कडम किया और शुभभाव किया, वह प्रतिक्रमण नहीं है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा... है न ? **आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ...** उनमें न जुड़ता हुआ **स्वयं ही प्रतिक्रमण है;...** आहाहा! आत्मा प्रतिक्रमण है। परन्तु अभी आत्मा कैसा है, (यह) जाने बिना प्रतिक्रमण कहाँ से आया ? आहाहा! आत्मा की तो खबर नहीं होती।

वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों को (भविष्यकाल के कर्मों को) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ... भविष्य के भाव न होने दे, ऐसी प्रतिज्ञा वर्तमान करता हुआ। भविष्य के भाव में शुभ-अशुभ होने न दे, ऐसी वर्तमान में सिथरता, प्रतिज्ञा करता है, वह प्रत्याख्यान है। **प्रत्याख्यानरूप करता हुआ प्रत्याख्यान है;...** आहाहा! क्या कहा ? वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत शुभाशुभभाव का कार्य भी वापस राग अथवा कर्म का फल

जो विकार, वह कार्यभूत उत्तरकर्म को—भविष्य काल के भाव को प्रत्याख्यान करता हुआ, वह आत्मा ही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान आत्मा से भिन्न चीज़ नहीं है। जैसे संसार आत्मा से कोई अलग चीज़ नहीं है। संसार, वह आत्मा की विकारी पर्याय है, यह प्रत्याख्यान निर्विकारी पर्याय है। वह आत्मा में होती है। आहाहा! सुना न हो अब करे कब? आहाहा! जिन्दगी के चालीस-चालीस, पचास-पचास वर्ष मुफ्त के अकेले पाप में चले जाते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : शाम को पैसे इकट्ठे किये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा क्या, पाप इकट्ठा किया। शाम को योगफल में पाप इकट्ठा किया। आहाहा!

आत्मा अर्थात् अत्यन्त राग से निवृत्तस्वरूप त्रिकाली परमात्मा है। आहाहा! यह दया, दान के विकल्प से भी पार, शान्ति का सागर, परमात्मा स्वयं भगवानस्वरूप, भगवत्स्वरूप भगवान है। उस भगवान को जाने बिना स्थिरता किसमें आयेगी? जिसमें स्थिरता करना है; चारित्र अर्थात् स्थिरता, वह क्या चीज़ है, (यह) जाने बिना स्थिरता कहाँ से आयेगी? आहाहा! जिसमें स्थिरता—चारित्र करना है। जिसमें, वह कौन है, यह जाने बिना चारित्र कहाँ से आयेगा? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। अनजाने व्यक्ति को तो यह तो एल.एल.बी. की बातें हैं। एल.एल.बी. की नहीं, यह तो एकड़ा की बात है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र किसे कहना, उसकी बात है।

वही आत्मा **वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (-आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक...** कर्म के विपाक से पुण्य-पाप के भाव दोनों को **अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,...** अर्थात् भिन्न अनुभव करता हुआ। शुभाशुभभाव (रूप) नहीं होता। वर्तमान में पूर्व के कर्म के निमित्त से होते जो शुभाशुभभाव, उन्हें नहीं करता, नहीं होता हुआ। आहाहा! गजब चारित्र की व्याख्या। **अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,...** आहाहा! पूर्व के कर्म का फल हर्ष, राग और द्वेष से अत्यन्त भिन्न भेद आलोचता हुआ, एक नहीं होने देता हुआ। आहाहा! उसे यहाँ वर्तमान आलोचना अर्थात् वर्तमान संवर कहते हैं। भूतकाल का प्रतिक्रमण, भविष्य का प्रत्याख्यान और वर्तमान का संवर। संवर अर्थात् आलोचना। आहाहा!

वर्तमान में पूर्व के कर्म के भाव होने न देना, कर्म के भाव जो होते हैं, वह न होने

देना। ऐसी व्याख्या समझावे तो ऐसा ही न? सब जगह सब बातें करने जाए कि पर को छोड़ा नहीं जा सकता, पर को छोड़ा नहीं जा सकता, ऐसी लम्बी-लम्बी व्याख्या नहीं होती, परन्तु वह स्वयं अपने स्वरूप का भान किया होता है, उसमें जो अन्दर स्थिर होता है, वह भविष्य के कर्म की अथवा वर्तमान की **आलोचना है।...** आहाहा! भविष्य का प्रत्याख्यान और वर्तमान की आलोचना। वर्तमान में स्थिर होता है उसे। भविष्य में स्थिर होगा, यह बात नहीं। वर्तमान में ही आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा जो जानने में, अनुभव में आया था, उसमें स्थिर होता है, उसमें रमता और जमता है, उसे आलोचना अर्थात् कि वर्तमान में संवर कहा जाता है। आहाहा! तीनों आ गये। आये न तीन? **इस प्रकार...** इस प्रकार कहते हैं। जो यह पद्धति कही वह। इस पद्धति से दूसरी पद्धति नहीं। **इस प्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ,...** आहाहा!

मुमुक्षु : सबेरे-शाम नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। वह तो सदा आत्मा में चारित्र होता ही है। चारित्रवन्त को चारित्र सवेरे और शाम दो समय चारित्र होता है? आहाहा! आत्मा के भानपूर्वक की स्थिरता सदा चौबीस घण्टे रहती है, उसका नाम चारित्र है। फिर शाम-सवेरे के प्रतिक्रमण के विकल्प आवे, वह और अलग चीज़ है। आहाहा! भूतकाल के, भविष्यकाल के और वर्तमानकाल के भाव होने न देना और स्वरूप में स्थिर होना, वह कहीं शाम-सवेरे दो ही समय रहता है या सदा है? आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा!

बड़ा करोड़ोंपति (हो) परन्तु पैसा कुछ काम करता है? बड़े राजकुमारसिंह। बीस करोड़। अभी असाध्य होकर पड़े हैं। आहाहा! बेचारे बीमार हैं। कौन सहायक, कौन मदद करे? बापू! जड़ अत्यन्त भिन्न, आत्मा अत्यन्त भिन्न। उसकी दशा आत्मा के आधीन नहीं, आत्मा की दशा उसके (जड़ के) आधीन नहीं। आहाहा! यह शरीर की अवस्था अनेक प्रकार से हो... आहाहा! वह इसके कारण से है। आत्मा उसकी सम्हाल रखे तो न हो, ऐसा कुछ है नहीं। यह सम्हाल रखे तो न हो। स्वरूप की सम्हाल रखे तो शुभाशुभभाव न हो। आहाहा! क्योंकि वह अपना स्वरूप है। आहाहा! विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३०, गाथा-३८३ से ३८६, श्लोक-२२४ गुरुवार, ज्येष्ठ कृष्ण १३
दिनांक - १०-०७-१९८०

३८३ से ३८६ (गाथा), की टीका थोड़ी सी चली है, फिर से। **जो आत्मा पुद्गलकर्म के विपाक (उदय) से...** निमित्त से कथन है। **हुए भावों से...** पुद्गलकर्म के निमित्त के लक्ष्य से होते जो भाव, उनसे **अपने को छुड़ाता है (–दूर रखता है), वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है;...** वह आत्मा ही प्रतिक्रमण है। जो भूतकाल के कर्म, उनके उदय से अपने में अपने कारण से हुए भाव, उन भावों से जो आत्मा स्वयं अपने को निवृत्त करता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है। वह आत्मा ही प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण तो पर्याय है परन्तु आत्मा में परसन्मुख से विमुख होकर (पर्याय) हुई है, इसलिए आत्मा ही प्रतिक्रमण है, ऐसा कहा जाता है।

एक ओर ऐसा कहना कि उस पर्याय—मोक्ष के मार्ग को और मोक्ष को द्रव्य नहीं करता। द्रव्यस्वभाव ऐसा है कि मोक्ष और मोक्ष के कारण तथा बन्ध और बन्ध के कारण को नहीं करता। क्योंकि पर्याय है न? द्रव्य नहीं करता। एक ओर यहाँ कहना कि उस पूर्व के कर्म से होते भाव से आत्मा को निवृत्त करता है, यह पर्याय से बात की है। वह द्रव्य से बात की थी। द्रव्य स्वयं बन्ध-मोक्ष के परिणाम से रहित है। परन्तु यहाँ परिणाम करनेवाला है परिणाम, ऐसा कहकर स्वयं प्रतिक्रमण के परिणाम ही आत्मा है, ऐसा यहाँ कहा गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रतिक्रमण न करे, वह आत्मा नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री: प्रतिक्रमण की निर्मल पर्याय... समकित है परन्तु वह न हो तो प्रतिक्रमण आत्मा नहीं है। समकित है, वह आत्मा है, तथापि अप्रतिक्रमण के भाव से विमुख न हो तो वह आत्मा प्रतिक्रमणरूप आत्मा नहीं है। सम्यग्दर्शनरूप आत्मा है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रतिक्रमण का भाव शुभभाव नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धभाव कहा न, यह प्रतिक्रमण। शुद्धभाव, वह पर्याय है। कर्म के पाक से होते अशुद्धभाव, उससे आत्मा को निवृत्त करे, वह भाव शुद्धपर्याय है। परन्तु जब द्रव्य की व्याख्या चलती हो, तब वह द्रव्य तो इस पर्याय को करता नहीं; पर्याय पर्याय को करती है। जरा सूक्ष्म बात है। यह तो दोष है, है उससे विमुख करता है। आहाहा! यह तो सम्यग्दर्शन के बाद की बात है, बाद के उपरान्त की चारित्र की यह बात है।

वह आत्मा उन भावों के कारणभूत पूर्वकर्मों को (भूतकाल के कर्मों को) प्रतिक्रमता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण है;... देखा? आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है। आहाहा! वहाँ समयसार की ३२०वीं गाथा में ऐसा (कहा) कि मोक्ष और मोक्ष के परिणाम को, बन्ध और बन्ध के परिणाम को आत्मा नहीं करता। वह द्रव्य की बात करते हुए (कहा) और यह पर्याय की बात है। जहाँ-जहाँ, जो-जो योग्य है, वह-वह समझना चाहिए। (मुनि को) दोष लगता है, मुनि को भी दोष लगता है। वहाँ से विमुख होते हैं। आहाहा! यदि बिल्कुल न होता हो, तब तो प्रतिक्रमण, यह वस्तु रहती नहीं। भाव होते हैं, परन्तु उनसे विमुख हो जाता है। आहाहा! निवृताता है, वह प्रतिक्रमण है।

वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तरकर्मों को... उस भाव के भविष्य में जो कर्म बँधे **(भविष्यकाल के कर्मों को) प्रत्याख्यानरूप करता हुआ...** आहाहा! उन शुभाशुभभाव से रहित प्रतिक्रमण की पर्याय हुई, वही पर्याय भविष्य में जो बन्धन होने का कारण था, उसे प्रत्याख्यान करता हुआ, उसे छोड़ता हुआ। भविष्य में वैसा करेगा नहीं, वह यह प्रतिक्रमण हुआ, इसमें ही ये तीन बोल आ जाते हैं। तीन तो समझाते हैं। वह तो इसे समझाते हैं। पर से ऐसा विमुख हुआ और आत्मा के परिणाम सम्यग्दर्शन उपरान्त शान्त स्थिर हुए, उन भूतकाल के कर्म से विमुख हुआ, भविष्य काल में कर्म बाँधेगा, उससे भी विमुख हुआ, ऐसा साथ में स्थापित करते हैं, अपेक्षा से (कहा है), बाकी एक में तीनों समा जाते हैं। बात समझ में आती है?

यह प्रश्न-चर्चा बहुत हुई थी, जामनगर में (संवत्) १९८८ के वर्ष, जामनगर। भाई! यह तीन है या एक है यह? संवत्सरी के दिन चलती है न आलोचना? संवत्सरी के दिन दोपहर में। उसमें आया था, उसमें प्रश्न चला था। बात तो कथन पद्धति किस प्रकार

हो ? यहाँ तो वर्तमान में भाव को किया नहीं, विमुख हुआ, यही प्रतिक्रमण और यही भविष्य में बन्ध के कारण को किया नहीं, इसलिए यही प्रत्याख्यान है। आहाहा! यह प्रतिक्रमण है, वह इस अपेक्षा से। भविश्य का कर्म नहीं हुआ, ऐसे परिणाम (हुए), वहाँ भविष्य के परिणाम कर्म नहीं हो, इस अपेक्षा से उसे प्रत्याख्यान कहा जाता है। आहाहा! **प्रत्याख्यान है;...**

वही आत्मा, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (–आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक... यह अब वर्तमान आया। पहले भूतकाल था, पश्चात् भविष्य था, अब वर्तमान। मूल तो वर्तमान परिणाम में मलिनता से निर्मलता हुई, उस परिणाम को तीन अपेक्षा लागू पड़ी है। पूर्व कर्म की अपेक्षा से उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है, भविष्य में उसका बन्ध नहीं होता, इसलिए उसे प्रत्याख्यान कहा जाता है और वर्तमान में उसमें सम्मिलित नहीं होता, पृथक् (रहता है), उसे आलोचना अर्थात् संवर कहा जाता है। आहाहा!

परिणाम तीन प्रकार के नहीं हैं। आहाहा! परिणाम तो यह एक ही है। यह सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है। सम्यग्दर्शन बिना यह बात नहीं होती। क्योंकि जो वस्तु ही देखी नहीं और उसे दोष लगे, वह स्थिरता कहाँ से (करे) ? जो वस्तु देखी नहीं, वह दोष से मुड़कर जहाँ आना है, जो चीज़ देखी नहीं, वहाँ वह आयेगा किस प्रकार ? आहाहा! समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं, **अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,... वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (–आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,...** आहा! वह **आलोचना है।** है ? तीन प्रकार की अपेक्षा कही। शुद्ध चैतन्य वस्तु, वह तो दृष्टि में है, तथापि अभी चारित्र नहीं था; इसलिए यह चारित्र की व्याख्या है। वह भूतकाल के कर्म में जुड़ा नहीं, वही विमुख हुआ, ऐसा प्रतिक्रमण कहलाता है। वह परिणाम भविष्य के कर्मबन्धन का कारण नहीं हुआ, इसलिए उसे प्रत्याख्यान कहते हैं और वही परिणाम वर्तमान में स्वयं विपरीत हुए ही नहीं। विपरीत हो, तब विमुख होना पड़े न ? वे परिणाम विपरीत हुए नहीं, इसलिए इसी परिणाम को आलोचना कहते हैं। समझ में आया ? ऐसी बात है।

यह मुनि की चारित्र की अपेक्षा से (बात) है। चारित्र है, वहाँ भी कोई दोष लगता

है न? आहाहा! दोष लग जाए अन्दर से, कोई ऐसी प्रकृति में जुड़ान हो जाए, वह दोष लगे, उसे अब वापस मुड़ना है, उससे-दोष से विमुख होना है। आहाहा!

मुमुक्षु : समय भेद तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : समय भेद एक ही है। इसी और इसी को अपेक्षा से तीन भाग किये हैं।

प्रतिक्रमण—भूतकाल के भाव से विमुख हुआ; वही परिणाम भविष्य में बन्ध का कारण नहीं, इसलिए प्रत्याख्यान और वही परिणाम वर्तमान में जुड़ा नहीं, इसलिए आलोचना। तीन अपेक्षा आयी। तीन भाव नहीं आये। यह बड़ा प्रश्न (चला था)। चर्चा हुई थी। जामनगर में (संवत्) १९८८ में आलोचना चलती थी न? १९८८ की बात है। तब यह प्रश्न किया कि ये तीन प्रकार के परिणाम हैं? वीरजीभाई, वे बहुत होशियार लोग बैठे हुए। वीरजीभाई वकील। दूसरे एक संघराजभाई थे। वे वकील थे, दूसरे बहुत जामनगर के। तीसरे एक कोई थे, संघराजभाई के परिवार में से बड़े कहलाते थे। बहुत सब लोग थे। पहले शरीर ठीक नहीं था बहुत महीने, इसलिए व्याख्यान बन्द था, पश्चात् उस पर्यूषण में व्याख्यान चले।

परिणाम की अपेक्षा तीन पड़ी। जैसे द्रव्य पर्याय को करता नहीं, परन्तु वह द्रव्य पर्याय की सापेक्षता से भी पर्याय है। पर्याय द्रव्य की सापेक्ष से है, अकेली अद्धर से नहीं, तथापि ऐसी भाषा वहाँ आती है न? भाई! सापेक्ष आता है। द्रव्य और पर्याय सापेक्ष आता है। ऐसे द्रव्य वस्तु है, वह पर्याय को करती नहीं, तथापि द्रव्य की पर्याय सापेक्ष है। आहाहा! है, उसमें है। सापेक्ष आता है। है, देखो! औपशमिक आदि पाँच भावों में किस भाव से मोक्ष होता है, यह विचार किया जाता है। यह औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक और उदय, ये चार भाव पर्यायरूप हैं और शुद्ध पारिणामिक, वह द्रव्यरूप है। यह परस्पर सापेक्ष... एक ओर कहा है द्रव्य पर्याय करता नहीं, तथापि वापस यहाँ कहा परस्पर सापेक्ष ऐसा। द्रव्य-पर्याय, वह आत्म पदार्थ है। यह है ३२०वीं गाथा में। आहाहा!

मुमुक्षु : अविनाभाव है। द्रव्य हो तो पर्याय होती ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : होती है, पर्याय होती है, तथापि पर्याय पर्याय का काम करती है,

द्रव्य तो ध्रुव है। द्रव्य और गुण तो ध्रुव है। उसमें पलटना नहीं है, बदलना नहीं है। इसलिए उसमें कथंचित् भिन्न है, ऐसा कहा और दूसरी जगह सर्वथा भिन्न है, ऐसा भी कहा है। द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न है, ऐसा भी कहा है। अपेक्षा से है, भाई! आहाहा!

यहाँ दोष होता है, उस दोष को निवर्ताता है, उसमें तीन प्रकार लागू पड़ते हैं। आहाहा! पण्डितजी! पूर्व कर्म हैं, उसके फल में जुड़ता नहीं, वही स्वयं पुण्य-पाप के भाव से विमुख होता है, उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है और वही भाव भविष्य में कर्मबन्ध का कारण नहीं होता, इसलिए उसे प्रत्याख्यान कहा जाता है। वह भाव वर्तमान में उदय में आया, उसमें जुड़ान नहीं, इसलिए उस भाव को आलोचना, संवर कहा जाता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! सूक्ष्म बात। आहाहा!

अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,... क्या कहते हैं यह? वर्तमान में कर्म के विपाक के फल को, कर्म का विपाक तो निमित्त से कथन है, हों! कर्म का विपाक नहीं, फल तो अपने को है, कर्म तो जड़ है, जड़ का फल कहीं आत्मा को भोगने का नहीं है। आहाहा! **कर्मविपाक को अपने से अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,...** उसका अर्थ—वर्तमान में शुभाशुभभाव हों, उनसे प्रतिक्रमण में वापस मुड़ा है, उसे यहाँ भी वापस मुड़ा, इसलिए आलोचना भी कहा जाता है। आहाहा! यह जरा चारित्र अधिकार है, यह तो सम्यग्दर्शन उपरान्त का अधिकार है।

इस प्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ,... देखो! **सदा प्रतिक्रमण करता हुआ,...** द्रव्य का आश्रय, विशेष स्थिरता है, इसलिए सदा प्रतिक्रमण में आता हुआ, **(अर्थात् प्रतिक्रमण करता) हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ...** प्रत्याख्यान सदा करता है। सदा प्रतिक्रमण करता है और सदा प्रत्याख्यान करता है। आहाहा! इस प्रकार से। द्रव्यस्वभाव का आश्रय विशेष होने से विकारभाव नहीं होते, उसे आलोचना अथवा संवर, प्रतिक्रमण आदि उनमें (विभाव से) से वापिस मुड़ा, ऐसा कहा जाता है। वास्तव में तो स्वरूप में स्थिर होता है, तब वे भाव उत्पन्न नहीं होते, इसलिए उसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना कहा जाता है। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : यह सातवें गुणस्थान की बात है?

पूज्य गुरुदेवश्री : छठवें में भी होता है न, छठवें में मुनि को होता है, पाँचवें में भी एक अंश होता है न! पाँचवें गुणस्थान में भी एक अंश प्रतिक्रमण, आलोचना होते हैं, चौथे में नहीं होते। एक अंश पाँचवें में भी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना एक अंश होते हैं और मुनि को विशेष होते हैं। उसकी मुख्यरूप से यह बात है। आहाहा! अरे रे!

इस प्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ,... सदा। आहाहा! इसका अर्थ यह कि आत्मा के आनन्द पर विशेष लक्ष्य है, विशेष वहाँ परिणाम लगे हैं। उसी और उसी को उस परिणाम को प्रतिक्रमण सदा ही कहते हैं। सदा ही प्रतिक्रमण, शाम-सवेरे नहीं। शाम-सवेरे प्रतिक्रमण करे, वह नहीं। आहाहा! **इस प्रकार वह आत्मा सदा प्रतिक्रमण करता हुआ, सदा प्रत्याख्यान करता हुआ...** आहाहा! **और सदा आलोचना करता हुआ, पूर्व कर्मों के कार्यरूप...** वर्तमान अप्रतिक्रमण था, उसका प्रतिक्रमण किया।

उत्तरकर्मों के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,... तीनों आये। आहाहा! यह बात तो समझानी हो, तब समझावे तो सब समझावे न! ऐसा नहीं कि यह पंचम काल है, इसलिए इसमें चारित्र नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। किसी प्राणी को चारित्र भी आता है, ऐसा कहते हैं न? फिर किसे, यह अलग बात है। दिखे नहीं तो कहीं... वह मोक्षमार्गप्रकाशक में दृष्टान्त दिया है न, कि हंस कहे हैं। वर्तमान में हंस न दिखे, इसलिए कहीं कौवे को हंस नहीं माना जाता। कौवे को हंस नहीं माना जाता। इसी प्रकार साधुपना न दिखाई दे, साधुपना है—ऐसा कहा है परन्तु दिखाई न दे तो साधु नहीं, उसे साधु माना जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा!

उसमें आता है न कहीं? नहीं? कुम्हार की कन्या... कैसे? माघनन्दि मुनि हैं, चारित्रवन्त है। अब उस कुम्हार के यहाँ गये, वहाँ वर्षा आयी और कुम्हार के कितने ही बर्तन नहीं पके और उसमें से उसे वैराग्य होकर... कुम्हार की कन्या से विवाह किया चारित्रवन्त। फिर छोड़ दिया। इसलिए वस्तु आवे और निवृत्त हो जाये, दोनों उसमें है। आवे अवश्य दोष और निवृत्त हो भी जाए। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्धि की वृद्धि को प्रतिक्रमण कहना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वृद्धि ही है न वह। सम्यग्दर्शन उपरान्त स्थिरता, शान्ति, आनन्द की वृद्धि है, अनन्त गुण की वृद्धि है। जो अनन्त गुण हैं, सर्वांश गुण वह समकित। सर्वांश गुण का अंश प्रगट हुआ, वह समकित और तदुपरान्त सर्व गुण की विशेष शुद्धि हुई, विशेष अन्दर प्रगटता (हुई), उसका नाम चारित्र है। उसे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना कहते हैं। आहाहा! समकित की बात जरा हो तो लोगों को ठीक रहे, यह तो चारित्र की बात है, यह कठिन लगती है। आहाहा!

पूर्व कर्मों के कार्यरूप और उत्तरकर्मों के कारणरूप... यह तो सब एक ही है। ऐसे **भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, वर्तमान कर्मविपाक को अपने से (आत्मा से) अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ,...** आहाहा! **अपने में ही–ज्ञानस्वभाव में ही...** देखा? आत्मा का ज्ञानस्वभाव है। जानना–देखना, यही उसका स्वरूप है। वह ज्ञान का ही सागर है, वह ज्ञानस्वभाव ही समुद्र है। आहाहा! जिसके सर्वांग असंख्य प्रदेश में ज्ञान और आनन्द पूर्ण भरे हैं। असंख्य प्रदेश में पूर्ण ज्ञान और आनन्द भरा है।

ज्ञानस्वभाव में ही–निरन्तर चरने से... चारित्र सही न, इसलिए चरता अर्थात् **विचरता (आचरण करने से) चारित्र है...** दूसरे अधिकार अभी तक समकित के आये हैं, वे लोगों को ठीक पड़ते हैं। यह अधिकार... आहाहा! **(अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है)।** है? अन्तर आनन्द में विशेष स्थिर हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द में विशेष स्थिर हुआ और विशेष आनन्द आया, उसे फिर तीन प्रकार लागू पड़ते हैं। वस्तु तो यह एक ही है। यह आत्मा स्वयं ही चारित्रस्वरूप है।

और चारित्रस्वरूप होता हुआ अपने को–ज्ञानमात्र को... अपने को अर्थात् ज्ञानमात्र को **चेतता (अनुभव करता) है...** आहा! ज्ञान की उग्रता को वेदता हुआ। समकित में ज्ञान का वेदन है, परन्तु थोड़ा है। चारित्र में ज्ञान का वेदन उग्र और अधिक है। आहाहा! चारित्र अर्थात् धन्य अवतार! अभी तो वह स्थिति सुनना कठिन पड़ता है। चारित्र तो यह क्रिया की, व्रत में प्रत्याख्यान किया और यह कहीं चारित्र नहीं। इसलिए ऐसा कहा—स्वयं ज्ञानस्वभाव में निरन्तर चरता हुआ, वह चारित्र है। भाषा ली है न? ज्ञान -स्वभाव ऐसा जो आत्मा, उसमें चरता हुआ, उसमें विचरता हुआ, वह चारित्र है। कुछ करना यह क्रिया और

यह करना, और यह करना और यह छोड़ना, वह (चारित्र नहीं है)। आहाहा!

ज्ञानस्वभाव में ही... राग के अंश में नहीं। **निरन्तर चरने से...** आहाहा! यह दशा चारित्र की कायम रहती। आहाहा! नींद में भी उसे चारित्र कायम रहता है, हिलने-चलने में भी चारित्र कायम रहता है। सदा कहा है न? सदा में कौन सा काल निकाल डालना? आहाहा! अन्दर ज्ञान में ही स्थिर हुआ है, वह सदा चौबीस घण्टे एक ही रूप है। आहाहा! यह चारित्र। यह बाहर से चारित्र लेकर बैठे थे।

ज्ञानस्वभाव में ही... अपने में ही। भाषा देखी? निश्चय है। अपने में ही अर्थात् ज्ञानस्वभाव में ही, ऐसा। स्वयं अर्थात् ज्ञानस्वभाव। **निरन्तर चरने से (विचरने से, आचरण करने से) चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है)।** आहाहा! वास्तविक तो ज्ञान अर्थात् आनन्द, उसमें स्थिर होता है, जम जाता है, सम्यग्दर्शन उपरान्त, उसका नाम चारित्र है, उसका नाम चारित्र है। आहाहा! **और चारित्रस्वरूप होता हुआ..** है न? **ैर चारित्रस्वरूप होता हुआ अपने को-ज्ञानमात्र को चेतना...** चारित्र अर्थात् स्वयं ज्ञानस्वभाव को वेदता हुआ। आहाहा! **ज्ञानमात्र को चेतना (अनुभव करता) है, इसलिए (वह आत्मा) स्वयं ही ज्ञानचेतना है,...** वह ज्ञानचेतना स्वयं चारित्र है। ज्ञानचेतना तो चौथे (गुणस्थान में) भी है परन्तु इस ज्ञान में अन्दर विशेष चेत गया है, विशेष आनन्द अन्दर आ गया है। आहाहा!

ऐसा आशय है। स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा यहाँ आशय है। पर की अपेक्षा से कथन भले किया परन्तु स्वयं आत्मा ज्ञानस्वभाव में स्थिर हुआ है, वह चारित्र है, वह वस्तु का स्वरूप है। अपेक्षा से कथन चाहे जितने प्रकार के आवें, परन्तु वह ज्ञानस्वभाव, जाननस्वभाव का जो अनुभव हुआ, उसमें जो ज्ञान, आनन्दस्वरूप दृष्टि में आया है, उसमें स्थिर होता है, इसका नाम चारित्र है। आहाहा! वह स्वयं ही ज्ञानचेतना ही है। यह ज्ञानचेतना... आहाहा! चौथे में ज्ञानचेतना तो है परन्तु यह ज्ञानचेतना विशेष है, ज्ञान में अन्दर विशेष स्थिर हुआ है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञान-क्रियाभ्याम मोक्ष, आता है न?

उत्तर : यह क्रिया अर्थात् ज्ञान की स्थिरता।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने पूछा?

मुमुक्षु : चेतनजी।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात तो हुई थी न! चोटीला। वे रतनचन्दजी शतावधानी स्थानकवासी, उनके गुरु गुलाबचन्दजी। (संवत्) १९९० के वर्ष की बात है, १९९० के वर्ष की बात है। बहुत वर्ष हुए। ४६ वर्ष। तब अभी तो सम्प्रदाय में थे। चोटीला उपाश्रय में साथ उतरे थे। बहुत प्रसन्न हुए। यद्यपि हम सम्प्रदाय में थे, तब साथ नहीं उतरते थे। क्योंकि हम किसी को साधु नहीं मानते थे, सम्प्रदाय में किसी को साधु नहीं मानते थे। इसलिए इकट्ठे नहीं उतरते थे। साथ उतरे तो बहुत प्रसन्न हुए। फिर यह बात निकाली कि यह ज्ञान-क्रियाभ्याम मोक्ष कहा है न? वह कौन-सा ज्ञान? यह ज्ञान और यह क्रिया। कहा, यह नहीं। यह आत्मज्ञान और आत्मा में अन्दर स्थिरता, वह क्रिया। स्वीकार किया, हाँ किया। ५५ वर्ष की दीक्षा, तब १९९० के वर्ष की बात। ५५ वर्ष की दीक्षा और उम्र ६०-६५ की, परन्तु फिर ९५ वर्ष में गुजर गये, लीमड़ी। तो भी (कहा), बात सत्य है। तुम्हारी बात सत्य है। एक बात।

दूसरी बात कहा, मूर्ति शास्त्र में है, स्थानकवासी नहीं मानते। दृष्टि मिथ्यात्व है। (उन्होंने कहा), बात सत्य है, मुझे भी खबर है (कि) शास्त्र में मूर्ति है। मेरी पूरी जिन्दगी शंका में गयी कि शिष्य शास्त्र पढ़ेंगे और प्रतिमा देखेंगे, शास्त्र में प्रतिमा है तो गुरु को नहीं मानेंगे। ऐसी मेरी पूरी जिन्दगी शंका में गयी। ऐसा बेचारे स्पष्ट बोलते थे। ३२ सूत्र में प्रतिमा है। मूर्ति अनादि की है। नयी है? दिगम्बर मूर्ति भी, हों! यह श्वेताम्बर की मूर्ति ऐसी नहीं। उसके ऊपर दूसरा कुछ नहीं। वह प्रतिमा शाश्वत् है। यहाँ अशाश्वत् भी बनायी है। स्वीकार किया। दोनों स्वीकार किया। परन्तु छोड़ा किस प्रकार जाये? वाडा छोड़ना... ५५ वर्ष की दीक्षा और ६५-७० वर्ष की वापस उम्र परन्तु कितने वर्ष, २५ वर्ष जिये। आहाहा!

तथापि दूसरी बार जब यह बात हुई, तब साथ उतरे थे। परिवर्तन करके फिर ऐसे साथ उतरे नहीं, विद्यालय में उतरे थे, तब सामने देखा नहीं, सामने देखा नहीं। सम्प्रदाय किस प्रकार छोड़ा? आहाहा! यह राजकोट जाते हुए वहाँ उतरे थे। चोटीला में बाहर विद्यालय है, वहाँ उतरे थे। मूर्ति है और उस प्रकार से चारित्र उसे कहना—यह दोनों बातें

हो गयी। यह क्रिया। शास्त्र का ज्ञान और इस राग से शुभ की क्रिया करना, वह क्रिया नहीं, शास्त्र का ज्ञान भी नहीं। अन्दर आत्मा का ज्ञान हुआ, गुणवत्ता प्रगट हुई और उस ज्ञान में स्थिरता जमी, इसका नाम चारित्र है। स्वीकार किया था। एकदम, हाँ सत्य बात है, हों!

मुमुक्षु : आपके सामने उनकी सामर्थ्य है कि इनकार करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : बेचारे उनके साथ उतरे, उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो गये। क्योंकि मेरी छाप ऐसी थी। मैं किसी साधु के साथ उतरता नहीं, किसी साधु को मानता नहीं। उस गाँव में एक बार चार-पाँच साधु थे, वहाँ उपाश्रय में तब मैं ध्रांगध्रा से आया। कहा, उपाश्रय में कौन है? (तो कहा), साधु है। (तो हमने कहा), यहाँ नहीं उतरेंगे। फिर चत्रभुज संघवी थे न? चत्रभुज संघवी नहीं? उन्होंने कुछ कपड़ा बाजार में या कमरे पर उतारा था। यह तो बहुत वर्ष की बात है। आहाहा! स्वीकार किया, मूर्ति है। इसकी शंका में मेरी जिन्दगी गयी, शिष्य पढ़ेंगे तो प्रतिमा दिखेगी, उन्हें शंका पड़ेगी। अरे! यह तो नहीं परन्तु भाई! उनका शिष्य रतनचन्दजी शतावधानी। यह चैत्य... शब्द अर्थ किया है न? शब्दकोश बनाया है, शब्दकोश में चैत्य का अर्थ प्रतिमा नहीं किया। ज्ञान और ऐसा सब नाम भर दिया। किसी ने पूछा कि क्यों परन्तु यह अर्थ कैसे नहीं किया? तो कहे, पूछना कहाँ? यहाँ हूँ, उसमें चैत्य का अर्थ प्रतिमा भरूँ तो किस प्रकार रहा जाए? ऐसा स्पष्ट कहा था। हमें भी बहुत बार मिले थे। आहाहा! प्रतिमा सूत्र ३२ में है, श्वेताम्बर ३२ सूत्र में है, मूर्ति प्रतिमा है, तथापि स्थानकवासी मानते नहीं और उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था बात सच्ची है, मूर्ति है, पूजा है। आहाहा! यह (संवत्) १९९० के ज्येष्ठ महीने की बात है, १९९० के वर्ष।

यह तो चारित्र की बात, बापू! यह तो अभी तो (सुनने को मिलती नहीं)। आहाहा! गत काल के कर्म उदय में आने पर जुड़ना नहीं और आत्मा के साथ जुड़ना, इसका नाम प्रतिक्रमण। भविष्य में उस परिणाम से बन्ध हो, वह नहीं होगा, इसका नाम प्रत्याख्यान। आहाहा! और वर्तमान में भी कर्म के निमित्त से निमित्त में जुड़ान न हुआ, इससे प्रतिक्रमण हुआ था, प्रत्याख्यान हुआ था, इसलिए उसे ही आलोचना और संवर कहा जाता है। आहाहा! ऐसी बात है। क्रिया और बाहर का जानपना, यह तो अनन्त बार किया। अनन्त

बार ग्यारह अंग, नौ पूर्व पढ़ा। उसमें कुछ भला हुआ नहीं, वह कोई वस्तु नहीं। ग्यारह अंग और नौ पूर्व—एक अंग में अठारह हजार पद और एक पद में इक्यावन करोड़ श्लोक, ऐसे ग्यारह अंग और नौ पूर्व पढ़ा। नौवें ग्रैवेयक गया तो शुक्ललेश्या (पाली) उससे नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार गया। शुक्ललेश्या। (उससे क्या हुआ?) आहाहा!

आत्मा यहाँ तो कहा। देखा? यह तो ज्ञानचेतना है, ऐसा यहाँ भाव है। यह सब तीनों का चाहे जो कहा परन्तु उसका अर्थ कि ज्ञानचेतना का नाम प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। आहाहा! यह ज्ञानस्वरूपी भगवान... जानपने का ज्ञान नहीं, शास्त्र का जानपना नहीं, वह जानपना नहीं। अन्दर जो ज्ञानस्वभाव है, उसमें अन्दर एकाग्र हो गया है। आहाहा! उसे यहाँ ज्ञानचेतना, चारित्र की दशा को भी ज्ञानचेतना कहा गया है। है चारित्र की बात। श्लोक-श्लोक आया न? भावार्थ।

भावार्थ – चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। उसमें, पहले लगे हुए दोषों से आत्मा को निवृत्त करना, सो प्रतिक्रमण है; भविष्य में दोष लगाने का त्याग करना, सो प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोष से आत्मा को पृथक् करना, सो आलोचना है। यहाँ निश्चयचारित्र को प्रधान करके कथन है;... यह तो निश्चयचारित्र की व्याख्या है। सच्चे चारित्र की व्याख्या है। व्यवहारचारित्र की व्याख्या नहीं। आहाहा! **इसलिए निश्चय से विचार करने पर, जो आत्मा त्रिकाल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है,...** आहाहा! देखा? जो आत्मा स्वयं ही तीनों काल के कर्मों से अर्थात् विकारी भाव से, **अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है,...** तीनों लिये।

वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। आहाहा! **इस प्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन...** निरन्तर अनुभवन। आहाहा! आत्मा के स्वभाव का निरन्तर अनुभवन... आहाहा! **वही निश्चयचारित्र है।** इसका नाम सच्चा चारित्र है। अब अभी तो चारित्र की व्याख्या कुछ की कुछ (कर डाली)। आहाहा! जो यह **आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन...** देखो! है? और **इस प्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप...** है न? स्वयं ही प्रतिक्रमण, स्वयं प्रत्याख्यान,

स्वयं आलोचना। **इस प्रकार प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यान-स्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है।** वे तीन भेद भले किये। बाकी तो आत्मा में वीतरागभाव से स्थिर होना। वीतरागभावस्वरूप आत्मा, ऐसा जो श्रद्धा में आया था, ज्ञान में ज्ञात हुआ था, उसमें जम गया है, स्थिर हो गया है, इसका नाम चारित्र कहा जाता है। कहो, ऐसा चारित्र है।

जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञान का अनुभवन) है। निश्चयचारित्र, वही आत्मा का अनुभव है। आहाहा! चारित्र का अनुभव, वही आत्मा का अनुभव है। ज्ञान का अनुभव, वही चारित्र का अनुभव है। आहाहा! यह तो सम्यग्दर्शन उपरान्त की बात है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र निश्चय जो है, उस निश्चय की बात है। आहाहा! **जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (अर्थात् ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप...** अब उसी ज्ञानचेतना से केवलज्ञान होता है। किसी क्रियाकाण्ड से केवल(ज्ञान) नहीं है। आहाहा! है? **साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।** आहाहा! ऐसे चारित्र से अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता की चारित्र की रमणता, उससे ही केवलज्ञान होता है। क्रियाकाण्ड के किसी कारण से चारित्र नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : एक गुण के कारण से दूसरे गुण में कार्य नहीं होता और केवलज्ञान किस प्रकार हो चारित्र में?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ज्ञानचेतना कहा न! ज्ञानचेतना कही न, ज्ञानचेतना कही। **उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूपमय...** यहाँ तो ज्ञानचेतना से बात की है। चारित्र से होता है, ऐसा नहीं कहा। चारित्र की व्याख्या की ज्ञान की एकाग्रता, परन्तु केवलज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञानचेतना से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। चारित्र से उत्पन्न हो, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! यह तो चारित्र, वह चारित्र ही है परन्तु चारित्र वह आत्मा के ज्ञानस्वरूप की ज्ञान की स्थिरता, वह चारित्र। उस ज्ञानचेतना से केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें दूसरे गुण से दूसरा गुण उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं आया? समझ में आया? भले उस ज्ञानचेतना में चारित्र आवे, श्रद्धा आवे। आहाहा!

(ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से... देखा ? **उसी ज्ञानचेतना से (अर्थात् ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप...** ज्ञान के अनुभव से ज्ञान प्रगट होता है। ऐसा नहीं कहा कि चारित्र (से केवलज्ञान प्रगट होता है)। कठिन बात है। एक तो समकित की व्याख्या कठिन पड़े, उसमें और चारित्र, कि जो अभी दिखता नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें ? ज्ञानगुण से ज्ञानगुण की वृद्धि हुई, ऐसा कहा। चारित्र से केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं कहा। परन्तु चारित्र, वह ज्ञानचेतना है, वह ज्ञान में एकाग्रता है। उस ज्ञानचेतना से केवलज्ञान होता है, ऐसा कहा। इसलिए उस ज्ञानगुण से ज्ञानगुण बढ़ता है, ऐसा कहा। आहाहा! यह तो भावार्थकार ने ऐसा भरा है। यह कहीं अमृतचन्द्राचार्य की टीका नहीं है, यह तो भावार्थकार ने इसमें से निकालकर यह भरा। हिन्दी भावार्थकार।

मुमुक्षु : पण्डित जयचन्दजी का भावार्थ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मेरा यह कहना था कि मूल कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य, टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य। तथापि यह पण्डित जयचन्दजी ने ऐसा अर्थ किया। उस समय के गृहस्थ भी ऐसे थे। आहाहा!

साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूपमय आत्मा प्रगट होता है। आहाहा! यह ज्ञान की चेतना से ज्ञान प्रगट हो जाता है। यह चारित्र, वह ज्ञान की चेतना है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसमें चारित्र, वह ज्ञान में स्थिरता और एकाग्रता है, इसलिए उसे ज्ञानचेतना कहा। इसलिए उस ज्ञानचेतना से केवलज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानगुण से ज्ञानगुण की पर्याय प्रगट होती है। आहाहा!

कलश - २२४

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल प्रगट करते हैं–

(उपजाति)

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञान–मतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ।।२२४।।

श्लोकार्थ : [नित्यं ज्ञानस्य संचेतनया एव ज्ञानम् अतीव शुद्धम् प्रकाशते] निरन्तर ज्ञान की सञ्चेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है; [तु] और [अज्ञान–संचेतनया] अज्ञान की सञ्चेतना से [बन्धः धावन्] बन्ध दौड़ता हुआ [बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि] ज्ञान की शुद्धता को रोकता है, अर्थात् ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।

भावार्थ : किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसी का अनुभवरूप स्वाद लिया करना, वह उसका सञ्चेतन कहलाता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उस ओर ही ध्यान रखना, वह ज्ञान का सञ्चेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है। उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोग को करना, उसी की ओर (–कर्म और कर्मफल की ओर ही) एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है। उससे कर्म का बन्ध होता है, जो बन्ध ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।।२२४।।

कलश - २२४ पर प्रवचन

अब आगे की गाथाओं का सूचक काव्य कहते हैं, जिसमें ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना (अर्थात् कर्मचेतना और कर्मफलचेतना) का फल प्रगट करते हैं– अब इसका फल बतलाते हैं।

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञान-मतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ।।२२४।।

'नित्यं ज्ञानस्य संचेतनया एव ज्ञानम् अतीव शुद्धम् प्रकाशते' निरन्तर... ज्ञान - स्वभाव भगवान की चेतना से, अनुभव से ही **ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है;...** आहाहा! कोई पंच महाव्रत की क्रिया या दया, दान के, व्रत के परिणाम से होता है—ऐसा इनकार किया है। यह तो गुलाबचन्दजी ने स्वीकार किया था। कहा, यह क्रिया नहीं, यह क्रिया तो बन्ध का कारण है। ज्ञानस्वरूप में स्थिर होना, ज्ञान में क्रिया, वह ज्ञान क्रिया। इस शास्त्र का ज्ञान और यह (राग की) क्रिया मोक्ष का कारण नहीं है। (संवत्) १९९० के ज्येष्ठ महीने की बात है, वह ज्येष्ठ महीना था। चातुर्मास चालू हुआ, राजकोट। भाई! क्या कहलाता है? सदर में चातुर्मास था। पहला चातुर्मास गाँव में था, दूसरा चातुर्मास अन्दर (था) तब की बात है। आहाहा!

नरन्तर ज्ञान की सञ्चेतना से ही, सञ्चेतना से ही,... एकान्त किया है। कथंचित् ऐसा और कथंचित् ऐसा, ऐसा नहीं। आहाहा! निरन्तर ज्ञान की संचेतना—वेदन, वेदन से **ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है;...** आहाहा! (कोई) ऐसा (कहे) कि, वीतराग का मार्ग स्याद्वाद है, इसलिए अनेकान्त करो। निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है। यहाँ तो इनकार करते हैं। यहाँ तो कहते हैं, **निरन्तर ज्ञान की सञ्चेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित होता है;...** केवलज्ञान होता है। ज्ञान के ज्ञान अनुभव से ही केवलज्ञान होता है। क्रियाकाण्ड जो राग है, उसके अनुभव से बन्धन होता है। आहाहा!

और अज्ञान की सञ्चेतना से... कर्मचेतना और कर्मफल। राग का चेतना और राग के फल को-हर्ष-शोक से वेदना, वह कर्मफलचेतना। वह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों **अज्ञान की सञ्चेतना से बन्ध दौड़ता हुआ... 'धावन्'** आहाहा! भाषा देखो! उसे बन्ध होता ही है। दौड़ता हुआ अर्थात् (इसका अर्थ यह)। अज्ञान से बन्ध न हो और विकार से बन्ध न हो, ऐसा है ही नहीं। आहाहा! बन्ध दौड़ता हुआ, दौड़ता हुआ का अर्थ (यह

कि) बन्ध हुए बिना रहता ही नहीं। राग-द्वेष की क्रिया करे, दया, दान, व्रत (करे) और बन्ध न हो, ऐसा होता ही नहीं; उसमें बन्ध होता ही है। आहाहा!

ज्ञान की शुद्धता को रोकता है,... अज्ञान की चेतना अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वे बन्ध को करते हैं और ज्ञान की शुद्धता को रोकते हैं। ऐसा है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम शुभ। आहाहा! वे **ज्ञान की शुद्धता को रोकता है,...** आहाहा! उसे **ज्ञान की शुद्धता नहीं होने देता।** आहाहा! ऐसी तो बात है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३१, श्लोक-२२४-२२५, गाथा-३८७ से ३८९ शुक्रवार, ज्येष्ठ कृष्ण १४
दिनांक - ११-०७-१९८०

समयसार, २२४ कलश का भावार्थ है। २२४ कलश है न? उसका भावार्थ।

भावार्थ – किसी (वस्तु) के प्रति... उसमें आया है न, कि ज्ञान की चेतना वह अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित है और अज्ञान की अशुद्ध चेतना (में) बन्ध दौड़ता आता है, ऐसा कहा। अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं। कि **किसी (वस्तु) के प्रति एकाग्र होकर उसी का अनुभवरूप स्वाद लिया करना, वह उसका सञ्चेतन कहलाता है।** यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार **ज्ञान के प्रति...** ज्ञान अर्थात् आत्मा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, मुख्यरूप से उस ज्ञान की एकाग्रता—उसके प्रति एकाग्रता, ज्ञान के प्रति ही एकाग्रता। राग, दया, दान और विकल्प, वह नहीं। दया, दान और भक्ति, पूजा वह तो शुभराग है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा ! धर्म तो रागरहित आत्मा का जो ज्ञान चैतन्यस्वभाव है, उस ज्ञान में एकाग्रता। आहाहा ! उसके प्रति एकाग्रता **उपयुक्त होकर...** उपयोग को ज्ञान में एकाग्र करके **उस ओर ही ध्यान रखना...** उसकी ओर ही ध्यान रखना, उसकी ओर ही वह अनुभव रखना। **वह ज्ञान का सञ्चेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है।** इसका नाम धर्म। आहाहा !

ज्ञानस्वरूप आत्मा में तो कोई पुण्य-पाप, शुभाशुभभाव वस्तु में नहीं है। वह तत्त्व भिन्न तत्त्व है। नव तत्त्व है न? वह पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध तत्त्व भिन्न है। ज्ञायकतत्त्व जो ज्ञानस्वरूप जो है अन्दर, उसका संचेतन अर्थात् एकाग्रता, उसकी जो एकाग्रता और वेदन, उपयोग एकाग्रता, उसका नाम ज्ञानचेतना, उसका नाम धर्म, उसका नाम धर्म। आहाहा ! आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान त्रिकाल, वह उसका जो धर्म, उसी में एकाग्रता करना, उसका नाम धर्म। आहाहा !

उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है... क्या कहते हैं? कि आत्मा का जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी एकाग्रता का वेदन, उपयोग अन्दर एकाग्रता का, वही शुद्ध केवलज्ञान को प्रगट करता है, वह केवलज्ञान का कारण है। केवलज्ञान का कारण कोई दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा या क्रियाकाण्ड कोई केवलज्ञान का कारण नहीं है, वह तो बन्ध

का कारण है। आहाहा! **उस ओर ही ध्यान रखना, वह ज्ञान का सञ्चेतन अर्थात् ज्ञानचेतना है।** ज्ञान की एकाग्रता, चेतना अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता। ज्ञान अर्थात् यह शास्त्र का ज्ञान, वह नहीं, सुनकर हुआ ज्ञान, धारणा का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। अन्तर ज्ञानस्वरूप वस्तु जो ध्रुव नित्य है, आत्मा जो ज्ञानस्वभाव, सत्ता, ज्ञान की सत्ता से नित्य है, उस ज्ञान में एकाग्रता का उपयोग होना, इसका नाम ज्ञानचेतना, धर्मचेतना कहा जाता है। आहाहा!

उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है... अर्थात् केवलज्ञान होता है। उस ज्ञानस्वरूप में एकाग्रता, वह केवलज्ञान का कारण है। मोक्ष का कारण दूसरा कोई दया, दान, व्रत, भक्ति, वह कोई मोक्ष का कारण नहीं और धर्म नहीं। आहाहा! आत्मा जो वस्तु है, उसमें ज्ञानस्वभाव पूर्ण अखण्ड अभेद पड़ा है, उस ज्ञान में एकाग्रता का पर्याय में अनुभव करना। ध्रुव का लक्ष्य करके, ध्रुव को ध्येय बनाकर, वर्तमान पर्याय में अकेला ज्ञान—आत्मा का वेदन अत्यन्त शुद्ध प्रकाशित हो, उससे केवलज्ञान प्रकाशित होता है। यह मार्ग है। आहाहा!

उससे ज्ञान अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण ज्ञानचेतना कहलाती है। केवलज्ञान होने पर अपना जो ज्ञानस्वरूप, उसकी पूर्ण चेतना, उसका पूर्ण वेदन, पूर्ण चेतन, पूर्ण चेतना हुई। जैसा उसका स्वभाव पूर्ण है, वैसा ध्येय बनाकर ज्ञान को एकाग्र किया, वह ज्ञान की पूर्णता शुद्धता को पाती है, वह केवलज्ञान को प्राप्त करती है। आहाहा!

अभी तो केवलज्ञान नहीं है न? मार्ग तो यह है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। अज्ञानियों ने दूसरा मार्ग कल्पित किया हो—दान से, दया और व्रत और भक्ति, पूजा, वह तो सब बन्ध के कारण हैं, वे तो अनन्त बार किये हैं। वह व्यवहाररत्नत्रय कथनमात्र है। वह तो अनन्त बार किया है। वह इसमें आ गया है। दोपहर में पढ़ते हैं न? नियमसार, नियमसार की ९०वीं गाथा। उसमें उसके नीचे आ गया है। कलश है कि व्यवहार कथन अर्थात् व्यवहार दर्शन, व्यवहार ज्ञान और व्यवहार चारित्र के परिणाम तो अनन्त बार किये हैं। वह व्यवहाररत्नत्रय तो कथनमात्र है। आहाहा! वह कोई वस्तु नहीं। व्यवहार श्रद्धा, व्यवहार

ज्ञान और व्यवहार व्रत, वह कोई वस्तु नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। वह तो अनन्त बार किये हैं और अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया है। आहाहा!

आत्मा जो वस्तु है, वह ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर चीज़ है। उस भरपूर चीज़ में एकाग्र होकर वेदन करके शुद्धता प्रगट करना और वह शुद्धता पूर्ण शुद्धता का कारण होती है। आहाहा! पूर्ण शुद्धता अर्थात् केवलज्ञान का वह कारण होती है, दूसरा केवलज्ञान का कोई कारण नहीं है। आहाहा! इससे विरुद्ध, अब इससे विरुद्ध (बात कहते हैं)।

अज्ञानरूप (अर्थात् कर्मरूप और कर्मफलरूप) उपयोग को करना,... अज्ञान अर्थात् दया, दान, पुण्य के परिणाम, पाप के परिणाम वे कर्म हैं, कर्म अर्थात् कार्य है और उसका फल, कर्मफल दु:ख है। वह (कर्म और कर्मफल की ओर ही) **एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना,...** आहाहा! इस राग का अनुभव करना, वह अज्ञान है; ज्ञान का अनुभव करना, वह ज्ञान है। आहाहा! भाषा तो बहुत संक्षिप्त है परन्तु भाव कठिन है। यह राग—पुण्य-पाप के भाव, यह कर्मचेतना कहलाते हैं और उसका फल दु:ख है। ऐसा जो **उपयोग को करना, उसी की ओर (–कर्म और कर्मफल की ओर ही) एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है।** आहाहा! यह अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में गया, तब व्यवहाररत्नत्रय कथनमात्र जो है, वह अनन्त बार किया है। उससे कुछ निश्चय हो, व्यवहार करते-करते निश्चय—सत्य हो, व्यवहार तो असत्य है; असत्य करते-करते सत्य हो—ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा!

यह तो चैतन्य सत् है, ज्ञानानन्दस्वभाव है। आत्मा अर्थात् सर्वांगी ज्ञान और सर्वांगी आनन्द, ऐसा जो आत्मपदार्थ सम्पूर्ण स्वरूप परमात्मा शक्ति से, स्वभाव से स्वयं है। उसमें एकाग्रता का अनुभव, वह पूर्ण शुद्धता के प्रकाश का कारण है। वह केवलज्ञानरूपी पूर्ण शुद्धता का कारण वह है। आहाहा! तब बीच में यह भगवान की पूजा और यात्रा और यह दान, दान और पाँच-पाँच, दस लाख रुपये दान में देना और उसमें से कुछ नहीं होता होगा? उसमें से होता है, राग की एकता का अज्ञान (होता है)। वह राग है। भाई! आत्मा रागस्वरूप नहीं।

आत्मा ज्ञाता, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप जिसका अस्तित्व अकेला ज्ञान और आनन्द स्वरूप ही अस्तित्व है। ऐसे स्वरूप की अन्दर में वेदना—संचेतन—सम्यक् प्रकार से वेदन (होना), उस ओर का चेतन, शुद्धता और पवित्रता का कारण है, और वही केवलज्ञान लेने का कारण है। आहाहा! बाकी लाख करोड़ दूसरे क्रियाकाण्ड करे, उपवास महीने के करे और छह महीने के करे, उसमें से जरा भी आत्मधर्म नहीं होता। आहाहा! वह विकल्प है, राग है। राग की एकता का अनुभव अज्ञान है। आहाहा!

अज्ञान में **एकाग्र होकर उसी का अनुभव करना,...** अर्थात् राग का। पुण्य और पाप के भाव जो विकारी हैं, उनका ही एकाग्र होकर अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है, **वह अज्ञानचेतना है। उससे कर्म का बन्ध होता है,...** उसमें से जरा भी मोक्ष को मदद करे, ऐसा नहीं है। है? २२४ कलश के बाद। समझ में आया? **जो बन्ध ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।** जो राग और द्वेष चाहे तो पुण्य और पाप दोनों भाव ज्ञानस्वभाव को रोकनेवाले हैं, धर्म को रोकनेवाले हैं। शान्ति को, स्वच्छता को, निर्मलता को ये पुण्य और पाप दोनों रोकनेवाले हैं, ये दो अज्ञान हैं। आहाहा! व्यवहार... व्यवहार करते हैं न लोग? व्यवहार दया पालो, व्रत करो, अपवास करो, यह करो, वह सब अज्ञान है, उसमें से जरा भी धर्म नहीं है, बन्ध का कारण है। आहाहा! वह बन्ध ज्ञान की शुद्धता को रोकता है। आहाहा! अब गाथा, गाथा आयी, ३८७।

गाथा - ३८७-३८९

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्म-फलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठ-विहं।।३८८।।
वेदंतो कम्म-फलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठ-विहं।।३८९।।

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुन-रपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्ट-विधम्।।३८७।।
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम्।
स तत्पुन-रपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्ट-विधम्।।३८८।।
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यश्चेतयिता।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्ट-विधम्।।३८९।।

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना। सा द्विधा ह्न कर्मचेतना कर्मफलचेतना च। तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना; ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना।

सा तु समस्तापि सन्सारबीजं; सन्सारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात्। ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणा-ज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसन्न्यासभावनां सकलकर्मफल-सन्न्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या।।३८७-३८९।।

अब इसी को गाथाओं द्वारा कहते हैं-

जो कर्मफल को वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे।
वो पुनः बांधे अष्टविध के कर्म को-दुःखबीज को।।३८७।।

जो कर्मफल को वेदता जाने 'करमफल मैं किया'।
वो पुनः बांधे अष्टविध के कर्म को–दुःखबीज को।।३८८।।
जो कर्मफल को वेदता जीव सुखी दुःखी होय है।
वो पुनः बाँधे अष्टविध के कर्म को–दुःखबीज को।।३८९।।

गाथार्थ : [कर्मफलम् वेदयमानः] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम्] कर्मफल को [आत्मानं करोति] निजरूप करता (–मानता) है, [सः] वह [पुनः अपि] फिर से भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकार के कर्म को–[दुःखस्य बीजं] दुःख के बीज को– [बध्नाति] बाँधता है।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [यः तु] जो आत्मा [कर्मफलम् मया कृतं जानाति] यह जानता (मानता) है कि 'कर्मफल मैंने किया है', [सः] वह [पुनः अपि] फिर से भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकार के कर्म को– [दुःखस्य बीजं] दुःख के बीज को–[बध्नाति] बाँधता है।

[कर्मफलं वेदयमानः] कर्मफल को वेदन करता हुआ [यः चेतयिता] जो आत्मा [सुखितः दुःखितः च] सुखी और दुःखी [भवति] होता है, [सः] वह [पुनः अपि] फिर से भी [अष्टविधम् तत्] आठ प्रकार के कर्म को–[दुःखस्य बीजं] दुःख के बीज को– [बध्नाति] बाँधता है।

टीका : ज्ञान से अन्य में (–ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना (अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ', सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकार की है–कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उसमें, ज्ञान से अन्य में (अर्थात् ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ,' वह कर्मचेतना है; और ज्ञान से अन्य में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ,' वह कर्मफलचेतना है। (इस प्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकार से है।) वह समस्त अज्ञानचेतना संसार का बीज है; क्योंकि संसार के बीज जो आठ प्रकार के (ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मों का बन्ध होता है)। इसलिए मोक्षार्थी पुरुष को अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिए सकल कर्मों के संन्यास (–त्याग) की भावना को तथा सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतना को ही एक को सदा नचाना चाहिए।

गाथा - ३८७ से ३८९ पर प्रवचन

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणदि जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं।।३८७।।
वेदंतो कम्मफलं मए कदं मुणदि जो दु कम्म-फलं।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठ-विहं।।३८८।।
वेदंतो कम्म-फलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणो वि बंधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठ-विहं।।३८९।।

नीचे (हरिगीत)

जो कर्मफल को वेदता जीव कर्मफल निजरूप करे।
वो पुन: बांधे अष्टविध के कर्म को-दु:खबीज को।।३८७।।
जो कर्मफल को वेदता जाने 'करमफल मैं किया'।
वो पुन: बांधे अष्टविध के कर्म को-दु:खबीज को।।३८८।।
जो कर्मफल को वेदता जीव सुखी दु:खी होय है।
वो पुन: बाँधे अष्टविध के कर्म को-दु:खबीज को।।३८९।।

टीका – ज्ञान से अन्य में (–ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना... भगवान आत्मा तो जाननस्वभाव का पिण्ड है। आत्मा तो एक जाननस्वभाव का सागर है। चैतन्य के प्रकाश के नूर का वह पूर है। **ज्ञान से अन्य में...** ऐसे स्वभाव से अन्य में, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य भावों में, पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत और भक्ति आदि में, **ऐसा चेतना (–अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ',...** आहाहा! अभी तो निवृत्ति नहीं होती। करे वह तो कहे, यह बन्ध है। आहाहा!

ज्ञान अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप परम पवित्रता का पिण्ड। उससे अन्य अर्थात् राग और द्वेष, दया और दान, भक्ति और पूजा, उन अन्य भावों में ऐसा चेतना, उन अन्य भावों में ऐसा जानना, वेदन करना कि यह मैं हूँ, राग का विकल्प जो है, वह मैं हूँ। आहाहा! चाहे तो भगवान की भक्ति का हो या चाहे तो शास्त्र के ज्ञान का हो। आहाहा!

विकल्प—राग 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ और यह मुझे लाभदायक है' जिसे मैं हूँ—ऐसा माने, उससे लाभ माने बिना नहीं रहता। आहाहा!

'यह मैं हूँ', सो अज्ञानचेतना है। शुभ और अशुभभाव चेतना के स्वभाव से विरुद्ध भाव, वह विकार भाव, उसमें उसे अनुभव करना, वह अज्ञानचेतना है। उस अज्ञान में अनुभव आया है, वह अज्ञान का अनुभव है; आत्मा का नहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग है। **ज्ञान से अन्य में...** चैतन्यस्वभाव पवित्रता का पिण्ड प्रभु से अन्य भाव, उसमें अनुभव करना कि यह मैं हूँ। चाहे तो दया का भाव हो राग, व्रत का भाव राग है, वह मैं हूँ—वह अज्ञानचेतना है। वह अज्ञान को वेदता है। आहाहा!

व्यवहार से निश्चय होता है, इस वाले को यह कठिन पड़ता है। क्योंकि कलश-टीका में—जयसेनाचार्य की टीका में यह आता है—व्यवहारसाधन, निश्चय साध्य। इससे उसे लेकर बैठता है। परन्तु वह तो दूसरा कारण है। जिसने राग से भिन्न करके आत्मा का अनुभव किया, उस जीव को बाकी के राग में आरोप दिया, कि यह साधन है। अनुभव हुआ है और राग बाकी रहा, उसे साधन का आरोप दिया। पहले साधन था और अब भी है, ऐसा आरोप दिया। व्यवहार है, वह तो अज्ञानचेतना है। आहाहा! वह अज्ञानचेतना आत्मा को बन्ध का कारण है। आहाहा!

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं मोक्षपाहुड़ में कहते हैं कि **'परदव्वादो दुग्गई'।** स्वद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर परद्रव्य, तीर्थंकर कहते हैं कि मुझे भी चिन्तवन करे तो वह उसका परिणाम दुर्गति है, उसके चैतन्य की गति नहीं; चैतन्य से विरुद्ध की गति है। फिर चाहे तो पुण्य हो और उससे स्वर्ग में जाए, परन्तु स्वर्ग, वह दुर्गति है। आहाहा! **'परदव्वादो दुग्गई'** परद्रव्य से दुर्गति है, ऐसा पाठ है। **'सद्दव्वादो हु सुग्गई'** स्वद्रव्य जो है, उसका अनुभव, वह सुगति / मुक्ति का कारण है। उसमें थोड़ा राग बाकी रह जाए तो उससे स्वर्ग में जाए।

इस **(-ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना (-अनुभव करना) कि 'यह मैं हूँ',...** आहाहा! **वह दो प्रकार की है...** ऐसा कहा न? **कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।** अर्थात्? कर्मचेतन अर्थात् कर्म अर्थात् जड़चेतना, वह नहीं। कर्म के जड़पने का अनुभव,

वह नहीं। कर्म अर्थात् कार्य, पुण्य और पापरूपी पर्याय का कार्य, उसे यहाँ कर्म कहते हैं। शुभ और अशुभभाव, वह कर्म अर्थात् कार्य, उसे अपना अनुभव करे, माने, वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, वह अधर्मी है, वह अधर्म करता है। आहाहा! व्यवहार के रसिकों को चिल्लाहट मचाये ऐसा है। व्यवहार से कुछ, व्यवहार से कुछ करते-करते (होता है), पाप करते हैं, उसकी अपेक्षा व्यवहार पुण्य करें, उसमें कुछ अन्तर है या नहीं? अन्तर है गति का, धर्म का नहीं। आहाहा! पाप करे तो नरक और पशु आदि में, पुण्य करे तो मनुष्य और स्वर्ग में जाए; बाकी धर्म किंचित् नहीं है। आहाहा!

यह कहते हैं कि **सो अज्ञानचेतना है। वह दो प्रकार की है–कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।** कर्मचेतना अर्थात् शुभ और अशुभभाव का अनुभव, वह कर्मचेतना, पुण्य और पाप के भाव का अनुभव, वह कर्म—कार्य—पर्याय विकार का कार्य, उसका अनुभव, वह कर्म। यहाँ जड़कर्म की बात नहीं है। जड़कर्म तो आत्मा को छूता भी नहीं। जड़कर्म जीव को स्पर्श नहीं करते, जीव जड़कर्म को स्पर्श नहीं करता। परन्तु यह तो इसमें हुए, हुए पुण्य-पाप के भाव को यहाँ कर्म अर्थात् कार्य कहकर चेतना, कर्मचेतना कही है। आहाहा!

उसमें, ज्ञान से अन्य में (अर्थात् ज्ञान के सिवा अन्य भावों में) ऐसा चेतना कि 'इसको मैं करता हूँ,'... आहाहा! किसी भी विकल्प को मैं करता हूँ। चाहे तो शास्त्र का विकल्प हो, चाहे तो भगवान की भक्ति का हो परन्तु उस विकल्प को मैं करता हूँ, **वह कर्मचेतना है;**... वह संसारचेतना है। आहाहा!

और ज्ञान से अन्य में... आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य निर्मल प्रभु, वह ज्ञान, हों! शास्त्रज्ञान, वह ज्ञान नहीं। आहाहा! शास्त्र के पठन का, धारणा का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है। वह तो आत्मा का जो ज्ञान अन्दर से शक्तिस्वरूप सत्त्व है, उसमें से प्रगट हुआ ज्ञान, उसमें से अन्य में, ऐसे **ज्ञान से अन्य में ऐसा चेतना कि 'इसे मैं भोगता हूँ,'**... उसमें करता हूँ, ऐसा था, पहले में मैं करता हूँ, ऐसा था। इसमें राग को मैं भोगता हूँ। आत्मा शरीर को नहीं भोगता। दाल, भात, हलुवा या मैसूरपाक को आत्मा नहीं खा सकता, उसे तो आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : चखे तो सही ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श नहीं करता और चखे क्या ? आहाहा ! वह तो उसके चखने में लक्ष्य जाता है और इसे मीठा लगे, ऐसा राग होता है। उस राग का अनुभव है, वह मैसूरपाक का अनुभव नहीं है। आहाहा ! जो परद्रव्य है, उसका स्वद्रव्य में अनुभव हो ही नहीं सकता। आहाहा ! परन्तु स्वद्रव्य की विपरीत अवस्था है, वह अपनी अपने में है, इसलिए उसे वह करता है और वेदता है। मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ—ऐसी जो अपनी विकारी अवस्था की मान्यता है, वह भी अज्ञान है। आहाहा ! यह तो साधारण बात बहुत बार आ गयी है।

'इसे मैं भोगता हूँ,'... किसे ? कर्मफल को। अर्थात् शरीर, वाणी, मन को और लड्डू तथा दाल, भात, स्त्री का शरीर नहीं। भोगने में उसकी ओर का लक्ष्य करके जो राग होता है, हर्ष होता है, उसे मैं भोगता हूँ, वह कर्मफलचेतना। कर्म अर्थात् विकारी परिणामरूपी कार्य, उसका वह फल दुःख है। उस दुःख का वेदन, वह कर्मफलचेतना है। आहाहा ! सब बात का अन्तर, आहाहा ! ऐसी बात है।

अनन्त काल गया, भाई ! आहाहा ! कुछ न कुछ शल्य रखा है, कुछ अन्दर गहरा-गहरा और अनन्त काल गया। नौवें ग्रैवेयक अनन्त बार (गया)। पंच महाव्रत अनन्त बार पालन किये। आहाहा ! तथापि वह तो आस्रव और दुःख है। उसे मैं करता हूँ, यह कर्मचेतना है और उसे मैं भोगता हूँ, यह कर्मफलचेतना है। पंच महाव्रत के परिणाम को मैं करता हूँ, यह कर्मचेतना है, विकारीरूपी कार्यचेतना। विकार में चेत गया है, वह विकार में सुलग गया है। आहाहा ! और विकार के वेदन में चला गया है। वेदन, इसका अनुभव ही विकार का है। राग या पुण्य वह कर्मफल अर्थात् राग का फल। कर्मफल अर्थात् जड़कर्म नहीं, परन्तु वह राग-द्वेष आदि, उसका फल सुख-दुःख, उसे वेदता है, वह अज्ञान है। आहाहा ! पैसे कुछ पाँच-दस लाख मिले और ठीक है, मजा आता है—ऐसा जो विकार, उसका जो वेदन, वह ज्ञानचेतना से विरुद्ध वेदन है, अज्ञान वेदन है, बन्ध का कारण है। आहाहा ! ऐसी बात है।

सम्प्रदाय में तो यह सुनने का नहीं था, सुनने को मिला नहीं था। हीराजी महाराज जैसे थे। कैसे हीरा कहलाये ! यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... यह करो...

करो और उनके जैसा साधु कौन ? ऐसी क्रिया करे, निर्दोष आहार ले, वस्त्र निर्दोष ले, उन्हें लाकर न दे, बिकते हुए न ले। बस! हम निर्दोष साधु हुए, ऐसा मानते थे। ऐसे बेचारे भद्रिक, धमाल नहीं, घमण्ड नहीं। परन्तु वस्तु की स्थिति ऐसी खबर नहीं। तब तो 'हीरा अेटला हीर बाकी सुतरना फालका' ऐसा कहा जाता था। हीराजी महाराज अर्थात् कौन ? हिन्दुस्तान का हीरा। हमारे सम्प्रदाय के गुरु। बाकी सुतरना फालका है, ऐसा कहा जाता था। उन्होंने कभी यह बात सुनी नहीं। आहाहा! बात थी नहीं न ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उस कर्म के फल को भोगना, **वह कर्मफलचेतना है। (इस प्रकार अज्ञानचेतना दो प्रकार से है।)** ज्ञानचेतना एक ही प्रकार है। स्वरूप आनन्द और ज्ञान में एकाग्रता, वह (एक ही प्रकार है) और यह अज्ञानचेतना दो प्रकार से है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। आहाहा! यह दो प्रकार से अज्ञानचेतना है। **वह समस्त...** दोनों चेतना। **अज्ञानचेतना संसार का बीज है;...** आहाहा! यह दोनों चेतना संसार का बीज है। ओहोहो! पंच महाव्रत को पालना, वह संसार का बीज है। आहाहा! उन पंच महाव्रत के परिणाम को करना, मैं करता हूँ और मैं उन्हें भोगता हूँ, यह संसार का बीज है। आहाहा! उस बीज में से संसार फलेगा। गेहूँ में से गेहूँ फलते हैं, वैसे ही इस बीज में से संसार आयेगा, अवतार। आहाहा!

अरे रे! एक-एक अवतार, चौरासी में से कोई भी अवतार, एकेन्द्रिय के अवतार की तो बात ही क्या करना ? वह तो दुःखी... दुःखी... दुःखी... प्राणी है परन्तु पंचेन्द्रिय के अवतार, नारकी, मनुष्य, देव, तिर्यंच, इस भव में कुछ भान नहीं होता। हम कौन हैं और यह क्या है ? सुनने को मिलता नहीं और वह सुने किस प्रकार ? आहाहा! वह तो और महावीर का जीव तीर्थंकर होनेवाला था, इसलिए उसने वाणी सुनी। मुनि की भाषा कैसी होगी, उसकी भाषा कैसी ?

मुमुक्षु : समझ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझ गया। कैसी भाषा होगी! यह दोनों समझ गये। आहाहा! यह समझ गये कि अब यह सिंह समझा, ऐसा। साधु को पहले खबर पड़ी कि यह तो अज्ञान से इस हिरण को फाड़ता है और कहा—अरे जीव! तू आठवें भव में तीर्थंकर का अवतार है। प्रभु! यह क्या है यह ? तेरी प्रभुता यह नहीं शोभती। यह स्वयं को खबर पड़ती

है कि मैं यह भाषा कहता हूँ, उसे यह समझता है। परन्तु यह समझता है, वह यह स्वयं समझते हैं, यह समझता है ऐसा। आहाहा!

योग्यता क्या काम करती है! सिंह के भव में कहाँ मुनि ऊपर (आकाशमार्ग में) चले जा रहे थे। नीचे उतरकर बोले, वहाँ सुनकर उसे आँख में आँसू की धारा बहने लगी। आहाहा! स्वयं के किये हुए पाप का पश्चाताप (हुआ)। दोनों आँखों में से आँसू की धारा बहने लगी। अन्तर में समकित प्राप्त कर गया। आहाहा! अन्तर में उतर गया। बाहर में, इस विकल्प में कुछ माल नहीं है। आहाहा! निर्विकल्प आनन्द में उतर गया। समकित सिंह के भव में प्राप्त किया। आहाहा! भगवान महावीर का जीव।

यहाँ कहते हैं कि आहाहा! अरे रे! ऐसे अज्ञान बीज—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना राग, दया-दान का करना और उसको भोगना, यह दोनों अज्ञानचेतना है। आहाहा! यह दोनों संसार का बीज है। आहाहा! ऐसी की ऐसी भाषा निकाल डालना, (ऐसा नहीं)। भाषा का भाव अन्दर समझना चाहिए। आहाहा!

यह भाव संसार का बीज है, चार गति में भटकने का यह बीज है। आहाहा! चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, शास्त्र का विकल्प हो। आहाहा! कलश-टीका में नहीं कहा? बारह अंग भी विकल्प है। बारह अंग का ज्ञान, कलश-टीका, कलश में विकल्प है, ऐसा (कहा है)। आहाहा! परन्तु उसमें कहा है आत्मा का अनुभव। आहाहा! यह राग और पुण्य-पाप के कर्तव्य के वेदन को छोड़कर चैतन्य की सत्ता, भगवान महाप्रभु का ज्ञान करके वेदन (होना), वह मोक्ष का कारण है, वह मोक्ष का बीज है। बाकी यह तो संसार का बीज है। आहाहा! भले करोड़ों रुपये मन्दिर में खर्च करे। हमेशा चौबीस घण्टे भगवान के पास बैठकर भक्ति करे, परन्तु परलक्ष्यी भाव, वह सब वेदन कर्मचेतना का है। आहाहा! वह इस संसार का बीज है।

क्योंकि संसार के बीज जो आठ प्रकार के (ज्ञानावरणादि) कर्म,... संसार का वास्तविक बीज तो आठ प्रकार का कर्म, **उनका बीज वह अज्ञानचेतना है...** आठ कर्म संसार का बीज है, उत्पन्न करता है और इस आठ कर्म का कारण यह अज्ञानचेतना है। अज्ञानचेतना से आठ कर्म बँधते हैं। आठों कर्म बँधते हैं, हों! वापस ऐसा कहते हैं।

आहाहा! एक बार तो यह ढीला-ढीला हो जाए। हाय... हाय...! यह संसार और यह परिभ्रमण। वहाँ किसी को कोई मददगार नहीं मिलता। आहाहा! अकेले जन्मना, अकेले मरना, अकेले भटकना। आहाहा! कोई सहायक, मददगार नहीं मिलता। आहाहा! यह पुण्य और पाप का होना, करना और भोगना, वह अज्ञानचेतना है। वह अज्ञानचेतना संसार का बीज है **क्योंकि संसार के बीज जो आठ प्रकार के (ज्ञानावरणादि) कर्म, उनका बीज वह अज्ञानचेतना है (अर्थात् उससे कर्मों का बन्ध होता है)।** आहाहा!

इसलिए मोक्षार्थी पुरुष को... पूर्ण बन्ध से रहित होने की भावनावाला, पूर्ण बन्ध से रहित होने की भावनावाला मोक्षार्थी है। आहा! मोक्षार्थी पुरुष को (अर्थात्) जिसे छूटना है, बँधना नहीं है। चाहे तो पुण्य हो तो भी बँधना नहीं है। आहाहा! **मोक्षार्थी पुरुष को अज्ञानचेतना का प्रलय करने के लिए...** इस अज्ञान का जो अनुभव, यह दया, दान का करना और भोगना, इसका प्रलय करने के लिये, नाश करने के लिये आहाहा। **सकल कर्मों के संन्यास (-त्याग) की भावना को...** आठों कर्म बन्धन का कारण के त्याग की, उसके त्याग की भावना, संन्यास अर्थात् त्याग। उस भावना को तथा **सकल कर्मफल के संन्यास की भावना को...** दोनों को। कर्मचेतना की भावना को और कर्मफलचेतना की भावना को। दोनों विकारी दशा है। आहाहा!

नचाकर, स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतना को... आहाहा! संन्यास की भावना को नचाकर, नचाकर अर्थात् निकाल डालकर। आहाहा! **स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतना...** आहाहा! पुण्य और पाप अज्ञान संसार चेतना है और यह स्वभावभूत (ज्ञानचेतना)। भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का स्वभाव, पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न ऐसे स्वभावभूत, ऐसी भगवती ज्ञानचेतना। आहाहा! मोक्ष कारण ऐसी जो चेतना... आहाहा! उसे भगवती ज्ञानचेतना कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह मोक्ष का जो मार्ग, उन तीन को एक बोल में समाहित कर दिया।

भगवती ज्ञानचेतना को ही एक को सदा नचाना चाहिए। देखा? ये तीन होकर हैं एक। आत्मा के ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान की प्रतीति और ज्ञान का अनुभव—यह वस्तु एक है। आत्मा की ओर का (संचेतन है)। अन्तर ज्ञान आत्मा का ज्ञान, हों! यह वस्तु अन्दर भरी

है। जैसे कोठार में भरी है, ऐसा नहीं। यह तो जैसे चीनी में मिठास भरी है, वैसे आत्मा में यह शक्तियाँ भरी हैं। आहाहा! इसकी **भावना को नचाकर,...** आहाहा! **स्वभावभूत ऐसी भगवती ज्ञानचेतना...** आहाहा! ज्ञान में आनन्द का वेदन, वह भगवती ज्ञानचेतना। ज्ञान में राग-द्वेष और दु:ख का वेदन, वह कर्मफल संसार के बीज की चेतना। आहाहा! ऐसी जो **भगवती ज्ञानचेतना को ही...** एकान्त किया। कथंचित् यह और कथंचित् यह, कथंचित् व्यवहार चेतना। आहाहा! ऐसा नहीं कहा। भगवान का मार्ग कथंचित् स्याद्वाद है। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, उपादान से भी होता है और निमित्त से भी होता है, (ऐसा नहीं कहा)। आहाहा!

यहाँ तो **भगवती ज्ञानचेतना को ही एक को सदा नचाना चाहिए।** आहाहा! आनन्द का पूर प्रभु, उसका ही परिणमन करना; दूसरी बात छोड़ देना। आहाहा! ज्ञानानन्द स्वभाव भगवान का जो निर्मल वीतरागी परिणमन, उस ज्ञानचेतना को नचाना अर्थात् उपजाना और पूरी करना। वह भी चेतना को एक को सदा नचाना। किसी समय कर्मचेतना और किसी समय यह, ऐसा नहीं। आहाहा! ज्ञानचेतना को 'ही' यह एकान्त किया, सम्यक् एकान्त। एक को सदा नचाना। आहाहा! कथंचित् निर्मल ज्ञानचेतना और कथंचित् दया, दान की कर्मचेतना भी हो, ऐसा नहीं। आहाहा!

यह बात न ले। जयसेनाचार्य की टीका में आता है न कि साधन है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। ऐसा टीका में आवे, उसे ले। यहाँ इनकार करते हैं। उसका अर्थ कोई दूसरा है। यह तो उसकी अस्ति होती है। यह वस्तु निर्मल प्रगट हुई है, उसका आरोप देकर वहाँ साधन कहा है। साधन तो स्वयं ही है। आत्मा में करण नाम का गुण है, वह गुण स्वयं साधन है। वह साधन किया, उसे इस साधन का आरोप दूसरे में—राग में दिया। आहाहा!

ऐसी भगवती ज्ञानचेतना। आहाहा! टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य को इतना प्रमोद आ जाता है। आहाहा! वह **स्वभावभूत...** चैतन्य का निर्मल आनन्द ज्ञानस्वभाव वस्तु जिसकी सत्ता संसार के अभाव-स्वभावरूप त्रिकाल है, तीनों काल में संसार के स्वभाव से अभावरूप है—ऐसा जो स्वभाव, ऐसी उसकी भगवती ज्ञानचेतना—अनुभव, उसे एक को सदा नचाना, परिणमना, उसे—एक को ही सदा परिणमना। आहाहा!

यह तो अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। मूल पाठ भगवान का—कुन्दकुन्दाचार्य का है, टीका अमृतचन्द्राचार्य की है। अमृतचन्द्राचार्य स्वयं मुनि आचार्य हैं, वे स्वयं ऐसा कहते हैं। आहाहा! कि हमारे पंच महाव्रत आदि करना और भोगना, वह अज्ञान है। आहाहा! आवे सही, उन्हें जाने। मेरे हैं-ऐसा नहीं। आहाहा! मेरा है, वह कभी पृथक् पड़ता नहीं और पृथक् पड़े, वह मेरा नहीं। ज्ञान और आनन्द, वह मेरा स्वभाव है, वह पृथक् नहीं पड़ता; इसलिए वह मेरा है और दया-दान के विकल्प वे पृथक् पड़ जाते हैं; इसलिए वे मेरे नहीं। मेरे हों वे पृथक् नहीं पड़ते। आहाहा!

कलश - २२५

तत्र तावत्सकलकर्मसन्न्यासभावनां नाटयति ह्न

(आर्या)

कृत-कारितानुमननैस्त्रिकाल-विषयं मनोवचन-कायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्य-मवलम्बे ॥२२५॥

यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।७।

यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।८। यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं, समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे

दुष्कृतमिति।९। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१०। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।११। यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञा-सिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१२। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१३। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१४।

यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१५। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१६। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१७। यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१८। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्व-ज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।१९। यदहमकार्षं, यदचीकरं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२०।

यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२१। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२२। यदहमकार्षं, यदचीकरं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२३। यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२४। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२५। यदहमकार्षं, यदचीकरं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२६। यदहमकार्षं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२७। यदहमचीकरं, यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं, कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२८।

यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।२९। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३०। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३१। यदहमकार्षं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३२। यदहमचीकरं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३३। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३४। यदहमकार्षं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृत-मिति।३५।

यदहमचीकरं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३६। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३७। यदहमकार्षं वाचा च

कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृत-मिति।३८। यदहमचीकरं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।३९। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्व-ज्ञासिषं वाचा च कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४०। यदहमकार्षं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृत-मिति।४१। यदहमचीकरं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४२।

यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४३। यदहमकार्षं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४४। यदहमचीकरं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४५। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४६। यदहमकार्षं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृत-मिति।४७। यदहमचीकरं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४८। यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च, तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।४९।

इसमें पहले, सकल कर्मों के संन्यास की भावना को नचाते हैं-

(वहाँ प्रथम, काव्य कहते हैं-)

श्लोकार्थ : [त्रिकालविषयं] त्रिकाल के (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) [सर्वं कर्म] समस्त कर्म को [कृत-कारित-अनुमननैः] कृत-कारित-अनुमोदना से और-[मनः-वचन-कायैः] मन-वचन-काय से [परिहृत्य] त्याग करके [परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे] मैं परम नैष्कर्म्य का (-उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूँ। (इस प्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।)।।२२५।।

(अब टीका में प्रथम, प्रतिक्रमण-कल्प अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि कहते हैं-)

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि-)

जो मैंने (अतीत काल में कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से, तथा काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना, कराना और अन्य करनेवाले का अनुमोदन करना, वह संसार का बीज है, यह जानकर उस दुष्कृत्य के प्रति हेयबुद्धि आई, तब जीव ने उसके प्रति का ममत्व छोड़ा, यही उसका मिथ्या करना है)।।१।।

जो मैंने (अतीत काल में कर्म) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत्य मिथ्या हो।।२।। जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत

मिथ्या हो।।३।। जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।५।। जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।६।। जो मैंने (पूर्व में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।७।।

जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।८।। जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से और काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।९।। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१०।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया और कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।११।। जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१२।। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१३।। जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१४।। जो मैंने (पूर्व में) किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१५।। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१६।। जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१७।। जो मैंने (पूर्व में) किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१८।। जो मैंने (पूर्व में) कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।१९।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२०।। जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२१।। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२२।। जो मैंने (पूर्व में) किया और

कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२३।। जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२४।। जो मैंने (पूर्व में) कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२५।। जो मैंने (पूर्व में) किया और कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२६।। जो मैंने (पूर्व में) किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२७।। जो मैंने (पूर्व में) कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२८।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से, वचन से, तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२९।। जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३०।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३१।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३२।। जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३३।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३४।। जो मैंने (पूर्व में) किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३५।। जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३६।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३७।। जो मैंने (पूर्व में) किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३८।। जो मैंने (पूर्व में) कराया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३९।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४०।।

जो मैंने (अतीत काल में) किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४१।। जो मैंने (पूर्व में) कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४२।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४३।। जो मैंने (पूर्व में) किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४४।। जो मैंने (पूर्व में) कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४५।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४६।। जो मैंने (पूर्व में) किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४७।।

जो मैंने (पूर्व में) कराया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४८।। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४९।।

(इन ४९ भंगों के भीतर, पहले भंग में कृत, कारित, अनुमोदना-ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय – ये तीन लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इस एक भंग को[१] '३३' की समस्या से-संज्ञा से-पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाए हैं। इस प्रकार बने हुए इन तीनों भंगों को [२]'३२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन तीनों भंगों को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाए हैं। इन तीनों भंगों को '२३' की संज्ञावाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। ११ से १९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '२२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '२१' की संज्ञावाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीनों भंगों को '१३' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '१२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '११' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। इस प्रकार सब मिलाकर ४९ भंग हुए।)

१- कृत, कारित, अनुमोदना-यह तीनों लिए गये हैं, सो उन्हें बताने के लिए पहले '३' का अंक रखना चाहिए; और फिर मन, वचन, काय-यह तीन लिये हैं, सो इन्हें बताने के लिए उसी के पास दूसरा '३' का अंक रखना चाहिए। इस प्रकार यह '३३' की समस्या हुई।

२- कृत, कारित, अनुमोदना तीनों लिये हैं, यह बताने के लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिए; और फिर मन, वचन, काय में से दो लिये हैं, यह बताने के लिये '३' के पास '२' का अंक रखना चाहिए। इस प्रकार '३२' की संज्ञा हुई।

कलश - २२५ पर प्रवचन

अब श्लोक, श्लोक आया न? २२५

कृत-कारितानुमननैस्त्रिकाल-विषयं मनोवचन-कायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्य-मवलम्बे ॥२२५॥

आहाहा! **'त्रिकालविषयं' त्रिकाल के (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) समस्त कर्म को...** आहाहा! एक ही भगवान आत्मा पर दृष्टि दे। तीनों काल के कर्म से भिन्न भगवान है। भूतकाल के चाहे जितने कर्म हुए हों, वह भी वस्तु उससे भिन्न है। आहाहा! तीनों काल। अतीत अर्थात् भूतकाल, वर्तमान और भविष्य, इन **समस्त कर्म को... 'कृत-कारित-अनुमननैः' कृत-कारित-अनुमोदना से...** अकेले करना, ऐसा नहीं। आहाहा! यह करना नहीं और कराना नहीं। भाई! तुम दया पालो, (ऐसा नहीं)। करना नहीं, कराना नहीं और करते हों, उसे अनुमोदना नहीं। आहाहा! जो यह कर्मचेतना दया, दान, भक्ति, पूजा करते हों, उसे कहते हैं करना नहीं, कराना नहीं और करते हों, उसे अनुमोदना नहीं। आहाहा! जानता है, व्यवहार होता है, परन्तु उसे करे, कराना और अनुमोदना, यह नहीं। यह करे और अनुमोदना, यह भी नहीं, कहते हैं। आहाहा!

नैरोबी में बाईस लाख का मन्दिर होगा। बाईस लाख का एक मन्दिर। साठ लाख इकट्ठे किये हैं। परन्तु वह वस्तु होने की परमाणु की पर्याय और करनेवाले के भाव हों तो राग की मन्दता शुभ है। उसे कहते हैं, करना नहीं, कराना और उसे अनुमोदना नहीं। आहाहा! यह करो, मन्दिर बनाओ, लोग लाभ लें, हमेशा दर्शन करे और लाभ हो। भारी बातें, भाई!

मुमुक्षु : यह भाव आते तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आवे, उसे यहाँ कहते हैं कि अनुमोदना नहीं, जानना। उस करनेवाले को जानना, उसे भी कर्ता नहीं होना। कराना तो ऐसा नहीं होना, अनुमोदन नहीं करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

समस्त कर्म को... ऐसा कहा न? तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्म को। उसमें कोई

बाकी रहा ? तीर्थंकरगोत्र बाँधे, उसे भी ठीक नहीं, ऐसा कहते हैं। वह करने का, करने का, अनुमोदना, वह है नहीं। आहाहा! अमृत का प्याला है अकेला! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव कर्मचेतना है। वह करना नहीं, कराना नहीं, कर्ता को अनुमोदना नहीं। बात ऐसी है। लोगों को कठिन लगता है। सब शून्य हो जाएगा। बापू! होना होगा, वह हुए बिना रहेगा नहीं। शून्य क्या हो। तू करे तो अभिमान करे कि मैं हूँ तो यह होता है, मैं था तो यह किया, यह हुआ। बाकी होने के काल समय में उस-उस प्रकार से हो, उसे करना, कराना और अनुमोदना करना नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : अनुमोदना....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुमोदना नहीं। शुभभाव है न ? कर्मचेतना है न ? पाप टालने की अपेक्षा से पुण्य को व्यवहार से ठीक कहते हैं; निश्चय से वह ठीक नहीं है। व्यवहार से; कोई पाप करता हो, उसकी अपेक्षा भगवान के दर्शन करे, (उसे) ऐसा कहते हैं कि तू ठीक करता है, भाई! यह तो अपेक्षा से (कहते हैं)। उस पुण्य और पाप की दोनों की अपेक्षा से। धर्म की अपेक्षा से नहीं। आहाहा!

समस्त कर्म को कृत-कारित-अनुमोदना से और मन-वचन-काय से... वापस। कृत-कारित-अनुमोदन, मन-वचन और काया से। मन से भी करना, कराना और अनुमोदना नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। **त्याग करके... कृत-कारित-अनुमोदना से और मन-वचन-काय से त्याग करके... 'परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे' मैं परम नैष्कर्म्य का...** आहाहा! **(-उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का)...** अर्थात् रागरहित दशा को, निर्मल वीतरागी दशा को **अवलम्बन करता हूँ।** यह करता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो राग के अभाव की अपेक्षा से वीतरागी अवस्था को अवलम्बता हूँ, ऐसा कहा जाता है; बाकी अवलम्बन तो द्रव्य का है। द्रव्य के अवलम्बन में इस राग की अवस्थारहित अवस्था आती है, उसे अवलम्बन कहा जाता है। **अवलम्बन करता हूँ। (इस प्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला...)** सर्व कार्य रागादि, रागादि हों! **(ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।)** इसकी विशेष बात लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३२, श्लोक-२२५-२२६, रविवार, आषाढ़ शुक्ल १
दिनांक - १३-०७-१९८०

समयसार, २२५ कलश है। २२५ कलश।

कृत-कारितानुमननैस्त्रिकाल-विषयं मनोवचन-कायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्य-मवलम्बे ॥२२५॥

पहली उत्कृष्ट बात ली है। सब बात चलते अब तो नव-नव कोटि से मैं सब छोड़ देता हूँ। मेरे आत्मा में अब ध्यान में आऊँ, ऐसी बात कहते हैं। '**त्रिकालविषयं**' **त्रिकाल के**... आहाहा! भगवान तीनों काल में आनन्द का नाथ है। अतीन्द्रिय शान्ति की सत्ता से परिपूर्ण भरपूर है, उसे अब पहुँचने के लिये, उसे प्राप्त करने के लिये कहते हैं कि **त्रिकाल के (अर्थात् अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी) समस्त कर्म को**... यह शुभाशुभभाव। आहाहा! उत्कृष्ट अवस्था लेना है। ४९ भंग लेते हैं। अन्त में यह किये बिना छूटकारा नहीं है, दूसरी किसी भी विधि से मुक्ति की विधि कोई दूसरी नहीं है। आहाहा!

त्रिकाल के समस्त कर्म को... किये हुए या कराये हुए या अनुमोदना और वह भी मन, वचन और काया से। आहाहा! नव कोटि से जो कुछ राग हुआ हो, वह नव कोटि से त्यागकर। वस्तु तो समझावे न? चारित्र का उत्कृष्ट त्याग, भाग क्या है, यह समझाते हैं। चारित्रवन्त समकितसहित आत्मा के ज्ञान, भानसहित स्वरूप में नव कोटि से स्थिर होना। इससे मन, वचन और काया, करना, कराना और अनुमोदन करना, उसे अन्तर से नौ प्रकार से छोड़कर। आहाहा! कितना पुरुषार्थ है इसमें!

उसमें **मन-वचन-काय से त्याग करके**... आहाहा! '**परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे**' आहाहा! मन, वचन और काया, करना, कराना और अनुमोदन करना, किसी भी प्रकार का राग, उसे नव-नव कोटि से छोड़कर। आहाहा! चारित्रवन्त। **मैं परम नैष्कर्म्य का**... आहाहा! उत्कृष्ट (जो) कर्म बिना की दशा—आत्मा की निष्कर्म दशा। आत्मा में—द्रव्य में यह कुछ नहीं है, द्रव्य में करने का नहीं है। आहाहा! इसलिए कहते हैं कि **(-उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूँ।** भाषा देखी? कर्म, निष्कर्म को अवलम्बता हूँ।

उत्कृष्ट निष्कर्म दशा को अवलम्बता हूँ। त्रिकाल अवलम्बना तो त्रिकाल वस्तु है, परन्तु उस वस्तु की ओर के झुकाव में परसन्मुख के मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदन, वह तो पर्याय में है न? द्रव्य में तो कुछ है नहीं। द्रव्य तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। इसलिए निवर्तना हो तो भी पर्याय में निवर्तना है और प्रवर्तना हो तो भी पर्याय में प्रवर्तना है। आहाहा! ध्रुव जो वस्तु है, वह तो अनादि-अनन्त एकरूप वस्तु परमानन्द वस्तु है, उसमें तो कुछ करना, कराना, अनुमोदन, वह है नहीं। आहाहा! उस वस्तु के लक्ष्य के लिये, उस वस्तु को पहुँच जाने के लिये अवस्था में नव कोटि से मैं राग का त्याग करता हूँ। आहाहा! यह अन्तिम गाथायें हैं न?

चारित्र ग्रहण करनेवाला, स्वरूप में रमणता करनेवाला—ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि मैं मन, वचन और काया, किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदन किया हुआ सबका त्याग करके निष्कर्म अवस्था को अब प्राप्त करता हूँ। इस अवस्था को छोड़कर और निष्कर्म अवस्था को पाता हूँ। आहाहा! है? **(निष्कर्म अवस्था का) अवलम्बन करता हूँ। (इस प्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।)** आहाहा! यह तो अन्तिम में अन्तिम बात है। सब बात हो गयी, यह तो अन्तिम गाथायें हैं न? आहाहा!

भगवान आत्मा... पहले तो उसका अस्तित्व, उसकी सत्ता / अस्तित्व का स्वीकार (हो)। पूर्ण आनन्द और पूर्ण शान्ति, पूर्ण स्वच्छता और पूर्ण प्रभुता आदि अनन्त गुण से पूरा भरा है—ऐसा जो भगवान, वह तो एकरूप है, उसमें कुछ घट-बढ़ नहीं होती। पर्याय में जो अन्तर है,... आहाहा! तो उसे मैं नवकोटि से छोड़ता हूँ, ऐसा में चारित्र धारण करनेवाला, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसके बिना निस्तार नहीं है। बाहर की बातों से या बाहर के जानपने से या बाहर की स्मृद्धि की और बहुत धर्म के नाम से मन्दिर आदि स्मृद्धि से बनावे, इससे आत्मा में कुछ भव के अभाव का लाभ हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह चीज़ ही नहीं है न मुझमें? निष्कर्म अवस्था को अवलम्बता हूँ। मन, वचन और काया, करना, कराना और अनुमोदना, इस नव प्रकार से त्यागकर, नव प्रकार से विकार को त्यागकर निष्कर्म जिसकी अवस्था में कुछ करने का है ही नहीं, ऐसी निर्मल अवस्था को अवलम्बता हूँ। आहाहा! इतना

कठिन काम। इतना बड़ा काम है।

जिसे संसार का अन्त लाना है, भव के भेद की, भवभ्रमण की रीति छोड़नी है... आहाहा! तो वह कोई बाह्य कारण नहीं है। अन्दर में वह कारण मन, वचन और काया, करण, अनुमोदन है, वह उसे कार्य है, वह कर्म है, वह विकारी अवस्था नौ प्रकार की है, उसे छोड़कर एकरूप निष्कर्म अवस्था को अवलम्बता हूँ। आहाहा! यह चारित्रवन्त को बने, यह दशा चारित्रवन्त को बने। चारित्र बिना स्वरूप की रमणता (नहीं होती)। नव कोटि से विकल्प का त्याग (होता है)... आहाहा! और उतने ही प्रमाण में निष्कर्म अवस्था। सकर्म अवस्था नौ प्रकार की, यह (है) उसे छोड़कर निष्कर्म अवस्था एक, उसे मैं अवलम्बता हूँ। आहाहा!

(इस प्रकार, समस्त कर्मों का त्याग करनेवाला ज्ञानी (धर्मी) प्रतिज्ञा करता है।) प्रतिज्ञा करते हैं। वह भी ज्ञानी कहा। अज्ञानी प्रतिज्ञा करे? कि, अज्ञानी को यह नहीं होता। मिथ्यादृष्टि को अन्दर का त्याग नहीं होता। आहाहा! इसलिए ज्ञानी—आत्मा के ज्ञान का भान है—आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु निर्मल ज्ञान और आनन्द और वीतराग की मूर्ति है, ऐसा जिसे अन्तर में अनुभव है, वह ज्ञानी इस प्रकार से नौ प्रकार की क्रियाकाण्ड करने की प्रतिज्ञा करता है। आहाहा! उसमें शुभभाव भी आ गया कि शुभभाव करना या कराना, करते को अनुमोदना, यह मुझे नहीं है। आहाहा! अकेला भगवान आत्मा पूर्ण चैतन्यस्वरूप अनन्त-अनन्त आनन्द का सर्वांग भरपूर पूर्ण-पूर्ण प्रभु को अवलम्बन करने के लिये नौ प्रकार के त्याग बिना उसका अवलम्बन पूरा नहीं हो सकता। आहाहा! नौ प्रकार मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदन, इस नौ प्रकार के त्याग बिना, इस निश्चय का अवलम्बन नहीं हो सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : वचन, काया तो अपनी है ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : है नहीं तो मन भी कब इसका है? इसका तो करना, कराना, अनुमोदन भी कहाँ इसका है? यह तो होता है, उसे अब करना... राग और पुण्य और दया, दान और विकल्प है, वह आत्मा में कहाँ है? आत्मा तो पूर्णानन्द की सत्ता आनन्दकन्द भगवान है परन्तु उसकी इस पर्याय में जो अनादि का घोटाला उठा है... आहाहा! और

उसके कारण चौरासी लाख के अवतार में अनन्त-अनन्त अवतार कर रहा है, उस भव का जिसे भय और डर लगा हो। आहाहा!

अरे! यहाँ तो अकेला जब दो, पाँच लोग हों और अकेला रहे, वहाँ उकता जाता है। यहाँ तो कहते हैं, एकदम अकेला सादि-अनन्त तू अकेला रहेगा। मुझे करना, कराना, अनुमोदना, मन से, वचन से कुछ है नहीं। मैं तो ज्ञाता-दृष्टारूप से... आहाहा! सादि-अनन्त—शुरुआत हो, वह अनन्त काल तक—इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये यह प्रतिज्ञा करता हूँ। आहाहा! यह कठिन बात है। अन्तिम गाथाएँ हैं न? यह अन्तिम है न?

(प्रतिक्रमण करनेवाला कहता है कि-) जो मैंने (अतीत काल में कर्म) किया,... जो भी पाप या पुण्य, **जो मैंने किया, कराया और दूसरे करते हुए का अनुमोदन किया,...** मन से किया, वचन से किया तथा काया से किया... आहाहा! **यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।** वह मेरा दुष्कृत। आहाहा! शुभभाव को भी यहाँ दुष्कृत में डाला है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्राथमिक लोगों को, शुरुआतवालों को शुभ करने का कहना या नहीं कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहे अनुसार करने का नहीं, सीधी दृष्टि करनी। शुभ आवे पहले परन्तु करने की बात तो (नहीं है)। १७वीं गाथा में तो सीधे लिया है। कुछ भी कोई बात छोड़कर, पहले आत्मा को ही जानना, एक ही बात सीधी। देखो! १७वीं गाथा में है, १७वीं देखो! कुछ अमुक करना या यह करना, वह कोई बात नहीं। १७, १७, हों! देखो! क्या लिया है? देखो! १७-१८। आहाहा!

निश्चय से जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने कि यह राजा है, फिर उसी का श्रद्धान करे कि 'यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी' और फिर उसी का अनुचरण करे, सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे; इसी प्रकार... अब आत्मा का। यह तो दृष्टान्त हुआ। **इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को...** जिसे पूर्ण पवित्रता की प्राप्ति करनी है, उस पुरुष को, **पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,...** है? प्रथम, प्रथम, पहले, पहले इस आत्मा को जानना चाहिए। पहले अमुक करना चाहिए, अमुक करना, यह पहले नहीं। आहाहा! क्योंकि कोई पहला करूँ,

यह क्रिया कुछ भी मददगार नहीं है। मन, वचन और काया की शुभ-अशुभ क्रिया कोई वहाँ स्वभाव के लिये सहायक नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो उसे कहा प्रथम आत्मा को जानना चाहिए। छह द्रव्य को जानना या पहले शुभभाव करना और सत्समागम पहले करना, सत्संग करना, यह कुछ नहीं लिया। आहाहा! प्रथम में प्रथम मोक्षार्थी पुरुष को **पहले तो आत्मा को जानना चाहिए,..** जानने पर वजन है। आत्मा का ज्ञान करना। अन्तर निर्विकल्प ज्ञान। जानने का अर्थ... आहाहा! पुण्य और पाप के विकल्प से रहित **पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए कि 'यही आत्मा है,...** आहाहा! पहले यह करने का कहा। पहले अमुक करना, अमुक करना, यह कोई बात नहीं की। पश्चात् बात में है। बात तो सीधी निरपेक्ष (ली है)।

एक प्रभु आत्मा सीधा (जानना)। कुछ भी करना, कराना, अनुमोदन की क्रिया बिना स्वभाव को अवलम्बना, यह करने का पहले में पहला है। आहाहा! क्रिया दूसरी हो, शुभ और अशुभ दोनों हो, तो भी उससे अवलम्बन नहीं है। चाहे वह प्रथम देव-गुर-शास्त्र की भक्ति भी अनन्त बार की, अनन्त बार पर का अवलम्बन लिया... आहाहा! ग्यारह अंग का पठन अनन्त बार किया, करोड़ों श्लोक कण्ठस्थ किये, देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा भी, परद्रव्य की श्रद्धा भी अनन्त बार की। आहाहा! भगवान आत्मा को जानना जो पहले (करना चाहिए) वह एकत्व किया नहीं। कहीं न कहीं अटकने के बहाने निकाले। शास्त्र में व्यवहार की बात आवे, वहाँ यह निकालता है कि यह व्यवहार आया है। परन्तु वह व्यवहार तो जानने के लिये कहते हैं।

यहाँ तो प्रथम में प्रथम अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, आहा! और कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं कहते हैं। '**एवं हि जीवराया**' गाथा है, देखो! '**णादव्वो, जीवराया णादव्वो**' जानना। १८वीं गाथा। पहले ही यह शब्द (लिया है)। कुन्दकुन्दाचार्य को कुछ पड़ी नहीं है। यह व्यवहार बिना बातें करते हैं, देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा की भी बात पहले नहीं (करते)। आहाहा!

है, पाठ है? यह दृष्टान्त देकर फिर कहा, '**एवं हि जीवराया णादव्वो**' जीव राजा को जानना। पाठ है, मूल पाठ है। और '**तह य सद्दहेदव्वो**' तत्पश्चात् उसकी श्रद्धा करना। उसे

जानकर श्रद्धा करना और अनुभव करना। '**पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण**' मोक्ष को अभिलाषी को यह प्रथम करने का है। आहाहा! फिर बाकी बातें आवे। देशनालब्धि और अमुक और अनेक प्रकार आवे। आहाहा! वह भी इस देशनालब्धि में आवे, परन्तु कहीं उसके लक्ष्य से कुछ होता नहीं। शुद्धात्माभिमुख परिणाम अर्थात् शुद्ध उपयोग। एक ही सिद्धान्त—शुद्धात्माभिमुख परिणाम अर्थात् वे पाँच करण और अधकरण, वह सब नहीं। शुद्धात्माभिमुख परिणाम—शुद्ध परिणाम, अभिमुख अर्थात् उपयोग। शुद्ध उपयोग से वह प्राप्त होता है। आहाहा!

पहले में पहली, शुरुआत में शुरुआत शुद्धोपयोग है। पुण्य-पाप का भाव, वह अशुद्ध उपयोग है। आहाहा! भगवान अन्दर जो चैतन्य, उसे शुद्ध उपयोग से जानना और श्रद्धा करना, ऐसा कहा है। यह कठिन बात है, भाई! दूसरे को ठीक लगे या न लगे, ऐसी कोई सन्तों को पड़ी नहीं है। यह तो सत् है, उसे प्रसिद्ध करने के लिये यत्नशील हैं। दुनिया किसी प्रकार समझे। यह भी विकल्प आया है, इसकी भी दरकार नहीं है। विकल्प आया है, उसके वे कहीं कर्ता नहीं और आया, इसलिए ठीक आया है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

जो मैंने (अतीत काल में कर्म) किया, कराया और दूसरे करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से, तथा काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। आहाहा! यह वापस मेरा दुष्कृत। देखा शब्द ? आहाहा! यह मेरा दुष्कृत। मुझमें हुआ भाव, मुझसे। आहाहा! **मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।** आहाहा! यह मेरा दुष्कृत आत्मा में नहीं। आहाहा! **(कर्म करना, कराना और अन्य करनेवाले का अनुमोदन करना, वह संसार का बीज है,...)** यह तो संसार का बीज है, कहते हैं। आहाहा! कोई भी शुभ-अशुभभाव करना, कराना या अनुमोदन करना, आहाहा! कठिन है। पहले कुछ न कुछ हल्का हो, शास्त्र अभ्यास करे, फिर उसमें से (करे)... यह सब यह करे तो सब वह कहने में आता है। वस्तु यह है।

चैतन्य सत्ता भगवान पूर्णानन्द का नाथ, पूर्ण परमेश्वर का सीधे अवलम्बन लेना। आहाहा! अवलम्बन लेकर उसमें स्थिर होना, जानपना भले कम हो। आहाहा! परन्तु चीज़, मूल चीज़ को मूल निधान, आत्मनिधान वस्तु को... आहाहा! जानकर, उसे अवलम्ब कर, उसमें स्थिर होना। यहाँ कहते हैं, जो मैंने अभी तक मन, वचन, काया से

कुछ दुष्कृत हो, (वे) मिथ्या हो। **(कर्म करना, कराना और अन्य करनेवाले का अनुमोदन करना, वह संसार का बीज है,...)** संसार का बीज है। आहाहा! चाहे तो राग शुभ करे तो वह संसार का बीज है, चाहे तो शुभभाव करावे तो वह संसार का बीज है। करते हुए को भला जाने तो वह संसार का बीज है। ऐसी बात है, हरिभाई! यहाँ तो हरि रखने की बात है सब। आहाहा! आवे तो विकल्प आवे, वह अलग वस्तु है, परन्तु करने का तो यह है। आहाहा!

यह मेरा दुष्कृत... फिर भाषा ऐसी है। आत्मा में-मुझमें यह है, ऐसा तो है नहीं अन्दर। पर्याय में जो इस प्रकार के मन, वचन और काया से करना, कराना, अनुमोदना पुण्य-पाप के भाव हुए हों, वे मिथ्या हों। मेरा दुष्कृत। यह शुभभाव अर्थात् दुष्कृत। यह शुभभाव अर्थात् दुष्कृत दोनों, दोनों में कुछ अन्तर इसमें नहीं रखा। आहाहा! यहाँ पहुँचना। अन्त में यह पहुँचे बिना इसके भव का अन्त नहीं है। भव का अन्त... आहाहा!

एक भव में दु:खी का पार नहीं होता। आहाहा! तो ऐसे तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भव हैं, उनका अन्त लाना हो तो एक ही उपाय है। चैतन्य महाप्रभु अन्तर में अनन्त आनन्द का सागर, उसका अवलम्बन लेकर यह मेरा दुष्कृत है, वह मिथ्या हो। क्योंकि यह संसार का बीज है, ऐसा जानकर **उस दुष्कृत्य के प्रति हेयबुद्धि आई...** शुभाशुभ आया न शामिल? आहाहा! दुष्कृत के प्रति हेयबुद्धि आयी। जो छूट सकता है, उस सबके ऊपर हेयबुद्धि आयी। शुभभाव भी छूट सकता है, वह कहीं आत्मा का नहीं है, वह संसार है। शुभभाव भी संसार, घोर संसार है। उसकी मिठास मिथ्यात्व है। आहाहा! शुभभाव की मिठास आवे, ठीक लगे, अशुभ की अपेक्षा वह ठीक (है, ऐसा लगे, वह) मिथ्यात्व है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, इन सबके लिये दुष्कृत है, उसे मैं छोड़ता हूँ। आहाहा! यह सब **संसार का बीज है, यह जानकर उस दुष्कृत्य के प्रति हेयबुद्धि आई...** शुभ-अशुभभाव के प्रति मन, वचन, काया से करना, कराना, अनुमोदन से हेयबुद्धि आयी। आहाहा! देखा? वाणी से मैंने बहुत काम लिये हैं, देह से बहुत धर्म के काम किये हैं, धर्म के सहायता के मन्दिर बनाये हैं, उपाश्रय बनाये और ऐसे जोड़े, बहुत मेहनत की, मन से भी

वहाँ मैं बहुत रूका। यह सब खोटा है। आहाहा! अरे! परन्तु यह करता न हो और एक ओर बैठकर अनुमोदन करे कि ठीक है, तो भी कहते हैं, वह दुष्कृत है। वहाँ करता न हो, जैसे कराने में पड़ता न हो, दूर रहकर अनुमोदन करे कि यह ठीक है, यह ठीक है। आहाहा!

वह संसार का बीज है, यह जानकर उस दुष्कृत्य के प्रति हेयबुद्धि आई, तब जीव ने उसके प्रति का ममत्व छोड़ा,... हेयबुद्धि आवे, तब उसकी ममता छोड़े। छोड़नेयोग्य आवे तो उसे छोड़े परन्तु आदरणीय आये, उसे कैसे छोड़े? आहाहा! पहले मान्यता में ही घोटाला, कहते हैं। जिसे छोड़नेयोग्य है, जिसे माननेयोग्य है, ऐसा माने तो छोड़े कैसे? आहाहा! करनेयोग्य है, ऐसा माने तो छोड़े कैसे? शुभभाव भी करनेयोग्य है, ऐसा माने तो छोड़े कैसे? आहाहा! अन्तर एक आत्मा निर्विकल्प चैतन्य सत्ता के अवलम्बन के अतिरिक्त समस्त दुष्कृत है, वह त्याज्य है। आहाहा!

कठिन काम है। उसमें मुम्बई जैसी नगरी, पूरे दिन तुम्हारे होली सुलगती हो। आहाहा! यह सर्वत्र बाहर बाजार में बसें और मोटरें आती है न? वह मोटर नहीं? ऊपर के यन्त्र, यन्त्र क्या, ऊपर के तार, बिजली के तार से चलती है न? ट्राम। बिजली के तार से चलती है। इलैक्ट्रिक से ऊपर के तार से (चलती है)। आहाहा! उसमें किसी भी काम में यह सुविधा हुई, अपने दो-पाँच कोस, दस कोस जाना हो, वह चलकर जाने की अपेक्षा इसमें समय नहीं लगे, वह ठीक। वह कोई यहाँ ठीक-बीक नहीं है, कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो मन, वचन और काया यह करना, कराना जो कुछ क्रिया है, सब प्रतिज्ञा करनेयोग्य है, त्याग करनेयोग्य है। आहाहा! अपना काम सरल पड़े। प्लेन में जाए तो, वैसे जाए (तो) चौबीस घण्टे लगे, ऐसे जाए तो छह घण्टे लगे। ठेठ लो न, अफ्रीका, छह घण्टे, सात घण्टे। लो! और ऐसे जाए तो रेल में पार न आवे। किसे कहना अच्छा? आहाहा! पहले तो यह पूरा शून्य लगा, कहते हैं। तेरे आत्मा के अतिरिक्त जो कोई चीज़ है, वह सब छोड़ने योग्य है। आहाहा! ऐसा श्रद्धा में तो पहले निर्णय कर। नहीं तो आगे चल नहीं सकेगा। आहाहा! यदि श्रद्धा में कहीं गड़बड़ किया, कहीं भी यह ठीक है, कोई चीज़ यह ठीक है, यह अमुक ठीक है (तो आगे नहीं बढ़ा जा सकेगा)। आहाहा!

मुमुक्षु : छोड़ने की प्रतिज्ञा शुभभाव है या वीतरागभाव है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो प्रतिज्ञा करे तो है विकल्प, परन्तु छोड़नेयोग्य है। फिर छूटने का। प्रतिज्ञा शब्द के समय विकल्प हो, परन्तु अन्तर से उसका निषेध है। आहाहा!

टीकाकार कहते हैं। ऐसी टीका! आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य की टीका वह कोई गजब की टीका है! यह करके कहते हैं, मैं मेरे ज्ञानस्वरूप में था, तो होने के काल में हो गयी है, मैंने किया नहीं है। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य की टीका इस भरतक्षेत्र में अभी... ओहोहो! ऐसी समयसार की टीका। यों तो यह नियमसार की टीका अलौकिक टीका! भाई! पद्मप्रभमलधारिदेव मर गये, मर गये, जीते जी मर गये। उन्हें कहीं बाहर में नहीं है। यह करते हो न? तुम देखते हो, करते हो। हम कुछ नहीं करते। आहाहा!

उस दुष्कृत्य के प्रति हेयबुद्धि आई, तब जीव ने उसके प्रति का ममत्व छोड़ा, यही उसका मिथ्या करना है)। लो! ममत्व छोड़ा न, यही मिथ्या करना है। फिर बहुत अधिक बोल हैं, फिर बोल हैं। फिर मैंने किया, कराया और करता हो, उसका अनुमोदन करना, मन से, वचन से काया बाकी रखी। पहले ३३वाँ अंक रखा, फिर ३२ का। ३३ का अर्थात् मन, वचन और काया आदि। पश्चात् काया छोड़ डाली, इसलिए ३२। ऐसे सब बोल लिये हैं। मन से, काया से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। मैंने किया, कराया और अन्य करता हो, उसका अनुमोदन किया, वचन से, काया से, मन निकाल डाला। वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। ऐसे सब बोल ले लेना। आहाहा! यह ठेठ ले लिया।

यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। पृष्ठ ५५७। सब बोल ४९ निकाल डाले। **जो मैंने (पूर्व में) किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैंने (पूर्व में) अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काया से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।**

(इन ४९ भंगों के भीतर,...) ५५७ पृष्ठ। **पहले भंग में कृत, कारित, अनुमोदना- ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय-ये तीन लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इस एक भंग को '३३' की समस्या दी...** ३३ संज्ञा दी। मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदन, ऐसे **संज्ञा से-पहिचाना जा सकता है। २ से ४ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाए हैं।** एक-एक छोड़कर। **इस प्रकार बने हुए इन तीनों भंगों को '३२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता**

है। ५ से ७ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन तीनों भंगों को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाए हैं। इन तीनों भंगों को '२३' की संज्ञावाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। ११ से १९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '२२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना... यह जानने की बात है। जरा सूक्ष्म पड़ी।

काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '२१' की संज्ञावाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीनों भंगों को '१३' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ३२ से ४० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '१२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से एक-एक लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है। इन नौ भंगों को '११' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है।

अब, इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं- यह तो एक बतलाया, ४९ भंग बतलाये। क्योंकि सब जीव ४९ एक ही भंग में उसे नव कोटि से कर सकते नहीं। मन, वचन और काया, कृत, कारित, अनुमोदन, सब ही नहीं कर सके तो उसमें से कोई भी भंग से करे, त्याग करे इसलिए ४९ भंग लिये हैं। किसी भी प्रकार से करे और कराने की बन्दी करे तो भी कर सके। पाप करे स्वयं परन्तु कराने की प्रतिज्ञा, यह भी एक भंग है। यह सब गहरे भंग हैं। समझ में आया? अनेक प्रकार के छोड़ने की (पद्धति है)। छद्मस्थ है, इसलिए छोड़ने की रीति के भंग अलग-अलग हैं। बाकी अन्त में अन्त ३३ अर्थात् मन, वचन और काया तीन अनुमोदन है, तीन-तीन हुए, नौ छोड़े ही छुटकारा है। तब उसे आत्मा की प्राप्ति होती है। ऐसा है। आहाहा! इसका कलश २२६।

कलश - २२६

(आर्या)

मोहाद्यदह-मकार्षं समस्त-मपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।२२६।।

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः।

न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्त-मप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।५। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।६। न करोमि, न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।७।

न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनु-जानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करोमि, न कारयामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च वाचा चेति।१३। न करोमि, न कारयामि, मनसा च कायेन चेति।१४।

न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करोमि, न कारयामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा च कायेन चेति।१९। न करोमि, न कारयामि, मनसा चेति।२०। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२१।

न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, मनसा चेति।२२। न करोमि, न कारयामि, वाचा चेति।२३। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२४। न कारयामि,

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, वाचा चेति।२५। न करोमि, न कारयामि, कायेन चेति।२६। न करोमि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२७। न कारयामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि, कायेन चेति।२८।

न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न करोमि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करोमि मनसा च कायेन चेति।३५।

न कारयामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति।३७। न करोमि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करोमि मनसा चेति।४१। न कारयामि मनसा चेति।४२।

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति।४३। न करोमि वाचा चेति।४४। न कारयामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति।४६। न करोमि कायेन चेति।४७। न कारयामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति।४९।

अब, इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं–

श्लोकार्थ : [यद् अहम् मोहात् अकार्षम्] मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किये हैं, [तत् समस्तम् अपि कर्म प्रतिक्रम्य] उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके [निष्कर्मणि चैतन्य–आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (–निज से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करता है)।

भावार्थ : भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इस प्रकार है–जैसे, किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा; उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था, वह नहीं कमाने के समान ही है; इसी प्रकार, जीव ने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर

उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था, वह नहीं बाँधने के समान मिथ्या ही है।।२२६।।

कलश - २२६ पर प्रवचन

मोहाद्यदह-मकार्षं समस्त-मपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२६।।

'यद् अहम् मोहात् अकार्षम्' मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किये हैं,... आहाहा! आत्मा की साक्षी से करता है, हों! भाषा अकेली नहीं। आहाहा! **उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके...** आहाहा! जो कुछ मैंने मन, वचन और काया से अभी तक किया, कराया और अनुमोदन किया, वे सर्व कर्म किये, उन्हें छोड़कर, **'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते'** आहाहा! **मैं निष्कर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** है न? **'चैतन्य-आत्मनि'** अर्थात् **चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही...** आहाहा! अपने स्वभाव में स्वभाव से। विभाव और विकल्प का वहाँ अवकाश नहीं है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप आत्मा, भाषा ली है न? **'चैतन्य-आत्मनि'** आत्मा कैसा? कि चैतन्यस्वरूप। वह तो जाननस्वभाव आत्मा है। करना, कराना उसमें कुछ है नहीं। जानन... जानन... जानन... ज्ञाता-दृष्टा उसका स्वभाव है। त्रिकाल जानना-देखना ऐसा स्वभाव है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (-निज से ही)... अर्थात् स्वभाव से ही। ज्ञान को ज्ञान से ही, शुद्धता को शुद्धता से ही, पवित्रता को पवित्रता से ही। आहाहा! **निरन्तर वर्त रहा हूँ...** आहाहा! चारित्रदशा है न? आहाहा! चारित्र ऐसा महँगा, उसको बना दिया सस्ता। आहाहा! चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से वर्तता हूँ, अपने शुद्ध स्वभाव से वर्तता हूँ, यह चारित्र है। चारित्र कोई बाहर की क्रिया नहीं है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से अर्थात् चैतन्यस्वभाव से ही, अपने से निरन्तर वर्तता हूँ, यह निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा!

टीका करते-करते करनेवाले भी ऐसा कहते हैं, मैं निरन्तर वर्तता हूँ। आहाहा! विकल्प आता है, तथापि यहाँ गिनती नहीं है, आदर नहीं है। आहाहा! वीतरागमार्ग, भाई! सूक्ष्म है। लोगों ने माना है, ऐसा मार्ग नहीं है। सम्प्रदाय में चलता है, (वह) पूरी लाईन ही अलग है। यह मार्ग ही पूरा अलग है। आहाहा! यहाँ तो मन, वचन, काया से कोई अच्छा काम किया हो—शुभ, सदाचार तो भी कहते हैं कि दुष्कृत है। दुनिया जिसे सदाचार कहे, बाहर की क्रिया सदाचार सेवन करे, उसे यहाँ दुष्कृत कहते हैं।

सदाचार तो सत् अर्थात् एक चैतन्यप्रभु, उसे सभी क्रिया के विकल्प से रहित होकर अन्दर स्थिर हो, उसके अवलम्बन से उसे सदाचार कहते हैं। आहाहा! यह सदाचार, सत् आचार। क्रिया की, चारित्र की बात है न? सत् चारित्र। ज्ञानस्वरूपी भगवान आनन्दमूर्ति, उसमें रमणता, सदाचरण की स्थिरता, वह चारित्र है। बाकी चारित्र की कोई व्याख्या बाहर की क्रिया से नहीं है। आहाहा!

(समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (-निज से ही)... विकल्प का भी जहाँ अवकाश नहीं, शुभराग का भी जहाँ आश्रय नहीं। **निरन्तर वर्त रहा हूँ (इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करता है)।** आहाहा! अन्तिम बात है न आखिर की? अन्त में धर्मात्मा जब मोक्ष की तैयारी हुई, चारित्र अंगीकार करे, तब यह दशा होती है। आहाहा! चारित्र (अर्थात्) कहीं वस्त्र बदल डाले, नग्नपना कर डाला, इसलिए चारित्र हो गया, पंच महाव्रत पालन किये; इसलिए चारित्र हो गया—ऐसा नहीं है। यह महाव्रत भी दुष्कृत है। आहाहा!

जो मैंने अभी तक किया शुभ या अशुभ, कराया या करते हुए को भला जाना। आहाहा! सबसे रहित **चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही...** ऐसा है न? पाठ में है न? **'आत्मनि आत्मनि आत्मना, चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते' आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ...** आहाहा! पहले उसका ज्ञान तो करे। सच्चा ज्ञान क्या है, सत्य क्या है और सत्य का पन्थ और पद्धति क्या है। आड़ी-टेढ़ी कल्पना से माने, इससे कहीं सत् हाथ नहीं आयेगा। आहाहा! इससे उसे सत्समागम द्वारा उसका ज्ञान तो करना पड़े। जैसा स्वरूप है, उस प्रकार से उसे जानने का काम तो इसे करना पड़े। तथापि यह विकल्प और परसन्मुख का ज्ञान भी यहाँ तो छोड़नेयोग्य है। आहाहा!

यहाँ तो चैतन्य को अवलम्ब कर ज्ञान हो, वह ज्ञान। जिसमें खान पड़ी है, चैतन्य की खान है, आनन्द का सागर है। आहाहा! शुद्धता का वह तो बड़ा भण्डार है, भगवान शुद्धता का भण्डार है। अरूपी, क्षेत्र छोटा, इससे उसकी महत्ता कहीं छोटी नहीं है। आहाहा! एक निगोद का शरीर, निगोद के जीव का एक शरीर। राई जितने में असंख्य शरीर और एक शरीर में अनन्त जीव, तथापि वह चैतन्यद्रव्य है, उसकी महिमा का पार नहीं होता। यहाँ क्षेत्र की विशालता का काम नहीं है। आहाहा! वहाँ अनन्त भगवान है। राई जितने टुकड़े में, लहसुन के टुकड़े में असंख्य शरीर हैं। एक-एक शरीर में अनन्त... अनन्त... अनन्त... जीव हैं, गुण हैं। ऐसे अनन्त-अनन्त गुण के धारक में कुछ कमी, कुछ न्यूनता है नहीं। भले क्षेत्र से मनुष्य बड़ा हो और निगोद में जाए अक्षर के अनन्तवें (भाग में जाए) तथापि वस्तु तो ऐसी की ऐसी अखण्डानन्द सत्ता ऐसी की ऐसी है। उसे प्राप्त करने के लिये कहते हैं, मैं निरन्तर वर्तता हूँ।

भावार्थ – भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे,... आहाहा! निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा, कुछ भी विकल्प है कि आहाहा! यह टीका की है, यहाँ कहते हैं यह तो पुद्गल से बन गयी है। परमाणु की पर्याय उस काल में होनी थी, हुई है; मैंने नहीं की है, मैं वह नहीं हूँ। आहाहा! मैंने किया, ऐसा कोई विकल्प आया हो तो मैं दुष्कृत के कारण छोड़ देता हूँ। आहाहा! चैतन्य वीतरागी मूर्ति प्रभु! यह आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही अन्तर्लीन होता है। आहाहा! यह चारित्र है, मोक्ष का मार्ग यह है। सुनना कठिन पड़े। आहाहा! मार्ग का पूरा अन्तर है।

किसी काम में, धर्म के काम में कोई शुभभाव किया हो, वह भी यहाँ तो दुष्कृत है। क्योंकि बन्ध का कारण है। वह शुभभाव भी घोर संसार है। आहाहा! भारी कठिन काम। अच्छे धर्म काम में हमने थोड़ा समय दिया, ऐसा है, वैसे है, जिन्दगी बितायी तो हमारा अवतार सफल (हुआ)। दूसरे महिमा करे कि इसने तो ऐसे काम किये हैं। यह देशना, अमुक के, अमुक के, सेवा की है पूरी जिन्दगी। अरे! प्रभु! उसमें क्या है वह? सेवा की है या आत्मा की यह असेवा की है? पर की सेवा अर्थात् स्व की असेवा। आहाहा! अरर! ऐसी बात।

भावार्थ – भूतकाल में किये गये कर्म को... कार्य शुभाशुभ ४९ **भंगपूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे,...** आहाहा! **इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इस प्रकार है–** मिच्छामि दुक्कडम् जैसे कहा जाता है, वह मिच्छा अर्थात् मिच्छा दुष्कृत, मिच्छामि दुक्कडम् दुष्कृत। मिच्छामि—मेरा कहा हुआ झूठा दुष्कृत। वह झूठ होओ। आहाहा! यह तो मर जाने की बात है। जीते-जी किसी का काम कर सके, कराना, करना, अनुमोदन कुछ नहीं। आहाहा! धर्म के काम यह मन्दिर और यात्रा के काम, वे भी कुछ नहीं। आत्मा में है ही नहीं ऐसा कुछ। आहाहा! लोगों को कठिन लगता है। भाई!

इसकी यह विधि है। 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इस प्रकार है–जैसे, किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा;... इस लक्ष्मी का, **उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था, वह नहीं कमाने के समान ही है;...** आहाहा! **इसी प्रकार, जीव ने पहले कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर...** आहाहा! **उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था, वह नहीं बाँधने के समान मिथ्या ही है।** आहा! **इस प्रकार प्रतिक्रमण–कल्प (अर्थात् प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ।** प्रतिक्रमण की (विधि)। दूसरी चलेगी। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३३, श्लोक-२२६-२२८, सोमवार, आषाढ़ शुक्ल १२
दिनांक - १४-०७-१९८०

समयसार, इसमें प्रतिक्रमण का अधिकार चल गया है। पहले अधिकार में प्रतिक्रमण का पहला अधिकार लिया और प्रत्याख्यान का दूसरा लिया। पहले गाथाएँ आ गयी हैं। और बाद में आलोचना ली है। क्योंकि करना है न, इसलिए वर्तमान ऐसा कि प्रतिक्रमण, भविष्य का भी मुझे करना नहीं और वर्तमान में करना नहीं, ऐसा। इस प्रकार से लिया। समझ में आया? पहले पाठ में पाठ ऐसा लिया, पाठ और टीका, है न इसमें? वह है। गाथाएँ हैं, गाथाएँ। ३८३-३८४।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुह-मणेय-वित्थर-विसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।३८३।।
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झदि भविस्सं।
तत्तो णियत्तदे जो सो पच्चक्खाणं हवदि चेदा।।३८४।।

भविष्य लिया। पहले भूतकाल लिया, पश्चात् भविष्य लिया और फिर पहला वर्तमान लिया क्योंकि वह तो मात्र मुझे करना नहीं, भविष्य का करना नहीं। अभी यहाँ है, वह वर्तमान में ही मुझे करना नहीं, ऐसा। भाई! उसमें ऐसा कि वर्तमान में मुझे करना नहीं और भविष्य में मुझे करना नहीं। इसलिए पहले तीन गाथाएँ ऐसी आयी और यहाँ तो मुझे भूतकाल का किया हुआ हो, वह निष्फल जाओ, वर्तमान में मुझे करना नहीं, भविष्य में मुझे कुछ करना नहीं। ऐसी शैली ली है। इसलिए प्रतिक्रमण के बाद आलोचना ली है। है?

(अब टीका में आलोचनाकल्प कहते हैं–) (पृष्ठ) ५५९ है इसमें। क्या कहा समझ में आया? गत काल की तीन गाथाएँ ऐसी ली कि भूतकाल का कुछ भी किया हो तो मेरे निष्फल जाओ, मैं तो आत्मा हूँ, यह आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मा, ऐसा आया था न? चैतन्यस्वरूप आत्मा, आत्मा के अन्दर मुझे एकाग्र होना। भूतकाल के कर्म भी नहीं, भविष्य में भी नहीं, भविष्य का परिणाम तो यही है, एक ही है, वह के वही इस परिणाम

में भविष्य का करना नहीं है और उस परिणाम में वर्तमान करना नहीं है, ऐसा लिया। और उसमें भूतकाल की आलोचना की, अब वर्तमान की करते हैं, भविष्य की बाद में करेंगे। पहली गाथाएँ दूसरी गयी, वह गाथा ऐसी बदलते हैं, बदलते हैं। आलोचना।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ,... आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा परमज्ञायकभावस्वरूप वह मैं हूँ—धर्मी ऐसा जानता है। लाख बात की बात और बारह अंग का सार बारम्बार सब चाहे जितना करना, किया और कहा, वह आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप ध्रुव जो चैतन्य परमानन्द की मूर्ति है, उसमें जाना, स्थिर होना-यह करना है। बाकी सब बातें बहुत प्रकार की कथनशैली आती है। आहाहा! पाप हो, पाप भी लगे परन्तु उसे फिर से जाना है कहाँ?—अन्दर में। चैतन्यस्वरूप ज्ञायकभाव, शुद्ध चैतन्यघन, आनन्दकन्द में वर्तमान में मैंने किया हो, उसका यहाँ अभी यह चलता है। भूतकाल में कुछ किया हो तो भी मिच्छामि। अर्थात् वह मेरा स्वरूप ही नहीं है, मेरे स्वरूप में वह राग करना या राग छोड़ना, वह मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

यह चैतन्यस्वरूप ज्ञान और आनन्द का सागर, ध्रुवस्वरूप में भूतकाल का किया हुआ मैंने किया नहीं, उसे मैंने किया नहीं, वह हो गया पर्याय में परन्तु वह मेरा कर्तव्य नहीं। तथा आलोचना—वर्तमान में कर्म करता नहीं। आहाहा! कर्म शद्बद से शुभ-अशुभभाव। आहाहा! शुभ-अशुभभाव मैं करता नहीं क्योंकि वह मेरा स्वरूप नहीं। मैं तो चैतन्य गोला आनन्द का कन्द पंचम पारिणामिकस्वभावभाव, उसमें यह वर्तमान में राग करना, यह वस्तु में नहीं है। आहाहा!

तथापि यहाँ कहा कि **मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ,..** शब्द हैं बोले परन्तु भाव सूक्ष्म हैं जरा। आहाहा! अर्थात् कि मुझमें यह करना, यह मेरे स्वरूप में ही नहीं है। करता नहीं अर्थात्? आहाहा! मैं वर्तमान राग को करता नहीं अर्थात् कि मेरे स्वरूप में वह है ही नहीं। इसलिए करता नहीं और छोड़ता हूँ, यह पर्याय के व्यवहार का कथन है। आहाहा! ऐसी बात सूक्ष्म, लो!

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से। नवकोटि से। तीन-तीन आये न पहले? मन, वचन और काया

के तीन (तथा) भूत, भविष्य और वर्तमान के तीन (ऐसे) नौ। फिर तीन और दो और तीन और एक और दो और एक और तीन और दो और दो और दो और दो और एक और एक और तीन और एक और दो और एक और एक—यह सब भंग जाल। आहाहा! योगफल तो मुख्य यह।

मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, ध्रुव हूँ, अविचल चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ, उसमें दूसरी कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती। आहाहा! मेरा स्वभाव राग को करूँ, यह है ही नहीं। आहाहा! तथापि राग हुआ हो तो अब करता नहीं, ऐसा कहते हैं। ऐसा कहा न? करता नहीं, ऐसा कहा न? आहाहा! दूसरे से कराता नहीं। मेरा स्वरूप ही ऐसा नहीं है। मैं दूसरे से कुछ कराऊँ, ऐसा स्वरूप ही नहीं है। मैं तो ज्ञानस्वरूप, परम आनन्दस्वरूप, पंचम भाव, सर्वांग आनन्द से भरपूर भगवान, वह मैं क्या करूँ? राग के विकल्प को क्या करूँ? आहाहा! और क्या कराऊँ? और करता को अनुमोदन करूँ, यह वस्तु मुझमें है नहीं। परन्तु व्यवहार से यह समझाते हैं। आहाहा! समझ में आया? पश्चात् दूसरे सब भंग।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ,... तीन परन्तु **मन से तथा वचन से।** अब काया निकाल दी। इसलिए तीन और दो, इस प्रकार सब भंग लेना, सब भंग इस प्रकार लेना। ठेठ।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं– सभी भंग, एक भी भंग स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! पर को करना और छोड़ना, यह तो मेरे स्वरूप में नहीं। इसकी बात है न यहाँ तो? जिसने स्वरूप को जाना है, वह जाननेवाला ऐसा कहता है कि मेरे स्वरूप में यह नहीं है। आहाहा! मैं राग को छोड़ूँ, यह भी मेरे स्वरूप में नहीं है। मैंने राग कब ग्रहण किया है कि मैं छोड़ूँ? आहाहा! तथा वह वस्तु ऐसी चीज़ है कि मैं तो पर को जानता हूँ, यह व्यवहार है। मेरी मर्यादा छोड़कर, मेरा क्षेत्र और मेरे क्षेत्र का मेरा भाव, उसे छोड़कर मैं कहीं नहीं जाता। आहाहा! इसलिए मैं मुझे ही जानता हूँ, मुझे ही देखता हूँ, मैं पर को करूँ, कराऊँ, अनुमोदन करूँ, यह व्यवहार हुआ हो तो अभी निष्फल करता हूँ। ऐसा वीतराग का मार्ग सम्प्रदाय की रूढ़िवाले को कठिन लगता है। मर्म है, इस श्लोक में मर्म है। आहाहा!

अस्ति—सत्ता—अनन्त गुण की सत्तावाला तत्त्व कि जिसकी अस्ति और मौजूदगी के लिये पर की कोई अपेक्षा नहीं है, पर को करे और करावे—ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। पर्याय में हुआ हो तो उसकी बात छोड़ता हूँ। यह मेरी दृष्टि स्वभाव की है और मैं उसे छोड़ता हूँ। मेरा स्वभाव जो है, वह चैतन्यमूर्ति आनन्दकन्द है। आहाहा! उसके अस्तित्व के स्वीकार में, उससे विरुद्ध भाव को छोड़ता हूँ, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो वह भाव उत्पन्न ही नहीं होता। आहाहा! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। आहाहा! यह ले लेना, सब शब्द ले लेना। अब कलश कहते हैं, कलश। २२७ कलश।

कलश - २२७

(आर्या)

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

इत्यालोचनाकल्प: समाप्त:।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३। न करिष्यामि, न कारयि–ष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।४। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।७।

न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।८। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।९। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा च कायेन चेति।१०। न करिष्यामि, न

कारयिष्यामि, मनसा च वाचा चेति।११। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।१२। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च वाचा चेति।१३। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, मनसा च कायेन चेति।१४।

न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१५। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।१६। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा च कायेन चेति।१७। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१८। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा च कायेन चेति।१९। न करिष्यामि, न कारयि–ष्यामि, मनसा चेति।२०। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा चेति।२१।

न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२२। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, वाचा चेति।२३। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२४। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, वाचा चेति।२५। न करिष्यामि, न कारयिष्यामि, कायेन चेति।२६। न करिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२७। न कारयिष्यामि, न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, कायेन चेति।२८।

न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।२९। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३०। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।३१। न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३२। न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति।३३। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति।३४। न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३५।

न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति।३६। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि, मनसा च कायेन चेति।३७। न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३८। न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति।३९। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति।४०। न करिष्यामि मनसा चेति।४१। न कारयिष्यामि मनसा चेति।४२।

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति।४३। न करिष्यामि वाचा चेति।४४। न कारयिष्यामि वाचा चेति।४५। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति।४६। न करिष्यामि कायेन चेति।४७। न कारयिष्यामि कायेन चेति।४८। न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति।४९।

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं-

श्लोकार्थ : (निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला कहता है कि-) [मोह विलासविजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म] मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म [सकलम् आलोच्य] उस सबकी आलोचना करके (-उन सर्व कर्मों की आलोचना करके) [निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ : वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है, उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है कि-पहले जो कर्म बाँधा था, उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।।२२७।।

इस प्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

(अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि कहते हैं-)

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि-)

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से।१। मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से।२। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से।३। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से।४।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से।५। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से।६। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से।७।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से, वचन से तथा काय से।८। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से।९। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से, वचन से तथा काय से।१०।।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से तथा वचन से।११। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से।१२। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा वचन से।१३। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से तथा काय से।१४। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से।१५। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से तथा काय से।१६। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचन से तथा काय से।१७। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से।१८। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से।१९।

मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, मन से।२०। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से।२१। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, मन से।२२। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, वचन से।२३। मैं न तो करूँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से।२४। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, वचन से।२५। मैं न तो करूँगा, न कराऊँगा, काय से।२६। मैं न तो करूँगा न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से।२७। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा, काय से।२८।

मैं न तो करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।२९। मैं न तो कराऊँगा मन से, वचन से तथा काय से।३०। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से, वचन से तथा काय से।३१।

मैं न तो करूँगा मन से तथा वचन से।३२। मैं न तो कराऊँगा मन से तथा वचन से।३३। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा वचन से।३४। मैं न तो करूँगा मन से तथा काय से।३५। मैं न तो कराऊँगा मन से तथा काय से।३६। मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से तथा काय से।३७। मैं न तो करूँगा वचन से तथा काय से।३८। मैं न तो कराऊँगा वचन से तथा काय से।३९। मैं न तो अन्य करत हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से तथा काय से।४०।

मैं न तो करूँगा मन से।४१। मैं न तो कराऊँगा मन से।४२। मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा मन से।४३। मैं न तो करूँगा वचन से।४४। मैं न तो कराऊँगा वचन से।४५।

मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा वचन से।४६। मैं न तो करूँगा काय से।४७। मैं न तो कराऊँगा काय से।४८। मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूँगा काय से।४९।

(इस प्रकार, प्रतिक्रमण के समान ही प्रत्याख्यान में भी ४९ भंग कहे।)

कलश - २२७ पर प्रवचन

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२७।।

आहाहा! नीचे अर्थ।

(निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला कहता है कि–) आहाहा! निश्चयचारित्र अंगीकार किया, अब उसे क्या करना बाकी रहा? परन्तु व्यवहार से कथन करते हैं। निश्चय स्वरूप है, उसमें जहाँ अन्दर स्थिर हुआ, चरा, विचरा, चरा-विचरा और स्थिर हो गया। आहाहा! बात यह है कि आत्मा कैसा और कितना है, इसकी महिमा अनन्त काल में एक सेकेण्ड भी आयी नहीं। बाकी सब किया परन्तु यह चीज़ क्या है? आहाहा! वह चीज़ राग को छोड़े, ऐसी नहीं। करे, ऐसी तो नहीं परन्तु छोड़े, ऐसा उसमें नहीं है। आहाहा! पहले आ गया है, ३४ गाथा। राग का आत्मा नाश करता है, यह नाममात्र कथन है। परमार्थ से राग का नाश करे, यह आत्मा को लागू नहीं पड़ता। पहले आ गया है, ३४-३५ गाथा में। आहाहा! यह अगम्य-गम्य की बातें हैं। आहाहा!

(निश्चय चारित्र को अंगीकार करनेवाला...) अब निश्चयचारित्र अर्थात् स्वरूप जिसने अंगीकार किया है, वह तो अपने आनन्द में लीन है। यह कहते हैं, **मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान...** अब अभी तो है नहीं। निश्चयचारित्र में लीन है परन्तु पूर्व का था, वह जरा व्यवहार करते हैं। आहाहा! **'मोह विलासविजृम्भितम् इदम् उदयत् कर्म' मोह के विलास से...** मेरे स्वरूप के विलास से नहीं। मेरा प्रभु तो पूर्णानन्द से भरपूर त्रिकाली अनादि जिसमें एक समय की पर्याय का भी प्रवेश नहीं तो फिर पर्याय में राग हो, उसकी तो बात कहाँ थी? आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे **मोह के विलास से फैला हुआ...** मेरे विलास से फैला हुआ नहीं। आहाहा!

मोह के विलास से फैला हुआ... आहाहा! **जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म...** आलोचना है न? वर्तमान है न? वर्तमान है। प्रतिक्रमण तो भूतकाल, वह अधिकार गया। आहाहा! **मोह के विलास से फैला हुआ...** मेरे आत्मा की पर्याय में फैला हुआ, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! उस मोह के विलास से फैला हुआ। प्रभु! मैं तो चैतन्य... आहाहा! अनाकुल आनन्दकन्द हूँ, उसमें और यह मोह का विलास फैले, यह कोई वस्तु मुझमें तो है नहीं, परन्तु पर्याय में मोह का विलास जो फैलता था... आहाहा! जो इस उदय में, पर्याय में उदय आता था। कर्म अर्थात् राग-द्वेष आदि, वह **'सकलम् आलोच्य' उस सबकी आलोचना करके...** आहाहा! अर्थात् सबको देखकर। आलोचकर अर्थात् दूसरे को सबको जानकर। आहाहा!

आलोच का अर्थ देखना है। जो मोह के विलास से उदयमान जो रागादि थे, उसे मैं जानता हूँ। आलोचता हूँ अर्थात् जानता हूँ। आहाहा! जानने का स्वभाव, वह त्रिकाल है, वही पर्याय में फैलता है। आहाहा! अलौकिक बात है, प्रभु! आहाहा! आत्मा अन्दर अलौकिक चैतन्यमूर्ति है। भले उसका क्षेत्रप्रमाण शरीरप्रमाण है, तथापि उसके स्वभाव की मर्यादा की हद नहीं है, बेहद मर्यादा स्वभाव है। ओहोहो! ऐसा जो भगवान आत्मा... यह कहते हैं कि समस्त यह रागादि जो फैला हुआ था, उसे देखकर। **(सर्व कर्मों की आलोचना करके)...** देखकर, जानकर। आहाहा!

'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते' आहाहा! **मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित)...** आहाहा! शुभाशुभभाव से भी मैं तो रहित हूँ, कर्म तो स्पर्श भी नहीं करते। भगवान आत्मा को कर्म तो छूते ही नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्शता ही नहीं। आहाहा! समयसार की तीसरी गाथा। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्यायरूपी धर्म; धर्म अर्थात् धार रखा हुआ भाव, उसे वह स्पर्श करता नहीं। स्वयं ने धार रखा हुआ अनादि गुण-पर्यायभाव, उसे वह स्पर्श करता है। साथ में रहा हुआ कर्म और दूसरा आत्मा, उसे वह स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! कहो, ऐसा कहाँ दुकान में है ऐसा। आहाहा! यह दुकान अलग प्रकार की है। आहाहा!

क्या प्रभु का कथन? क्या उनकी शैली? वस्तु है पूरी और सब बातें पर्याय की

करनी हैं। आहाहा! वस्तु तो वस्तु है, उसमें-ध्रुव में तो कुछ पलटता भी नहीं, बदलता भी नहीं, पलटता नहीं, सुधरता नहीं, बिगड़ता नहीं। ध्रुव। आहाहा! जो कुछ उसकी पर्याय में होता है, तो कहते हैं ध्रुव मेरा स्वभाव तो यह है, इसे मैं देखता हूँ, जाननेवाला देखता हूँ, जाननेवाले को जानता हूँ। बदल गया वापस। उसे मैं देखता हूँ, ऐसा नहीं। वास्तव में जाननेवाले को जानता हूँ। आहाहा! है ? कैसे ? कि **मैं निष्कर्म (अर्थात् सर्व कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** देखो! आया, स्व आया वापस। पर को आलोच कर, कहा है परन्तु मैं हूँ इसमें ? आहाहा!

आत्मा में—चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में... आहाहा! आत्मा से, मेरे स्वभाव से, मुझमें जो नहीं विकल्प, और उससे तो मैं कर्ता ही नहीं, कहते हैं। जो मेरी चीज़ में नहीं है, उससे मैं वापस मुड़ता हूँ या मैं स्थिर होता हूँ, यह बात ही नहीं है। मेरे **आत्मा में आत्मा से ही (स्वं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** आहाहा! गजब बात है। प्रभु चैतन्यस्वरूप आत्मा, यह भाषा ली है। पहले भी यह आ गया, पहले श्लोक में यह आया। प्रतिक्रमण आया न ? उसमें आया था। चैतन्यस्वरूप, वहाँ भी आया था। देखो! **'यद् अहम् मोहात् अकार्षम्' मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से (भूतकाल में) कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके...** प्रतिक्रमण करके, है ? दो, तीन पृष्ठ पहले। **'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते' मैं तो निष्कर्म आत्मा हूँ।** आहाहा! **'निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि'** निष्कर्मणी तो कर्म का निषेध। तब अस्ति क्या ? अस्ति यह कि **'चैतन्य-आत्मनि'** मैं तो जाननेवाला आत्मा ज्ञातादृष्टा हूँ, बस। मैं तो मुझे जानता हूँ, ऐसा चैतन्य आत्मा हूँ। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (स्वयं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ। ऐसा ज्ञानी अनुभव करे। ऐसा शब्द यहाँ है, देखो! है न ? **'निष्कर्मणि'** निष्कर्म। सर्व कार्य से रहित चैतन्यस्वरूप आत्मा में। वहाँ यह था। आहाहा! भगवान आत्मा चैतन्यस्वरूप है—ऐसा जो आत्मा, उसमें और राग का होना तथा जाना और यह सब पर्याय की बातें, उसे कहते हैं कि मैं मुझे जानता हूँ, उसमें यह सब टल जाता है। आहाहा! मैं मुझे जानता हूँ... आहाहा! आत्मा चैतन्यस्वरूप आत्मा में, आत्मा से, आत्मा में, आत्मा से; विकल्प से और राग से, देव-गुरु-शास्त्र से भी नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही... 'ही' है। वापस एकान्त है, आत्मा से ही। कथंचित् गुरु की कृपा से या परमेश्वर की कृपा से, परमेश्वर की सहायता से, वह मैं नहीं। आहाहा! **आत्मा में आत्मा से ही (स्वयं ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** निरन्तर वर्तने में बिल्कुल दूसरे की सहायता, मदद, आसरा है नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा, उसे छोड़कर सब बातें (करे)। आहाहा!

भावार्थ :– वर्तमान काल में कर्म का उदय आता है,... आलोचना है न वर्तमान? **उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है (अर्थात् जानता है) कि–पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है,...** आहाहा! बाँधा था, वह सब विचार व्यवहार है। आत्मा कर्म बाँधे और आत्मा कर्म छोड़े, यह आत्मा में है ही नहीं। परन्तु यहाँ तो शुभ-अशुभभावकर्म की बात है। शुभ और अशुभभाव मुझमें हुए थे... आहाहा! यह पूर्व में जो शुभ-अशुभ बाँधा था, वह कार्य उदय में आया, वह इसका है। आहाहा! मेरा तो यह कार्य नहीं। आहाहा! भले उसे कर्म बँधे और उसका उदय आया, वह मेरा कार्य नहीं है। आहाहा!

मैं इसका कर्ता नहीं हूँ,... यह राग वर्तमान में आया, इसका मैं करनेवाला, रचनेवाला (नहीं हूँ)। इसका रचनेवाला, बनानेवाला मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं स्वतन्त्र कर्तारूप से कहता हूँ कि मैं उसका कर्ता नहीं हूँ। आहाहा! कर्ता की व्याख्या—स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। मेरे ज्ञान की पर्याय को मैं जानता हुआ स्वतन्त्ररूप से कर्ता, पर का कर्ता मैं बिल्कुल नहीं। आहाहा! अब ऐसी बात कठिन पड़े, फिर लोग (ऐसा कहे) ऐ... सोनगढ़ का एकान्त है, निश्चय है। बापू! जैसा है, वैसा है। आहाहा!

पहले जो कर्म बाँधा था, उसका यह कार्य है, मेरा तो यह कार्य नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ। इसी प्रकार समझाते हैं। ऐसे विकल्प वस्तु में नहीं है। मैं एक ज्ञायक हूँ, ऐसा एक विकल्प भी जिसमें नहीं। आहाहा! पूर्णानन्द का नाथ भरपूर अखण्डानन्द हूँ, ऐसे एक विकल्प की वृत्ति का उत्थान, वह भी उसमें नहीं है, ऐसा यह मैं आत्मा... आहाहा! शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में हूँ। **मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा में हूँ।** आहाहा! है न भावार्थ में?

उसकी दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। मेरी तो दर्शन-ज्ञान प्रवृत्ति है। देखना और जानना,

वह मेरी प्रवृत्ति है। आहाहा! **उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** आहाहा! यह भी व्यवहार है। वास्तव में तो अपने को ही स्वयं जानता है, देखता है। राग के अन्दर कोई तन्मय होकर जानता नहीं। एकमेक होकर जाने तो वह निश्चय कहलाये परन्तु समझाने में क्या आये? **मैं तो शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा हूँ।** आहाहा! **दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** यह व्यवहार से है। क्या हो? सब व्यवहार बिना कथन क्या हो? आहाहा! वीतरागमार्ग है, भाई! सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ एक समय में तीन काल, तीन लोक जिन्हें जानने में आये—ऐसा कहा, वह व्यवहार है। उनकी पर्याय जानी, वहाँ उसमें ज्ञात हो गया। पर्याय पूर्ण हुई, उसे जाना, उसमें तीन लोकालोक ज्ञात हो गये। आहाहा! ऐसे भगवान के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी... आहाहा! वह यह वाणी है।

उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। मैं तो मेरे स्वरूप में ही वर्तता हूँ। मैंने यह राग किया भी नहीं और छोड़ा भी नहीं। आहाहा! राग का मैं कर्ता भी नहीं और छोड़नेवाला भी नहीं। आहाहा! उसका मैं जाननेवाला हूँ—ऐसा कहना है, वह व्यवहार है। यह मेरे **दर्शनज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा...** देखो! **मैं इस उदयागत कर्म को देखने-जाननेवाला हूँ।** आहाहा! भाषा सादी है, कथन सादा है, भाव गम्भीर है। ऐसी भाषा तो अत्यन्त सादी है। आलोचना करे परन्तु बापू! आलोचना अर्थात् क्या? आलोचना का अर्थ देखना-जानना, बस। यह देखे-जाने, यही इसका स्वरूप है। यह स्वयं अपने को देखे और जाने। पर को देखे-जाने, उसमें तन्मय हुए बिना जाने, वह जाना नहीं, (जानता है, ऐसा कहना) वह तो असद्भूतव्यवहारनय का कथन है। आहाहा!

मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। यह पर्याय की बात है, ध्रुव में तो (क्रिया नहीं)। मेरे स्वरूप में ही—ध्रुवस्वरूप में वर्तता हूँ अर्थात् पर्याय में वर्तता हूँ। मेरी निर्मल पर्याय में ही मैं वर्तता हूँ। आहाहा! ध्रुव में तो कहीं वर्तने का है (नहीं)। **मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चयचारित्र है।** आहाहा! यह चारित्र की व्याख्या और यहाँ देखो तो सादी व्याख्या। यह स्त्री-पुत्र छोड़े और दो, पाँच लाख की आमदनीवाली दुकान छोड़ी (तो) बहुत त्यागी हो गया। पर को कब ग्रहण किया था, उसे

त्यागे! पर के त्यागोपादानशून्यत्व है। त्याग और ग्रहण से तो आत्मा प्रभु शून्य है। आहाहा! बहुत तो इसमें पर्याय में रागादि होते हैं, पर्याय में; वस्तु में तो कुछ है नहीं, यह कहते हैं मैं मेरे स्वरूप में रहकर, वह वस्तु छूट जाती है। आहाहा! इसका नाम आलोचना, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कहने में आता है। आहाहा!

इस प्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ। लो!

अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प... तीसरा बोल। पहला प्रतिक्रमण हो गया, आलोचना हो गयी, यह तीसरा ऐसा लिया इसमें। पहले में ऐसा था—पहला प्रतिक्रमण भूतकाल का, भविष्य का प्रत्याख्यान (और) पश्चात् आलोचना। अब इसमें ऐसा आया। आहाहा!

अब टीका में प्रत्याख्यानकल्प अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि कहते हैं–

(प्रत्याख्यान करनेवाला कहता है कि–)

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा,... आहाहा! क्योंकि मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। यह राग भविष्य में हो, यह वस्तु ही कहाँ से आवे? आहाहा! यह मैं करूँगा नहीं, इसका अर्थ यह है। मेरे स्वरूप में वह वस्तु ही नहीं तो मैं करूँगा नहीं, यह व्यवहार। व्यवहार के कथन अकेले सब भरे हैं। और यदि लोग इसे निश्चय मान ले तो लोग बड़ी भूल में जाए। आहाहा! **मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूँगा,...** कर्म अर्थात् रागादि। जड़कर्म की बात नहीं। भविष्य में पुण्य-पाप के भाव करूँगा नहीं।

यह प्रत्याख्यान की व्याख्या। **न कराऊँगा,...** मैं शुभभाव को कराऊँगा नहीं। आहाहा! शुभ को मैं करूँगा नहीं, शुभभाव को कराऊँगा नहीं। आहाहा! मेरे स्वरूप में ही वह नहीं और अन्य कोई कर्ता हो तो उसे अनुमोदन करूँगा नहीं। आहाहा! मैं तो एक जाननेवाला-देखनेवाला सूर्य—चैतन्यसूर्य हूँ। आहाहा! दूसरे का कुछ भी काम करूँ, कराना, अनुमोदना, यह मुझमें कुछ नहीं है। आहाहा! ऐसी चैतन्य की महिमा ही इसे आयी नहीं है।

महाप्रभु दूसरे सबने कहा परन्तु सर्वज्ञ परमात्मा ने जो आत्मा कहा, उसमें भी दिगम्बर मुनि ने जो कहा, वह अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! दूसरे को दुःख लगे। हमको

मिथ्या (सिद्ध करते हैं)। बापू! तुमको दुःख हो, मिथ्या से तुम्हें दुःख होगा, प्रभु! यह दुःख न होने के लिये बात है, भाई! मिथ्या, खोटा, असत्य से वर्तमान दुःख और भविष्य में दुःख है। उस दुःख का वेदन, प्रभु! तुझे न हो। तू ऐसा नहीं, तू तो आनन्दस्वरूप है, प्रभु! आहाहा! तुझे आनन्द में रहने के लिये यह बात है। आहाहा! पश्चात् विशेष सब भंग कहे हैं, पश्चात् सब भंग लेना। उसका कलश २२८ कलश। है?

कलश - २२८

(आर्या)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥२२८॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः।

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैंः-

श्लोकार्थ : (प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-) [भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय] भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (-त्याग) करके, [निरस्त-सम्मोहः निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते] जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं निष्कर्ष (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (-अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ : निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि-समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्ति (अपने) शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।

यहाँ तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिए- व्यवहारचारित्र में तो प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है, उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है। यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं। उन

समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का–तीनों काल के कर्मों का–प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर, केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है। यह, ज्ञानी का कार्य है।।२२८।।

इस प्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ।

कलश - २२८ पर प्रवचन

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्त-सम्मोहः।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते।।२२८।।

नीचे श्लोकार्थ।

(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि–)... आहाहा! प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी जानता है कि यह कहते हैं कि ऐसा कहने में आता है। कहते हैं तो कल आया था। प्रशस्त और अप्रशस्त वचन रचना घोर संसार है। आहाहा! कल दोपहर को आया था। कठिन काम है। वचन जड़ है। वचन, काया और मन तीनों जड़ हैं। प्रभु तो चैतन्य है। वह जड़ को कैसे करे? कहाँ वह नहीं, उसे करे? और करे अर्थात् क्या? वह पर्याय और कामरहित निकम्मी वह चीज़ है? वह निकम्मी अर्थात् पर्यायरहित चीज़ है कि यह आत्मा उसकी पर्याय करे? आहाहा!

प्रत्येक वस्तु अपनी पर्याय के काम से, कार्य से खड़ी है। अनन्त चीज़ें एक समय में अपने कार्यरूपी काम अर्थात् पर्याय; पर्यायरूपी, कामरूपी कर्तव्य में खड़ी है, उसमें दूसरा क्या करे? आहाहा! यह तो कहा था न तीसरी गाथा का! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूमता नहीं, एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता। आत्मा कर्म को स्पर्श नहीं करता, कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते। आहाहा! और वह पर्याय क्रमबद्ध होती है। आहाहा! क्योंकि वस्तु है, वह क्रमसर पर्याय धारावाही जो होनेवाली, वह हुई। तुझसे बदली बदलाये नहीं। दूसरे से हो नहीं,

तुझसे बदली बदलाये नहीं। आहाहा! ऐसा प्रत्येक द्रव्य की पर्याय का स्वभाव है। आहाहा!

यह दूसरे को स्पर्श नहीं करता, यह दूसरे का करे किस प्रकार? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और वह दूसरा द्रव्य उसकी पर्याय रहित नहीं होता, तो उसके काम बिना का निकम्मा वह नहीं होता। काम अर्थात् पर्याय। वह निकम्मा नहीं कि तू उसका काम—उसकी पर्याय करे। आहाहा! पूरे दिन यह काम करते हैं न? हसमुखभाई! दुकान और धन्धे का। यह पैसा दिया और लिया और यह बहियों के नाम और... आहाहा! यह डॉक्टर इंजेक्शन-बिंजेक्शन लगाते नहीं? प्रवीणभाई होशियार कहलाते हैं। इंजेक्शन लो, अमुक लो। अरे... अरे...! आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, मैं करूँगा नहीं, मन से तथा काया से। **(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (-त्याग) करके,...** आहाहा! सादि-अनन्त काल की दशा के राग को छोड़कर। आहाहा! समस्त कर्म को भविष्य का कहा न? भविष्य तो सादि-अनन्त है। उसका कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव वह समस्त। कोई भी, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस भाव को भी मैं करूँगा नहीं। आहाहा! क्योंकि वह भी पर्याय में जो जड़ में कर्म बँधे, तीर्थंकरप्रकृति, वह जिस भाव से बँधी, उस भाव का नाश होने के बाद तो उस प्रकृति का उदय आता है। उसमें इसने क्या किया? आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधा था, उस भाव का नाश होने पर उस प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है। आहाहा! क्या गति? ऐसा बाँधा, इसलिए ऐसा होगा और वैसा होगा। तीर्थंकरप्रकृति बाँधी, इसलिए ऐसा होगा। क्या होगा? सुन न! उसका उदय ही आयेगा तेरहवें (गुणस्थान में)। उसके पहले आयेगा नहीं और होगा क्या तुझमें? आहाहा! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा!

प्रभु! तू चैतन्यस्वरूप है न! देखो न! इसमें लिखा न! समस्त कर्म को प्रत्याख्यान करके। कैसे? '**निरस्त-सम्मोह: निष्कर्मणि चैतन्य-आत्मनि आत्मनि आत्मना नित्यम् वर्ते**' देखो! मैं तो भविष्य के समस्त विकल्पों को छोड़कर। आहाहा! यह सब व्यवहार के कथन हैं। छोड़कर छोड़े क्या? कहाँ इसमें थे, उन्हें छोड़े! आहाहा! व्यवहारनय के इतने

कथन हैं कि उन्हें न समझे तो घोटाला करे ऐसा है। आहाहा! **भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (–त्याग) करके,...** आहाहा! आज के बाद के भविष्य में धर्मी, त्यागी, चारित्रवन्त अन्तर में पर्याय में ऐसा जानता है (कि) भविष्य का कोई भी राग का अंश मैं करूँगा नहीं। आहाहा! प्रभु! भविष्य का सादि-अनन्त काल है न? सादि-अनन्त काल है, परन्तु मैं तो एक समयमात्र भी राग करूँगा नहीं। आहाहा! देखो! यह चारित्र की व्याख्या। अब ऐसा चारित्र। ऐसा न हो तो कहते हैं, यह तो कठिन है, यह तो कठिन है। बापू! कठिन नहीं। यह तेरी चीज़ है, वह कठिन कैसे होगी? तेरी चीज़ ही है, सत्ता है, मौजूदगी है, अस्ति है, सत् है, सत्ता है। दूसरे के अवलम्बन से रहनेवाली नहीं, ऐसी सत्ता के लिये तू क्या करेगा? प्रभु! रहने दे। आहाहा! यह चैतन्यसत्ता किसी की आशा नहीं रखती। यह पर को ग्रहण करना और छोड़ना, यह सब व्यवहार कहने में आता है। राग को, हों! पर को छोड़ना, वह तो आत्मा में गुण ही नहीं है। परमाणु को, स्त्री, पुत्र, पैसे को छोड़ना... उन्हें ग्रहण नहीं किया और छोड़ना नहीं। बहुत तो व्यवहार से राग को छोड़ना— ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

प्रभु चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्द का सागर महासमुद्र, उसे राग को छोड़ेगा... कहते हैं कि प्रत्याख्यान **भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (–त्याग) करके, 'निरस्त सम्मोहः' जिसका मोह नष्ट हो गया है...** भविष्य का हो, वह मोह ही नाश हुआ है, कहते हैं। वर्तमान में यह मोह ही नाश हुआ है। भविष्य में कुछ भी राग होगा (तो भी) यह उसका मोह ही नाश हुआ है। आहाहा! **ऐसा मैं... जिसका मोह नष्ट हो गया है ऐसा मैं...** मोह नष्ट हुआ है, ऐसी खबर पड़ गयी छद्मस्थ को? भगवान को पूछे बिना? आहाहा!

एक वह बाई है न? ज्ञानमती। बहुत महिमा की है। वह बोलती है ऐसा कि अपन भव्य हैं या अभव्य, यह तो भगवान जाने। अररर! प्रभु! प्रभु! अब उसके व्याख्यानों सुनना। भव्य हैं या अभव्य अभी यह निर्णय (नहीं होता)। होगा, अखबार में आया था। दूसरा लब्धि, काललब्धि। भव्य या अभव्य को काललब्धि पकी है या नहीं, यह तो भगवान जाने। आहाहा! अरे रे! कोई पूछनेवाला नहीं मिलता। बनिया होकर भी किसी को कुछ खबर नहीं कि यह इसमें कितनी विपरीतता भरी है। आहाहा! उसके वचन सुनने के

योग्य नहीं। आहाहा! अभी अपना विश्वास हुआ नहीं कि मैं भव्य हूँ और समकिती हूँ। आहाहा! उसके वचनों को ऐसे सुनना... आहाहा! अभव्य हूँ या नहीं, यह खबर नहीं। अररर! अखबार में आया है।

मुमुक्षु : अभव्य को तो सम्यग्दर्शन ही नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भव्य हूँ या अभव्य, इसका विश्वास नहीं, इसका अर्थ अभव्य जैसा ही है। उसका विश्वास क्या? आहाहा! उसके अपने लिये तो कुछ विश्वास नहीं कि मैं ऐसा हूँ।

यहाँ तो कहते हैं, तीन लोक का नाथ, आनन्द का सागर अनन्त गुण का भण्डार... आहाहा! वह मोह को छोड़ता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। यह द्रव्यस्वभाव तो मोह को स्पर्शा भी नहीं है। आहाहा! पर्याय में है, उसे छोड़ा—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! क्योंकि पर्यायमात्र व्यवहार है; द्रव्यमात्र निश्चय है। द्रव्य निश्चय है; पर्याय व्यवहार है। पंचाध्यायी में कथन है, पंचाध्यायी में। पर्याय, वह व्यवहार। प्रत्येक पर्याय, कोई भी, सिद्धपर्याय भी व्यवहार है। एक जीव में संसार और सिद्ध दो भाग करना, यह पर्याय व्यवहार है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **ऐसा मैं निष्कर्ष (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित)...** आहाहा! अब यहाँ शोर-चिल्लाहट करे। अन्तरायकर्म हमारे उदय आवे (तो) हमारे भाई! ऐसा होता है। दर्शनमोह का उदय आवे, चारित्रमोह का उदय आवे। अरे! भाई! पहली पुकार कर कि मुझमें है ही नहीं, यह कर न! आहाहा! यहाँ तो (कहते हैं), इन कर्मों से रहित। आहाहा! **चैतन्यस्वरूप आत्मा...** मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा, जाननेवाला-देखनेवाला वह आत्मा हूँ। आहाहा! गजब बात है, भाई! वीतराग की दिगम्बर सन्तों की वाणी, केवली की वाणी है। दिगम्बर सन्तों की वाणी कहीं है नहीं। किसी स्थान में, किसी जगह, कहीं नहीं है। आहाहा! खोटा लगे, बेचारे को दु:ख लगे। परन्तु यह शैली और यह पद्धति श्वेताम्बर में, स्थानकवासी में नहीं तो अन्यमति में तो होगी किसकी! आहाहा! अलौकिक बात है।

जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मैं निष्कर्ष (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित)... आहाहा! **चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** फिर आत्मा की व्याख्या की, पहले श्लोक में यह

आया—चैतन्यस्वरूप आत्मा, यह तो जानने-देखनेवाला प्रभु है। आहाहा! यह तो चैतन्यस्वरूप आत्मा है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप सूर्य, चैतन्यसूर्य, दीपक आत्मा है। आहाहा! ऐसे **चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही...** ऐसे आत्मा में, आत्मा से अर्थात् राग से नहीं, पुण्य से नहीं, व्यवहार से नहीं। मेरे स्वभाव से ही **(–अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ।** आहाहा! यह चारित्र। यहाँ तो अभी सुनने की गन्ध भी नहीं मिलती, वहाँ चारित्र कहाँ से आ गया? आहाहा! लोगों को दुःख लगे। चारित्र कहलाते हों। प्रभु! दुःख लगे परन्तु इस विपरीत मान्यता में दुःख, बापू! तुझे कठिन पड़ेगा, भाई! तू प्रभु है। तू भी प्रभु है, प्रभु हो। तुझे दुःख हो, यह किसी की भावना नहीं होती। तुझे तेरी श्रद्धा मिथ्या है, ऐसा करके तुझे दुःख हो, ऐसी भावना नहीं होती। आहाहा! दुःख टालकर आनन्दस्वरूप तू हो। आहाहा!

यह तो द्रव्यसंग्रह में आया है, द्रव्यसंग्रह में। जहाँ अवायविचय (का बोल) आया है, वहाँ (लिखा है), मैं अल्पकाल में आठों कर्मों से रहित होनेवाला हूँ, होनेवाला हूँ। सभी आत्माएँ भगवान आठ कर्म से रहित होओ। आहाहा! धर्मी ऐसा विचार करता है। आहाहा! कोई दुःखी हों और कोई विरोध करनेवाले तुम्हें विरुद्ध के फल मिले—यह नहीं, नहीं, नहीं। प्रभु! तुम सुखी होओ। तुम्हें अन्दर में सुख का-आनन्द का कन्द भरा है। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में कथन है, द्रव्यसंग्रह है न? नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती (सिद्धान्तिदेव)। आहाहा! अवायविचय, विपाकविचय, अवायविचय, संस्थानविचय है न? वह है न? अवायविचय में ऐसा कथन टीका है। सब जीव भगवान कर्मरहित हो जाओ। आहाहा!

(समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (–अपने से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ। आहाहा! भगवान को पूछने जाना पड़े कि मैं चारित्रवन्त हूँ? आहाहा! चारित्रवन्त भी स्वयं अपने आत्मा को इस प्रकार से अनुभव करता है कि मैं चारित्रवन्त हूँ। आहाहा! यह कलश पूरा हुआ न? बाद में एक कलश है, वह आयेगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३४, श्लोक-२२८ से २३०, मंगलवार, आषाढ़ शुक्ल ३
दिनांक - १५-०७-१९८०

समयसार, २२८ कलश का भावार्थ है। कलश चल गया है। यहाँ गुजराती में ५६६ पृष्ठ है। **निश्चयचारित्र में...** निश्चयचारित्र अर्थात् आत्मा जो अनन्त गुण पिण्ड स्वरूप है, उसमें स्थिर होना, उसका अनुभव करके स्थिर होना, इसका नाम निश्चयचारित्र है। आहाहा! और वह मोक्ष का कारण है। **निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है...** प्रत्याख्यान अर्थात् पच्चखाण। उसकी रीति, विधान, विधि ऐसी है **कि-समस्त आगामी कर्मों से रहित,...** आहाहा! समस्त कर्मों से। अकेला भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ। चारित्र अधिकार है न? दर्शन-ज्ञान अधिकार पहले आ गये। यह तो पूर्ण अन्तिम अधिकार है। इसलिए (कहते हैं), आगामी कर्म का। जितना समस्त आगामी कर्म। भविष्य में सादि-अनन्त काल में कभी राग या विकल्प करना नहीं, ऐसा वर्तमान में आलोचना में जो आया है कि राग करना नहीं, यही भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवर—आलोचना और भविष्य (में) अब करना नहीं, यह प्रत्याख्यान। अन्तिम अधिकार सूक्ष्म है।

समस्त आगामी कर्मों से रहित,... विकल्पमात्र से रहित। पंच परमेष्ठी की भक्ति या उसका स्मरण, वह भी राग है, निश्चय से वह भी अधर्म है। यहाँ तो निश्चयधर्म की बात है। निश्चय अर्थात् सत्य। परम सत्य चारित्र अर्थात् आत्मस्वरूप आनन्दकन्द प्रभु में लिपट जाना, उसमें एकाकार होना। उसे पहिचानकर, भान करके, प्रतीति करके पश्चात् स्थिर हो जाना, इसका नाम निश्चयचारित्र और मोक्ष का कारण है। आहाहा! **आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप...** इसमें से निवृत्ति परन्तु अन्दर स्वरूप शुद्ध चैतन्य है, उसकी प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग। दया, दान आदि के जो विकल्प हैं, वे सब तो शुभराग हैं, वह तो बन्धन के कारण हैं। वह कोई व्रत या तप नहीं है। आहाहा!

चैतन्य की प्रवृत्ति, आत्मा की प्रवृत्ति शुद्धोपयोग है। आत्मा की प्रवृत्ति शुभ-अशुभ राग नहीं है। आहाहा! क्योंकि भगवान आत्मा के स्वरूप में राग की गन्ध और अंश नहीं है। वह तो पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण स्वरूप पवित्र पिण्ड प्रभु है। उसे **चैतन्य की प्रवृत्तिरूप...** राग की निवृत्तिरूप, भविष्य के पूर्ण राग की निवृत्तिरूप और वर्तमान में चैतन्य की

प्रवृत्तिरूप शुद्धोपयोग, यह शुद्धोपयोग। आहाहा! अब अभी कहते हैं, शुभोपयोग ही होता है। तो इसका अर्थ हुआ, चारित्र भी नहीं और समकित भी नहीं। आहाहा! समाचार-पत्र में आता है। श्रुतसागर है न? शान्तिसागर के पथानुसारी में। उन्हें गद्दी मिली धर्मसागर को न अभी, परन्तु उनके साथ के थे, श्रुतसागर, मेरा पढ़ा हुआ है। वे कहते हैं कि अभी तो शुभयोग ही होता है। अधर्म ही होता है, ऐसा। शुभयोग अर्थात् अधर्म। आहाहा! धर्म अर्थात् शुद्धोपयोग। आहाहा! कठिन काम है। इसे पहले जानना तो पड़ेगा न कि क्या चीज़ है? किस प्रकार होता है निश्चय? और किस प्रकार व्यवहार कहलाता है? उसका इसे ज्ञान नहीं हो तो व्यवहार को निश्चय सिद्ध कर बैठेगा, भटक मरेगा। आहाहा!

चैतन्य की प्रवृत्तिरूप... चैतन्य की प्रवृत्ति तो उसका नाम कहलाता है... आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि चैतन्य की प्रवृत्ति नहीं है, वह तो राग की अचैतन्य की प्रवृत्ति है। आहाहा! **चैतन्य की प्रवृत्तिरूप...** अपने शुद्धोपयोग में वर्तना, वह प्रत्याख्यान। आहाहा! ऐसी तो बात सम्प्रदाय में कभी सुनी नहीं थी। हीराजी महाराज जैसे बेचारे कैसे थे? सब क्रियाकाण्ड बाहर के, व्यवहार, वह (भी) साधारण क्रिया।

वह चैतन्य वस्तु ही विकल्पमात्र से भिन्न पृथक् है और अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण के चैतन्य प्रवृत्ति से भरपूर है। आहाहा! ऐसी चैतन्य जो अनन्त गुण की प्रवृत्ति, वह प्रवृत्ति अन्तर में पर्याय में, वह चारित्र, वह शुद्धोपयोग। आहाहा! कहो, चारित्र की व्याख्या तो ऐसी है। इसका नाम शुद्धोपयोग। दया, दान, व्रत के परिणाम, वह सब तो शुभराग, वह तो अजीवभाव है। आहाहा! अधर्मभाव है। आहाहा! चैतन्य भगवान अन्दर पूर्ण ज्ञान और आनन्द से भरपूर है। ऐसे तो अनन्त-अनन्त गुणों से भरपूर अरूपी है भले, परन्तु वस्तु है, सत्ता है, अस्तित्व है, अनन्त गुण की उसमें मौजूदगी है, ऐसे अनन्त गुण का धनी चेतन है, उसमें प्रवृत्ति (होना) इसका नाम शुद्धोपयोग है, इसका नाम धर्म है। आहाहा!

शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है। इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहा! **इससे ज्ञानी...** धर्मी जीव को, जिसने अपने स्वरूप का अन्तर्मुख होकर भान किया है, ऐसा जो ज्ञानी अर्थात् धर्मी। और कोई कहे कि ज्ञान होवे तो ज्ञानी, धर्मी। वह यहाँ बात नहीं है। यहाँ

तो ज्ञानस्वरूप प्रभु है, उसका ज्ञान (हुआ), उसे यहाँ ज्ञानी कहा जाता है। वह **ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।** आहाहा! अपना भगवान आत्मा अनन्त गुण का निधान, वह प्रत्याख्यान करके उसमें प्रवर्तता है, इसका नाम प्रत्याख्यान है। आहाहा! यहाँ तो बाहर का यह करके बैठे, यह प्रत्याख्यान किया, अमुक किया और हो गया जाओ। नौतमभाई! ऐसा सुना है कभी? यह प्रत्याख्यान (कहलाता है)। बिल्कुल विकल्पमात्र से निवृत्ति और चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में प्रवृत्ति। आहाहा! ऐसे रागादि से नास्ति और स्वभाव से भरपूर भगवान की अस्ति, उस स्वभाव में प्रवृत्ति (होना), उसे प्रत्याख्यान और शुद्धोपयोग कहते हैं। आहाहा! कठिन बात है। वीतराग मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू! और लोगों ने साधारण अन्यमति जैसा कर डाला है। वीतराग मार्ग कहीं है नहीं। आहाहा! दिगम्बर के अतिरिक्त कहीं नहीं है। ऐई! दिगम्बर धर्म के अतिरिक्त कहीं यह बात नहीं है। सर्वत्र खोटी और कल्पना की बातें हैं। आहाहा! वस्तुस्थिति यह है। किसी को दुःख लगे, यह नहीं। बापू! तुम्हारी श्रद्धा विपरीत हो तो छूटने से तुम्हें सुख होगा, दुःख टलेगा, शान्ति मिलेगी, सत्य की शरण मिलेगी। दुःख नहीं लगाओ कि हमारे सम्प्रदाय को ऐसा कहते हैं। प्रभु! ऐसा नहीं होता। सम्प्रदाय, यहाँ सम्प्रदाय है ही नहीं। आत्मा वस्तु जो है, ऐसा कहा न? **चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोग में रहना।** आहाहा! उसमें कहीं कोई दूसरी बाहर की बात आयी नहीं।

मुमुक्षु : धर्म के काम में बाहर की बात कैसी?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे अन्दर धर्म है ही नहीं। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप ऐसा आत्मा... आहाहा! उसे परपदार्थ में से सुखबुद्धि उड़ जाना। आत्मा के अतिरिक्त शुभराग से लेकर चक्रवर्ती और इन्द्र के इन्द्रासनों में से भी सुखबुद्धि उड़ जाना और आत्मा में सुख है, ऐसा होना, तब तो समकित होता है। आहाहा! कहीं सुख नहीं, पैसे में सुख नहीं, अनुकूलता में, स्त्री आदि में या कहीं सुख नहीं। आहाहा! बाहर की इज्जत बड़ी जम जाए और पाँच, पचास लाख रुपये की आमदनी होती हो (तो मानता है कि) हम सुखी हैं। एक व्यक्ति कहता था। नानालालभाई का रिश्तेदार बढवाणवाला कैसा रिश्तेदार? चूड़गर। हमारे रिश्तेदार सुखी हैं, ऐसा यहाँ बहुत वर्ष पहले कहता था।

वह दूसरा चूड़गर, हों! पोपट चूड़गर नहीं, दूसरा चूड़गर। मणिभाई? मणिभाई चूड़गर। कहा, सुखी कहना किसे? हमारे रिश्तेदार सुखी हैं। सुखी कहना किसे? सुखी की व्याख्या क्या? आहाहा! ऐसा का ऐसा मान लेना, बापू! यह बात है कुछ? यह तो वीतराग का मार्ग है। परमेश्वर सर्वज्ञ विराजते हैं, बीस तीर्थंकरों की अस्ति है, लाखों केवली, लाखों केवलियों की अस्ति है। आहाहा! अरे! इस गरीब देश में—यह भरतक्षेत्र एक गरीब देश, जहाँ तीर्थंकरों का विरह, केवलियों का विरह, सन्तों का विरह है, तो भी मार्ग तो यह है। आहाहा!

चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने) शुद्धोपयोग में रहना, सो प्रत्याख्यान है। इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का... भविष्य के समस्त भाव का, पुण्य और पाप दोनों भाव का **प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है।** आहाहा! इसे प्रत्याख्यान कहते हैं। छोटे में छोटा प्रत्याख्यान पाँचवें गुणस्थान में (होता है) उसे भी चैतन्य के स्वरूप में अन्दर वह प्रवृत्ति है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं। भले उस गुणस्थान में रौद्रध्यान भी हो। गुणस्थान निचला है और इसलिए रौद्रध्यान हो, तथापि उसे बन्ध का कारण—दशा जानता है कि यह रौद्रध्यान पाँचवें (गुणस्थान) तक रौद्रध्यान होता है। पश्चात् छठवें में मुनि को आर्तध्यान होता है, रौद्रध्यान नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? तथापि वह रौद्रध्यान होने पर भी पाँचवें गुणस्थान में आंशिक चारित्र होता है। आहाहा! आत्मा का ज्ञान किया है और ज्ञान में आंशिक स्थिर हुआ है, उतना तो चारित्र रौद्रध्यान के समय में भी होता है। रौद्रध्यान की अस्ति के समय भी होता है। आहाहा! मार्ग बहुत कठिन, भाई! लोगों ने कुछ का कुछ कर डाला। इसलिए यह मानो कि एकान्त हो, ऐसा कर डाला। सोनगढ़वालों ने एकान्त कर डाला, एकान्त कर डाला। व्यवहार और निमित्त से होता ही नहीं। नहीं होता, ऐसा होगा? व्यवहार, व्यवहार का बन्ध का काम करता है। निमित्त, निमित्त का—उसकी पर्याय का काम करता है। पर में उसे कहाँ पर के (साथ) सम्बन्ध है? आहाहा!

यहाँ तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिए– दूसरा पैराग्राफ। **यहाँ तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिए– व्यवहारचारित्र में तो प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है, उसका प्रतिक्रमण,...** शुभभाव। व्यवहारचारित्र में जो दोष लगे, उसका प्रतिक्रमण करना, वह तो शुभभाव, राग है। **आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है।** यह तीनों राग होते हैं। व्यवहारचारित्र में प्रतिज्ञा

में—जो दोष लगे, उसका प्रतिक्रमण, उसकी आलोचना अर्थात् देखना, उसका प्रत्याख्यान अर्थात् उसे छोड़ना, यह व्यवहार की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो निश्चयचारित्र का प्रधानरूप से कथन है। आहाहा! निश्चय अर्थात् यथार्थ। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा उसका नाम निश्चय। जैसा स्वरूप है, उससे विरुद्ध, उसका नाम व्यवहार। है अवश्य व्यवहार, परन्तु बन्ध का कारण है; आदरणीय नहीं है। आहाहा! यह वस्तु है। तीनों को व्यवहारचारित्र में, प्रतिज्ञा में जो दोष लगे, उसका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान हो, वह शुभराग है।

निश्चयचारित्र की प्रधानता से... निश्चयचारित्र का मुख्यरूप से। आहाहा! **कथन है, इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म...** आहाहा! शुद्धोपयोग, जिसमें कोई दया, दान और भक्ति का विकल्प भी नहीं, पंच परमेष्ठी के स्मरण का विकल्प / राग भी नहीं... आहाहा! ऐसा जो शुद्धोपयोग। निश्चयनय के कथन में **शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म...** आहाहा! चाहे तो वह दया, दान का भाव हो या भक्ति का भाव हो। सर्व कर्म आत्मा के दोष स्वरूप हैं। व्यवहार दोष स्वरूप हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वहाँ कितनों को तो दरकार भी (नहीं है), पड़ी कहाँ है? ऐसी की ऐसी जिन्दगी पूरी हो जाए और चले जाएें। आहाहा! और कहीं ढ़ोर में अवतार ले। आहाहा! हरिलाल गये लगते हैं। वहाँ शान्तिकर्म करते हैं। यह वह हुआ न मोरबी में? उसकी शान्ति... क्या शान्ति? हो गया उसे क्या करना? किया होगा उन लोगों ने सामनेवालों ने, इसलिए यह लोग करते हैं। आहाहा! सब भ्रमणा है। आहाहा! पानी आया और डूबा, अब उसे क्या करना? उस काल में वह होने का, वह बराबर हुआ है। उसमें अब उनके लिये करना क्या? यह खोटा हुआ है, इसलिए ऐसा कहना?

मुमुक्षु : कुदरत में क्या खोटा होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह खोटा है ही नहीं। उस समय में वह होने का था, वह हुआ है। आहाहा! क्रमबद्ध में उस द्रव्य की पर्याय उस प्रकार से, उस काल में, उस क्षेत्र में, उस प्रकार से, उस रीति से होनेवाली थी, (वह) हुई, अब उसका क्या करना? आहाहा! ऐसा कि कुछ शान्तिकर्म करो। शान्तिकर्म अर्थात् क्या? आहाहा!

यहाँ निश्चयचारित्र में मुख्यरूप से **शुद्धोपयोग से विपरीत...** आत्मा में रागरहित शुद्ध उपयोग जो है; राग है, वह अशुद्ध है, चाहे शुभराग हो, अशुभराग तो पाप ही है परन्तु शुभराग, वह स्वयं निश्चय से तो पाप ही है, अधर्म ही है। शुभ और अशुभराग दोनों अधर्म है, धर्म नहीं। आहाहा! उस **शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं।** आहाहा! अब यह सब करे, करते हों, वह सब दोषस्वरूप है। आत्मा के अन्तर के निर्मलता की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के अतिरिक्त सब दोषस्वरूप है। आहाहा!

आत्मा का शुद्धोपयोग... भगवान आत्मा शुद्धोपयोगस्वरूप ही है, शुद्ध ही है। उसका उपयोग वर्तमान पर्याय में करना। शुद्ध है, वह ध्रुव है, उसका उपयोग—पर्याय में शुद्धोपयोग करना। इसके अतिरिक्त जितना है, वह सब दोषस्वरूप है, अधर्मस्वरूप है। आहाहा! है न? **दोषस्वरूप हैं। उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का...** आहाहा! वह सर्व कर्मचेतना है। कर्मचेतना है, वह ज्ञानचेतना नहीं। दया, दान, भक्ति, व्रत, पंच परमेष्ठी स्मरण... आहाहा! वह सब राग है और रागरूपी कार्य का चेतना, चेतन वहाँ चेतकर रुक जाना। आहाहा! वह तो कर्मचेतना है, वह धर्मचेतना नहीं। आहाहा!

उन समस्त कर्मचेतनास्वरूप परिणामों का–तीनों काल के कर्मों का... तीनों काल के शुभ–अशुभभावों का **प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न...** आहाहा! धर्मी जीव, वह कर्मचेतना अर्थात् राग। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह राग, वह राग भी कर्मचेतना है। आहाहा! गजब मार्ग। वह भी दोषस्वरूप है। आहाहा! कर्मचेतनामात्र दोषस्वरूप है। उससे पृथक् **अपने शुद्धोपयोगरूप...** देखो! उस दोष को अपना नहीं कहा। आहाहा! वह आत्मा के दोषस्वरूप है, ऐसा कहा। आत्मा के दोषस्वरूप है, आत्मा के स्वरूप नहीं। और यह तो **अपने शुद्धोपयोगरूप...** आहाहा!

कर्मचेतना से पृथक्। राग में एकाग्र होना, उससे पृथक् चीज़। उस चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्र होना, ऐसे **अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान–श्रद्धान द्वारा...** आत्मा का ज्ञान, आत्मा का समकित और आत्मा की स्थिरता। आहाहा! भगवान आत्मा का ज्ञान, उसकी श्रद्धा **और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा...** निश्चय की बात। **निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर...** ऐसे शुद्धोपयोग में आकर। आहाहा! **निष्प्रमाद दशा को**

प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर,... शुद्धता की धारा बढ़ाकर। आहाहा! श्रेणी अर्थात् शुद्धता की धारा बढ़ाकर। आहाहा! शुद्धोपयोग की धारा बढ़ाकर, **केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है।** वह केवलज्ञान को प्राप्त करने के सन्मुख होता है।

यह, ज्ञानी का कार्य है। आहाहा! अब ऐसा सम्प्रदाय में सुना न हो। यह क्या है? यह तो नया है, यह तो कुछ दूसरा होगा। बापू! जैनधर्म ऐसा ही है, जैनधर्म। आहाहा! लाखों में किसी को समकित होता है और करोड़ों में किसी को चारित्र होता है। अभी यह काल ऐसा है। आहाहा! ऐसी दशा। चैतन्यस्वरूप भगवान अन्दर है। यह तो सब मिट्टी-धूल है। यह तो ठीक, अन्दर पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव (होते हैं), वे अधर्मस्वरूप हैं। दोनों दोषस्वरूप हैं अर्थात् अधर्मस्वरूप है। आहाहा! उनसे रहित निष्प्रमाद होकर शुद्धता की धारा बढ़ाकर **केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है। यह, ज्ञानी का कार्य है।** लो! आहाहा! धर्मी का कार्य यह है।

इस प्रकार प्रत्याख्यानकल्प समाप्त हुआ। तीनों समाप्त हो गये। प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान तीनों पूरे हो गये।

कलश - २२९

अब समस्त कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन समाप्त करते हुए, कलशरूप काव्य कहते हैं-

(उपजाति)

समस्त-मित्येव-मपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्ध-नयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥२२९॥

श्लोकार्थ : (शुद्धनय का अवलंबन करनेवाला कहता है कि-) [इति एवम्] पूर्वोक्त

प्रकार से [त्रैकालिकं समस्तम् कर्म] तीनों काल के समस्त कर्मों को [अपास्य] दूर करके- छोड़कर, [शुद्धनय-अवलंबी] शुद्धनयावलम्बी (अर्थात् शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला) और [विलीन-मोहः] विलीन मोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है), ऐसा मैं [अथ] अब [विकारैः रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम्] (सर्व) विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का [अवलम्बे] अवलम्बन करता हूँ।।२२९।।

कलश - २२९ पर प्रवचन

अब समस्त कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को... शुभाशुभभाव के संन्यास अर्थात् त्याग। कर्म अर्थात् शुभाशुभभाव। सकल शुभाशुभभाव के संन्यास अर्थात् त्याग की। इसका नाम अन्दर त्याग है। बाहर का त्याग, वह कोई त्याग नहीं है। आहाहा! सकल पुण्य-पाप के त्याग की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन—परिणमने सम्बन्धी **कथन समाप्त करते हुए, कलशरूप काव्य कहते हैं-** २२९।

समस्त-मित्येव-मपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्ध-नयावलम्बी।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे।।२२९।।

श्लोकार्थ : (शुद्धनय का अवलंबन करनेवाला कहता है कि-)... भाषा तो क्या कही जाए? कहते हैं, कहते हैं... और एक तो शुद्धनय का आलम्बन लेनेवाला कहता है। कथन की शैली क्या (करे)? आहाहा! आलम्बन शुद्धनय का है परन्तु वाणी द्वारा कहते हैं। आहाहा! कि **पूर्वोक्त प्रकार से 'त्रैकालिकं समस्तम् कर्म' तीनों काल के समस्त कर्मों को...** आहाहा! मैं तो अकेला चैतन्यस्वरूप ही हूँ, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप वर्तमान अकेला हूँ, तीनों काल के दूसरे कार्यों से मेरी जाति अलग है। आहाहा! मैं अभी ही ऐसा हूँ, भविष्य में भी ऐसा रहूँगा, भूतकाल में भी ऐसा ही था, वर्तमान में भी ऐसा है, भविष्य में भी ऐसा ही शुद्ध चैतन्यमूर्ति ही आत्मा है। आहाहा! **'त्रैकालिकं समस्तम् कर्म अपास्य' 'अपास्य'** अर्थात् छोड़कर। आहाहा!

'शुद्धनय-अवलंबी' शुद्धनयावलम्बी (अर्थात् शुद्धनय का अवलम्बन करनेवाला)... आहाहा! शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है परन्तु ज्ञान के अंश का विषय जो त्रिकाल है, उसे अवलम्ब कर, ऐसा। शुद्धनय को अवलम्ब कर अर्थात् अकेली ज्ञान, ज्ञान। शुद्धनय तो ज्ञान का अंश है, उसे अवलम्बकर अर्थात् उसका विषय आत्मा त्रिकाल है, उसे अवलम्ब कर, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बातें सब। कभी दुकान में हो नहीं, माँ-बाप बैठे (हो परन्तु) ऐसी चर्चा कभी नहीं होती। उपाश्रय में जाए तो ऐसी बात नहीं होती। ऐसी यह बात है। आहाहा! मार्ग अलग है, बापू! वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव का मार्ग अलग है, उनके मार्ग के साथ कहीं किसी के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है। कि दूसरे में कुछ न कुछ है, कुछ है। कुछ नहीं है। एक इसके अतिरिक्त, दिगम्बर सनातन जैनदर्शन के अतिरिक्त दूसरे में कुछ जरा भी आंशिक सत्य नहीं है। यह तो ढिंढ़ोरा पीटकर कहा जाता है। आहाहा! दिगम्बर अर्थात् यथार्थ वस्तु। बाह्य नग्न और अन्तर में विकल्परहित आत्मा, ऐसा जो दिगम्बर धर्म अर्थात् आत्मधर्म। आहाहा! इस बात के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सत्य बात है नहीं।

मुमुक्षु : अन्तर शुद्धि बिना यह बात जँचे, ऐसा नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अन्तर (शुद्धि) करने के लिये कहा न, बापू! अन्तर शुद्धि के लिये तो बापू! यह बात चलती है। आहाहा! तू भगवान है न, प्रभु! आहाहा! तुझे कम कैसे रुचता है? ऐसा कहते हैं। प्रभु! तू पूर्ण है न! है, उसमें तुझे अपूर्ण और अशुद्धता कैसे रुचती है? यह क्या हुआ तुझे? यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान है न। आहाहा! और वहाँ दो-तीन जगह तो ऐसा ही कहा। वहाँ द्रव्यसंग्रह में कहा, सब भगवान होओ। कोई संसारी न रहो। सब आठ कर्म से रहित होओ, प्रभु! क्योंकि प्रभु तेरा स्वरूप ही ऐसा है। जैसा है, वैसा होना, उसमें कहते हैं कि नवीन क्या? आहाहा! ऐसा ही है। अन्दर स्वभाव और शक्ति से वर्तमान भगवान ही है, उसे पर्याय में भगवानरूप से करना, यह करने का है। आहाहा! इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ कर्तव्य नहीं है, धर्म के नाम से दूसरा कुछ नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ **शुद्धनयावलम्बी...** अर्थात् त्रिकाल को अवलम्बन करनेवाला। अर्थात् कि जैसा स्वभाव है—पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्य; अपूर्ण नहीं, अशुद्ध नहीं, पर का संग नहीं—ऐसा

भगवान अन्दर आत्मा देहदेवल में विराजता है। आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा को अवलम्ब कर। आहाहा! **'विलीन-मोहः'** **(अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है)**... उसके अवलम्बन से अन्दर मिथ्यात्व नष्ट होता है। आहाहा! कोई देव-गुरु-धर्म को मानने से भी मिथ्यात्व नष्ट नहीं होता है। आहाहा! क्योंकि वे परद्रव्य हैं और परद्रव्य को मानने में विकल्प—राग ही आता है और राग है, वह निश्चय से तो अधर्म है। आहाहा!

(यहाँ) कहते हैं, **शुद्धनयावलम्बी**... एक परमात्मस्वरूप शक्ति से, स्वभाव से परमात्मा वर्तमान है, भगवानस्वरूप ही है, परमात्मस्वरूप ही है, उसे अवलम्ब कर। आहाहा! **'विलीन-मोहः'** परसन्मुख के मोह का नाश करे। आहाहा! स्वरूप की पूर्णता को अवलम्ब कर, जो चीज़ वस्तु में नहीं, ऐसा पर्याय में मोह—परसन्मुख की सावधानी का नाश कर। आहाहा! स्वरूप में परसन्मुख का सावधानपना कुछ है ही नहीं। मोह का अर्थ सावधान। पर में सावधानी, वह मोह। आहाहा! **'विलीन-मोहः'** परसन्मुख की सावधानी का नाश और स्वसन्मुख की सावधानी की पूर्णता की उत्पत्ति। आहाहा! यह वस्तु। यह तो अब उन्नीसवीं बार चलता है। आहाहा! व्याख्यान में अठारह बार व्याख्यान हो गये हैं, यह तो उन्नीसवीं बार चलता है। यहाँ तो पैंतालीस, सवा पैंतालीस वर्ष हुए। आहाहा! तो भी निन्दा करनेवाले बहुत हैं। एक जैनदर्शन (मासिक) निकलता है। आया था, कल आया है। इन लोगों का लेखन एकान्त है। ये पुस्तकें मन्दिरो में से निकालकर डाल दो। निकाल डालो। अरे! प्रभु! तूने सुना नहीं, भाई! तेरी जाति क्या है? बापू! प्रभु! तू पूर्ण भगवान है न! आहाहा! उसे तुझे न्यून कहते हुए लज्जा नहीं आती? उसे अशुद्ध कहते हुए तुझे ठीक कैसे पड़ता है? आहाहा!

शुद्धनय अवलम्बी। पूर्णानन्द का नाथ भगवान अन्दर विराजता है। अनन्त अमृत का सागर, अनन्त... अनन्त... अनन्त... अमृत, अनन्त... अनन्त... ज्ञान और अनन्त... अनन्त... प्रतीति और अनन्त... अनन्त... प्रभुता। आहाहा! ऐसे अनन्त गुणों की अनन्त प्रभुता से वह भरपूर है। आहाहा! उसकी तुलना में टोंच में कोई मिल नहीं सकता, उसकी उपमा उसे दी जाती है। आहाहा! ऐसी चीज़ है। अरे! उसे सुनने को मिलता नहीं, वह कब विचार करे और कब (अनुभव करे)? वहाँ तो देह पूरी हो जाती है। आहाहा! यह जड़, मिट्टी तो पर की चीज़ है। स्थिति पूरी होकर चली जाएगी।

शुद्धनयावलम्बी... यह अस्ति। '**विलीन-मोहः**' यह नास्ति। त्रिकाली, त्रिकाली चैतन्यस्वरूप पवित्रता का अवलम्बन और पर की ओर का आंशिक भी सावधानी मोह, राग का नाश। आहाहा! **(जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है)**... आहाहा! जिस प्रकार से वस्तु है, उससे अन्यथा मानना, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! अब दुनिया के ऐसे काम हो, उसमें और ऐसा काम करें तो क्या हो? शुभभाव हो। उसमें हो क्या? आहाहा! यह तो दुनिया में क्या नहीं होता? जैन में रहे हुए को खबर नहीं। यह सब मोरबी में पानी का हुआ, उसका अपने कुछ शान्ति का उपाय करो। किसी श्वेताम्बर ने किया होगा। परन्तु कौन शान्ति किसकी? यहाँ शान्ति उपजे (या) शान्ति बाहर (उपजे)? बाहर में हुआ, उसमें से उसे शान्ति करना? आहाहा! भ्रमणा, जैन में भी भ्रमणा का पार नहीं होता। आहाहा! कठिन लगे, भाई! परन्तु क्या हो? प्रभु!

अन्दर चैतन्य निर्मलानन्द, जैसे निर्मल स्फटिक का कन्द और दल, ऐसा निर्मल भगवान अन्दर है, उस अवलम्ब कर स्वसन्मुख के पूर्ण अवलम्बन से परसन्मुख का बिल्कुल मोह और सावधानी को छोड़कर। दो शब्द प्रयोग किये हैं। आहाहा! कहो, रतिभाई! प्रयोग किये हैं दो शब्द परन्तु दोनों में इतना भरा है। एक ओर भगवान शुद्ध पूर्ण का अवलम्बन करके इस ओर का किसी के भी प्रति मोह की सावधानी छोड़कर। किसी के प्रति, अरिहन्त स्वयं कहते हैं कि मेरे प्रति सावधानी छोड़ दे। आहाहा! त्रिलोक के नाथ परमेश्वर स्वयं ऐसा कहते हैं, मेरी वाणी भी तुझे निमित्त है, तू यदि ज्ञान प्रगट करे तो (निमित्त है)। तुझे वाणी से लाभ हो, ऐसा नहीं है; मुझसे तुझे लाभ हो, ऐसा मैं नहीं हूँ, ऐसा तू नहीं है। तुझसे तुझे लाभ हो, ऐसा तू है। आहाहा! ऐसी बातें कितनों ने सुनी नहीं होगी। मानो नया लगता हो। नया नहीं, बापू! अनादि से भगवान का मार्ग अनादि से महाविदेह में तो चलता है। आहाहा! वहाँ तो कभी विरह नहीं पड़ता। तीर्थंकर का विरह पड़े तो केवली हो, मुनि हो परन्तु सदा वहाँ महाविदेहक्षेत्र में तो होते ही हैं। आहाहा!

'**विलीन-मोहः**' **(अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है)**... अपने स्वरूप के अतिरिक्त किसी भी चीज़ के प्रति लाभबुद्धि नष्ट की है, वह '**विलीन-मोहः**' अपने स्वरूप के अतिरिक्त, लाभबुद्धि के अतिरिक्त परसन्मुख के किसी भी झुकाव में लाभबुद्धि का जिसने नाश किया है, वह मिथ्यात्व का नाश है। आहाहा! **(जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया**

है)... देखा? **ऐसा मैं**... ऐसा कहते हैं, देखो! पंचम काल के मुनि भगवान के पश्चात् हजार वर्ष बाद हुए, वे अपनी पुकार करते हैं। आहाहा! शुद्ध वस्तु परमात्मा अन्दर विराजता है। आहाहा! उसकी सावधानी के समक्ष, प्रभु! पर के प्रति किसी अंश में भी सावधानी छोड़ दे। किसी अंश में छोटे में छोटे अंश में भी सावधानी छोड़ दे। क्योंकि यह प्रभु पूर्ण विराजता है, वहाँ पूर्ण अवलम्बन—सावधानी कर। आहाहा!

ऐसा मैं अब 'विकारैः रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम्' विकारों से रहित... आहाहा! **चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ।** आहाहा! सब अवलम्बन छोड़कर एक ही अवलम्बन लेता हूँ। आहाहा! परमेष्ठी परमेश्वर ऐसा कहते हैं। तू भी हमारी ओर का अवलम्बन छोड़कर तेरा अवलम्बन कर। आहाहा! क्यों? हम भी परद्रव्य हैं। हमारे ऊपर लक्ष्य जाएगा, तो प्रभु! तुझे राग होगा। आहाहा! यह तो वीतराग कहते हैं। आहाहा! तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि मैं भी जब छद्मस्थरूप से तीर्थंकर था, तब मुझे आहार देने से उसे कोई धर्म होता था, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसे शुभभाव होता था। यह बात... आहाहा! जब तीर्थंकर केवलज्ञान होने से पहले मुनिपने की छद्मस्थदशा में आहार लेने जाए तो उन्हें आहार देनेवाले को संसार के एक भी भव का नाश हो, यह बात नहीं है। आहाहा! यहाँ तो (ऐसा कहे), रेवती को आहार देने गये, सब बात मिथ्या है। भगवान को रोग और उसके लिये भगवान ने दवा लाने को कहा और वह सिंहमुनि गया और रेवती ने आहार दिया और संसार परित किया। बापू! इन बातों का मेल नहीं खाता। आहाहा! ऐसी किसी बात में कहीं सत्य का मेल नहीं खाता।

(संवत्) १९७७ के वर्ष में गोंडल में बड़ी चर्चा हुई थी। परित संसार किया। मैंने कहा, भाई! अभी रहने दो। अभी मैं इसमें (सम्प्रदाय में) हूँ, मुझसे कैसे बोला जाएगा? बाकी पर को (आहार) देकर परित संसार हो, यह वीतरागमार्ग नहीं है, यह वीतराग का कथन नहीं है, ये वीतराग के शास्त्र नहीं हैं। आहाहा! यह वीतरागी धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **'विकारैः रहितं चिन्मात्रम् आत्मानम् अवलम्बे'** परसन्मुख का राग का अंश भी जो है, परमेष्ठी—पंच परमेष्ठी की ओर का, उनके राग को भी छोड़कर मैं मेरा आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसका अवलम्बन करता हूँ, मेरा आधार तो वह है। आहाहा! भगवान भी मुझे आधार नहीं। अवलम्बन करता हूँ कहा न? उसका मैं आधार लेता हूँ।

आहाहा! यह तो साधारण में बना दे, फिर पूरे दिन दुकान में पाप करे, फिर धर्म मान ले और जिन्दगी चली जाए। बापू! अरे रे! अनन्त अवतार किये हैं। वे अनन्त अवतार वापस मिथ्यात्व जब तक, तब तक अनन्त अवतार गर्भ में पड़े हैं। मिथ्यात्व के गर्भ में अनन्त भव पड़े हैं। मिथ्यात्व को ही अनन्त कहते हैं। अनन्तानुबन्धी आता है न? भाई! अनन्तानुबन्धी। इसका अर्थ ऐसा है, अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व। उसके साथ रहनेवाली कषाय, वह अनन्तानुबन्धी। आहाहा! वीतराग ने तो बहुत कहा हुआ है, दिगम्बर सन्तों ने तो बहुत कहा हुआ है। आहाहा! जगत को निहाल कर दिया है। आहा! परन्तु पकड़े तो न? आहाहा!

यही करनेयोग्य है, बाकी कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! यह आया नहीं? अन्दर नहीं आया? यह ज्ञानी का कार्य है। अन्दर आया था। आहाहा! धर्मी का तो यह कार्य है। आहाहा! अरे! प्रभु! तू कुछ चीज़ है या नहीं? और है, वह वस्तु है या नहीं? और है, वह उसके स्वभाव से खाली होती है या अकेली वस्तु होती है? स्वभाव हो तो उस स्वभाव की कोई मर्यादा होती ही नहीं। बेहद मर्यादारहित स्वभाव है, प्रभु! आहाहा! अन्दर एक-एक गुण की बेहद—मर्यादा नहीं। आहाहा! ऐसे अनन्त-अनन्त गुण का धनी... आहाहा! एक पाँच-पच्चीस रुपये आवे, वहाँ प्रसन्न हो जाए। भिखारी! क्या हुआ तू? शास्त्र में भिखारी—वरांका, वरांका कहा है। वरांका—उसे भिखारी कहा है। यहाँ पूरी लक्ष्मी पड़ी है और उसे छोड़कर इस धूल की लक्ष्मी में क्रीड़ा करता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि '**विलीन-मोहः**' पर की ओर का तो नाश ही कर डाला। जरा भी नहीं। आहाहा! अपने पूर्ण स्वरूप का अवलम्बन और पर के किसी भी अंश का अवलम्बन नहीं। आहाहा! '**विलीन-मोहः**' '**विलीन-मोहः**' और विकाररहित चिद्‌मात्र आत्मा का अवलम्बन। आहाहा! महाप्रभु अन्दर है, उसका एक का ही अवलम्बन। आहाहा! पर का अवलम्बन तो नहीं, परन्तु पर्याय का अवलम्बन नहीं। पूर्णानन्द का नाथ द्रव्य है, उसका अवलम्बन। पर्याय उसका अवलम्बन ले। आहाहा! पर्याय को पर्याय का अवलम्बन नहीं। पर्याय (में) पर्याय के अवलम्बन से राग होता है। आहाहा! गजब काम किया है न! ऐसे कथन पड़े हैं न, हजारों वर्ष से पड़े हैं। दो-दो हजार वर्ष से तो भगवान की—कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी है। यह टीकायें हजार वर्ष से हैं। आहाहा! जगत में अमृत पड़ा है।

कलश - २३०

अथ सकलकर्मफलसन्न्यासभावनां नाटयति ह्न

(आर्या)

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽह-मचलं चैतन्यात्मान-मात्मानम्॥२३०॥

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२। नाहमवधिज्ञाना-वरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३। नाहं मन:पर्ययज्ञानावरणीय-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमा-त्मानमेव सञ्चेतये।४। नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५।

नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६। नाहमचक्षुर्दर्शना-वरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७। नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८। नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मा-नमात्मानमेव सञ्चेतये।९। नाहं निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०। नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११। नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२। नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३। नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४।

नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१५। नाहमसातावेदनीय-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१६।

नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१७। नाहं मिथ्यात्व-मोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१८। नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्म-फलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१९। नाहमनन्तानुबन्धिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीय-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२०। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे,

चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२१। नाहं प्रत्याख्याना-वरणीयक्रोधकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२२। नाहं सञ्ज्वलनक्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२३। नाहमनन्तानुबन्धि-मानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२४। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२५। नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मा-नमात्मानमेव सञ्चेतये।२६। नाहं सञ्ज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२७। नाहमनन्तानुबन्धिमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२८। नाहमप्रत्याख्यानावरणीय-मायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।२९।

नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव सञ्चेतये।३०। नाहं सञ्ज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३१। नाहमनन्तानुबन्धिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३२। नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीय-मोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव सञ्चेतये।३३। नाहं प्रत्याख्यानावरणीय-लोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३४। नाहं सञ्ज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३५। नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३६। नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३७। नाहमरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३८। नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।३९। नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४०। नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४१। नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४२। नाहं पुम्वेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४३। नाहं नपुन्सकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४४।

नाहं नरकायु:कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४५। नाहं

तिर्यगायु:कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४६। नाहं मानुषायु:कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४७। नाहं देवायु:कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव सञ्चेतये।४८।

नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।४९। नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५०। नाहं मनुष्यगति-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५१। नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५२।

नाहमेकेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५३। नाहं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५४। नाहं त्रीन्द्रिय-जातिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५५। नाहं चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५६। नाहं पञ्चेन्द्रिय-जातिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५७।

नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५८। नाहं वैक्रियिक-शरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।५९। नाहमाहारक-शरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६०। नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६१। नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६२।

नाहमौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६३।

नाहं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६४। नाहमाहारकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६५।

नाहमौदारिकशरीरबन्धननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६६। नाहं वैक्रियिकशरीरबन्धननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६७। नाहमाहारक-शरीरबन्धननाकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६८। नाहं तैजसशरीरबन्धन-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।६९। नाहं कार्मणशरीरबन्धननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७०।

नाहमौदारिकशरीरसङ्घातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७१। नाहं वैक्रियिकशरीरसङ्घातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७२।

नाहमाहारकशरीर–सङ्घातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७३। नाहं तैजसशरीरसङ्घातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७४। नाहं कार्मणशरीरसङ्घातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या–त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७५।

नाहं समचतुरस्रसन्स्थाननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७६। नाहं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७७। नाहं स्वातिसन्स्थाननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७८। नाहं कुब्जसन्स्थान–नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।७९। नाहं वामनसन्स्थाननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८०। नाहं हुण्डकसन्स्थाननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान–मात्मानमेव सञ्चेतये।८१।

नाहं वज्रर्षभनाराचसन्हनननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८२। नाहं वज्रनाराचसन्हनननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८३। नाहं नाराचसन्हन–ननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८४। नाहमर्धनाराचसन्हनननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८५। नाहं कीलिकासन्हनननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या–त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८६। नाहमसम्प्राप्तासृपाटिकासन्हनननामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान–मात्मानमेव सञ्चेतये।८७।

नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८८। नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।८९। नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९०। नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मा–नमात्मानमेव सञ्चेतये।९१। नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९२। नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९३। नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९४। नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९५।

नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९६। नाहमाम्ल–रसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९७। नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९८। नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या–त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।९९। नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१००।

नाहं सुरभिगन्धनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०१। नाहमसुरभिगन्ध-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०२।

नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०३। नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०४। नाहं पीतवर्ण-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०५। नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०६। नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०७।

नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०८। नाहं तिर्यग्ग-त्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१०९। नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनाम-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११०। नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१११।

नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११२। नाहमगुरुलघुनाम-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११३। नाहमपुघात-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११४। नाहं परघातनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११५। नाहमातपनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मान-मात्मानमेव सञ्चेतये।११६। नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११७। नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११८।

नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।११९। नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२०।

नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२१। नाहं प्रत्येक-शरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२२। नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२३। नाहं त्रसनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२४। नाहं सुभगनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२५। नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२६। नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये। १२७। नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२८। नाहं शुभनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१२९। नाहमशुभ-नामकर्मफलं

भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३०।

नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३१। नाहं बादरशरीर-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३२। नाहं पर्याप्तनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३३। नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३४। नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३५। नाहमस्थिर-नामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३६। नाहमादेयनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३७। नाहमनादेयनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३८।

नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१३९। नाहमयशः-कीर्तिनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४०। नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४१।

नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४२। नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४३।

नाहं दानान्तरायकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४४। नाहं लाभान्तराय-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४५। नाहं भोगांतराय-कर्मफलं भुञ्जे, चैतन्या-त्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४६। नाहमुपभोगान्तरायकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४७। नाहं वीर्यान्तरायकर्मफलं भुञ्जे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव सञ्चेतये।१४८।।३८७-३८९।।

अब समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को नचाते हैं:-

(उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय-अर्थ का काव्य कहते हैं-)

श्लोकार्थ : (समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करनेवाला कहता है कि) [कर्म-विष-तरु-फलानि] कर्मरूपी विष वृक्ष के फल [मम भुक्तिम् अन्तरेण एव] मेरे द्वारा भोगे बिना ही, [विगलन्तु] खिर जायें; [अहम् चैतन्य-आत्मानम् आत्मानम् अचलं सञ्चेतये] मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलतया सञ्चेतन-अनुभव करता हूँ।

भावार्थ : ज्ञानी कहता है कि - जो कर्म उदय में आता है, उसके फल को मैं ज्ञातादृष्टारूप से जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना

ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञातादृष्टा ही होऊँ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि – अविरत, देशविरत तथा प्रमत्त संयत दशा में तो ऐसा ज्ञान–श्रद्धान ही प्रधान है, और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है, तब यह अनुभव साक्षात् होता है।।२३०।।

(अब, टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं–)

मैं (ज्ञानी होने से) मतिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ। (यहाँ 'चेतना' अर्थात् अनुभव करना, वेदना, भोगना। 'सं' उपसर्ग लगने से, 'संचेतन' अर्थात् 'एकाग्रतया अनुभव करना' ऐसा अर्थ यहाँ समस्त पाठों में समझना चाहिए।)।१। मैं श्रुतज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन–अनुभव करता हूँ।२। मैं अवधि–ज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३। मैं मन:पर्यायज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४। मैं केवलज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५।

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६। मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७। मैं अवधिदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८। मैं केवलदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९। मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०। मैं निद्रा–निद्रादर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११। मैं प्रचलादर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२। मैं प्रचलाप्रचलादर्शना–वरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३। मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४।

मैं सातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१५। मैं असातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१६।

मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१७। मैं मिथ्यात्वमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१८। मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१९। मैं अनन्तानुबन्धिक्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२०। मैं अप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२१। मैं प्रत्याख्यानावरणीय-क्रोधकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२२। मैं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२३। मैं अनन्तानुबन्धिमानकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२४। मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२५। मैं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२६। मैं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२७। मैं अनन्तानुबन्धिमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२८। मैं अप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य-स्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।२९। मैं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीय-मोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३०। मैं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३१। मैं अनंतानुबन्धिलोभ-कषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३२। मैं अप्रत्याख्याना-वरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का

ही सञ्चेतन करता हूँ।३३। मैं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३४। मैं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३५। मैं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३६। मैं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३७। मैं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३८। मैं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।३९। मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४०। मैं जुगुप्सा-नोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४१। मैं स्त्रीवदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४२। मैं पुरुषवेदनोकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४३। मैं नपुंसकवेदनोकषाय-वेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४४।

मैं नरक-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४५। मैं तिर्यञ्च-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४६। मैं मनुष्यआयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४७। मैं देवआयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४८।

मैं नरकगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।४९। मैं तिर्यञ्चगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५०। मैं मनुष्यगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५१। मैं देवगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५२। मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५३। मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं

भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५४। मैं त्रीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही सञ्चेतन करता हूँ।५५। मैं चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही सञ्चेतन करता हूँ।५६। मैं पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५७। मैं औदारिकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५८। मैं वैक्रियिकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।५९। मैं आहारकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६०। मैं तैजसशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६१। मैं कार्मणशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६२। मैं औदारिकशरीर-अंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६३। मैं वैक्रियिकशरीर-अंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६४। मैं आहारकशरीर-अंगोपांगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६५। मैं औदारिकशरीरबंधननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६६। मैं वैक्रियिकशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६७। मैं आहारकशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६८। मैं तैजसशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।६९। मैं कार्मणशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७०। मैं औदारिकशरीर-सघांतनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७१। मैं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७२। मैं आहारकशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७३। मैं तैजसशरीरसंघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७४। मैं कार्मणशरीरसंघात-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७५। मैं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन

करता हूँ।७६। मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७७। मैं सातिकर्मसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७८। मैं कुब्जकसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।७९। मैं वामनसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८०। मैं हुंडकसंस्थाननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८१। मैं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८२। मैं वज्रनाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८३। मैं नाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८४। मैं अर्धनाराचसंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८५। मैं कीलिकासंहनन-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८६। मैं असंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८७। मैं स्निग्धस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा ही सञ्चेतन करता हूँ।८८। मैं रूक्षस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।८९। मैं शीतस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९०। मैं उष्णस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९१। मैं गुरुस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९२। मैं लघुस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९३। मैं मृदुस्पर्श-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९४। मैं कर्कशस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९५। मैं मधुररसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९६। मैं आम्लरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९७। मैं तिक्तरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९८। मैं कटुकरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।९९। मैं कषायरसनामकर्म के फल को नहीं भोगता,

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१००। मैं सुरभिगंधनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०१। मैं असुरभिगंधनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वयप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०२। मैं शुक्लवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०३। मैं रक्तवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०४। मैं पीतवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०५। मैं हरितवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०६। मैं कृष्णवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०७। मैं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०८। मैं तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१०९। मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११०। मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१११। मैं निर्माणनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११२। मैं अगुरुलघुनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११३। मैं उपघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११४। मैं परघातनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११५। मैं आतपनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११६। मैं उद्योतनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११७। मैं उच्छ्वासनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११८। मैं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।११९। मैं अप्रशस्तविहायोगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२०। मैं साधारणशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२१। मैं प्रत्येकशरीर-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२२। मैं स्थावरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२३। मैं त्रसनामकर्म

के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२४। मैं सुभगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२५। मैं दुर्भगनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२६। मैं सुस्वरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२७। मैं दुःस्वरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२८। मैं शुभनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१२९। मैं अशुभनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३०। मैं सूक्ष्मशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३१। मैं बादरशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३२। मैं पर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३३। मैं अपर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३४। मैं स्थिरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३५। मैं अस्थिरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३६। मैं आदेयनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३७। मैं अनादेयनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३८। मैं यशःकीर्तिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१३९। मैं अयशःकीर्ति-नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४०। मैं तीर्थंकरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४१।

मैं उच्चगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४२। मैं नीचगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४३।

मैं दानान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४४। मैं लाभान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४५। मैं भोगान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा

का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४६। मैं उपभोगान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४७। मैं वीर्यान्तरायकर्म के फल को भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।१४८। (इस प्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करता है)।

कलश - २३० पर प्रवचन

अब समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को नचाते हैं:-

(उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय-अर्थ का काव्य कहते हैं-)

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सञ्चेतयेऽह-मचलं चैतन्यात्मान-मात्मानम् ॥२३०॥

आहाहा! **(समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करनेवाला कहता है कि)...** मेरे प्रभु के अतिरिक्त १४८ कर्मप्रकृति, उसमें तीर्थंकर की प्रकृति, आहारकशरीर आदि की प्रकृति (वह) सब, सब जहर का वृक्ष। आहाहा! शुभभाव को जहर कहा है न? तो फिर यहाँ यह कहते हैं, देखो! कि **(समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करनेवाला कहता है कि) कर्मरूपी विष वृक्ष के फल...** आहाहा! है? तो कौन-सा कर्म अकेला लेना? कर्म एक (लेना)? प्रकृति १४८ है। आहाहा! आठ कर्म और आठ कर्म के अन्तर भेद १४८ प्रकृति (वह) सब जहर के वृक्ष हैं; प्रभु अमृत का सागर है। आहाहा! तीर्थंकर प्रकृति बँधी हुई है, उसे जहर का वृक्ष कहते हैं। आहाहा! दिगम्बर सन्तों को जगत की कहाँ पड़ी है कि यह ऐसा कहने से... बापू! पूर्णानन्द का नाथ (विराजता है) उसके अवलम्बन की बातें हैं, भाई! उसमें तुझे तेरे लाभ की बात है। लाभ सवाया, ऐसा लिखते हैं। नूतन वर्ष लगे तब सवेरे लिखते हैं। धूल का लाभ सवाया हो, पैसा आदि लाभ सवाया है? पैसा मिले वह (लाभ है)? आहाहा! ऐ.... चीमनभाई! क्या यह सब लिखते हैं? लाभ सवाया और बलभद्र की ऋद्धि होओ और... क्या कुछ लिखते हैं दूसरा? बाहुबलीजी का बल होओ। कहाँ जाना है तुझे? आहाहा! यह मेरा नाथ अन्दर विराजता है, पूर्ण प्रभु है। आहाहा!

देखो न! यह कहते हैं। **कर्मरूपी विष वृक्ष के फल...** क्या विशिष्टता कहते हैं? १४८ प्रकृति है, उसमें तीर्थंकर प्रकृति है, यश प्रकृति है, आहारकशरीर की है, आहारक अंगोपांग की है। आहाहा! १४८ आठ प्रकृति के अन्तर्भेद हैं। उसे कहते हैं, कर्मरूपी विषवृक्ष—वह कर्मरूपी जहर के वृक्ष के फल हैं। आहाहा! गजब बात है न! कहनेवाले कौन हैं! आहाहा! क्योंकि यह तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भी उसका भाव नाश होने के बाद केवलज्ञान हो, तब उदय आता है, उसमें आत्मा को क्या हुआ? आहाहा! तब उदय आता है। समवसरण और यह और यह... वह तो केवलज्ञान में जानने में आया, यह तो पहले से केवलज्ञान में जानने में आया, वह हुआ, उसमें आत्मा को क्या हुआ? आहाहा! हो गया? **कर्मरूपी विष वृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही, खिर जायें;...** उसमें विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३५, कर्म प्रकृति १ से ३५, बुधवार, आषाढ़ शुक्ल ४
दिनांक - १६-०७-१९८०

प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना यह अधिकार पूरा हुआ। अब वेदन की बात चलती है। मैं आत्मा हूँ, आनन्द का वेदन करनेवाला हूँ। कर्मफल का वेदन करनेवाला मैं नहीं हूँ। आहाहा! जन्म-मरणरहित होने का उपाय बहुत सूक्ष्म है। आत्मा शरीर-वाणी-मन से तो भिन्न है परन्तु पुण्य और पाप, दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा आदि के विकल्प-राग से भी वह भिन्न चीज़ अन्दर पड़ी है। उस चीज़ की दृष्टि से चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में ऐसी भावनायें होती हैं। सातवें में उपयोग होता है। क्या भावना ? कि **(समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करनेवाला कहता है कि)...** आहाहा! एक तो यह कि दो इसकी प्रतीति में आये हैं। एक, आत्मा अनन्त गुण का धनी, अन्दर अनन्त चैतन्य चमत्कार चैतन्य चमत्कार वह चीज़ जो है, वह अनुभव में आयी है, उसे धर्म की शुरुआत कहते हैं, बाकी सब बातें। माने (धर्म परन्तु) परिभ्रमण करने का। आहाहा!

यह भगवान आत्मा पूर्णानन्द और अतिशय प्रभु ईश्वरशक्ति से भरपूर परमेश्वर है, प्रभु है, ईश्वर है। आहाहा! वह अनन्त-अनन्त गुण से (भरपूर) ऐसा वह ईश्वर आदि गुणों से भरपूर भगवान है, उसका जिसे अन्तर्मुख होकर, पुण्य और दया, दान, अरे! तीर्थंकरप्रकृति की ओर का भी लक्ष्य छोड़कर। आहाहा! इसमें यह आयेगा कि मैं तीर्थंकरप्रकृति को नहीं भोगता। आहाहा! प्रकृति बँध गयी। तीर्थंकरप्रकृति बँधी, धर्मी ऐसा कहता है और ऐसा जानता है, अनुभव करता है, सातवें गुणस्थान में अनुभव में। चौथे, पाँचवें, छठवें में श्रद्धा-ज्ञान में यह बात करते हैं कि तीर्थंकरप्रकृति के उदय को मैं नहीं भोगता। आहाहा! वह प्रकृति मेरी नहीं है; जिससे बँधा, वह भाव अधर्म था और वह प्रकृति तो विषवृक्ष का फल है, जहर का वृक्ष है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! दुनिया से अलग प्रकार है।

अन्दर भगवान चैतन्य हीरा अनन्त गुण की खान अचिन्त्य अनन्त गुण के चैतन्य चमत्कार की शक्तियों से भरपूर भगवान आत्मा है, ऐसा जिसे राग के विकल्प से भी भिन्न अनुभव में आया, उसे यहाँ समकित कहा जाता है, उसे तो यहाँ धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान कहा जाता है। आहाहा! यह दूसरे तो अभी मानों कहीं बढ़ गये हम, पाप

में। आहाहा! कोई भी एक विकल्प, तीर्थंकरगोत्र का विकल्प राग है; मेरा स्वरूप नहीं, वह मैं नहीं। मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। यह यहाँ कहते हैं।

समस्त कर्मफल... समस्त, यह आ गया न? १४८ प्रकृति, उसमें तीर्थंकरप्रकृति। आहाहा! समस्त कर्मफल के त्याग की भावना। संन्यास अर्थात् त्याग। धर्मी को उसका त्याग होता है। आहाहा! सातवें गुणस्थान में अनुभव स्थिर होकर त्याग होता है। चौथे, पाँचवें, छठवें में उसकी श्रद्धा और ज्ञान, अनुभव में उसका त्याग होता है। आहाहा! ऐसा उपदेश जैन का कैसा होगा? जैन उपदेश तो एकेन्द्रिय की दया पालना, पंचेन्द्रिय की दया पालना, व्रत करना, रात्रिभोजन न करना, कन्दमूल नहीं खाना, वह जैन। वह जैन नहीं है। आहाहा! जैन त्रिलोकनाथ परमेश्वर विराजते हैं, महाविदेहक्षेत्र में मौजूद हैं। दिव्यध्वनि में उपदेश चलता है। समवसरण में इन्द्र आदि, सिंह, बाघ सुनने जाते हैं, वह यह वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ आठ दिन रहे थे। आहाहा!

कर्मफल, समस्त कर्मफल। ज्ञानावरणीय की, मतिज्ञानावरणीय से लेकर अन्तिम तीर्थंकरप्रकृति, सब १४८ प्रकृति वह मेरी नहीं है, मुझे भोगने की नहीं है, मैं उनका भोगनेवाला नहीं हूँ। आहाहा! है? समस्त कर्मफल के संन्यास अर्थात् त्याग, त्यागभावना करनेवाला कहता है कि **कर्मरूपी विष वृक्ष के फल...** आहाहा! जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय (आदि) आठ कर्म हैं, उनके अन्तर्भेद १४८ हैं, उन सबको कर्मफल विषवृक्ष कहा है। उसका फल तो जहर का वृक्ष है। आहाहा! प्रभु आत्मा अमृत का सागर है। अरे! कभी निज निधान के ऊपर देखा नहीं। निज चैतन्य निधान अन्दर कौन है, उसके सन्मुख नजर नहीं की। ऐसा जो भगवान आत्मा परमेश्वर ईश्वर प्रभु ईश्वर है। आहाहा! उसके सन्मुख देखा नहीं, उसकी नजर कभी नहीं की, उसने सुना हो तो बात बैठी नहीं। आहाहा! बैठी हो तो धारणारूप से बैठी हो। आहाहा! सुनने में आया हो, इससे ठीक है, ऐसा लगता है परन्तु अन्दर में आनन्द का नाथ अतीन्द्रिय आनन्द, जहाँ इन्द्र के इन्द्रासन का बत्तीस लाख विमान का साहिबा, करोड़ों अप्सराएँ (हों), उसके सुख को जो भोगता है, वह तो जहर का सुख, जहर का प्याला है। आहाहा!

यहाँ लखपति या करोड़पति या धूलपति या अरबपति, धूलपति। ऐई! आहाहा! वहाँ गये थे न? कहा था। अफ्रीका, अफ्रीका गये थे, २६ दिन रहे थे। अफ्रीका गये थे।

छह-सात घण्टे प्लेन में बैठे। साढ़े चार सौ करोड़पति हैं, साढ़े चार सौ। लोग व्याख्यान में आते थे, बहुत प्रेम था, तब तो माँग की थी। तीन हजार मील। इतने दूर जाए कौन ? साढ़े चार सौ तो करोड़पति, साढ़े चार सौ। और पन्द्रह अरबपति। धूल के पति हैं, कहा। आहाहा! जगत की चीज़ पुद्गल, उसका यह स्वामी हो (तो) मूढ़ है, बड़ा मूर्ख है, दुनिया भले चतुर कहे। आहाहा! लोग सुनते थे। साठ घर हैं। बाईस लाख का मन्दिर बनानेवाले हैं। साठ लाख रुपये इकट्ठे किये, साठ लाख इकट्ठे किये हैं। बाईस लाख का। पौष महीने में गये थे न। आहाहा! बापू! इस पैसे-बैसे में कुछ धूल भी नहीं है। बाईस लाख का मन्दिर बनाओ, इसलिए धर्म हो जाए - ऐसा नहीं है। शुभभाव है, पुण्य है, पुण्य है, जहर है। कहा न ? कर्मरूपी विष वृक्ष। वह प्रकृति जो पुण्य की बँधे, वह जहर का वृक्ष है।

मुमुक्षु : आत्मा अमृत का वृक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा अमृत का सागर है। जिसकी नजर करने से अमृत के झरने पर्वत में से पानी झरे, वैसे प्रभु के सन्मुख देखने से... अन्दर चैतन्य प्रभु, हों! उसमें से जहाँ अमृत के झरने झरें, ऐसा प्रभु विराजता है। सब भगवान हैं। आत्माएँ सब अन्दर भगवान हैं। आहाहा! यह अनादि काल से जहर का अनुभव करता है। अमृत के सागर से भरपूर परन्तु जब श्रद्धा-समकित हो और पाँचवाँ गुणस्थान, छठवाँ मुनि का (गुणस्थान हो), तब तक इसे श्रद्धा-ज्ञान में यह बात होती है। अनुभव में एकदम उसका फल भोगने का नहीं। वह सातवें गुणस्थान में होता है। अर्थात् सातवें में ध्यान में होता है।

कर्मरूपी विष वृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही, खिर जायें;... आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति बँधी हुई है,... आहाहा! भोगे बिना खिर जाओ। आहाहा! मैं तीर्थंकर होऊँ और समवसरण होगा और इन्द्र आयेंगे। प्रभु! यह बाहर की बात रहने दे। आहाहा! और इस तीर्थंकरप्रकृति का उदय तेरहवें (गुणस्थान में) आयेगा, जब तू केवलज्ञान प्राप्त करेगा, तब उसका उदय आयेगा, तुझे भोगना है क्या ? आहाहा! कहते हैं कि **कर्मरूपी विष वृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही, खिर जायें;...** मेरा नाथ अमृत से भरपूर, अमृतरूपी सुखामृत, जिसका जीवन अमृत से भरपूर है। अरे! उसकी लोगों को कीमत नहीं, ऐसा जो यह भगवान आत्मा, उसे मैं भोगनेवाला हूँ, वह कर्म के फल भोगे बिना खिर जाओ। ऐसा

कि मैंने यह पुण्य बाँधा, इसलिए पुण्य के फल आयेंगे, देव होऊँगा और धूल का सेठिय होऊँगा... इस ज्ञानी को यह होता नहीं। आहाहा!

धर्मी जीव को आत्मा का—आनन्दस्वरूप भगवान का भान होता है। आहाहा! आठ वर्ष की बालिका समकित प्राप्त करे, उसे भी भान होता है। अरे! सिंह और बाघ असंख्य पड़े हैं, ढाई द्वीप के बाहर समकिती आत्मज्ञानी हैं। आहाहा! उन्हें भी भान है कि हम तो आनन्द हैं, यह माँस का भोजन उन्हें नहीं होता। कमल, डोडा का भोजन होता है। ढाई द्वीप के बाहर है, यह तो द्वीप है। मनुष्य का क्षेत्र ढाई द्वीप है। पैंतालीस लाख योजन में मनुष्य हैं। बाकी असंख्य जीव समुद्र के पशु हैं, इतने अधिक पशु हैं कि असंख्य तो समकिती हैं और असंख्य पाँचवें गुणस्थान में हैं। परन्तु इससे असंख्यगुणे मिथ्यादृष्टि हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं मैं आत्मा हूँ। सच्चिदानन्द प्रभु सत् अस्तित्ववाली चीज़ है, अस्ति है। मौजूदगी मेरी सच्चिदानन्द ज्ञान और आनन्द का कन्द हूँ। आहाहा! ऐसे आत्मा को मैं भोगनेवाला हूँ। कर्म की कोई प्रकृति अच्छी या बुरी, ऐसा दुनिया कहे, मुझे वह भोगने के लिये नहीं है। आहाहा! एक ओर जहर के वृक्ष तथा एक ओर अमृत की बेल। अमृत की बेल प्रभु है। अरे! इसे कब खबर है? जिस बेल में कद्दू पकता है, वह बेल पतली होती है। कद्दू... कद्दू नहीं होते? क्या कहते हैं उसे? साकरकोला। बेल पतली होती है। कद्दू ऐसे इतने बड़े अधमण, अधमण के पकते हैं। उसी प्रकार यह भगवान शरीर प्रमाण है, परन्तु अन्दर आनन्द का पाक होता है, वह अनन्त होता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द। आहाहा!

वह बात अनादि से बैठती है, यह बात इसे बैठती (नहीं)। सुनने को मिलती नहीं। यह करो, यह करो, मरो। करो और मरो। आहाहा! भाई ने कहा है, नहीं? सोगानी ने। करना, वह मरना है। मैं कुछ करूँ। तू ज्ञानस्वरूप है, और करूँ? ऐसा जहाँ ज्ञानस्वरूप में करने जाएगा, वहाँ तेरी मृत्यु होगी। आहाहा! तेरा ज्ञान नहीं रहेगा, तेरी दृष्टि में नहीं रहेगा। वस्तु तो वस्तु है। आहाहा!

(यहाँ) कहते हैं कि वे **मेरे द्वारा भोगे बिना ही, खिर जायें; मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप**

आत्मा का... आहाहा! मैं आत्मा। उसका स्वरूप क्या? स्व-रूप—स्व अर्थात् अपना रूप। स्व-भाव—अपना भाव। भगवान आत्मा का स्वरूप और स्वभाव क्या? वह तो चैतन्यस्वरूप है। आहाहा! है? चैतन्य उसका स्वरूप है। जानना-देखना, वह उसका स्वरूप है, उसका वह भरा हुआ भण्डार अन्दर है। आहाहा! अब ऐसी बातें। यह लम्बी नहीं चलती। लोगों में हो.. हा, हो... हा धमाल.. धमाल ऐसी (चलती है)। यह तो इसमें स्थिर हो जाने की बात है। धमाल-बमाल का कुछ कर नहीं सकता, अँगुली को हिला नहीं सकता, प्रभु! तू तत्त्व अलग और यह तत्त्व अलग। यह तो जड़ तत्त्व है, मिट्टी है, यह मिट्टी, यह तो धूल तत्त्व है। इसका ऐसा-ऐसा होना, वह आत्मा से नहीं होता। अर्थात् इसकी क्रिया जड़ से जड़ में होती है। आहाहा! कैसे जँचे? इस कद्दू के पकवान बनते हैं। हिन्दुस्तान में। देखे हैं? हिन्दुस्तान में ऐसे कद्दू के पकवान बनते हैं। कोलापाक हलवाई की दुकान में (होता है)। ऐसे निकले हों और देखा हो न! लिया किसने है? हमारे मोटर निकले, तब देखा हो। इतना... इतना... आहाहा! कोलापाक बनाते हैं। आहाहा!

इस आत्मा का कोलापाक कैसा है, इसकी खबर नहीं। आहाहा! इसे याद भी नहीं करता, इसका स्मरण नहीं करता, इसकी धारणा नहीं करता, इसका निर्णय नहीं करता, इसका निश्चय नहीं करता। आहाहा! ऐसा प्रभु आत्मा, ऐसा मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ। मुझमें कर्म की गन्ध नहीं, मुझमें कर्म आदि कोई चीज़ ही नहीं है। वह उसमें रहा है, मैं मुझमें हूँ। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप आत्मा का तो जानना, देखना, आनन्द, शान्ति, स्वच्छ, अकषाय, प्रभुता ऐसे स्वरूप से मैं आत्मा हूँ। आहाहा! ऐसे **आत्मा को निश्चलतया... चैतन्यस्वरूप आत्मा को...** अकेले आत्मा को नहीं, पहिचानकर। चैतन्य, वह तो जानने-देखनेवाला है। प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है, प्रज्ञा और आनन्द का कन्द वह प्रभु अन्दर है। आहाहा! अनन्त-अनन्त बेहद शक्ति से भरपूर भगवान है आत्मा। कैसे जँचे? दो सिगरेट, बीड़ी ऐसे ठीक से पीवे, वहाँ भाईसाहब को सवेरे दस्त उतरे। ऐसे तो अपलक्षण। अब उसे आत्मा ऐसा कहना। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा, जाननहारस्वरूप आत्मा, उसमें सब

आ गया, आनन्दस्वरूप आत्मा। आहाहा! **मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलतया सञ्चेतन करता हूँ।** सातवें में स्थिति की अन्तिम स्थिति है। चौथे, पाँचवें, छठवें में श्रद्धा-ज्ञान होते हैं, अनुभव स्थिरता एकदम सातवें में होती है। मंजिल पर चढ़ने के जैसे सीढ़ियों में सोपान होते हैं न? उसी प्रकार मोक्ष जाने की चौदह सीढ़ियाँ हैं। उनमें चौथे, पाँचवें सीढ़ी तक ऐसी चीज़ की ज्ञान और श्रद्धा होती है और सातवीं सीढ़ी से उसका अनुभव होता है। आहाहा! और तेरहवीं सीढ़ी में केवलज्ञान परमात्मा हो जाता है। आहाहा! यह बाहर की सीढ़ियों की खबर (होती है), अन्तर की सीढ़ियाँ क्या है, (उसकी खबर नहीं होती)। आहाहा!

मैं तो संचेतता हूँ अर्थात् कि अनुभवता हूँ। यह सातवें की बात है। चौथे, पाँचवें, छठवें में श्रद्धा और ज्ञान (होते हैं)। श्रद्धा-ज्ञान अर्थात् ऐसे धारणा का नहीं, अनुभव की श्रद्धा और अनुभव का ज्ञान और अनुभव की चारित्रदशा है, परन्तु अपूर्ण है, अभी विकल्प है। आहाहा!

भावार्थ – धर्मी-ज्ञानी-धर्मी, धर्मी ऐसा कहता है, धर्मी ऐसा मानता है कि **जो कर्म उदय में आता है,...** कर्म जड़ वस्तु है। पूर्व में कोई ऐसे भाव से बँधे हुए हैं, **उसके फल को मैं ज्ञातादृष्टारूप से जानता-देखता हूँ,...** आहाहा! ऐसा मार्ग है। क्या करना इसमें? कहते हैं, पूर्व के कर्म के उदय के समय जानना-देखना, वह मैं हूँ। कर्म के फल को करना और भोगना, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो जानने-देखनेवाला शुद्ध उपयोगस्वरूप रमनेवाला, शुद्धोपयोग न हो तो भी मैं ज्ञाता-दृष्टारूप हूँ। आहाहा! मेरा सत्त्व, चैतन्य का सत्त्व जानना और देखना, उसका सत्त्व है। उस सत्त्व में सब आनन्द आदि भरा है। आहाहा! जैसे शक्कर में मिठास और सफेदाई, सुगन्धता भरी है, वैसे प्रभु में अन्दर में आनन्द और शान्ति और इस स्वच्छता से, ऐसे अनन्त गुणों से भरपूर है। आहाहा!

अरे रे! इसे सवेरे उठकर अच्छा दाँतुन आवे, वह वाघरी (फूहड़ स्त्री) रोटी लेकर डाल गयी हो। वह क्या कहलाता है? पनसाल। पनसाल में। मुँह में डाले न वह? दाँतुन। अच्छा दाँतुन देखकर प्रसन्न हो जाए, कहो! दाँतुन करे। सवेरे उठा और वापस दाँतुन। दाँतुन पड़ा हो, वाघरी डाल गयी हो। हमारे आदत। हमारे उमराला में सब देखा हुआ है।

वह वाघरण गृहस्थी की। बनिया से वह बड़ी गृहस्थी थी परन्तु तो भी वह छोड़े नहीं, उसकी रीति है, उसे (छोड़े नहीं)। रोटी ले जाए और दाँतुन डाल जाए। गृहस्थ थे, पैसेवाले थे। उनका स्वामी बड़ा सट्टा करता था। घर में बड़ी अलमारियाँ। हम तो एक बार देखने गये थे। बड़ी अलमारियाँ और बड़े पैसेवाले परन्तु दाँतुन डाल जाए और रोटी ले जाए, उसे छोड़े नहीं। आहाहा! शाम को दाँतुन डाले। यहाँ कहते हैं, सवेरे जहाँ दाँतुन देखे वहाँ आहा! प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। क्या करते हो और क्या है, तुझे खबर है ? वह जड़ है, उसका ऐसे हिलना, वह जड़ के कारण से है। यह दाँत है, मिट्टी-धूल है, इस धूल से प्रभु अन्दर भिन्न है। आहाहा! अमृत का सागर, इस चमड़े से पृथक् पड़ा है। आहाहा!

उसे यहाँ धर्मी ऐसा कहते हैं, उसे मैं भोगता हूँ। आहाहा! **जो कर्म उदय में आता है, उसके फल को मैं ज्ञातादृष्टारूप से जानता-देखता हूँ,...** आहाहा! ऐसा धर्म है। यहाँ तो कहे दया पालो और व्रत करो, अपवास करो, सूर्यास्त से पूर्व भोजन करो... हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं। तूने अभी धर्म सुना नहीं। वीतराग तीन लोक के नाथ परमेश्वर विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर इस क्षेत्र में हो गये। वहाँ अनन्त हो गये, महाविदेहक्षेत्र में बीस तो विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। तीन काल का ज्ञान है, ऐसे लाखों केवली अभी मनुष्यरूप से विराजते हैं। आहाहा! उनके यह सब वाक्य हैं। कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे। आहाहा! भाषा तो देखो!

कर्म उदय में आता है, उसके फल को मैं ज्ञातादृष्टारूप से जानता-देखता हूँ,... चाहे जो कर्म का उदय आवे... आहाहा! परन्तु उसे मैं स्पर्श नहीं करता, वे मुझमें नहीं आते। आहाहा! मैं तो जानने-देखनेरूप देखता हूँ और जानता हूँ। आहाहा! यह भी व्यवहार है। पर को जानना-देखना कहा न ? यह भी व्यवहार है। निश्चय से मैं मुझे देखता हूँ, मैं मुझे जानता हूँ और देखता हूँ। आहाहा! यह किस प्रकार का धर्म ? वीतराग का जैन परमेश्वर का (होगा ?) जैन परमेश्वर तो दया पाली जा सके और दया पालना, छह परबी कन्दमूल न खाना। छह परबी ब्रह्मचर्य पालना, अभी तो ऐसा चलता है। आहाहा! यह मार्ग ही नहीं है, बापू! तुझे खबर नहीं। आहाहा!

वीतरागमार्ग तो ऐसा कहता है कि मैं तो उसे भोक्ता होता नहीं। आहाहा! **भोक्ता नहीं**

होता,... आहाहा! १४८ प्रकृति है, अस्ति है। मैं ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ तो उसे मैं जानता-देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता। आहाहा! जब कर्म का भोक्ता नहीं, फिर यह रोटी, दाल, भात, मैसूर को खाता है न? नहीं खाता, भाई! उसे स्पर्श ही नहीं करता। तुझे खबर नहीं। मैसूर दाँत को स्पर्श नहीं करता, दाँत आत्मा को स्पर्श नहीं करता, आत्मा दाँत को स्पर्श नहीं करता। अरे! ऐसी चीज़।

मुमुक्षु : पेट में दाँत नहीं है, इसलिए बराबर चबाकर खाना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : लोग ऐसा कहते हैं, पेट में दाँत नहीं है, इसलिए चबाकर खाना। चबाकर खाना तो यहाँ पेट में पचे। पेट में दाँत नहीं है, ऐसा लोग कहते हैं। अर र र! सुना हो, सब सुना हो। बहुत सब देखा। ९१ वर्ष हुए। पूरी जिन्दगी ऐसे ही गयी। पाँच वर्ष दुकान का व्यापार किया। (संवत्) १९६३ से १९६८, तेरह वर्ष से अठारह वर्ष। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, एक बार सुन तो सही। वह कर्म मेरे भोगे बिना (खिर जाओ)। **मैं भोक्ता नहीं होता, इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें;...** यह तो समझता है... वह तो आनन्द में है। आहाहा! वे कर्म मेरे भोगे बिना खिर जाओ। **मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में...** आहाहा! मैं कौन? मेरा कौन? मैं कौन और मेरा कौन? कि मैं मेरे चैतन्यस्वरूप जानना-देखना मैं, और वह मेरा स्वरूप। आहाहा! **मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञातादृष्टा ही होऊँ।** चौथे, पाँचवें, छठवें में यह भावना होती है। समकित होता है और भावना होती है। सातवें में साक्षात् चारित्र का अनुभव जम गया (होता है)। यह चारित्र की व्याख्या है न? आहाहा!

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि... यह आया, लो! **अविरत,...** समकिती जीव, धर्म की पहली सीढ़ीवाला जीव और दूसरी सीढ़ी **देशविरत...** श्रावक। यह वाड़ा के श्रावक, वे श्रावक नहीं, सब सावज हैं। आहाहा! श्रावक तो अन्दर में दो कषाय के अभाव के अनुभव के आनन्द को वेदता होता है। आहाहा! भारी कठिन काम। पक्ष में बँधना, वह कठिन लगता है। पहला सरल लगता है। झट सामायिक करना, प्रौषध, प्रतिक्रमण और जड़ का क्रियाकाण्ड। अन्दर भाव हो तो शुभ, वह पुण्य-जहर है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अविरत—चौथे गुणस्थान में समकिती को और पाँचवें में श्रावक को और मुनि छठवें मुनि को—प्रमत्तसंयत, उस **दशा में तो ऐसा ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है,...** उस दशा में तो ऐसा ज्ञान और श्रद्धान ही प्रधान है। उसका ज्ञान होता है और उसकी श्रद्धा, वह मुख्य होती है। अभी वहाँ उपयोग नहीं होता। यह चारित्र की व्याख्या है न! उपयोग तो ऐसे चौथे में होता है, यह जो कहते हैं, वह उपयोग सातवें में होता है। वह उपयोग चौथे में भी होता है, पाँचवें में भी होता है, छठवेंवाले को एकदम अन्तर्मुहूर्त सातवाँ आता है, अन्तर्मुहूर्त में मुनि को शुद्धोपयोग आता ही है। सच्चे मुनि को तो क्षण में सातवाँ, क्षण में छठवाँ ऐसी भूमिका, ऐसी दशा, ऐसा सोपान होता है। आहाहा!

उसे **ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है,...** चौथे, पाँचवें, छठवें में। **और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त होकर...** सातवाँ गुणस्थान। अप्रमत्तदशा। फिर जिसे महाव्रत का विकल्प भी नहीं है। आहाहा! महाव्रत जो है, वह विकल्प है, राग है, जहर है। महाव्रत, वह दु:ख है। आहाहा!

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो;
पै निज आतम ज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।

परन्तु आत्मा के ज्ञान बिना वे महाव्रत के परिणाम दु:ख हैं, दु:ख और जहर है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि **अप्रमत्तदशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है...** आहाहा! अर्थात् शुद्धि बढ़ती है, अन्तर स्थिर होने पर शुद्धि बढ़ जाती है, **तब यह अनुभव साक्षात् होता है।** तब उस प्राणी को अनुभव प्रत्यक्ष वर्तमान होता है। चौथे, पाँचवें, छठवें में ऐसा अनुभव नहीं होता। उपयोगपूर्वक हो, वह अलग बात है, शुद्ध, परन्तु इस भूमिका की जो दशा आयी, १४८ प्रकृतिरहित वह दशा सातवें में (होती है)। इससे चौथे, पाँचवें में शुद्धोपयोग नहीं होता, ऐसा नहीं है। परन्तु वह शुद्धोपयोग सब कर्म के अभाव-स्वभावस्वरूप नहीं है, अमुक ही प्रकार के अभावस्वरूप है। यह तो सब कर्म के अभावस्वरूप है। अकेला भगवान आत्मा। आहाहा! सातवें में अप्रमत्तदशा।

अप्रमत्त दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है... क्षपकश्रेणी अर्थात् धारा, गुण की धारा बहती है। गुण की धारा अन्दर प्रवाह बढ़ता जाता है। अन्दर जो अनन्त गुण का पिण्ड

है, उसकी धारा तो है परन्तु वह धारा बढ़ती जाती है। वह **अनुभव साक्षात् होता है।** तब उसे अनुभव साक्षात् होता है, सातवें को। आहाहा! लो! सातवाँ किसे कहना, छठवाँ किसे कहना। वस्त्र बदलकर बैठे तो महाराज हो गये। जय नारायण! यह दिगम्बर में नग्न होकर बैठे, हो गये साधु। बापू! समकित कोई अलौकिक चीज़ है, साधुपने की बात ही क्या करना? आहाहा! साधुपना तो ऐसा (होता है)। १४८ प्रकृतिरहित अकेला अनुभव, अप्रमत्तदशा। आहाहा!

(अब, टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं–) संन्यास अर्थात् त्याग। वे संन्यासी नहीं, संन्यासी नहीं होते? संन्यासी अर्थात् त्यागी। यहाँ कर्मफल के त्याग की भावना को नचाते हैं। आहाहा! अब **मैं...** धर्मी ऐसा कहते हैं कि **मैं (ज्ञानी होने से) मतिज्ञानावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! मतिज्ञानावरणीयकर्म तो है, केवलज्ञानावरणीयकर्म... पाँचों प्रकृतियाँ भले हों, मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय है बाद में? अवधिज्ञानावरणीय, मन:पर्ययज्ञानावरणीय पश्चात् केवलज्ञानावरणीय, इस कर्म के फल को नहीं भोगता। इन पाँचों ज्ञान से विरुद्ध ज्ञानावरणीय आदि प्रकृति को मैं नहीं वेदता और भोगता। आहाहा! मैं कर्म को स्पर्श भी नहीं करता न! आहाहा! मेरी कमजोरी से वेदन था, वह वेदन अब नहीं है। उस कर्म के फल को भोगता नहीं, ऐसा कहा जाता है। आहाहा!

यह चारित्र की दशा, लो! पाटनीजी! लो! अच्छा सच्चा कहने जाए तो (ऐसा कहे) ऐ...ई! हमको मानते, हमको मानते नहीं। प्रभु! तुम जिस प्रकार से हो, वैसा मानो, दूसरे प्रकार से मानने से, बापू! दु:ख होगा, भाई! प्रभु! तुझे दु:ख होगा, बापू! यह दुनिया तो गहल-पागल है। दूसरे त्यागी देखकर तुझे (कहेंगे), जय नारायण, जय भगवान। आहाहा! दुनिया तो पागल है, ऐ... ई..! सच्चा सच्चे को सच्चा जानकर नमस्कार करे। पागल तो खोटे को सच्चा जानकर नमस्कार करे। आहाहा! सच्चे को भान होता है। समकित किसे कहना और श्रावकपना किसे कहना और मुनिपना किसे कहना। आहाहा!

यह दशा—मुनि की दशा परमेश्वर, परमेश्वर की दशा, पंच परमेष्ठी। वे परमेष्ठी में आते हैं न? अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु। पाँच परमेष्ठी। परमेष्ठी कैसे होंगे?

आहाहा! वस्त्र बदले, नग्न हो गये, पंच महाव्रत के परिणाम (करे), वे भी धारे प्रमाण नहीं। वे पंच महाव्रत कहाँ हैं? यह सब सेठिया पकाकर खिलावे, तब खाते हैं। चौका करे। अनुदिष्ट आहार कहाँ है? ऐ..ई..! चौथ बनाकर पकाकर खिलावे। उन्हें नहीं किया हुआ (अनुदिष्ट) कहाँ मिलता है? आहाहा! अभी द्रव्यलिंग का ठिकाना नहीं। आहाहा! चौका बनाकर चौका उनके लिये पकावे। पत्र में लिखे, चौका बनाने आना, यहाँ... है, यहाँ थोड़े घर हैं, घर नहीं। अर र! ऐसी पद्धति। प्रभु के मार्ग में बहुत फेरफार हो गया, भाई!

मुमुक्षु : वे तो ऐसा कहते हैं कि जैसे श्रावक वैसे ही मुनि।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होगा? श्रावक भी अच्छे हो। श्रद्धा, श्रद्धारूप से, ज्ञानरूप से अच्छे (हों), इनके श्रद्धा-ज्ञान का ठिकाना नहीं। कठिन बात है, भाई! उन्हें दु:ख लगे नहीं, उन्हें दु:ख न हो। प्रभु! सब सुखी होओ। यहाँ तो भावना यह है कि सब भगवान होओ। कोई विरुद्ध नहीं, सब परमात्मा होओ। तुम्हारी शक्ति परमात्मा होने की है, प्रभु! भगवान होने का तुम्हारा सामर्थ्य है और तुम अल्प में रहते हो, प्रभु! आहाहा! भगवानरूप से ही तेरा पूरा सामर्थ्य अन्दर भरा हुआ है। आहाहा! उसे कम मानना नहीं, उसे कम गिनना नहीं। आहाहा! बैर-विरोध कोई है ही नहीं। सब भगवान है, आत्मा तो भगवान है। आत्मा की दृष्टि से, द्रव्यदृष्टि से तो सब साधर्मी हैं। पर्याय में भूल है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, मैं मतिज्ञानावरणीय, ऐसे पाँचों ज्ञानावरणीय, ऐसे पश्चात् चक्षुदर्शनावरणीय वह नहीं, अचक्षु नहीं, अवधि नहीं, केवलदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, ऐसे सब ले लेना। मैं निद्रादर्शनावरणीयकर्म को नहीं भोगता। आहाहा! मैं निद्रा-निद्रा को नहीं, आहाहा! प्रचलानिद्रा एक निद्रा है, वह नहीं। प्रचलाप्रचला निद्रा नहीं। आहाहा! **स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** आहाहा!

मैं सातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! साता का ढ़ेर ऐसा शरीर में दिखाई दे, निरोगता का। राजकुमार (का) शरीर कैसा जवान था। बीस करोड़ रुपये, इन्दौर। अभी वहाँ मलाड में आये थे, वहाँ दर्शन करने आये थे। शरीर को ठीक नहीं था। क्या कहलाता है? हरकिशनदास। दवा कुछ लेते नहीं। आये थे, परन्तु पहिचाने नहीं। यह

राजकुमार ? मुँह... परन्तु बापू ! वह तो जड़ है। आहाहा ! वहाँ रुपये क्या करे ? धूल। एक रजकण दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करता। कठिन पड़ेगा। यह शरीर अन्दर आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता। आत्मा अरूपी है और यह तो रूपी है। आहाहा ! शरीर और आत्मा कभी अनन्त काल में स्पर्शा नहीं, स्पर्शेगा नहीं। आहाहा !

यहाँ यह कहते हैं, **मैं सातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,...** ऐसी सातावेदनीय होती है। ऐसा निरोग। सांड जैसी, बैल जैसी। निरोग शरीर, सांड जैसा। बैल... बैल। हृष्टपुष्ट (हो)। वह था न, नहीं ? गामा। (पहलवान) दो मोटरें चलती हों, उन्हें खड़ी रखे, चलते-चलते हाथ रखकर खड़ी रखे। इतनी शक्ति। वह जब मरने का समय आया, यहाँ मक्खी बैठी थी तो उड़ाने की शक्ति नहीं रही। ऐसा करता था। आहाहा ! समाचार-पत्र में आया था, देखा था, समाचार-पत्र में आया था। आहाहा ! देखा है, पीछे तकिया था। मक्खी उड़ाने के लिये हाथ चलता नहीं। आहाहा ! दो चलती मोटरों को खड़ी रखता, बापू ! वह तो जड़ की शक्ति है। उसमें आत्मा का कुछ काम नहीं है, वह आत्मा का बल नहीं है। आहाहा ! शरीर की शक्ति बढ़ी... वह सातावेदनीय होवे तो उसे मैं भोगता नहीं। आहाहा !

चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ। असातावेदनीय... अब असाता, नारकी की वेदना, सातवें नरक की। समकिती अन्दर है, इसलिए वह जानता है और देखता है। आहाहा ! श्रेणिक राजा भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हैं। श्रेणिक राजा अभी नरक में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है, भविष्य में पहले तीर्थंकर होनेवाले हैं। आगामी चौबीसी के पहले तीर्थंकर। जानते-देखते हैं। पहले नरक में वेदन, उष्ण वेदन होता है, शीत वेदन नीचे होता है। आहाहा ! ऐसा उष्ण वेदन, उष्णता कि उसकी एक चिंगारी यहाँ आयी हो तो दस हजार योजन के लोग जलकर राख हो जायें। आहाहा ! एक चिंगारी, पहले नरक की चिंगारी। दस हजार योजन के लोग राख हो जायें। प्रभु ! इससे अनन्तगुणी पीड़ा तूने भोगी है। आहाहा ! पहले नरक और दूसरे और सातवें। आहाहा ! तुझे किसका उत्साह आता है पर में ? वह तेरे दु:ख तूने भोगे हैं। आहाहा !

आचार्य महाराज ऐसा कहते हैं, मैं मेरे पूर्व भव के दु:ख जहाँ याद करता हूँ... ज्ञानी धर्मात्मा (ऐसा कहते हैं), पूर्व के दु:ख को याद करता हूँ तो चोट लगती है, हृदय में चोट लगती है। आहाहा ! क्या हुआ ? मुनि कहते हैं। आहाहा ! इसे कभी विचार नहीं आया कि

इस भूतकाल में कहाँ रहा और कितने दु:ख भोगे ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, इस **असातावेदनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! **मैं सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,...** मोहनीय, मोहनीय आया। मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का फल। मिथ्यात्व प्रकृति अन्दर पड़ी हो, वह खिरती हो, उसे मैं नहीं भोगता। मैं सम्यक्त्वमिथ्यात्व मिश्र-मिश्र को भी नहीं भोगता। मैं अनन्तानुबन्धीकषाय— अनन्त संसार का कारण क्रोध। आहाहा! धर्मी कहता है कि मैं भोगता नहीं। चौथे, पाँचवें, छठवें में भोगता नहीं, परन्तु अभी उपयोग में स्थिर, अत्यन्त सब प्रकृति से स्थिर भिन्न पड़ा नहीं। आहाहा!

तत्पश्चात् अप्रत्याख्यानावरणीय, दूसरी कषाय की चौकड़ी। उसके फल को नहीं भोगता। चैतन्यस्वरूप आत्मा को (संचेतन करता हूँ)। प्रत्याख्यानावरणीयकषाय तीसरी चौकड़ी। यह संज्वलन की चौथी चौकड़ी। कषाय के भेद हैं। वह कोई मैं नहीं भोगता। यह क्रोध। ऐसे मान। ऐसे अनन्तानुबन्धीमान, ऐसे अप्रत्याख्यानावरणीयमान, प्रत्याख्यानावरणीयमान और संज्वलन मान मैं नहीं भोगता। आहाहा! संज्वलन के मान को मैं नहीं भोगता। आहाहा! चौथे, पाँचवें, छठवें में तो श्रद्धा-ज्ञान में होता है। उस कर्म का भोगना, वह मैं चीज़ ही नहीं, मुझमें वह है ही नहीं। परन्तु अस्थिरता होती है। श्रद्धा-ज्ञान में तो मैं भोगता नहीं। आहाहा! इस श्रद्धा-ज्ञान का जोर कितना होगा! आहाहा!

अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, मोहनीय सब ले लेना। संज्वलन के मान, ऐसे माया लेना, अनन्तानुबन्धी का लोभ लिया है। पहले माया, पश्चात् लोभ, इन सबको मैं नहीं भोगता। ठेठ ले गये, लो! पश्चात् हास्य आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३६, कर्म प्रकृति-३६ से १०८, गुरुवार, आषाढ़ शुक्ल ५
दिनांक - १७-०७-१९८०

समयसार, हिन्दी में ५३४ पृष्ठ है। हास्य, हास्य आया है। हास्य, ३६वाँ बोल क्या है ? ३६वाँ बोल है। हास्य नाम की प्रकृति। है क्या ? कि इस आत्मा का धर्म सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा शुद्ध चैतन्य निर्लेप निर्दोष निर्विकल्प पूर्ण वीतरागभाव से भरपूर भगवान आत्मा है, उसका अनुभव होता है, तब सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दृष्टि पूर्व के मिथ्यात्व में बाँधे हुए कर्म को भोगता नहीं। आहाहा ! क्योंकि आत्मा अमृतसागर का स्वाद आया। धर्म—प्रथम सीढ़ी, धर्म की पहली सीढ़ी, पहला सोपान, आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, अतीन्द्रिय शान्ति का पिण्ड है। शान्ति... शान्ति... शान्ति... अकषायभाव की जब दृष्टि होती है, प्रथम अनुभव होता है तो अपने आनन्द का भोग छोड़कर दूसरी कोई प्रकृति के फल को भोगता नहीं है। आता है, उसे जानता है। पूर्व की प्रकृति का फल आता है, परन्तु उसे जानता है। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

अनादि से अनन्त काल राग और द्वेष और मिथ्यात्व का ही वेदन है। वह वेदन संसार है। आहाहा ! वह निगोद में जाने की चीज़ है। निगोद मिथ्यात्व। अपना जो स्वरूप है, उससे विपरीत मिथ्यात्वभाव, उस मिथ्यात्वभाव में नरक, निगोद के अनन्त भव करने की ताकत है। उसे जिसने पहले अपने आत्मा का मूल तत्त्व खोजा, अन्तर का निजघर (देखा)... यह हिन्दी में आता है, 'अब हम कबहु न निजघर आये, अब हम कबहु न निजघर आये, परघर भ्रमत नाम अनेक धराये, परघर भ्रमत नाम अनेक धराये, अब हम कबहु न निजघर आये।' परघर के नाम धारण किये। मनुष्य, स्त्री, पुरुष, ढोर, पशु और नारकी, देव, यह सब प्रकृति के फल मैं भोगता हूँ और ये मेरे हैं, ऐसा अनन्त काल में अनन्त बार किया है। कभी भी आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द का सागर है, उस ओर का माहात्म्य, महिमा, महत्ता कभी नहीं की, ली नहीं और अनुभव में आया नहीं। आहाहा ! बाकी तो सब संसार है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि परिणाम भी संसार है। आहाहा !

कहते हैं कि कभी कर्म से रहित, भ्रम से रहित। कर्म जड़ है और अन्दर भ्रमणा जो

की, वह आत्मा ने की है। मैं राग हूँ, मैं पर की क्रिया कर सकता हूँ, मुझमें सुख नहीं परन्तु पर में सुख है, ऐसी बुद्धि, वह मिथ्यात्वबुद्धि है। उस बुद्धि से अनन्त काल में अनन्त अवतार किये। जब उनसे विमुख होता है कि मैं तो आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञान और दर्शन से भरपूर पूर्ण हूँ। मुझमें कोई कर्म भी नहीं और कर्म का भाव भी नहीं। आहाहा! ऐसी प्रथम दृष्टि हो, तब उसे धर्म की शुरुआत होती है। आहाहा! अब ऐसी निवृत्ति कब लेना? आहाहा!

यहाँ अब यह कहते हैं कि पूर्व में मिथ्यात्व में जो प्रकृति का बन्ध हुआ था, अभी मैं आत्मा ज्ञानी हूँ, मुझे मेरे स्वरूप का भान है तो मैं उस प्रकृति का फल उदय में आता है, उसे भोगता नहीं। आहाहा! एक म्यान में दो तलवार नहीं रहती, उसी प्रकार आत्मा के आनन्द का अनुभव सम्यग्दर्शन में है, धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान, धर्म—समकित, आनन्द का जहाँ स्वाद आया, वहाँ दूसरा सब स्वाद फीका पड़ गया। यह सारा संसार... आहाहा! विकल्प अर्थात् शुभराग से लेकर पूरी दुनिया पर हो गयी, उस पर का भोगनेवाला मैं नहीं हूँ। यहाँ यह आया है।

पहले ज्ञानावरणीय आया, पश्चात् दर्शनावरणीय आया। मोहनीय (आया)। अब नोकर्म आया। हास्य। **मैं हास्यनोकषायवेदनीय...** भाषा देखो! यह हास्य नोकषाय है, मोहनीय है। आहाहा! और वेदनीय है। आहाहा! हास्यप्रकृति में जो वेदन होता है, मोहकर्म के निमित्त से और अपने उल्टे पुरुषार्थ से जो वेदन होता है, उस फल को मैं नहीं भोगता। हास्य करना, वह तो पाप है। आहाहा! हास्य करना, किसी भी चीज़ में हर्ष करके हँसना, वह पाप है। उस पाप को धर्मी ऐसा मानता है कि मैं भोगता नहीं हूँ। वह पूर्व की प्रकृति है। मैं वर्तमान में तो हास्य करता नहीं परन्तु पूर्व में बँधा हुआ हास्य नोकषाय वेदनीय, मोहनीय नामकर्म के फल को भोगता नहीं। आहाहा! जहाँ चूरमा मिला वहाँ... आहाहा! लाल ज्वार के छिलकों की रोटियाँ कौन खाये? लाल ज्वार आती है, ज्वार। ज्वार नहीं कहते? बाजरा, ज्वार। लाल ज्वार आती है, उसका छिलका होता है, छिलका। उसकी रोटी बनती है। हमको तो सब अनुभव है न! सब जगह देखा है।

(संवत्) १९७६ में एक जगह गये थे। विठ्ठलगढ़ पास में है न? विठ्ठलगढ़

विरमगाँव के पास, विरम गाँव के पास है। बनियों के घर नहीं थे। १९७६ के वर्ष। बहुत वर्ष हुए। यहाँ तो शरीर को ९१ वर्ष हुए। वहाँ गये थे तो छिलके की रोटियाँ (थीं)। गरीब लोग बेचारे, गरीब लोग। विठ्ठलगढ़ विरम गाँव के पास है। गरीब लोग (थे)। बेचारे उत्साह से (बोले), पधारो महाराज, पधारो, लो। परन्तु उनके घर में हो, वह दे न? उसकी मिठास ही बिल्कुल अलग, मिठास ही नहीं। इसी प्रकार आत्मा के आनन्द के समक्ष कर्म के निमित्त के फल की मिठास ही नहीं है। यह तो दृष्टान्त था। शान्तिभाई! आहाहा! बहुत देखा है न, यहाँ तो ९१ वर्ष चलते हैं, ९० और १। पूरी जिन्दगी निवृत्ति। पालेज में घर की दुकान है। भरूच और बड़ोदरा के बीच। वहाँ भी मैं व्यापार में पाँच वर्ष रहा, परन्तु वहाँ भी मैं शास्त्र पढ़ता था। उस समय शास्त्र पढ़ता था। (संवत्) १९६४-६५ के वर्ष। तुम्हारी तरह अकेले व्यापार में रहे, ऐसा नहीं। व्यापार करते थे। मुम्बई, सूरत हम माल लेने जाते थे परन्तु शास्त्र पढ़ते थे। वे श्वेताम्बर के शास्त्र, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूयगडांग सब दुकान पर देखे हैं। एक अध्यात्म कल्पद्रूम है। पहले वह मिला था। परन्तु मूल में यह चीज़ नहीं है। आहाहा!

यह चीज़ तो... ओहोहो! अनन्त आनन्द का नाथ प्रभु, उसका जिसे अनुभव हुआ, वह जहर का अनुभव क्यों करे? हास्य का अनुभव तो जहर का अनुभव है। आहाहा! यह हास्य।

पश्चात् रति। रति (अर्थात्) प्रसन्न होना। कोई भी चीज़ देखकर प्रसन्नता होना। अन्तर भगवान आत्मा जहाँ प्रसन्नता है, धर्मी जीव को अन्तर में आनन्द में रति है, दूसरी कोई रति भोगते नहीं। आहाहा! उत्कृष्ट बात है। सप्तम गुणस्थान की (बात है)। चौथे, पाँचवें, छठवें में श्रद्धा-ज्ञान में, अनुभव में ज्ञान-श्रद्धान होता है, परन्तु वेदन सातवीं भूमिका में होता है। तो रति का वेदन **रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता,...** मैं तो **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही...** आहाहा! मेरा आहार, धर्मी ऐसा कहता है, मुझे जैसे आहार बिना नहीं चलता, वैसे मेरे अनुभव के बिना नहीं चलता। आहाहा! अभी तो सवेरे उठे और चाय (माँगे)। दस बजे, ग्यारह बजे आहार ले। दोपहर में और कुछ... हलवाई... हलवाई की दुकान से लावे फिर शाम को खिचड़ी, कढ़ी और भुजिया ले। आहाहा! चार-चार बार अन्न लेते थे। आहाहा! अकेला दुःख, अकेला पाप।

यहाँ कहते हैं कि रतिकषाय को मैं नहीं भोगता। आहाहा! यहाँ आनन्द का स्वाद आया, जहाँ आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द का (स्वाद आया), आत्मा का आनन्द है, इसके अतिरिक्त जो करोड़ों अप्सराओं का इन्द्र को सुख है, वह सब दु:ख है। उससे भी भिन्न, मेरे आनन्द के स्वाद के समक्ष मैं रति का स्वाद नहीं लेता। मैं अरति का स्वाद नहीं लेता। खेद। आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का संचेतन करता हूँ। संचेतन कहो, भावना कहो, अनुभव कहो, वेदन कहो, सब एक है। आत्मा का संचेतन करता हूँ, आत्मा का वेदन करता हूँ, आत्मा में एकाग्र होता हूँ, आत्मा का अनुभव करता हूँ, आत्मा की भावना करता हूँ—सब एक ही बात है। समझ में आया? संचेतन करता हूँ।

मैं शोकनोकषाय... शोक... शोक होता है न? पुत्र या पुत्री या माँ गुजर जाए तो शोक होता है। धर्मी कहता है कि मुझे शोक है ही नहीं। मेरी चीज़ में कोई हानि होती ही नहीं। मेरी चीज़ मरती नहीं और मेरी चीज़ में कमी या दोष नहीं होती, किसका शोक करे? आहाहा! जगत की चीज़ है, वह तो जगत की है, मेरी चीज़ नहीं। परचीज़ को देखकर धर्मी को शोक नहीं होता। आहाहा! यह सातवें गुणस्थान की उत्कृष्ट बात है। चौथे, पाँचवें, छठवें में थोड़ा आ जाता है, परन्तु उसे जानता है। यहाँ तो कहते हैं, भोगता ही नहीं। अकषायभाव में सातवें गुणस्थान में चढ़ गये हैं।

भय, भय नोकषाय। आहाहा! प्रभु तो आनन्द आनन्द के किले में स्थित है न! बड़े किले में किसका प्रवेश है? भगवान आनन्द का किला है, वज्र का किला है। आनन्दस्वरूप, शान्तिस्वरूप, प्रभुस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्द के किले में उसका प्रवेश नहीं। मुझे भय कैसा? आहाहा! देखो! यह धर्मी के लक्षण। आहाहा! **मैं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म के फल को नहीं भोगता, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही...** 'ही' लिया है, देखो! कथंचित् यह, कथंचित् यह नहीं लिया। मैं तो अकेले चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ। सातवें में लिया है न? अप्रमत्तदशा में विशेष है। आहाहा!

मैं जुगुप्सा... ग्लानि... ग्लानि। मैं जुगुप्सा को नहीं वेदता। मैं तो आत्मा का संचेतन करता हूँ। **मैं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्म...** स्त्रीवेद का नोकर्म अन्दर पड़ा है, उसका फल आवे तो वह मैं नहीं। मैं तो आत्मा आनन्द हूँ। स्त्री समकिती होती है तो

समकिती स्त्री को स्त्रीकर्मफल वेदने में नहीं आता। वह परवस्तु है, मैं नहीं। मेरे आनन्द के समक्ष वह दु:ख है। दु:ख का वेदन मेरा नहीं है। आहाहा! पश्चात् पुरुष है न?

मैं पुरुषवेदनोकषाय... सबमें वेदनीय डाला है। पुरुषवेद के उदय को मैं नहीं भोगता। मैं आत्मा अवेदी-वेद की जिसमें गन्ध नहीं। निर्मलानन्द का पिण्ड है, उसका फल संचेतन, वेदन, अनुभव, भोगना, वह मेरी चीज़ है। आहाहा! पुरुषवेदनीय कर्मफल का भोक्ता मैं नहीं हूँ। मैं तो **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही...** ऐसा 'ही' पड़ा है। आत्मा ही, दूसरा नहीं। आहाहा! सातवें गुणस्थान की बात है न? समकिती को भी भोगने का है परन्तु वह दु:खरूप जानता है। आहाहा! समझ में आया? क्या? नोकषायवेदनीय आवे, जुगुप्सा आदि (आवे), पुरुषवेद का उदय आवे तो उसे भी दु:खरूप जानता है। मेरे आनन्द का दल, आनन्द के नाथ के समक्ष वह पुरुषवेद का उदय निष्फल है। उसका कोई फल नहीं है, वह मेरी चीज़ नहीं है। ऐसा नीचे मानता है, होता है। यहाँ सातवें में तो होता ही नहीं। आहाहा!

मैं नपुंसकवेद... यह हिजड़ा, पावैया होता है न? पावैया होता है न? हिजड़ा। हमारे वहाँ पालेज में पैसे लेने बहुत आते थे। प्रत्येक दुकान से पैसा (लेने आवे)। उस समय एक पैसा कहाँ? चार पैसा, दो आना, तीन आना। दो-तीन हिजड़े ढोल-बजा-बजाकर प्रत्येक दुकान पर आवे। फिर दो-चार आना देना पड़े। आहाहा! यहाँ कहते हैं, वह नपुंसक मैं नहीं। अन्दर कदाचित् प्रकृति का फल आता है, समकिती को भी आता है। नारकी समकिती को नपुंसकवेद का उदय है। क्या कहा?

नारकी जीव में अभी श्रेणिक राजा हैं, चौरासी हजार वर्ष की स्थिति है। नपुंसकवेद का उदय है। आहाहा! वहाँ स्त्री-पुरुष नहीं। वे समकिती हैं, आत्मज्ञानी हैं, क्षायिक समकिती हैं और क्षण-क्षण में अभी तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं। नरक में भी नपुंसकवेद का उदय आता है (उसे) जानते हैं; वह मेरी चीज़ नहीं है। थोड़ा वेदन है, निर्बलता का वेदन है परन्तु वह मेरा नहीं, वह मेरी चीज़ नहीं। समझ में आया? आहाहा! पश्चात् कहाँ आया? स्त्री, पुरुषवेद आ गया, नपुंसक। नारकी नपुंसक (होते हैं)।

बड़ा चक्रवर्ती मरकर नरक में गया है। ब्रह्मदत्त। छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानावें

करोड़ सैनिकों का मालिक अभी नरक में है। नपुंसकवेद में है। सातवें नरक में है। नीचे सात नरक हैं। सब अभी सिद्ध करने जाएँ तो... वस्तु है। सात नरक हैं। वहाँ एक-एक नरक में अनन्त बार प्रत्येक प्राणी गया है। आहाहा! उसके दुःख का वेदन प्रभु कहते हैं, क्या करना? रत्नकरण्डश्रावकाचार में तो ऐसा लिखा है कि उस नरक का एक क्षण का दुःख करोड़ों भव में, करोड़ों जीभ से नहीं कहा जा सकता, प्रभु! ऐसा दुःख है, भाई! भूल गया न! वहाँ पहले नरक की बात। इससे दूसरे, तीसरे, सातवें... आहाहा!

पहले नरक की शीत का एक भोंपा शीत यहाँ लावे तो हजारों लोग सर्दी में मर जाएँ। नीचे सातवें नरक आदि में गर्मी है। उस गर्मी का यहाँ इतनी चिंगारी लावे तो आसपास के हजारों मनुष्य मर जायें, इतनी गर्मी। उसमें अनन्त बार रहा। सातवें नरक में अनन्त बार रहा, पहले नरक में (अनन्त बार रहा)। परन्तु समकिती कहते हैं, सातवें नरक में भी समकिती है परन्तु वह कहते हैं, यह फल मेरा नहीं है। भोगते हैं परन्तु मेरी चीज़ नहीं है। यहाँ तो बिल्कुल भोगता ही नहीं।

यह तो सप्तम गुणस्थान की बात है। यह मेरी चीज़ ही नहीं है। मैं तो आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का जिसे ज्वार आता है। आहाहा! जैसे समुद्र में ज्वार आता है, हमारे (गुजराती में) भरती कहते हैं, बाढ़, आहाहा! उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को और मुनि को पर्याय में आनन्द का ज्वार आता है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार की बात है। वह में नहीं, उस नपुंसक का फल मैं नहीं। अन्तिम यह आ गया न?

मैं नरक-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता,... नारकी के आयुष्य का बन्ध हो गया हो, अभी समकिती नरक में है, असंख्य समकिती नरक में है परन्तु नरक का आयुकर्म मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! नरक के आयुष्य का वेदन मेरा नहीं है। वेदन तो होता है, कषाय है न अभी? एक कषाय नहीं है, परन्तु तीन कषाय (चौकड़ी) है। अनन्तानुबन्धी का अभाव है। अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, संज्वलन के तीन कषाय वहाँ है। समकिती राजा, महाराजा मरकर गये हैं। भरत तो मोक्ष पधारे हैं। सातवें नरक में गया न? ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती। आहाहा! यहाँ सोते समय रात्रि में एक तिनका छूता हो, वस्त्र में

तिनका आ गया हो। ऐसे शरीर खुला हो तो अन्दर चुभे, वहाँ चिल्लाहट मचावे, किसने की यह शैय्या? आहाहा! कहाँ तिनका और वहाँ तो लोहे के तीक्ष्ण बाण द्वारा मार मारे। मैं आयुष्य का भोक्ता नहीं। आहाहा! सम्यग्दृष्टि को आत्मज्ञान हुआ, अपने स्वरूप की महिमा आयी, अपने स्वरूप की महिमा से उसके आनन्द का वेदन भी थोड़ा आया, उसके समक्ष आयुकर्म का मैं भोक्ता नहीं। आहाहा! नारकी आयुष्य। मैं तो **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।**

मैं तिर्यञ्च-आयुकर्म... आहाहा! निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यंच। ये सब तिर्यंच कहलाते हैं। लहसुन, प्याज में अनन्त बार उत्पन्न हुआ है। एक श्वास में अठारह भव किये हैं, ऐसे अनन्त बार किये हैं। एक बार नहीं, अनन्त बार। एक अन्तर्मुहूर्त में निगोद में इस आत्मा ने, प्रत्येक ने पूर्व में इतने भव किये हैं—छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस। एक अन्तर्मुहूर्त में। एक अन्तर्मुहूर्त—दो घड़ी के अन्दर। छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव किये। कहाँ किसे पड़ी है? जहाँ उत्पन्न हुआ और जहाँ व्यापार धन्धे में चढ़ गया, फिर मर गया, जाओ! आत्मा क्या, (इसकी खबर नहीं होती)। आहाहा! अन्तर्मुहूर्त में छयासठ हजार भव। निगोद में मरे, उपजे, मरे और उपजे, मरे और उपजे... आहाहा! एक अड़तालीस मिनिट के अन्दर छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस भव। ऐसे अनन्त बार किये, एक बार नहीं। परन्तु वहाँ समकिती होवे तो वह मानता है कि यह मेरे नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? तिर्यंच में भी समकिती होते हैं या नहीं? पंचेन्द्रिय में। आहाहा! **मैं तिर्यञ्च-आयुकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** संचेतन कहो, अनुभव कहो, वेदन कहो, भावना कहो—सब एक ही है।

मैं मनुष्यआयुकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! मनुष्य का आयुष्य मेरा नहीं है, वह तो जड़ का आयुष्य है। उसकी अवधि रहना, वह सब जड़ का है। मुझे उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! मैं मनुष्य आयुष्य का भोक्ता नहीं हूँ। अरे! **मैं देवआयुकर्म के फल को नहीं भोगता,...** देव... देव। सर्वार्थसिद्धि का एकावतारी देव। वहाँ से निकलकर मोक्ष में जाता है। सर्वार्थसिद्धि के देव। एक भव है, परन्तु ऐसा कहते हैं कि आयुष्यकर्म का उदय मेरे नहीं। वेदन तो है। वेदन है न? कषाय है न? तीन कषाय बाकी है। यहाँ तो उत्कृष्ट बात है। वेदन भी नहीं। यहाँ तो सातवें गुणस्थान की बात है।

अप्रमत्तदशा। आहाहा! उस अप्रमत्तदशा का पंचम काल में एकदम विरह पड़ा है, ऐसा नहीं है। किसी-किसी को होती है। छठवें-सातवाँ गुणस्थान (होता है)। यहाँ कहते हैं मैं उस आयुष्य का भोक्ता नहीं। आहाहा!

मैं नरकगतिनामकर्म... वह आयुष्य था। आयुष्य—शरीर की स्थिति। अब यह गति (लेते हैं), यह नामकर्म है। नरकगति नामकर्म का भोक्ता मैं नहीं हूँ। आहाहा! समकिती नरक में रहा है तो भी उसका परमार्थ से भोक्ता नहीं है। थोड़ा वेदन है। **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।**

मैं तिर्यञ्चगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! पंचेन्द्रिय हो तब तक समकिती होता है। पश्चात् इस तिर्यंचगति को मैं नहीं भोगता, उसमें निगोद—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय नहीं लेना। वे गिने जाते हैं तिर्यंच में, परन्तु उन्हें मन नहीं है, समकित नहीं है। पंचेन्द्रिय तिर्यंच होता है, उसे समकित है। असंख्य (समकिती) ढाई द्वीप के बाहर हैं। **मैं तिर्यञ्चगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! तिर्यंचगति का उदय मेरा नहीं है। आहाहा! हाथी और सिंह और बाघ को आत्मज्ञान होता है तो उसकी गति का फल जानते हैं कि यह पर है, मेरी चीज़ नहीं। और सच्चे मुनि होते हैं, उन्हें तो वेदन ही नहीं है। अप्रमत्तदशा (है)। आहाहा! तिर्यंचगतिनामकर्म को (भोगता नहीं), उसमें पंचेन्द्रिय लेना। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय (चौइन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय) को समकित नहीं होता। आहाहा!

मैं मनुष्यगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... मनुष्यगति में केवल (ज्ञान) प्राप्त होता है, ऐसा कोई कहता है। वह कुचामनवाला एक पण्डित आया था न? कुचामन नहीं? राजमल का (मित्र) पण्डित आया था। वह कहे, यह मनुष्यपना केवलज्ञान का कारण है। अरे रे! क्या करे? कहाँ एक चीज़ दूसरी चीज़ को स्पर्श नहीं करती तो दूसरी चीज़ से दूसरी चीज़ में कुछ हो, ऐसा कभी तीन काल में नहीं होता। यहाँ कहते हैं, तिर्यंचगति तो नहीं, मनुष्यगति भी नहीं। मनुष्यगति से धर्म नहीं होता। मनुष्यगतिनामकर्म के फल को नहीं भोगता, मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ।

मैं देवगति... नहीं। देव होते हैं न? समकिती देव होते हैं। उस देवनामकर्म के फल

को नहीं भोगता। **मैं एकेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** यह एकेन्द्रिय समकिती नहीं होता परन्तु समकिती को पूर्व में बँधा हुआ एकेन्द्रिय का उदय आता है। समझ में आया? पूर्व में एकेन्द्रिय (कर्म) बँधा हो, उसका फल आवे परन्तु उसके तो छूट जाता है। पंचेन्द्रिय है, समकिती है। एकेन्द्रिय को कुछ है नहीं। परन्तु यह तो एकेन्द्रिय का फल समकिती को पूर्व में बँधी हुई प्रकृति है तो उदय में आती है। जैसे अभी मनुष्यगति है, परन्तु अन्दर तो चारों गति का उदय है। तीन गति का उदय खिर जाता है। आहाहा! यहाँ एकेन्द्रिय का कहा। वह स्वयं है पंचेन्द्रिय, समकिती है, वह ऐसा कहता है, एकेन्द्रिय का उदय आवे, उसका फल मैं नहीं भोगता। एकेन्द्रिय का तो है ही क्या? आहाहा! समझ में में आया? प्रत्येक बात में अन्तर है। अमृतचन्द्राचार्यदेव ने भी टीका में नाम लिखे हैं। एक-एक के नाम लिखकर बात की है। आहाहा!

मैं द्वीन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... दो इन्द्रिय का उदय आवे। समकिती हो और पूर्व में बाँधे हुए का उदय, उसे नहीं भोगता। उसी तरह तीन इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय। ऐसे चार इन्द्रिय, ऐसे पाँच इन्द्रिय। **पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म के फल को नहीं भोगता...** पंचेन्द्रिय में समकिती होता है। सातवें गुणस्थानवाले भी पंचेन्द्रिय मनुष्य हैं। वे तो कहते हैं मैं तो बिल्कुल नहीं भोगता। वह तो यहाँ कहते हैं, हों! मैं भोगता नहीं, ऐसा विकल्प नहीं है। वहाँ तो अनुभव में ही है। आहाहा! समझाने में तो किस प्रकार से समझावे? आहाहा!

मैं औदारिकशरीरनामकर्म... औदारिकशरीर। औदारिकशरीर मिले तो धर्म होता है। 'शरीर आद्यम् खलु धर्म साधनम्' पुरुषार्थसिद्धिउपाय में शब्द है। यह तो निमित्त का कथन है। 'शरीर आद्यम् खलु धर्म साधनम्' यह तो निमित्त की बातें हैं। शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता। आत्मा शरीर को स्पर्श नहीं करता और शरीर आत्मा को स्पर्श नहीं करता। इस औदारिकशरीर को मैं नहीं भोगता। आहाहा! साथ-साथ में प्रत्येक में शब्द लेते हैं कि आत्मा कौन है? कि चैतन्यस्वरूप आत्मा, वह तो चैतन्यस्वरूप आत्मा है। वह कोई गति आदि स्वरूप नहीं है।

वैक्रियिकशरीरनामकर्म... नारकी को, मनुष्य को, मुनि को कोई वैक्रियक का उदय हो परन्तु उस कर्म के फल को मैं नहीं भोगता। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही

संचेतन करता हूँ। वैक्रियिकशरीरनामकर्म। मैं आहारकशरीर को नहीं भोगता। आहाहा! मुनि को आहारकशरीर होता है, दूसरे को नहीं होता। उनको आहारकशरीर होता है, उसका उदय भी होता है, परन्तु उसके भोक्ता नहीं है। आहाहा! मैं तैजसशरीर, अन्दर तैजसशरीर है, जो यह गर्मी लगती है न, यह लगती है वह अन्दर तैजसशरीर है। यह गर्मी लगती है न? गर्मी। अन्दर तैजसशरीर है। यह औदारिक है, एक तैजस है, एक कार्मण है। कर्म... कर्म। कर्म के रजकण। तीन शरीर अन्दर हैं। आहाहा! वह शरीर मैं नहीं हूँ। **मैं आहारकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! मुनि को आहारकशरीर होता है। सातवें गुणस्थान में। मैं भोगता नहीं।

मैं तैजसशरीरनामकर्म... तैजसशरीर। अन्दर तैजसशरीर है, उसे नहीं भोगता। **मैं कार्मणशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** ओहोहो! कार्मण की प्रकृति १४८ का दल। मैं कार्मणशरीरनामकर्म का भोक्ता नहीं हूँ। आहाहा! मैं तो **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** यह लोग शोर मचाते हैं न? कि कर्म के कारण से ऐसा होता है, कर्म के कारण से ऐसा होता है। कर्म भोगने पड़ते हैं; बाँधे हैं, वे भोगने पड़ते हैं। यहाँ कहते हैं, बाँधे हो, उन्हें भोगना पड़े, यह समकिती को नहीं है। आहाहा! **मैं औदारिकशरीर-अंगोपांग...** औदारिकशरीर अंगोपांग की प्रकृति है, उसे नहीं भोगता। मैं वैक्रियिकशरीर अंगोपांग को नहीं भोगता। आहारीशरीर तो मुनि को ही होता है, उसके भी अंगोपांग के फल को नहीं भोगता।

मैं औदारिकशरीरबन्धन... एक प्रकृति है। औदारिकशरीर के बन्धन की प्रकृति है, उसके फल को नहीं भोगता। **मैं वैक्रियिकशरीरबन्धन...** नामकर्म है, उसे भी नहीं भोगता। आहाहा! **मैं आहारकशरीरबन्धननामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान केवली के अतिरिक्त यह बात कहीं होती नहीं। केवली के अतिरिक्त किसी ने कार्मणशरीर और आत्मा के असंख्य प्रदेश नहीं देखे। कार्मणशरीर में एक-एक परमाणु और एक-एक में अनन्त गुण, अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें केवली भगवान ने देखी हैं। आहाहा! यहाँ ऐसा कहते हैं कि, समकिती जीव... आहाहा! आहारकशरीरनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ। मैं तैजसशरीरनामकर्म

को नहीं भोगता। मैं कार्मणशरीर बन्धन का भोक्ता नहीं हूँ।

मैं औदारिकशरीर–सघांतनामकर्म... एक साथ परमाणु इकट्ठे होते हैं न? बन्धन में इकट्ठे होते हैं, वे मुझमें नहीं है। ऐसा सब लेना। ऐसे वैक्रियिकशरीर अंगोपांग बन्धन, ऐसे आहारकशरीर –संघातनामकर्म, ऐसे तैजसशरीरसंघातनामकर्म, ऐसे कार्मणशरीरसंघातनामकर्म का भोक्ता नहीं हूँ।

मैं समचतुरस्रसंस्थान... शरीर का समचतुरस्त्रसंस्थान के उदय को मैं नहीं भोगता। आहाहा! समचतुरस्रसंस्थान में भी केवलज्ञान होता है, दूसरे संस्थान में भी केवलज्ञान होता है। संहनन में पहले संहनन में होता है। संस्थान में चाहे जो संस्थान (हो)। धर्म तो हुण्डकसंस्थान में भी धर्म होता है। कार्मणशरीरसंघात नामकर्म को नहीं भोगता। है? मैं समचतुरस्रसंस्थान नहीं। मैं निगोद संस्थान... संस्थान अर्थात् शरीर का आकार। उस प्रकृति को मैं नहीं भोगता। आहाहा!

मैं सातिसंस्थान... यह सातिसंस्थान संस्थान का भेद है, उसे नहीं भोगता। **मैं कुब्जकसंस्थान...** कुब्ज निकलती है न? कुबड़ बाहर निकलती है। उस नामकर्म को मैं नहीं भोगता। आहाहा! **मैं वज्रनाराचसंहनन...** आया? **मैं वामनसंस्थान...** यह वामन (अर्थात्) ठिगना शरीर होता है। **मैं हुंडकसंस्थान...** अन्तिम छोटा संस्थान है। पश्चात् **मैं वज्रनाराचसंहनन....** लो, व्रजनाराचसंहनन के बिना केवल (ज्ञान) नहीं होता, ऐसा कहते हैं। बात सत्य है, होता है परन्तु उससे केवलज्ञान होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं मैं व्रजनाराचसंहनन का भोक्ता ही नहीं। आहाहा! व्रजनाराच दूसरे नम्बर का है, उसे भोगता नहीं। तीसरे नम्बर का नाराच (संहनन), वह भी नहीं। ऐसे अर्धनाराच, वह नहीं। ऐसे कीलिकासंहनन आकार, वह नहीं। अन्तिम संस्थान, अन्तिम संस्थान के फल को नहीं भोगता। आहाहा!

मैं स्निग्धस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... स्निग्ध... स्निग्ध। नामकर्म में स्निग्ध होता है, उसके कारण शरीर में स्निग्धता होती है, उसे नहीं भोगता। आहाहा! **मैं शीतस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! ऐसे **मैं उष्णस्पर्श...** गर्म या शीत को मैं नहीं भोगता। शीतल चीज़ को भोगता नहीं, गर्म को भोगता नहीं। आहाहा! यहाँ तो

हवा अनुकूल आवे, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाता है। दरवाजा बन्द हो जाए तो लू लगे, वहाँ नाराज हो जाता है। यहाँ कहते हैं, धर्मी जीव को उस समय वह उदय आता है परन्तु उसे जानता है, भोगता है परन्तु पररूप से भोगता है। सातवें में तो भोगता भी नहीं। आहाहा! यहाँ आया न?

रूक्षस्पर्श... रूखा... रूखा। रूखा स्पर्श को मैं भोगता नहीं। आम के स्पर्श को आत्मा छूता नहीं। यह तो उदय के कर्म की बात है। जो स्पर्श कर्म पड़े हों, वे उदय में आवे, उन्हें मैं भोगता नहीं। आहाहा! रूक्षस्पर्श, शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श। **मैं गुरुस्पर्श...** भारी स्पर्श को भोगता नहीं। वह उदय में आवे, हों! कर्म के उदय में। उस गुरुस्पर्श को मैं भोगता नहीं। मैं लघु को भोगता नहीं। आहाहा! १४८ के सबके नाम दिये हैं और प्रत्येक का हेतु है। कोई भी गुणस्थान में हो, कितना भोगे, कौन बिल्कुल न भोगे, किसे उदय भी नहीं होता, यह सब बात इसमें से निकलती है। क्योंकि एकेन्द्रिय को पंचेन्द्रिय का उदय बाह्य में नहीं होता, अन्दर हो वह खिर जाता है। आहाहा! पंचेन्द्रिय को एकेन्द्रिय का उदय नहीं होता, अन्दर प्रदेश उदय होता है, वह खिर जाता है। यह तो कहते हैं कि प्रदेश उदय विपाक बाहर में आवे तो भी मैं भोक्ता नहीं। आहाहा! ऐसा विचार कौन करे? इसमें निवृत्ति कहाँ? पूरे दिन पाप। यह कमाना और स्त्री और पुत्र और... आहाहा!

कहते हैं कि हल्का स्पर्श, रुई जैसा स्पर्श। ऐसा कर्म का उदय अन्दर हो, उसे मैं भोगता नहीं। मैं मृदु—कोमल... कोमल। कोमल—रेशम जैसा कोमल। ऐसी प्रकृति का उदय आवे। उसे मैं भोगता नहीं। यह बाहर की चीज़ की बात नहीं है, हों! बाहर के स्पर्श को छूता नहीं। यहाँ यह बात नहीं है। उस स्पर्श को तो आत्मा छूता भी नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, यह सिद्धान्त तो पहले रखना।

दो सिद्धान्त पक्के रखना। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ नहीं कर सकता। क्रमबद्ध... क्रमबद्ध। आहाहा! प्रत्येक द्रव्य की क्रमबद्ध पर्याय होती है। कक्षा अनुसार। जैसे पहली कक्षा, दूसरी कक्षा, तीसरी कक्षा ऐसी कक्षासर पर्याय चलती है, आगे-पीछे नहीं। आहाहा! इसमें कितना याद रखे? घर में निवृत्ति नहीं होती। इसमें तो बहुत भरा है, हों! ऊपर-ऊपर से थोड़ा-थोड़ा कहते हैं। आहाहा!

मैं कर्कशस्पर्शनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! **मैं मधुररस...** आहाहा! चूरमा का रस, उसकी प्रकृति की बात है, हों! अन्दर प्रकृति का उदय हो, उसका मैं भोक्ता नहीं। इस बाहर की चीज़ का भोक्ता तो मैं हूँ ही नहीं। लड्डू को, रोटी को और घी को मैं खाता ही नहीं और मैं छूता भी नहीं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। यहाँ दो सिद्धान्त पक्के रखना। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं और प्रत्येक द्रव्य की क्रमसर, क्रमबद्ध, कक्षासर पर्याय चलती है। एक, दो, तीन, चार ऐसे चलती है, आड़ी-टेढ़ी नहीं। आगे-पीछे पर्याय नहीं होती। आहाहा! निवृत्ति कहाँ हो इतनी ? यहाँ तो बहुत भरा है। बहुत लम्बा हो जाए इसलिए... १४८ प्रकृति है। प्रकृति का उदय आवे, वह जीव की बात है। उदय आकर बाहर में फल आया है, पंचेन्द्रिय हुआ, उसकी बात नहीं है, एकेन्द्रिय हुआ, उसकी बात नहीं है। एकेन्द्रिय नाम की प्रकृति अन्दर में उदय आवे, उसे मैं भोगता नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार मधुर—मीठेरस के फल का उदय आवे, उसे मैं भोगता नहीं। खट्टा रस। खट्टा, खट्टा कहते हैं न ? खट्टा। आम्लरस को मैं भोगता नहीं, मैं चरपरे रस को भोगता नहीं। चरपरा... चरपरा। मिर्च आदि। उसके कर्म का उदय आवे। यहाँ तो उदय की बात है, हों! चरपरे नामकर्म के उदय में मैं जुड़ता नहीं। मैं तो मुझमें एकाग्र होता हूँ। मैं एकाग्र होता हूँ, परन्तु मुझमें। उदय आवे, उसमें नहीं। आहाहा! चरपरा रस... चरपरा... चरपरा... चरपरा। उदय, हों! उदय की बात है। चरपरा रस यह बाहर में आवे वह नहीं। अन्दर में चरपरेरस की प्रकृति का उदय आवे, नामकर्म की प्रकृति के फल का मैं भोक्ता नहीं। उसका फल बाहर आवे, उसकी बात नहीं है। चरपरे रस के उदय के कारण चरपरा आदि मिले, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो मात्र अन्दर उदय आवे, उसे मैं भोगता नहीं, इतनी बात है। आहाहा!

तिक्तरस। कड़वा। आहाहा! कड़वा रस, कड़वा। अफीम जैसा। कषायरसनामकर्म है। कसायलारस। कसायला रस आता है न ? कषाय नहीं, हों! कसायला रस। उस रसनामकर्म की प्रकृति के उदय को मैं भोगता नहीं। सुरभिगन्ध। सुरभिगन्ध की प्रकृति का उदय मैं भोगता नहीं। मैं दुरभिगन्ध की प्रकृति को भोगता नहीं। आहाहा!

मैं शुक्लवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... अन्दर सफेद वर्णनामकर्म का उदय आवे। सफेदरूप मिले, वह नहीं। अन्दर की प्रकृति में जो आवे, उसे मैं भोगता नहीं। आहाहा! उसकी अभी यह बात है। आहाहा! शुक्ल आया न? पश्चात रक्त—लाल वर्ण को मैं भोगता नहीं। वर्ण उदय आवे उसे। ऐसे पीला वर्ण, उसे भोगता नहीं, हरा वर्ण, उसके फल को भोगता नहीं। आहाहा! **मैं कृष्णवर्णनामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** आहाहा! यहाँ तक तो यह आया।

अब नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्म है। यह नामकर्म की बात है, हों! पहले गति की, आयुष्य की यह बात नहीं है। नामकर्म की गति है, उसमें एक नरकगति नाम की प्रकृति है, उसका उदय अन्दर आता है तो उसे मैं भोगता नहीं। विशेष कहा जाएगा....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३७, कर्म प्रकृति-१०८ से १४८, शुक्रवार, आषाढ़ शुक्ल ८
दिनांक - १८-०७-१९८०

समयसार, १०८ बोल चले हैं। है क्या यह ? कि यह आत्मा जो है, वह अनन्त गुण से निर्लेप शुद्ध आनन्दकन्द प्रभु है। उसे मैं राग करूँ, कराऊँ या अनुमोदन करूँ, यह नहीं है। यह भूतकाल का प्रतिक्रमण करने का भी समझाते हैं। वापस मुड़ता हूँ, मैं तो मेरे स्वरूप में (जाता हूँ)। भविष्य के लिये भी मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमान के लिये मुझे कुछ करना नहीं है। १४७ बोल, एक-एक में ४९ बोल चले। प्रतिक्रमण के ४९, प्रत्याख्यान के ४९, आलोचना के ४९। (ऐसे) १४७ भंग से मैं कर्ता नहीं। रागादि, दया, दानादि के विकल्प का कर्ता नहीं। भूतकाल में किया, उसका भी निषेध करता हूँ। भविष्य में करने की बन्दी (रोक) करता हूँ, वर्तमान में उसकी बन्दी है। आहाहा! अकेला आत्मा, जिसमें तीन काल के करने का बन्द हुआ है। अब बाकी रहा पूर्व का बँधा हुआ कर्म। यह १४८ प्रकृति। यह १४७ बोल हैं, यह १४८ प्रकृति है। १४७ में करने की बात है कि मैं कर्ता नहीं, करानेवाला नहीं, अनुमोदन करनेवाला नहीं। इसमें पूर्व का बाँधा हुआ कर्म उदय आवे, उसका मैं भोक्ता नहीं, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! ऐसी चीज़ है।

वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। चैतन्यवस्तु जो है, वह आनन्द और शान्ति का सागर है। भूतकाल, भविष्य और वर्तमान उसका करना, कराना और अनुमोदना किसी भंग में मैं नहीं हूँ। तथा मैं आत्मा पूर्व में किसी अज्ञानभाव से बँधे हुए कर्म हैं, उसके फल समय मैं उसका भोक्ता नहीं हूँ। आहाहा! चारित्र की व्याख्या है, परन्तु करना, भूत का, वर्तमान और भविष्य तीनों का निषेध किया है और अब पूर्व के भोक्ता का निषेध है। आहाहा! यहाँ तक आया है। १०८।

नरक आयु का कर्म बँधा हो तो वह मुझे भोगना नहीं। आहाहा! मुझे करना तो नहीं कुछ, परन्तु भोगना नहीं कुछ। आहाहा! इन दो शब्दों में (सब है)। तीन सौ बोल में (पाँच) बोल कम। १४७ और १४८। बात यह है कि मैं आत्मा एक ज्ञानस्वरूप हूँ। आहाहा! चैतन्यबिम्ब हूँ, अनाकुल आनन्द का सागर, अरूपी सागर हूँ। उस मेरी चीज़ में करने का तो होता नहीं परन्तु पूर्व में बाँधे हुए कर्म के फल को भोगने का होता नहीं।

आहाहा! तब तो उसे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र होता है। मूल दो बातें ली हैं। मूल तो वस्तु त्रिकाल चैतन्य शुद्ध है, उसे कुछ करना ऐसा भूत, भविष्य में कुछ है नहीं। तथा करना अकेला नहीं, किसी भी पुण्य-पाप का करना, कराना और अनुमोदना, यह स्वरूप में नहीं है। आहाहा! आत्मा का स्वभाव कोई भी क्रिया करूँ, कराऊँ, अनुमोदन से रहित ही मेरी चीज़ है, ऐसा धर्मी अन्दर जानता है। उसे धर्मी कहते हैं। आहाहा!

कुछ भी कोई चीज़, १४७ भंग में किसी एक भंग का कर्ता होवे तो वह आत्मा रहता नहीं। आहाहा! उसमें १४८ प्रकृति है, वह तो जड़ है, अजीव है। उसके पाक के काल में उसके फलरूप से अनुभाग उदय आवे, वह तो प्रकृति का स्वरूप है परन्तु मुझे उसे भोगना नहीं; मैं तो आनन्द का भोगनेवाला हूँ। इस कर्म के दु:खफल को मैं भोगनेवाला नहीं हूँ। आहाहा! यह धर्म, यह जैनधर्म। आहाहा! यहाँ तक (आया है)।

मैं नरक की गति को भोगनेवाला नहीं। श्रेणिक राजा नरक में गये, तो नरकानुपूर्वी प्रकृति थी, उसकी प्रकृति भी थी। निमित्तरूप से साथ में पीछे वह गयी। आत्मा अपनी योग्यता के कारण ऐसे नरक में गया, प्रकृति के कारण से नहीं। आहाहा! क्योंकि पूर्व में बाँधी हुई योग्यता है, उसके कारण से ऐसे जाता है, तथापि उसकी दृष्टि पर्याय के ऊपर नहीं है। आहाहा! करने के ऊपर तो नहीं, कराने के ऊपर तो नहीं, कर्ता को अनुमोदनरूप से तो नहीं, परन्तु दृष्टि के विषय में पर्याय भी नहीं। दृष्टि त्रिकाली ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप, त्रिकाल एक धारा से रहनेवाला नित्यानन्द प्रभु, वह मैं हूँ। आहाहा! करना तो है नहीं, तब अब पूर्व में प्रकृति बाँधी हुई है, वह तो है प्रदेश के ऊपर और उसका उदय भी आता है, तो कहते हैं नरक की गति का (कर्ता-भोक्ता मैं नहीं हूँ)।

श्रेणिक राजा नरक में गये हैं। नरकानुगति का उदय वहाँ साथ में है परन्तु यह कहते हैं, मैं उसे भोगता नहीं। आहाहा! प्रकृति पड़ी है, वह निमित्तरूप से प्रकृति साथ में जाती है, परन्तु आत्मा अपनी योग्यता से जाता है। नरकानुपूर्वी के कारण से नहीं। परन्तु योग्यता से जाता है, वह मैं नहीं। आहाहा! पर्याय की योग्यता से जाता है, आनुपूर्वी कर्म से तो नहीं, परन्तु मेरी योग्यता से जाता हूँ, वह मैं नहीं। मैं तो ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप हूँ। आहाहा! यह जो पर्याय होती है, उसका मैं जाननेवाला हूँ। उस पर्याय का करनेवाला और भोगनेवाला

मैं नहीं हूँ। आहाहा! ऐसी शर्तें हैं। धर्मी जीव को धर्मरूप रहने में ऐसी शर्तें हैं। धर्म ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि बाहर से कुछ कर दे और यह हो जाए।

अन्दर वस्तु भगवान अनादि-अनन्त नित्यानन्द प्रभु विराजता है। उसे दु:ख भी नहीं, राग भी नहीं और फल को भोगना, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी दृष्टि धर्म की हो, तब तो उसे समकिती कहा जाता है। तब उसे धर्म की पहली श्रेणीवाला, पहली सीढ़ी और सोपानवाला कहा जाता है। आहाहा! यहाँ तो कुछ धर्म अर्थात् एकेन्द्रिय की दया पालन कर दी, मिच्छामि दुक्कडम कर डाला। ऐसा नहीं है, भाई! आहाहा!

इसका स्वरूप ही भगवान परमेश्वरस्वरूप है। परमेश्वर क्या करे? जिसकी दृष्टि में परमेश्वर आया... आहाहा! परमात्मा जिसकी दृष्टि में आया, वह क्या करे? और किसे भोगे? यह कर्ता और भोक्ता के दो बोल हैं। १४७ कर्ता के हैं, १४८ भोक्ता के हैं। मूल तो कर्ता-भोक्ता के (बोल हैं)। आहाहा!

मैं चिदानन्द आत्मा नरकगति का (भोक्ता नहीं)। यह श्रेणिक राजा गये। प्रकृति साथ में थी परन्तु उसका मैं भोगनेवाला (नहीं)। आहाहा! १०८ आ गये न? मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ। मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्मा, आनुपूर्वीस्वरूप आत्मा वह नहीं। आहाहा! और मेरी योग्यता से नरक में जाता हूँ, वह योग्यता भी पर्याय है, वह मैं नहीं। आहाहा! पर्यायदृष्टि से मेरी योग्यता से मैं जाता हूँ, कर्म के कारण नहीं। आयुष्य बँध गया, इसलिए नहीं। आहाहा! इसमें कितना बदलना? आहाहा!

भगवान अन्दर चैतन्य हीरा है, उसे जाना और माना कहलाये, और उसने धर्म को स्वीकार किया, ऐसा कहलाये कि जो वर्तमान में तीनों काल के कर्म को करे और कर्ता को अनुमोदे नहीं। आहाहा! उसने चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप है, ऐसा आत्मा उसने जाना। यह शब्द है न? **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** १०८। मैं तो आत्मा के आनन्द का संचेतन (करता हूँ)। सम—सम्यक् प्रकार से चेतन, उसे चेतता हूँ। आहाहा! मैं कर्म के फल को चेतता कर्मचेतना मुझे नहीं है। आहाहा! ज्ञानचेतना द्वारा मेरा स्वरूप जो ज्ञान त्रिकाल है, उसे पर्याय में अनुभव करता हूँ। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज़ मुझे अनुभव की नहीं है। बाँधे हुए कर्म भोगना पड़ेंगे, ऐसी जो बातें आती हैं। वह यहाँ तो कहते हैं कि वह बाँधा भी नहीं और मुझे आयेगा भी नहीं। आहाहा!

१०९। **मैं तिर्यञ्चगत्यानुपूर्वी–नामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** तिर्यंच—पशु में अनन्त बार गया न ? तो एक तिर्यंच नाम की आनुपूर्वी नाम की प्रकृति है। नामकर्म की ९३ प्रकृतियाँ हैं। उसमें एक यह प्रकृति है कि जिस बैल को जैसे नाथ डालकर खींचकर ले जाते हैं, वैसे आनुपूर्वी निमित्तरूप से तिर्यंचगति में ले जाती है, परन्तु कहते हैं, तिर्यंचगति के फल को मैं नहीं भोगता। तिर्यंचगति में सिंह और बाघ अभी समकिती हैं, ढाई द्वीप के बाहर सिंह और बाघ, हिरण और मृग, खरगोश, सर्प, वे असंख्य समकिती अभी हैं। यह कहते हैं कि तिर्यंचगतिनामकर्म के फल को मैं नहीं भोगता। आहाहा! थोड़ा-बहुत जानपना हो, उसे यह खबर पड़े। प्रकृति की कुछ खबर नहीं होती और फिर भंग क्या और यह प्रकृति क्या ? इसका फल क्या बाँधा ? उसे कुछ खबर नहीं होती, उसे अध्धर से धर्म समझना कठिन पड़ता है। आहाहा!

मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! परन्तु है न मनुष्य ? नहीं, मैं मनुष्य ही नहीं न! मनुष्य को आनुपूर्वी के कारण यहाँ आया ? कि, नहीं। यह आनुपूर्वी नाम की प्रकृति है, परन्तु उसमें मैं नहीं। मैं मेरी योग्यता से आया हूँ, वह भी मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! मेरी पर्याय की योग्यता से मैं मनुष्य में रहा हूँ और आया हूँ, वह भी पर्यायदृष्टि का विषय है, वस्तु नहीं। आहाहा! बाबूभाई! अब इतने सब विचार कौन करे ? जय नारायण। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! एक दिन देह छूटनेवाली है। अन्दर भगवान है, वह तो दूसरी सत्ता में चला जाएगा।

यहाँ कहते हैं कि मैं तिर्यंच में होऊँ या मनुष्य में होऊँ परन्तु मनुष्यगति भी मैं नहीं, मनुष्य आनुपूर्वी प्रकृति मुझे लायी है, वह मैं नहीं। आहाहा! मैं मनुष्य नहीं। शान्तिभाई! मैं चैतन्यस्वरूप (आत्मा हूँ)। अन्त में आया न ? **मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** तब **चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।** आहाहा! ११०वाँ बोल। आहाहा! मैं यहाँ आया हूँ, वह कहीं कर्मप्रकृति के कारण नहीं और वर्तमान प्रकृति को मैं भोगता हूँ, ऐसा भी नहीं। आहाहा! मैं मेरी योग्यता से यहाँ आया हूँ। मेरी पर्याय की योग्यता। इस शरीर में जो आत्मा रहता है, वह आयुष्य के कारण नहीं। आयुष्य तो जड़कर्म पर है। स्वयं को इतनी रहने की योग्यता हो, उतना वहाँ रहता है। ऐसा ही इसकी पर्याय

का स्वभाव है। तथापि उस पर्याय को मैं करनेवाला नहीं और उस पर्याय का भोगनेवाला नहीं। आहाहा!

मनुष्यगति मिली, वह प्रकृति के कारण नहीं। अपनी योग्यता, वह योग्यता भी मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! मैं त्रिकाली ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप हूँ। मैं इस मनुष्य नामकर्म की प्रकृति को नहीं भोगता। इस प्रकृति को अभी करता तो नहीं परन्तु पूर्व में किया था, उसका फल आया, उसे भी भोगता नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मैं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्य और तिर्यंच, वैमानिकदेव में ही जाता है। वह आयुष्य ऐसा होता है परन्तु कहते हैं कि उस आयुष्य के कारण मैं नहीं। आहाहा! मैं तो मेरी पर्याय की योग्यता के कारण देव में रहा हूँ। वह पर्याय की योग्यता भी मेरा त्रिकाली स्वरूप नहीं है। आहाहा! मेरे दृष्टि के विषय में मैं तो देव की पर्याय के योग्य नहीं। आहाहा! भान हुआ है, बहुत गहरा किया है। कर्तापने को नौ-नौ कोटि से छुड़ाया है। भूतकाल का प्रतिक्रमण, वर्तमान का आलोचन, भविष्य का प्रत्याख्यान। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। जाननेवाला, देखनेवाला मेरी सत्ता में पर का जरा भी स्पर्श और छूता नहीं, ऐसा मैं आत्मा कैसे मैं रागादि करूँ? और कैसे मैं उसके पूर्व के बाँधे हुए फल को भोगूँ? आहाहा! ऐसा विषय है। सूक्ष्म है। आहाहा!

मैं देव नहीं। समकिती देव में ही जाता है। आहाहा! अभी कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य वैमानिकदेव में विराजते हैं। वैमानिकदेव। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में समकिती नहीं जाता। क्योंकि वे हल्के देव हैं। वह ऊँचे वैमानिक में जाता है। परन्तु कहते हैं कि उस अनुपूर्वी प्रकृति के कारण यहाँ से मैं गया, यह नहीं। मैं तो मेरी योग्यता से गया। वह योग्यता भी मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा! मेरा स्वरूप तो चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द है। त्रिकाली ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द। आहाहा! यह धर्मी को ऐसी शर्तें हैं। ऐसे धर्मी हो नहीं जाए। धर्मी, धर्मी के तरीके से हुआ जाता है। आहाहा! ऐसे भंग सुने भी न हों। बस! रुपये सुने, रुपये। आहाहा! बहुत सरस बात है।

मैं आत्मा हूँ तो मुझमें भूतकाल, वर्तमान, भविष्य का कुछ करना मेरे सिवाय—ज्ञाता-दृष्टा के सिवाय कुछ करना, वह मेरे स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! मैं एक चैतन्य

जाननेवाला-देखनेवाला आत्मा हूँ। इस जानने-देखने की पर्याय के अतिरिक्त मैं कुछ करने में तीन प्रतिक्रमण या आलोचना, उसमें कहीं हूँ नहीं। यह करने में तो नहीं परन्तु पूर्व में बाँधा हुआ है अज्ञान का, उसका क्या ? यह तो और ज्ञान वर्तमान है, इसलिए तुम इसे कर्ता नहीं (कहते हो)। परन्तु पूर्व में बाँधा हुआ, उसका (क्या) ? कि उसका भी भोक्ता मैं नहीं हूँ। आहाहा! देवप्रकृति में जाएगा। समझ में आया ? आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य, पद्मप्रभमलधारिदेव सब देवलोक में हैं। श्रीमद् राजचन्द्र वैमानिकदेव में हैं। उन लोगों के भक्त ऐसा कहते हैं कि महाविदेह में गये, वहाँ केवल (ज्ञान) प्राप्त हुआ। झूठ बात है। समकिती मनुष्य मरकर मनुष्य होता ही नहीं, ऐसा सिद्धान्त तीन काल का सिद्धान्त है। समकिती मनुष्य और तिर्यंच हो तो वैमानिक में ही जाता है। नारकी हो, वह मनुष्य में ही आता है। आहाहा! समकिती देव हो, वह मनुष्यपने में ही आता है। आहाहा! ऐसे सब नियम भगवान के कहे हुए हैं। भगवान के कहे हुए अर्थात् जानकर कहा है कि ऐसा है। आहाहा!

देव नामकर्म की प्रकृति। समकिती को तो देव में जाना ही है। आहाहा! तथापि उस प्रकृति का फल मुझे नहीं। मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ, उसका भी जाननेवाला, देखनेवाला व्यवहार से हूँ। आहाहा! यहाँ से देवलोक में जाएगा, वह आनुपूर्वी के कारण जाता है। उसके कारण तो नहीं परन्तु मेरी योग्यता के कारण नहीं। मेरे स्वरूप में वह है ही नहीं। मैं तो ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द हूँ। आहाहा! इस धर्मी के लिये यह शर्त है। ऐसी बात है। यह साधारण बात नहीं कि यह अमुक प्रकृति गयी, इतने सब बोल आ गये। एक-एक बोल में जिस जीव को जिसे जिस प्रकृति का उदय आवे या पूर्व में वर्तमान कुछ करता हो, वह करने का मैं नहीं। मैं तो जाननेवाला हूँ और पूर्व में किया उसके फल को मैं तो जाननेवाला हूँ। आहाहा! यह भी व्यवहार से पर के फल को जाननेवाला हूँ, निश्चय से मेरे ज्ञान को, ज्ञान को जाननेवाला हूँ। आहाहा!

अनन्त आत्मा और अनन्त परमाणु में बीच में मैं अकेला पृथक् (रहा हूँ)। मुझे और पर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! निराला... आहाहा! नक्करकाट। कर बिना का अकेला। नक्करकाट कहते हैं न ? नक्करकाट। नक्कर है और काट अर्थात् मैल नहीं।

आहाहा! भाषा तो बोलते हैं परन्तु वह उसकी रूढ़ि भाषा (बोलते हैं)। उसके भाव में (भासन नहीं है)। मैं तो पर से नक्करकाट हूँ। पर का कर्म उसे नहीं, मुझमें उसका मैल नहीं, पर का मुझे देना भी नहीं, पर का मुझे लेना भी नहीं। आहाहा! ऐसा है। वह तो नहीं परन्तु पूर्व की प्रकृति का उदय आवे, उसे मैं भोगता नहीं। पर्याय में जो कुछ भोगा जाता है, उसे भी मैं वास्तव में तो जानने और देखनेवाला हूँ। आहाहा! भोगने की पर्याय को भी ज्ञाता-दृष्टारूप से जानना, वह मेरा स्वभाव है परन्तु देव को और नरक को मैं भोगूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं। आहाहा!

मैं निर्माणनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... निर्माण अर्थात् इस शरीर के अवयव स्थान में रचना। कान यहाँ हो, नाक यहाँ हो। नाक कहीं यहाँ हो और कान यहाँ हो, ऐसा नहीं। ऐसी एक प्रकृति है। अपने-अपने स्थान में वे परमाणु परिणमे। **मैं निर्माणनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! अभी निर्माणनामकर्म क्या, यह शब्द सुना न हो। निवृत्त ही कहाँ है धन्धे के कारण? जवाहरात के धन्धे के कारण निवृत्त कब हुआ है अन्दर? यह किया... यह किया... यह किया, सबको... सबको (ऐसा है)। यह इनका तो (नाम है)। शान्तिभाई!

मैं कौन हूँ? प्रभु! आत्मा हूँ। आत्मा वह कहीं निर्माणनामकर्म को भोगे, यह होता नहीं। वह तो शरीर की रचना का है, धूल की रचना है। नाक की जगह नाक है। कितने ही कुबड़े होते हैं। आँख यहाँ उल्टी, ऐसी भी होती है। हमने देखे हैं। यह तो नामकर्म का-वैसा उदय होता है। आहाहा! आँखें यहाँ हो और यह सब मुँह ऐसा टेड़ा हो। ऐसा मनुष्य है। आहाहा! वह मैं नहीं, उसके फल को भोगनेवाला मैं नहीं। क्योंकि मैं चैतन्य हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं मेरे आत्मा को चैतन्यस्वरूप वेदता हूँ परन्तु पर को वेदना या करना, यह करना और वेदना, वह मुझमें नहीं है। आहाहा!

पहले से करना और वेदना नहीं। आहाहा! ऐसा समकित में निर्णय किया है। वह चारित्र में वर्तन में रखा है। भाई! समझ में आया? समकित में जो निर्णय किया है कि मैं कर्ता और भोक्ता नहीं, उसे चारित्र में इस नियम में रखा है। आहाहा! यह उस चारित्र की व्याख्या चलती है। क्योंकि समकित में होता है, अस्थिरता होती है, अस्थिरता को भोगे,

वेदन करे। अभी नरक में नारकी है। श्रेणिक राजा समकिती, क्षायिक समकिती, वहाँ अभी क्षण-क्षण में तीर्थंकरगोत्र बाँधते हैं, तथापि तीन कषाय का उदय है। उस संयोग का दु:ख नहीं। प्रतिकूल बहुत सर्दी और ऐसी स्थिति है। उस संयोग को आत्मा स्पर्श भी नहीं करता। उस संयोग का उसे दु:ख नहीं है। संयोग के ऊपर लक्ष्य जाता है कि यह ठीक नहीं है, उसका दु:ख है। आहाहा! समझ में आया? मनुष्य अग्नि में ऐसे सिंकता हो तो उसे उस अग्नि का दु:ख नहीं है। अग्नि को तो प्रभु स्पर्श भी नहीं करता। मात्र ऐसा होने पर अंहह... प्रतिकूलता का वेदन-द्वेष आता है, उस द्वेष को वेदता है।

यहाँ तो कहते हैं, शरीर की रचना अनुकूल हुई, जहाँ देखे वहाँ (सब है) परन्तु वह मैं नहीं। आहाहा! उसका अभिमान हो। शरीर रूपवान हो, शरीर जहाँ-जहाँ देखे, वहाँ समरूप रचना हो (तो इसे ऐसा लगता है कि) मेरा शरीर ऐसा है, मेरा शरीर ऐसा है। परन्तु यह है धूल का है। धूल का शरीर आत्मा का कहाँ से हो गया? आहाहा! बहुत बदलना पड़ेगा। शान्तिभाई! आहाहा! अभी तो चलता नहीं। आहाहा!

यह तो मूल विषय है। कर्ता और भोक्ता का विस्तार करके इस प्रकार २९५ भंग वर्णन किये हैं। आहाहा! एक-एक प्रकृति (ली है)। सबको सरीखी नहीं होती। तीर्थंकर प्रकृति का आयेगा। वह कहीं सबको नहीं होती, परन्तु जिसे-जिसे हो, उसके लिये यह बात है। आहाहा! मनुष्यानुपूर्वी भोगता है। होवे उसे (भोगे)। उसे देवानुपूर्वी नहीं होती। देवानुपूर्वी है, उस मनुष्यानुपूर्वी नहीं होती। परन्तु यहाँ तो पूरा वर्णन है न, इसलिए जो देव में गया है, वह भी मैं नहीं।

यह निर्माणकर्म (अर्थात्) शरीर के कान की जगह कान, नाक की जगह नाक, आँख की जगह आँख (होती है)। आहाहा! एक मनुष्य देखा था। (उसे) आँख यहाँ (थी)। ऐसे मुँह था, आँख यहाँ थी। वह निर्माणकर्म की रचना है। निर्माण नाम का एक नामकर्म है। नामकर्म की ९३ प्रकृति है, उनमें से एक यह प्रकृति है। आहाहा! उसके कारण इस शरीर की रचना होती है, यह भी निमित्त से कथन है। प्रकृति प्रकृति से है, रचना स्वयं के अपने उपादान से होती है। आहाहा! आत्मा तो रचता नहीं परन्तु वह निर्माणकर्म उसे रचता नहीं। आहाहा! वे परमाणु भिन्न और निर्माणनामकर्म के भिन्न। आहाहा! ऐसे

प्रत्येक में लेना। अभी यह आया। आहाहा! वे परमाणु कहीं दूसरे परमाणु की रचना करे, ऐसा नहीं है। परन्तु संक्षिप्त भाषा में समझाना हो कि ऐसा अन्तर कैसे है? (तो) इस नामकर्म में अन्दर अन्तर है, इसलिए अन्तर है, ऐसा बतलाने के लिये (कथन किया जाता है)। समझ में आया? नामकर्म।

मैं **अगुरुलघुनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** शरीर हल्का नहीं और भारी नहीं, ऐसी एक प्रकृति है, परन्तु उस प्रकृति को मैं भोगता (नहीं)। मेरा स्वरूप ही नहीं। आहाहा! उसकी योग्यता में भोगता हूँ परन्तु वह योग्यता भी मेरा स्वरूप नहीं है। योग्यता, वह तो एक पर्याय का धर्म है। मेरा द्रव्यधर्म... आहाहा! द्रव्य वस्तु चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द का हीरा, ऐसा चैतन्य भगवान, उसे मैं भोगता हूँ, उसे मैं वेदता हूँ। आहाहा! कहा न अगुरुलघु नहीं।

उपघातकर्म... पर से घात हो, ऐसी एक नामकर्म की प्रकृति है। यह निमित्त से बात हुई। प्रकृति है। पर से घात हो, वह उपघात नाम की एक प्रकृति है। वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! उसे मैं भोगनेवाला नहीं। उपघात से पर में घात होता है, वह भी व्यवहार है। संक्षिप्त समझाना हो, तब (ऐसा कहते हैं)। आहाहा! **मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सञ्चेतन करता हूँ।**

परघातनामकर्म... मैं दूसरे को घात सकता हूँ। शरीर के प्रकृति के जोर। यह परघातनाम की प्रकृति है कि दूसरे को मार सकूँ। वह मैं नहीं। आहाहा! उपघात में दूसरे मारे, परघात में दूसरे को मारे, ये दो प्रकृतियाँ हैं। आहाहा! भगवान आत्मा कुछ करे नहीं। आहाहा! वह पर से घात नहीं हो, पर को घात नहीं करे। आहाहा! ऐसी वस्तुस्थिति है।

प्रभु परमात्मा त्रिलोकनाथ सीमन्धर भगवान तो विराजते हैं। महावीर प्रभु सिद्ध हो गये। वे अरिहन्त थे, अभी सिद्ध हो गये। प्रभु अरिहन्तरूप से विराजते हैं। सीमन्धर भगवान अरिहन्तपद में विराजते हैं। अभी करोड़ों, अरबों वर्ष बाद सिद्ध होंगे। आहाहा! अरिहन्त और सिद्ध में अन्तर है। चौबीस तीर्थंकर सिद्ध हो गये। अभी नहीं, अब वाणी नहीं। यह बीस तीर्थंकर विराजते हैं। वाणी है, समवसरण है। आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति का उदय आया है। केवल (ज्ञान) हुआ, इसलिए प्रकृति पड़ी थी, उसका उदय आया है।

उसके कारण समवसरण और सौ इन्द्रों के बड़े ठाठ जम जाए। यह तो केवलज्ञान से जानते हैं। पहले से जानते हैं कि ऐसा होगा और ऐसा होनेवाला है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं परघात—पर का घात कर सके, ऐसी प्रकृति का फल मैं भोगता नहीं। मुझमें वह है नहीं। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। जानने-देखनेवाले में दूसरा कोई सामने (समाता) नहीं। आहाहा! छोटी चीज़ में जैसे छोटी नलिनी दूसरी मोटी चीज़ नहीं रह सकती, उसी प्रकार मेरा प्रभु ज्ञानस्वरूपी है, उसमें पर का भोगना और करना समा नहीं सकता। आहाहा! परघात हो गया? पश्चात् आतप। आतपप्रकृति यह सूर्य की। सूर्य की आतपप्रकृति है न? नामकर्म की प्रकृति है, वह मैं नहीं हूँ।

मैं उद्योतनामकर्म... उद्योत प्रकृति है। शरीर आदि का प्रकाश। उसे मैं नहीं भोगता। **उच्छ्वासनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** यह श्वास चलता है न? नामकर्म की प्रकृति है। यह श्वास। इसके फल को मैं नहीं भोगता। **मैं प्रशस्तविहायोगति...** ऐसी प्रकृति एक है कि ऐसे चलने में उसकी हाथी की जैसी गति हो। गधे जैसी गति एक पैर ऐसे पड़े, एक पैर ऐसे पड़े। ऐसे पैर है न? अभी है। दो पैर समरूप नहीं रहते। ऐसे पैर हो जाते हैं, पैर ऐसे हो जाते हैं। यह प्रकृति है, वह तो जहाँ चाहिए तत्प्रमाण शरीर के पैर बराबर पड़े और बराबर चले, उसे प्रशस्तविहाय... विहाय अर्थात् आकाश में चलना। वह कर्म की प्रकृति है। अभी प्रकृति के नाम भी न आते हों। थोड़ा अभ्यास करना चाहिए, भाई! अभ्यास के बिना उसके आगे की बातें ... विशेष कैसे बढ़ सके? आहाहा! (यह) **प्रशस्तविहायोगति...**

अप्रशस्तविहायोगति... मनुष्य की गधे के जैसी गति, ऊँट की जैसी गति (हो), वह मैं नहीं हूँ। साधारण शरीर। एक शरीर में अनन्त जीव रहे, वह मैं नहीं। आहाहा! एक शरीर में अनन्त निगोद में रहे। प्याज और लहसुन। वह मैं नहीं, मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ। उस निगोद में रहनेवाले के लिये यह नहीं है। यह तो समकिती विचार करता है कि ऐसा हो, वह मैं नहीं हूँ। निगोद के जीव को ऐसा कहाँ है? खबर ही नहीं। आहाहा! परन्तु जिसे खबर है कि यह जीव निगोद में अनन्त बार गया। कहते हैं, उसके फल को मैं भोगनेवाला नहीं हूँ। आहाहा! प्रत्येक शरीर—एक शरीर में एक जीव (रहे), वह भी मैं नहीं, उसे भोगनेवाला मैं नहीं। आहाहा!

मेरे द्रव्य को और दूसरे के द्रव्य को पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। (एक-दूसरे को) स्पर्श नहीं करते और दोनों की क्रमबद्धपर्याय होती है, उसमें उसका छूना और स्पर्श करना रहा कहाँ? आहाहा! एक आत्मा दूसरे आत्मा को स्पर्श नहीं करता, उसके शरीर को स्पर्श नहीं करता तो फिर उसके कार्य को करे, क्रमबद्ध कार्य होते हों, उसमें यह करे, यह तीन काल में नहीं है। आहाहा!

स्थावरनामकर्म... स्थावर—एकेन्द्रिय में रहना। वह मैं नहीं हूँ। यह नामकर्मवाले को नहीं, यह तो समकिती विचार करता है। वह प्रकृति पड़ी हो, वह मेरी नहीं है, ऐसा। स्थावरनामकर्म। **त्रसनामकर्म...** त्रसपना हो, वह मैं नहीं हूँ। **सुभगनाम...** शोभा। आहाहा! शरीर की शोभा अच्छी हो, वह सुभगनामकर्म, वह मैं नहीं हूँ। असुभगनामकर्म—शरीर की शोभा खोटी हो, **दुर्भगनामकर्म...** बराबर शरीर की शोभा अच्छी न हो। वह भी एक प्रकृति है। उसके फल को मैं भोगता नहीं। मैं अरूपी, वह रूपी। पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। उसमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है। मुझमें अवर्ण, अगन्ध, अस्पर्श है। आहाहा! ऐसा कब विचार किया हो? संसार में धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! वह प्रकृति मुझे है ही नहीं। है? दुर्भग (नामकर्म) वह मैं नहीं हूँ। आहाहा!

सुस्वर... कण्ठ ऐसे बराबर (चले)। हार्मोनियम का तार बजे, ऐसा कण्ठ निकले, (ऐसा) कण्ठ हो। सुस्वर, कण्ठ का सुस्वर, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसे **दुःस्वर...** वह भी मैं नहीं। **मैं शुभनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** यह सब शुभ नाम है। बाहर में ठीक दिखायी दे ऐसा। उसे मैं नहीं भोगता। **अशुभनामकर्म...** उसे मैं नहीं भोगता। **सूक्ष्मशरीरनामकर्म...** ज्ञानी को है न वह? परन्तु वह प्रकृति पड़ी हो, वह मुझे भोगने की नहीं है। ऐसे **बादरशरीर...** बादरपना तो है परन्तु उसके फल को मैं भोगता नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही (संचेतन करता हूँ)।

पर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... पर्याप्त होता है। आहार शरीर, भाषा, मन, सब प्राण पूरे बँधें, उसे पर्याप्ति कहा जाता है। वह मैं नहीं हूँ। पर्याप्ति पूर्ण हो, वह पर्याप्ति जड़ की है। आहाहा! **अपर्याप्तनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** यह भी मैं नहीं। अभी अपर्याप्त तो है नहीं परन्तु उसे पूर्व में बाँधा हो, वह कोई उदय में आया हो, वह नहीं। **मैं**

स्थिरनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... शरीर चाहे जहाँ बराबर स्थिर रह सके, वह पर्यायें नहीं, मेरी पर्याय नहीं। इसी प्रकार **अस्थिरनामकर्म...** वह मैं नहीं, ऐसा **आदेयनामकर्म...** लोग आदर करे, आदर करे, प्रशंसा (करे) ऐसे कर्म के फल को मैं नहीं भोगता। **मैं अनादेय...** कोई अनादर करे, उसके फल को मैं नहीं भोगता। **मैं यश:कीर्तिनामकर्म के फल को नहीं भोगता,...** आहाहा! पोपटभाई! कोई यशकीर्ति बँधी हो और दुनिया में यश जमा हो, मुझे और उसे कुछ लेना-देना नहीं है। यश का फल कहाँ और आत्मा कहाँ रहा। आहाहा! यह विचार कब करता है ? पैसे हुए और कमाना और खाना-पीना और व्यापार-धन्धा। स्त्री, पुत्र हुए। आहाहा! यशकीर्ति प्रकृति है। तूने बहुत अच्छा काम किया, इसलिए यश हुआ—ऐसा नहीं है। वह प्रकृति यशकीर्ति है, इसलिए चाहे जो हो, वह तो बाहर में गाया जाता है। आहाहा! परन्तु वह मेरा नहीं है, यश मेरा नहीं है। मेरा यश तो मुझमें है। आहाहा! इसी प्रकार अपयश, वह भी नहीं। है न ? आहाहा! अब नामकर्म की अन्तिम में अन्तिम। आहाहा! नामकर्म की अन्तिम। गोत्रकर्म की रह गयी। गोत्र की दो और अन्तराय की पाँच।

मैं तीर्थंकरनामकर्म के फल को नहीं भोगता,... आहाहा! जिसे तीर्थंकर प्रकृति बँधी हुई है, उस जीव की यह बात ली है। यह जो समकित पाता है, कहते हैं कि तीर्थंकरप्रकृति... तीर्थंकर होने के समय... मैं तो आत्मा हूँ, मैं तीर्थंकर होनेवाला नहीं। आहाहा! यश और अपयश यह रह गया। यशकीर्तिनामकर्म के फल को भोगता नहीं। ऐसे अपयशकीर्ति, यह नहीं। ऐसे तीर्थंकरनामकर्म यह अन्तिम में अन्तिम, नामकर्म की अन्तिम प्रकृति। नाम की, हों! गोत्र की दो (और अन्तराय की पाँच ऐसे) सात बाकी है। यह तो अभी १४१ हुई। ७ बाकी है। यह नामकर्म की अन्तिम, तीर्थंकरनामकर्म। आहाहा!

यहाँ तो एक जरा यशकीर्ति फले और जहाँ इज्जत बोले और लोग महिमा करे, वहाँ भाईसाहब तो फूल जाते हैं। आहाहा! तुमने बहुत अच्छा काम किया है, तुम्हारा ऐसा है। यह कुदरत के नियम में कहाँ मरकर गया होगा, यह अलग बात है। दुनिया बाहर में महिमा करती है। गाँव में कार्यवाहक सामने होवे न ? सब कार्यवाहक कार्य करे, सब कार्य में पड़े और अभिमान करे कि यह मैंने किया, यह मैने किया। दुनिया महिमा करे, इसलिए प्रसन्न

होवे। अब उसमें कहाँ जाएगा मरकर ? आहाहा ! अरे... रे ! यह विचार कौन करता है ? यह तो वर्तमान देखना।

यहाँ तो तीर्थंकर प्रकृति को मैं भोगता नहीं। तीर्थंकरप्रकृति जिसे हो, उसकी बात है, सबको कहीं यह नहीं होता। आहाहा ! जिसे तीर्थंकरप्रकृति बँधी है, उसके फल को नहीं भोगता। आहाहा ! परन्तु किसे भोगे ? क्योंकि प्रकृति का उदय तेरहवें गुणस्थान में आता है। केवलज्ञान (हो तब)। तब तो इस अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है। वह तो ज्ञाता–दृष्टा है। आहाहा ! यह समवसरण और इन्द्रों की सभा और जमावट जमे। मणिरत्न के गढ़ (हों)। वह सब प्रकृति तीर्थंकरप्रकृति का उदय तेरहवें में आता है। केवलज्ञान हुआ, पश्चात् प्रकृति का उदय आता है, उसमें कहाँ (भोगना रहा) ? आहाहा !

मुमुक्षु : सत्ता में पड़ी हुई है, उस प्रकृति को भोगने का प्रश्न कैसे आवे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : उदय आयेगा न ! सत्ता की बात कहाँ है ? उसका उदय आयेगा न ! उदय के समय मैं रहूँगा या नहीं, वह प्रकृति का मेरा काम ही नहीं है। तीर्थंकरप्रकृति बँधेगी, इसलिए तुझे ऐसा होगा और तुझे ऐसा होगा। मैं तो आत्मा हूँ। आहाहा ! जिसे तीर्थंकरप्रकृति बँधी हुई है; बँधेगी, उसकी बात नहीं, बँध गयी और केवलीरूप से फल आ गया, उसे यहाँ तो बँधी हुई है, और फल आया नहीं, केवलज्ञान हुआ नहीं, उससे पहले कहते हैं, मेरी नहीं है, मैं उसके फल को भोगनेवाला नहीं हूँ। आहाहा ! तीर्थंकरप्रकृति के फल को मैं भोगनेवाला नहीं हूँ। आहाहा !

मैं उच्चगोत्रकर्म के फल को... गोत्रकर्म। उच्च गोत्र होता है न ? क्षत्रिय और उत्तम ब्राह्मण। ऐसे फल को नहीं भोगता। आहाहा ! और उत्तमकुल में जन्म (हुआ हो)। मेरी माता उत्तमकुल, पिताजी उत्तमकुल, माता उत्तम जाति, उसके हम पुत्र हैं। आहाहा ! किसी का पुत्र ही नहीं, किसी का पिता ही नहीं। भ्रमणा करके माना है। आहाहा !

मैं उच्चगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता... आहाहा ! चैतन्यस्वरूप आत्मा का संचेतन करता हूँ। मैं **नीचगोत्रकर्म के फल को नहीं भोगता...** नीचगोत्र है, समकित हो और नीचगोत्र का उदय आया हो। आहाहा ! हरिजन हो, समकित हुआ और हरिजन हो। आहाहा ! मिथ्यादृष्टि हो और बड़ा चक्रवर्ती हो। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मिथ्यादृष्टि। आहाहा !

समकित हो और हरिजन हो। ... खाने को मुश्किल से मिलता हो, उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? ... मैं नीचगोत्र के फल को नहीं भोगता। नीचगोत्र। पश्चात्... मैं **दानान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता...** आहाहा! दान दे सकता नहीं, इसलिए दानान्तराय का उदय। मेरे कुछ नहीं। आहाहा! दे सकूँ और ले सकूँ, यह मेरा (स्वरूप ही) नहीं न! आहाहा! उसके फल को मैं भोगता नहीं। **मैं लाभान्तराय...** लाभ की अन्तराय, ... यह मुझे है ही नहीं। अन्तरायकर्म... आहाहा! इसी तरह भोगान्तराय... यह शरीरादि...

इसी तरह उपभोगान्तराय—बारम्बार भोगा जाये, वह मैं नहीं। **मैं वीर्यान्तरायकर्म के फल को नहीं भोगता।** लो, अन्तिम। १४८, वीर्यान्तराय कर्म... ऐसा नहीं, मेरे पुरुषार्थ की कमजोरी है, उग्रता करना मेरे हाथ में है। वीर्य से भरपूर आत्मा हूँ, पूर्ण वीर्य से भरपूर आत्मा हूँ। पर्याय में... (पर्याय में कमजोरी है)। कर्म के कारण मुझमें कुछ होता है—ऐसा नहीं है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४३८, भावना, रविवार, आषाढ़ शुक्ल ९
दिनांक - २०-०७-१९८०

समयसार, कोष्ठक में है न? **यहाँ भावना का अर्थ...** भावना कहा न? भावना। भावना का अर्थ क्या? कि **बारम्बार चिंतवन करके...** प्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ है, उसकी यह बात है। समझ में आया? आत्मा शुद्ध चैतन्यदल ज्ञायकभाव प्रथम अनुभव में आया है। प्रतीति में और अनुभव में पहले आया है, उसकी बात है। **बारम्बार चिंतवन करके...** सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानी चौथे, पाँचवें, छठवें में। सातवें में तो उपयोग में है। चारित्र अधिकार है न? **उपयोग का अभ्यास...** करता है। लो, यह अभ्यास आया। उपयोग का अभ्यास करता है।

जब जीव सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है... जब से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है तब से। उसकी यहाँ बात है। वस्तु जानी नहीं, प्रतीति में आयी नहीं, उसकी भावना क्या? उसकी चिन्तवना क्या? जो चीज़ ही दृष्टि में आयी नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह अन्तिम अधिकार है न?

वस्तु ज्ञान, आनन्द, शान्ति का सागर है। ऐसा आत्मा अनुभव में, दृष्टि में, वेदन में आया है, तत्पश्चात् बारम्बार भावना करके सातवें तक जाता है। समझ में आया? थोड़ी सूक्ष्म बात है। प्रथम बात तो बहुत (की)। यह तो चारित्र अधिकार है न? पहले बहुत अधिकार चल गया। उसमें तो आत्मा देह से भिन्न, पुण्य-पाप के विकल्प से, राग से भिन्न, एक समय की पर्याय में भी पूरा आत्मा आता नहीं। पूर्ण आत्मा की पर्याय में दृष्टि की, पर्याय में पूर्ण की दृष्टि करके जब श्रद्धा और ज्ञान, सम्यग्दर्शन पूर्ण चीज़ का होता है, पश्चात् उस चीज़ की भावना करके उपयोग लगाकर चारित्र करता है। समझ में आया? आहाहा!

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना यह भावना नहीं होती। क्योंकि वह चीज़ अन्दर में नजर में आयी। ज्ञान में ज्ञेय आत्मा जानने में आया है। श्रद्धा में यह वस्तु श्रद्धायोग्य है, (ऐसा श्रद्धान हुआ है)। भगवान पूर्णानन्द का नाथ श्रद्धा में आ गया है। ज्ञान में आ गया है और श्रद्धा में आ गया है। सूक्ष्म बात है। प्रश्न करना पड़ेंगे। भाई रात्रि में बहुत अच्छे प्रश्न

करते थे। कल भाई के बहुत अच्छे प्रश्न थे, समझने जैसे थे। यह तो सूक्ष्म बात है, भगवान! अनादि का अनभ्यास है और वर्तमान में यह सुनना मुश्किल पड़े ऐसा है। आहाहा!

यह तो जिसे आत्मा का हित करना है, उसे हित करने की जो चीज़ है, वह चीज़ क्या है? हित करना है, धर्म करना है तो वह धर्म करनेवाला है कैसा? यह पहले इसे दृष्टि में और ज्ञान में आये बिना इसकी भावना या बारम्बार चिन्तवन (करे किस प्रकार)? दृष्टि में ही आया नहीं, उसका चिन्तवन क्या करे? यह दूसरा चिन्तवन करे। जो अपनी चीज़ है, वह दृष्टि में आयी नहीं, ज्ञान में ज्ञेय बनी नहीं तो चिन्तवन करेगा, वह दूसरे का करेगा। आहाहा!

कहते हैं कि यहाँ **सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है...** यह तो है। उसकी बात चलती है। अन्तिम चारित्र का अधिकार है। **तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही...** है। धर्मी को पहली श्रेणी में ज्ञायकस्वरूप का ज्ञान और ज्ञायकस्वरूप की श्रद्धा (हुई है)। अनुभव-श्रद्धा, हों! अनुभव की श्रद्धा। यह तो पहले हो गयी है। तब तो धर्म की शुरुआत हो गयी है परन्तु उसे पूर्ण करने के लिये चारित्र अर्थात् स्थिरता, रमणता (करता है)। तो किसमें (स्थिर होता है)? जो कोई चीज़ दृष्टि में आयी है, ज्ञान में ज्ञेयरूप से जानने में आयी है, उसका बारम्बार चिन्तवन करना और उपयोग करना। आहाहा! पहले सम्यग्दर्शन करने का प्रयत्न करना, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास यह सम्यग्दर्शन का। अन्तर आत्मा पूर्णानन्द प्रभु राग से भिन्न, पर की सत्ता और पर की अपेक्षारहित चीज़ है और परिपूर्ण चीज़ है। अब दो बात लेना। अनन्त चीज़ है, उसमें अपने अतिरिक्त अपना अनुभव होने में दूसरी किसी चीज़ की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! अनन्त में अपना अनन्त जो है, अनन्त गुण का रूप के अनुभव में, उसकी श्रद्धा में अपने अतिरिक्त अनन्त, चाहे तो तीर्थंकर हो... आहाहा! उनकी भी अपेक्षा नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान में उनकी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! वह स्वयंसिद्ध— स्वयं अर्थात् अपने से सिद्ध है। सिद्ध अर्थात् है, सत्ता है। मौजूदगी चीज़ है। अनादि-अनन्त और वर्तमान में भी पूर्ण स्वभाव से भरपूर चिदानन्द वस्तु है, उस वस्तु का पहले

अनुभव करके श्रद्धा करना और पश्चात् उसका स्वाश्रित ज्ञान करना। वह ज्ञान और श्रद्धा हुई।

जब श्रद्धा-ज्ञान हुए, उसमें क्या हुआ? श्रद्धा-ज्ञान में हुआ क्या? '**मैं शुद्धनय से समस्त कर्म...** ४९ भंग आ गये न? १४७ भंग यह कर्म कर्तापने का था और १४८ प्रकृति के फल को भोक्तापने का था। आहाहा! एक ओर भगवान आत्मा १४७ भंग से भी भिन्न है और १४८ प्रकृति से भी भिन्न है। आहाहा! १४७ में किसी का करना, कराना कुछ नहीं और १४८ में किसी का भोगना, तीर्थंकरप्रकृति का भोगना, वह भी नहीं। आहाहा! दूसरी प्रकृति का भोगना तो है नहीं। अपनी चीज़ को, अपने से भिन्न चीज़ को अपनी चीज़ में भोगना नहीं है। आहाहा! अपनी चीज़ को अपने में भोगना। यह वार्ता नहीं, यह तो तत्त्वदृष्टि है, भाई! वार्ता नहीं कि झट समझ में आ जाए। आहाहा! मक्खन है।

जैनदर्शन का मक्खन वीतरागता है। आहाहा! वह वीतरागता कब होगी? और वह कब होती है? कि अपना स्वरूप क्या चीज़ है, ऐसा पहले श्रद्धा-ज्ञान में तो बराबर आना चाहिए। आने के पश्चात् उस चीज़ का बारम्बार अभ्यास करना। अब यह (कहते हैं)। है न? (ज्ञान-श्रद्धान तो) **हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म...** आहाहा! दूसरी चीज़ तो ठीक, वह तो भिन्न है परन्तु कर्म जो है, १४७ प्रकार के भाव, **और कर्म के फल से रहित हूँ।** मैं आत्मा पर के कर्तापने से रहित हूँ और पर के भोक्तापने से रहित ऐसी मैं चीज़ हूँ। आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु भाव कठिन है। आहाहा!

प्रथम धर्म करना हो, उसमें क्या करना? कहते हैं कि '**मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ।** मैं तो समस्त करना, कराना और अनुमोदना ऐसे १४७ भंग मैं नहीं हूँ। और प्रकृति जो भोगने की है, १४८ पूर्व की प्रकृति बँधी है, सबको १४८ नहीं होती। १४७ भंग भी सबको एक प्रकार के नहीं होते। किसी को एक, दो, तीन, चार ऐसे भी होते हैं। १४८ प्रकृति भी सबको समान नहीं होती। जिसे जितनी प्रकृति हो, उसकी बात समझ लेना। आहाहा! क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति कहीं सबको नहीं होती। आहारक शरीर सबको नहीं होता। आहाहा! वर्तमान विपाकरूप से भी गति आदि में एक ही गति होती है। अभी विपाकरूप से मनुष्यगति है। दूसरी गति है और उसका उदय भी है। प्रकृति है और उसका उदय भी है परन्तु वह उदय खिर जाता है। समझ में आया? आहाहा! अपने

स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान हुआ है तो पूर्व की प्रकृति को बाँधनेवाला मैं नहीं और वर्तमान में उसका मैं भोगनेवाला नहीं। आहाहा! ऐसी जवाबदारी। शर्तें... शर्तें, धर्म की ऐसी शर्तें हैं। आहाहा!

जन्म-मरण कर-करके... आहाहा! चौरासी के अवतार में कहाँ कैसे रहा है, यह विचार किया नहीं। भाई! एक मनुष्यपना मिला और कुछ पाँच-पचास हजार रुपये मिले हों और कुछ व्यापार ठीक चला तो हो गया। पोपाबाई का राज। आहाहा! बापू! उसकी स्थिति कितनी? पच्चीस वर्ष, पचास वर्ष, साठ वर्ष। फिर कहाँ जाना है? तू तो सत्तास्वरूप है, तेरी सत्ता भिन्न है। आहाहा!

अपनी आत्मा की सत्ता शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल १४८ कहे न? १४८ प्रकृति। उससे रहित हूँ। आहाहा! पहली श्रेणी की यह बात है। पहले क्या करना? कहाँ गये हरिभाई? पहले यह करना। आहाहा! रात्रि में अच्छे प्रश्न हुए। पुराने हैं। समझने में कुछ समझ में आना चाहिए न? कुछ ख्याल में आना चाहिए न? ख्याल में आये बिना उसकी प्रतीति, दृष्टि, रुचि हो कहाँ से? आहाहा! यह आत्मा भगवान क्या है? कैसे है? उसमें कैसी शक्तियाँ हैं, ऐसा उसका माहात्म्य (आना चाहिए)। है उसकी सत्ता का बराबर ज्ञान हुए बिना, उस सत्ता की ओर के झुकाववाली चिन्तवना, उपयोग और भावना कहाँ से होगी? आहाहा! प्रभु! ऐसी बात है। आहाहा!

कहते हैं कि '**मैं शुद्धनय से समस्त कर्म**... आठों कर्मों के भाव **और कर्म के फल**... आहाहा! तीर्थंकर प्रकृति कदाचित मुझे बँधी हो तो वह भी मेरा भाव नहीं है। वह मेरा कर्तव्य भी नहीं है। आहाहा! वह मेरा कर्तव्य भी नहीं और मुझे उसका फल भोगने का भी नहीं। आहाहा! ऐसा वीतराग मार्ग है। चेतना आदि अनन्त गुण से भरपूर भगवान है। अनन्त-अनन्त गुण का धाम है, गोदाम है। जैसे गोदाम में चीज पड़ी हो। यह गोदाम (होते हैं), वैसे यह अनन्त गुण का गोदाम है। अनन्त गुण का गोदाम है। आहाहा! शरीरप्रमाण है। महा मुश्किल से यह शरीर मिला, उसमें ऐसा आत्मा... भाई! प्रभु! तूने आत्मा क्या है, यह कभी सुना नहीं और सुना हो तो उस ओर का लक्ष्य रखा नहीं। यहाँ तो पहले से शुद्धनय अर्थात् सम्यग्दर्शन से अथवा सम्यग्ज्ञान से सर्व कर्म से रहित अकेला चैतन्यमूर्ति

और पूर्व में जो अज्ञानभाव से कर्म बँधे थे, उसके फल को मैं भोगता नहीं। आहाहा! यह निर्णय तो पहले होना चाहिए। समझ में आया?

ऐसा मैं हूँ। आहाहा! **परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** देखो! ४९ भंग आये थे? यह १४७ भंग कर्तृत्व के थे। **कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके...** आहाहा! इस राग का चेतना, राग का अनुभव करना, वह रागचेतना है, वह कर्मचेतना है। कर्मचेतना अर्थात् जड़कर्म की यहाँ बात नहीं है। भाव—विकार परिणाम की चेतना, वह मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! बाहर के काम तो मेरे कुछ हैं नहीं परन्तु मुझमें जो मेरे भाव होते हैं, पुण्य और पाप के भाव को यहाँ कर्मचेतना कहते हैं। कर्म शब्द से जड़कर्म का फल, ऐसा नहीं। कर्मचेतना अर्थात् कार्य। पुण्य-पापरूपी वर्तमान पर्याय का कार्य। उस कार्य को कर्मचेतना कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! जो पुण्य और पाप के भाव होते हैं, वह कार्य है, कर्म है, कर्तव्य है। उस कार्य को यहाँ कर्म कहा। वह कर्म मेरा नहीं। १४७ भंग से जो भाव होते हैं, वे मेरे नहीं हैं। मैं करता नहीं; कराता नहीं; करता हो, उसे अनुमोदन नहीं करता। मन से, वचन से और काया से, ऐसे ३३ भंग चले हैं। पूरे ३३ (भंग)। मन, वचन, काया से और करना, कराना, अनुमोदना, ऐसे ३३ भंग चले हैं। फिर ठेठ १४७ ले गये। मैं नहीं, वह करनेवाला मैं नहीं।

मेरा स्वरूप ज्ञान और आनन्द है। वह आनन्द और ज्ञान पर को करे तो आत्मा अपना ज्ञानस्वरूप खो बैठे। आहाहा! पर के कार्य करने जाए, वहाँ अपनी चीज़ को खो बैठता है। मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा तो रहता नहीं। आहाहा! दुनिया में कोई एकाध चीज़ खो बैठे तो खोजता है। घर के दस-बारह मनुष्य हों, खाट बिछायी हो। पहले ऐसा रिवाज था। उजाले में बिछा दे, फिर आवे तब जरा उजाला करके सो जाए। मिट्टी के वे थे, उसमें उजाला रखते थे। यह सब पहले की बात है। एक सरीखा बिछाया हुआ हो। पिचहत्तर वर्ष पहले की (बात है)। उसमें एक खाट खाली देखे। घर के सब आ गये, यह कौन नहीं आया? खाट खाली क्यों है? कौन लड़का बाकी है? उसके लिये खोजे। चारों ओर खोजने जाए। अभी तक खाली क्यों रहा? वह आया क्यों नहीं? कहाँ गया? वह खो गया, उसे खोजने जाता है, परन्तु यह (आत्मा) खोया हुआ है, उसे खोजने नहीं जाता। आहाहा!

भगवान स्वयं अपने को भूल गया। आहाहा! अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति का सागर... आहाहा! अनन्त आनन्द और शान्ति, ऐसा प्रभु अन्दर आत्मा खो गया, उसे खोजता नहीं और यहाँ कोई चीज़ खो जाए तो घर में खोजबीन करता है। एक बर्तन कहीं खो गया हो तो कहे, वह बर्तन कहाँ गया? प्याला था, वह आज क्यों दिखाई नहीं देता? आहाहा! शान्तिभाई! उसे खोजता है। आहाहा!

यहाँ तो प्रभु! तत्त्व की बात है। आहाहा! जन्म-मरणरहित होने की बात है, नाथ! यदि जन्म-मरण करेगा तो सूकर के और नरक के और निगोद के भव करेगा। आहाहा! क्योंकि आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! कहीं तो रहेगा, तो भव में रहेगा। तो किस भव में रहेगा? जो परिणाम करेगा, उसके भव आयेंगे। आहाहा! वह भव मिटाना हो तो, वह परिभ्रमण, भव परिभ्रमण नाश करना हो तो प्रथम यह चीज़ क्या है, उसे जानना। यह आत्मा है कौन? क्या चीज़ है? अनन्त-अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त गुण और वह भी किसी की अपेक्षा नहीं। अरे! निश्चय से तो एक गुण को दूसरे गुण की अपेक्षा नहीं। रात्रि में कहा था। आहाहा!

अनन्त-अनन्त गुण अपनी सत्ता से विराजमान है। एक गुण दूसरे गुण को निमित्त है। निमित्त का अर्थ क्या? निमित्त तो है, इतना। निमित्त कुछ करे, (ऐसा नहीं)। आहाहा! निमित्त तो है, परन्तु निमित्त पर में कुछ करे और निमित्त से पर में कुछ हो, ऐसा कभी नहीं होता। आहाहा! आत्मा अनन्त-अनन्त गुण से भरपूर है और विकार किया है तो साथ में कर्म भी है, परन्तु कर्म अपने में आते नहीं। कर्म को आत्मा छूता नहीं, स्पर्श करता नहीं। मात्र विकार परिणाम का कर्ता और भोक्ता है। तो कहते हैं कि वह मैं नहीं। वह कृत्रिम... कृत्रिम क्षणिक है और अकृत्रिम नित्यानन्द प्रभु (मैं हूँ)। आहाहा! अकृत्रिम अकृत स्वयंसिद्ध चैतन्य प्रभु मैं अनादि-अनन्त हूँ। यह राग एक क्षण का विकार मेरा कर्तव्य नहीं है। नौ-नौ कोटि से मेरा कर्तव्य नहीं है। ४७ भंग में आ गया है। पहले नौ कोटि ली न? मन, वचन और काया तथा करना, कराना, अनुमोदना। ३३ भंग, फिर ३२। आहाहा! पश्चात् ३१ ऐसे लिये। पश्चात् १३ और पश्चात् १२ और पश्चात् ११। आहाहा!

कहते हैं कि समस्त कर्म का **कर्तृत्व छोड़कर,...** है न? **पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले...** उनसे होनेवाले, हों! **भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** आहाहा! कर्म के

निमित्त से अपने में भाव होते हैं। भाव, कर्म से होते नहीं। कर्म तो निमित्त है। होते हैं अपने में, वह भाव मेरे नहीं। आहाहा! मैं तो शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ। मेरे असंख्य प्रदेश हैं। सब स्थान में पूर्ण निर्मलता भरी है। किसी स्थान में किसी जगह मलिनता का अंश मेरे तत्त्व में नहीं है। इस प्रकार उसे छोड़कर। है? **भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** आहाहा! यह पूर्व के कर्म के निमित्त से जो भाव होते हैं, निमित्त का लक्ष्य करके (होते हैं), उन्हें छोड़कर। आहाहा! यह तो कोई बात है? भाषा में छोड़कर आ गया, इसलिए (छूट जाते हैं)? आहाहा! अरे! इसकी दया इसने नहीं की, बापू! गहरा विचार करे तो सबकी बातें की, दया की, ऐसा किया, ऐसा किया—ऐसा माना। यह माना, किया किसी का कुछ नहीं। आहाहा! मैंने स्त्री का कर दिया और पुत्र का कर दिया और भानेज का कर दिया और स्त्री-बहू को कपड़े, वस्त्र, अमुक, अमुक चाहिए। आहाहा! माना है, किया नहीं। और जो किया जा सकता है वह किया नहीं। आहाहा! किया नहीं जा सकता, उसे किया नहीं और किया जा सकता है, वह किया नहीं। आहाहा!

भगवान आत्मा १४७ भंग को छोड़ सकता है, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! पर का करना, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! एक अँगुली को हिलाना या पलक को घुमाना... आहाहा! और दूधपाक आया हो तो दूधपाक को ऐसा करके ऐसे पीना, वह आत्मा कर नहीं सकता। वह आत्मा का तीन काल में कर्तव्य नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह काम किसका है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ की पर्याय से जड़ होता है। जिसकी पर्याय है, वह उसका कर्ता है। यह तो जड़ की पर्याय है। आहाहा! कठिन काम है। जैनदर्शन वीतराग मार्ग अलौकिक है, भाई! आहाहा! और फल भी सादि-अनन्त अनन्त सुख के साया में। सुख का साहिबा और सादि-अनन्त काल रहे। जब से आनन्द प्रगट हुआ, वह अनन्त काल (रहे)। आहाहा!

त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के... कर्मचेतना समझे? राग का चेतना, वह कर्मचेतना। राग-द्वेष, रति-अरति, शोक ऐसे विकारीभाव को रचने का नाम कर्म, उसका नाम कर्मचेतना। उसका नाम कर्मचेतना। आहाहा! **कर्मचेतना के त्याग की भावना करके...** कर्मचेतना के त्याग की भावना करके। आहाहा! **तथा समस्त कर्मों**

का फल भोगने के त्याग की भावना करके,... आहाहा! वे भंग और सब लिया न, उसे संक्षिप्त में (कहते हैं)। क्या कहा, यह सब बातें की न? १४७ भंग और १४८ प्रकृति। बापू! सुन, यह वस्तु है। तू निराला है, नाथ! भगवन्त! तुझमें यह कुछ करना और भोगना, यह वस्तु का स्वरूप है ही नहीं। आहाहा! वह तेरा धर्म स्वभाव नहीं। आहाहा!

कभी विचार किया नहीं और स्त्री, पुत्र, धन्धा (करके) पूरे दिन पाप की पोटला बाँधी। पर मेरे, पर मेरे... उसका कर दूँ और इसका कर दूँ। प्रभु! उसे पाप बँधता दिखता नहीं। भगवान कहते हैं, बापू! तेरी चीज को भूलकर और तेरे अतिरिक्त राग के कण को भी यदि मेरा माना तो मिथ्यात्व का पोटला है, बापू! आहाहा! तो स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब तो इसके अपने कहाँ से हुए? उन्हें अपना मानना, वह महामिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : जिसने विवाह नहीं किया और कुँवारे रहे, वे सुखी हुए।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कुँवारा भी कहाँ छूटा है? अन्तर से नवकोटि... यह तो कहा था न? काया से आजीवन ब्रह्मचर्य पालन किया हो, वह कोई वस्तु नहीं। वह शुभभाव है। शरीर से विषय सेवन नहीं किया, यह तो शरीर की क्रिया नहीं हुई। इससे यह शुभभाव हुआ, वह धर्म नहीं है। आहाहा! यहाँ तो भगवान आत्मा... यह काया की क्रिया विषय से रुक गयी, इससे मानो कि मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया, (ऐसा नहीं है)। कठिन बात है, प्रभु! आहाहा! शरीर से विषय नहीं लिया। इससे मैंने ब्रह्मचर्य पालन किया, यह बात सत्य नहीं है। आहाहा! यहाँ तो ब्रह्मचर्य, ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्द, उसमें चरना अर्थात् रमना, अतीन्द्रिय आनन्द में रमे, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। आहाहा! आजीवन बालब्रह्मचारी हो, वह तो काया से क्रिया नहीं हुई। आत्मा में अन्दर राग का अभिमान तो पड़ा है। आहाहा! दुनिया से अलग प्रकार है, भाई!

यह तत्त्व अत्यन्त निराला तत्त्व है। उसे ४९-४९ भंग से निषेध और १४८ प्रकृति को करने का निषेध। यह कर्मचेतना... है न? आहाहा! **कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके,...** यह कर्मफलचेतना। **एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है।** आहाहा! इतना सब लम्बा कहकर संक्षिप्त में कहा। क्या कहा परन्तु तुम्हें? कि किसी भी भंग से करना, वह तेरे स्वरूप में नहीं है और किसी भी प्रकृति का फल भोगना, वह भी तेरे स्वरूप में नहीं है।

आहाहा! अरे! यहाँ फुरसत किसे है? इसमें इतने में जाना। बाहर का जहाँ व्यापार और धन्धा चलता हो... आहाहा! उत्साह... उत्साह... सवेरे में दुकान खोले और सब ऐसे जमावे। सब आवे, जमावे। हमारे भी दुकान चलती थी न, सब देखा है न। किया भी है। हमारे कुँवरजीभाई की दुकान तो बड़ी दुकान। चारों ओर सब जमावे। नाथ जमावे। नाथ... नाथ समझे? यह बैल के नाक में नाथ... सब प्रकार का व्यापार था न! ऐसे लटकावे और ऐसे करे और ऐसे करे। आहाहा! तब प्रसन्न हो। सब पूरा हो, अब दुकान व्यवस्थित हुई तो ग्राहक आवे। ग्राहक की बातें, देखो! भिखारी, भिखारी। आहाहा!

यहाँ अन्दर अनन्त नाथ पड़ा है। अनन्त-अनन्त आनन्द की सिगड़ी सुलगती है। शान्ति की सिगड़ी अन्दर सुलगती है। आहाहा! शान्ति का सागर भगवान अन्दर है। प्रभु! तेरी महिमा की बातें करते हुए प्रभु कहते हैं, मैं कह नहीं सकता। आहाहा! श्रीमद् में आया न?

जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जो...

आहाहा! प्रभु को देखा, अनुभव किया परन्तु कहूँ क्या? जड़, चैतन्य से विरुद्ध दुश्मन। दुश्मन से चैतन्य की बातें करना...! आहाहा!

जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जो,
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?
अनुभव गोचर मात्र रहा वह ज्ञान जो।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?

यह तो भावना की बात है। आहाहा! दुनिया प्रसन्न होओ, न होओ, दुनिया महिमा करे, निन्दा करे उसके साथ प्रभु! तुझे क्या लेना और देना? अकेले जाना और अकेला रहा है। तूने अकेले कर्म किये, और तूने अकेले ने भोगे हैं। आहाहा! अनन्त-अनन्त काल के चौरासी के अवतार। आहाहा! यह अनन्त भव में तूने अनन्त बार किये और तूने अनन्त अकेले ने भोगे हैं। आहाहा! दूसरे तो ऐसा देखे। आहाहा! परन्तु देह में भगवान आत्मा

चैतन्यमूर्ति प्रभु की तूने कभी सम्हाल नहीं की। यह प्रभु ऐसा है कि ४९ भंग का कर्ता नहीं और १४८ प्रकृति के फल का भोक्ता नहीं। आहाहा! ऐसा यह है। दुनिया में गिनाना, नहीं गिनाना, यह इसमें कुछ है नहीं। दुनिया गिने या न गिने। बड़ा पण्डित माने या न माने, उसके साथ तत्त्व को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! अकेला तत्त्व अकेले भाव को करे और अकेले को भोगे। अब तो छोड़, कहते हैं। यह करने के भाव जो कहे, उनका त्याग कर और फल के भाव का तू त्याग कर। आहाहा! आया?

समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही... अब उसका स्वरूप क्या? यह सब ४९ भंग। करूँ नहीं, कराना नहीं, भोगना नहीं। तो उसका स्वरूप क्या? चैतन्यस्वरूप—वह तो चैतन्यस्वरूप—जानक स्वभाव। जानन-देखनस्वरूप प्रभु अनादि से विराजता है। देह में भगवान आत्मा जानने-देखने के स्वभाव से भगवान भरपूर है। आहाहा! उसे इस मजदूरी में जोड़ दिया, जो इसकी बात नहीं। आहाहा! जैसे बड़ा महल दो-तीन वर्ष से खाली हो और कचरा भरा हुआ हो। चक्रवर्ती को कहना कि इसे निकाल डालना। उसी प्रकार इस भगवान तीन लोक के नाथ को तू यह काम सौंपता है। आहाहा! राग का काम और... आहाहा! हास्य का काम और रति-अरति का काम... प्रभु! यह सब पाप है। आहाहा! ऐसे काम तू प्रभु को सौंपता है, प्रभु! यह काम तेरा नहीं। यह तुझे शोभा नहीं देते। आहाहा! तेरी अशोभा होती है, उसे हम छोड़ने का कहते हैं। आहाहा! जिसमें तेरी अशोभा हो, उसे छोड़ने का कहते हैं। आहाहा! प्रभु! क्या कहा, देखा?

एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। एक आत्मा के आनन्द का भोगना बाकी रह जाता है, बस! सब छूट जाता है। आहाहा! तब इसने आत्मा जाना और अनुभव किया। **अविरत,...** समकिती चौथे गुणस्थान में। **देशविरत...** समकिती पाँचवें गुणस्थान में और छठे गुणस्थान में **प्रमत्त अवस्थावाले (मुनि) जीव के ज्ञानश्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही;...** आहाहा! चौथे, पाँचवें और छठवें अर्थात् धर्म की गुणस्थान की दशा। धर्म के सोपान की दशा। चौथे, पाँचवें और छठवें के सोपान में उसका अनुभव तो है। चौथे, पाँचवें, छठवें में निरन्तर यह भावना तो है। आहाहा! क्योंकि जहाँ

आत्मा जाना और आत्मा अनुभव किया, पश्चात् उसे कुछ दूसरी चीज़ करना, कराना या अनुमोदन करना, यह नहीं रहता। होता है, उसे जाननेवाला रहता है, ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। आहाहा! पर को जानना, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! स्वयं अपने को जाने और उसमें स्थिर हो, यह इसका कर्तव्य है। भारी कठिन काम। उसमें जवान शरीर हो, पच्चीस-पच्चीस वर्ष का जवान लठ्ठ (शरीर हो) और पैसा हो। सगे-सम्बन्धी अच्छे हों। आहाहा! आंख्यु वळे जाय। वळे जाय अर्थात ? यहाँ देखना चाहिए। जहाँ से नहीं दिखता, वहाँ से देखे। वळे जाय इसका अर्थ यह है। यहाँ से देखना चाहिए, उसके बदले यहाँ नहीं है, वहाँ देखने लगे, दिखे परन्तु वहाँ कहाँ दिखता था ? आहाहा! दुनिया में भी यह सब शब्द भाव भरे हैं। आहाहा!

प्रभु! तू जहाँ देखना (चाहिए), वहाँ देखता नहीं और जो चीज़ तुझमें नहीं, तुझे स्पर्श नहीं करती, तू स्पर्श नहीं करता, उसमें देखने में रुक जाता है, प्रभु! तो यह देखने-जाननेवाले को जानना रह जाता है। जाननेवाले को जानना रह जाता है। आहाहा! आहाहा! समझ में आये ऐसी बात है, भाई! भाषा तो सादी है, भाव जरा कठिन है। आहाहा! आहाहा! सम्प्रदाय में तो यह करो, यह करो। सीधा-सट्ट भटकने का। यह तो करना, ज्ञानस्वरूप में पर का करना तीन काल में है ही नहीं। ज्ञान तो चक्षु जाने, वैसे (जानता है)। वह चक्षु से ऐसे रेत का खड्डा हो तो उसमें से धूल निकाले ? और चक्षु ऐसे-ऐसे करके खड्डा भरे ? आहाहा! उसी प्रकार यह आत्मा—चक्षु किसी की चीज़ को करे नहीं और किसी को छोड़े, उठावे और भोगे नहीं। आहाहा! यह सुनने को निवृत्ति कहाँ ? और निवृत्ति ले तो भी सुनानेवाले भी कहाँ हैं ? बहुत फेरफार हो गया।

प्रभु! ऐसा मनुष्यदेह मिला। आहाहा! कब पूर्ण होकर कहाँ जाएगा ? भाई! देह की स्थिति पूरी होगी, बापू! आत्मा की स्थिति पूरी नहीं होगी। वह तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! इस अवधिवाले के काम में रूकने से अवधिरहित चीज़ को नुकसान होता है। आहाहा! यह सब हदवाली, अवधिवाली चीज़ है। इन बाहर की चीजों में रुकने से अन्दर की (चीज़ रह जाती है)। आहाहा! लोगों को बातें कठिन लगती हैं। है भी उसके घर की, भाई! घर को भूलकर बाहर में भ्रमण करता है और प्रसन्नता लेकर भटकता है। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि ४९ भंग भूतकाल के, ४९ भंग वर्तमान के और ४९ भविष्य के, सब छोड़ दे। आहाहा! यह मन से करना छोड़ दे, यह वचन से करना छोड़ दे। काया से करना छोड़ दे। इन तीनों को छोड़ दे और एक साथ मन, वचन, काया से करना छोड़कर, मन, वचन, काया से कराना छोड़कर मन, वचन, काया से करनेवाले को अनुमोदन छोड़कर (ऐसे) नौ-नौ कोटि के एक बार छोड़। आहाहा! तो क्या सबको बाबा हो जाना? यह स्त्री, पुत्र का क्या करना? दुकान लगायी हो तो पंकज को सौंप दे। उसका क्या करना? हिम्मतभाई! लड़के को दुकान सौंपी है, इसलिए ठीक चलती है, हम निवृत्त हैं। यह तो दृष्टान्त है, सबको (लागू पड़ता है)। लड़का लाईन पर लगा, हम अब निवृत्ति से बैठेंगे। वह चलता है, उसका अनुमोदन है। वह जब ठीक है, तब अपने को निवृत्ति मिली। यदि वह ठीक न हो तो वापस अपने को जुड़ना पड़ेगा। आहाहा! मार डाला जगत को। मैं कहाँ मर जाता हूँ? मर जाता हूँ, ऐसा यह पाठ है, हों! कलश में पाठ है। आहाहा! मर जाए... आत्मा को। चैतन्यज्योति शाश्वत् आनन्दकन्द प्रभु, अनन्त-अनन्त गुण का समुद्र भरा है, उसके सन्मुख देखता नहीं और जो तुझमें तीन काल में कोई है नहीं, उस चीज़ के लिये तू वहाँ अटककर रुक गया, प्रभु! आहाहा! कठिन बात है। कठिन का अर्थ अपूर्व है। आहाहा!

कहते हैं कि इस आत्मा को कुछ करना, कराना और अनुमोदना; मन, वचन और काया से, प्रभु! एक बार छोड़ दे। नहीं तो कल्याण नहीं होगा। आहाहा! और १४८ प्रकृति में किसी भी प्रकृति को भोगने का फल (होगा तो) संसार नहीं टूटेगा। आहाहा! मैं इस प्रकृति के फल से पृथक् और मैं इस करने के कार्य से पृथक् हूँ। मेरा स्वरूप तो ज्ञान शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। चैतन्यमूर्ति भगवान अन्दर विराजता है। वह पर को होने पर जानता-देखता है परन्तु पर का करना और कराना कुछ कर सकता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : श्रद्धा में तो एक साथ सब...

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा में नौ कोटि से कहा न? ४९ भंग... अकेला भगवान चैतन्य... आहाहा! यह देह तो मिट्टी-धूल जड़ है, वाणी धूल जड़, कर्म जड़ और अन्दर के तेरे पुण्य-पाप के भाव, वे भी जड़। क्योंकि वह विकारभाव भी कुछ जानते नहीं कि

हम कौन हैं। आहाहा! इसने जाननेवाले को जाना नहीं और अजानकार जड़ है, उसे जाननेवाला (जानने में) रुक गया। आहाहा! एक बार तो इसे हाँ तो करनी पड़ेगी। आहाहा! आहाहा!

भगवान अन्दर चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु, देहदेवल में भिन्न चीज़ है। अलौकिक चीज़ अन्दर आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु है। उसे कोई भी यह काम सौंपना, चक्रवर्ती को... आहाहा! झाड़ू निकलवाने जैसा है। उससे भी यह हल्की चीज़ है। आहाहा! अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का नाथ, उसे आत्मा के अतिरिक्त किसी भी पर का कर्तव्य नहीं है और आत्मा के अतिरिक्त पर के किसी चीज़ का अनुभव—भोग भी नहीं है और वह पर को भोग सकता भी नहीं है। आहाहा! यह दाल, भात और रोटियाँ, सब्जी खाता है न? भोगता है न? बापू! तुझे खबर नहीं है। वह क्रिया तो सब जड़ की है। जड़ की जड़ के अस्तित्व में है, चैतन्य के अस्तित्व में वह जड़ की क्रिया नहीं है। आहाहा! चैतन्य की अस्ति में पर की अस्ति नहीं है, पर की अस्ति पर के कारण से रही है, उसे तू तुझसे मानता है। आहाहा!

परचीज़ पर के कारण रही है, शरीर शरीर के कारण रहा है, वाणी वाणी के कारण रही है, पैसा पैसे के कारण रहा है, स्त्री-पुत्र उसके आयुष्य और उसकी स्थिति प्रमाण उनके कारण से रहे हैं। तू उन सबकी सम्हाल करने और सबको रखने जाएगा (तो) मर जाएगा, मर गया। आत्मा को ऐसा कर-करके तूने मार डाला। पोपटभाई! तुम्हारे साले को बड़ा तूफान। मर गया। बेचारा कहाँ गया होगा? लड़के करते होंगे, ठिकाने बिना के। आहाहा! दो अरब, ढाई अरब रुपये, दो अरब चालीस करोड़ इनके साले के पास। आहाहा! धूल... धूल... उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। आहाहा! दूसरे मान भी दें। इन्हें अभिनन्दन दो, इन्होंने पच्चीस हजार दिये। अभिनन्दन का पूँछड़ा लगाओ, दो बड़ा। तुम तो बहुत पुराने हो,... हो और कल-कल अवश्यकता पड़े, तब तुम काम में खड़े रहते हो, ऐसी महिमा करे। वह सुननेवाला भी अन्दर में प्रसन्न हो। बाहर से ऐसा बोले, मैं तो गरीब व्यक्ति हूँ। मैं कुछ कर नहीं सकता। अन्दर में गलगलिया हो। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि आत्मा चौथे, पाँचवें, छठवें में तो बिल्कुल ज्ञान-श्रद्धान में पर का करना और भोगना है ही नहीं। अब उसमें अस्थिरता है, उसकी बात विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

(यहाँ भावना का अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव सम्यक्दृष्टि-ज्ञानी होता है, तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्थावाले जीव के ज्ञानश्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त करके एकाग्र चित्त से ध्यान करे, केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोगरूप हो, तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है, वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।)

प्रवचन नं. ४३९, भावना, सोमवार, आषाढ़ शुक्ल १०
दिनांक - २१-०७-१९८०

...**यहाँ भावना का अर्थ**... भावना का अर्थ—यह आत्मा जो वस्तु है, भगवान तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा देखा है, कहा है, वह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति से भरपूर प्रभु है। आहाहा! उसकी भावना। उस वस्तु की भावना **बारम्बार करके... बारम्बार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव...** यह कहते हैं कि ऐसा अभ्यास तो चारित्र की व्याख्या है। इस अभ्यास से पहले क्या होता है? पहले **जब जीव सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी होता है...** इस देह में भिन्न भगवान चैतन्यमूर्ति अरूपी आनन्द का सागर सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण भरपूर ऐसा जो यह आत्मा, उसका प्रथम सम्यग्दर्शन किया होगा, उसकी यह भावना की बात है।

पहले यह चीज़ चैतन्यवस्तु पूर्णानन्द से भरपूर वस्तु यहाँ है। अनन्त काल से खबर नहीं। ज्ञान में इस चीज़ का माहात्म्य लेकर अन्तर्दृष्टि होने पर आत्मा का अनुभव होता है। तब आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है। आहाहा! प्रथम में प्रथम धर्मश्रेणी

करनेवाला, धर्म का पहला सोपान, पहला सोपान करनेवाला। अन्दर अतीन्द्रिय भरा है। इस इन्द्रिय का आनन्द जो मानता है, वह तो जहर है, दु:ख है और जहर है। भगवान आत्मा आनन्द है, अमृत है। आहाहा! ऐसा अमृतस्वरूप आनन्दस्वरूप वीतरागमूर्ति प्रभु अन्दर है। आत्मा वीतरागस्वरूप है। उसकी अन्तर्दृष्टि (होना), दृष्टि में इसका स्वीकार करना और ज्ञान में उसका अनुभव करना, इसका नाम तो अभी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी होता है, तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही... है। यह ज्ञान-श्रद्धा यह। धारणा की बात नहीं है। धारणा में ले कि आत्मा ऐसा है, वह नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप अन्दर भगवान (विराजता है), उसे वेदन में, वेदन में लेना। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा है। जिनेश्वर परमेश्वर ने कहा, देखा और परमात्मा ने प्रगट किया, वह परमात्मा ने कहा—ऐसा आत्मा। इस आत्मा के आनन्द का स्वाद पहले आया, तब उसे आत्मा आनन्दस्वरूप है, ऐसा यथार्थ अनुभव और प्रतीति होती है। आहाहा! ऐसा मार्ग है। धर्म कोई ऐसी चीज़ नहीं कि यह सामायिक कर डाली और प्रौषध किया और प्रतिक्रमण, हो गया, और हो गया धर्म। वह कुछ धर्म-बर्म नहीं है। वह तो राग की क्रिया है।

यहाँ तो प्रथम चारित्र भी कैसे होता है? तो कहते हैं कि प्रथम में प्रथम पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, उसकी प्रतीति, अनुभव और ज्ञान होता है। चारित्र बाद में होता है। आहाहा! तो कहते हैं कि **जब जीव सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी होता है, तब उसे ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही...** है। ज्ञान-श्रद्धान अर्थात? यह आत्मा ज्ञानमय है, ऐसा ज्ञान का अनुभव (हुआ), ज्ञान का अंकुर वेदन में आया कि पूरा आत्मा ज्ञानमय है और आनन्द का अनुभव हुआ तो पूरा आत्मा आनन्दमय है। शान्ति का अनुभव थोड़ा आया तो पूरा आत्मा शान्तिमय है। आहाहा! ऐसा प्रथम चारित्र प्राप्त करने से पहले आत्मा का ऐसा ज्ञान और दर्शन होना चाहिए। आहाहा! है?

ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही है कि मैं... क्या हुआ? **मैं शुद्धनय से...** मैं शुद्ध (ऐसा कि) किसी की अपेक्षा नहीं, ऐसा जो नय है, उस पूर्णानन्द के नाथ को श्रद्धा में ले, उस नय से **समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ।** पहले सम्यग्दर्शन में, चौथे गुणस्थान में, धर्म की पहली श्रेणी में मैं ज्ञानमय और आनन्दमय हूँ—(ऐसा अनुभव होता है)। आया

न ? आहाहा ! **समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ।** १४८ कर्म प्रकृति से भी रहित हूँ और उसका फल सुख-दु:ख का वेदन, उससे भी मैं भिन्न हूँ। आहाहा ! ऐसा मार्ग है। प्रथम यह तो शुरुआत की बात है।

आत्मा का प्रथम धर्म आत्मा का ज्ञान और श्रद्धान होता है। क्या (होता है) ? कि **समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ। परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर...** वर्तमान कर्म से रहित हूँ, भविष्य में भी कर्म से रहित हूँ परन्तु पूर्व के कर्म जो अज्ञानभाव से बँधे हैं, वह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन हुआ तो भी पूर्व के कर्म बँधे हैं, वह उदय में आते हैं। वे **पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर...** कर्म उदय में आने पर **उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** पूर्व का राग उदय आया, उस राग का कर्तृत्व भी छोड़कर। पूर्व में चारित्रमोह का बन्ध हुआ था। सम्यग्दर्शन-ज्ञान तो हुआ कि मैं शुद्ध त्रिकाल कर्म और उसके फल से भिन्न हूँ। यह तो दर्शन और ज्ञान हुए। अब एक बाकी रहा। पूर्व के जो कर्म हैं, उनका उदय आता है, उसमें जो रागादि, द्वेषादि परिणाम होते हैं, उनसे भी मैं भिन्न हूँ। उसके भावों को छोड़कर। आहाहा ! भारी सूक्ष्म बात। बाहर का कुछ करने का हो तो करे, ऐसा मानता है। अनादि से भटकता है। आहाहा ! चौरासी के अवतार में अकेला दु:खी, अकेला साता आदि हो तो सुख की कल्पना (करे), परन्तु वह अकेला भटकता है। कोई साथ में नहीं है।

मैं अकेला आत्मा सर्व कर्म से और कर्म के फल से रहित हूँ, ऐसा अनुभव में प्रतीति करके, उसका ज्ञान करके प्रतीति करके उस चीज़ को ज्ञान में जानने में लेकर प्रतीति करके प्रथम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। आहाहा ! वे होने के पश्चात् पूर्व कर्म का बन्ध पड़ा था, उसका उदय आता है। तो कहते हैं कि **उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके...** क्या कहते हैं ? भूतकाल में राग किया, कराया, उसे भी मैं छोड़ता हूँ और भविष्य में भी ४९ भंग से, वे आ गये, किसी से कराता नहीं, मैं तो चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वभाव परमानन्द की मूर्ति अकेला आत्मा हूँ। धर्मी प्रथम शुरुआत में अपने को ऐसा मानकर, पश्चात् पूर्व में बाँधे हुए कर्म का फल जब आया तो उसका भी त्याग (करता है)।

उन **भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** आहाहा ! दया, दान का राग आया, उसका भी

कर्तृत्व छोड़कर। वह मेरा कर्तव्य नहीं है। मैं तो ज्ञान और आनन्दमूर्ति प्रभु हूँ। ज्ञाता-दृष्टा में कुछ करना, यह अत्यन्त विरुद्ध है। आहाहा! एक ओर चैतन्य ज्ञान-दर्शन तथा एक ओर रागादि करना, यह दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं। ज्ञान है, वह राग करता नहीं और राग करे, वह ज्ञान नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कितना छोड़ सके, ऐसा पूछते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्ण छोड़ने की बात है। यह तो चारित्र की बात है न! पहले श्रद्धा में भी पूर्ण छोड़ने का है। श्रद्धा-ज्ञान में भी तीन काल के कर्म से रहित हूँ। मैं तो अकेला आनन्द और ज्ञानमय हूँ। यह प्रथम पहली श्रेणी है। आहाहा! यह आया न ?

ज्ञान-श्रद्धान तो हुआ ही... श्रद्धा-ज्ञान (अर्थात्) यह। मैं तो ज्ञान—जाननेवाला हूँ और मुझमें तो आनन्द भरा है। यह चीज़ मैं हूँ, ऐसे तीनों काल का, भूत-भविष्य का कर्तृत्व तो छोड़ दिया परन्तु पूर्व में बाँधे हुए कर्म का उदय आया, उन भावों का कर्तापना छोड़कर। उस भाव का भी कर्तृत्व छोड़कर। आहाहा! यह दया का भाव आया तो भी कर्तृत्व नहीं। दया का भाव भी राग है। आहाहा! इस राग का कर्तृत्व छोड़कर। सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा!

दरकार भी कहाँ है कि मेरा क्या होगा ? अरे..! मैं यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? यह देह छूटेगी। आत्मा तो त्रिकाली सत्ता है, वह तो रहेगी। कहाँ रहेगा ? इसकी चिन्ता नहीं है। वर्तमान की सब चिन्ता। आहाहा! पुत्र, पुत्री, धन्धा चौबीसों घण्टे अकेले पाप की चिन्ता (करता है)। पाप के पोटले बाँधना। मैं कौन हूँ ? और यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? आत्मा तो अनादि-अनन्त रहेगा। देह का नाश होगा परन्तु आत्मा का नाश तो होता नहीं, तो आत्मा किस स्थान में जाएगा ? किस भव में (जाएगा)। आहाहा! इसकी जिसे चिन्ता हो, आहाहा! जिसे इसकी विचारणा हो, वह पहले तीनों काल के कर्म के भाव से भिन्न हूँ, ऐसा निर्णय तो किया। सम्यग्दर्शन में, हों! आहाहा!

यह आत्मा ऐसी चीज़ है कि कोई कर्म करे और आत्मा आत्मारूप से रहे, ऐसा नहीं बन सकता। आहाहा! आत्मा कुछ भी दया, दान का राग करे और आत्मा आत्मारूप से रहे, ऐसा नहीं बन सकता। आहाहा! गजब बात है। अरे रे! जन्म-मरण कर-करके चौरासी के अवतार, एक-एक में अनन्त अवतार किये। मुश्किल से मनुष्यपना मिला तो

इसमें उलझ गया। स्त्री, पुत्र, धन्धा और व्यापार। मर गया। अन्दर आत्मा कौन है? उसका क्या है? उसका क्या करना? इसका विचार कुछ नहीं होता। उसका थोड़ा भाग देना, इसका नहीं, सब भाग स्त्री, पुत्र, कमाने में, पाप में (देता है)। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! तेरी चीज़ ही ऐसी है कि तीनों काल के कर्म से तो रहित ही है, ऐसा ज्ञान और आनन्द का अनुभव हुआ। धारणा नहीं। धारा कि यह आत्मा पर से रहित है, ऐसा नहीं। पर से भिन्न हूँ, ऐसा वेदन हुआ। मुझे ज्ञान से ज्ञानस्वभाव का वेदन हुआ। मैं समकिती, आत्मा त्रिकाल जानने में आया, उसकी प्रतीति हुई। आहाहा! वह (प्रतीति) आने के पश्चात् पूर्व का कर्मबन्धन था वह उदय में आया, उन **भावों का कर्तृत्व छोड़कर,...** देखो! उन भावों का कर्तृव्य छोड़कर। भावों को छोड़कर, ऐसा नहीं कहा। आहाहा! ऐसा धर्म।

मुमुक्षु : श्रद्धा में तो कर्तृत्व पहले छूट गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर सकता हूँ, यह छूटा। यह तो अस्थिरता में नहीं। अस्थिरता में कर्तृत्व नहीं। आहाहा! ऐसा कैसा धर्म होगा? वीतराग सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग अरिहन्त परमात्मा परमेश्वर की यह वाणी है। प्रभु! तू कौन है? तू तो प्रभु आत्मा है न! तो आत्मा, उस अनात्म चीज़ में कैसे चला गया? आहाहा! तेरी चीज़ को छोड़कर, तुझमें नहीं, ऐसे में कहाँ चला गया? उस ओर दौड़ गया, चला गया। आहाहा! तो पहले ही अनुभव में निर्णय किया कि तीन काल के कर्म मेरी चीज़ में है ही नहीं। आहाहा! अब यह तो पूर्व के कर्म जो बँधे हुए हैं, उनका फल आया। दया का, दान का, भक्ति का, व्रत का राग आया, उस राग का अस्थिरता का कर्तृत्व छोड़कर। आहाहा! ऐसा मार्ग सुनना कठिन पड़ता है। किया तो कब है? मजदूरियाँ कर-करके मर जाता है। बनिया बड़ा मजदूर। पूरे दिन मजदूरी-धन्धा करके... आहाहा! चले जाते हैं। आहाहा! जो विचार आये...

पालेज दुकान थी न? हमारे और कुंवरजीभाई की दो दुकान थी। पाँच वर्ष मैंने भी दुकान चलायी है। (संवत्) १९६३ से १९६८। यह तो ९१ वर्ष हुए। शरीर को ९१, ९२ (हुए)। माता के (गर्भ के) नौ महीने गिने तो ९२ हो गये। आहाहा! बहुत देखा, बहुत देखा। आहाहा! अरे! उस समय कुँवरजीभाई करे (यह देखकर) मुझे ऐसा होता था, भाई! यह तुम क्या करते हो? पूरे दिन यह जंजाल। कोई साधु आवे तो रात्रि आठ बजे जाए।

सवेरे आठ बजे साधु आये हों तो भी व्यापार के कारण (जाए) नहीं। रात्रि में आठ बजे नामा लिखकर जाए।

मुमुक्षु : उनको खबर थी न कि आप सेवा करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : करे, परन्तु मैं तो दुकान छोड़ दूँ। पश्चात् भाई ... करे। मुझे कुछ कहे भी नहीं। परन्तु वह करे, किन्तु गाँव में तीन-चार साधु आये हों। वे साधु थे कहाँ? वह तो उस सम्प्रदाय की दृष्टि से (कहा)। धन्धा के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पाप की पिंजण। आहाहा! पाप की पिंजण। पिंजण में एक पुली छूटे वहाँ दूसरी पुली साँधे। एक पुली ऐसे छूटे, वहाँ दूसरी पुली सांधे। ऐसे धन्धे में एक धन्धा छूटे वहाँ दूसरा धन्धा ले। आहाहा! प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? मनुष्य देह तो थोड़ा है, प्रभु! देह थोड़ा रहनेवाला है।

यहाँ कहते हैं, आहाहा! एक बार यह तो कर। जिससे जन्म-मरण का आरा—अन्त आ जाए। आहाहा! पूर्व के कर्म का उदय आवे, अब कर्म और पूर्व का बाँधा हुआ, पूर्व में मैं हूँ और यह तो सब प्रतीति और ज्ञान हो गया है। समझ में आया? आहाहा! उसका **कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों के द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना...** क्या कहते हैं? कि दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के जो परिणाम (होते हैं), उन परिणाम को कर्म कहते हैं। यहाँ कर्म अर्थात् जड़ नहीं। विकारी अरूपी भाव को यहाँ कर्म कहते हैं। अनादि से कर्मचेतना में यह जुड़ गया है, यह बेचारा दुःखी है। आहाहा! उस **कर्मचेतना के त्याग की भावना...** मैं राग का कर्ता, करानेवाला, भविष्य में अनुमोदन या कर्तापने का सबका त्याग करके। आहाहा! यह कर्मचेतना। दया, दान, राग, द्वेष, धन्धा के परिणाम, यह कर्मचेतना है। आहाहा!

अरे! मैं कहाँ जाऊँगा? देह छूटकर कहाँ जाऊँगा? और मरनेवाले के पीछे रोता है, वह मरकर नरक में गया या पशु में गया, उसकी इसे कहाँ पड़ी है? यह तो अपनी वर्तमान सुविधा जाती है, दुकान का बराबर ध्यान रखता था, उसे रोता है। तू मरकर ढोर में गया या नरक में गया, हमारे यहाँ कहाँ पड़ी है? आहाहा! यह इसका सगा! कभी इसने विचार किया है? आहाहा! मैं तो वहाँ मेरे घर के जितने लोग (थे), उनका विचार करता था। यह कहाँ जाएगा? आहाहा! कुँवरजीभाई को कहा था, ढोर में जाएगा, भाई! ढोर में जाएगा। (संवत्) १९६४ के वर्ष में कहा था। १९६४ के वर्ष, कितने वर्ष हुए? ७२। दुकान का

बड़ा धन्धा चलता था, दो दुकानें थीं। ढोर में जाएगा, कहा। हमारे भाई थे, वे सरल थे, सरल थे। आहाहा! वे मनुष्य हुए होंगे, ऐसा लगता है। सपने में आया था। मनुष्य हुए हैं। एक ढोर और एक मनुष्य। दोनों भागीदार। आहाहा! बाप मरकर नरक में जाए और लड़का मरकर स्वर्ग में जाए। एक-दूसरे को क्या सम्बन्ध है? जिसके जो परिणाम किये, उन परिणाम का फल भोगने चले गये।

यहाँ कहते हैं, धर्मी जीव उस कर्मचेतना को छोड़ता है। वर्तमान। पुण्य और पाप के भाव मेरा कर्तव्य है, ऐसा दृष्टि में से तो छूट गया है, (अब) अस्थिरता में भी छोड़ता है। आहाहा! है? **कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके,...** किसी भी कर्म को भोगना, यह मेरा कार्य नहीं है। चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर, रागादि अन्धकार में कैसे रुके? आहाहा! चैतन्य भगवान जानन का पूर, वह तो जाननस्वभाव से भरपूर भगवान त्रिकाली ज्ञायक है। आहाहा! यह रागादि अन्धकार है, चाहे तो दया, दान का राग हो या चाहे तो धन्धे का राग हो, दोनों राग अन्धकार है। आहाहा! अरे! चैतन्यप्रकाश और अन्धकार, दोनों एक कैसे होते हैं? दोनों एक कभी नहीं होते? आहाहा! तो उस कर्तापने को छोड़ दे। आहाहा! यहाँ तो चारित्र की व्याख्या चलती है। आहाहा!

समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्यस्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। लो! समस्त कर्म के फल को भोगनेवाला मैं नहीं; मैं तो चैतन्य आत्मा आनन्दमय, वह आनन्दस्वरूपी प्रभु हूँ। राग, वह दुःख है, चाहे तो पुण्य का राग हो, वह आनन्दस्वरूपी दुःख को कैसे भोगे? आहाहा! भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का दल है। अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर... आहाहा! भगवान है आत्मा। कैसे जँचे? बीड़ी बिना चले नहीं। बीड़ी, तम्बाकू बिना चले नहीं, उसे कहना कि तू भगवान है। श्रद्धा-ज्ञान में तो छोड़ दिया। क्योंकि अपनी चीज़ में राग और राग के फल की गन्ध नहीं। वहाँ तो आनन्द और आनन्द के फल भोगने का है। ऐसा मैं मेरा आत्मा ४९-४९ भंग को छोड़कर **कर्मचेतना के त्याग की भावना करके...** राग से करना छोड़कर यह भावना करके।

समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके,... आहाहा! छोड़ा...

छोड़ा जाए नहीं। इसमें भगवान कहते हैं, सब छोड़ दे। बापू! चौरासी के अवतार में मर जाएगा। चौरासी के अवतार कर–करके... आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, सब छोड़ दे। पूरी दुनिया एक आत्मा के अतिरिक्त, तेरे अतिरिक्त सब छोड़ दे। आहाहा! पहले श्रद्धा–ज्ञान में, अनुभव में छोड़, पश्चात् अस्थिरता को छोड़। आहाहा! ...किस क्षण में देह में फेरफार होगा... आहाहा!

कहते हैं, अपने स्वरूप का भान हुआ, सम्यग्दर्शन–ज्ञान हुआ तो भी पूर्व के कर्म हैं, उन्हें भोगने का बाकी रहा, उसे भी छोड़ दे। आहाहा! **प्रमत्त अवस्थावाले जीव के ज्ञानश्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही;...** क्या कहते हैं? ज्ञान में, श्रद्धा में तो पूरा सब जगत छोड़ दिया। अब अस्थिरता रह गयी है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप के ज्ञान–श्रद्धान में तो निरन्तर यह भावना है ही। रागादि विकल्प कोई चीज़ मुझमें नहीं है, वह तो सम्यग्दर्शन में होती ही है। आहाहा! सब छोड़ देने का कहते हैं। चारित्र की अपेक्षा से बात है। श्रद्धा में पहले सब छोड़ दे। एक राग का रजकण भी मेरा नहीं और एक परमाणु का रजकण भी मेरा नहीं। आहाहा! जो मुझमें से निकल जाए, वह मेरी चीज़ नहीं और मुझमें रहे, वह मेरी चीज़ है। मुझमें तो ज्ञान और आनन्द रहनेवाले हैं। राग के ४९ भंग छोड़कर, कर्मचेतना के छोड़कर... आहाहा! प्रमत्त अवस्थावाले जीव को ज्ञान–श्रद्धान में निरन्तर भावना तो है ही। चौथे गुणस्थान में, पाँचवें और छठवें में उसे ज्ञान और श्रद्धा तो है। आहाहा!

और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त करके... आहाहा! अप्रमत्तदशा में जब आता है, तब **एकाग्र चित्त से ध्यान करे,...** यह तो सप्तम गुणस्थान की बात है। आहाहा! चौथे, पाँचवें, छठवें तक तो ध्यान में नहीं रह सकता। श्रद्धा–ज्ञान में है कि यह सब छोड़नेयोग्य है। आहाहा! **केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये...** आत्मा अकेला चैतन्यमात्र है। उसमें कोई दया, दान, कर्म, विकल्प कुछ नहीं है। वह तो चैतन्यप्रकाश के नूर का पूर है। आहाहा! ऐसे समकिती को धर्म की जिसे अन्तरश्रद्धा हुई, उस श्रद्धावान को, मेरे आनन्द और ज्ञानस्वभाव के अतिरिक्त सभी चीज़ मेरी नहीं है। वह तो श्रद्धा में से छूट गयी। आहाहा! श्रद्धा में से और ज्ञान में से, वह मेरी चीज़ है, ऐसा छूट गया। आहाहा!

और जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त करके... चौथे, पाँचवे, छठवें में श्रद्धा की भावना है, स्थिरता की भावना नहीं। चौथे, पाँचवें, छठवें में श्रद्धा–ज्ञान की भावना है कि यह मेरी

चीज़ नहीं परन्तु अभी अस्थिरता है। सातवें में उस अस्थिरता को भी छोड़कर। आहाहा! **जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त करके...** अर्थात् क्या कहते हैं? कि चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में श्रद्धा-ज्ञान में तो यह भावना है ही, परन्तु स्थिरता नहीं है, उसकी कचास सप्तम गुणस्थान में छोड़कर आत्मा के ध्यान में लग जाए। तब चारित्र की दशा होती है, तब केवलज्ञान होता है। आहाहा! तब मुक्त होता है, नहीं तो मुक्त होता नहीं, चार गति में भटकता है। भारी कठिन बात।

केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये... आहाहा! अकेला चैतन्यमात्र भगवान, जिसमें दया, दान, व्रत के विकल्प का अवकाश नहीं। चैतन्य में वह है ही नहीं। अभी तो यह करो, यह करो, यह करो... करो और मरो, जाओ, आहाहा! अरे! जिन्दगी चली जा रही है। मृत्यु के दिन नजदीक आते हैं। निश्चित है कि इस दिन और इस क्षण में देह छूटेगी। उससे पहले यह करने का है, उसे करना छोड़कर, नहीं करनेयोग्य है उसे पहले करना है। आहाहा! अभी श्रद्धा-ज्ञान का ठिकाना नहीं। मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? दूसरे का करना, ऐसा करना, मदद करना, सेवा करना, दूसरे की सेवा करना... धूल भी सेवा नहीं कर सकता। तीन काल-तीन लोक में एक जीव दूसरे जीव की सेवा नहीं कर सकता। भिन्न चीज़ भिन्न का कुछ नहीं कर सकती। आहाहा! उसमें बेचारा अटक जाता है। यह करना और यह करना और यह करना। आहाहा! निवृत्त हो तो धर्म के नाम की बहियाँ लिखे... अब मैं सब मुफ्त काम करूँगा। आहाहा! प्रभु! क्या करना है तुझे?

प्रभु! तू तो ज्ञान, ज्ञान चैतन्य का पिण्ड, तू तो जाननहार है। एक ओर ज्ञेय तथा एक ओर ज्ञान। केवली भी तेरे ज्ञान में ज्ञेय है। तू तो ज्ञान है न! आहाहा! केवली की ओर भी यदि राग रहेगा तो वह भी राग है, पुण्य है। वह भी धर्म नहीं। आहाहा! **चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये...** यह क्या कहते हैं? केवल चैतन्यमात्र आत्मा। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आत्मा में नहीं हैं, आत्मा के नहीं हैं। आहाहा! इसलिए केवल शब्द लिया है न? क्या कहा? **केवल चैतन्यमात्र...** अकेला चैतन्यमात्र आत्मा। आहाहा! आत्मा में **केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये...** इतनी लाईन में... आहाहा! अकेला जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... वह आत्मा है। ऐसे चैतन्य में उपयोग लगावे। आहाहा! बड़ा चक्रवर्ती का राज करना हो... दूसरे से अधिक होकर करूँ, मैं

होशियार हूँ तो यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ। नयी दुकान बनाऊँ, ऐसे अमुक करूँ। अभी... यह क्या कहलाता है? कारखाना बहुत चले हैं। पच्चीस-पचास हजार रुपया हो तब कारखाना बनावे। लोहे का और अमुक का और कील का और... अरे रे! जगत...

यहाँ कहते हैं, केवल चैतन्यमात्र आत्मा। उसमें दूसरा कुछ नहीं। आहाहा! **केवल चैतन्यमात्र आत्मा में उपयोग लगाये...** अपनी पर्याय का उपयोग—व्यापार वहाँ लगावे। आहाहा! उपयोग शब्द से जानने-देखने के परिणाम चैतन्य में लगावे। जानना-देखना जो पर की ओर झुकता है, उसे श्रद्धा-ज्ञान में तो छोड़ दिया है परन्तु जो अस्थिरता में है, उसे भी छोड़ दे। आहाहा! अब इसे धन्धा करना या ऐसा करना। शान्तिभाई! पूरे दिन धन्धा करना, स्त्री, पुत्र, लड़के-लड़कियों को ठिकाने लगाना, अपनी इज्जत प्रमाण ठिकाने करना। जैसे-तैसे ठिकाने लड़की नहीं दी जाती, जैसे-तैसे ठिकाने की हल्की लड़की ले नहीं। आहाहा! इस सब बात में कसाईखाना लगाया है। आहाहा!

प्रभु! तू तो ज्ञान है न! तेरे ज्ञान में कुछ करना, यह हो नहीं सकता, नाथ! आहाहा! यह तुझे रुचे नहीं तो तुझे आत्मा ही नहीं रुचता। आत्मा ही रुचता नहीं कि आत्मा कौन है? हमारे दरकार नहीं है। आहाहा! अपने को पर से तो भिन्न जाने और माने, पश्चात् स्वरूप में उपयोग लगावे। वह उपयोग अभी पर में घूमता था। आहाहा! लिखा है थोड़े में (परन्तु) कितना भरा है! आहाहा!

और शुद्धोपयोगरूप हो,... आहाहा! लो, शुद्धोपयोगरूप हो। अप्रमत्तदशा हो, तब शुद्धोपयोग हो जाता है। पहले शुद्धोपयोग थोड़ा होता है, परन्तु कायम नहीं रहता। अप्रमत्त में कायम रहता है। आहाहा! शुद्धोपयोग अर्थात्? पुण्य और पाप के, दया, दान, व्रत के परिणाम, वे अशुद्धोपयोग हैं। वह तो बन्धन का कारण है। उसे छोड़कर शुद्धोपयोग का उपयोग लगा दे। आहाहा! दुनिया को न देख, वह क्या करता है? कौन सामने बढ़ता है? कोई धूल भी सामने बढ़ता नहीं, बापू! आहाहा! श्मशान में चला जाएगा। श्मशान में तो कुछ जाता नहीं। श्मशान में तो मुर्दा जाता है, यह (आत्मा) तो कहीं चला जाता है। आहाहा! देह छूटने के पश्चात् तो कहीं चला जाता है। मुर्दे को श्मशान में ले जाते हैं। आहाहा! एक बार जागती ज्योति को देख तो सही, प्रभु! आहाहा! जिसे कभी जन्म नहीं,

मरण नहीं, युवा नहीं, वृद्ध नहीं, बालक नहीं—ऐसा तू प्रभु अन्दर है। आहाहा! ऐसे आत्मा में उपयोग लगा।

शुद्धोपयोगरूप हो,... पुण्य और पाप के भाव तो अशुद्ध उपयोग है। दया, दान, भक्ति, व्रत, तप आदि अशुद्धोपयोग है, वह तो राग है। आहाहा! वह तो मलिनभाव बन्ध का कारण है। शुद्धोपयोग; पुण्य और पाप के दोनों भाव से रहित शुद्धोपयोगरूप होता है। **तब निश्चयचारित्ररूप...** यह चारित्र की व्याख्या है न? **तब निश्चयचारित्ररूप शुद्धोपयोगभाव से श्रेणी चढ़कर...** आहाहा! यह शुद्धोपयोग अन्दर लगावे तो निश्चयचारित्र होता है और निश्चयचारित्र से... आहाहा! श्रेणी चढ़कर अर्थात् कि गुण की पर्याय, गुण की पर्याय धारावाही चलती है। निर्मल पर्याय को धारावाही चलावे। एक के बाद एक, एक बाद एक धारावाही। उसे यहाँ श्रेणी कहते हैं। आहाहा! अन्दर में उपयोग में चढ़ा दे।

केवलज्ञान उत्पन्न करता है। आहाहा! उस शुद्धोपयोगभाव से श्रेणी चढ़कर **केवलज्ञान उत्पन्न करता है।** लो, पहले से शुरु करके ठेठ (तक लिया)। आहाहा! **उस समय...** केवलज्ञान उत्पन्न हो, उस समय **इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित...** राग को करना और राग को भोगना। राग को करना, वह कर्मचेतना और भोगना, वह कर्मफलचेतना (है), उसे छोड़कर। आहाहा! **साक्षात् ज्ञानचेतनारूप परिणमन है, (वह होता है)।** ज्ञान का परिणमन तो चौथे, पाँचवें में था परन्तु यह साक्षात् ज्ञानरूप परिणमन हो गया, अकेला केवल रह गया। अकेला चैतन्यबिम्ब अन्दर रह गया। सब समाप्त हो गया। आहाहा! ऐसा सुनने को मिलता नहीं। वह करे कब बेचारा? उसमें फिर जवान अवस्था हो और महीने में हजार, दो हजार, पाँच हजार कुछ कमाता हो, आहाहा! गहरा-गहरा घुस जाता है। आहाहा! कहते हैं, करने का तो यह है। आहाहा!

पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक... आत्मा अनन्त काल तक **ज्ञानचेतनारूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।** लो! परमानन्द में मग्न रहे, वह सिद्ध, वह परमात्मा, वह मोक्ष। परमानन्द की पूर्ण दशा प्रगट करके, इस विधि से। सदा सादि-अनन्त परमानन्द में रहता है। आहाहा! अच्छा लिखा है।

कलश - २३१

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(वसंततिलका)

नि:शेष–कर्मफल–सन्न्यस–नान्ममैवं,
सर्वक्रियान्तर–विहार–निवृत्त–वृत्ते: ।
चैतन्य–लक्ष्म भजतो भृश–मात्मतत्त्वं,
कालावलीय–मचलस्य वहत्वनन्ता ।।२३१।।

श्लोकार्थ : (सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि–) [एवं] पूर्वोक्त प्रकार से [नि:शेष–कर्म–फल–संन्यसनात्] समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से [चैतन्य–लक्ष्य–आत्मतत्त्वं भृशम् भजत: सर्व–क्रियान्तर–विहार–निवृत्त–वृत्ते:] मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता भोगता हूँ और उससे अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है (अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया–विभावरूप क्रिया, उसमें मेरी परिणति विहार–प्रवृत्ति नहीं करती); [अचलस्य मम] इस प्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे, [इयम् काल–आबली] यह काल की आवली जो कि [अनन्ता] प्रवाहरूप से अनन्त है वह, [वहतु] आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे; (उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाए)।

भावार्थ : ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्त काल तक ऐसा ही रहना चाहता है। और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है। बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है, वह मोक्ष का उपाय नहीं है।।२३१।।

कलश-२३१ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–२३१ (कलश)

निःशेष-कर्मफल-सन्न्यस-नान्ममैवं,
सर्वक्रियान्तर-विहार-निवृत्त-वृत्तेः।
चैतन्य-लक्ष्म भजतो भृश-मात्मतत्त्वं,
कालावलीय-मचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३१॥

आहाहा! **(सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी...)** आहाहा! मैं तो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा हूँ। मुझमें कुछ लप है नहीं। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी मेरा नहीं। आहाहा! ऐसा अन्दर श्रद्धा-ज्ञान करके। है न? **(सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-) पूर्वोक्त प्रकार से 'निःशेष-कर्म-फल-संन्यसनात्' समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से...** संन्यास अर्थात् त्याग। आहाहा! अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान में तो इन सर्व का त्याग पहले करना। कोई भी चीज़ मेरी है, मैं कर्ता हूँ, मैं उसका भोगता हूँ, यह तो पहले से ही छोड़ देना चाहिए। आहाहा! पश्चात् स्वरूप में स्थिरता करके, उसकी यहाँ बात है। आहाहा!

मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता भोगता हूँ... आहाहा! चारित्र की व्याख्या है न! मैं तो आनन्द का भोगता हूँ। दुःख, राग और दुःख / आकुलता, वह मुझमें है ही नहीं। आहाहा! जगत के किसी पदार्थ की चिन्ता मुझमें है ही नहीं। आहाहा! मफतलाल कहता था, ऐसा तो बाबा होंवे, तब (समझ में आये)। परन्तु अन्दर में बाबा ही है, तूने पर के साथ सम्बन्ध माना है। आहाहा! अन्दर तो निवृत्तस्वरूप ही है। बाबा कहो या निवृत्तस्वरूप कहो। एक राग का विकल्प, तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस राग के साथ भी तुझे सम्बन्ध नहीं है, प्रभु! ज्ञानस्वभाव को वह नहीं होता। जाननस्वभाव जो परमात्मा, उसे मलिन राग का करना और भोगना नहीं होता। आहाहा! ऐसी चीज़ को भोगने पर... आहाहा!

समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता भोगता हूँ... आहाहा! लो! इसका नाम मोक्ष है। अकेला चैतन्यतत्त्व पूर्णानन्द से भरपूर, उसे मैं भोगता हूँ। **अन्य सर्व क्रिया में विहार से...** अन्य सर्व क्रिया में विहार अर्थात् रुकने

से **मेरी वृत्ति निवृत्त है...** आहाहा! **(अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया–विभावरूप क्रिया, उसमें मेरी परिणति विहार–प्रवृत्ति नहीं करती);...** उसमें विहार नहीं करती। आहाहा!

यह काल की आवली... क्या कहते हैं? मेरी जो यह दशा उत्पन्न हुई, वह अब इस काल से उस अनन्त काल तक रहो। आहाहा! काल की आवली अर्थात् श्रेणी, भविष्य काल। मेरा अनन्त काल आनन्द में रहो, बस! आहाहा! यह तो कोई कहे, किया जा सके ऐसा कुछ कहते नहीं और नहीं किया जा सके, (ऐसा कहते हैं)। बेचारे ने सुना न हो। वस्तु की स्थिति को सुना नहीं। आहाहा! **(विभावरूप क्रिया, उसमें मेरी परिणति विहार–प्रवृत्ति नहीं करती);...** विशेष आयेगा...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४४०, श्लोक-२३१, २३२, मंगलवार, आषाढ़ शुक्ल १०
दिनांक - २२-०७-१९८०

सकल कर्मों के फल का त्याग करके... कर्म शब्द से पुण्य और पाप, वह कर्म है, बन्धन है, दुःख है। वह पुण्य भी दुःख है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह भी दुःख है और यह कमाना, पूरे दिन दुकान, वह तो अकेला पाप है। वह तो पाप का पोटला बाँधता है। आहाहा! उसका फल आवे तब... अभी इसे नहीं सूझता। अभी मजा लगता है। पाँच-पच्चीस लाख मिल गये, करोड़ रुपये मिले हों, दो-पाँच करोड़ (मिले हों, उसमें नहीं सूझता)। अफ्रीका में गये थे, तब कहा था। वहाँ ४५० तो करोड़पति हैं। ४५० करोड़पति और १५ अरबपति। उसमें अपने जेठाभाई हैं, वे तो बेचारे एकान्त में कहे, मैंने कहा, दुःखी हो, दुःखी। जेठाभाई नरम व्यक्ति हैं। यहाँ आते हैं। आहाहा! धूल में कुछ नहीं होता। एक अरबपति रतिभाई आया था। (उससे कहा), तत्त्वज्ञान होने के बाद व्यवहार कैसा होता है, यह समझ में आयेगा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **सकल कर्मों के फल का त्याग करके...** अरे! प्रभु! तूने बहुत किया। अनन्त काल पुण्य और पाप के भाव किये। महा दुःखरूप। आहाहा! यह जहरीला स्वाद तूने चखा, जहरीला स्वाद चखा। आहाहा! अब त्याग कर। **ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला...** अब ज्ञान अर्थात् आत्मा। आहाहा! मैं तो आत्मा ज्ञान हूँ। कोई चीज़ मेरी नहीं और मैं किसी चीज़ का नहीं। अब यह किस प्रकार जँचे? पूरे दिन स्त्री, पुत्र और लोहे के धन्धे में पड़े हों। आहाहा!

मुमुक्षु : धन्धा तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : धन्धा तो आयुष्य पूरा हो, तब पड़ा रहे, यहाँ हो तब तक कौन करे? हमारे वहाँ पालेज में दुकान थी। हो तब तक हमारे कुँवरजीभाई हो... हा... हो... हा... करते थे। मर गये तब अन्त में सन्निपात हो गया। सन्निपात हुआ। मैंने यह किया। मैंने यह किया, मैं यह किया... मैंने तो पहले से (संवत्) १९६४ के वर्ष से कहा था, यह मरकर ढोर होओगे। यह दशा? आत्मा क्या है? बापू! तू कहाँ जाएगा? तू क्या करता है? इसका

फल क्या है ? इसका विचार भी किया नहीं। अरे! तुझे तेरी दया नहीं, दूसरे की दया करने चल निकला है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं **(सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि-)** आहाहा! पुण्य और पाप के भाव, हों! बाहर की चीज़ की तो बात ही कहाँ है ? यह पुण्य और पाप की कर्मचेतना को छोड़कर अन्तर आत्मा ज्ञानचेतना अर्थात् ज्ञानस्वरूप का अनुभव, वह ज्ञानचेतना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि अब ज्ञानी—धर्मी अपने में कहता है कि **पूर्वोक्त प्रकार से 'निःशेष-कर्म-फल-संन्यसनात्' समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से...** आहाहा! पूर्व में चाहे जिस प्रकार का बन्धन किया हो। अरे! तीर्थंकरप्रकृति का बन्ध किया हो, मुझे भोगना नहीं है। आहाहा! कितना आ गया इसमें ? आहाहा! स्त्री मेरी है, ऐसा माना नहीं जाएगा, पुत्र मेरा है, ऐसा माना नहीं जाएगा। मानेगा, वह मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व को सेवन करता है। आहाहा! गजब बात, बापू! यह बात सुनने को मिले कहाँ ? आहाहा! जिस चीज़ को आत्मा कभी स्पर्श नहीं कर सकता। अड़े, समझे ? छूता नहीं। एक चीज़ दूसरी चीज़ को छूती नहीं। उस चीज़ को छूता नहीं, वह चीज़ तेरी कहाँ से हो गयी ? आहाहा! दुनिया में बेचारे अरबोंपति (मरकर) चले जाए। अरे! मुझे कोई बचाओ। बचाओ... बचाओ... कौन बचावे ? धूल। आहाहा! चले जाते हैं। माँस आदि खाते हों तो नरक में जाते हैं। बनिये माँस नहीं खाते तो पशु में जानेवाले हैं। पशु... पशु होनेवाले हैं। आहाहा! कैसे जँचे ? यहाँ पाँच-पचास लाख (मिले हों), वह मरकर पशु होनेवाले हैं। कैसे जँचे ? और वहाँ से अनन्त काल में मनुष्य होना मुश्किल, प्रभु! आहाहा! ऐसी वस्तु की मर्यादा है। माने, न माने इससे कहीं वस्तु की मर्यादा बदलती नहीं।

एक चीज़ अनन्त चीज़ की है ही नहीं और अनन्त चीज़ एक चीज़ की नहीं। आहाहा! एक चीज़ दूसरी चीज़ को छूती नहीं। गजब बात है, प्रभु! आहाहा! और प्रत्येक चीज़ में धारासर क्रमबद्धपर्याय होती है। आगे-पीछे को क्या कहते हैं ? आगे-पीछे नहीं होती। आहाहा! अकेला प्रभु तू ज्ञाता और दृष्टा ही अन्दर है। करना-फरना या पर्याय को बदलना, यह भी नहीं। करना-बदलना तो नहीं परन्तु पर्याय को बदलना भी नहीं। आहाहा! यह यहाँ कहा।

'नि:शेष-कर्म-फल' समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से... **'चैतन्य-लक्ष्य-आत्मतत्त्वं भृशम् भजत: सर्व-क्रियान्तर-विहार-निवृत्त-वृत्ते:' मैं...** धर्मी अब अपनी चीज़ में आता है। परचीज़ में जो भाव में अटकता था.... आहाहा! भाव में, हों! परचीज़ को तो कभी छूता नहीं। आहाहा! परचीज़ का लक्ष्य करके जो भाव का भटकना (था, उसमें) दु:ख, अकेला दु:ख (था)। संसार का सुख है, वह अकेला दु:ख है। आहाहा!

एक प्रश्न नहीं हुआ था? नारकी को इतना दु:ख, संयोग है। (कहा), संयोग का दु:ख नहीं। उसे अग्नि छूती नहीं। उसे परमाधामी शस्त्र मारे, उसे छूता नहीं। आहाहा! मात्र उस संयोग पर लक्ष्य ले जाकर अर..र! यह है। ऐसा करता है, वह विकार करके विकार को भोगता है। आहाहा! उस संयोग को तो छूता भी नहीं। अरे रे! यह कौन माने? बिच्छू काटता है, तब छूता नहीं, बिच्छू छुआ ही नहीं, तो शोर किसलिए मचाता है? यह तो दूसरे परमाणु हैं। बिच्छू तो निमित्त था। दूसरे परमाणु थे, (वे) जहररूप ऐसे दु:खरूप परिणमे हैं। अन्दर शोर मचाये, आहाहा! बिच्छू को उतारते हैं न? वह उतरे क्या? उतारते थे, अपने रामजीभाई उतारते थे। यह तो जो जत्था हो, वह ऐसे-ऐसे करे; इसलिए पृथक् पड़ जाए। आहाहा! उसके परमाणु होते हैं न? जहर जैसे हो गये हों। उसे ऐसे फिरावे तो पृथक् पड़ जाए और हल्का हो जाए। आहाहा! प्रत्येक चीज़ को ख्याल में लिया है। किसी भी चीज़ का मर्म क्या है, यह जाने बिना कभी जाना नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! **पूर्वोक्त प्रकार से समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से...** आहाहा! यहाँ तो अन्तिम वस्तु है, चारित्र का अधिकार है। समस्त छोड़ दे। आहाहा! राग के कण से लेकर रजकण और धूल के ढ़ेर, सब ढ़ेर होते हैं, कोई तेरी चीज़ नहीं है। तुझे दु:ख आयेगा तो... श्वेताम्बर में एक जगह ऐसा लिखा है, पूर्व में तूने पाप किये हों, पश्चात् प्रतिकूलता आवे तो उसके पास जाना कि मैंने तेरे लिये पाप किये थे, कुछ बचाओ न! कौन बचावे? प्रभु! तूने अकेले ने किये और अकेला भोग। आहाहा! सर्प का काटना, उसका बहुत दु:ख नहीं है, मात्र मूर्च्छा आ जाए। बिच्छू का काटना कठोर है, उन सबसे भी नरक के दु:ख... आहाहा! उस पर के ऊपर लक्ष्य करके, एकाकार होकर इसने दु:ख भोगे हैं। दु:ख तो वेदनेवाला वेदता है, परन्तु दु:ख को देखनेवाले के आँख में से आँसू की धारा बह जाए, इतने दु:ख भोगे हैं। बापू! आहाहा! तूने तो दु:ख भोगे परन्तु दु:ख को

देखनेवाले को आँख में से आँसू बह जाए। अर र र! यह (दु:ख)! इन सबका मूल मिथ्यात्व है। बाकी ऊपर की बातें हैं।

समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से... मैंने कोई कर्म किया ही नहीं, मेरी चीज़ ही नहीं। मैं तो आत्मा हूँ। आहाहा! आत्मा कहाँ राग करे? आहाहा! बर्फ कैसे उससे सुलगे? बर्फ सुलगे? बर्फ। इसी प्रकार भगवान शान्तरस से भरपूर है। बर्फ से शीतल, परन्तु अनन्तगुणी शान्ति है। आहाहा! पुण्य-पाप दु:ख। आहाहा! उसे वेदन किया, वह तो वह जाने। कहते हैं, एक बार छोड़ तो सही, प्रभु! यह तो अन्तिम अधिकार है न? चारित्र अधिकार है। दर्शन-ज्ञानसहित। पहले अभी दर्शन करे।

पूर्वोक्त प्रकार से समस्त कर्म के फल का संन्यास करने से मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को... आहाहा! मेरा लक्षण तो चैतन्य है। मेरा लक्षण कोई पुण्य-पाप, पर का करना और भोगना, वह मेरा लक्षण नहीं। आहाहा! **मैं चैतन्य लक्षण आत्मतत्त्व को अतिशयता भोगता हूँ...** आहाहा! अन्तिम चारित्र आया न? आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... चारित्र। चारित्र किसे कहना? बापू! अभी तो यह बात भी सब बदल गयी है। नग्न हुआ और वस्त्र छोड़े तो हो गया साधु। यह वस्त्रवाले तो... आहाहा! प्रभु ऐसा कहते हैं, वस्त्र का टुकड़ा रखकर साधु माने तो निगोद में जाएगा। तो प्रभु! यह किसे लागू पड़े? सबको लागू पड़ता है या नहीं? जितने साधु जैन के या अन्य के (सबको) लागू पड़ता या नहीं? कठिन बात है, भाई! आहाहा!

यह तो सिद्धान्त कहा कि कपड़े का टुकड़ा रखकर मुनिपना माने तो निगोद में जाएगा। अरे रे! प्रभु! जैन में रहे हुए श्वेताम्बर, स्थानकवासी और अन्य। अन्य के लाखों-करोड़ों साधु, भले नग्न हुआ हो तो राख चोपड़ी हो, यह वस्तु है न? है न? देखा है न? साधु देखे हैं। नग्न देखे हैं। राख चोपड़े हुए देखे हैं न! उनके पास गये थे। वहाँ बोटाद में थे। साधु सब नग्न आये थे। जंगल गया था। ... वे लोग कहे, पधारो... पधारो। सब देखा तो सही। कुछ भान नहीं होता। राख लगाकर नग्न होकर घूमे, इसलिए मानो हम त्यागी हो गये। आहाहा! वस्त्र नहीं परन्तु राख लगाकर रहे तो भी वे निगोद में जायेंगे। ऐसा आता है या नहीं गाथा में? आहाहा! अरे रे! वीतराग परमेश्वर केवलज्ञानी ने जैसा स्वभाव देखा, वैसा कहा। वह किसे लागू पड़ता है, इसकी समझ नहीं है। आहाहा! जैन में भी एक

टुकड़ा रखकर निगोद में जाए तो अन्य की क्या बात करना? प्रभु! आहाहा! गजब बात है। अरे रे! इसने विचार भी किया नहीं कि यह क्या है? और यह क्या फल? और कहाँ जाऊँगा? यह तो वर्तमान हा... हो, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और कुछ धन्धा किया और मरकर जाए। नरक, निगोद में जानेवाला है। आहाहा! ओहोहो! वस्त्र रखकर निगोद में जाए, तब फिर यह सब मेरा है, ऐसा माने, यह सब मेरा है—ऐसा माने, उस मिथ्यात्व का फल क्या? आहाहा!

यह सब छोड़कर ज्ञानतत्त्व आत्मा को **अतिशयता भोगता हूँ...** आहाहा! मैं तो आत्मा हूँ। राग, विकल्प, दया, दान, भगवान की भक्ति, वह भी मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शनसहित चारित्र जब होता है, तब ऐसी दशा होती है। आहाहा! मैं तो चैतन्य आत्मतत्त्व को अतिशयरूप से भोगता हूँ। अतिशयरूप से, देखो! चौथे, पाँचवें, छठवें में है। यह तो केवलज्ञानी, चारित्रवन्त।

और उससे अतिरिक्त अन्य सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है... आहाहा! मेरा प्रभु ज्ञानस्वरूपी आत्मा से अन्य जितनी वृत्ति है, उन सर्व क्रिया में विहार से मेरी वृत्ति निवृत्त है। उसमें विहार अर्थात् उसमें जाने की मुझे निवृत्ति है। आहाहा! ऐसा है। **(अर्थात् आत्मतत्त्व के उपभोग के अतिरिक्त अन्य जो उपयोग की क्रिया...)** अपना उपयोग जब अपने में लगा तो उपयोग पर की क्रिया से हट गया। **(विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार-प्रवृत्ति नहीं करती)...** विभाव नहीं होता। अपने स्वभाव के भान उपरान्त चारित्र अर्थात् स्वरूप में रमणता हुई, आनन्द में रहनेवाला (मैं), मेरी वृत्ति विभाव में नहीं जाती। आहाहा! यह चारित्र। आहाहा! इस चारित्र बिना अकेले समकित से मुक्ति नहीं होती। समकिती को भी चारित्र हुए बिना मुक्ति नहीं है। आहाहा!

(अन्य जो उपयोग की क्रिया-विभावरूप क्रिया उसमें मेरी परिणति विहार - प्रवृत्ति नहीं करती) 'अचलस्य मम' इस प्रकार आत्मतत्त्व के उपभोग में अचल ऐसे मुझे,... चारित्रवन्त कहता है। सम्यग्दर्शनसहित आत्मतत्त्व का अनुभव, आश्रय और आदरसहित चारित्रवन्त ऐसा मानता है और कहता है। आहाहा! मेरे **उपभोग में अचल ऐसे मुझे,...** आहाहा! मैं तो आत्मतत्त्व के भोग में अचल, ऐसे मुझे **यह काल की आवली जो कि प्रवाहरूप से अनन्त है वह,...** आज से यह अनन्त काल तक मेरी परिणति निर्मल

आनन्द जैसी रहो, बस! मैं तो आनन्द में रहनेवाला हूँ। आहाहा! आज से इस अनन्त काल। जहाँ चारित्र हुआ और आत्मा में जहाँ रमणता लगी, जगी... आहाहा! जहाँ अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, अतीन्द्रिय आनन्द का भण्डार भगवान, उसका जहाँ स्वाद आया (तो) पूर्ण स्वाद मुझे अनन्त काल रहो, ऐसा कहते है। यह स्वाद अनन्त काल रहो। आहाहा! है न?

काल की आवली जो कि प्रवाहरूप से अनन्त है वह, आत्मतत्त्व के उपभोग में ही बहती रहे;... आत्मतत्त्व के भोग में ही बहती रहे, वहाँ ही रहे। आहाहा! **(उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में कभी भी न जाए)।** आहाहा! ऐसी दशा, यह चारित्र। यहाँ तो अभी समकित का ठिकाना नहीं होता। पर को अपना मानना और स्वयं उसका। उसकी भी अभी बँटवारे की खबर नहीं होती। तू अकेला और दूसरे सब भिन्न। उसे और चारित्र... आहाहा! अनन्त काल मेरी प्रवृत्ति अन्य में न जाओ। मेरी प्रवृत्ति मुझमें आनन्द में रहो, ऐसा कहा।

भावार्थ : ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी... कैसी भावना? पुण्य-पाप की कर्मचेतना और कर्मफलचेतना का त्याग और मेरी आनन्द की चेतना, ज्ञानचेतना का स्वीकार। यह **ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है...** आहाहा! **कि मानों भावना करता हुआ...** चारित्रवन्त लिये हैं। केवल (ज्ञान) तो बाद में। आहाहा! आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका अनुभव तो आनन्द है ही, तदुपरान्त अब मेरी आनन्द की दशा ऐसी पूर्ण.... आहाहा! है? **मानों भावना करता हुआ साक्षात् केवली ही हो गया हो;...** आहाहा! चारित्रवन्त मानो साक्षात् केवली। आनन्द में लीन हो गये, फिर क्या? आहाहा! सप्तम गुणस्थान में भी आत्मा में लीन हुए, विकल्प की खबर भी नहीं। आहाहा! बात ऊँची है, प्रभु! इसने आत्मा को जाना नहीं। आत्मा की क्या कीमत है और आत्मा में क्या भरा हुआ भण्डार है, (इसकी खबर नहीं)। आहाहा! एक आत्मा की चौदह ब्रह्माण्ड के साथ तुलना न हो, ऐसा एक-एक आत्मा है। एक-एक आत्मा ऐसे अनन्त चैतन्यरत्न से भरपूर है। आहाहा! वह जहाँ हो, वहाँ भीख माँगता है। आहाहा! पैसा लाओ और स्त्री लाओ और आम लाओ और अच्छी सब्जी बनाओ, अचार अच्छा बनाओ। आहाहा! अथाणा को क्या कहते हैं? अचार। आम का, गुंदा का अचार बनाते हैं न? ऐसे बनाओ, ऐसे बनाओ, ऐसे बनाओ। बोलने-बोलने में भी उसका रस होता है। आहाहा! प्रभु! तूने कभी विचार किया नहीं कि मेरी इस भाषा में, मेरे

भाव में कितनी मेरी एकाग्रता है, कितनी लीनता है। आहाहा! और मैं मेरा पूरा आत्मा घुस जाता है। आहाहा! यह बाहर के धूल, पैसा और मकान, दो-पाँच-पच्चीस लाख का मकान। आहाहा! यह भी तुम्हारा पच्चीस-छब्बीस लाख का है न? वह धूल उसकी जगह है। रचनाकाल में रच गयी है। कोई इसका कर्ता-बर्ता है नहीं। आहाहा! निमित्त कहना, इसका अर्थ दूसरी चीज़ है, उसका ज्ञान कराना है। निमित्त से इसमें कुछ फेरफार हुआ है, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **मानों भावना करता हुआ...** आत्मा की आनन्द की भावना करते-करते साक्षात् मानो **केवली ही हो गया हो; इससे वह अनन्त काल तक ऐसा ही रहना चाहता है।** वह अनन्त काल ऐसा रहना चाहता है। आहाहा! **और यह योग्य ही है; क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है।** इस भावना से केवली होता है। आहाहा! यह तो दर्शनशुद्धि उपरान्त की बातें हैं। चारित्र की बातें हैं। आहाहा! अकेला आया, अकेला जाएगा। अभी अकेला है। आहाहा! **क्योंकि इसी भावना से केवली हुआ जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय यही है।** केवलज्ञान उत्पन्न करने का परमार्थ उपाय—आत्मा का ध्यान। समकित तो है ही, पश्चात् ध्यान अन्दर लगाना। आहाहा! यह केवलज्ञान उत्पन्न करने का कारण है। आहाहा!

बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है;... यहाँ डालते हैं, साधन अर्थात् यहाँ साधन हुआ, इसलिए आरोप देते हैं। व्यवहार साधन का आरोप है। साधन-फाधन कैसा? साधन यहाँ हुआ, तब बाह्य के साधन में आरोप दिया कि यह साधन किया। **व्यवहारचारित्र इसी का साधनरूप है; और इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है,...** देखो! उसे छोड़कर जब तक अन्तर में नहीं जाए, तब तक शुभभाव व्यवहारचारित्र कर्मबन्ध का कारण है। जिसे पहले व्यवहारचारित्र कहा कि इसके ही साधनरूप है, परन्तु इसके बिना—निश्चयस्वरूप के भान बिना **व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बाँधता है,...** आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल साथ है नहीं। ..... आत्मा अमृतस्वरूप है और शुभभाव जहर है। विष का कुम्भ कहा है। समयसार मोक्ष अधिकार। विष का घड़ा। यह जहर का घड़ा। पुण्य जहर का घड़ा। अर र र! दया, दान, भक्ति, व्रत, अपवास, पूजा,

भक्ति, यह भाव जहर का घड़ा कहा है। गजब बात है, बापू! राग है न? प्रभु वीतराग है। आहाहा! उसका स्वरूप वीतरागस्वरूप आत्मा है, जिसमें राग की गन्ध नहीं। पर्याय में अनादि से ऐसी गड़बड़ उठी है। वस्तु में वह चीज़ (—गड़बड़) नहीं है। आहाहा! जिसने कुछ सुना न हो, उसे ऐसा लगे यह क्या कहते हैं? बापू! भाई! तेरा प्रभु बड़ा है। उसकी महिमा प्रगट हो, इसकी बात है। आहाहा! और वह प्रगट हो, वह कायम रहता है। जैसे महिमावाला कायम नित्य में रहता है, ऐसे पर्याय में कायम रहता है। आहाहा! आहाहा! वस्तुरूप से तो नित्य है। अब पर्याय में नित्य हो जाए। आहाहा! वीतरागस्वरूप तो है, पर्याय में वीतरागता हो जाए, बस! हो गया। आहाहा! करने का यह है। आहाहा!

मुमुक्षु : अन्दर में...

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर वस्तु वहाँ है। अनन्त... अनन्त... रत्न, चैतन्यरत्न से भरपूर भगवान है। वह स्वभाव है, अरूपी है, तूने ख्याल किया नहीं; इसलिए ख्याल में आया नहीं। ख्याल किया नहीं; इसलिए ख्याल में आता नहीं। आहाहा! उसकी ओर का प्रयत्न करे और ख्याल में न आवे, ऐसी वह चीज़ नहीं है। आहाहा! परन्तु कभी आत्मा को स्मरण भी नहीं किया। पूरे दिन यह होली सुलगती है। कमाना और अमुक और अमुक और पैसा और यह... यह अग्नि होली सुलगती है। यह तो पाँच-पच्चीस लाख पैदा होवे तो, ओहोहो! मानो अपने कहीं बढ़ गये। भिखारी है। आहाहा! शास्त्र में लेख है। वराँका। अन्तर लक्ष्मी है उसे भूलकर बाहर का माँगण-भिखारी तू हुआ। लाओ... लाओ... लाओ... क्या लावे? तेरी चीज़ नहीं, उसे लाओ लाओ? तेरी चीज़ है, उसके ऊपर तू अन्दर ध्यान देता नहीं। आहाहा! ऐसा तो सुनना मुश्किल पड़े, ऐसा है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव का यह पुकार है। प्रभु! तू कौन है, यह तुझे खबर नहीं। उसकी खबर करके अब उसमें जा। आहाहा! उसका ज्ञान करके उसमें जा, यह चारित्र। वहाँ तू लीन हो जा, तुझे आनन्द आयेगा। आहाहा! तुझे आनन्द आयेगा। आहाहा! पागल जैसा लगे। वैसे पैसेवाले और नये सुन्दर वस्त्र पहनकर, स्त्री, पुत्र के झुण्ड में बैठा (हो) और ऐसी बातें करे। आहाहा! बापू! श्मशान में बैठा है। भाई! तुझे खबर नहीं। जैसे उस श्मशान में चारों ओर राख में जलते हों, उसमें सुलगे ऐसे सुलगता है। चारों ओर की चीज़ में यह मेरी, यह मेरी, यह मेरी... श्मशान में सुलग रहा है। आहाहा! अकेला आत्मा

परमात्म हो जाए ऐसा है। आहाहा! वह साधारण में रुक जाता है। एक सब्जी अच्छी हुई हो, वहाँ आहा! आज सब्जी बहुत अच्छी हुई। अरबी के भुजिया, अरबी... अरबी...। अरबी के पान के भुजिया अच्छे हुए हों तो ओहोहो! आज भुजिया बहुत अच्छे बनाये। सब अच्छे में तू एक वास्तविक अच्छा है या नहीं ? सबको तू अच्छा लगा दे और तू एक अच्छा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, मेरे अतिरिक्त (व्यवहारचारित्र) सब शुभकर्म को बाँधता है। यह पुण्य की सब क्रिया शुभकर्म है। आहाहा! यह चारित्र नहीं और यह धर्म भी नहीं। यह दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, वाँचन, श्रवण, मनन... आहाहा! वह शुभकर्म को बाँधता है। वह मोक्ष का उपाय नहीं है। वह व्यवहारचारित्र मोक्ष का उपाय नहीं है, ऐसा कहते हैं। पहले साधन कहा था। इसके ही साधनरूप है। यह तो वहाँ है, ऐसा बताया। आहाहा! यहाँ तो कहा, वह मोक्ष का उपाय नहीं। जहाँ साधन कहा, वहाँ उपाय नहीं, ऐसा कहा। वह तो एक निमित्त था, उसका ज्ञान कराया। वास्तव में वह साधन-फाधन-उपाय (नहीं है)। उपाय कहो या साधन कहो। पहले उसे साधन कहा, यहाँ उपाय नहीं है, ऐसा कहा। साधन नहीं। आहाहा! २३१ कलश (पूरा हुआ)।

कलश - २३२

अब पुनः काव्य कहते हैं-

(वसंततिलका)

यः पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विष-द्रुमाणां,
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपात-काल-रमणीय-मुदर्क-रम्यं,
निष्कर्म-शर्म-मय-मेति दशान्तरं सः ।।२३२।।

श्लोकार्थ : [पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विषद्रुमाणां फलानि यः न भुंक्ते] पहले अज्ञानभाव

से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता और [खलु स्वतः एव तृप्तः] वास्तव में अपने से ही (-आत्मस्वरूप से ही) तृप्त है, [सः आपात-काल-रमणीयम् उदर्क-रम्यम् निष्कर्म-शर्ममयम् दशान्तरम् एति] वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है और भविष्य काल में भी जिसका फल रमणीय है, ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशान्तर को प्राप्त होता है (अर्थात् जो पहले संसार अवस्था में कभी नहीं हुई थी, ऐसी भिन्न प्रकार की कर्मरहित स्वाधीन सुखमयदशा को प्राप्त होता है)।

भावार्थ : ज्ञानचेतना की भावना का फल यह है। उस भावना से जीव अत्यन्त तृप्त रहता है-अन्य तृष्णा नहीं रहती, और भविष्य में केवलज्ञान उत्पन्न करके समस्त कर्मों से रहित मोक्ष-अवस्था को प्राप्त होता है।२३२।

कलश-२३२ पर प्रवचन

अब पुनः काव्य कहते हैं-

य: पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विष-द्रुमाणां,
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः।
आपात-काल-रमणीय-मुदर्क-रम्यं,
निष्कर्म-शर्म-मय-मेति दशान्तरं सः ।।२३२।।

आहाहा! **'पूर्व-भाव-कृत-कर्म-विषद्रुमाणां फलानि यः न भुंक्ते' पहले अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी...** आहाहा! **विषवृक्षों के फल को...** इस अज्ञानभाव में तीर्थंकरगोत्र नहीं आता। भोगने में सबका निषेध आया। यह तो और बाँधा हुआ है, उसकी बात अलग है। जरा इसमें भाव शब्द प्रयोग किया। अज्ञान से बाँधा हुआ है। तीर्थंकरगोत्र कहीं अज्ञान से नहीं है। शुभभाव है। उस शुभभाव को यदि अज्ञान कहें तो कहा जा सकता है। उसमें ज्ञान नहीं है, चेतन का अभाव है। आहाहा!

पहले अज्ञानभाव से उपार्जित कर्मरूपी विषवृक्षों के फल को जो पुरुष (उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता... वह मेरी चीज़ नहीं। चक्रवर्ती के राज और इन्द्र के इन्द्रासन समकिती को है, अभी है, वे उसके नहीं हैं। महाविदेह में चक्रवर्ती है, इन्द्र स्वर्ग में है।

आहाहा! **(उसका स्वामी होकर) नहीं भोगता...** समकिती अज्ञानभाव से जो कर्म बँधे थे, उसका स्वामी होकर भोगता नहीं। वह हमारी चीज़ है, हमारी चीज़ है, मेरी चीज़ है। आहाहा! पैसे के स्वामी नहीं, पुत्र का स्वामी नहीं, स्त्री का स्वामी नहीं, मकान का स्वामी नहीं, शरीर का स्वामी नहीं। आहाहा! अच्छा चश्मा लगाया है, उसका स्वामी नहीं? सफेद रूपवान। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, अज्ञानभाव से बाँधे हुए का स्वामी होकर भोक्ता नहीं। आहाहा! **और वास्तव में अपने से ही (-आत्मस्वरूप से ही) तृप्त है,...** आहाहा! अपने आत्मा के आनन्द से तृप्त है, वह दूसरी चीज़ को कैसे चाहे? आहाहा! परन्तु आत्मा क्या है? अन्दर आनन्द क्या है? अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का दल भरा है। आहाहा! जैसे शक्कर में अकेली मिठास भरी है, वैसे भगवान में अकेला अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहाहा! अरे.. रे..! उसे सम्हालने कौन? उसे याद भी कौन करे? आत्मा को छोड़कर यह करो... यह करो... यह करो... यह करो... परन्तु तू है कौन? तू करे, वह तू नहीं; तू तो ज्ञान है। आहाहा! ऐसी बात। आत्मा तृप्त है।

वह पुरुष, जो वर्तमान काल में रमणीय है... वह चारित्रवन्त तो वर्तमान में तो आनन्द में है **और भविष्य काल में भी जिसका फल रमणीय है...** भविष्य में जिसका फल केवलज्ञान है। **ऐसे निष्कर्म-सुखमय दशान्तर को प्राप्त होता है...** वह जो चारित्र में आनन्द में रहता है, वह दशान्तर संसार से दूसरी अवस्था प्राप्त करता है। **(अर्थात् जो पहले संसार अवस्था में कभी नहीं हुई थी, ऐसी भिन्न प्रकार की कर्म रहित स्वाधीन सुखमयदशा को प्राप्त होता है)।** वह दशा चारित्र का फल है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)